अखिल-भारतीय-संस्कृत-साहित्य-सम्मेलन, दिल्ली के तत्त्वावधान में

धारावाही हिन्दी में

रचित

एकादशोपनिषद्

[मूल तथा शब्दार्थ एवं व्याख्या सहित]

प्रथम भाग

[ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय तथा छान्दोग्य]

लेखक

संसद्-सदस्य प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

भूतपूर्व उप-कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

प्रथम भाग मूल्य पन्द्रह रुपया

द्वितीय भाग मूल्य दस रुपया

प्रकाशक
विजयकृष्ण लखनपाल एण्ड कम्पनी,
'विद्या-विहार, ४ बलबीर ऐवेन्यू,
देहरादून

मुद्रक
न्यू इण्डिया प्रेस
कनाट सरकस
नई दिल्ली

विषय-सूची

FOREWORD

By

Dr S RADHAKRISHNAN

Human progress is built on acts of faith The acts of faith on which our civilisation is based are to be found in the principal Upanishads When we are now setting out on a new era in the life of our country, we must go to the Upanishads for our inspiration They contain the principles which have moulded our history from its earliest dawn Where we have failed, our defeat is due to our infidelity to the teachings of the Upanishads It is, therefore essential for our generation to grasp the significance of the Upanishads and understand their relevance to our problems

The texts of the Upanishads are not to be read simply They are meant for meditation Take, for example, the very first verse with which this book opens

Ishavasyam idam sarvam
yat kim cha jagatyam jagat
tena tyaktena bhunjitha, ma gridhah
Kasyasvid dhanam

(Know that) all this, whatever moves in this moving world, is enveloped by God Therefore find your enjoyment in renunciation do not covet what belongs to others

It makes out that this world is a perpetual procession of events where everything supersedes another But this passing show is not all It is informed by the Supreme Spirit, enveloped by God We should not look at the world merely from the outside as a succession of events but perceive beneath it the burning intensity of significance which penetrates the succession Every occasion of the world is a means for transfiguring insight By renouncing everything we become the lords of everything When we feel that the whole universe is inhabited by God, we become one with the universe In the words of Traherne "the sea flows in our veins and the stars are our jewels" When all things are perceived as sacred, there is no room for covetousness or self-assertion

I am pleased to find that Professor Satyavrata who was for some years the Vice-Chancellor of the Gurukul University, Hardwar, and is well known as the author of many important works in Hindi on Ancient Indian Culture, Education, etc , has now written an exhaustive account in Hindi of the Upanishads He gives the text and a commentary I have no doubt that this book will be widely read by students of Hindi for their own profit and pleasure

प्राथमिक शब्द

(श्री डाक्टर सर्वपल्ली राधाकृष्णन द्वारा)

हमारी प्रगति का रूप हमारी प्राचीन सभ्यता है। यह सभ्यता श्रद्धा के जिन आधारो पर खडी है उनका सूत्र मुख्य-मुख्य उपनिषदो मे पाया जाता है। आज जब कि हम अपने देश के जीवन मे एक नवयुग का निर्माण करने जा रहे है, हमे अपने भीतर नव-जीवन का सचार करने के लिये उन्ही उपनिषदो की तरफ जाना होगा। उपनिषदो मे वे मूल-तत्त्व छिपे हुए हैं जिन्होने आदि-युग के उष काल से अब तक हमारे इतिहास को ढाला है। जब-जब हमने ठोकरें खाई है, तब-तब कारण हमारा उपनिषदो की शिक्षा से विमुख हो जाना ही रहा है। इसलिये आज की सन्तति के उद्धार के लिये उपनिषदो के तत्त्वो को ग्रहण करना, और उन तत्त्वो का हमारी दिन-दिन की समस्याओ के साथ जो सम्बन्ध है उसे समझ लेना आवश्यक है।

उपनिषदो के मूल-वाक्यो को पढ लेना ही काफी नही है। उपनिषद् तो मनन का विषय हैं। उदाहरणार्थ, उपनिषद् की प्रथम पक्ति मे ही कितना मनन का विषय भरा पडा है। प्रथम उपनिषद् की प्रथम पक्ति है

ईशावास्यमिद सर्वं, यत्किञ्च जगत्या जगत्।
तेन त्यक्तेन भुजीथा, मा गृध कस्यस्विद्धनम् ॥

इस पक्ति मे कितने महान् रहस्य का प्रतिपादन किया गया है। मन्त्र का कथन है कि यह सम्पूर्ण जगत् घटनाओ का एक निरन्तर प्रवाह है, इस प्रवाह मे एक घटना दूसरी घटना से आगे बढती चली जा रही है—सब जगह गति है, प्रवाह है। परन्तु क्या जगत् प्रवाह-मान है, प्रवाह के अतिरिक्त यह कुछ नही? उपनिषद् का कहना है कि यह सम्पूर्ण प्रवाह पर-ब्रह्म से अनुप्राणित है, उससे आवासित है, उससे ढका हुआ है। हमे ससार को केवल बाहर से ही नहीं देखना, हमे बाहर से दिख रहे घटनाओ के अविरत प्रवाह के अन्तराल मे जाज्वल्यमान प्रगाढ यथार्थ-सत्ता को देखना है जो इस प्रवाह के भीतर अनुप्रविष्ट है। जो व्यक्ति इस अन्तर्दृष्टि से हर वस्तु के बाह्य रूप को नही, उसके आन्तरिक रूप को देख लेता है, उसके लिये ससार साध्य नही, साधन हो जाता है, वह ससार की हर वस्तु का त्याग करके हर वस्तु का स्वामी बन जाता है। जब हम अनुभव कर लेते है कि पर-ब्रह्म ससार के अणु-अणु मे व्यापक है, तब हम ससार की हर वस्तु से एकात्मता अनुभव करने लगते है। ट्रैहन के शब्दो मे जब हम विश्व के साथ इस एकात्मता का अनुभव करते है तब—'समुद्र हमारी शिराओं मे बहने लगता है सितारे हमारे देह के आभूषण बन जाते है।' जो व्यक्ति ऐसा अनुभव करने लगता है उसके लिये हर वस्तु ब्रह्मानुप्राणित हो जाती है, और जिसके लिये हर वस्तु ब्रह्मानुप्राणित है, उसके लिये लालच को, छीना-झपटी को, या अहमन्यता को स्थान कहाँ?

मुझे यह जान कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि प्रो० सत्यव्रत ने, जो कई वर्षो तक गुरुकुल विश्व-विद्यालय के उप-कुलपति रहे है, धाराबाही हिन्दी मे उपनिषदो का विस्तृत तथा गहन परिचयात्मक ग्रन्थ लिखा है जिस मे उपनिषदो का शब्दार्थ सहित मूल तथा उसकी धाराबाही स्वतन्त्र व्याख्या दी गई है। मुझे विश्वास है कि हिन्दी-जगत् मे इस ग्रन्थ का स्वागत होगा, विस्तृत-रूप मे इस ग्रन्थ का अध्ययन होगा, जन का इससे भला होगा, और इसके द्वारा पाठकों को आध्यात्मिक प्रसाद प्राप्त होगा।

भूमिका

प्राचीन-भारत के नभोमडल की जाज्वल्यमान तारकावली मे उपनिषद् वे सितारे हैं जिनका प्रकाश जीवन-यात्रा की घटाटोप अन्धकारपूर्ण रात्रि मे हजारो सालो से बटोही का मार्ग-प्रदर्शन करता रहा है। मैं किधर जाऊ, मेरा सही रास्ता कौन-सा है, बीसियो पग-डडियो मे से किस पर चलने से मैं अपने लक्ष्य तक पहुचूगा —यह प्रश्न जैसे नचिकेता के हृदय मे उठा, जैसे मैत्रेयी के हृदय मे उठा, वैसे आज भी हर-एक युवक-युवति के हृदय मे उठना है, परन्तु आज के उत्तर से नचिकेता और मैत्रेयी को भिन्न उत्तर मिला था, और वे हमसे भिन्न मार्ग पर चले थे। यह नही कि वे उस मार्ग पर चल नही सकते थे जिस पर आज का भौतिकवादी-जगत् चलता चला जा रहा है। भौतिकवादी-मार्ग पर चलने की भी उन्हे खुली छूट थी, परन्तु उन्होने इस मार्ग को यह कहकर छोड दिया था—'**न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्य**'—मनुष्य की धन-धान्य से अन्तिम तृप्ति नही हो सकती—'**तवैव राजन् मानुष वित्तम्**'—यह रुपया-पैसा मेरे अन्तरतम की बेचैनी को दूर नही कर सकता, यह अपने पास रख—'**अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन**'—वित्त से ससार के सुख-भोग मिल सकते है, आत्मा को जिस अमरता की तलाश है वह इससे नही प्राप्त होती। आत्मा की अमरता का यह सन्देश भौतिकवाद की दलदल मे फसे हुए हम लोगो के कानो मे भी पडता है, हमारे जीवन मे भी समय आता है, जब हम इधर नही उधर देखने लगते है, प्रकृति की तरफ नही परमात्मा की तरफ मुह उठाकर अनित्य के स्थान मे नित्य की तलाश करने लगते है, हम भी समझ जाते है—'**न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्य**'—'**अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन**'—परन्तु हम बहुत देर मे समझते है, ऐसे समय समझते हैं जब इस तत्त्व को समझने का जीवन मे हम कोई क्रियात्मक लाभ नही उठा सकते। कौन भौतिकवादी है जो ससार की चकाचौंध मे सारी आयु गुजार देने के बाद एक दिन यह नही देख लेता कि यह-सब धोखा था, इसमे से कुछ भी तो टिकनेवाला न था, परन्तु जब उसकी आखें खुली, तब उसके हाथ मे क्या रह गया था? इसको नित्य मानकर उसने झूठ बोला, दुराचार किया, अत्याचार किया, खून बहाया, अबाही-तबाही मचाई, परन्तु यह सब तो एक भूल-भुलय्या का गोरखधधा था, असली वस्तु, वह वस्तु जिसकी उसे तलाश थी, जिसे वह जन्म-जन्मान्तर से ढूढ रहा था, जो हाथ आती-आती उसके हाथ से निकल जाती थी, उसे तो वह छू तक न सका था। यह भावना हर मनुष्य के जीवन मे किसी-न-किसी समय साकार बनकर खडी हो जाती है, अध्यात्मवादी के जीवन मे बहुत पहले, भौतिकवादी के जीवन मे बहुत देर बाद, परन्तु देर मे या अबेर मे, यह कठोर, निष्ठुर सत्य, हम मानें, न मानें, किसी का पीछा नही छोडता, नही छोडता। इस आधार-भूत सचाई को जिन्होने पकड लिया था, उन्होने इस सचाई की दिग्दिगन्त मे घोषणा कर दी थी, उन्होने ऐलान किया था—'**इह चेदवेदीत् अथ सत्यमस्ति, न चेदवेदीत् महती विनष्टि**'—अगर

इसे यहां, इस जन्म में, पा लिया तो ठीक, नहीं तो महानाश ही महानाश है। ऐसी घोषणा करनेवाले प्राचीन-भारत के ऋषि-मुनियों ने जिस सत्य का दर्शन किया था, इस भौतिक-संसार को सत्य मानते हुए भी इसके पीछे छिपे हुए, इसके भी प्राण, इसके भी जीवन जिस सत्यों के सत्य, जिस तत्त्वों के तत्त्व के दर्शन किये थे, उसका नाम उन्होंने 'ब्रह्म' रखा था, और संसार-भर का ध्यान इसमें उसकी तरफ खींचने के लिए जिस विद्या को उन्होंने जन्म दिया था, उसका नाम 'ब्रह्म-विद्या' रखा था, 'ब्रह्म-विद्या' का प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थों का नाम ही 'उपनिषद्' रखा था।

उपनिषदों को समझने के लिए उपनिषदों के ऋषियों के दृष्टि-कोण को समझना जरूरी है। जैसे आज हर बात भौतिक दृष्टि-कोण को सामने रखकर कही या लिखी जाती है, वैसे उपनिषत्कारों ने आध्यात्मिक दृष्टि-कोण को सामने रखकर सब-कुछ कहा तथा लिखा था। उनका कहना था कि सृष्टि सत् है, परन्तु इससे भी ज्यादा कोई दूसरी वस्तु सत् है, उस सत् की सत्ता से ही इस सृष्टि का रूप सत् दीखता है, असली सत् यह नहीं वह है—वही ब्रह्म है, वही आत्मा है, उसी को जानकर मनुष्य अमृत होता है। उनका कहना था कि जो इस दृष्टि को पा लेता है, वह जैसे हम इस सृष्टि को प्रत्यक्ष देखते हैं, वैसे ब्रह्म को प्रत्यक्ष देखने लगता है। प्रत्यक्ष का यह मतलब नहीं कि इन स्थूल आंखों से प्रत्यक्ष देखने लगता है, इसका मतलब यह है कि इन आंखों से तो वह इस सृष्टि को ही देखता है, परन्तु इस सृष्टि की हर वस्तु को वह एक पर्दे के तौर पर देखता है, इस पर्दे के पीछे, इसकी ओट में वह पर्देवाले को, ओटवाले को भी देख लेता है। जैसे भौतिकवादी की यथार्थवादी दृष्टि है, वैसे उपनिषद् के ऋषियों की भी यथार्थवादी दृष्टि है। याज्ञवल्क्य ने बार-बार कहा है कि संसार है, परन्तु यह अन्त तक रहनेवाला नहीं है। संसार का यही अन्तिम सार है—यह है, इससे भी हम इन्कार नहीं कर सकते, यह अन्त तक रहनेवाला नहीं है, इससे भी हम इन्कार नहीं कर सकते। इस यथार्थवादी दृष्टि-कोण को लेकर ही जगह-जगह उपनिषद् में कहा है—यह सत् नहीं, वह सत् है, इन्द्रिय नहीं, मन-प्राण-आत्मा सत् है। इस बात से कौन इन्कार कर सकता है कि उपनिषद् का यह दृष्टि-कोण काल्पनिक नहीं यथार्थ दृष्टि-कोण है, ऐसा दृष्टि-कोण जिसके सामने भौतिकवादी तथा अध्यात्मवादी दोनों विचारकों को सिर झुकाना पड़ता है।

उपनिषद् के रहस्य को समझने के लिए एक बात और समझ लेनी जरूरी है। ऋषियों का कहना था कि ब्रह्म को ढूंढने के लिए कहीं दूर भटकने की जरूरत नहीं। जो-कुछ ब्रह्माण्ड में है, वही-कुछ पिंड में है। विज्ञान भी तो यही कहता है कि जो नियम परमाणु में काम कर रहे हैं, ठीक वही नियम सौर-मंडल में काम कर रहे हैं। इसी बात को उपनिषद् के ऋषि और आगे ले गये हैं। उनका कहना है कि जो नियम भौतिक में काम कर रहे हैं, वही आध्यात्मिक में काम कर रहे हैं। इस बात को प्रकट करने के लिए उपनिषद् में **'अथाधिदैवतम्'** तथा **'अथाध्यात्मम्'**—इन दो वाक्यों का प्रयोग किया गया है। 'अथाधिदैवतम्' का अभिप्राय है—देखो,

ब्रह्माड मे क्या नियम काम कर रहे है, 'अथाध्यात्मम्' का अभिप्राय है—देखो, वही नियम पिड मे काम कर रहे है । अधिदैवत तथा अध्यात्म, ब्रह्माड (Macrocosm) तथा पिंड (Microcosm)—इन दोनो की एकरूपता को समझ लेना उपनिषद् के रहस्य को समझ लेना है। हमने इस एक गुर का सहारा लेकर कठिन-से-कठिन स्थलो को बडी आसानी से खुलते देखा है, और यह अनुभव किया है कि इस तत्त्व को गाठ बाध लिया जाय, तो उपनिषद् की कोई बात उलझी नही रहती।

उपनिषद् मे दो-तीन स्थल ऐसे है जिनके सम्बन्ध मे अक्सर वाद-विवाद रहा करता है। उनके विषय मे कुछ स्पष्टीकरण कर देना अप्रासगिक न होगा —

सबसे पहला विवाद तो यह चला करता है कि उपनिषदो का प्रतिपाद्य विषय एकत्व है, या द्वित्व ? एकत्ववादियो के लिए 'सर्वं खल्विद ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन'—छान्दोग्य का 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो'—'योऽसावादित्ये पुरुष सोऽहमस्मि' आदि वाक्य उनके मत का निश्चय करने के लिए पर्याप्त है, द्वित्ववादियो के लिए 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनेक वाक्य उनके मत का निश्चय करने के लिए पर्याप्त है। परन्तु अगर हम उपनिषदो का गहराई से अध्ययन करे, तो पता चलेगा कि उपनिषदो का प्रतिपाद्य विषय न एकत्व है, न द्वित्व। उपनिषद् दर्शन के, तर्क के ग्रन्थ नही, अनुभूति के, साक्षात्कार के ग्रन्थ है। 'नैषा मतिस्तर्केणापनेया'—यह उपनिषदो का दृष्टि-कोण है। किसी ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय वह होता है जो सम्पूर्ण ग्रन्थ मे एक-समान दीख रहा हो, एक-एक अध्याय और एक-एक पृष्ठ पर उभर-उभर आता हो। इस दृष्टि से उपनिषदो का प्रतिपाद्य विषय सिर्फ यह है कि ब्रह्माड मे हम प्रकृति मे उलझे रहते है, पिंड मे हम शरीर मे उलझे रहते है, प्रकृति का जीवन ब्रह्म मे है, शरीर का जीवन आत्मा मे है, हमारे उलझने की असली वस्तु ब्रह्माड मे प्रकृति नही ब्रह्म है, पिंड मे शरीर नही आत्मा है। जैसे भौतिकवादी प्रकृति तथा शरीर को यथार्थ समझता है, वैसे उपनिषद् का ऋषि ब्रह्म तथा आत्मा को यथार्थ समझता है, जैसे भौतिक-वादी का 'भौतिक-यथार्थवाद' (Physical realism) अनुभव के आधार पर खडा है, वैसे अध्यात्मवादी का 'आध्यात्मिक-यथार्थवाद' (Spiritual realism) भी अनुभव के आधार पर खडा है। उपनिषद् का प्रतिपाद्य विषय 'एकत्व'-'द्वित्व' नही, 'आत्म-तत्त्व' उसका प्रतिपाद्य विषय है। उपनिषद् के ऋषि का कथन है कि यह युक्ति से सिद्ध करने की जरूरत नही कि ससार टिकनेवाली वस्तु नही है यह तो हम सब का अनुभव है कि शरीर में से जब प्राण निकलने लगता है, तब आख, नाक, कान सब इन्द्रिया भागने लगती हैं, फिर हम इसमे क्यो उलझे रहें, उस आत्म-तत्त्व को पाने का यत्न क्यो न करें जिसके कारण यह सब-कुछ है, और जिसके विना यह सब-कुछ रहता हुआ भी नही रहता, होता हुआ भी क्षण भर मे नही हो जाता है ? यह विचार उपनिषद् के पृष्ठ-पृष्ठ पर, पक्ति-पक्ति पर अकित है। यही उपनिषद् का प्रतिपाद्य विषय है। 'एकत्व' और 'द्वित्व' तो अवान्तर बातें

है। उपनिषत्कार दार्शनिक दृष्टि से नहीं, अनुभव की दृष्टि से सत्य की खोज में निकले हैं, वे जानना चाहते हैं कि जीवन को किस दिशा में ढाला जाय जिससे जिस सुख की तलाश में यह मनुष्य जन्म-जन्मान्तर से भटक रहा है वह उसे मिल जाय। उपनिषत्कार की दृष्टि दिमागी उड़ान की दृष्टि नहीं, जीवन की सबसे मुख्य क्रियात्मक समस्या को हल करने की दृष्टि है। 'एकत्व' ठीक है, या 'द्वित्व' ठीक है—इसको जाननेवालों के जीवन पर इस बात का क्या असर पड़ता है? 'एकत्व' वाले भी उसी रास्ते पर भागे चले जा रहे हैं, जिसपर 'द्वित्व' वाले। उपनिषद् के दृष्टि-कोण को जाननेवाले का तो जीवन का रास्ता ही बदल जाता है। वह नचिकेता की तरह संसार के प्रलोभनों के मिलने पर भी उन्हें अनित्य समझकर छोड़ देता है, याज्ञवल्क्य की तरह आयु के एक भाग में आकर संसार से उपराम हो जाता है, अनित्यों में नित्य की, अध्रुवों में ध्रुव की तलाश करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि 'एकत्व' या 'द्वित्व' उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय नहीं है, यह दर्शन-शास्त्र का विषय है, इन बातों की उपनिषदों में कहीं-कहीं झलक दीख जाती है, आखिर दार्शनिक तथा अनुभूति की दृष्टियां भी कहीं-कहीं पास-पास से गुज़रा करती हैं, परन्तु अनुभूति के ग्रन्थ में दार्शनिक-विवाद को खड़ा कर देना ग्रन्थ के मर्म को न समझना है। उपनिषद् के कुछ इने-गिने वाक्यों का भले ही कोई एकत्वपरक अर्थ करे, या द्वित्वपरक, ये ग्रन्थ एकत्ववाद या द्वित्ववाद को लक्ष्य में रखकर नहीं लिखे गये, और न ही ऐसे स्थलों की उपनिषदों में इतनी भरमार है कि इस समस्या को उपनिषदों की मुख्य समस्या बना लिया जाय।

दूसरा विवाद कुछ ऐसे स्थलों के विषय में है जो कुछ लोगों की दृष्टि में आपत्तिजनक हैं। आपत्ति-जनक स्थलों के विषय में एक स्थल तो बृहदारण्यक-उपनिषद् के षष्ठ अध्याय का चतुर्थ ब्राह्मण है जिसमें **गर्भाधान-विधि** का विस्तार-पूर्वक वर्णन है। मैक्समूलर ने इस स्थल को अश्लील कहकर इसका अंग्रेज़ी में अनुवाद करने के स्थान में इसलिए लैटिन में अनुवाद किया था ताकि थोड़े ही लोग इसे पढ़ सकें। भारत में 'गर्भाधान'-संस्कार सोलह संस्कारों में से एक मुख्य संस्कार समझा जाता था, और इसको उत्तम सन्तान उत्पन्न करने का साधन माना जाता था। आज भी सुप्रजनन-शास्त्र (Eugenics) की पुस्तकों में उत्तम सन्तान कैसे उत्पन्न हो—यह विचार किया जाता है। बृहदारण्यक-उपनिषद् के उक्त स्थल में यही चर्चा है कि वेदज्ञ, विद्वान्, धर्मनिष्ठ सन्तान कैसे उत्पन्न हो—इसमें गर्भाधान-विधि का भी वर्णन है, इतने से यह स्थल अश्लील कैसे हो सकता है? गर्भाधान के साथ इस स्थल में अन्य संस्कारों का भी वर्णन है। इसी प्रकरण में एक जगह (६–४–१८) यह वर्णन आता है कि जो माता-पिता चाहें कि उनका पुत्र सब वेदों का ज्ञाता हो, वे **'मांसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण वार्षभेण वा।'** इसका अर्थ कई विद्वानों ने यह किया है कि माता-पिता मांस और चावल पकवाकर औक्ष से वा आर्षभ से घृत-सहित खायें, अर्थात् बैल का मांस खायें। इस अर्थ करने का कारण यह है कि 'मांसौदन' शब्द में 'मांस' शब्द

आया है। परन्तु उस सारे प्रकरण को आगे-पीछे देखने से क्या 'मास' की बात ठीक जचती है? सारे प्रकरण को पढ जाय, तो तिल, चावल, घृत के सिवाय किसी और वस्तु का कही जिक्र नही, एकाएक 'मास'-शब्द आ गया है। असल मे, 'माष' की जगह किसी लेखक की गलती से 'मास'-शब्द लिखा गया है। उस समय के लेखकों की गलतिया आजकल छापेखाने के भूतो की गलतिया (Printer's devil) कहलाती है। चावल के साथ माष अर्थात् उडद की सगति तो स्पष्ट है मास की कोई सगति नही बैठती। शुभ-कार्यो मे आजतक की परम्परा तिल-चावल-माष को मिलाने की है, तिल-चावल के साथ मास मिलाने की तुक कहा बैठती है? उपनिषदो के लेखकों ने कही-कहीं शब्दो की गलतिया कई जगह रह गई है, और जो गलती एक बार रह गई, वह रहती ही चली गई, उसमे सुधार का किसी ने प्रयत्न नही किया। तैत्तिरीय-उपनिषद् मे 'शिक्षा' के स्थान मे 'शीक्षा', 'तत्' के स्थान मे 'त्यत्', 'निष्काम' के स्थान मे 'नीकाम' चलता चला आ रहा है। छान्दोग्य ६–२–१ मे 'तस्मादसत सज्जायत'—यह वाक्य आता है। इसका शुद्ध-पाठ 'तस्मादसत सज्जायते' या 'तस्मादसत सदजायत इति'—यह होना चाहिए, परन्तु सब जगह छपी उपनिषदो मे 'तस्मादसत सज्जायत'—यही पाठ पाया जाता है। एक बार गलत लिखा गया, सो लिखा गया। जिस स्थल के विषय मे हम चर्चा कर रहे है उसका शुद्ध-पाठ 'मासौदन' न होकर 'माषौदन' होना चाहिए, परन्तु एक बार कोई गलती से 'मास' लिख गया, सो वैसा चलता चला गया। आगे के स्थल का अर्थ स्पष्ट है कि जो माता-पिता ऐसे भोजन का सेवन करेगे, वे—'जनयितवा औक्षेण वार्ष्भेण वा'—शरीर मे बैल के समान और ज्ञान मे ऋषभ के समान पुत्र-रत्न को उत्पन्न करेगे। बैल के मास से ही मतलब होता तो 'औक्षेण' और 'आर्षभेण' मे विकल्प क्यो कहा जाता? उक्षा और ऋषभ का बैल-विषयक तो एक ही अर्थ है! आगे-पीछे के प्रकरण को देखकर युक्ति-सगत अर्थ यही प्रतीत होता है कि जो चाहे शरीर की बलिष्ठ तथा ज्ञान की धनी (ऋषभ-श्रेष्ठ) सन्तान हो वह घी-मिश्रित चावल और उडद का सेवन करे।

उपनिषदो के भाव की गहराई तक न जाने का परिणाम है कि कई विद्वान् उपनिषद् की विचार-परम्परा से बिल्कुल विपरीत अर्थ कर देते है। छान्दोग्य (४–२–५) मे 'रैक्व' ऋषि की कथा आती है, जिसमे लिखा है कि राजा जान-श्रुति ब्रह्म-विद्या के उपदेश के लिए रैक्व के पास गया, और साथ धन-धान्य, रथ तथा अपनी कन्या को भी लेता गया। ऋषि के विषय मे लिखा है—'तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्नुवाच'। 'उपोद्गृह्णन्' का सीधा-सादा अर्थ है, मुख को ऊपर करके, परन्तु कुछ विद्वानो ने इसका अर्थ कर दिया है—उस स्त्री के मुख को चूम कर! ऐसे अर्थ न प्रकरण मे खपते है, न शब्दो से ही ऐसा-कोई अर्थ निकलता है। उपनिषद् मे तो ऐसा-कोई अर्थ निकलता भी प्रतीत होता हो, तब भी सारे ग्रन्थ के विचार-क्रम को देखते हुए उससे मेल खानेवाला ही अर्थ करना चाहिए, दूसरा नही, क्योकि हर ग्रन्थ के भाव को समझने का यही सही तरीका है।

उपनिषदों की विचार-धारा चित्त को इतने आग्रह से खींचती है कि इतनी पुरानी होने पर भी यह नित नई बनी हुई है। मुसलमान कई शताब्दियों तक भारत पर राज्य करते रहे, परन्तु उपनिषदों की उडान के सामने उन्होंने भी मस्तक नमा दिया। शाहजहां का ज्येष्ठ पुत्र, औरंगजेब का भाई दारा शिकोह उपनिषदों पर इतना लट्टू हो गया था कि काशी में कुछ पंडितों और संन्यासियों को बुला कर लगातार छ महीने तक उनकी कथा और व्याख्या सुनता रहा। वह उपनिषदों की विचार-धारा से इतना प्रभावित हुआ कि १६५६ ईस्वी में उसने इनका फारसी में अनुवाद किया। कालान्तर में दारा शिकोह के इसी भाषान्तर को फ्रैंच विद्वान् एन्क्विटिल ड्यू पेरो (Anquetil Du Peron) ने पढा, और उसे पढकर ही उसे प्राच्य शास्त्रों तथा संस्कृत ग्रन्थों को पढने की रुचि हुई। उपनिषदों के फारसी अनुवाद तथा मूल संस्कृत के आधार पर ही एन्क्विटिल ड्यू पेरो ने १८०१ ईस्वी में इनका लैटिन में अनुवाद किया। इस प्रकार दारा शिकोह द्वारा मुस्लिम तथा एन्क्विटिल ड्यू पेरो द्वारा ईसाई-जगत् में उपनिषदों की विचार-धारा ने इतना जबर्दस्त सिक्का जमाया कि पूर्व तथा पश्चिम—दोनों जगह के लोग इन ग्रन्थों को अत्यन्त श्रद्धा से पढने लगे। इसके बाद राजा राममोहन राय ने १८१६–१८१९ में, ई० रोअर (E Roer) ने १८४८–१८७४ में तथा मैक्स मूलर (Max Muller) ने १८७९–१८८४ में उपनिषदों का अंग्रेजी में अनुवाद किया। जर्मनी में एफ मिशल (F Mischel) ने १८८२ में, ओ० बोहटलिंक (O Bohtlink) ने १८८९ में तथा पॉल डूसन (Paul Deussen) ने १८९७ में इनका जर्मन में अनुवाद किया। इनके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न भाषाओं में उपनिषदों के अनेक भाषान्तर हुए और संसार भर के विचारकों को उपनिषदों के अथाह समुद्र में से अनेक रत्न मिले। जर्मन विद्वान् शोपनहार ने तो लिखा कि अगर जीवन में मुझे किसी चीज़ से आत्मिक-शान्ति मिली है तो उपनिषदों से, और अगर मृत्यु के समय मुझे किसी चीज़ से शान्ति मिल सकती है तो उपनिषदों से।

भारत की भाषाओं में उपनिषदों के अनेक भाषान्तर हुए हैं। हिन्दी में ही कम-से-कम आधे दर्जन भाषान्तर हैं। इन सब ग्रन्थों के होते हुए हमें इस ग्रन्थ के लिखने की क्या आवश्यकता हुई? हमें इस ग्रन्थ के लिखने की तब प्रेरणा हुई जब हमने आजतक के हुए हिन्दी-संस्कृत-अंग्रेजी सब अनुवादों को पढा। हमें प्राय सभी ग्रन्थों में शब्द-जाल अधिक दिखाई दिया, भाव की प्रधानता कम दिखाई दी। इसका मुख्य कारण यह समझ में आया कि सब ने संस्कृत-भाग को प्रधानता देकर अपनी लेखनी उठाई है। हमें यह समझ पडा कि जिन भावों को उपनिषत्काल में संस्कृत भाषा में लिखा गया था, उन्हीं भावों को बिना शब्दों के जाल में उलझे सर्व-साधारण की भाषा में लिखने की जरूरत है। दूसरे शब्दों में, उपनिषदों को ऐसी भाषा में लिखने की जरूरत है जिससे ऐसा लगे कि यह मक्खी-पर-मक्खी नहीं मारी गई, शब्द-पर-शब्द नहीं रख दिया गया, शब्दों में से भाव निकाल कर

निखारा गया है। यह तभी हो सकता था जब उपनिषद् के भावों को धारावाही स्वतन्त्र भाषा में लिखा जाय, बीच में किसी प्रकार का अटकाव न आने दिया जाय। उपनिषदों के समय वे लोग संस्कृत में सोचते, बोलते और लिखते थे, आजकल हम हिन्दी में सोचते, बोलते और लिखते हैं। हमने इस ग्रन्थ में यह प्रयत्न किया है कि अगर उपनिषदों के ऋषि हमारे युग में आ जायँ, तो वे अपने विचारों को हिन्दी भाषा में किस प्रकार, किन शब्दों में व्यक्त करें। इसीलिये हमने मूल संस्कृत-भाग को हिन्दी से जुदा करके अलग दिया है, उसे हिन्दी के साथ मिलाया नहीं है। जो सिर्फ उपनिषद् के भाव को समझना चाहे, वह सिलसिलेवार हिन्दी-भाग को पढ़ता चला जाय, उसे यह हिन्दी का एक स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ प्रतीत होगा, और सब बात परस्पर सम्बद्ध प्रतीत होगी। जो हिन्दी और संस्कृत का मिलान करना चाहे, वह नीचे मूल-संस्कृत को देखकर मिलान करता जाय। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ शब्द-प्रधान नहीं, भाव-प्रधान है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि शब्दों का हमने ध्यान नहीं रखा। शब्दों का भी हमने इतना ध्यान रखा है कि उपनिषद् में भिन्न-भिन्न स्थलों पर जो शब्द आये हैं, उन शब्दों की भी भाव को दृष्टि में रखते हुए पूरी-पूरी मीमांसा करने का प्रयत्न किया है। सम्भूति-असम्भूति क्या है, विद्या-अविद्या क्या है, त्रिणाचिकेत अग्नि क्या है, नचिकेता, यम, इन्द्र, वायु, यक्ष, उमा आदि का क्या अर्थ है, अधिदैवत तथा अध्यात्म क्या है, तप-दम-कर्म, तप-ब्रह्मचर्य-श्रद्धा—इन त्रिकों का क्या अर्थ है, ऋत तथा सत्य का पारस्परिक क्या सम्बन्ध है, अंगुष्ठमात्र से क्या अभिप्राय है, भूः-भुवः-स्वः के आधार में क्या विचार-प्रक्रिया है, जहाँ अनेक शब्द इकट्ठे दिये गये हैं उनका एक-दूसरे से क्या रिश्ता है—इन सब का अपने-अपने स्थान में हमने विवेचन किया है, इन शब्दों को ऐसा ही लिखकर नहीं छोड़ दिया गया, हर-एक शब्द में से उसका भाव निकालने का प्रयत्न किया गया है। इस भाव-प्रधान ग्रन्थ की दूसरे शब्द-प्रधान ग्रन्थों से यही विशेषता है। दूसरे ग्रंथ सिर्फ पंडितों के लिए लिखे गये हैं, परन्तु आज क्योंकि जनता का युग है, इसलिए यह ग्रन्थ पंडितों तथा सर्व-साधारण जनता दोनों के दृष्टि-कोण से लिखा गया है।

इसके लिखने की प्रेरणा मुझे तब हुई जब मेरी पत्नी श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल ने मुझे उपनिषद् पढ़ाने को कहा। वे स्वयं मनोविज्ञान की पंडिता हैं, उन्होंने स्वयं उच्च-कोटि के ग्रन्थ लिखे हैं। उन्हें उपनिषद्-जैसे ग्रन्थ पढ़ाने के लिए मुझे भी तपस्या करनी पड़ी। जितने भाष्य मिल सके सब इकट्ठे किये। दिन-रात उपनिषदों में विचरने लगा। भाव स्पष्ट होते थे, परन्तु कहीं-कहीं बिल्कुल अस्पष्ट होते थे। कभी-कभी एक-एक स्थल को स्पष्ट करने में कई दिन लग जाते थे। पति-पत्नी का ज्यों-ज्यों उपनिषद् पढ़ने-पढ़ाने का यह सिलसिला चला, त्यों-त्यों मैं सोचने लगा कि यह सब-कुछ लिखता क्यों न चला जाऊँ? बस, जो हम लोग मिल-कर पढ़ते थे, उसे लिखता चला गया। लिखते-लिखते यह ग्रन्थ तैयार हो गया। इसलिए इस ग्रन्थ को मेरे द्वारा लिखने का श्रेय मेरी पत्नी श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल को है।

मैने यह जो-कुछ लिखा है, यह तो इस ग्रन्थ की सरसरी भूमिका है। उपनिषद् के आध्यात्मिक दृष्टि-कोण को निबन्धों के रूप मे मैंने एक पृथक् ग्रन्थ मे लिखा है जिसका नाम है—'वैदिक-संस्कृति के मूल-तत्त्व'। जो महानुभाव उपनिषद् की विचार-धारा को स्वतन्त्र रूप मे जानना चाहे उनके लिए वह ग्रन्थ उपनिषदो की भूमिका का काम करेगा। उस ग्रन्थ को पढ लेना उपनिषदों की आधारभूत विचार-धारा को समझ लेना है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे एक बडी आर्थिक कठिनाई आ खडी हुई थी। वह कठिनाई वैयक्तिक थी इसलिए उसके विवरण मे जाने की आवश्यकता नही। इतना ही कह देना पर्याप्त है कि उस कठिनाई का हल न होता तो ग्रन्थ का प्रकाशन रुक जाता। इस कठिनाई को दूर करने के लिए जिन महानुभावों ने योगदान दिया उनका आभारी हू। योगदान देनेवालो के नाम निम्न है

श्री देवदत्त लखनपाल द्वारा	२,५०० रु०
आर्य धर्म सेवा संघ ट्रस्ट द्वारा	२,००० रु०
राय बहादुर बिस्सेसरमल मोतीलाल हलवासिया ट्रस्ट द्वारा	२,००० रु०
रघुमल चैरिटी ट्रस्ट द्वारा	१,००० रु०
श्री मेघराज जी, न्यू इडिया प्रेस द्वारा	१,००० रु०
श्री परमेश्वरी देवी खेतान मैमोरियल ट्रस्ट द्वारा	५०० रु०
राय बहादुर चौ० प्रतापसिंह जी ट्रस्ट द्वारा	५०० रु०
श्री भुवालका जन-कल्याण ट्रस्ट द्वारा	५०० रु०
श्री अलकापुरी जन-कल्याण ट्रस्ट द्वारा	५०० रु०
	१०,५०० रु०

पुस्तक पर १८ हजार रु० के लगभग व्यय आया है जिसमें उक्त महानुभावो के योगदान से लेखक को पुस्तक के प्रकाशन मे बडी सहायता मिली है। आशा है, जिन्होंने पुस्तक के प्रकाशन मे हाथ बटाया है वे इसकी रूप-रेखा, कलेवर तथा विषय को देखकर प्रसन्न होंगे कि उनका योगदान एक उत्तम कार्य के लिए हुआ है।

मेरे मित्र श्री प० शान्तिस्वरूप जी वेदालकार ने तो ग्रन्थ के निर्माण मे मेरे जैसा ही हिस्सा लिया है। संस्कृत-भाग का लेखन वे न करते तो ग्रन्थ अधूरा रह जाता। उनके लिए यह ग्रन्थ उनके आत्मज के समान है क्योंकि यह जितना मेरा है उतना ही उनका है। उन्हें जितना धन्यवाद दू, थोडा है।

आशा है, यह ग्रन्थ वर्तमान उदीयमान हिन्दी-संसार की थोडी-बहुत सेवा कर सकेगा, जितने अंश मे यह हिन्दी-भाषी-जगत् की सेवा कर सकेगा उतने अंश मे मैं अपने परिश्रम को सफल समझूगा।

विद्या-विहार, बलबीर ऐवेन्यू,
देहरादून

—सत्यव्रत सिद्धान्तालकार

ॐ

ईशावास्योपनिषद्

इस जगती मे जो जगत् है वह ईश द्वारा बसा हुआ है। इसलिये त्याग-पूर्वक भोग करो। किसी दूसरे के धन की आकांक्षा मत करो ॥१॥

('जगती' का अर्थ है 'गतिवाली', 'जगत्' का अर्थ है 'गतिमान्'। ससार का सभी-कुछ गतिमान् है। सूर्य, पृथिवी, चन्द्र, तारे मे गति है, इनके एक-एक अणु मे गति है। तो क्या गति यू ही हो रही है? नही, इस गति का कोई देने वाला है, कोई 'ईश' है, कोई स्वामी है। वह स्वामी कही अलग बैठा गति नही दे रहा, वह गति करने वाले एक-एक अणु मे बसा बैठा है। जब वह एक-एक अणु मे बसा हुआ है, और 'ईश'—स्वामी— की हैसियत से बसा हुआ है, तब तो यह सब उसी का है, हमारा क्या है? मनुष्य अगर यह धारणा कर ले कि विश्व का स्वामी वही है, तो ससार का उपभोग वह किस बुद्धि से करेगा? वह यही तो समझेगा कि मै उसका दिया खाता हू, उसका दिया पीता हू, उसका दिया काम मे लाता हू। वह ससार के पदार्थो

ॐ ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किच जगत्या जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्य स्विद्धनम् ॥१॥

ओम्—ईश्वर (यह परमेश्वर का निज नाम है और प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ करते हुए इस नाम से ही भगवान् को आर्ष-साहित्य मे मगलाचरण के रूप मे स्मरण किया जाता है।), **ईशा**—ईश्वर से, **वास्यम्**—वसने या वसाने योग्य, वसा हुआ, **इदम्**—यह, **सर्वम्**—सव, **यत्**—जो, **किंच**—कुछ, **जगत्याम्**—गतिशील भगवान् की रचना अर्थात् कार्यरूपा प्रकृति मे, **जगत्**—गतिमान्, **तेन**—उससे, उसने, उस कारण से, **त्यक्तेन**—दिये हुए से, त्यागभाव रखते हुए, **भुञ्जीथा**—भोग करो, **मा**—मत, **गृध**—लालसा करो, लालच मे पडो, **कस्यस्वित्**—किसी के, **धनम्**—धन को, अथवा **धनम् कस्यस्विद्?**—धन किसका है? ॥ १ ॥

का भोग करेगा, परन्तु यह समझ कर कि यह सब उसका है, मेरा नही, वह भोग करेगा परन्तु त्याग-बुद्धि से, वह काम करेगा, परन्तु नि सग-भाव से। ससार की सब वस्तुए उसकी है, अत उसकी वस्तु को अपना समझना तो चोरी के समान है। जो अपने पास है, जब उसे भी अपना समझना चोरी है, तो जो दूसरे के पास है, उसे अपनाने का प्रयत्न करना तो उसकी दृष्टि मे दोहरी चोरी है। जो यह समझ लेता है कि ससार गतिमान् है, गति कभी गति देने वाले के बिना आ नही सकती, गति अणु-अणु के भीतर है अत गति देने वाला भी अणु-अणु मे बसा हुआ है, वही इस सबका स्वामी है, फिर वह ससार में निर्लेप, नि सग, त्यागपूर्वक भोग के अतिरिक्त किसी दूसरे दृष्टिकोण को अपने सम्मुख रख ही नही सकता।)

सब उसी का है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि सब काम छोड-कर हाथ पर हाथ धरकर बैठा जाय। मनुष्य कर्म करे परन्तु निष्काम कर्म करे, और कर्म करते हुए ही इस ससार में सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। इस प्रकार मनुष्य मे कर्म का लेप नहीं होता। इसके बिना कोई रास्ता नहीं ॥२॥

(कर्म करेंगे तो कर्म का लेप अवश्य होगा। उपनिषत्कार का कहना है कि जीवन का ऐसा भी मार्ग है कि हम कर्म भी करे और कर्म का लेप भी न हो। कर्म के लेप से ही तो सुख-दु ख होते है। वह मार्ग क्या है? वह मार्ग यह है कि हम कर्म तो करे परन्तु

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा।
एव त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

कुर्वन्—करता हुआ, एव—ही, इह—यहाँ, इस ससार मे, कर्माणि—कर्म, कर्मो को, जिजीविषेत्—जीने की इच्छा करे, जीना चाहे, शतम्—सौ, समा—वर्षो तक, अर्थात् (शत समा—सौ वर्ष तक, पूरी आयु भर), एवम्—इस प्रकार, त्वयि—तुझमे, न—नही, अन्यथा—इससे भिन्न, अन्य प्रकार से, इत—यहाँ से, इससे, अस्ति—है, न—नही, कर्म—किया कर्म, लिप्यते—लेप होता है, आसक्ति पैदा करता है, नरे—(नर अर्थात् न रमण—न आसक्त होने वाले) मनुष्य मे ॥ २ ॥

निर्लेपभाव से, निष्कामभाव से करो। परन्तु क्या निष्कामभाव सम्भव है? निर्लेपभाव को सम्भव बनाने के लिए ही उपनिषत्कार कहते हैं कि तुम्हारा तो कुछ है ही नहीं—'ईशा वास्यमिदं सर्वम्'—सब उसी का है। जब सब उसी का है, तुम्हारा कुछ नहीं, तब लिप्त होना, सकामता कैसी? यहाँ 'नर'-शब्द का प्रयोग ध्यान देने योग्य है। 'नर'-शब्द 'न' और 'र' से बना है, जिसका अर्थ है 'न रमण करने वाला'—'नर' वही है जो रमा न रहे। निष्काम-भावना तभी आ सकती है जब रमण करने की भावना न रहे।)

जो मनुष्य आत्मा का हनन करते हैं वे मरकर गहरे अन्धकार से आवृत असुर्य लोकों में जाते हैं (बृहदा० ४-४-११) ॥३॥

(इस उपनिषद् में कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। कर्म कैसा? आत्मा के जीवन का या आत्मा के मरण का? आत्मा के विकास के मार्ग पर चलना 'आत्मा का जीवन' है, आत्मा के ह्रास के मार्ग पर चलना 'आत्मा का हनन' है। जब-जब मनुष्य आत्म-ह्रास के मार्ग पर चलता है तब-तब ही दिन में अनेक बार आत्मा का हनन करता है। आत्मा तो नित्य है, परन्तु हिंसा-असत्य-स्तेय-अब्रह्मचर्य-परिग्रह ये आत्मा का हनन करने वाले हैं। आत्म-जीवन के मार्ग पर चलने से आत्मा में प्रकाश का, उत्साह का, आत्म-स्फुरण का संचार होता है, आत्म-हनन के मार्ग पर चलने से आत्मा में अन्धकार का, निरुत्साह का, आत्म-हीनता का संचार होता है। भोग की दृष्टि आत्मा के हनन की

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना ॥३॥

असुर्या—असुर्य (आसुर भाव से युक्त), **नाम**—नाम वाले, **ते**—वे, **लोका**—लोक, स्थान, लोग, **अन्धेन**—घने, **तमसा**—अन्धकार से, **आवृता**—आच्छादित, घिरे हुए, **तान्**—उनको, **ते**—वे, **प्रेत्य**—मरकर, **अभिगच्छन्ति**—जाते हैं, प्राप्त होते हैं, **ये**—जो, **के**—कई, कोई, **च**—और, **आत्म-हन**—आत्मा (अपने-आप) का हनन करने वाले, आत्मा का ह्रास करने वाले, **जना**—मनुष्य ॥ ३ ॥

दृष्टि है, त्याग-पूर्वक भोग, नि सगता, निष्कामता से कर्म करने की दृष्टि आत्मा के जीवन की दृष्टि है ।)

वह परमात्मा कपन तक नहीं करता परन्तु मन से भी अधिक वेगवान् है; इन्द्रिया उसे प्राप्त नही कर सकती परन्तु वह इन्द्रियो से भी पूर्व वर्तमान है, वह ठहरा हुआ ही अन्य दौडते हुओ को पीछे छोड देता है, उसी के कारण वायु, जो स्वय हल्की है, अपने से भारी जल को उठा लेती है ।।४।।

वह चलता है, वह नहीं चलता, वह दूर है, वह निकट भी है, वह इस सबके अन्तर में है, वही इस सबके बाहर से वर्तमान है ।।५।।

(इस उपनिषद् के प्रारम्भ मे कहा कि वही ससार के कण-कण मे वसा हुआ है । अगर वह कण-कण मे वसा है, और ससार का कण-कण गतिमान् है तो उसकी गति कैसी है ? उसकी गति के विषय मे उपनिषत्कार कहते है कहने को तो वह हिलता तक नही परन्तु मन की गति से भी वह तीव्र गति वाला है, इन्द्रिया उस तक पहुच नही पाती कि वह पहले ही वहा पहुचा होता है ।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।।४।।

अनेजद्—कम्पन न करता हुआ, गति न करता हुआ, **एकम्**—एक, इकला, **मनस**—मन से, **जवीय**—अधिक वेगवाला, **न**—नही, **एनद्**—इसको, **देवा**—दिव्य गुण युक्त, इन्द्रिया, **आप्नुवन्**—प्राप्त कर सकी, **पूर्वम्**—पहले ही, **अर्षत्**—पहुच चुका, मौजूद, **तद्**—वह, **धावत**—दौडते हुए, **अन्यान्**—दूसरो को, **अत्येति** (अति+एति)—लाघ जाता है, पीछे छोड देता है, **तिष्ठन्**—ठहरा हुआ, स्थिर, **तस्मिन्**—उसमे, **अप**—जलो को, कर्मो को, **मातरिश्वा**—वायु, जीवात्मा, **दधाति**—धारण करता है ।। ४ ।।

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत. ।।५।।

तद्—वह, **एजति**—गति करता है, **तद्**—वह, **न**—नही, **एजति**—गति करता है, **तद्**—वह, **दूरे**—दूर मे, **तद्**—वह, **उ**—निश्चय से, **अन्तिके**—पास मे, **तद्**—वह, **अन्त**—अन्दर, **अस्य**—इसके, **सर्वस्य**—सब के, **तद् उ**—वह ही, **सर्वस्य**—सबके, **अस्य**—इसके, **बाह्यत**—बाहर की ओर ।।५।।

ऐसे विशाल-कर्मी के सामने अपने को पाकर ही मनुष्य अपनी कामनाओ का त्याग कर निष्काम हो सकता है ।)

देखना 'वीक्षण' है, गहराई से देखना—एक-एक वस्तु में अन्दर से देखना कि वह इसमें है या नही 'अनु-वीक्षण' है । जो इस प्रकार के 'अनु-वीक्षण' से सब भूतो को आत्मा में ही देखता है, और आत्मा को सब भूतो में देखता है वह इस अनु-वीक्षण के कारण पाप नहीं करता । क्योकि उसे प्रत्येक वस्तु की ओट से वह झाकता नजर आता है (हम पाप तभी करते है जब समझते है कि कोई नही देख रहा) ॥६॥

जिस जानने वाले के ज्ञान मे सब भूत आत्मवत् हो गये, इसलिये आत्मवत् हो गये क्योकि कण-कण में ईश ही बसा हुआ है, फिर वहा भूतो के अनेकत्व में आत्मा के एकत्व का अनु-वीक्षण करने वाले के लिए मोह कैसा, और शोक कैसा ? ॥७॥

('वीक्षण'—साधारण देखने—से ससार मे 'अनेकता' दीखती है, 'अनु-वीक्षण' से—एक-एक वस्तु के अन्दर जाकर देखने से—तो इस अनेकता मे छिपी 'एकता' दीख पडती है । एकता

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मान ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

य—जो, तु—तो, सर्वाणि—सब, सारे, भूतानि—पॉच जड भूतो को, चेतन प्राणियो को, आत्मनि—आत्मा मे, अपने मे, एव—ही, अनुपश्यति—गहराई से-बारीकी से देखना है, सर्वभूतेषु—सब भूतो या प्राणियो मे, च—और, आत्मानम्—आत्मा को, अपने को, तत—उससे, उस कारण से, उसके बाद, न—नहीं, विजुगुप्सते—पाप करता है, घृणा करता है, रक्षा की इच्छा करता है ॥ ६ ॥

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत ।
तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत ॥७॥

यस्मिन्—जिसमे, सर्वाणि—सारे, भूतानि—पचभूत, प्राणी, आत्मा—आत्मा, स्वय के समान, एव—ही, अभूत्—हुआ, हो गया, विजानत—जानने वाले, ज्ञानी का, तत्र—वहा, उसमे, क—क्या, कौन, मोह—कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ज्ञान न होना, मूर्च्छा, ममता, क—क्या, कौन, शोक—शोक, रज, दुख, एकत्वम्—एकता को, अनुपश्यत—गहराई से देखने-जाननेवाले का ॥७॥

भी किस मे ? भौतिक-जगत् एक होकर प्रकृति मे, और प्रकृति अपने निमित्त-कारण आत्मा मे लीन हो जाती है। जो द्रष्टा सब भूतो को इस प्रकार आत्मा मे मिटते हुए देख लेता है फिर वह न मोहावस्था मे जाता है, न शोकावस्था मे। ससार मे फसकर दो ही अवस्थाओ में जीव बस सकता है। विषय-सुख मिलता रहता है, तो इसके मोह मे फसा रहता है, विषय-सुख छूट जाता है, तो शोकावस्था मे सिर धुनने लगता है। अगर ससार मे न फसे, आत्म-भाव मे बना रहे, तो ससार मे कर्म करता हुआ भी फसता नही। पञ्च-भूतो मे लिप्त हो जाने वाली अनात्म-दृष्टि से मोह और शोक होते है, निर्लिप्तता तथा निष्कामता की आत्म-दृष्टि से ये दोनो छूट जाते है।)

वह सब जगह गया हुआ है। वह शुद्धता की चरम-सीमा है, शुक्र है। उसकी काया नहीं, काया नहीं तो व्रण कहा, नस-नाड़ी कहां ? भौतिक-दृष्टि से हम उसे 'शुद्ध' कहते है, मानसिक-दृष्टि से 'पाप-रहित' कहते है। वह 'कवि' है, यह भौतिक-ससार उसका काव्य है। वह 'मनीषी' है, मानसिक-ससार का भी वही स्वामी है। वह 'परिभू' है—सब जगह मौजूद है परन्तु साथ ही वह 'स्वय-भू' (Uncaused Cause) है—'अपने-आप' है—कोई उसे पैदा नही करता। शाश्वत-काल से जो यह सृष्टि चल रही है, निरन्तर सृष्टि का प्रवाह चलता

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

स—वह परमात्मा, पर्यगात् (परि+अगात्)—सब ओर गया हुआ है, व्याप्त है, शुक्रम्—शुद्ध, दीप्त, अकायम्—शरीर से रहित, अव्रणम्—घावो से रहित, अस्नाविरम्—नाडी-सस्थान से रहित, शुद्धम्—सब मलो से रहित, पवित्र, अपापविद्धम्—पापो से रहित, कवि—क्रान्तदर्शी, भविष्यदर्शी, वेदरूप काव्य का निर्माता, ज्ञानी, मनीषी—मनन करनेवाला, ज्ञानी, परिभू—सब ओर—सब जगह व्याप्त, स्वयभू—स्वयं सत्ता वाला (उसका कोई रचयिता नहीं), याथातथ्यत—भली प्रकार, जैसा चाहिये वैसे ही, अर्थान्—पदार्थो को, सृष्टि को, व्यदधात् (वि+अदधात्)—करता है, रचता है, पैदा किया है, शाश्वतीभ्य—निरन्तर, व्यवधान-शून्य, लगातार, समाभ्य—वर्षो से, काल से ॥ ८ ॥

चला जा रहा है, उसके लिए ठीक-ठीक पदार्थों की व्यवस्था, जिस समय जो-कुछ होना चाहिए यह सारा प्रबन्ध, वही कर रहा है ॥८॥

जो 'अविद्या', अर्थात् 'भौतिकवाद' (Materialism) की उपासना करते हैं वे गहन अन्धकार में जा पहुचते हैं, और जो 'विद्या', अर्थात् 'अध्यात्मवाद' (Spiritualism) में रत रहने लगते हैं, भौतिक-जगत् की पर्वाह ही नही करते, वे उससे भी गहरे अन्धकार में जा पहुंचते हैं (बृहदा० ४-४-१०) ॥९॥

'विद्या' से अन्य ही कुछ, और 'अविद्या' से अन्य ही कुछ फल होता है। धीर लोगो ने विद्या और अविद्या की जो व्याख्या की है उससे ऐसा ही सुनते आये हैं ॥१०॥

'विद्या' तथा 'अविद्या'—इन दोनो को जो एक साथ जानते हैं, वे 'अविद्या', अर्थात् भौतिक-विज्ञान (Science) से 'मृत्यु' लाने वाले प्रवाहो को तर जाते हैं, और 'विद्या', अर्थात् अध्यात्म-ज्ञान से 'अमृत' को चखते हैं ॥११॥

अन्ध तम प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया रता ॥९॥

अन्ध तम—गहरे अन्धकार को, प्रविशन्ति—प्राप्त होते हैं, ये—जो, अविद्याम्—विद्या (अध्यात्म-ज्ञान) से भिन्न प्रकृति-वाद (भौतिक-वाद) को, उपासते—उपासना करते हैं, सेवन करते हैं, तत—उससे, भूय—अधिक, इव—मानो, तरह, ते—वे, तम—अन्धकार को, ये—जो, उ—निश्चय से, विद्यायाम्—(केवल) अध्यात्म-ज्ञान मे, रता—लगे हुए, आसक्त हैं ॥ ९ ॥

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणा ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

अन्यद्—दूसरा, एव—ही, आहु—कहते हैं, विद्यया—विद्या से, अध्यात्म-ज्ञान से, अन्यद्—दूसरा, आहु—बताते हैं, अविद्यया—अविद्या से, भौतिक-वाद से, इति—यह, ऐसा, शुश्रुम—(हमने) सुना है, धीराणाम्—बुद्धिमान्-ज्ञानी मनुष्यो की (से), ये—जो, जिन्होने, न—हमें, हमको, हमारा, तद्—वह, उसको, विचचक्षिरे—व्याख्यान किया है ॥ १० ॥

विद्या चाविद्या च यस्तद्वेदोभय सह।
अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥

विद्याम्—विद्या को, च—और, अविद्याम्—अविद्या को, च—और,

जो 'असभूति' (अ+सं+भूति), अर्थात् व्यक्तिवाद (Individualism) की उपासना करते हैं वे गहन अन्धकार में प्रवेश करते हैं, और जो 'सभूति' (स+भूति) अर्थात् समष्टिवाद (Collectivism) में ही रत हैं वे उससे भी गहन अन्धकार में प्रवेश करते हैं ॥१२॥

'सभव' (स+भव) अर्थात् 'समष्टिवाद' का कुछ और फल है, 'असभव' (अ+स+भव) अर्थात् समिष्टरूप में न रहकर व्यक्ति को समाज में मुख्य मानकर 'व्यक्तिवाद' से चलने का कुछ और फल है। धीर लोगो ने इन दोनो की जो व्याख्या की है उससे ऐसा ही सुनते आये हैं ॥१३॥

जो 'सभूति', अर्थात् 'समष्टि-वाद' तथा 'असभूति', अर्थात्

य—जो, तद्—उस, उसको, वेद—जानता है, उभयम्—दोनो को (विद्या और अविद्या को), सह—साथ, अविद्यया—अविद्या से, मृत्युम्—मृत्यु को, तीर्त्वा—तर कर, पार करके, विद्यया—विद्या से, अमृतम्—अमर पद मोक्ष को, अश्नुते—भोगता है, व्याप्त होता है, प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

अन्ध तम प्रविशन्ति येऽसभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सभूत्यां रता ॥१२॥

अन्ध तम—घने अन्धकार को, प्रविशन्ति—प्राप्त होते है, ये—जो, असम्भूतिम् (अ+सम्+भूतिम्=इकट्ठा न होना)—व्यक्तिवाद को, असगठन को, उपासते—उपासना करते है, सेवन करते है, महत्त्व देते हैं, तत—उससे, भूय—अधिक, इव—मानो, तरह, ते—वे, तम—अन्धकार को, ये—जो, उ—निश्चय से, सभूत्याम्—सम्भूति (सम्+भूति=समुदाय मे बधना, समष्टिवाद) में, रता—लगे हुए, आसक्त, महत्त्व देनेवाले हैं ॥१२॥

अन्यदेवाहु सभवादन्यदाहुरसभवात्।
इति शुश्रुम धीराणा ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ।

अन्यद्—दूसरा, एव—ही, आहु—कहते है, बताते हैं, सम्भवात्—सम्भूति से, समष्टिवाद से, अन्यद्—दूसरा, आहु—कहते हैं, असम्भवात्—असगठन से, व्यक्तिवाद से, इति—यह, ऐसा, शुश्रुम—सुनते आये हैं, धीराणाम्—बुद्धिमान्, ज्ञानी मनुष्यों की (से), ये—जो, जिन्होंने, न—हमें, तद्—वह, उसको, विचचक्षिरे—व्याख्यान किया है ॥ १३ ॥

सभूतिं च विनाश च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्यु तीर्त्वा सभूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥

सम्भूतिम्—समष्टिवाद को, च—और, विनाशम्—असम्भूति=विगठन

'व्यक्तिवाद' इन दोनों को एक साथ जानते हैं, वे असंभूति (अपना भला देखने की दृष्टि) अर्थात् व्यक्तिवाद से मृत्यु के प्रवाह को तो तैर लेते हैं, परन्तु अमृत को संभूति (सबका भला देखने की दृष्टि) अर्थात् समष्टिवाद से चखते हैं। असंभूति अथवा व्यक्तिवाद (Individualism) विनाश-मूलक है इसलिये असंभूति का दूसरा नाम 'विनाश' है ॥१४॥

(व्यक्तिवाद में क्या होता है ? व्यक्ति अपने लिये खाने-पीने आदि के साधन जुटाकर अपनी रक्षामात्र कर सकता है, परन्तु अगर यह स्वार्थ-भावना बढ़ जाय, अपने को ही मुख्य रक्खा जाय, अन्यों की पर्वाह न की जाय, तो इसका परिणाम विनाश के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। यह स्वार्थ-भावना समाज में व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देती है और व्यक्तिवाद ही नष्ट हो जाता है—इसीलिये कहा कि व्यक्तिवाद से मृत्यु को तो तर लेते हैं, मरने से बच जाते हैं, परन्तु इससे अधिक इससे कुछ नहीं मिलता, इसमें ही फंसे रहने से व्यक्तिवाद का ही विनाश हो जाता है।)

हिरण्मय चमक-दमकवाले ढकने से सत्य का मुख ढका हुआ है। हे पूषन् !—अपनी पुष्टि अर्थात् पोषण चाहने वाले उपासक !—अगर तू सत्य-धर्म को देखना चाहता है तो उस ढक्कन का, आवरण का अपवरण कर दे, उस ढक्कन को हटा दे, पर्दे को उठा दे ॥१५॥

को व्यक्तिवाद को, च—और, यः—जो, तद्—उनको, वेद—जानता है, उभयम्—दोनों को, सह—एक साथ विनाशेन—विगठन से, व्यक्तिवाद से, मृत्युम्—मृत्यु को, तीर्त्वा—तर कर, पार कर, सम्भूत्या—संगठन से, समष्टिवाद से, अमृतम्—अमर पद मोक्ष को, अश्नुते—भोगता है, प्राप्त करता है ॥ १४ ॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

हिरण्मयेन—सुवर्ण (अच्छा रंग) से बने हुए, चमक-दमक वाले, आकर्षक, पात्रेण—बर्तन से, ढकने से, सत्यस्य—सत्य का, अपिहितम्—बन्द, ढका हुआ, मुखम्—मुख, तत्—उसको त्वम्—तू (उपासक), पूषन् !—पोषण करनेवाले, पोषण चाहने वाले !, अपावृणु—दूर हटा दे, सत्यधर्माय—सत्य-धर्म के लिए, दृष्टये—देखने के लिए, जानने के लिए ॥ १५ ॥

(ऐसा ही भाव छान्दोग्य, ८-३-१ में—'त इमे सत्या कामा अनृतापिधाना' इस स्थल में पाया जाता है।)

हे 'पूषन्'—पुष्टि देनेवाले! 'एकर्षे'—ऋषियों में एक—अनोखे! 'यम'—नियमन करनेवाले! 'सूर्य'—प्रचण्ड प्रकाशमान! 'प्राजा-



हे पूषन्! सत्य के मुख पर पडे पर्दे को हटा दे!

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥

पूषन्—हे पुष्टि देनेवाले!, एकर्षे—हे अद्वितीय ऋषि (साक्षाद्-द्रष्टा), यम—हे चराचर को नियम में रखनेवाले, सूर्य—हे मन्त्रको प्रेरणा देनेवाले,

पत्य'—प्रजाओ के पति ! आपकी रश्मियो का व्यूह चारो तरफ फैल रहा है। उन्ही रश्मियो के कारण प्रकृति के नाना रूप प्रकाशमान हो रहे है। मै यह प्रकाश आपका न समझकर प्रकृति का समझ रहा हू, और इसीलिए प्रकृति को ही सब-कुछ समझ बैठा हू। आप अपनी रश्मियो को समेटिये ताकि मै आपके कल्याणतम तेजोमय रूप के दर्शन कर सकूं। अ-हा ! आपकी रश्मियो के, तेज के, प्रकाश के एक जगह सिमिट जाने से जो आपका कल्याणतम तेजस्वी पुरुष-रूप प्रकट हुआ, वह कितना ज्योतिर्मय है ! मै भी वही हू—मै भी ज्योतिर्मय पुरुष हूं ॥१६॥

(जैसे ब्रह्माड मे ब्रह्म-पुरुष के प्रकाश से प्रकृति प्रकाशमान हो रही है, मै ब्रह्म को भूलकर प्रकृति को सब-कुछ समझ बैठा हू, वैसे पिड मे आत्म-पुरुष के प्रकाश से शरीर प्रकाशमान हो रहा है, मै आत्म-तत्त्व को भूलकर शरीर को सब-कुछ समझ बैठा हू। ब्रह्माड मे जो-कुछ है वही पिड मे है, जो पिड मे है वही ब्रह्माड मे है—इस प्रकार वर्णन करना उपनिषदो की शैली है। इसी शैली के अनुसार यहा ब्रह्माड तथा पिड दोनो मे 'पुरुष'-शब्द का प्रयोग करके वर्णन किया गया है।)

प्राण-वायु शरीर में रहता है, वह मृत्यु के समय विश्व के अनिल, अर्थात्, विश्व के प्राण में लीन हो जाता है। यह शरीर नही, वह प्राण ही अमर है। शरीर तो जबतक भस्म नहीं हो जाता तभी तक है। हे कर्म करने वाले जीव ! 'क्रतु' (Future action) को—'प्रयत्न'

प्राजापत्य—हे प्रजाओ के पालक अधिष्ठाता, व्यूह—फैला दे, छितरा दे, रश्मीन्—किरणो को, ज्ञान-ज्योति को, समूह—समेट ले, इकट्ठा कर ले, तेज—तेज, यत्—जो, ते—तेरा, रूपम्—स्वरूप, कल्याणतमम्—अत्यन्त कल्याणकारी, तत्—उसको, ते—तेरा, पश्यामि—देखता हूँ, जानता हूँ, य—जो, असौ—यह, असौ—यह, पुरुष—परमात्मा, स—वह, अहम्—मैं, अस्मि—हूँ ॥ १६ ॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर ॥ १७ ॥

वायु—प्राण, गति करनेवाला जीवात्मा, अनिलम्—वायु, अप्राकृत (प्रकृति का बना नही है), अमृतम्—अमर है, अथ—और, इदम्—यह,

को, जो तूने आगे कर्म करना है उसे स्मरण कर, और 'कृत' (Past action)—जो तू अबतक कर्म कर चुका है, उसे स्मरण कर ॥१७॥

हे अग्ने! हे देव! तुम सब प्रकार के कर्मों को जानते हो। तुम हमें उन्नति के लिये ऐसे मार्ग से ले चलो जो सुपथ हो। जो कुटिल पाप-मार्ग है उसे हमसे अन्तरात्मा का युद्ध कराकर पृथक् करो। हम बार-बार तुझे नमस्कार करते हैं (बृहदा० ५-१५) ॥१८॥

(इस उपनिषद् में द्वन्द्वों का समन्वय किया गया है। प्रकृति-पुरुष, भोग-त्याग, कर्म-निष्कर्म, व्यक्ति-समाज, अविद्या-विद्या, भौतिक-अध्यात्म, कर्म-ज्ञान, मृत्यु-जन्म, विनाश-उत्पत्ति, सगुण-निर्गुण ब्रह्म—इनका समन्वय ही यथार्थ-दृष्टि है। मानव-समाज की प्रवृत्ति एकांगी दिखाई देती है। कुछ लोग भोग के पीछे कुछ त्याग के पीछे, कुछ लोग इहलोक कुछ लोग परलोक, कुछ लोग अविद्या कुछ विद्या, कुछ व्यक्तिवाद कुछ समष्टिवाद के पीछे भागते हैं। उपनिषत्कार की दृष्टि समन्वयात्मक है। इसके साथ-साथ इस उपनिषद् में तीन और बातें बड़े महत्त्व की कही गई हैं। पहली महत्त्व की बात यह कही गई है कि इस संसार में हमें कर्म करते हुए जीना है परन्तु कर्म-फल से बंध नहीं जाना। कर्म तो करना ही है, कर्म के बगैर रह नहीं सकते, परन्तु

भस्मान्तम्—(मरने के बाद) अन्त में राख हो जाने वाला, शरीरम्—शरीर। ॐ—ईश्वर को, क्रतो—आगामी जीवन में कर्म करने वाले हे जीव, स्मर—याद कर, कृतम्—किये कर्म को, स्मर—याद कर, क्रतो स्मर कृतम् स्मर—हे कर्म करने वाले जीव भगवान् को याद कर और अपने कर्म को याद कर ॥ १७ ॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१८॥

अग्ने—हे ज्ञानस्वरूप भगवन्, नय—ले चल, सुपथा—शुभ मार्ग से, राये—ऐश्वर्य (अभ्युदय-उन्नति) के लिए, अस्मान्—हमको, विश्वानि—सारे, देव—हे भगवन्, वयुनानि—कर्मों को, धनों को, विद्वान्—जानने वाले हो, युयोधि—पृथक् करो, दूर करो, अस्मत्—हम से, जुहुराणम्—कुटिलता से भरा, एनः—पाप, भूयिष्ठाम्—बहुत अधिक, बार-बार, ते—तेरी, नम उक्तिम्—नमस्कार वचन को, विधेम—करते हैं ॥ १८ ॥

जीवन का एक ऐसा गुर है जिसको जीवन मे उतार लेने से कर्म भी होता रहे और कर्म का लेप भी न हो। वह गुर है ससार के कण-कण मे भगवान् के दर्शन करना। दीखने को तो यह भौतिक-जगत् दीखता है, परन्तु इसके कण-कण की ओट मे वही छिपा बैठा है, वही इस सबका मालिक है। जब वही मालिक है तब तू कौन और मै कौन ? मै उसके घर मे बैठकर उसके पदार्थो का मालिक कैसे ? यह सब उसी का है, मेरा नही--यह दृष्टि है जिससे जीवन का सारा मार्ग ही बदल जाता है। भारतीय सस्कृति का मूल आधार यही दृष्टि-कोण है, और इसी दृष्टिकोण को नीव मे रखकर गीता का निर्माण हुआ है। दूसरी बात जो इस उपनिषद् मे कही गई है वह है कि जिस 'भौतिक-विज्ञान' को आजकल के युग मे 'विद्या' कहा जाता है, उसे इस उपनिषद् ने 'अविद्या' कहा है। उपनिषद् का कथन है कि 'भौतिक-विज्ञान', अर्थात् 'अविद्या' से केवल 'मृत्यु' को तर सकते है, 'अमृत' नही प्राप्त कर सकते। विज्ञान द्वारा मृत्यु से बचने के उपाय ही तो निकाले जा सकते है, स्वास्थ्य के नियमो अथवा औषधियो का पता लगाया जा सकता है, भूख (अशनाया–भोग) और प्यास (पिपासा–चाह) रूप मृत्यु को (बृहदा० १-२-१) हटाया जा सकता है, अमरता नही प्राप्त की जा सकती। 'अमरता' तो 'अध्यात्म-ज्ञान' से ही प्राप्त होती है, और वही वास्तव मे 'विद्या' है। याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को उपदेश देते हुए तभी कहा है 'अमृतस्य तु नाशाऽस्ति वित्तेन'--भौतिक-जगत् से वित्त मिल सकता है, अमृत नही मिल सकता। तीसरी महत्त्व की बात यहा यह कही गई है कि 'व्यक्तिवाद' से मनुष्य केवल मृत्यु से बच जाता है, खाना-पीना-पहनना-ओढना मात्र कर लेता है, इससे आगे नही बढ सकता। अमरता प्राप्त करने के लिए इससे आगे बढना होगा समष्टि मे अपने को मिटाना होगा। समाज को अपने लिये नही, परन्तु अपने को समाज के लिये साधन बनाना होगा।)

केनोपनिषद्

प्रथम खण्ड

किसकी प्रेरणा से मन मानो विषय पर टूटा पड़ता है ? किसके द्वारा नियुक्त किया हुआ प्राण जन्मते ही पहले-पहल गति करने लगता है ? किसकी प्रेरणा से इस वाणी को हम बोलते हैं ? चक्षु और श्रोत्र को कौन देव अपने-अपने विषयों में नियुक्त करता है ? ॥१॥

हे जिज्ञासु ! श्रोत्र का वही श्रोत्र है, मन का वही मन है, वाणी की वही वाणी है, प्राण का वही प्राण है, चक्षु का वही चक्षु है। यह जानकर धीर लोग इन्द्रियों के विषयों का संग छोड देते हैं, और मृत्यु के अनन्तर इस लोक से अमृत हो जाते हैं ॥२॥

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥१॥

ॐ—ईश्वर (मंगलाचरण के लिए ईश्वर-नाम स्मरण), केन—किससे, इषितम्—अभीष्ट, प्रेरित हुआ, पतति—गिरता है (आकृष्ट होता है), प्रेषितम्—भेजा हुआ, प्रेरित, मनः—मन, केन—किसके द्वारा, प्राणः—प्राण, नासिका, प्रथमः—पहला, मुख्य, प्रैति—भली प्रकार जाता है, युक्तः—नियुक्त किया हुआ, लगाया हुआ, केन—किससे, इषिताम्—अभीष्ट, प्रेरित, वाचम्—वाणी को, इमाम्—इस, इसको, वदन्ति—बोलते हैं, चक्षुः—आँख को, श्रोत्रम्—कर्णेन्द्रिय को, कः—कौन, उ—निश्चय में, देवः—देवता, दिव्य शक्ति, युनक्ति—नियुक्त करता है, कार्य में लगाता है ॥ १ ॥

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः ।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥२॥

श्रोत्रस्य—कर्णेन्द्रिय का, श्रोत्रम्—कान, मनसः—मन का, मनः—मन, यद्—जो, वाचः—वाणी का, वाचम्—वाणी, सः—वह, उ—निश्चय ही, प्राणस्य—प्राण का, नासिका का, प्राणः—प्राण है, चक्षुषः—आँख का, चक्षुः—आँख, अतिमुच्य—(विषयों का संग) छोडकर, धीराः—ज्ञानी पुरुष, प्रेत्य—मर कर, जाकर, अस्माद्—इस, इससे, लोकात्—लोक से, अमृताः—अमर, भवन्ति—होते हैं ॥ २ ॥

वहां आंख नही पहुचती, न वाणी पहुचती है, न मन पहुचता है। उसका शिष्यो के प्रति उपदेश कैसे दिया जाय यह भी हम नही जानते, नहीं जानते। वह 'विदित' (Known) से भी अन्य है, 'अविदित' (Unknown) से भी अन्य है। 'विदित' वह है जिसे हम जानते है—उसे हम नही जानते, इसलिए वह विदित से अन्य है। 'अविदित' वह है जिसे हम नहीं जानते—उसे हम बिल्कुल नही जानते ऐसा भी नही है, इस विशाल ससार से उसका आभास तो नास्तिक-से-नास्तिक को भी हो ही जाता है, इसलिये वह अविदित से भी अन्य है। हमसे पूर्व जिन ऋषियो ने उसकी व्याख्या की है उनसे हम ऐसा ही सुनते चले आये है ॥३॥

वाणी जिसे प्रकट नही कर सकती, जिससे वाणी प्रकट होती है, उसी को तू 'ब्रह्म' जान, जिसकी लोग उपासना करते है, वह नही ॥४॥

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्याद्न्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषा ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ॥३॥

न—नही, तत्र—वहा, चक्षु—आँख, गच्छति—जा पाती हे, पहुँच पाती है, न—नही, वाग्—वाणी, गच्छति—पहुँच पाती है, नो—नही, मन—मन, न—नही, विद्म—जानते हैं, न—नही, विजानीम—जानते हे, विशेषतया जान पाते हैं, यथा—जैसे, जिस प्रकार, एतद्—इसको (का), अनुशिष्यात्—उपदेश किया जाय, बताया जाय, अन्यद्—दूसरा, भिन्न, पृथक्, एव—ही, तद्—वह, विदितात्—जाने हुए से, ज्ञात से, अथ उ—और, अविदितात्—अज्ञात मे, अधि—के विषय मे, इति—यह, ऐसा, शुश्रुम—सुना है, पूर्वेषाम्—(हम से) पहले होने वाले (ज्ञानियो) मे, ये—जिन्होंने, न—हमे, तद्—वह (उसकी), व्याचचक्षिरे—व्याख्या की थी, बताया था ॥ ३ ॥

यद्वाचानभ्युदित येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्व विद्धि नेद यदिदमुपासते ॥४॥

यद्—जो, वाचा—वाणी मे, अनभ्युदितम्—प्रकट नही किया जा सकता, अनिर्वचनीय, येन—जिससे, वाग्—वाणी, अभ्युद्यते—प्रकट की जाती है, भाव-प्रदर्शन मे समर्थ होती हे, तद्—उसको, एव—ही, ब्रह्म—ब्रह्म, त्वम्—तू, विद्धि—जान, न—नही, इदम्—यह, यद्—जो, जिसको, इदम्—यह, इसको (की), (यद् इदम्—जिस इसकी), उपासते—उपासना करते है ॥ ४ ॥

जो मन से मनन नहीं करता परन्तु जिसके द्वारा मन मनन करता है, उसी को तू 'ब्रह्म' जान, जिसकी लोग उपासना करते हैं, वह नहीं ।।५।।

जो चक्षु से नही देखता, जिसके द्वारा चक्षु देखती है, उसी को तू 'ब्रह्म' जान, जिसकी लोग उपासना करते हैं, वह नही ।।६।।

जो श्रोत्र से नही सुनता, जिसके द्वारा श्रोत्र सुनते हैं, उसी को तू 'ब्रह्म' जान, जिसकी लोग उपासना करते हैं, वह नही ।।७।।

जो प्राण-वायु से सास नही लेता, जिससे प्राण प्राणित हो रहा है, उसी को तू 'ब्रह्म' जान, जिसकी लोग उपासना करते हैं, वह नही ।।८।।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्व विद्धि नेद यदिदमुपासते ।।५।।

यत्—जो, जिसको, मनसा—मन से, न—नही, मनुते—मनन करता है, येन—जिससे, आहु—कहते है, मन—मन, मतम्—मनन किया हुआ, तद् एव ब्रह्म त्व विद्धि न इदम् यद् इदम् उपासते—उसको ही ब्रह्म तू जान, नही यह जिस इसकी (लोग) उपासना करते है ।। ५ ।।

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्व विद्धि नेद यदिदमुपासते ।।६।।

यत्—जो, जिसको, चक्षुषा—आँख से, न—नही, पश्यति—देखता है, येन—जिससे, चक्षूंषि—आँखो को, पश्यति—देखता है, तद् एव ब्रह्म त्व विद्धि न इदम् यद् इदम् उपासते—उसको ही ब्रह्म तू जान, नही यह (इसको) जिस इसकी (लोग) उपासना करते है ।। ६ ।।

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदँ श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्व विद्धि नेद यदिदमुपासते ।।७।।

यत्—जिसको, श्रोत्रेण—कान से, न—नही, शृणोति—सुनता है, येन—जिससे, श्रोत्रम्—कान, इदम्—यह, श्रुतम्—सुना जाता है, तद् एव ब्रह्म त्व विद्धि न इदम् यद् इदम् उपासते—उसको ही ब्रह्म तू जान, नही इसको जिस इसकी (लोग) उपासना करते है ।। ७ ।।

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राण प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्व विद्धि नेद यदिदमुपासते ।।८।।

यत्—जिसको, प्राणेन—प्राण से (घ्राण इन्द्रिय नासिका से), न—नही, प्राणिति—साँस लेता है, येन—जिससे, प्राण—प्राण,, प्रणीयते—अन्दर लिया

(इस खड मे पाच वार इस वाक्य को दोहराया गया है कि जिसकी लोग उपासना कर रहे है, वह 'ब्रह्म' नही है, वास्तविक 'ब्रह्म' और ही है। हम इस ससार से परे कुछ न देखकर उसी को सब-कुछ समझे बैठे है, उसी मे रमे हुए है, उसी की उपासना करते है। ऋषि वार-वार दोहराते है, इस ससार की ही पूजा न करते रहो—विश्व की जो आधार-भूत सचालक शक्ति है वही ब्रह्म है—ससार मे वृहत्ता, महानता उसी के द्वारा है अत उसकी उपासना करो, इसकी नही, वही ब्रह्म है।)

द्वितीय खण्ड

यदि तू मानता है कि ब्रह्म के स्वरूप को तू जानता है तो तू उसके स्वरूप को वहुत थोड़ा ही जानता है। उस ब्रह्म के स्वरूप को जो तू जानता है, या देवताओ, अर्थात् विद्वानो में उसका जो स्वरूप प्रकट है, वह मीमांस्य ही है—स्पष्ट नही है, अनिर्णीत है ॥१॥

मैं नही मानता कि मैं उसे ठीक से जानता हू, न यही कह सकता हूं कि मैं नही जानता, क्योकि कुछ जानता भी हूं। जो हममें से यह

जाता है, तद् एव ब्रह्म त्व विद्धि न इदम् यद् इदम् उपासते—उसको ही ब्रह्म तू जान, नही इसको जिस इसकी (लोग) उपासना करते है ॥ ८ ॥

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नून त्व वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्।
यदस्य त्व यदस्य च देवेष्वथ नु मीमास्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥१॥

यदि—अगर, **मन्यसे**—मानता है, समझता है, **सु**—भली प्रकार, **वेद**—जानता हू, **इति**—ऐसे, **दभ्रम्**—तनिक भी, वहुत थोडा, **एव**—ही, **अपि**—भी, **नूनम्**—निश्चय से, **त्वम्**—तू, **वेत्थ**—जानता है, **ब्रह्मण**—ब्रह्म का, **रूपम्**—स्वरूप, **यद्**—जो, **अस्य**—इसका, **त्वम्**—तू, **यद्**—जो, **अस्य**—इसका, **च**—और, **देवेषु**—देवो मे, इन्द्रियो मे, विद्वानो में, **अथ**—और, **नु**—निश्चय ही, **मीमास्यम्**—विचार करने योग्य, ऊहापोह (तर्क-वितर्क) करने योग्य, अनिर्णीत, **एव**—ही, **ते**—तेरे लिए, तुझे, तेरा, वे, **मन्ये**—समझता हूँ, **विदितम्**—ज्ञात (जाने हुए) को ॥ १ ॥

नाह मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥२॥

न—नही, **अहम्**—मैं, **मन्ये**—मानता हूँ, **सु**—भली प्रकार, **वेद**—जानता हूँ, **इति**—ऐसे, **नो**—नही, **न**—नही, **वेद**—जानता हूँ, **इति**—इस

समझता है कि वह उसे जानता है, वह बस 'उतना-मात्र' अर्थात् बहुत थोड़ा ही जानता है, वह 'तद्वेद' है—अर्थात्, 'उतना-मात्र' जानता है, नहीं भी जानता, और जानता भी है ॥२॥

जो यह मान गया है कि वह उसे नहीं जान सका, उसने उसे जान लिया है, जिसने यह समझ लिया कि वह उसे जान गया है, उसने उसे नहीं जाना। जाननेवालो के लिये वह 'अविज्ञात' (Unknown) है, न जाननेवालो के लिए वह 'विज्ञात' (Known) है। क्योकि उसके विषय में यही जाना जा सकता है कि उसे जाना ही नही जा सकता ॥३॥

'प्रतिबोध' से जब उसका ज्ञान हो तभी उसे जाना जा सकता है। इद्रियां जब विषयो की तरफ जाकर उनका ज्ञान करती है तब 'बोध' होता है, विषयो से उल्टी जब अन्दर की तरफ लौटती है, तब जो ज्ञान होता है, वह 'प्रतिबोध' कहलाता है। इस 'प्रतिबोध' से ही मनुष्य अमृतत्व को प्राप्त होता है। 'प्रतिबोध' की अवस्था तभी आती है जब मनुष्य वीर्यवान् हो, वीर्यहीन व्यक्ति को 'प्रतिबोध' की अवस्था

प्रकार, वेद—जानता हूं, च—और, य—जो, न—हममे से, तद्—उसको, (यह समझता है कि वह) वेद—जानता है, वह, तद्वेद—तद्वेद है, अर्थात् बस 'तत्-मात्र'—उतना मात्र जानता है, नो—नही, न—नही, वेद—जानता है, इति—यह, ऐसे, वेद—जानता है, च—और ॥ २ ॥

यस्यामत तस्य मत मत यस्य न वेद स ।
अविज्ञात विजानता विज्ञातमविजानताम् ॥३॥

यस्य—जिसका, अमतम्—नही ज्ञात (जाना-समझा हुआ), तस्य—उसका, मतम्—(वस्तुत) जाना हुआ, मतम्—जाना हुआ, यस्य—जिसका, (मतम् यस्य=जो समझता है कि मैंने जान लिया है), न—नही, वेद—जानता है, स—वह, अविज्ञातम्—न जाना हुआ, विजानताम्—ज्ञानियो का (जानने का अभिमान करने वालो का), विज्ञातम्—जाना हुआ, अविजानताम्—न जानने वालो के लिए (ब्रह्म को अज्ञेय समझने वाला के लिए) ॥ ३ ॥

प्रतिबोधविदित मतममृतत्व हि विन्दते ।
आत्मना विन्दते वीर्य विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥४॥

प्रतिबोध—अन्तर्मुख इन्द्रियो से प्राप्त ज्ञान, प्रतिबोधविदितम्—अन्तर्मुख इन्द्रियों से जाना हुआ ही, मतम्—ज्ञान, ज्ञान, अमृतत्वम्—अमरता को,

नही आती। इन्द्रियो के विषयो में फसने वाला व्यक्ति वीर्य-हीन हो जाता है, और वीर्य-हीन विषयो में अधिकाधिक फसता है। इस चक्र मे से निकलने का, वीर्यवान् होने का, 'प्रतिबोध' के मार्ग पर चलने का उपाय तो यही है कि आत्म-शक्ति को जागृत किया जाय। ससार के साथ बधने से वीर्य नही प्राप्त होता, आत्मा से वीर्य मिलता है, शक्ति मिलती है। इन्द्रियो की तरफ से मुह मोडकर, उधर पीठ करके आत्मा की तरफ लौट आने से वीर्य—शक्ति—प्राप्त होती है। यही 'प्रतिबोध' की अवस्था है। विषयो की तरफ मुख होना 'बोध' है, आत्मा की तरफ मुख होना 'प्रतिबोध है। 'बोध' अविद्या है, 'प्रतिबोध' विद्या है, वास्तविक-ज्ञान है—इस विद्या से अमृत प्राप्त होता है ॥४॥

अगर तूने उसे यहां—इस जन्म में—जान लिया तब तो ठीक है, अगर यहा नही जाना, तो विनाश-ही-विनाश है—महानाश है। धीर लोग ससार के एक-एक भूत, एक-एक पदार्थ—जड, चेतन—पर चिन्तन करके इसी परिणाम पर पहुचे है कि मूल-तत्त्व वही है। ऐसे धीर लोग मृत्यु के अनन्तर इस लोक मे अमृत हो जाते है (कठ० ६-४ बृहदा० ४-४-१८) ॥५॥

मोक्ष को, हि—निश्चय से, विन्दते—प्राप्त करता है, आत्मना—आत्मा से, आत्म-शक्ति से, विन्दते—प्राप्त करता है, वीर्यम्—शक्ति को, बल को, विद्यया—विद्या से, प्रतिबोध से, अन्तर्मुख ज्ञान से, विन्दते—प्राप्त करता है, अमृतम्—अमर-पद मोक्ष को ॥ ४ ॥

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टि ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीरा प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥५॥

इह—यहां इससे इस लोक मे, इस जन्म मे, चेत्—अगर, अवेदीत्—जान लिया, अथ—तो, सत्यम्—सत्य, उचित ही, अस्ति—है, न—नही, चेत्—अगर, इह—इस जन्म मे, अवेदीत्—जाना, महती—बडी, विनष्टि—क्षति, विनाश, हानि, भूतेषु-भूतेषु—(जगत् के) जड-चेतन पदार्थो मे, विचित्य—भली प्रकार चिन्तन करके-जान कर, धीरा—ज्ञानी पुरुष, प्रेत्य—मर कर, अस्मात्—इस, इससे, लोकात्—लोक से, जन्म से, अमृता—अमर, मुक्त, भवन्ति—होते है ॥ ५ ॥

(प्रथम खण्ड मे कहा कि सृष्टि-चक्र स्वय नही चल रहा, इसे चलाने वाली कोई अन्य ही शक्ति है । उस शक्ति को आख देख नही सकती, उससे आख देखती है, उसकी वाणी नही, वाणी सिर्फ उसका बखान कर सकती है । इस खण्ड मे कहा कि फिर वह शक्ति क्या है, उसे कैसे जान सकते हैं ? ऋषियो का कहना है कि उस शक्ति का ससार के हर पदार्थ से आभास ही मिल सकता है, हर किसी को आभास मिल सकता है, ससार की इतनी विशालता ही उसका आभास देने के लिए पर्याप्त है, परन्तु इस आभास से यह समझ लेना कि हमने उसे जान लिया भ्रम है । इस ससार को देखकर हमे उसका जो आभास होता है वह तो सब-किसी को होता है——यह तो 'बोध' है, उसके यथार्थ-स्वरूप को जानने के लिए 'प्रतिबोध' की आवश्यकता है, 'प्रतिबोध'—— अर्थात् इद्रियो के विषयो से मुक्त होकर भीतर को लौट पडने की अवस्था, उसी से उसकी अनुभूति होती है ।)

तृतीय खण्ड

अग्नि, वायु, इन्द्र आदि देवताओ की ससार में धूम मची हुई है, चारो तरफ इनकी विजय का डका पिट रहा है । (प्रश्न २-३, बृहदा० १-३, ३-१) । वास्तव में देवताओ के लिये यह विजय ब्रह्म ने ही प्राप्त की है । ब्रह्म के कारण देवताओ की विजय है, परन्तु देवता लोग इसे अपनी ही विजय समझकर अपनी महिमा समझने लगे, यह भूल गये कि हमारी महिमा का कारण 'ब्रह्म' है । वे ऐसे देखने लगे जैसे यह हमारी ही विजय है, हमारी ही महिमा है ॥१॥

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त ।
त ऐक्षन्तास्माकमेवाय विजयोऽस्माकमेवाय महिमेति ॥१॥

ब्रह्म—ब्रह्म ने, **ह**—निश्चय से, **देवेभ्य**—देवताओ के लिए, **विजिग्ये**—विजय प्राप्त की, **तस्य**—उस (ब्रह्म) की, **ह**—निश्चय ही, **विजये**—विजय मे, **देवा**—इन्द्र, वरुण आदि देवता, **अमहीयन्त**—अपना बडप्पन अनुभव करने लगे—अपने को बडा समझने लगे, **ते**—उन्होने, **ऐक्षन्त**—देखा, विचारा, **अस्माकम्**—हमारी, **एव**—ही, **अयम्**—यह, **विजय**—विजय, जीत (है),

देवताओ की इस बात को 'ब्रह्म' ने जान लिया। वह उनमें से निकल खडा हुआ—उसने अपनी शक्ति को उनमें से खींच लिया, और 'यक्ष' के रूप में उनके सामने आकाश में आ खड़ा हुआ। देवताओ को उसे देख समझ न पड़ा कि यह 'यक्ष' कौन है ? ॥२॥

वे अग्नि से कहने लगे, हे जातवेदस् ! इसका पता लगाओ, यह यक्ष कौन है ? अग्नि ने कहा, बहुत अच्छा ॥३॥

अग्नि यक्ष के सम्मुख दौड़कर आ पहुचा। यक्ष ने पूछा—तू कौन है ? अग्नि ने कहा, 'मैं अग्नि हू, मैं जातवेदस् हू' ॥४॥

यक्ष ने पूछा, तुझमें क्या शक्ति है ? अग्नि ने उत्तर दिया,

अस्माकम्—हमारा, एव—ही, अयम्—यह, महिमा—बडप्पन, महत्त्व (है), इति—इस प्रकार ॥ १ ॥

तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति ॥२॥

तद्—वह, उस (ब्रह्म) ने, ह—निश्चय ही, एषाम्—इनके (उस अभिमान को), विजज्ञौ—जान लिया, तेभ्य—उनके लिए (उनके सामने), ह—निश्चय से, प्रादुर्बभूव—प्रगट हुआ, तत्—उसको, न—नही, व्यजानत—(देवताओ ने) जाना, किम्—क्या, कौन, इदम्—यह, यक्षम्—यक्ष, पूजनीय, महिमाशाली, इति—ऐसे ॥ २ ॥

तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति ॥३॥

ते—वे (देवता), अग्निम्—अग्नि (देव) को, अब्रुवन्—कहा, बोले; जातवेद—हे जातवेदस् (सब मे विद्यमान, सब उत्पन्न पदार्थों को जानने वाले) अग्नि, एतद्—इसको, विजानीहि—जान, किम् एतद् यक्षम्—कौन यह यक्ष है ?, इति—यह, तथा इति—वैसे ही (इस बात को स्वीकार कर) ॥ ३ ॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीत्यग्निर्वा
अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥४॥

तद्—उस (यक्ष की), अभ्यद्रवत्—ओर वेग से गया, तम्—उस (अग्नि) को, अभ्यवदत्—(यक्ष ने) कहा, क—कौन, असि—तू है, इति—यह, अग्नि—अग्नि, वै—निश्चय से, अहम्—मैं, अस्मि—हूँ, इति—यह, अब्रवीत्—कहा, जातवेदा—जातवेदस् (नामवाला), वै—निश्चय से, अहम् अस्मि—मैं हू, इति—यह (भी कहा) ॥ ४ ॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥५॥

तस्मिन्—उस (जातवेदा अग्नि), त्वयि—तुझ मे, किम्—क्या, वीर्यम्—बल, सामर्थ्य है, इति—यह, अपि—भी, इदम्—इस, सर्वम्—

पृथिवी मे जो-कुछ है वह सब-कुछ मै जला सकती हू, राख कर सकती हू ।।५।।

यक्ष ने अग्नि के सम्मुख एक तिनका रख दिया। कहा, इसे जलाओ तो ! अग्नि अपने सम्पूर्ण बल से लपका किन्तु तिनके को न जला सका। बस, वही से वह लौट पड़ा। बोला, मै नही जान सका, यह यक्ष कौन है ? ।।६।।

अब देवताओ ने वायु से कहा, हे वायु ! इसका पता लगाओ, यह यक्ष कौन है। वायु ने कहा, बहुत अच्छा ।।७।।

वायु यक्ष के सम्मुख दौड़कर आ पहुचा। यक्ष ने पूछा—तू कौन है ? वायु ने कहा, 'मै वायु हू, मातरिश्वा हू !' ।।८।।

सारे को, दहेयम्—जला सकता हूँ, यद् इदम्—जो यह, पृथिव्याम्—पृथ्वी पर (है), इति—यह (बात अग्नि ने कही) ।। ५ ।।

तस्मै तृण निदधावेतद्दहेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धु
स तत एव निववृते नैतदशक विज्ञातु यदेतद्यक्षमिति ।।६।।

तस्मै—उसके लिए (उसके सामने), तृणम्—तिनके को, निदधौ—रक्खा, एतद्—इसको, दह—जला, इति—यह (यक्ष ने कहा), (अग्नि) तद्—उसके, उप प्र इयाय—पास गया, सर्वजवेन—पूरे (सारे) वेग (जोर) से, तत्—उस (तिनके) को, न—नही, शशाक—समर्थ हुआ, दग्धुम्—जलाने के लिए, स —वह (अग्नि), तत —वहाँ से, एव—ही, निववृते—लौट आया, न—नही, एतद्—इसको, अशकम्—समर्थ हुआ हूँ (सका हूँ), विज्ञातुम्—जानने के लिए, यद्—जो, एतद्—यह, यक्षम्—यक्ष (है), इति —ऐसे (उसने देवताओ से कहा) ।। ६ ।।

अथ वायुमब्रुवन्वायवेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति ।।७।।

अथ—उसके बाद, फिर, वायुम्—वायु को, अब्रुवन्—कहा, वायो—हे वायु, एतत्—यह, इसको, विजानीहि—जान, किम्—क्या, कौन, एतद्—यह, यक्षम्—यक्ष (है), इति—यह, तथा इति—वैसा ही (करूँगा, यह बात कह कर) ।। ७ ।।

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीति वायुर्वा
अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ।।८।।

तद्—उस (यक्ष की), अभ्यद्रवत्—ओर गया, तम्—उस (वायु) को, अभ्यवदत्—(यक्ष ने) कहा, क —कौन, असि—है, इति—यह, वायु —वायु, वै—निश्चय ही, अहम्—मै, अस्मि—हूँ, इति—यह (उत्तर वायु ने

यक्ष ने पूछा, तुझ मे क्या शक्ति है ? वायु ने उत्तर दिया, पृथिवी में जो-कुछ है, चाहू तो मै सब-कुछ समेटकर उडा ले जाऊ ! ॥९॥

यक्ष ने वायु के सम्मुख एक तिनका रख दिया। कहा, इसे अपनी जगह से हिलाकर दिखाओ तो ! वायु अपने सम्पूर्ण बल से लपका परन्तु उस तिनके को न हिला सका। बस, वही से लौट पडा। बोला, मै नही जान सका, यह यक्ष कौन है ? ॥१०॥

अब देवताओ ने इन्द्र से कहा, हे मघवन् ! इसका पता लगाओ, यह यक्ष कौन है ? इन्द्र ने कहा, बहुत अच्छा। इन्द्र यक्ष के सम्मुख दौडकर पहुचा, परन्तु यक्ष इन्द्र से तिरोहित हो गया, छिप गया ॥११॥

दिया और कहा कि), **मातरिश्वा**—मातरिश्वा (आकाश मे बढने-गति करने वाला), **वै**—निश्चय से, **अहम् अस्मि**—मैं हूँ, **इति**—यह ॥ ८ ॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वमाददीय यदिदं पृथिव्यामिति ॥९॥

तस्मिन्—उस (मातरिश्वा वायु), **त्वयि**—तुझ मे, **किम्**—क्या, **वीर्यम्**—बल, सामर्थ्य (है), **इति**—यह (यक्ष ने पूछा), **अपि**—भी, **इदम्**—इस, **सर्वम्**—सारे को, सब को, **आददीय**—उडा कर ले जा सकता हूँ, **यद् इदम्**—जो यह, **पृथिव्याम्**—पृथ्वी पर (है), **इति**—यह (उत्तर वायु ने दिया) ॥ ९ ॥

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न
शशाकादातुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥१०॥

तस्मै—उसके लिए (उसके सामने), **तृणम्**—तिनके को, **निदधौ**—रखा, **एतद्**—इसको, **आदत्स्व**—उडा कर ले जा, **इति**—यह (यक्ष ने कहा), **तद्**—उस (के), **उप प्र इयाय**—पास गया, **सर्वजवेन**—सारी ताकत से, (जव = वेग), **तत्**—उसको, **न**—नही, **शशाक**—समर्थ हुआ, सका, **आदातुम्**—उडा कर ले जाने के लिए, **स**—वह (वायु), **ततः**—वहाँ से, **एव**—ही, **निववृते**—लौट आया, **न**—नही, **एतद्**—इसको, **अशकम्**—समर्थ हुआ, सका, **विज्ञातुम्**—जानने के लिए, **यद् एतद् यक्षम्**—जो यह यक्ष (है), **इति**—यह (वायु ने देवताओ से कहा) ॥ १० ॥

अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति।
तथेति तदभ्यद्रवत्तस्मात्तिरोदधे ॥११॥

अथ—इसके बाद, फिर, **इन्द्रम्**—इन्द्र को, आत्मा को, **अब्रुवन्**—कहा, **मघवन्**—हे इन्द्र, **एतद्**—इसको, **विजानीहि**—जान, **किम् एतद् यक्षम्**—कौन यह यक्ष है ?, **इति**—यह, **तथा इति**—वैसा ही (करूंगा, यह बात कह

इन्द्र उस आकाश में 'यक्ष' को ढूढने लगा। ढूढते-ढूढते उसे एक स्त्री दिखाई दी, अत्यन्त शोभायमान, सुवर्णालकरणो से युक्त, हिम के समान शुभ्र—'उमा' उसका नाम। (उमा दो अक्षरो से बना है—'उ' तथा 'मा'। 'उ' का अर्थ है 'क्या' और 'मा' का अर्थ है 'नही'। उमा का अर्थ हुआ 'क्या नही'। 'क्या है या नही'—यह तर्क का, वुद्धि का काम है, इसलिये उमा का अर्थ है—'वुद्धि'। यक्ष के तिरोहित होने पर इन्द्र अर्थात् 'जीव' की उमा अर्थात् 'वुद्धि' से वातचीत हुई।) **इन्द्र ने उमा से पूछा—यह यक्ष कौन था ॥१२॥**

('अग्नि' तथा 'वायु'—ये दोनो इस कथानक मे भौतिक-शक्तियो के प्रतिनिधि-तत्त्व है। 'अग्नि' दृश्यमान भौतिक-तत्त्व (Perceptible physical element) है, 'वायु' अदृश्यमान भौतिक-तत्त्व (Imperceptible physical element) है। परन्तु दोनो अचेतन है, जड है। 'इन्द्र' का अर्थ है—जीवात्मा, अर्थात् चेतन-तत्त्व (Spiritual element)। 'अचेतन' तथा 'चेतन'-जगत् ब्रह्म की शक्ति के कारण ही महिमाशाली है—इस वात को 'अग्नि'-'वायु' तथा 'इन्द्र' ने, जो क्रमश अचेतन तथा चेतन जगत् के प्रतिनिधि है, भुला दिया। अचेतन तो जड है इसलिये यक्ष ने एक तिनका सामने रखकर 'अग्नि' तथा 'वायु' के घमण्ड को शिथिल कर दिया, परन्तु चेतन को—जीवात्मा को—'इन्द्र' को यह समझाने के लिये कि उसकी विजय, उसकी महिमा भी ब्रह्म के ही कारण

कर), **तद्**—उस (यक्ष की), **अभ्यद्रवत्**—ओर गया, **तस्मात्**—उस (इन्द्र) से, **तिरोदधे**—(वह यक्ष) आखो से ओझल हो गया, छिप गया ॥ ११ ॥

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमाना-
मुमाँ हैमवतीं ताँ होवाच किमेतद्यक्षमिति ॥१२॥

स—वह (इन्द्र), **तस्मिन् एव**—उस ही, **आकाशे**—आकाश मे, **स्त्रियम्**—महिला को (के पास), **आजगाम**—आया, पहुँचा, **बहुशोभमानाम्**—बहुत शोभायमान (सुन्दर), **उमाम्**—उमा (नामवाली) को, सशय मिटाने वाली वुद्धि को, **हैमवतीम्**—सुवर्ण भूषणो से युक्त या तुषार-धवला को, **ताम्**—उस (महिला) को, **ह**—निश्चय से, **उवाच**—बोला (पूछा), **किम् एतद् यक्षम्**—यह यक्ष कौन है? **इति**—यह ॥ १२ ॥

है यक्ष उसके सामने से स्वय तो हट गया, परन्तु 'उमा' को, अर्थात् 'वुद्धि' को भेज दिया। हृदय के आकाश मे जो यक्ष तिरोहित हो गया था उसका पता उमा ने इन्द्र को, अर्थात् वुद्धि ने जीवात्मा को दिया।

(हम भूमिका मे स्पष्ट कर आये है कि उपनिपदो का रहस्य समझने के लिए यह समझ लेना होगा कि उनकी दृष्टि मे जो 'पिण्ड' मे है वही 'ब्रह्माण्ड' मे है। इसलिए उनकी वर्णन-शैली



इन्द्र, अग्नि, वायु, यक्ष, उमा

में भी जिस नियम को वे 'पिण्ड' मे घटाते है उसी को 'ब्रह्माण्ड' मे भी घटाकर दिखलाते जाते है। इस उपनिषद् के प्रथम खण्ड मे 'पिण्ड' को लक्ष्य मे रखकर कहा कि आख, कान, मन आदि पिण्ड के अग ब्रह्म नही है, ब्रह्म इनसे भिन्न है, इस खड मे 'ब्रह्माण्ड' को लक्ष्य मे रखकर कहा कि ब्रह्माण्ड के अग्नि, वायु, इन्द्र आदि अग ब्रह्म नही है, ब्रह्म इनसे भिन्न है। जैसे द्वितीय खण्ड मे कहा कि आख, कान, मन आदि से भिन्न पिड की आधारभूत शक्ति को 'प्रतिबोध' से जाना जा सकता है, वैसे इस तृतीय खण्ड मे कहा कि अग्नि, वायु, इन्द्र आदि से भिन्न ब्रह्माण्ड की आधारभूत शक्ति को 'उमा'––'बुद्धि'––से जाना जा सकता है। 'प्रतिबोध' तथा 'उमा' का एक ही अर्थ है।)

चतुर्थ खण्ड

उमा ने कहा––'यह यक्ष ब्रह्म था। जो विजय है, जो महिमा है, ब्रह्म की है, तुम्हारी नहीं––ऐसा समझो।' तब देवताओ को पता चला कि यह 'यक्ष' तो 'ब्रह्म' था ॥१॥

अग्नि, वायु, इन्द्र अन्य देवताओ की अपेक्षा बढे-चढे है, इसलिये बढे-चढे है क्योंकि इन्होंने मानो छूकर, अत्यन्त समीप से सबसे प्रथम जाना कि यह जो हमारे सामने था ब्रह्म है ॥२॥

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये
महीयध्वमिति ततो हैव विदाचकार ब्रह्मेति ॥१॥

सा––उस (उमा-बुद्धि) ने, **ब्रह्म**––(यह) ब्रह्म (है), **इति ह**––यह बात निश्चयपूर्वक, **उवाच**––कही, बताई, **ब्रह्मण**––ब्रह्म की, **वै**––ही, **एतद्विजये**––इस विजय मे, **महीयध्वम्**––अपना महत्त्व समझो, **तत**––उसके बाद, **ह एव**––निश्चय ही, **विदाञ्चकार**––(इन्द्र ने) जान लिया, **ब्रह्म इति**––यह 'यक्ष' ब्रह्म है ॥ १ ॥

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान्यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते
ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येनत्प्रथमो विदाचकार ब्रह्मेति ॥२॥

तस्माद्––उस (समय) मे, उस (कारण) से, **वै**––ही, **एते**––ये (अग्नि, वायु, इन्द्र––वाणी, प्राण और आत्मा), **देवा**––देवता (दिव्य जड-चेतन शक्तियाँ), **अतितराम्**––अधिक बढकर (है), **इव**––मानो, **अन्यान्**––

इन्द्र तो अग्नि तथा वायु की अपेक्षा भी बढ़ा-चढ़ा है क्योंकि उसने ब्रह्म को, मानो छूकर, बहुत निकट से, सबसे प्रथम जाना कि चेतन-जगत् भी ब्रह्म के कारण ही महिमाशाली है ॥३॥

(अग्नि तथा वायु दोनों जड-जगत् के प्रतिनिधि हैं। अग्नि दीखता है अत दृश्य जड-जगत् का प्रतिनिधि है, वायु नहीं दीखता, अत अदृश्य जड-जगत् का प्रतिनिधि है। इन्द्र जीवात्मा का नाम है, अत वह चेतन-जगत् का प्रतिनिधि है। उपनिषद् के इस उपाख्यान का अभिप्राय यह है कि जड-चेतन की शक्ति ब्रह्म के कारण है। सबसे प्रथम अग्नि तथा वायु की दृश्य तथा अदृश्य शक्तियां हमें ब्रह्म का परिचय कराती है। कैसी है ये महान् शक्तियां? अगर अग्नि तथा वायु की शक्ति इनकी अपनी नहीं, किसी दूसरे की है, तो जिससे इन्हे शक्ति मिलती है वह कितना महान् होगा! अग्नि तथा वायु की महानता ही हमें ब्रह्म की सूचना नहीं देती, इनका द्वन्द्व होना भी ब्रह्म का सूचक है। अग्नि गर्मी को तथा वायु सर्दी को सूचित करती है। अग्नि-वायु, सर्दी-गर्मी, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्व किसने उत्पन्न किये? प्रारम्भ मे तो द्वन्द्व नहीं था, सृष्टि के प्रारम्भ मे तो एकता-ही-एकता थी। उस एकता से अनेकता उत्पन्न कैसे हुई? एकता मे अनेकता उत्पन्न

दूसरे, देवान्—देवताओं (ने), यद्—जो, अग्नि—अग्नि, वायु—वायु, इन्द्र—इन्द्र (है), ते—वे, उन्होंने, हि—ही, एनत्—इस (यक्ष) को, नेदिष्ठम्—अत्यधिक समीपता से, पस्पर्शु—स्पर्श किया, छुआ, पास पहुँचे, ते हि एनत्—उन्होंने ही उसको, प्रथम—सबसे पहिले, विदाचकार—जाना, ब्रह्म इति—यह 'यक्ष' ब्रह्म (है) ॥ २ ॥

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवान्स ह्येनन्नेदिष्ठं
पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदाचकार ब्रह्मेति ॥३॥

तस्माद् वै—उस कारण से ही, इन्द्र—इन्द्र, जीवात्मा, अतितराम्—बढ़कर (है), इव—मानो, अन्यान्—दूसरे, देवान्—देवताओं (से), स—उसने, हि—ही, एनत्—इस (यक्ष) को, नेदिष्ठम्—अति समीपता से, पस्पर्श—छुआ, पहुँचा, स हि—उसने ही, एनत्—इस (यक्ष) को, प्रथम—(सबसे) पहले, विदाचकार—जाना, ब्रह्म इति—यह ब्रह्म है ॥ ३ ॥

ही नही हो सकती अगर उसे कोई उत्पन्न करने वाला न हो। एकता (Unity) से अनेकता (Diversity) का प्रारम्भ जव हुआ, तव पहले-पहल एक से दो पैदा हुए होगे, और दो से अनेक, अत 'द्वन्द्व' (Duality), अर्थात् द्वित्व, उस एक के अत्यन्त निकट है, क्योकि एक के सवसे नजदीक दो है। इसीलिए उपनिषत्कार का कहना है कि अग्नि तथा वायु का द्वन्द्व, द्वन्द्व अर्थात् द्वित्व होने के कारण ब्रह्म के अत्यन्त निकट था, इसलिए निकट था क्योकि एकता से द्वन्द्व को ब्रह्म ने ही तो प्रकट किया था। इन्द्र—जीवात्मा—तो ब्रह्म की ही तरह चेतन है, अत वह सवकी अपेक्षा ब्रह्म के अत्यत निकट है।)

उस ब्रह्म का आदेश—उसका वखान—तो ऐसे ही है जेसे विद्युत् चमकती है और छिप जाती है, जैसे आख झपकी मारती है और इसी बीच में कुछ देख जाती है। वह दीखता ऐसे है जैसे विद्युत् की चमक—आई और ओझल हो गई, हम देखते ऐसे है जैसे आख की झपक—खुली और वन्द हो गई। यक्ष भी तो ऐसे ही दीखा। सामने आया, और तिरोहित हो गया, इन्द्र ने देखा और फिर ढूढने लगा। यह आधिदैविक उपाख्यान हुआ। 'आधिदैविक' का अर्थ है देवताओ के सम्वन्ध में। अग्नि, वायु, इन्द्र—ये देवता है—दिव्य गुणो वाली शक्तिया है, इन देवताओ को आधार वनाकर ब्रह्म की चर्चा हुई ॥४॥

अव 'अध्यात्म' उपाख्यान कहते है—अग्नि, वायु आदि भौतिक-जगत् के सम्वन्ध में नही, परन्तु अध्यात्म-जगत् के सम्वन्ध में, अर्थात्

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा ३ इतीन्न्यमीमिषदा ३ इत्यधिदैवतम् ॥४॥

तस्य—उस (ब्रह्म) का, एष—यह, आदेश—उपदेश, व्याख्यान, उदाहरण, निर्देश (है), यद् एतद्—जो यह, विद्युत—विजली का, व्यद्युतद्—चमकी थी, कौधी थी, आ ३ इति—सव ओर, इद्—ही, न्यमीमिषद् आ—सव ओर (चमककर) छिप गई थी, इति—यह (वर्णन, उदाहरण), अधिदैवतम्—आधिदैविक, जड-देवताओ से सम्वन्ध रखने वाला, जड-देवता सम्वन्धी है ॥ ४ ॥

अथाध्यात्म यदेतद् गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्ण सकल्प ॥५॥

अथ—अव, इसके आगे, अध्यात्मम्—आध्यात्मिक, चेतन-देवता सम्वन्धी (उदाहरण-निर्देश देते है), यद् एतद्—जो यह, गच्छति—जाता है, इव—

इस मनुष्य-शरीर के सम्बन्ध में उपाख्यान कहते है। ऐसा जो प्रतीत होता है कि मन जाता है, और दूर-दूर चला जाता है, हर क्षण या तो बीते हुए को 'स्मरण' करता है, या आगे के लिये नवीन 'सकल्प' करता है—इसका कारण भी ब्रह्म ही है ॥५॥

(उपनिषदो मे 'आधिदैविक' का अर्थ 'सृष्टि', अर्थात् 'ब्रह्माण्ड' (Macrocosm) तथा 'अध्यात्म' का अर्थ 'पुरुष-शरीर', अर्थात् 'पिड' (Microcosm) मे है। आधिदैविक और अध्यात्म, ब्रह्माण्ड तथा पिड—इन दोनो मे एक ही नियम काम कर रहे है—इस बात को उपनिषदो मे जगह-जगह कहा है। 'अध्यात्म'-शब्द का अर्थ उपनिषदो मे आत्मा-सम्बन्धी नही, परन्तु आत्मा जिस शरीर मे अधिष्ठित—'अधि+आत्म'—है, उस शरीर से—पिड से—है। आधिदैविक (ब्रह्माण्ड) का वर्णन करते-करते अध्यात्म (पिड) का, और अध्यात्म (पिड) का वर्णन करते-करते आधिदैविक (ब्रह्माण्ड) का वर्णन करना उपनिषदो की अपनी ही शैली है।)

वह 'ब्रह्म' 'वन' है—वन अर्थात् भक्ति के योग्य। उसकी 'वन'-नाम से या 'वन' में—एकांत जगल में—उपासना करनी चाहिये। वह जो इस रूप में ब्रह्म को जानता है, उसे चाहता है, उसकी भक्ति करता है, सब उसे चाहने लगते है, उसके भक्त हो जाते है ॥६॥

मानो, तरह, **मन**—मन, **अनेन**—इस (मन) से, **च**—और, **एतद्**—यह, **उपस्मरति**—स्मरण करता है, **अभीक्ष्णम्**—बार-बार, लगातार, **सकल्प**—सकल्प करने वाला होता है॥ ५ ॥

तद्ध तद्वन नाम तद्वनमित्युपासितव्य स य एतदेव
वेदाऽभि हैन सर्वाणि भूतानि सवाञ्छन्ति ॥६॥

तद् ह—वह ही, **तद्**—वह, **वनम्**—पूजनीय, भक्ति के योग्य, **नाम**—नामवाला (है), **तद्वनम् इति**—वह भक्ति योग्य है, या वन अर्थात् जगल के एकान्त मे ज्ञातव्य है, अत, **उपासितव्यम्**—(उसकी) उपासना करनी चाहिये, **स य एतद् एवम् वेद**—वह जो इसको इस प्रकार जानता है, **ह**—निश्चय ही, **एनम्**—इस (उपासक) को, **सर्वाणि भूतानि**—सब प्राणी, **अभि संवाञ्छन्ति**—चाहने लगते है, उसकी ओर आकृष्ट होते है॥ ६ ॥

शिष्य ने कहा, 'महाराज ! उपनिषद् का उपदेश दीजिये'। गुरु कहते हैं, 'तुझे हमने उपनिषद् का उपदेश कर दिया। हमने तुझे ब्रह्म-सम्बन्धी उपनिषद् का उपदेश दे दिया' ॥७॥

इस प्रकार जो ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करता है उसकी 'प्रतिष्ठा'—बुनियाद—तीन बातों पर होती है—'तप', 'दम' तथा 'कर्म'। मनुष्य में जो शक्ति है उसमें कुछ सभालकर रख ली जाती है, अपने नियन्त्रण में ले ली जाती है, काम में नही लायी जाती, कुछ काम में लायी जाती है। जो नियन्त्रण में ले ली जाती है, अर्थात् काम में नहीं लायी जाती है, वह या तो शारीरिक है, या मानसिक। शारीरिक नियन्त्रण (Physical Control) को 'तप' कहते हैं, मानसिक नियन्त्रण (Mental Control) को 'दम' कहते हैं। जो शक्ति काम में लायी जाती है उसे 'कर्म' कहते है। ब्रह्म-ज्ञान की प्रतिष्ठा, आधार-स्तम्भ, उसकी नीव ये तीन—तप-दम-कर्म—हैं। बातें ही बनाने का नाम 'ब्रह्म-ज्ञान' नही, कर्म उसका आवश्यक अंग है। जिस चीज की 'प्रतिष्ठा'—नींव—होती है, आधार (Foundation) होता है, उस पर 'आयतन'—इमारत (Structure) भी खड़ी होती है। वह आयतन है 'वेद', वेदों के सब 'अंग', और इन दोनों के सम्मिश्रण से उत्पन्न होने वाला 'सत्य'। 'तप', 'दम' और 'कर्म' की नींव से जो इमारत उठेगी उसका भव्य रूप होगा वेद अर्थात् 'ज्ञान' अर्थात् फिलासफी, वेदांग अर्थात् 'विज्ञान' अर्थात् सायन्स—और इन दोनों के सम्मिश्रण से उत्पन्न 'सत्य' ॥८॥

उपनिषद भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥७॥

उपनिषदम्—उपनिषद् (ब्रह्मज्ञान) को, भो—हे, ब्रूहि—कह, व्याख्या कर, इति—इस प्रकार, उक्ता—कह दी, ते—तुझे, उपनिषद्—उपनिषद्, ब्राह्मीम्—ब्रह्म-सम्बन्धिनी, वाव—निश्चय मे, ते—तुझे, उपनिषदम्—उपनिषद् (ब्रह्मज्ञान) को, अब्रूम—कह दिया, व्याख्या कर दी, इति—यह ॥ ७ ॥

तस्यै तपो दम कर्मेति प्रतिष्ठा वेदा सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ॥८॥

तस्यै—उस (ब्रह्म विद्या) के लिए, तप—शारीरिक नियंत्रण, पाँचों शौच आदि नियम, दम—मन का निग्रह, पाँचों अहिंसा आदि यम, कर्म—कर्मरत रहना, प्रतिष्ठा—आधार, नीव, स्थिर रखने वाले, वेदा—चारों वेद—ज्ञान,

जो 'ब्रह्म-विद्या' को इस रूप में जानता है वह पाप का अपहरण करके अनन्त उत्तम स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है, अवश्य प्रतिष्ठित होता है ॥९॥

(हमारे जीवन की नींव में 'तप', 'दम' और 'कर्म' हो, इस नींव पर जो इमारत खड़ी हो वह 'ज्ञान' तथा 'विज्ञान' के सम्मिश्रण से उत्पन्न होने वाले 'सत्य' की हो——यह 'ब्रह्म-विद्या' का यथार्थ-रूप है। 'ज्ञान' के लिए वर्तमान युग की परिभाषा में 'फिलासफी'-शब्द का प्रयोग किया जाय, 'विज्ञान' के लिए वर्तमान युग की परिभाषा में 'सायन्स'-शब्द का प्रयोग किया जाय, और आज जैसे इनमें विरोध दीखता है, उस विरोध का परिहार कर यदि उनमें समन्वय कर दिया जाय, तो उसी को 'सत्य' कहेंगे। इस प्रकार का, ज्ञान तथा विज्ञान का, 'सत्य' में समन्वय ही ब्रह्म-विद्या का यथार्थ रूप है। पिछले तीन खंडों में जिस ब्रह्म का बखान किया इस चतुर्थ खंड में उस ब्रह्म को सिर्फ बातें बनाने तक सीमित न रखकर 'कर्म' में——जीवन में——ला उतारने, उसे नींव बनाकर जीवन की सत्यमय इमारत को उस पर खड़ा करने का निर्देश दे दिया।)

फिलासफी, **सर्वाङ्गानि**—वेद के 'शिक्षा' आदि छः अंग, सायन्स, **सत्यम्**—सत्य, अस्तित्व, स्वस्थता, **आयतनम्**—स्वरूप, शरीर, इमारत ॥ ८ ॥

यो वा एतामेव वेदापहत्य पाप्मानम(न)न्ते
स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥९॥

य—जो (उपासक), **वै**—निश्चय से, **एताम्**—इस ब्रह्म-विद्या को, **एवम्**—इस प्रकार, **वेद**—जानता है, **अपहत्य**—दूर हटा कर, **पाप्मानम्**—पाप को, **अन्ते**—अन्त में (यहाँ **'अनन्ते'** यह पाठ भेद है तब 'अनन्ते' यह 'लोके' का विशेषण होगा तब अर्थ होगा–अनन्ते=अन्तहीन, नाश रहित), **स्वर्गे**—आनन्दमय, **लोके**—लोक में, स्थिति में, **स्वर्गे लोके**—आनन्दमय अवस्था में, मोक्ष में, **ज्येये**—सर्वश्रेष्ठ, **प्रतितिष्ठति**—स्थिति को प्राप्त करता है, **प्रतितिष्ठति**—(अवश्य ही) प्रतिष्ठित होता है ॥ ९ ॥

कठोपनिषद्

प्रथमा वल्ली

(नचिकेता तथा मृत्यु का उपाख्यान)

वाजश्रवस नामक ऋषि को मुक्ति की कामना हुई। उन्होंने अपना सम्पूर्ण धन-धान्य दान कर दिया। उनका नचिकेता नामक पुत्र था ॥१॥

वह बालक ही था परन्तु दक्षिणा में जिस प्रकार की गौए ले जाई जा रही थी उन्हें देखकर उसके हृदय में श्रद्धा ने प्रवेश किया और उसने विचारा—॥२॥

ये गौए किसी समय भरपेट जल पीती थीं, परन्तु अब स्वय पानी तक नहीं पी सकती, कभी भरपेट घास खाती थीं, परन्तु अब घास तक नहीं चर सकतीं, जो अपना पूरा दूध दे चुकी है, जिनमें अब दूध

ॐ। उशन् ह वै वाजश्रवस सर्ववेदस ददौ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥१॥

ओम्—सर्वरक्षक, आदि गुरु ब्रह्म का नाम स्मरण (ध्यान) करके, उशन्—(मुक्ति की) कामना करता हुआ, ह वै—निश्चय से, वाजश्रवस—वाजश्रवस ने, सर्ववेदसम्—सर्व धन-धान्य, ददौ—दान कर दिया। तस्य—उसका, ह—निश्चय से, नचिकेता—नचिकेता, नाम—नाम वाला, पुत्र—पुत्र, आस—था ॥ १ ॥

तँ ह कुमारँ सन्त दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत ॥२॥

तम् ह—उसको, कुमारम्—कुमार, बालक, सन्तम्—होते हुए, दक्षिणासु—दक्षिणाओ मे, नीयमानासु—ले जायी जाती हुई (गौओ को देखकर), श्रद्धा—सत्य विचार, श्रद्धा, आविवेश—प्रवेश किया, आया, स—उसने, अमन्यत—विचारा ॥ २ ॥

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रिया।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददद् ॥३॥

पीतोदका—जो पानी पी चुकी है (अब पानी पीने मे असमर्थ है), जग्धतृणा—जो तिनके (घास) खा चुकी है, दुग्धदोहा—जिनका दूध दुहा जा चुका है (अब आगे दूध नहीं देगी), निरिन्द्रिया—शिथिल इन्द्रियो वाली (ऐसी

ही नहीं, जिनकी इन्द्रिया शिथिल हो चुकी है—ऐसी गौओ का दान देने वाला आनन्दरहित लोको में जाता है ॥३॥

पिता को सब-कुछ दान में देते देखकर उसने अपने पिता से कहा, तात ! मुझे किसे दोगे ? पिता चुप रहा। फिर उसने दूसरी बार पूछा, तीसरी बार पूछा। पिता ने उत्तर दिया—तुझे 'मृत्यु' को दूगा ॥४॥

नचिकेता सोचने लगा—"मै अपने साथियो में से बहुतो में प्रथम रहता हू, बहुतो में मध्यम रहता हू, बिल्कुल निकम्मा तो हू नही। 'यम' को—'मृत्यु' को—मुझसे आज क्या करना है ?" ॥५॥

मरने से जो भय उत्पन्न हुआ उसका वह स्वय समाधान करता है—"जो तुझसे पहले हो चुके है उन्हें देख, जो तेरे पीछे होगे उन्हें देख। यह 'मर्त्य'—मरने वाला मनुष्य—अन्न की तरह पैदा होता है, पकता है, नष्ट हो जाता है, और फिर उत्पन्न हो जाता है" ॥६॥

बूटी गायो को), अनन्दा—आनन्द से शून्य, नाम—नाम वाले, ते—वे, लोका—लोक है, तान्—उन (लोको) को, स—वह, गच्छति—जाता है, प्राप्त होता है, ता—उन (ऐसी गौओ को), ददत्—दान करने वाला ॥ ३ ॥

स होवाच पितर तत कस्मै मा दास्यसीति।
द्वितीय तृतीय त ँ होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥४॥

स ह—उसने, उवाच—कहा, पितरम्—(अपने) पिता को, तत—हे तात पिताजी, कस्मै—किसको, माम्—मुझको, दास्यसि—दान करोगे, इति—ऐसे, द्वितीयम्—दोबारा, तृतीयम्—तीसरी बार, तम्—उस (पिता) को, ह—निश्चयपूर्वक, उवाच—कहा, मृत्यवे—मृत्यु को, यम को, त्वा—तुझको, ददामि—देता हू (दूगा), इति—यह (पिता ने उत्तर दिया) ॥ ४ ॥

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यम।
कि ँ स्विद्यमस्य कर्तव्य यन्मयाद्य करिष्यति ॥५॥

बहूनाम्—बहुतो (साथियो) मे, एमि—जाता हू, प्रथम—पहला, अग्रणी, बहूनाम्—बहुतो मे, एमि—हूँ, मध्यम—बीच की कोटि का, किंस्विद्—क्या, यमस्य—यम (मृत्यु) का, कर्तव्यम्—करने योग्य कार्य है, यद्—जिस (काम) को, मया—मुझ मे, मेरे द्वारा, अद्य—आज, करिष्यति—करेगा ॥ ५ ॥

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे।
सस्यमिव मर्त्य पच्यते सस्यमिवाजायते पुन ॥६॥

अनुपश्य—विचार कर देख, यथा—जैसे, पूर्वे—पहले (उत्पन्न),



नचिकेता पिता से पूछता है, मुझे किसे दोगे ?

नचिकेता वैश्वानर—अग्नि—की भांति देदीप्यमान था, ब्राह्मण था। वह अतिथि के रूप में यमाचार्य के घरों में प्रवेश करता है।

प्रतिपद्य—देख, तथा—वैसे ही, अपरे—दूसरे (बाद में उत्पन्न), सस्यम् इव—अन्न की तरह, मर्त्य—मरणशील मनुष्य, पच्यते—पकता है (नष्ट हो जाता है), सस्यम् इव—अन्न की तरह ही, आ जायते—पैदा हो जाता है, पुनः—फिर, दोबारा ॥ ६ ॥

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।
तस्यैतां शान्ति कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥७॥

वैश्वानर—अग्नि (के समान देदीप्यमान), प्रविशति—प्रवेश करता है,

उन घरो में वैवस्वत---यमाचार्य के पुत्र आदि---जल आदि लाते हैं, पूछनाछ करते हैं और उसे शान्त करते हैं ॥७॥

जिस छोटी बुद्धि वाले मनुष्य के घर में ब्राह्मण विना भोजन के रहता है वह उसका सब-कुछ हर लेता है। जो बातें निश्चित है उनके पाने की मनुष्य को 'आशा' होती है, जो अनिश्चित हैं उनकी 'प्रतीक्षा' होती है। ऐसे व्यक्ति के आशा-प्रतीक्षा दोनो फल नष्ट हो जाते हैं। साधु पुरुषो की संगति और मीठी वाणी का फल भी नष्ट हो जाता है। 'इष्ट' अर्थात् जो यज्ञादि उसने किये हैं, और 'आपूर्त' अर्थात् जो कुए, बावली, धर्मशाला आदि उसने बनवाए हैं इन सबका फल हरा जाता है। पुत्र और पशु---जो-कुछ उसका है सब बेकार जाता है ॥८॥

यमाचार्य जब आये तो उन्होने कहा---"हे नमस्कार के योग्य ब्राह्मण, हे अतिथि, तीन रात तक विना भोजन के तूने मेरे घर में वास

अतिथि---अतिथि, ब्राह्मण---ब्राह्मण, गृहान्---घरो को, तस्य---उसकी, एताम्---इस, शान्तिम्---शान्ति को, कुर्वन्ति---करते हैं, हर---ला, वैवस्वत---हे विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र यम, उदकम्---जल ॥ ७ ॥

आशाप्रतीक्षे सङ्गतं सूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान्।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे ॥८॥

आशा-प्रतीक्षे---आशा (निश्चित प्राप्य कामनाओ) और प्रतीक्षा (अनिश्चित अभीष्ट कामनाओ) को, सगतम्---मेल मिलाप को, सूनृताम्---मधुर प्रिय वाणी को, च---और, इष्ट+आपूर्ते---इष्ट (किये हुए यज्ञ) और आपूर्त (कूप, धर्मशाला निर्माण आदि धर्मार्थ कार्यो) को, पुत्र-पशून्---पुत्र (सन्तान) और पशु (गौ आदि) को, च---और, सर्वान्---सब ही को, एतद्---यह, वृङ्क्ते---खो देता है, से वचित कर देता है, पुरुषस्य---मनुष्य के, अल्प-मेधस---थोडी बुद्धि वाले के, यस्य---जिसके, अनश्नन्---न भोजन पाता हुआ, वसति---रहता है, ब्राह्मण---ब्राह्मण, गृहे---घर में ॥ ८ ॥

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन्ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्य।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व ॥९॥

तिस्र---तीन, रात्री---राते, यद्---जो, अवात्सी---तू रहा, गृहे---घर में, मे---मेरे, अनश्नन्---न भोजन करते हुए, ब्रह्मन्---हे ब्राह्मण, अतिथि---अतिथि, नमस्य---नमस्कार के योग्य, नम---नमस्कार, ते---तुझे, अस्तु---हो, ब्रह्मन्---हे ब्राह्मण, स्वस्ति---कल्याण, मे---मेरा, अस्तु---होवे, तस्मात्---उस कारण से, प्रति---बदले मे, त्रीन्---तीन, वरान्---वरो को, वृणीष्व---चुन ले, माँग ले ॥ ९ ॥

किया है, तुझे मेरा नमस्कार हो। तुम्हारी पूछ-ताछ की गई थी पर फिर भी तुमने स्वय मेरी प्रतीक्षा में भोजन नही किया। तो भी मैं पाप का भागी न होऊ इसलिये भोजन न करने के बदले मुझसे तीन वर माग लो" ॥९॥

('नचिकेता' का अर्थ है, 'न जानने वाला'—'जिज्ञासु'। 'यम' का अर्थ है—'मृत्यु'। आचार्य को आलकारिक रूप मे 'मृत्यु' तथा जिज्ञासु को 'नचिकेता' कल्पित करके यह सवाद चल रहा है। 'मृत्यु' प्राचीन काल के किसी आचार्य का, गुरु का नाम नही है,



यमाचार्य कह रहे हैं, हे नचिकेता, मुझसे तीन वर माग लो

मृत्यु इस सवाद का एक पात्र है। वैदिक-साहित्य मे आचार्य को प्राय मृत्यु का नाम दिया गया है—ऋग्वेद के ब्रह्मचर्य-सूक्त मे कहा है—'आचार्यो मृत्यु'। आचार्य के सम्मुख अपनेपन को मिटा देना होता है, इसलिए आचार्य मृत्यु है। आचार्य मृत्यु ही नही, मृत्यु के साथ जैसे जन्म जुडा रहता है, वैसे आचार्य शिष्य के अपने-पन को मारकर उसे दूसरा जन्म देता है, इसलिये वैदिक-साहित्य मे लिखा है कि आचार्य शिष्य को तीन दिन और तीन रात गर्भ मे धारण करके उसे नया जन्म देता है—'तिस्रो रात्री गर्भे विभर्ति'। नचिकेता भी तीन दिन-रात बिना खाये-पिये मृत्यु के यहा रहा, ऐसे ही रहा जैसे ब्रह्मचारी आचार्य के गर्भ मे रहता है, अपने पिछले रूप को मारकर, और नये जन्म की तय्यारी मे।)

नचिकेता का पहला वर—पिता शान्त हो

नचिकेता ने पहला वर मागा—"हे! मृत्यो! मेरा पिता गौतम शान्त-संकल्प हो, प्रसन्न-मन हो, क्रोध-रहित हो, और जब मै आपके पास से अपने पिता के पास लौटू तो मुझ से प्रसन्न होकर बोले। तीनो वरो में से पहला वर तो मै यह मागता हू" ॥१०॥

यमाचार्य ने वर देते हुए कहा—"तेरा पिता—उद्दालक वा अरुण का पुत्र गौतम—मृत्यु के मुख से तुझे छुटा हुआ देखकर जैसे पहले

शान्तसकल्प सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो।
त्वत्प्रसृष्ट माभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणा प्रथम वर वृणे॥ १०॥

शान्तसकल्प—शान्तिमय विचारवाला (चिन्ताशून्य), सुमना—प्रसन्न मन वाला, यथा—जैसे, स्यात्—होवे, वीतमन्यु—क्रोधरहित, गौतम—गौतम गोत्री (मेरा पिता), मा—मुझको, अभि—ओर, (मा+अभि=मेरे प्रति), मृत्यो—हे मृत्यु, त्वत्प्रसृष्टम्—तुझसे छोडे हुए, तेरी अनुमति से लौटे हुए, मा—मुझको, अभिवदेत्—बोले, बात करे, प्रतीत—विश्वस्त, सशयशून्य होकर, एतत्—यह, त्रयाणाम्—तीनो मे से, प्रथमम्—पहले, वरम्—वर को, वृणे—चुनता हूँ, माँगता हूँ॥ १०॥

यथा पुरस्ताद् भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्ट।
सुख रात्री शयिता वीतमन्युस्त्वा ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम्॥ ११॥

यथा—जैसे, पुरस्तात्—पहले, (यथा पुरस्तात्—पहले की तरह ही),

तुझ से प्रसन्न था वैसा ही प्रसन्न होगा। तुझे मृत्यु के मुख मे छुटा हुआ देखकर क्रोधरहित होकर सुख की नींद सोयेगा" ॥११॥

नचिकेता का दूसरा वर—स्वर्ग-साधक अग्नि क्या है ?

अब नचिकेता दूसरा वर मागता है—"स्वर्ग-लोक में किसी प्रकार का भय नहीं है, न वहा तू है, न जरावस्था—इन दो ही मे तो मनुष्य डरता है, वहा मृत्यु से भी भय नहीं, वृद्धावस्था से भी भय नहीं। स्वर्ग-लोक में भूख-प्यास इन दोनो प्रवाहो को तर लेते है, द्वन्द्वो से ऊपर उठ जाते है, शोक पीछे रह जाता है, आनन्द-ही-आनन्द रह जाता है" ॥१२॥

"हे यमाचार्य! आप उस स्वर्ग प्राप्त कराने वाली 'अग्नि' को जानते है। हे मृत्यो! मै श्रद्धा-पूर्वक पूछता हू, आप मुझे उसका उपदेश दें। जो स्वर्गलोक में जाते है उन्हें अमृतत्व—अमरता—प्राप्त होती है इसलिये 'स्वर्ग-साधक अग्नि' का आप उपदेश दीजिए। द्वितीय वर से मै यही मागता हू" ॥१३॥

भविता—होवेगा, प्रतीत—विश्वासी, औद्दालकि—उद्दालक का पुत्र, आरुणि—अरुण का पुत्र, मत्प्रसृष्ट—मुझ से अनुमतिपूर्वक भेजा हुआ, सुखम्—सुखपूर्वक, निश्चिन्त, रात्री—रात्रियो मे, शयिता—सोयगा, वीतमन्यु—क्रोधरहित, त्वाम्—तुझको, ददृशिवान्—देखने वाला, मृत्यु-मुखात्—मौत के मुख से, प्रमुक्तम्—छुटे हुए ॥ ११ ॥

स्वर्गे लोके न भय किंचनास्ति न तत्र त्व न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १२ ॥

स्वर्गे—स्वर्ग, लोके—लोक मे, न—नही, भयम्—भय, किंचन—कुछ भी, तनिक भी, अस्ति—है, न—नही, तत्र—वहा, उसमे, त्वम्—तू (मृत्यु), न—नही, जरया—बुढापे से, बिभेति—डरता है, उभे—दोनो, तीर्त्वा—पार कर के, अशनाया-पिपासे—भूख और प्यास को, शोकातिग (शोक+अतिग)—शोक से मुक्त, मोदते—आनन्द मनाता है, स्वर्गलोके—स्वर्ग-लोक मे ॥ १२ ॥

स त्वमग्नि, स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्व श्रद्दधानाय मह्यम्।
स्वर्गलोका अमृतत्व भजन्त एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥ १३ ॥

स—वह, त्वम्—तू, अग्निम्—अग्नि को, स्वर्ग्यम्—स्वर्ग देने वाली, अध्येषि—जानते हो, मृत्यो—हे मृत्यु, प्रब्रूहि—प्रवचन कर, उपदेश दे,

यमाचार्य बोले—"हे नचिकेत ! मैं उस 'स्वर्ग-साधक अग्नि' को जानता हूं। मैं कहूंगा, तू समझ। उसके द्वारा अनन्त-लोकों की प्राप्ति होती है, उन लोकों की वह आधार है। परन्तु हां, यह समझ ले कि वह 'अग्नि' गुहा में निहित है—उसका जानना-समझना एक रहस्य को समझने के समान है" ॥१४॥

यमाचार्य ने नचिकेता को लोक की, अर्थात् स्वर्गलोक की साधक उस 'आदि-अग्नि' का उपदेश दिया। उस अग्नि के लिये जो-जो ईंटें चाहियें, जितनी चाहियें, जिस प्रकार की चाहिये—सब कहा। नचिकेता ने भी आचार्य ने जो-कुछ कहा था वह ठीक-ठीक वैसे ही सुना दिया। नचिकेता की इस कुशाग्र-बुद्धि को देखकर आचार्य बहुत सन्तुष्ट हुए और उन्होंने कहा—॥१५॥

ज्ञान करा, त्वम्—तू, श्रद्दधानाय—श्रद्धा से युक्त, मह्यम्—मुझ को, स्वर्गलोका—स्वर्गलोक में रहने वाले (पहुँचे हुए), अमृतत्वम्—अमरपद मोक्ष को, भजन्ते—सेवन करते हैं, प्राप्त करते हैं, एतद्—यह, द्वितीयेन—दूसरे, वृणे—माँगता हूँ, वरेण—वर से ॥ १३ ॥

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ॥ १४ ॥

ते—तुझे, प्र ब्रवीमि—उपदेश करता हूँ, तद् उ—उस (उपदेश) को, मे—मेरे, निबोध—भली प्रकार समझ, स्वर्ग्यम्—स्वर्ग देने वाली, अग्निम्—अग्नि को, नचिकेत—हे नचिकेता, प्रजानन्—जानता हुआ, जानने वाला, अनन्तलोक+आप्तिम्—अनन्त लोकों को प्राप्त कराने वाली, अथो (अथ+उ)—और, प्रतिष्ठाम्—(लोकों की) आधारभूत, विद्धि—जान, त्वम्—तू, एतम्—इसको, निहितम्—रखी हुई है, गुहायाम्—गुप्त स्थान में, गुफा में, हृदय-प्रदेश में ॥ १४ ॥

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥ १५ ॥

लोकादिम्—लोकों में प्रमुख, स्वर्ग-लोक की साधक 'आदि-अग्नि', अग्निम्—अग्नि को, तम्—उसको, उवाच—उपदेश दिया, तस्मै—उस (नचिकेता) को, या—जो, इष्टका—ईंटें, यावती—जितनी, वा—या, यथा—जैसी, वा—या, स—उस (नचिकेता) ने, च—और, अपि—भी, तत्—उस, यथोक्तम् (यथा+उक्तम्)—जैसे कहा गया (उपदेश के अनुसार), प्रत्यवदत्—

महात्मा यम अत्यन्त प्रसन्न होकर नचिकेता को कहने लगे—"आज तुझे एक और वर देता हू। यह 'अग्नि' तेरे ही नाम से प्रसिद्ध होगी। ले, अनेक रगो वाली इस माला को ग्रहण कर।" यह कहकर आचार्य ने स्वर्ग-साधक अग्नि का नाम 'नाचिकेत-अग्नि' रख दिया और उसे एक माला दी ॥१६॥

जो 'त्रि-नाचिकेत' होगा, अर्थात् 'नाचिकेत-अग्नि' की ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ—इन तीन आश्रमो में उपासना करेगा, वह तीनो सन्धियो में से गुजर कर, तीनो कर्मों को करके, जन्म और मृत्यु को तर जायगा। ये तीन 'सन्धि' तथा तीन 'कर्म' क्या हैं? जब ब्रह्मचारी गृहस्थ में प्रवेश करता है तो इन दोनो आश्रमो के बीच की सन्धि में से गुजर जाता है, जब गृहस्थी वानप्रस्थ में प्रवेश करता है

कह दिया, सुना दिया, अथ—इसके बाद, अस्य—इसका (को), मृत्यु—यम आचार्य ने, पुन एव—फिर, आह—कहा, तुष्ट—प्रसन्न हुए-हुए ॥ १५ ॥

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वर तवेहाद्य ददामि भूय।
तवैव नाम्ना भवितायमग्नि सृङ्का चेमामनेकरूपा गृहाण ॥ १६ ॥

तम्—उस (नचिकेता) को, अब्रवीत्—कहा, प्रीयमाण—प्रसन्न हुए, महात्मा—महात्मा (यम) ने, वरम्—वर को, त व—तेरा, तुझे, इह—यहाँ, अद्य—आज, ददामि—देता हूँ, भूय—फिर, अधिक, तव एव—तेरे ही, नाम्ना—नाम से, भविता—होगी, अयम्—यह, अग्नि—अग्नि, सृङ्काम्—माला, जजीर को, च—और, इमाम्—इस, अनेकरूपाम्—अनेक रूप (वर्ण) वाली, गृहाण—ले, स्वीकार कर ॥ १६ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धि त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू।
ब्रह्मज(य)ज्ञ देवमीड्य विदित्वा निचाय्येमा शान्तिमत्यन्तमेति ॥ १७ ॥

त्रिणाचिकेत—तीन नाचिकेत (अग्नियो) को धारण करने वाला, त्रिभि—तीन (अग्नियो) से, एत्य—पहुँच कर, प्राप्त कर, सन्धिम्—सन्धि (मिलना) स्थान को, त्रिकर्मकृत्—तीन कर्मो को करने वाला, तरति—पार कर लेता है, जन्ममृत्यू—जन्म और मरण को, ब्रह्मजज्ञम् अथवा ब्रह्मयज्ञम् (ब्रह्म+ज+ज्ञम्)—ब्रह्म से उत्पन्न ज्ञान (वेद) को जानने वाले या ब्रह्मयज्ञ को, देवम्—देव को, ईड्यम्—स्तुति के योग्य, विदित्वा—जानकर, निचाय्य—पूर्ण निश्चय कर, इमाम्—इस, शान्तिम्—शान्ति को, अत्यन्तम्—बहुत अधिक, अनन्त, एति—प्राप्त करता है ॥ १७ ॥



ब्रह्मचर्य-गृहस्थ, गृहस्थ-वानप्रस्थ, वानप्रस्थ-सन्यास—इन तीन सन्धियो से तीन स्वर्ग-साधक अग्निया उत्पन्न हो रही हैं

तब गृहस्थ तथा वानप्रस्थ की सन्धि में से गुजरता है, जब वानप्रस्थ से सन्यास में प्रवेश करता है तब वानप्रस्थ तथा सन्यास की सन्धि मे से गुजरता है। इन तीन सन्धियो में से गुजरना, इन्हें पार कर जाना ही तीन कर्म है। जो इन तीन सन्धियो में से नही गुजरता वह किसी-न-किसी एक आश्रम में अटक जाता है। इस प्रकार प्रत्येक सन्धि में से गुजरने से एक-एक 'स्वर्ग-साधक-अग्नि' उत्पन्न होती है। अग्नि उत्पन्न ही सन्धि से—दो वस्तुओ के मेल से—होती है। एक-एक

सन्धि के बाद एक-एक 'नाचिकेत-अग्नि' प्रकट होती है जो मनुष्य को स्वर्ग, अर्थात् अमृत की ओर ले जाती है। इस प्रकार तीन सन्धियो में से गुजर कर 'त्रि-नाचिकेत-अग्नि' की साधना होती है। इन तीन अग्नियो में से गुजर कर जो जीवन-क्रम बनता है वह 'ब्रह्म-यज्ञ' कहलाता है। जो व्यक्ति दिव्य गुणो से युक्त, स्तुति के योग्य 'ब्रह्म-यज्ञ' को जान जाता है, उसके विषय में निश्चय कर लेता है, वह अत्यन्त शांति को प्राप्त होता है ॥१७॥

(स्वर्ग की साधक कौन-सी अग्नि है ? क्या वह जिसमे यज्ञ करते है, या कोई और ? यमाचार्य कहते है कि यज्ञ-याग आदि की अग्नि से स्वर्ग नही प्राप्त होता। स्वर्ग-साधक अग्नि वह है जो 'ब्रह्म-यज्ञ' की तरफ ले जाती है। 'ब्रह्म' का अर्थ है, महान् होना, बढना, अपना विस्तार करना। वही मनुष्य 'ब्रह्म-यज्ञ' करता है जो अपना विस्तार करता है, अपने जीवन को सकुचित नही होने देता। यज्ञ मे अग्नि होती है, तो इस 'ब्रह्म-यज्ञ' मे, व्यक्ति के महान् होने मे कौन-सी अग्नि है ? वह अग्नि तीन सन्धियो मे से गुजरने से उत्पन्न होती है, जिसे यमाचार्य ने 'त्रि-नाचिकेत-अग्नि' का नाम दिया है। सन्धि से, दो के सयोग से अग्नि उत्पन्न होती है, बिना सन्धि के अग्नि नही उत्पन्न होती। ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ का जहा मेल है, जहा सन्धि है, वहा से जो गुजर गया उसने 'ब्रह्म-यज्ञ' की एक अग्नि सिद्ध कर ली। जीवन की वास्तविक कठिनाई सन्धि मे से गुजरना है। गृहस्थी विचार ही करता रह जाता है कि वानप्रस्थी बने, वानप्रस्थी विचार ही करता रह जाता है कि सन्यासी बने। जिसमे नचिकेता की आग है वही सन्धि को पार करता है, नही तो सन्धि के इधर या उधर ही रह जाता है। इस प्रकार जो तीन सन्धियो में से गुज़र जाता है वह तीन अग्नियो को सिद्ध कर लेता है, वह 'त्रि-नाचिकेत-अग्नि' को अर्थात् 'ब्रह्म-यज्ञ' को पूर्ण कर लेता है। चारो आश्रमो मे से गुजरना ही वास्तविक ब्रह्म-यज्ञ है, उसी मे मनुष्य महान् होता है क्योकि वह तीन अग्नियो मे तप चुकता है। तीन प्रकार की सन्धियो को पार करके 'ब्रह्म-यज्ञ' की साधना होती है—यह उपदेश यमाचार्य ने नचिकेता

की जिज्ञासा के उत्तर मे नाचिकेता को दिया इसलिये यमाचार्य ने इस साधना का नाम ही 'त्रिनाचिकेत' रख दिया।)

तीनो नाचिकेत-अग्नियो को जो इस प्रकार जान जाता है, और नाचिकेत-अग्नि का चयन करता है, वह आगे से मृत्यु के पाशो को काटकर, शोक से पार होकर, स्वर्ग-लोक मे आनन्द से रहता है ॥१८॥

हे नचिकेत ! स्वर्ग-साधक जिस अग्नि की तूने अपने दूसरे वर से जिज्ञासा की थी उसका तुझे उपदेश दे दिया। इस अग्नि को लोग तेरे ही नाम से कहा करेंगे। हे नचिकेत ! अब तू तीसरा वर माग ॥१९॥

नचिकेता का तीसरा वर—मृत्यु के अनन्तर क्या होता है ?

अब नचिकेता तीसरा वर मागता है—"मनुष्य के मर जाने पर जो जिज्ञासा रहती है, कोई कहते है मरने पर भी मनुष्य बना रहता

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एव विद्वाँश्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशान्पुरत प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १८ ॥

त्रिणाचिकेत—तीन अग्नियो का सेवन करने वाला, त्रयम्—तीनो को, एतद्—इसको, विदित्वा—जानकर, य—जो, एवम्—इस प्रकार, विद्वान्—जानने वाला, ज्ञानी, चिनुते—चयन करता है, नाचिकेतम्—अग्नि को, स—वह, मृत्युपाशान्—मृत्यु के बन्धनो को, पुरत—आगे से, पहले से, सामने विद्यमान, प्रणोद्य—हटा कर, शोकातिग—शोक रहित (होकर), मोदते—आनन्द भोगता है, स्वर्गलोके—स्वर्गलोक मे ॥ १८ ॥

एष तेऽग्निर्नचिकेत स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीय वर नचिकेतो वृणीष्व ॥ १९ ॥

एष—यह, ते—तेरी, तुझे, अग्नि—अग्नि, नचिकेत—हे नचिकेता, स्वर्ग्य—स्वर्ग को देने वाली, यम्—जिसको, अवृणीथा—वर रूप मे मांगा था, द्वितीयेन—दूसरे, वरेण—वर से, एतम्—इसको, अग्निम्—अग्नि को, तव—तेरा, एव—ही, प्रवक्ष्यन्ति—कहेगे, जनास—मनुष्य, जनता, तृतीयम्—तीसरे, वरम्—वर को, नचिकेत—हे नचिकेता, वृणीष्व—मांग ॥ १९ ॥

येय प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाह वराणामेष वरस्तृतीय ॥ २० ॥

या—जो, इयम्—यह, प्रेते—(मनुष्य के) मर जाने पर, विचिकित्सा—उत्पन्न सशय की निवृत्ति की इच्छा (जिज्ञासा), मनुष्ये—मनुष्य मे, अस्ति—

हैं, कोई कहते हैं नहीं बना रहता—आपसे शिक्षा पाकर मैं इसका समाधान जानना चाहता हूं। मैंने जो वर मांगने हैं उनमें तीसरा वर यही है" ॥२०॥

यमाचार्य उत्तर देते हैं—"बडे-बडे विद्वानों ने भी इस विषय में पहले जिज्ञासा की है। इस बात का जानना आसान नहीं है। यह बडा अणु-धर्म है, सूक्ष्म-विषय है। हे नचिकेता, दूसरा ही कोई वर मांग। मुझे इस विषय में बाधित न कर, इस विषय को छोड़ दे ॥२१॥

नचिकेता कहने लगा—"यह सच है कि बडे-बडे विद्वानों ने भी इस विषय में जिज्ञासा की, और यह समस्या ऐसी है जिसे, हे मृत्यु! तू भी कह रहा है कि सुगमता से समझ नहीं पड़ सकती। मृत्यु के अनन्तर क्या होता है—इस प्रश्न का उत्तर स्वयं मृत्यु के अतिरिक्त कौन दे सकता है? इसलिये तेरे सिवाय इस प्रश्न का उत्तर भी कौन दे सकेगा? ऐसी अवस्था में इस वर के समान तो दूसरा कोई वर हो ही नहीं सकता" ॥२२॥

रहती है, इति—यह, एके—कई एक, न—नहीं, अयम्—यह, अस्ति—बना रहता है, इति—यह, च—और, एके—कई, कोई, एतद्—यह, विद्याम्—जानूं, अनुशिष्ट—शिक्षित, त्वया—तुझ से, अहम्—मैं, वराणाम्—तीनों वरों में से, एष—यह, वर—वर, तृतीय—तीसरा है ॥ २० ॥

देवैरत्रापि विचिकित्सित पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्म ।
अन्य वर नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥ २१ ॥

देवै—देवताओं ने, विद्वानों ने, अत्र—इसमें, यहां, अपि—भी, विचिकित्सितम्—संदेह कर जिज्ञासा की थी, पुरा—पहिले, न हि—नहीं, सुविज्ञेयम्—आसानी से जानने योग्य, अणु—सूक्ष्म, एष—यह, धर्म—धर्म, विषय, अन्यम्—दूसरे, उससे भिन्न, वरम्—वर को, नचिकेत—हे नचिकेता, वृणीष्व—मांग, मा मा—मत मत, उपरोत्सी—बाधित कर, मा—मुझको, अतिसृज—छोड दे, एनम्—इस (विषय) को, इस (वर) को ॥ २१ ॥

देवैरत्रापि विचिकित्सित किल त्व च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥ २२ ॥

देवै अत्र अपि विचिकित्सितम्—विद्वानों ने भी इस विषय में संशय-निवारणार्थ जिज्ञासा की थी, किल—निश्चय से, त्वम्—तू, च—और, मृत्यो—हे

यमाचार्य का कथन—यह वर मत माग, भोग-ऐश्वर्य माग

यम ने कहा—"सौ-सौ वर्ष की आयु वाले पुत्र-पौत्रों को माग, अनेक पशुओं को माग, हाथी, सुवर्ण, घोड़े माग, बड़ी-बड़ी जमीनें, जायदादें मांग, जबतक जीना चाहे तबतक का जीवन माग" ॥२३॥

अगर इस वर के बराबर तू कोई चीज समझता है—धन-धान्य, दीर्घ-जीवन—वह माग। हे नचिकेता! तू पृथिवी के बड़े भाग पर शासन करना चाहे, तो वह माग। जितनी कामनाएं है वे तेरी इच्छा-मात्र से पूर्ण हो जाय, ऐसा चाहे तो वह माग" ॥२४॥

मृत्यु! हे आचार्य यम, यत्—जिसको, न—नहीं, सु विज्ञेयम्—सुगमता से जानने योग्य, आत्थ—कहते हो, वक्ता—प्रवचन करने वाला, उपदेष्टा, च—और, अस्य—इसका, त्वादृग्—तेरे जैसा, अन्य—दूसरा, न—नहीं, लभ्य—पाना सभव है, पाया जा सकता है, न—नहीं, अन्य—दूसरा, वर—वर, तुल्य—समान, एतस्य—इसके, कश्चित्—कोई ॥ २२ ॥

शतायुष पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतन वृणीष्व स्वय च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥ २३ ॥

शतायुष—सौ वर्ष की (दीर्घ) आयु वाले, पुत्रपौत्रान्—बेटे-पोतो को, वृणीष्व—माँग ले, बहून्—बहुतसे, पशून्—गाय आदि पशुओ को, हस्तिहिरण्यम्—हाथी और सोने को, अश्वान्—घोडो को, भूमे—पृथ्वी के, महत्—बडे, आयतनम्—विस्तार को, क्षेत्र को, वृणीष्व—माग ले, स्वयम्—अपने आप, च—और, जीव—जीवित रह, शरद—शरद् ऋतुएँ, वर्षो तक, यावद्—जितना, इच्छसि—चाहता है ॥ २३ ॥

एतत्तुल्य यदि मन्यसे वर वृणीष्व वित्त चिरजीविका च ।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाज करोमि ॥ २४ ॥

एतत् + तुल्यम्—इसके समान, यदि—अगर, मन्यसे—समझता है, वरम्—वर को, वृणीष्व—माँग ले, वित्तम्—धन को, चिरजीविकाम्—चिरस्थायी जीवन को, च—और, महाभूमौ—विस्तृत भूमि पर, नचिकेत—हे नचिकेता, त्वम्—तू, एधि—हो, रह, बढ, शासन कर, कामानाम्—सारी कामनाओं का, त्वा—तुझ को, कामभाजम्—(इच्छा मात्र से) कामनाओं से युक्त, करोमि—करता हू ॥ २४ ॥



हे नचिकेता, हाथी-घोड़े माग, मरने के बाद क्या होता है—यह मत पूछ

"मर्त्य-लोक में जो भी दुर्लभ कामनाएं हैं सबको बेखटके माग। ये स्त्रिया हैं, रथो सहित, गाजे-बाजे सहित। ऐसी स्त्रिया मनुष्यो

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामाँश्छन्दत प्रार्थयस्व।
इमा रामा सरथा सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभि परिचारयस्व नचिकेतो मरण मानुप्राक्षी ॥ २५ ॥

ये-ये—जो-जो, कामा—कामनाएँ, दुर्लभा—अप्राप्य, मर्त्यलोके—इस पृथ्वी पर, सर्वान्—सारी, कामान्—कामनाओं को, छन्दत—स्वेच्छा से, बेहिचक के, प्रार्थयस्व—माँग ले, इमा—ये, रामा—सुन्दर स्त्रियाँ,

को प्राप्त नहीं हो सकतीं। मैं इन्हें तुझे दूंगा। इनके साथ सुख भोग, परन्तु हे नचिकेता, 'मरण' के विषय में प्रश्न मत कर" ॥२५॥

नचिकेता का उत्तर--यही तो वास्तविक समस्या है

नचिकेता ने उत्तर दिया--"हे अन्तक! हे मृत्यो! ये सुख-भोग मनुष्य के लिये 'श्वोभाव' हैं—आज हैं, कल नहीं। ये इन्द्रियों के तेज को क्षीण कर देते हैं। इन भोगों को भोगने के लिये सारा-का-सारा जीवन भी बहुत-थोडा है। ये हाथी-घोडे, यह नाचना-गाना अपने ही पास रख, ये मुझे नहीं चाहियें" ॥२६॥

"मनुष्य धन से तृप्त नहीं हो सकता। अगर हमने तेरा दर्शन कर लिया, तेरे रहस्य को समझ लिया, तो धन-धान्य सब प्राप्त हो जायगा। हे मृत्यु, जितना तू चाहेगा उतना ही तो हम जी सकेंगे—ज्यादा तो नहीं। मैं तो वही वर मांगता हूं" ॥२७॥

सरथा—रथों (वाहनों) के साथ, सतूर्या—गाजे-बाजे सहित, न हि—नहीं, ईदृशा—ऐसी, लम्भनीया—प्राप्य, मनुष्यैः—मनुष्यों से, आभिः—इन, इनमें, मत्प्रत्ताभिः—मुझसे दी हुई, परिचारयस्व—सेवा करवा, नचिकेत—हे नचिकेता, मरणम्—मृत्यु को, मृत्यु के विषय में, मा—मत, अनुप्राक्षीः—प्रश्न कर ॥ २५ ॥

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥ २६ ॥

श्वोभावाः—कल तक ही रहने वाले, क्षण-स्थायी, मर्त्यस्य—मरणधर्मा मनुष्य के, यद्—जो, अन्तक—हे यमराज, मृत्यु, एतद्—यह, सर्वेन्द्रियाणाम्—सब इन्द्रियों के, जरयन्ति—क्षीण कर देते हैं, तेजः—तेज को, अपि—भी, सर्वम्—सारा, जीवितम्—जीवन, अल्पम्—थोड़ा, छोटा, एव—ही, तव—तेरे, एव—ही, वाहाः—सवारी के हाथी-घोडे, तव—तेरे, नृत्य-गीते—नाचना-गाना ॥ २६ ॥

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥ २७ ॥

न—नहीं, वित्तेन—धन से, तर्पणीयः—तृप्त किया जा सकता, मनुष्यः—मनुष्य, लप्स्यामहे—प्राप्त कर लेंगे, वित्तम्—धन को, अद्राक्ष्म—देख लिया, चेत्—अगर, त्वा—तुझको, जीविष्यामः—जियेंगे, यावत्—जितना, जबतक, ईशिष्यसि—प्रभु रहेगा, चाहेगा, त्वम्—तू, वरः—वर,

"अगर जीर्ण न होने वाली, अमृत-अवस्था को प्राप्त करके, इससे उल्टी, जीर्ण होने वाली, मरणावस्था को कोई जान-बूझकर प्राप्त करे, तो वह नीच नही तो क्या है ? इस विचार का ध्यान करके सौन्दर्य तथा रमण के आमोद-प्रमोद वाले दीर्घ-जीवन में भी किसका चित्त लग सकता है ?"॥२८॥

"हे मृत्यो ! जिस बात को जानने के लिये सब लोग जिज्ञासा करते हैं, जिसके लिये महान् 'साम्पराय'—परलोक-साधक यम-नियम आदि—किये जाते हैं, मृत्यु के बाद उस आत्मा का जो रूप है, यही हमें बताइये। मैंने जो वर मागा है, जो हमारी बातचीत से अब और अधिक गूढ हो गया है, नचिकेता तो उससे अतिरिक्त अन्य कोई वर नही मागता" ॥२९॥

तु—तो, मे—मेरा, वरणीय—वरण करने योग्य, माँगने योग्य, स—वह, एव—ही (है) ॥ २७ ॥

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥ २८ ॥

अजीर्यताम्—जीर्ण न होनेवाले, अमृतानाम्—अमर व्यक्तियों को, उपेत्य—प्राप्त करके, जीर्यन्—क्षीण होनेवाला, मर्त्य—मनुष्य, क्वधःस्थ—पृथ्वी पर निम्न स्थान पर बैठा हुआ, प्रजानन्—ज्ञानी (हो कर), अभिध्यायन्—ध्यानपूर्वक विचार करता हुआ, वर्ण-रति-प्रमोदान्—सुन्दर रूप और भोग-विलासों का, अति दीर्घे—बहुत लम्बे, जीविते—जीवन मे, क—कौन, रमेत—प्रसन्न होवेगा, आनन्द मनायगा ॥ २८ ॥

यस्मिन्निद विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥ २९ ॥

यस्मिन्—जिसमे, इदम्—यह, विचिकित्सन्ति—संशय करते हैं, जिज्ञासा करते हैं, मृत्यो—हे यम, यत्—जो, साम्पराये—परलोक सम्बन्धी, महति—बडे, ब्रूहि—कह, उपदेश कर, न—हमें, तद्—वह, य अयम् वर—जो यह वर, गूढम्—रहस्यता को, अनुप्रविष्ट—प्रवेश कर गया है, (गूढम् अनुप्रविष्ट—अधिक रहस्यमय हो गया है), न—नहीं, अन्यम्—दूसरे (वर) को, तस्मात्—उससे, नचिकेता—नचिकेता, वृणीते—माँगता है, चाहता है ॥ २९ ॥

द्वितीया वल्ली

यमाचार्य का नचिकेता को उत्तर—श्रेय तथा प्रेय में भेद

यमाचार्य ने कहना शुरू किया—'श्रेय'-मार्ग अन्य है, 'प्रेय'-मार्ग अन्य है। ये दोनों भिन्न-भिन्न प्रयोजनों से पुरुष को बांधते हैं। इनमें से 'श्रेय' को ग्रहण करने वाले का भला होता है, जो 'प्रेय' का वरण करता है वह लक्ष्य से हट जाता है ॥१॥

'श्रेय' तथा 'प्रेय'—ये दोनों भावनाएं मनुष्य के सामने आती हैं। धीर-पुरुष इन दोनों की परीक्षा करता है, छान-बीन करता है। धीर-पुरुष वह है जो कोई काम जल्दी में नहीं करता, तत्काल फल नहीं देखता। वह 'प्रेय' की अपेक्षा 'श्रेय' का ही वरण करता है। मन्द-बुद्धि व्यक्ति 'योग-क्षेम'—कुशल-मंगल—सुख-चैन—के लिये, आराम से जीवन बिताने के लिये 'प्रेय' का वरण करता है ॥२॥

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥ १ ॥

अन्यत्—दूसरा, श्रेयः—कल्याणकारी, अन्यत्—दूसरा, उत एव—ही, प्रेयः—प्रिय (अच्छा) लगनेवाला, ते—वे, उभे—दोनों, नाना+अर्थे—अनेक प्रयोजनों में, पुरुषम्—जीवात्मा को, सिनीतः—बांधते है, फँसाते है, तयोः—उन दोनों में से, श्रेयः—कल्याणकारी को, आददानस्य—ग्रहण करने वाले का, साधु—भला, भवति—होता है, हीयते—वंचित हो जाता है, रहित हो जाता है, अर्थात्—(अपने) प्रयोजन से, ध्येय से, यः—जो, उ—निश्चय ही, प्रेयः—प्रिय वस्तु का, वृणीते—वरण करता है, ग्रहण करता है ॥ १ ॥

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योग-क्षेमाद् वृणीते ॥ २ ॥

श्रेयः—कल्याणकारी, च—और, प्रेयः—प्रिय (अच्छा) लगने वाला, च—और, मनुष्यम्—मनुष्य को, एतः—प्राप्त होते है, सामने आते है, तौ—उन दोनों को, संपरीत्य—भली प्रकार मन से सोच कर, विविनक्ति—विवेक करता है, छान-बीन करता है, धीरः—ज्ञानी (समझदार) पुरुष, श्रेयः—कल्याणकारी को, हि—ही, धीरः—धैर्यशाली बुद्धिमान्, प्रेयसः—प्रिय वस्तु में (की अपेक्षा), अभिवृणीते—स्वीकार करता है, ग्रहण करता है, प्रेयः—प्रिय लगने वाली वस्तु को, मन्दः—मूर्ख, योग-क्षेमात्—योग (अप्राप्त की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त की रक्षा) के कारण (का विचार कर), वृणीते—ग्रहण करता है ॥ २ ॥

हे नचिकेता, तूने खूब सोच-विचार कर, 'प्रिय' तथा 'प्रियरूप'—'मन' तथा 'इन्द्रिय' को खींचने वाली—कामनाओ को त्याग दिया है। सोने की इस साकर में तू नहीं फसा जिसमें वहुत से लोग तो जकड़े ही जाते है ॥३॥

ये दोनो—अविद्या तथा विद्या—एक दूसरे से दूर है, विपरीत है, उल्टे है, विलक्षण है। हे नचिकेता! मैं यह मान गया कि तू विद्या की चाहना करने वाला है, 'श्रेय-मार्ग' का पथिक है, तुझे तरह-तरह की कामनाए ललचा नही सकीं, तूने 'प्रेय-मार्ग' पर चलना पसन्द नहीं किया ॥४॥

ससार के लोग अविद्या में फसे हुए, सासारिक भोगो में पडे हुए, अपने को धीर और पडित माने फिरते है। टेढे रास्तो से इधर-

---

स त्व प्रियान्प्रियरूपांश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षी ।
नैता सृङ्का वित्तमयीमवाप्तो यस्या मज्जन्ति वहवो मनुष्या ॥ ३ ॥

स त्वम्—उस (धीर) तूने, प्रियान्—प्रिय, प्रियरूपान्—देखने मे भी प्रिय—सुन्दर रूप वाले, च—और, कामान्—कामनाओ को, भोगो को, अभिध्यायन्—विचार करते हुए, सोच-विचार कर, नचिकेत—हे नचिकेता, अत्यस्राक्षी—छोड दिया, उनमें नही फँसा, न एताम्—नही इस, सृङ्काम्—जजीर को, माला को, वित्तमयीम्—सुवर्णमयी, अवाप्त—प्राप्त हुआ (लिया), यस्याम्—जिसमें, मज्जन्ति—डूव जाते है, फस जाते है, वहव—वहुत से, मनुष्या—मनुष्य ॥ ३ ॥

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सिन नचिकेतस मन्ये न त्वा कामा वहवोऽलोलुपन्त ॥ ४ ॥

दूरम्—दूर, एते—ये दोनो, विपरीते—उलटी, एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न, विषूची—नाना गति वाली, अविद्या—अविद्या, प्रेय, या च—और जो, विद्या—विद्या, श्रेय, इति—इस नाम से, ज्ञाता—जानी हुई, प्रसिद्ध, विद्याभीप्सिनम्—विद्या (श्रेय) की चाहनेवाला, नचिकेतसम्—नचिकेता को, मन्ये—समझता हू, न—नही, त्वा—तुझ को, कामा—काम-भोगो ने, वहव—वहुत से, अलोलुपन्त—लुप्त किया, पथ-भ्रष्ट किया, लुब्ध किया ॥ ४ ॥

अविद्यायामन्तरे वर्तमाना स्वय धीरा पण्डितमन्यमाना ।
दन्द्रम्यमाणा परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा ॥ ५ ॥

अविद्यायाम्—अविद्या मे, प्रेय मे, अन्तरे—बीच मे, वर्तमाना—उपस्थित, पडे हुए, स्वयम्—अपने आप ही, धीरा—ज्ञानी, पण्डितमन्यमाना—

उधर भटकते हुए ये मूढ ऐसे जा रहे हैं जैसे अन्धा अन्धे को रास्ता दिखा रहा हो ।।५।।

जो बडा होकर भी बुद्धि का बच्चा ही है, धन के मोह से जो दूसरी कोई बात सोच ही नही सकता, ऐसे प्रमादी को 'साम्पराय'—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—'यम-नियम'—पसन्द नही आते । वह यह मान बैठा है कि यही लोक है, परलोक नही है । ऐसा व्यक्ति बार-बार मेरे चगुल में आ फसता है, बार-बार मरता है, बार-बार पैदा होता है ।।६।।

बहुतो को तो वह सुनने को भी नही मिलता, बहुत-से लोग उसे सुनते हैं, पर फिर भी कुछ जान नही पाते, उसका कहने वाला विरला है, उसको पाने वाला कोई कुशल ही है, कुशल गुरु के उपदेश से कोई विरला ही उसे जान पाता है ।।७।।

अपने आपको पण्डित (चतुर, ज्ञानी) समझने वाले, **दन्द्रम्यमाणा**—टेढे मार्ग पर चलते हुए, **परियन्ति**—भटकते हैं, **मूढा**—मोहग्रस्त, मूर्ख, **अन्धेन एव**—अन्धे से ही, **नीयमाना**—ले जाये जाते हुए, **यथा अन्धा**—जैसे अन्धे ।। ५ ।।

न साम्पराय प्रतिभाति बाल प्रमाद्यन्त वित्तमोहेन मूढम् ।
अय लोको नास्ति पर इति मानी पुन पुनर्वशमापद्यते मे ।। ६ ।।

न—नही, **सांपराय**—परलोक साधक यम-नियम आदि, **प्रतिभाति**—अच्छा लगता है, **बालम्**—बालकवत् अज्ञानी को, **प्रमाद्यन्तम्**—प्रमाद करने वाले, **वित्तमोहेन**—धन के मोह (लालसा) मे, **मूढम्**—कर्त्तव्य-ज्ञान से शून्य, **अयम्**—यह, **लोक**—जीवन (ही है), **न**—नही, **अस्ति**—है, **पर**—दूसरा लोक (जन्म), **इति**—ऐसे, **मानी**—मानने वाला, (**पर न अस्ति इति मानी**—परलोक नही है ऐसा मानने वाला—नास्तिक), **पुन पुन**—बार-बार, **वशम्**—वश मे, **आपद्यते**—प्राप्त होता है, आ गिरता है, **मे**—मेरे (मुझ मृत्यु के) ।। ६ ।।

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य शृण्वन्तोऽपि बहवो य न विद्यु ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्ट ।। ७ ।।

श्रवणाय—सुनने के लिए, **अपि**—भी, **बहुभि**—बहुतो से (को), **य**—जो, **न**—नही, **लभ्य**—प्राप्य है, **शृण्वन्त**—सुनते हुए, **अपि**—भी, **बहव**—बहुत से, **यम्**—जिसको, **न**—नही, **विद्यु**—जान सके, **आश्चर्य**—

उसका कितना भी चिन्तन क्यों न करे, साधारण गुरु के उपदेश से उसे नही जान सकते। दूसरे के बतलाए बिना कोई उसके ज्ञान में आगे नही बढ सकता। वह अणु-प्रमाण है, सूक्ष्म है, इसलिये 'अणीयान्' और 'अतर्क्य' है—'इन्द्रियो से' देखा नही जा सकता, और 'तर्क से' जाना नही जा सकता ॥८॥

जो बुद्धि मैंने तुझे दी है वह तर्क-वितर्क से हटा मत देना। हे प्रिय शिष्य! उस ब्रह्म का ज्ञान तभी होता है जब कोई अन्य—कोई गुरु—उसका उपदेश देता है—तू धैर्य वाला है, सत्य का खोजने वाला है—इसलिये तुझे वह बुद्धि मिल गई है। हे नचिकेता! हमारे लिए तो कोई पूछने वाला हो, जिज्ञासु हो, तो तेरे जैसा हो ॥९॥

अद्भुत (विरला), **वक्ता**—उपदेष्टा, **कुशल**—चतुर, **अस्य**—इसका, **लब्धा**—प्राप्त करने वाला, **आश्चर्य**—विरला, **ज्ञाता**—जानने वाला, **कुशल+अनुशिष्ट**—कुशल (गुरु) द्वारा शिक्षित ॥ ७ ॥

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमान।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ ८ ॥

न—नही, **नरेण**—मनुष्य के द्वारा, **अवरेण**—तुच्छ, साधारण, **प्रोक्त**—उपदेश किया हुआ, **सुविज्ञेय**—सुगमतया जानने योग्य, **बहुधा**—बहुत प्रकार से, बार-बार, **चिन्त्यमान**—चिन्तन (विचार) किया हुआ (भी), **अनन्यप्रोक्ते**—दूसरे द्वारा न बताये जाने पर, **गति**—पहुँच, ज्ञान, **अत्र**—इस विषय में, **न अस्ति**—नही है, **अणीयान्**—अणु से भी बहुत सूक्ष्म, **हि**—ही, **अतर्क्यम्**—कल्पना या तर्क से भी अज्ञेय, **अणु-प्रमाणात्**—अणु के परिमाण से ॥ ८ ॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥ ९ ॥

न—नही, **एषा**—यह, **तर्केण**—तर्क (ऊहापोह या कल्पना) से, **मति**—बुद्धि, ज्ञान, **आपनेया**—हटाना, दूर करना, **प्रोक्ता**—बताई हुई, **अन्येन**—दूसरे (गुरु) से, **एव**—ही, **सुज्ञानाय**—भली प्रकार जान लेने के लिए, हे **प्रेष्ठ**—प्रियातिप्रिय नचिकेता, **याम्**—जिस (बुद्धि को), **त्वम्**—तू ने, **आप**—प्राप्त किया है, **सत्यधृति**—सच्चे (स्थिर) धैर्य या धारणावती बुद्धि वाला, **बत**—निश्चय ही, **असि**—है, **त्वादृक्**—तेरे जैसा, **न**—हमसे, **भूयात्**—होवे, **नचिकेत**—हे नचिकेता, **प्रष्टा**—पूछने वाला, जिज्ञासु ॥ ९ ॥

मैं जानता हू कि यह धन-सम्पत्ति अनित्य है। जो वस्तुए स्वय 'अध्रुव' हैं, अस्थिर हैं, उनसे वह 'ध्रुव', स्थिर ब्रह्म नहीं प्राप्त हो सकता। इसी कारण मैंने 'नाचिकेत-अग्नि' का चयन किया है, तीनों सन्धियो को पार किया है, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास-आश्रमो में से गुजरा हू। इस प्रकार अनित्य द्रव्यो से ही नित्य को मैंने पा लिया है। वैसे तो अनित्य से नित्य की प्राप्ति नहीं हो सकती, परन्तु अगर 'नाचिकेत-अग्नि' का चयन किया जाय, नचिकेता में जो अग्नि जल उठी थी वह हम में भी प्रदीप्त हो उठे, और चारो आश्रमों में से प्रत्येक आश्रम के अनुभव से जो नवीन आत्म-ज्योति मिले उसे अपना पथ-प्रदर्शक बनाया जाय, तो अनित्य संसार से भी नित्य की प्राप्ति हो सकती है ॥१०॥

तूने कामनाओ को पूर्ण करने की उमगो को (पुत्रैषणा को), धनी होने के कारण मिलने वाले सम्मान को (वित्तैषणा को), कभी समाप्त न होने वाले कर्म-काड को (लोकैषणा को), निर्भीकता की सीमा को, चारो तरफ से उच्च-ध्वनि से होने वाले जय-जय नाद को—सब तरह की प्रतिष्ठा को, आखो से देखकर, हे धीर नचिकेता, धीरता के साथ छोड़ दिया ॥११॥

जानाम्यहं्ँ शेवधिरित्यनित्य न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुव तत्।
ततो मया नचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥ १० ॥

जानामि—जानता हूँ, अहम्—मै, शेवधि—खजाना, धन-सम्पत्ति, इति—यह बात, अनित्यम्—अनित्य, अस्थायी, न हि—नही, अध्रुवैः—अस्थिर (अस्थायी वस्तुओ) से, प्राप्यते—प्राप्त किया जाता है, हि—निश्चय से, ध्रुवम्—स्थिर, कूटस्थ, तत्—वह (ब्रह्म), तत—उस कारण से, मया—मैंने, नचिकेत—हे नचिकेता, चित—चयन की, प्रज्वलित की, अग्नि—नाचिकेत अग्नि, स्वर्ग्य ज्ञानाग्नि, अनित्यैः—अनित्य, द्रव्यैः—वस्तुओ से, प्राप्तवान्—पाया है, जाना है, अस्मि—हूँ, (प्राप्तवान् अस्मि—जान पाया हू), नित्यम्—नित्य (ब्रह्म) को ॥ १० ॥

कामस्याप्ति जगत प्रतिष्ठा क्रतोरानन्त्यमभयस्य पारम्।
स्तोम महदुरुगाय प्रतिष्ठा दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षी ॥ ११ ॥

कामस्य—भोग विलास की, आप्तिम्—प्राप्ति को (पुत्रैषणा को) जगत—जगत् की (मे होनेवाली), प्रतिष्ठाम्—यश को (लोकैषणा को),

उसके दर्शन कठिनता से होते हैं। वह गूढ से भी गूढ है। वह दुर्गम गुफाओ में छिपा बैठा है। वह सबसे पुरातन है। उसे 'अध्यात्म-योग' से प्राप्त कर सकते हैं—'अध्यात्म-योग', अर्थात् इन्द्रियो का ऐसा चलन जिससे वे विषयो की तरफ जाने के बजाय आत्मा की तरफ चलें। उस देवता को जब मनुष्य मान जाता है, तब धीर हो जाता है, हर्ष तथा शोक दोनो को छोड देता है, द्वन्द्वो से ऊपर उठ जाता है ॥१२॥

मैने जो कुछ कहा है उसे 'श्रवण' करके, सुनने के बाद उसे ग्रहण अर्थात् 'मनन' करके, ग्रहण करने के बाद उसे बढाकर—उतने तक ही सीमित न रहकर उसका 'निदिध्यासन' करके, वह 'अणु'—सूक्ष्म ब्रह्म—प्राप्त होता है, सब धर्मों का भी वही लक्ष्य है। उस आनन्द-

---

क्रतो—क्रर्म की, आनन्त्यम्—अनन्तता (न अन्त होना) को (वित्तैषणा को), अभयस्य—निर्भीकता के, पारम्—सीमा को, पराकाष्ठा को, स्तोमम्—स्तुति-प्रशंसा को, महत्—बडी, महनीय, उरुगायम्—विस्तृत गान (जय-जय नाद) को, प्रतिष्ठाम्—प्रतिष्ठा को, यश को (या अपनी अभीष्ट स्थिति मोक्ष को), दृष्ट्वा—देख कर विचार कर, धृत्या—धैर्य से, धीर—धैर्यशाली ज्ञानी (तूने), नचिकेत—हे नचिकेता, अत्यस्राक्षी—(उन तीनो एषणाओ को) छोड दिया ॥ ११ ॥

त दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ १२ ॥

तम्—उस, दुर्दर्शम्—कठिनता से जानने योग्य, गूढम्—छिपे हुए (अज्ञात), अनुप्रविष्टम्—विद्यमान, गुहाहितम्—गुफा (बुद्धि) में स्थित, गह्वरेष्ठम्—गहरी खाई (हृत्प्रदेश) मे विद्यमान, पुराणम्—सनातन, आदि-अन्त से रहित, अध्यात्म-योग-अधिगमेन—आत्म-ज्ञान की ओर गति से (अन्त-र्मुख वृत्ति मे), देवम्—दिव्य गुणो से युक्त भगवान् को, मत्वा—जान कर, धीर—धीर (बुद्धि वाला) ज्ञानी, हर्षशोकौ—हर्ष और शोक (सुख-दुःख, राग-द्वेष) को, जहाति—छोड देता है ॥ १२ ॥

एतच्छ्रुत्वा सपरिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य।
स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये ॥ १३ ॥

एतत्—इस (ज्ञान-चर्चा) को, श्रुत्वा—सुन कर, संपरिगृह्य—ग्रहण कर, भली भाति मनन कर, मर्त्य—मनुष्य, प्रवृह्य—उठाकर, निकाल कर

दायक 'ब्रह्म' को प्राप्त करके फिर आनन्द-ही-आनन्द मिलता है। हे नचिकेता, मैं समझता हूं कि तेरा द्वार खुल गया है—अब तेरे सम्मुख कोई रुकावट नहीं रही ॥१३॥

नचिकेता ने कहा—"धर्म से, अधर्म से, कृत से, अकृत से, भूत से, भव्य से—जो संसार की प्रत्येक वस्तु से भिन्न है, जिसे आप देखते हैं उसका आप मुझे उपदेश दीजिये" ॥१४॥

आचार्य ने कहा—"जिस पद (प्राप्तव्य, शब्द) का सब वेद बार-बार वर्णन करते हैं, सब तप जिसको पुकारते हैं, जिसकी चाहना में ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, संक्षेप में वह शब्द तुझे बतलाता हूं—वह शब्द 'ओ३म्'—यह है" ॥१५॥

(मुञ्जवत् असार में से सार लेकर), धर्म्यम्—धर्म से युक्त, धर्म के आधार, अणुम्—सूक्ष्मातिसूक्ष्म, एतम्—इस (ब्रह्म) को, आप्य—प्राप्त कर, स—वह (ज्ञानी), मोदते—आनन्द-लाभ करता है, मोदनीयम्—आनन्द स्वरूप (ब्रह्म) को, हि—ही, लब्ध्वा—प्राप्त कर, विवृतम्—खुला, खुले (मोक्ष) द्वार वाला, सद्म—मोक्ष-धाम, नचिकेतसम्—नचिकेता के प्रति, मन्ये—मैं समझता हूँ ॥ १३ ॥

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥ १४ ॥

अन्यत्र—भिन्न, धर्मात्—धर्म से, अन्यत्र—भिन्न, अधर्मात्—अधर्म से, अन्यत्र—भिन्न, अस्मात्—इस (लोक में किये हुए), कृत+अकृतात्—कर्म और अकर्म से, अन्यत्र—भिन्न, भूतात्—भूतकाल से, च—और, भव्यात्—भविष्य से, च—और, यत्—जो (है), तत्—उसको, पश्यसि—तू देखता है, जानता है, तत्—उसको, वद—कह, बता, उपदेश कर ॥ १४ ॥

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ १५ ॥

सर्वे—सारे, वेदा—वेद, यत्—जिसको, पदम्—शब्द को, प्रापणीय (अभीष्ट) को, आमनन्ति—बार-बार कहते हैं, वर्णन करते हैं, तपांसि—तप, सर्वाणि—सारे, यद्—जिसको, वदन्ति—कहते है, यद्—जिसको, इच्छन्त—चाहते हुए, ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्मचर्य व्रत का, चरन्ति—आचरण करते है, तत्—उस, ते—तुझे, पदम्—शब्द को, अभीष्ट वस्तु को, संग्रहेण—संक्षेप से, ब्रवीमि—उपदेश करता हूँ, बताता हूँ, ओम्—वह शब्द 'ओम्' है या वह प्राप्तव्य 'ओम्'-वाच्य ब्रह्म है, इति—ऐसा, एतत्—यह ॥ १५ ॥

"यह 'ओ३म्' एक अक्षर है, परन्तु यही ब्रह्म है, यही सबसे परे है, इसी अक्षर को जानकर जो कोई कुछ चाहता है उसे वह प्राप्त हो जाता है" ॥१६॥

"इसी का सबसे श्रेष्ठ सहारा है, इसी का सबसे अन्तिम सहारा है। इसी सहारे को जानकर ब्रह्मलोक में मनुष्य महान् हो जाता है" ॥१७॥

ब्रह्म का वर्णन करने के बाद अब आत्मा का वर्णन करते हुए यमाचार्य कहते हैं—"यह चेतन जीव न उत्पन्न होता है, न मरता है, न यह किसी कारण से उत्पन्न हुआ है, न पहले कभी हुआ था। यह अजन्मा है, नित्य है, निरन्तर है, पुरातन है—शरीर के मरने पर भी यह नहीं मरता" ॥१८॥

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥ १६॥

एतद्—यह 'ओम्' (पद वाच्य), हि—निश्चयपूर्वक, एव—ही, अक्षरम्—अविनाशी, अच्युत, ब्रह्म—ब्रह्म है, एतद् हि एव—यह (ओम्) ही, अक्षरम्—अविनाशी, परम्—सर्वश्रेष्ठ (है), एतत् हि एव—इस ही, अक्षरम्—अविनाशी 'ओम्' को, ज्ञात्वा—जानकर, य—जो, यद्—जो कुछ, इच्छति—चाहता है, तस्य—उसको, तत्—वह (प्राप्त हो जाता है) ॥ १६ ॥

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥ १७॥

एतत्—यह अविनाशी 'ओम्', आलम्बनम्—सहारा, आश्रय, श्रेष्ठम्—सर्वोत्तम, एतद्—यह, आलम्बनम्—सहारा, परम्—सर्वोत्कृष्ट, एतद्—इस, आलम्बनम्—आश्रय को, ज्ञात्वा—जान कर, ब्रह्मलोके—ब्रह्मलोक में, महीयते—महान् बन जाता है ॥ १७ ॥

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ १८॥

न—नहीं, जायते—उत्पन्न होता है, म्रियते—मरता है, वा—या, विपश्चित्—चेतनस्वरूप, मेधावी, न—नहीं, अयम्—यह, कुतश्चित्—कहीं से, किसी उपादान कारण से, न—नहीं, बभूव—उत्पन्न हुआ, कश्चित्—कोई, अज—अजन्मा, नित्य—नित्य, शाश्वत—हमेशा रहनेवाला, अयम्—यह, पुराण—सनातन, न—नहीं, हन्यते—मारा जाता है, हन्यमाने—मारे जाने पर, शरीरे—शरीर के ॥ १८ ॥

"अगर कोई मारने वाला यह समझता है कि मैं मार रहा हूं, अगर कोई मरने वाला यह समझता है कि मैं मर गया हू—वे दोनो नहीं जानते, न यह मारता है, न मरता है" ॥१९॥

ब्रह्म तथा आत्मा—ब्रह्माड तथा पिंड—का वर्णन करने के बाद इनके आपस के सम्बन्ध के विषय में आचार्य कहते है—"जीवात्मा अणु है, सूक्ष्म है, परमात्मा अणु से भी अणु है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। सूक्ष्म में स्थूल नहीं रह सकता, स्थूल में सूक्ष्म रह सकता है। वह सब जगह है क्योंकि वह अणु से भी अणु, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। परन्तु इसका यह मतलब नही कि वह इतना छोटा है। वह तो महान् से भी महान् है। वह गुफा में रहता है, परन्तु पहाड की गुफा में नहीं, इसी जीव-रूपी जन्तु की हृदय-रूपी गुफा में छिपा बैठा है। उसे कर्मो के जाल में, दुनिया के गोरखधधो में फसा हुआ व्यक्ति नहीं देख सकता, निष्काम-कर्मवाला ही उसे देख सकता है, जो वीत-शोक हो, जिसे किसी प्रकार का दुःख न हो। परमात्मा की महिमा को उस 'धाता'—ससार के धारण करने वाले—के प्रसाद से ही, उस प्रभु की कृपा से ही जाना जा सकता है" ॥२०॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तु हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नाय हन्ति न हन्यते॥ १९ ॥

हन्ता—मारनेवाला, चेत्—अगर, मन्यते—समझता है, हन्तुम्—मारने के लिए, हत—मारा हुआ, चेत्—अगर, मन्यते—समझता है, हतम्—(अपने आप को) मारा हुआ, उभौ—दोनो, तौ—वे, न—नहीं, विजानीत—जानते है, न अयम्—नही यह, हन्ति—मारता है, न—नहीं, हन्यते—मारा जाता है॥ १९ ॥

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतु पश्यति वीतशोको धातु प्रसादान्महिमानमात्मन ॥ २० ॥

अणो—अणु से, अणीयान्—अति सूक्ष्म, महत—बडे से, महीयान्—अधिक बडा, आत्मा—परमात्मा, अस्य—इस, जन्तो—जन्मधारी जीवात्मा के, निहित—रखा हुआ, उपस्थित, विद्यमान, गुहायाम्—हृदय-प्रदेश में, तम्—उसको, अक्रतु—कर्म-जाल से मुक्त, पश्यति—देखता है, जानता है, वीतशोक—शोक रहित, धातु—जगद्-धर्ता भगवान् की, प्रसादात्—कृपा से, महिमानम्—बडप्पन को, महिमा को, आत्मन—परमात्मा की ॥ २० ॥

"वह एक जगह पर आसीन होता हुआ, एक जगह पर ठहरा हुआ भी दूर-से-दूर पहुच जाता है, आसीन होने की बात छोडो, वह अगर सो भी रहा हो, तो भी सब जगह पहुंचा होता है, मस्त होते हुए भी मस्ती रहित उस देव को मेरे सिवा और कौन जान सकता है ?" ॥२१॥

"शरीर-धारियो में जो बिना शरीर के मौजूद है, अस्थिर पदार्थो में जो स्थिर-रूप से वर्त्तमान है, जो महान् है, विभु है, आत्मा है—उसे मनन-पूर्वक जानकर धीर-पुरुष सोच-विचार में पडकर दु ख नहीं मनाते" ॥२२॥

"आत्मा बडे-बड़े भाषणो से नहीं मिलता, तर्क-वितर्क से नही मिलता, बहुत-कुछ पढने-सुनने से नही मिलता। जिसको यह वर लेता है वही इसे प्राप्त कर सकता है, उसके सामने आत्मा अपने स्वरूप को खोलकर रख देता है" ॥२३॥

आसीनो दूर व्रजति शयानो याति सर्वत'।
कस्त मदामद देव मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥ २१ ॥

आसीन —बैठा हुआ, दूरम्—दूर, व्रजति—जाता है, शयान —सोता हुआ, याति—जाता है, सर्वत —सब ओर, क —कौन, तम्—उस, मदामदम् (मद+अमदम्)—मद से मस्त होते हुए भी मदरहित, देवम्—परमात्मा को, मदन्य —मुझ (ज्ञानी) से भिन्न (अज्ञानी), ज्ञातुम् अर्हति—जान सकता है ॥ २१ ॥

अशरीरं शरीरेष्वनवस्येष्ववस्थितम् ।
महान्त विभुमात्मान मत्वा धीरो न शोचति ॥ २२ ॥

अशरीरम्—शरीर-रहित, शरीरेषु—शरीरो मे, अनवस्थेषु—अस्थिर, चचल, अवस्थितम्—स्थिर, महान्तम्—बडे, महिमाशाली, विभुम्—व्यापक, आत्मानम्—परमात्मा को, मत्वा—जान कर, धीर—ज्ञानी, न—नही, शोचति—शोक करता है ॥ २२ ॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥२३॥

न अयम्—नही यह, आत्मा—परमात्मा, प्रवचनेन—उपदेश से, भाषणो से, लभ्य —पाया जा सकता है, न—नही, मेधया—धारणावती बुद्धि से, न—नही, बहुना—बहुत, श्रुतेन—शास्त्र-चर्चा से, यम् एव एष —जिसको ही यह, वृणुते—अपना लेता है, तेन—उसके द्वारा, लभ्य —प्राप्य (है),

"जो व्यक्ति दुराचार से हटा नही, जो अशान्त है, जो तर्क-वितर्क में उलझा हुआ है, जो चंचल-चित्त वाला है, वह उसे प्राप्त नही कर सकता। उसे 'प्रज्ञान' द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है" ॥२४॥

वह है कहा ? इसका उत्तर आचार्य देते है—"ससार दो शक्तियो का परिणाम है—'विधायक' (Constructive) तथा 'विनाशक' (Destructive)—बनाने वाली तथा तोडने वाली। विधायक-शक्तिया भी दो तरह की है—'आध्यात्मिक' (Spiritual) तथा 'भौतिक' (Physical)। 'आध्यात्मिक-विधायक-शक्ति' का नाम 'ब्रह्म' है, 'भौतिक-विधायक-शक्ति' का नाम 'क्षत्र' है। जिस आत्मा के सम्मुख विश्व की दोनो प्रकार की विधायक-शक्तिया—'ब्रह्म' तथा 'क्षत्र'—ओदन को तरह है, भात की तरह है, वह इन दोनो को एक ग्रास में निगल सकता है, उसके विषय में कौन जान सकता है कि वह कहा है ? इन दो विधायक-शक्तियो के अतिरिक्त विश्व में एक तीसरी विनाशक-शक्ति भी है, उसका नाम 'मृत्यु' है। जैसे भात में घी सींचा जाता है, और उसे मजे में चट किया जाता है, इसी तरह चट करने वाली मृत्यु को भी जो बडे स्वाद से चट कर जाता है उसके विषय में कौन जान सकता है कि वह कहा है ?" ॥२५॥

तस्य—उसके (लिए), एष—यह, आत्मा—परमात्मा, विवृणुते—प्रगट करता है, खोल देता है, तनूम्—शरीर को (स्वरूप को), स्वाम्—अपने ॥२३॥

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहित ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥२४॥

न—नही, अविरत—न हटा हुआ (फँसा हुआ), दुश्चरितात्—दुराचरण (त्याज्य कर्मों) से, न—नही, अशान्त—शान्तिशून्य, न—नही, असमाहित—चचल (विषयो मे फसे) चित्तवाला, अयोगी, न—नही, अशान्तमानस—अस्थिर मननशक्ति वाला, वा—या, अपि—भी, प्रज्ञानेन—प्रकृष्ट ज्ञान से, एनम्—इसको, आप्नुयात्—पा सकता है॥ २४॥

यस्य ब्रह्म च क्षत्र चोभे भवत ओदन ।
मृत्युर्यस्योपसेचन क इत्था वेद यत्र स ॥२५॥

यस्य—जिसके, ब्रह्म—ब्राह्मण, आध्यात्मिक-शक्ति से युक्त, च—और, क्षत्रम्—क्षत्रिय, भौतिक-शक्ति से सम्पन्न, च—और, उभे—दोनो, भवत—होते है, ओदन—भात, खाद्यवस्तु, ग्रास, मृत्यु—काल, यस्य—

तृतीया वल्ली

यमाचार्य द्वारा कर्मकाड तथा ज्ञानकाड मे भेद एव ज्ञानकाड के स्वरूप का वर्णन

ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं कि 'पञ्चाग्नि', अर्थात् पाच यज्ञो को करने वाले 'कर्मकाण्डियो' तथा 'त्रि-नाचिकेत', अर्थात् यमाचार्य ने जिन तीन नाचिकेत-अग्नियो का उपदेश दिया है उनका सेवन करने वाले 'ज्ञानकाण्डियो' में छाया और आतप का-सा अन्तर है। जो सिर्फ बाह्य यज्ञो में लगा रहता है वह तो मानो छाया में लगा हुआ है, तीन नाचिकेत-अग्नियो का सेवन ही वास्तविक प्रकाश का सेवन है। ये दोनो अपने-अपने दृष्टिकोण से 'ऋत' (Absolute truth) का पान करते हैं। जिस तत्त्व को यथार्थ-ज्ञान समझे हुए हैं उसी में ये दोनो लगे रहते हैं, दोनो परम-श्रेष्ठ बुद्धिरूपी गुहा में प्रविष्ट है, परन्तु कर्मकाडी तथा ज्ञानकाडियो में भेद छाया और आतप का-सा है ॥१॥

(वैदिक साहित्य मे 'ऋत' तथा 'सत्य'—ये दो शब्द पाये जाते है। 'ऋत च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत'—तपोमय ब्रह्म से ऋत तथा सत्य प्रकट हुए। 'ऋत' का अर्थ है—निरपेक्ष सत्य (Absolute truth) तथा 'सत्य' का अर्थ है—सापेक्ष सत्य (Relative truth)—'सत्य' तो परिस्थिति के अनुसार बदल सकता है, 'ऋत' परिस्थिति पर आश्रित नही।)

जिसका, उपसेचनम्—खाद्य को अधिक स्वादिष्ट बनानेवाला पदार्थ (दाल आदि व्यजन), क—कौन, इत्था—निश्चित रूप से, वेद—जानता है, यत्र—जहाँ, स—वह (है) ॥ २५ ॥

ऋत पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहा प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेता ॥१॥

ऋतम्—सत्य (यथार्थ ज्ञान) को, पिबन्तौ—पीते हुए, भोगते हुए, जानते हुए, सुकृतस्य—पुण्य कर्म के, लोके—लोक मे, (सुकृतस्य लोके—पुण्य कर्मो से प्राप्त मनुष्य जन्म में), गुहाम्—बुद्धि में, प्रविष्टौ—रहने वाले, परमे—श्रेष्ठ, परार्धे—हृदय-प्रदेश में, छाया+आतपौ—छाया और धूप (के समान), ब्रह्मविद—ब्रह्मज्ञानी, वदन्ति—कहते है, पञ्चाग्नय—पाँच (गार्हपत्य

जो लोग यज्ञ-याग आदि मे इसलिये लगे हुए है कि भव-सागर को तर कर पार जाना चाहते है, अभय, परब्रह्म को पाना चाहते है, उनके लिये वास्तविक पुल तो कर्मकाड नही, परन्तु 'नाचिकेत-अग्नि' अर्थात् ज्ञानकाड ही है । उसे हम प्राप्त कर सकें ॥२॥

आत्मा रथी है, अर्थात् रथ का मालिक है, शरीर एक रथ है, बुद्धि सारथि है—साईस है, मन लगाम है ॥३॥

इन्द्रिय घोडे है, इन्द्रियो के विषय वे मार्ग है जिन पर इन्द्रिय-रूपी घोडे दौड़ते है । मनीषी लोग कहते है कि जब आत्मा, इन्द्रियां तथा मन मिलकर कोई काम करते है तब मनुष्य 'भोक्ता' कहलाता है ॥४॥

आदि) अग्नियों का सेवन करने वाले—गृहस्थ कर्म-काण्डी, ये च—और जो, **त्रिणाचिकेता**—तीन (स्वर्ग्य) ज्ञानाग्नियो का सेवन करने वाले—ज्ञान-काण्डी ॥ १ ॥

य॰ सेतुरीजानानामक्षर ब्रह्म यत्परम् ।
अभय तितीर्षतां पार नाचिकेत॰ शकेमहि ॥२॥

य—जो, **सेतु**—पुल (पार जाने में साधन), **ईजानानाम्**—यज्ञ करने वालो का, **अक्षरम्**—अविनाशी, **ब्रह्म**—ब्रह्म, **यत्**—जो, **परम्**—सर्वश्रेष्ठ, **अभयम्**—निर्भय करने वाला, **तितीर्षताम्**—तैर कर पार जाने की कामना वाले, **पारम्**—पार, **नाचिकेतम्**—ज्ञानाग्नि को, **शकेमहि**—समर्थ होवे ॥२॥

आत्मान रथिन विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धि तु सारथि विद्धि मन प्रग्रहमेव च ॥३॥

आत्मानम्—आत्मा को, **रथिनम्**—रथ का अधिपति (सवार), **विद्धि**—जान, **शरीरम्**—शरीर को, **रथम्**—रथ, **एव**—ही, **तु**—तो, **बुद्धिम्**—बुद्धि को, **तु**—तो, और, **सारथिम्**—सारथि, साईस, **विद्धि**—जान, **मन**—मन को, **प्रग्रहम्**—रास, रस्सी, **एव**—ही, **च**—और ॥ ३ ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयास्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्त भोक्तेत्याहुर्मनीषिण ॥४॥

इन्द्रियाणि—इन्द्रियो को, **हयान्**—घोडे, **आहु**—कहते है, **विषयान्**—विषयो को, **तेषु**—उनमे, **गोचरान्**—गोचर भूमि (क्षेत्र) या मार्ग, **आत्मा+इन्द्रिय-मनोयुक्तम्**—आत्मा, इन्द्रिय और मन मिले हुए या इन्द्रिय और मन से समन्वित आत्मा, **भोक्ता**—भोग करने वाला, **इति**—ऐसे, **आहु**—कहते है, **मनीषिण**—मननशील ज्ञानी ॥ ४ ॥

जो विज्ञान-रहित है, उसका मन सदा आत्मा से अ-युक्त रहेगा। उसकी इन्द्रिया भी वश में नहीं रहती, जैसे दुष्ट घोडे सारथि के वश मे नहीं रहते ॥५॥

जो विज्ञान वाला है, जिसका मन आत्मा से जुड़ा रहता है, उसकी इन्द्रिया वश में रहती है, जैसे अच्छे घोड़े सारथि के वश में रहते है ॥६॥

जो विज्ञान-रहित है, जिसका मन आत्मा से युक्त नहीं, जो सदा अपवित्र विचारो को ही सोचता है, वह उस उच्च-पद को, जिसमें आत्मा मालिक बन कर रथ को चलाये, नहीं प्राप्त कर सकता। घोड़े ही उसके रथ के मालिक बन जाते है और उसे ससार में भटकाते फिरते है, वह जन्म-मरण के चक्कर में उलझा फिरता है ॥७॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथे ॥५॥

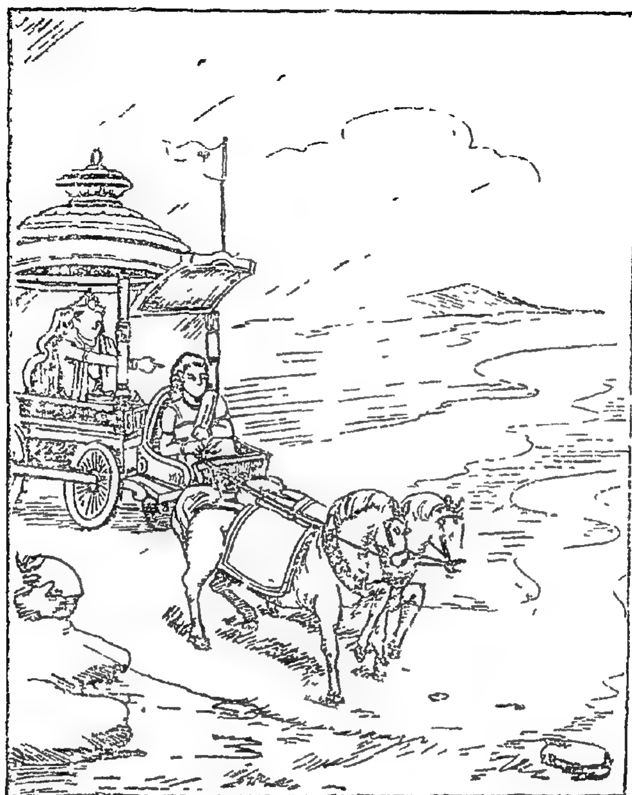
य—जो, तु—तो, अविज्ञानवान्—विज्ञान मे शून्य, भवति—होता है, अयुक्तेन—निग्रह (रोक) न माननेवाले, स्वच्छन्द, मनसा—मन से, सदा—हमेशा, तस्य—उसकी, इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ, अवश्यानि—वश मे न आने वाली, बेकाबू, दुष्ट+अश्वा—बुरे घोडे, इव—तरह, सारथे—सार्ईस के ॥ ५ ॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथे ॥६॥

य तु—जो तो, विज्ञानवान्—विशेष ज्ञानी, भवति—होता है, युक्तेन—निगृहीत, मनसा—मन मे, सदा—हमेशा, तस्य—उसकी, इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ, वश्यानि—वश (काबू) मे रहने वाली (होती हैं), सदश्वा—अच्छे घोडे, इव—तरह, सारथे—सार्ईस के ॥ ६ ॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्क सदाऽशुचि ।
न स तत्पदमाप्नोति संसार चाधिगच्छति ॥७॥

य तु—जो तो, अविज्ञानवान्—अज्ञानी, बेसमझ, भवति—होता है, अमनस्क—मन (मनन-शक्ति) मे शून्य, सदा–हमेशा, अशुचि—अपवित्र, शरीर-मन-बुद्धि को शुद्ध न रखने वाला, न—नही, स—वह अज्ञानी, तत्—उस, पदम्—प्राप्य लक्ष्य (अभीष्ट) ब्रह्म को, स्थान को, मजिल को, आप्नोति



आत्मा रथी है, इन्द्रिया घोडे है, विषय मार्ग है

जो विज्ञान वाला है, जिसका आत्मा मन के साथ नही परन्तु मन आत्मा के साथ लगा है, जो पवित्र विचारो को सोचता है, वह उस उच्च-पद को प्राप्त कर लेता है जिससे फिर उत्पन्न नही होता ॥८॥

—प्राप्त करता है, ससारम्—ससार को, जन्म-मरण (आवागमन) को, च—और, अधिगच्छति—प्राप्त करता है ॥ ७ ॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्क' सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥८॥

य तु—जो तो, विज्ञानवान् भवति—ज्ञानी (समझदार) होता है, समनस्क—मनन शक्ति से सम्पन्न, सदा शुचि—सदैव शुद्ध मन-वचन-कर्म

जिसका 'विज्ञान' सारथि है—कोचवान है, जो मनरूपी लगाम को अपने हाथ में रखता है, वह इस ससार-रूपी मार्ग का पार पा लेता है, वह विष्णु के परम पद को, परम धाम को प्राप्त कर लेता है, वह परमात्मा तक पहुच जाता है ॥९॥

अन्तर्जगत्, अर्थात् 'पिंड' में इन्द्रियो की अपेक्षा उनके विषय—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द—दूर है। इन्द्रिया दीखती है, ये दीखते नहीं, इन्द्रिया स्थूल है, ये सूक्ष्म है। विषयो की अपेक्षा मन परे है। मन की अपेक्षा वुद्धि परे है। मन का काम 'सकल्प-विकल्प' करना है, वुद्धि का काम 'निश्चय' करना है। वुद्धि की अपेक्षा आत्मा महान् परे है, अत्यन्त दूर है ॥१०॥

वाह्य-जगत्, अर्थात् 'ब्रह्माड' के दो रूप है—एक दृश्य, जो दीख रहा है, इसे 'व्यक्त' कहते है, 'महत्' कहते है, 'विकृति' कहते है,

---

वाला, स तु—वह तो, तत् पदम्—उस लक्ष्य को, आप्नोति—पा लेता है, यस्मात्—जिस पद (लक्ष्य) से, भूय—फिर, न—नही, जायते—पैदा होता है—आवागमन मे पडता है ॥ ८ ॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु मन प्रग्रहवान्नर ।
सोऽध्वन पारमाप्नोति तद्विष्णो परम पदम् ॥९॥

विज्ञान-सारथि—वुद्धिरूपी सारथिवाला, य तु—जो तो (है), मन-प्रग्रहवान्—मन रूपी रास (लगाम) हाथ मे पकडे हुए, नर—मनुष्य, स—वह, अध्वन—मार्ग के (मोक्ष-मार्ग के), पारम्—पार, आप्नोति—पहुँच जाता है, तद्—वह ही, विष्णो—सर्वव्यापक भगवान् का, परमम्—श्रेष्ठ, पदम्—स्थान (धाम) है ॥ ९ ॥

इन्द्रियेभ्य परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च पर मन ।
मनसस्तु परा वुद्धिर्वुद्धेरात्मा महान्पर ॥१०॥

इन्द्रियेभ्य—इन्द्रियो से, परा—परे, दूर, श्रेष्ठ, सूक्ष्म, हि—ही, अर्था—विषय, अर्थेभ्य—विषयो से, च—और, परम्—परे, सूक्ष्म, मन—मन, मनस—मन (सकल्प-विकल्पात्मक) मे, तु—तो, परा—श्रेष्ठ, वुद्धि—निर्णायिका वुद्धि, वुद्धे—वुद्धि मे, आत्मा—सतत गति (क्रियाशील), महान्—महत् नामी (प्रकृतिका प्रथम विकार) तत्त्व, पर—परे, श्रेष्ठ (है) ॥ १० ॥

महत परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुष पर ।
पुरुषान्न पर किंचित्सा काष्ठा सा परा गति ॥११॥

महत—महत् (कार्य प्रकृति) से, परम्—सूक्ष्म, अव्यक्तम्—कारण

दूसरा अदृश्य, जो दृश्य से पहले था, जिसमें सत्त्व-रज-तम साम्यावस्था में थे, इसे 'अव्यक्त' कहते हैं, 'प्रकृति' कहते हैं। बाह्य-जगत् के 'महत्', अर्थात् 'व्यक्त' (विकृति) की अपेक्षा 'अव्यक्त' (प्रकृति) परे है, और 'अव्यक्त' की अपेक्षा 'पुरुष'—परमात्मा—और भी परे है। पुरुष से परे कुछ नहीं है—वह हद है, जाने की वह अन्तिम सीमा है (देखो गीता ३-४२—'इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य परं मन । मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धे परतस्तु स ।।) ।।११।।

परमात्मा इन सब भूतों में—अन्तर्जगत् तथा बाह्य-जगत् में—छिपा हुआ प्रकट नहीं होता। सूक्ष्मदर्शी लोग 'अग्र-बुद्धि' से—आगे-आगे चलने वाली सूक्ष्म बुद्धि से—उसका दर्शन करते हैं ।।१२।।

(यमाचार्य ने नचिकेता को बतलाया कि पिंड में इन्द्रियों की डोर पकड़ कर आगे-आगे चले—'अग्र-बुद्धि' से काम ले, और 'ब्रह्मांड में' प्रकृति के पंच महाभूतों की डोर पकड़ कर आगे-आगे चले—'अग्र-बुद्धि' से काम ले। जो इस प्रकार चलेगा उसे इन्द्रियों के पीछे छिपा हुआ 'आत्मा' और प्रकृति के पीछे छिपा हुआ 'परमात्मा' नजर आ जायगा। जीवन की यात्रा जिसमें आत्मा रथी है, शरीर रथ है, और इन्द्रिय घोड़े हैं, पिंड में आत्मा तक और ब्रह्मांड में परमात्मा तक पहुंचने के लिये है। हम लोग तो अभी यात्रा के मार्ग पर ही नहीं चले। पिंड में हम अभी इन्द्रियों में अटके हुए हैं—आत्मा तक कब पहुंचेंगे, ब्रह्मांड में पंच महाभूतों में अटके हुए हैं, इस जीवन-यात्रा में परमात्मा तक कब पहुंचेंगे ?)

रूप मूल प्रकृति, अव्यक्तात्—कारण प्रकृति से, पुरुष—परमात्मा, पर—परे, पुरुषात्—परमात्मा से, न—नहीं, परम्—सूक्ष्म, आगे, परे, किंचित्—कुछ भी, सा—वह ही, काष्ठा—सीमा, हद, सा—वह ही, परा—अन्तिम, गति—पहुंच, लक्ष्य (है) ।। ११ ।।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि ।।१२।।

एष—यह परमात्मा, सर्वेषु—सब, भूतेषु—जड पंच-भूत और चेतन प्राणधारियों में, गूढोत्मा—छिपे हुए स्वरूप वाला, न—नहीं, प्रकाशते—प्रगट हो रहा है, दृश्यते—देखा जाता है, जाना जा सकता है, तु—तो, अग्र्यया—तीव्र, आगे-आगे बढ़ने वाली, बुद्ध्या—बुद्धि से, सूक्ष्मया—सूक्ष्म, सूक्ष्म-दर्शिभि—सूक्ष्म दृष्टि (विचार) वाले मनीषियों के द्वारा ।। १२ ।।

ज्ञानी व्यक्ति को चाहिये कि वाणी आदि इन्द्रियों तथा मन को एकाग्र करे, और इन्हें 'ज्ञानात्मा' के साथ जोड दे, ज्ञानात्मा को 'महान्-आत्मा' के साथ जोड दे, महानात्मा को 'शान्तात्मा' के साथ जोड़ दे। 'ज्ञानात्मा'-'महानात्मा'-'शान्तात्मा' का क्या अर्थ हुआ ? संसार में 'ज्ञान' भी है, 'अज्ञान' भी है। इन्द्रिया तथा मन 'ज्ञान' के साथ भी जुड़ सकते है, 'अज्ञान' के साथ भी। 'अज्ञान' के साथ जुडना 'अविद्या' की तरफ जाना, 'प्रेय' की तरफ जाना है। 'ज्ञान' के साथ जुडना 'विद्या' की तरफ जाना, 'श्रेय' की तरफ जाना है। मनुष्य उन्नति के मार्ग पर तभी चलने लगता है जब 'ज्ञान' के साथ अपने आत्मा का सम्बन्ध जोडता है, 'अज्ञान' के साथ नहीं। इसी का अर्थ 'ज्ञानात्मा' के साथ जुडना है। आत्मा के साथ 'ज्ञान' का सम्बन्ध हुआ, तो वह 'महान्' होने लगता है, महान् होने पर ही आत्मा में 'शान्ति' आती है—इसलिये 'ज्ञानात्मा', 'महानात्मा' तथा 'शान्तात्मा'—आत्मा के विकास के ये तीन क्रम है ॥१३॥

उठो, जागो, जिन शान्तात्मा महात्माओं को परमात्मा का वरदान मिल चुका है उनकी शरण में पहुचो, और उनसे ब्रह्म-विद्या का बोध प्राप्त करो। यह मार्ग तेज किये हुए छुरे की धार के समान लाघना कठिन है। कवि लोग कहते है कि वह मार्ग दुर्गम है ॥१४॥

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥१३॥

यच्छेत्—जोडे, लय कर दे, वाक्—वाणी को, मनसि—मन में, प्राज्ञ—प्रकृष्ट ज्ञानी पुरुष, तद्—उस (मन) को, यच्छेत्—लगावे, ज्ञाने—ज्ञानमय, आत्मनि—आत्मा मे, ज्ञानम्—ज्ञान को, आत्मनि—आत्मा मे, महति—महान्, नियच्छेत्—नियमित करे, तद्—उस (महान् आत्मा) को, यच्छेत्—जोडे, शान्ते—शान्ति (आनन्द) के भण्डार, आत्मनि—परमात्मा मे ॥ १३ ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥१४॥

उत्तिष्ठत—उठो, तत्पर होओ, जाग्रत—जागो, चेतन होओ, प्राप्य—प्राप्त कर, वरान्—श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुषों को, निबोधत—भली प्रकार (भगवान् ब्रह्म को) जानो, क्षुरस्य—छुरे की, धारा—धार, अग्रभाग, निशिता—तेज,

वहा शब्द नहीं, स्पर्श नही, रूप नहीं, रस नहीं, गन्ध नहीं, उत्पत्ति-विनाश नहीं। वह नित्य है, अनादि है, अनन्त है, महान् है, सबसे परे है, ध्रुव है—निश्चल है, एक-रस है। मनुष्य जब उसे निश्चित रूप में जान लेता है तब मृत्यु के मुख से छूट जाता है ॥१५॥

यह नचिकेता-सम्बन्धी सनातन उपाख्यान है। मृत्यु ने इसे कहा है। इसे जो मेधावी कहता है और सुनता है वह ब्रह्म-लोक में महिमा को प्राप्त करता है ॥१६॥

ब्रह्म-ज्ञानियो की सभा में जो इस परम-गुह्य कथानक को एकाग्र-चित्त होकर, स्वय उनकी सभा में जाकर, या उन्हें श्रद्धा-

---

दुरत्यया—कठिनता से लाँघी जा सकती है, दुर्गम्—कठिनाई से जाने योग्य, पथ—मार्ग का, मार्ग को, तत्—उसको, कवय—ज्ञानी लोग, वदन्ति—कहते है ॥ १४ ॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्यय तथाऽरस नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्त महत पर ध्रुव निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥१५॥

अशब्दम्—शब्द गुण से रहित, अस्पर्शम्—स्पर्श से रहित, अरूपम्—रूप-शून्य, अव्ययम्—अविनाशी, अविकारी, तथा—और, अरसम्—रस (स्वाद) गुण से हीन, नित्यम्—हमेशा रहने वाला, अगन्धवत्—गन्ध गुण से रहित, च—और, यत्—जो (ब्रह्म), अनादि—अनादि, अनन्तम्—अनन्त, महत—कार्य प्रकृति से, परम्—आगे, सूक्ष्म, ध्रुवम्—स्थिर, कूटस्थ, निचाय्य—जान कर, तत्—उस (ब्रह्म) को, मृत्युमुखात्—मृत्यु (जन्म-मरण) के मुख से, प्रमुच्यते—छूट जाता है ॥ १५ ॥

नाचिकेतमुपाख्यान मृत्युप्रोक्त सनातनम्।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥१६॥

नाचिकेतम्—नचिकेता सम्बन्धी, उपाख्यानम्—कथा को, वर्णन को, मृत्युप्रोक्तम्—मृत्यु के द्वारा कहे हुए, सनातनम्—हमेशा रहनेवाले, उक्त्वा—कह कर, सुना कर, श्रुत्वा—सुन कर, च—और, मेधावी—ज्ञानी, ब्रह्मलोके—ब्रह्मलोक मे, ज्ञानियो मे, महीयते—महिमा को पाता है ॥१६॥

य इम परम गुह्य श्रावयेद् ब्रह्मससदि।
प्रयत श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय कल्पत इति ॥१७॥

य—जो, इमम्—इस (कथानक) को, परमम्—अत्यधिक, गुह्यम्—रहस्यपूर्ण, गुप्त, श्रावयेत्—सुनावे, ब्रह्म-ससदि—ज्ञानी ब्राह्मणो की सभा मे,

पूर्वक अपने यहां निमन्त्रित करके सुनाता है, उसे अनन्त फल प्राप्त होता है, अनन्त फल प्राप्त होता है ॥१७॥

चतुर्थी वल्ली

अन्तर्मुख होने ही ब्रह्म के दर्शन होते है--'एतत् वै तत्'--'यह वह रहा'--ऐसा भासने लगता है

स्वयभू, अर्थात् परमात्मा ने इन्द्रियो को बाहर की तरफ जाने वाला बनाया है, इसीलिये मनुष्य बाहर की तरफ देखता है, अन्दर--आत्मा--की तरफ नहीं। अमृत को चाहने वाला कोई धीर पुरुष ही होता है जो विषयो से आखें मूद लेता है और मुड कर आत्मा को देखता है ॥१॥

भोले लोग बाहर फैली हुई कामनाओ के पीछे दौडते है, वे आगे-आगे जाती है, हाथ नही आती, ये पीछे-पीछे भागते है, पकड़ नही पाते। कामनाओ को तो ये क्या पाते, मृत्यु का जाल चारो तरफ

प्रयत—सयमी, श्राद्धकाले—श्रद्धापूर्वक किये कार्य के अवसर पर, वा—या, तदा—तव, आनन्त्याय—अनन्त पद या फल की प्राप्ति मे, कल्पते—समर्थ होता है, तदा आनन्त्याय कल्पते—तव अनन्त पद या अनन्त फल पाता है ॥ १७ ॥

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयभूस्तस्मात्पराङ पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीर प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥१॥

पराञ्चि—बहिर्मुख, बाह्य जगत् को देखने वाली, खानि—इन्द्रियो को, व्यतृणत्—काटा, बनाया, स्वयभू—परमात्मा ने, तस्मात्—उस कारण मे, पराङ—बहिर्जगत् को, बाहर की ओर, पश्यति—ज्ञान प्राप्त करता है, न—नही, अन्तरात्मन्—अन्दर की ओर आत्मा मे, कश्चित्—कोई, धीर—धैर्य सम्पन्न ज्ञानी, प्रत्यग्—अन्दर की ओर, आत्मानम्—आत्मा को, ऐक्षत्—देखता है, आवृत्तचक्षु—चक्षु आदि इन्द्रियो को बाह्य विषयो से लौटाने वाला—रोकने वाला, अमृतत्वम्—अमरता—मोक्ष को, इच्छन्—चाहता हुआ ॥ १ ॥

पराच कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्व विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥२॥

पराच—बाहर की ओर विद्यमान, कामान्—कामनाओ—विषय-भोगो के, अनुयन्ति—पीछे-पीछे चलते हैं, बाला—बालक-सदृश अज्ञानी, ते—वे,

फैला पड़ा है, उसी में जा उलझते है। धीर लोग अमृतत्व को जानकर अध्रुवो में, अर्थात् अस्थिर वस्तुओ में, ध्रुव की, अर्थात् स्थिर की याचना नही करते ॥२॥

रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, मैथुन—इनकी स्वतन्त्र कोई सत्ता नही है। वह जो इन सबको चला रहा है, अगर इनमें से अपना हाथ खीच ले, तो इनका तो ज्ञान भी नहीं हो सकता। उसी के कारण इनका ज्ञान होता है। वह न रहे, तो क्या कुछ भी बच रहता है? अस्ल में वही 'वास्तविक'-सत्ता (Ultimate reality) है ॥३॥

सोने के बाद जब मनुष्य जागता है, तो कैसे समझता है कि मैं वही हू, जो सोया था? जागने के बाद जब वह सोने लगता है, तो कैसे समझता है कि मैं सोकर उठने पर वही-का-वही रहूगा? इन दोनो ओर-छोर को जैसे मनुष्य देख लेता है, इसी से, आत्मा की महानता को, विभुता को पा लेता है। जो धीर आत्मा की महानता को जान जाता है वह शोक में नहीं पडता क्योकि क्षुद्रता ही दु:ख का, शोक का कारण है, महानता में दु:ख नही, शोक नही ॥४॥

मृत्यो—मृत्यु के, **यन्ति**—प्राप्त होते है, **विततस्य**—सर्वत्र फैली, विस्तृत, **पाशम्**—बन्धन को, **अथ**—किन्तु, **धीरा**—धीर ज्ञानी, **अमृतत्वम्**—अमर-पद के स्वरूप को, **विदित्वा**—जानकर, **ध्रुवम्**—स्थायी, कूटस्थ, **अध्रुवेषु**—अस्थिर भोगो पर, **इह**—इस ससार मे, **न**—नही, **प्रार्थयन्ते**—याचना करते है, कामना करते है ॥ २ ॥

येन रूप रस गन्ध शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते, एतद्वै तत् ॥३॥

येन—जिसके द्वारा, **रूपम्**—रूप को, **रसम्**—रस (स्वाद) को, **गन्धम्**—सुगन्ध-दुर्गन्ध को, **शब्दान्**—शब्दो को, **च**—और, **मैथुनान्**—रति-जन्य सुखो को, **एतेन**—इससे, **एव**—ही, **विजानाति**—जानता है, **किम्**—क्या (कुछ भी नही), **अत्र**—यहाँ, **परिशिष्यते**—शेष रहता है, बचता है, **एतद्**—यह प्रेरक ही, **वै**—निश्चय से, **तत्**—वह (ब्रह्म ही है) ॥ ३ ॥

स्वप्नान्त जागरितान्त चोभौ येनानुपश्यति।
महान्त विभुमात्मान मत्वा धीरो न शोचति ॥४॥

स्वप्नान्तम्—स्वप्न के अन्त (ओर-छोर, रहस्य) को, **जागरितान्तम्**—जाग्रद्-अवस्था के अन्त को, **च**—और, **उभौ**—दोनो को, **येन**—जिससे,

यह जीवात्मा मधु को चखने वाला है। यह मिठास की तरफ जाता है। विषयो की मिठास के पीछे कटुता छिपी है, ब्रह्म की मिठास उत्तरोत्तर मीठी होती जाती है। जीवात्मा के इस स्वभाव को जो निकट से जान जाता है, वह अपने भूत और भविष्यत् का स्वामी हो जाता है, और फिर उसे आत्म-ग्लानि नही होती। अस्ल में यथार्थ-सत्ता इन्द्रियो की नही, आत्मा की है ॥५॥

आत्मा का वर्णन करने के अनन्तर परमात्मा का वर्णन करते है—ससार की रचना 'तप' से हुई। 'ऋत च सत्य चाभीद्धात्तप-सोऽध्यजायत'—'ऋत' (Absolute law) तथा 'सत्य' (Relative law) भी पहले-पहल 'तप' से ही हुए। जब भी कोई कार्य करना होता है, तब 'तप' की आवश्यकता होती है। बिना 'तप' के—यू ही, आसानी से—कुछ नहीं होता। क्रिया का उग्र-रूप ही 'तप' है। सृष्टि की जब रचना हुई, तब एक 'क्रिया' ही तो हुई। जैसा हमने अभी कहा, तीव्र-क्रिया का नाम ही 'तप' है, अत 'तप' सृष्टि की रचना में सबसे प्रथम था, परन्तु वह ब्रह्म तो 'तप' से भी पूर्व था। क्योंकि उसी ने तो सृष्टि रचना की 'क्रिया' की, अर्थात् 'तप' किया।

अनुपश्यति—जानता है, महान्तम्—बडे, विभुम्—व्यापक, आत्मानम्—परमात्मा को, मत्वा—समझ कर, जान कर, धीर—धीर ज्ञानी, न—नही, शोचति—शोक करता है, दु खी होता है ॥ ४ ॥

य इम मध्वद वेद आत्मान जीवमन्तिकात्।
ईशान भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते, एतद्वै तत् ॥५॥

य—जो, इमम्—इस, मध्वदम् (मधु+अदम्)—मीठे को खाने वाले, आनन्द को भोगने वाले को, वेद—जानता है, आत्मानम् जीवम्—जीव आत्मा को, अन्तिकात्—पास से, भली प्रकार, ईशानम्—प्रभु, समर्थ, स्वामी को, भूत-भव्यस्य—भूत और भविष्यत् के, न—नही, तत—उसके बाद, विजुगुप्सते ग्लानि को अनुभव करता है, एतद् वै तत्—निश्चय से यह सब वह ब्रह्म ही है ॥ ५ ॥

य पूर्व तपसो जातमद्भ्य पूर्वमजायत।
गुहा प्रविश्य तिष्ठन्त यो भूतेभिर्व्यपश्यत, एतद्वै तत् ॥६॥

य—जो, पूर्वम्—पहले, तपस—तप (तीव्र क्रिया) से, जातम्—उत्पन्न हुआ, अद्भ्य—जलो मे, पूर्वम्—पहले, अजायत—उत्पन्न हुआ,

'तप' के बाद जब 'ऋत' (Absolute law—निरपेक्ष नियम) तथा 'सत्य' (Relative law—सापेक्ष नियम) द्वारा सृष्टि बनी, तब पहले वायवीय (Gaseous) अवस्था थी, उसमे जीवन-तत्त्व नही रह सकता था। उसके बाद आग्नेय (Ignitious) अवस्था आयी, उसमे भी जीवन-तत्त्व नहीं रह सकता था। तदनन्तर जलीय (Acqueous) अवस्था आई, उसमें जीवन-तत्त्व रह सकता था। 'तप' से 'जड़' जगत् का—वायवीय तथा आग्नेय जगत् का—विकास हुआ। ब्रह्म 'तप' से भी पहले था। विकास होते-होते जब जल बना तब 'चेतन' जगत् के उत्पन्न होने का समय आया, क्योकि जल में जीवन रह सकता था, परन्तु वह ब्रह्म उस 'जल' से भी पूर्व था जिसमें जीवन-तत्त्व अपना विकास पा सकता था। अत वह 'तप' तथा 'जल' दोनो से पूर्व था, वह जड़-चेतन सबसे पहले था। वह पञ्च-भूतो के साथ गुहा में घुसा बैठा है। वह कही दूर नही बैठा, यही हमारे सामने—जो-कुछ इन्द्रियो से दीख पडता है वही उसकी गुफा है, उसी में छिपा बैठा है, हमसे मानो आंख-मिचौनी खेल रहा है, हमारी दौड़-धूप का मजा ले रहा है। इन पञ्च-भूतो की उसने ओट ले रखी है, बैठा तो वह इन्हीं के साथ है, यही उसकी गुफाए है—इस प्रकार जो देख लेता है, वह कह उठता है, अरे, वह तो यह बैठा—'एतत् वै तत्'—है ॥६॥

ससार में 'पुरुष' तथा 'स्त्री' ये दो तत्त्व है। पुरुष-रूप मे ब्रह्म का वर्णन करने के बाद स्त्री-रूप में उसका वर्णन करते है। वह देवता-मयी ब्रह्म-शक्ति अदिति है, मातृ-तुल्य है। वह प्राणायाम से प्रकट होती

विद्यमान था, गुहाम्—गुफा, छिपने का स्थान, बुद्धि या हृदय, प्रविश्य—प्रवेश करके, तिष्ठन्तम्—ठहरे हुए को, विद्यमान को, य—जो, भूतेभि—पचभूतो के द्वारा, व्यपश्यत—देखता है, एतद् वै तत्—यह सब निश्चय से ब्रह्म ही है ॥ ६ ॥

या प्राणेन सभवत्यदितिर्देवतामयी।
गुहा प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत, एतद्वै तत् ॥७॥

या—जो, प्राणेन—प्राण से, प्राणो के सयम से, सभवति—पैदा होती है, अदिति—अदीन, देवमाता, प्रकृति, देवतामयी—देवता (पचभूतो) के

है। प्राणायाम एकाग्रता का सबसे बड़ा साधन है। प्राणायाम से ही इन्द्रियों को मन के साथ, और मन को आत्मा के साथ नियुक्त किया जा सकता है। बिना प्राणायाम के इन्द्रियां दुष्ट घोड़ों की तरह इधर-उधर भागने लगती हैं। प्राणायाम करते समय कोई व्यक्ति दुश्चिन्तन नहीं कर सकता। प्राणायाम 'मन' को 'आत्मा' के साथ बांधने वाली रस्सी है। वह भगवती इन पञ्च-महाभूतों के साथ उन्हीं को गुहा बनाकर छिपी बैठी है। उसने इनकी ओट ले रखी है, बैठी वह यहीं है, हमारे सामने ही, कहीं दूर नहीं, हमारे सामने बैठी हमसे आंख-मिचौनी खेल रही है। जो उसे भूतों में छिपा देख लेता है, वह कह उठता है, अरे वह तो यह—'एतत् वै तत्'—रहा ॥७॥

जैसे अरणियों में अग्नि होती है, दीखती नहीं, और उसे प्रकट करने के लिए उनका रगड़ना जरूरी है, जैसे गर्भिणी का गर्भ सुरक्षित होता है, वह दीखता नहीं परन्तु गर्भिणी का ध्यान सदा उसी की तरफ लगा रहता है, इसी प्रकार जागरूक मनुष्य प्रतिदिन स्तुति के योग्य ब्रह्माग्नि को इन पञ्च-महाभूतों की रगड़ से ही पैदा करते रहते हैं, और सदा उसी की तरफ ध्यान लगाये रहते हैं। ऐसे लोग 'हविष्मान्' होते हैं। उनके पास जो-कुछ होता है उसे वे 'हवि' समझते हैं, जो-कुछ हाथ में होता है उसे 'हवि' की तरह छोड़ने के लिए हर समय तैयार रहते हैं, किसी चीज़ से चिपटते नहीं। जैसे यज्ञाग्नि में सब-कुछ 'स्वाहा' कहकर डाल दिया जाता है, वैसे ब्रह्माग्नि में वे सब-कुछ समर्पित करने को उद्यत रहते हैं। जिसका ध्यान करके वे ऐसा करते हैं वही—'एतत् वै तत्'—'ब्रह्म' है ॥८॥

रूप वाली, गुहाम्—ओट, रहस्य, प्रविश्य—घुस कर, तिष्ठन्तीम्—ठहरी हुई, विद्यमान, या—जो, भूतेभि—भूतों के द्वारा, व्यजायत—उत्पन्न होती है, देखी (जानी) जाती है, एतद् वै तत्—यह ही वह (ब्रह्म) है ॥ ७ ॥

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभि ।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्नि, एतद्वै तत् ॥८॥

अरण्यो—अरणी नामक दो लकड़ियों में, निहित—छिपा हुआ, रखा, विद्यमान, जातवेदा—अग्नि, गर्भ—गर्भ, इव—तरह, सुभृत—सुरक्षित, गर्भिणीभि—गर्भवती स्त्रियों में, दिवे दिवे—प्रति दिन, ईड्य—स्तुति के

हमारे लिये सबसे महान् शक्ति सूर्य है। इसका उदय उसी से होता है, इसका अन्त भी उसी में हो जाता है। वही इसको पैदा करता है, वही इसे समाप्त कर देता है। सूर्य का प्रतिदिन का उदयास्त होना भी उसी के द्वारा होता है। सब देवताओं ने उसी के चरणों में सिर झुकाया हुआ है—सब उसी के सामने अर्पित है। उससे बढकर कोई नहीं है। वही—एतत् वै तत्—'ब्रह्म' है ॥९॥

जो शक्ति यहा काम कर रही है, वही वहा भी काम कर रही है, जो वहा काम कर रही है, वही यहा भी काम कर रही है। ससार में दूर-से-दूर कही भी चले जाओ सब जगह एक ही हाथ की छाप है, सब जगह उसी का सिक्का चल रहा है। जो व्यक्ति ससार की एकता को नहीं समझता, जो यह समझता है कि ससार में कहीं कोई शक्ति काम कर रही है, कही कोई—जो इस प्रकार नाना-भाव की कल्पना करता है—वह मृत्यु के मुंह में कदम रख देता है ॥१०॥

योग्य, जागृवद्भिः—जागते हुए, सावधान, हविष्मद्भिः—सर्वस्व अर्पण (दान) करने को उद्यत, प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठे हुए, मनुष्येभिः—मनुष्यों से, अग्निः—ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म (है), एतद् वै तत्—यह ही वह (ब्रह्म) है ॥ ८ ॥

यतश्चोदेति सूर्योऽस्त यत्र च गच्छति।
त देवा सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन, एतद्वै तत् ॥९॥

यत—जिससे, जहाँ मे, च—और, उदेति—उदय होता है, सूर्य—सूर्य, अस्तम्—अस्त होना, छिपना, यत्र—जहाँ, जिसमें, च—और, गच्छति—जाता है, (अस्तम् गच्छति—छिप जाता है), तम्—उसको (मे), देवा—देवता, ज्ञानी पुरुष, सर्वे—सारे, अर्पिता—लीन है, मग्न ह, तद्—उसको, उ—निश्चय मे, न—नही, अत्येति—लाँघता है, बढकर है, आगे है, कश्चन—कोई भी, एतद् वै तत्—यह ही वह (ब्रह्म) है ॥ ९ ॥

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१०॥

यद्—जो, एव—ही, इह—यहाँ, इस सृष्टि मे, तद्—वह ही, अमुत्र—परलोक मे, सृष्टि मे बाहर, यद्—जो, अमुत्र—परलोक मे, दृश्यमान सृष्टि से परे, तद्—वह ही, अनु इह—यहाँ भी है, मृत्यो—मृत्यु से, स—वह, मृत्युम्—मृत्यु को, आप्नोति—प्राप्त करता है, य—जो, इह—इसमे (इस विषय

मन के द्वारा उस एक-तत्त्व की प्रतीति होती है, इन्द्रियो द्वारा नही। इन्द्रियो से जो 'नानात्व'—अनेकता—दिखाई देती है वह यथार्थ नहीं है। एकता का दर्शन ही जीवन है, अनेकता का दर्शन ही मृत्यु है। जो नानात्व ही देखता है, एकत्व नही देखता, वह मृत्यु के मुह में कदम रख देता है (बृहदा० ४-४-१९) ॥११॥

आत्मा के मध्य में परमात्मा बैठा है। कैसे ?—'अगुष्ठमात्र', अर्थात् अगूठे की तरह! जैसे मुट्ठी में चारो तरफ से घिरा हुआ अगूठा। अथवा 'अगुष्ठमात्र'—अर्थात्, अगूठे जितना। आत्मा में सारा-का-सारा परमात्मा कैसे समा जायगा ? हम अपने आत्मा में परमात्मा के जितने स्वरूप को जान पाते है वह इतना है मानो हम ने उसका अगूठा पकड लिया। ठीक ऐसे जैसे बालक अपने पिता की उगली पकड कर समझता है कि उसने अपने पिता को—सम्पूर्ण पिता को—पकड़ रखा है। वही भूत और भविष्यत् का स्वामी है। उसे जानकर फिर मनुष्य को ग्लानि नही होती। ससार के तो हर-एक पदार्थ से किसी-न-किसी समय ग्लानि हो ही जाती है। जिसके ज्ञान से ग्लानि नही होती वही—'एतत् वै तत्'—'ब्रह्म' है ॥१२॥

मे), नाना—अनेक प्रकार का (दोनो जगह नियामक शक्तियो मे भेदभाव को), इव—तरह, पश्यति—देखता है, जानता है॥ १०॥

मनसैवेदमाप्तव्य नेह नानास्ति किंचन।
मृत्यो स मृत्यु गच्छति यह इह नानेव पश्यति॥११॥

मनसा—मन से, मनन से, चिन्तन से, **एव**—ही, **इदम्**—यह (रहस्य), **आप्तव्यम्**—जाना जा सकता है, प्राप्त किया जा सकता है, **न इह नाना अस्ति**—नही, इस विषय मे (एक तत्त्व की विद्यमानता मे) अनेकरूपता है, **किंचन**—कुछ भी, **मृत्यो**—मृत्यु से, **स**—वह, **मृत्युम्**—मौत को, **गच्छति**—प्राप्त होता है (सर्वनाश हो जाता है), **य इह नाना इव पश्यति**—जो इसमे अनेकरूपना (नानात्व) को देखता है॥ ११॥

अङ्गुष्ठमात्र पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते, एतद्वै तत्॥१२॥

अगुष्ठमात्र—अगूठे जितना, **पुरुष**—परमात्मा, **मध्ये आत्मनि**—जीवात्मा के अन्दर, **तिष्ठति**—(व्याप्य-व्यापक भाव से) विद्यमान है, **ईशान**—स्वामी, **भूतभव्यस्य**—भूत और भविष्यत् काल का (सब काल मे), **न**—नही,

वही ब्रह्म सब जगह है, यहा भी, वहा भी—सब जगह वही है। जब सब जगह वही है, तो अगुष्ठ-मात्र अर्थात् थोडा-सा भी उसका ज्ञान सम्पूर्ण का ही ज्ञान है। वह एक ज्योति के समान है—ऐसी ज्योति जिसमें कही घूआ नही, विकार नहीं। वह भूत और भव्य का स्वामी है, वही आज है, वही कल है, वही सदा है। यही—'एतत् वै तत्'—'ब्रह्म' है ॥१३॥

पर्वत की ऊंची चोटियो पर बरसा हुआ पानी जैसे पर्वत के भिन्न-भिन्न भागो में नाले बन कर दौडने लगता है, एक ही पानी अनेक धाराओ में वह निकलता है, और लोग यह समझने लगते है कि ये जल एक नही अनेक है, इसी प्रकार इन्द्रियो के भिन्न-भिन्न धर्मो को देखकर मनुष्य समझने लगता है कि ससार में एकता नहीं, अनेकता है, और उस अनेकता को पाने के लिये उसके पीछे दौडने लगता है ॥१४॥

तत —उसके बाद (जिस ज्ञान के बाद), विजुगुप्सते—ग्लानि होती है, एतद्—इस प्रकार वर्णित ही, वै—निश्चय से, तद्—वह (ब्रह्म है) ॥ १२ ॥

अङ्गुष्ठमात्र पुरुषो ज्योतिरिवाधूमक ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्व, एतद्वै तत् ॥१३॥

अङ्गुष्ठमात्र —अगूठे जितना (हृदय में विद्यमान जीव के अन्दर समाया हुआ), पुरुष —परमात्मा, ज्योति —प्रकाश, अग्नि, इव—तरह, अधूमक —धूएं से रहित, प्रज्वलित, ईशान —स्वामी, भूतभव्यस्य—भूत-भविष्यत् काल का, स—वह, एव—ही, अद्य—आज, स —वह, उ—ही, श्व —(आने वाला) कल का दिन (काल की मर्यादा से मुक्त), एतद् वै तद्—इस प्रकार वर्णित ही वह ब्रह्म है ॥ १३ ॥

यथोदक दुर्गे वृष्ट पर्वतेषु विधावति ।
एव धर्मान्पृथक् पश्यस्तानेवानुविधावति ॥१४॥

यथा—जैसे, उदकम्—(एक ही) जल, दुर्गे—दुर्गम स्थान में, वृष्टम्—बरसा हुआ, पर्वतेषु—पर्वतो मे, विधावति—अनेक प्रकार से (भिन्न-भिन्न धाराओं के रूप मे) दौडता है—बहता है, एव—इस ही प्रकार, धर्मान्—(आत्मा के) धर्मों को, गुणो को, पृथक्—भिन्न-भिन्न, अलग, पश्यन्—देखता हुआ, तान्—उनको, एव—ही, अनु—पीछे, विधावति—अनेकधा दौडता है, अनुसरण करता है ॥ १४ ॥

जैसे शुद्ध जल को शुद्ध जल में डाल दें, तो वह शुद्ध रहता है, अशुद्ध में डाल दें, तो अशुद्ध हो जाता है, इसी प्रकार शुद्ध आत्मा शुद्ध-स्वरूप परमात्मा के साथ मिल जाय, तो शुद्ध-स्वरूप हो जाता है, अशुद्ध ससार में मिल जाय, तो अशुद्ध-स्वरूप हो जाता है। हे गौतम! आत्मा की ऐसी ही गति है ॥१५॥

पञ्चमी वल्ली

यमाचार्य द्वारा जीव और ब्रह्म के रूप का वर्णन

जो अजन्मा साधु-पुरुष शरीर को एक ऐसी नगरी समझता है जिसमें दो आख, दो कान, दो नाक, एक मुख, एक तालु, एक नाभि, एक मल त्यागने की इन्द्रिय, और एक मूत्रेन्द्रिय—ये ग्यारह द्वार हैं, जिनसे विषयो की तरफ बाहर ही नहीं, आत्मा की तरफ अन्दर भी जा सकते हैं, वह अपने अनुष्ठान से इस ससार में शोक में नहीं पडता, और जब शरीर छोडता है तब शोक से सदा के लिये मुक्त हो जाता है। 'एतत् वै तत्'—आत्मा का यही रूप है ॥१॥

यथोदक शुद्धे शुद्धमासिक्त तादृगेव भवति।
एव मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥१५॥

यथा—जैसे, उदकम्—जल, शुद्धे—निर्मल (जल) मे, शुद्धम्—निर्मल, आसिक्तम्—डाला हुआ, तादृग्—वैसा, एव—ही, भवति—हो जाता है, एवम्—इस ही प्रकार, मुने—मननशील विजानत—ज्ञानी का, आत्मा—जीवात्मा, भवति—होता है, गौतम—हे गौतम-कुलोत्पन्न नचिकेता ॥ १५ ॥

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतस ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते, एतद्वै तत् ॥१॥

पुरम्—नगरी को (मे), एकादशद्वारम्—ग्यारह (इन्द्रिय-छिद्र रूपी) दरवाजे (आने-जाने के मार्ग) वाली, अजस्य—अजन्मा, अवक्रचेतस—सरल (निष्पाप) चित्तवाले (आत्मा का), अनुष्ठाय—(पुण्य कर्मो का) अनुष्ठान करके या भगवान् का ध्यान-चिन्तन करके, न—नहीं, शोचति—शोक करता है, दुःख-रहित हो जाता है, विमुक्तश्च—शरीर से छूटा हुआ (मरणोपरान्त), विमुच्यते—मोक्ष को प्राप्त हो जाता है, एतद्—यह (जिसको जीवात्मा प्राप्त होना है), वै—निश्चय से, तत्—वह ब्रह्म है ॥ १ ॥

जीवात्मा 'हस' है, 'वसु' है, 'होता' है, 'अतिथि' है। 'हस' जिस प्रकार शुद्ध, पवित्र स्थान में रहता है, वैसे हंस-रूप जीव शुद्ध-ब्रह्म मे निवास करता है। 'वसु' जैसे अन्तरिक्ष में निवास करते है, वैसे वसु-रूप जीव हृदय के अन्तरिक्ष में निवास करता है। 'होता' जैसे वेदी के सामने बैठकर अग्निहोत्र करता है, वैसे होतृ-रूप जीव तीनो नाचिकेत-अग्नियो का चयन करता है। 'अतिथि' जैसे दुरोण को—आश्रम की कुटिया को—अपना समझकर नही बैठ जाता, अतिथि के रूप में रहता है और चल देता है वैसे ही अतिथि-रूप जीव इस नर-देह को सदा के लिये अपना समझकर नही बैठ रहता। जो जीवात्मा अपने को 'हस', 'वसु', 'होता' और 'अतिथि' समझकर जीवन बिताता है वह उत्तरोत्तर विकास करता जाता है। वह 'नर-देह' में वास करता है, नर से अच्छे 'वर-देह' में वास करता है, उससे भी अच्छे 'ऋत-देह' में वास करता है, और 'ऋत-देह' से भी उत्कृष्ट देह 'व्योम-देह' में वास करता है। जीव-जन्तु जल में उत्पन्न होते है, पृथिवी पर उत्पन्न होते है, अन्तरिक्ष के जल में उत्पन्न होते है, पर्वतो पर उत्पन्न होते है। जिस प्रकार जन्तुओ में विकास-क्रम है, ऊचा, उससे ऊचा, और उससे भी ऊचा—यह क्रम है, वैसे मनुष्यो में भी 'नर-देह', 'वर-देह', 'ऋत-देह' और 'व्योम-देह' यह विकास-क्रम है। यह विशाल नियम सम्पूर्ण विश्व में काम कर रहा है ॥२॥

हस शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋत वृहत् ॥२॥

हस—(हस की तरह) विवेकी (जीवात्मा), शुचिषद्—पवित्र (स्थान) मे रहने वाला, वसु—वास करने-कराने वाला, अन्तरिक्षसद्—आकाश (हृदयाकाश) मे रहने वाला, होता—ज्ञानाग्नि का हवन करनेवाला, वेदिषद्—यज्ञ-वेदी के पास बैठने वाला, अतिथि—अतिथि (सतत क्रियाशील), दुरोण-सद्—घर मे रहने वाला, नृषद्—नर-देह मे स्थित, वरसद्—अच्छे स्थान मे रहने वाला, ऋतसद्—ऋत (सत्य) मे रहने वाला, व्योमसद्—आकाश (ब्रह्म) मे बैठने वाला, गोजा—पृथिवी पर उत्पन्न होनेवाला, ऋतजा—सत्य मे उत्पन्न होनेवाला, अद्रिजा—पर्वत पर उत्पन्न होने वाला, ऋतम्—सत्य, वृहत्—महान् ॥ २ ॥

विशेष—इस मन्त्र मे 'हस-शुचिषद्' 'वसु-अन्तरिक्षसद्', 'होता-वेदिषद्', 'अतिथि-दुरोणसद्'—इन चार पद-युग्मो मे विरोधाभास अलकार की स्पष्ट झलक है, जिसका उन्नयन और परिहार विज्ञ पाठक स्वय कर अर्थ-गाम्भीर्य को जाने।

(जीवन मे 'हस' की तरह रहने का, हस जैसे पानी मे रह कर पानी मे नही भीगता, उस तरह का अभ्यास करने वाले को कहा जा सकता है कि यह 'नर-देह' मे वास कर रहा है, इससे नीचा तो पशु-समान है। यह ब्रह्मचर्य की अवस्था है। इसके वाद दूसरी अवस्था आती है जव मनुष्य 'वसु' की तरह जीवन मे वास करता है। वसु अन्तरिक्ष के उस तारक-मडल को कहते है जिनमे प्राणियो का वास कहा जाता है। जो वसु की तरह रहता है, वसता ही नही, वसाता भी है, दूसरो का भी ध्यान करता है, वह मानो नर-देह से उत्तम शरीर मे वास करता है, और उसी को 'वर-देह' कहा है। यह 'गृहस्थ' की अवस्था है। तीसरी अवस्था 'होता' की आती है। इस अवस्था मे मनुष्य अपने जीवन को हवि के समान समझने लगता है। प्रत्येक वस्तु को त्याग देता है, भगवान् के अर्पण कर देता है। यह 'ऋत-देह' है। 'ऋत', अर्थात् 'निरपेक्ष सत्य'। इस अवस्था मे वह समझ जाता है कि 'विषय' ऋत नही, 'ब्रह्म' ही ऋत है, निरपेक्ष सत्य है। यह 'वान-प्रस्थ' की अवस्था है। अन्त मे वह ससार मे 'अतिथि' की तरह रहने लगता है। इस चौथी अवस्था मे वह 'व्योम-देह' कहलाता है। 'व्योम', अर्थात् अन्तरिक्ष के समान ऊचा और अपने पास कुछ न रखने वाला। वह अत्यन्त ऊचा उठ जाता है। यह 'सन्यास' की अवस्था है। इस प्रकार जो आत्मा को रथी और शरीर को रथ समझ कर, और जीवन को आश्रमो की यात्रा मान कर इस यात्रा को निभाता है, वह 'ज्ञानात्मा' से 'महानात्मा' और 'महानात्मा' से 'शातात्मा' हो जाता है। उसी मे तीनो नाचिकेत-अग्निया प्रदीप्त होती है, और वही 'ब्रह्म-यज्ञ' के वास्तविक अर्थ को समझता है।)

लोग समझते है कि जीवन प्राण ही है, परन्तु इस 'प्राण' को भी वही, अर्थात् आत्मा ही ऊपर की तरफ, और 'अपान' को नीचे की

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपान प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीन विश्वे देवा उपासते ॥३॥

ऊर्ध्वम्—ऊपर, प्राणम्—प्राण को, उन्नयति—ले जाता है, उठाता है, अपानम्—अपान को, प्रत्यग्—नीचे, अस्यति—फेकता है, निकालता है,

तरफ धकेलता है। इनके बीच में वह सुन्दर जीवात्मा वर्तमान है। सब इन्द्रियाँ उसी की उपासना करती हैं ॥३॥

शरीर में रहने वाला 'देही'—जीवात्मा—जब सरकने लगे, देह में से जब निकलने लगे, तो शरीर में क्या बच रहता है? यही जो बच रहता है—'एतत् वै तत्' वही तो आत्मा है ॥४॥

शरीर में 'प्राण' तथा 'अपान' दो शक्तियाँ हैं। प्राण का काम 'सचय' (Anabolism) तथा अपान का काम 'विचय' (Ketabolism) करना है। प्राण तथा अपान से कोई नहीं जी रहा। किसी और ही शक्ति से मनुष्य जीता है—ऐसी शक्ति जिसके ये दोनों आश्रित हैं, वही आत्मा है ॥५॥

हे नचिकेता! मैं तुझे गुप्त, महान् सनातन रहस्य को बतलाता हूं कि मरने के बाद आत्मा की क्या गति होती है ॥६॥

मध्ये—बीच मे (हृदय-प्रदेश मे), वामनम्—सुन्दर या सूक्ष्म, आसीनम्—बैठे हुए, विराजमान, विश्वे—सारे, देवा—इन्द्रियाँ, उपासते—पास बैठती हैं, स्व-स्व भोगों द्वारा सेवा करती हैं ॥ ३ ॥

अस्य विस्रसमानस्य शरीरस्थस्य देहिन।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते, एतद्वै तत् ॥४॥

अस्य—इस, विस्रसमानस्य—(शरीर मे) च्युत होते हुए, निकलते हुए, शरीरस्थस्य—शरीर मे ठहरे हुए, देहिन—देहाधिपति आत्मा का, देहात्—शरीर से, विमुच्यमानस्य—मुक्त होते हुए का, किम्—क्या, अत्र—इस शरीर मे, परिशिष्यते—शेष रहता है, बच रहता है, एतत्—यह, वै—ही, तद्—वह (आत्मा) है ॥ ४ ॥

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥५॥

न—नहीं, प्राणेन—प्राण से (सचय शक्ति से), न—नहीं, अपानेन—अपान से (विचय-शक्ति से), मर्त्य—मरण-धर्मा मनुष्य, जीवति—जीता है, जीवित कहलाता है, कश्चन—कोई भी, इतरेण—(इनसे) भिन्न (जीवात्मा) से, तु—तो, जीवन्ति—जीते हैं, यस्मिन्—जिसमे, जिसके आधार पर, एतौ—ये दोनों (प्राण और अपान), उपाश्रितौ—आश्रित हैं, सहारे पर टिके हैं ॥ ५ ॥

हन्त त इद प्रवक्ष्यामि गुह्य ब्रह्म सनातनम्।
यथा च मरण प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥६॥

हन्त—हे, अब!, ते—तुझे, इदम्—यह, प्रवक्ष्यामि—बताऊंगा,

जिसका जैसा कर्म होता है, जिसका जैसा 'ज्ञान' होता है, उसके अनुसार कोई किसी 'जीव'-योनि में जाकर शरीर धारण कर लेता है, कोई 'स्थाणु'-योनि में चला जाता है ।।७।।

'जीवात्मा'-सम्बन्धी रहस्य बतलाकर यमाचार्य 'परमात्मा के सम्बन्ध में कहते हैं--सब सोये हुओं में जो जागता है, और जो वस्तु जैसी होनी चाहिये उसे वैसा ही हर समय निर्माण कर रहा है, वही 'शुक्र' है, वही 'ब्रह्म' है, वही 'अमृत' कहलाता है । सब लोक उसी में आश्रित हैं । उससे कोई बढ-चढकर नहीं है । बस—'एतत् वै तत्'—यही ब्रह्म है ।।८।।

गुह्यम्—अति रहस्यमय, गूढ, ब्रह्म—ब्रह्म को, ज्ञान को, सनातनम्—सनातन, यथा च—और जैसे, मरणम्—मृत्यु को, प्राप्य—पा कर, आत्मा—जीवात्मा, भवति—होता है, गति (अवस्था) होती है, गौतम—हे गौतम-कुलोत्पन्न नचिकेता ।। ६ ।।

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ।।७।।

योनिम्—योनि को, अन्ये—कोई एक, प्रपद्यन्ते—प्राप्त करते हैं, शरीरत्वाय—शरीर धारण करने के लिए, देहिनः—देह धारी जीवात्मा, स्थाणुम्—वृक्ष आदि स्थावर योनि को, अन्ये—दूसरे, अनुसंयन्ति—अनुगमन करते हैं, यथाकर्म—कर्मों के अनुसार, यथाश्रुतम्—प्राप्त ज्ञान के अनुसार ।। ७ ।।

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन, एतद्वै तत् ।।८।।

यः—जो, एषः—यह, सुप्तेषु—सब के सोने पर, जागर्ति—जाग रहा है, कामम्—इच्छा के अनुसार, कामम्—भोग-साधनों को, पुरुषः—परमात्मा, निर्मिमाणः—निर्माण कर रहा है, तद् एव—वह ही, शुक्रम्—शुभ्र, ज्योतिःस्वरूप, तद्—वह ही, ब्रह्म—ब्रह्म है, तद् एव—वह ही, अमृतम्—अमर, अविनाशी, उच्यते—कहा जाता है, तस्मिन्—उस (व्यापक ब्रह्म) में, लोकाः—पृथिवी आदि लोक, श्रिताः—आश्रित हैं, सर्वे—सारे, तद् उ—उसको, न—नहीं, अत्येति—लांघता है, बढ कर है, कश्चन—कोई भी, एतद्—यह, वै—ही, तद्—वह (ब्रह्म है) ।। ८ ।।

जैसे अग्नि प्रत्येक वस्तु के भीतर वर्तमान है परन्तु फिर भी उसने प्रत्येक रूप के अनुरूप अपना रूप बना लिया है, इसी प्रकार सब भूतो का अन्तरात्मा एक ही है जो भीतर से और बाहर से प्रत्येक रूप के अनुरूप हुआ-हुआ है ॥९॥

जैसे वायु प्रत्येक वस्तु के भीतर वर्तमान है परन्तु फिर भी उसने प्रत्येक रूप के अनुरूप अपना रूप बना लिया है, इसी प्रकार सब भूतो का अन्तरात्मा एक ही है जो भीतर से और बाहर से प्रत्येक रूप के अनुरूप हुआ-हुआ है ॥१०॥

सूर्य ससार को आख है। हमारी आखो के दोषो से उसमें कोई लेप नहीं आता। ससार के सब भूतो की अन्तरात्मा वही एक ब्रह्म

अग्निर्यथैको भुवन प्रविष्टो रूप रूप प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूप रूप प्रतिरूपो बहिश्च ॥९॥

अग्नि—अग्नि, यथा—जैसे, एक—एक, भुवनम्—जगत् के उत्पन्न पदार्थ (मे), प्रविष्ट—प्रवेश कर रही है, (सब मे) विद्यमान है, रूपम् रूपम्—प्रत्येक दृश्य के स्वरूप के, प्रतिरूप—अनुरूप स्वरूप वाला, बभूव—हुआ है, होता है, एक—एक ही, तथा—वैसे, सर्वभूतान्तरात्मा—सब भूतो (जड-चेतन) के अन्दर व्यापक, अन्तर्यामी परमात्मा, रूपम् रूपम् प्रतिरूप—उन-उन भूतो के अनुरूप स्वरूप वाला (उनमे व्याप्त) है, बहि—(उस जगत् से) बाहर, च—और॥ ९ ॥

वायुर्यथैको भुवन प्रविष्टो रूप रूप प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूप रूप प्रतिरूपो बहिश्च ॥१०॥

वायु—वायु, यथा एक—जैसे एक ही, भुवनम् प्रविष्ट—सब उत्पन्न पदार्थ मे प्रविष्ट, रूपम् रूपम् प्रतिरूप बभूव—उन-उन पदार्थों के रूप के अनुसार स्वरूप वाला है, एक तथा सर्वभूतान्तरात्मा—वैसे सब भूतो के अन्दर विद्यमान परमात्मा एक ही, रूपम् रूपम् प्रतिरूप बहि च—उन-उन भूतो के अनुरूप स्वरूप वाला (उनमें व्याप्त) है और उनसे बाहर भी है ॥ १० ॥

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषै।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदु खेन बाह्य ॥११॥

सूर्य—सूर्य, यथा—जैसे, सर्वलोकस्य—सब लोको का, चक्षु—प्रकाशक है, न—नहीं, लिप्यते—लिप्त होता है (उसे लगते हैं), चाक्षुषै—नेत्र सम्बन्धी, नेत्र से उत्पन्न, बाह्य-दोषै—बाहर के दोषो से, एक—एक,

है। अन्दर भी वही, बाहर भी वही है। आख के दोष से जैसे सूर्य निर्लेप रहता है, भूतो के दु खो से वैसे ही ब्रह्म निर्लेप रहता है ॥११॥

ससार स्वच्छन्द नही, किसी के वश में दीखता है। वही एक 'वशी' है, ससार को वश में करने वाला है। सब भूतो का अन्तरात्मा वही है। एक-रूप को अनेक-रूप बनाने वाला वही है। आत्मा के भीतर उसका वास है, वह 'आत्मस्थ' है। आत्मा में बैठे हुए उस ब्रह्म को जो धीर पुरुष देख लेते है, उन्हें निरन्तर सुख प्राप्त होता है, दूसरो को नहीं ॥१२॥

नित्यो में वही एकमात्र नित्य है, चेतनो में वही एकमात्र चेतन है, अनेको में वही एक है, ससार की कामनाए भी तो उसी की रचना है। उसका वास आत्मा के भीतर है। उसे जो धीर पुरुष देख पाते है उन्ही को निरन्तर शाति प्राप्त होती है, दूसरो को नहीं ॥१३॥

अद्वितीय, तथा—वैसे, सर्वभूतान्तरात्मा—सब भूतो मे अन्तर्यामी (ब्रह्म), न—नही, लिप्यते—लिप्त होता है, लोकदु खेन—प्राणियो के दु ख से, बाह्य —(वह ब्रह्म) बाहर है, पृथक् है॥ ११ ॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एक रूप बहुधा य करोति।
तमात्मस्थ येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषा सुख शाश्वत नेतरेषाम् ॥१२॥

एक —एक, वशी—सब को वश मे रखने वाला, सब का नियन्ता, सर्वभूतान्तरात्मा—सब भूतो मे व्याप्त, अन्तर्यामी, एकम्—एक, रूपम्—रूप को, एकम् रूपम्—(निमित्त कारण होकर) एक अनादि कारण रूप प्रकृति को, बहुधा—अनेक प्रकार से, अनेक प्रकार का, अनेक स्वरूप वाला, य —जो, करोति—करता है, तम्—उसको, आत्मस्थम्—आत्मा मे ठहरे हुए (व्याप्त), ये—जो, अनुपश्यन्ति—गहराई से देखते है, जानते है, धीरा —धीर ज्ञानी, तेषाम्—उनका (को) ही, सुखम्—सुख, आनन्द, शाश्वतम्—निरन्तर रहने वाला, न—नही, इतरेषाम्—दूसरो को (अज्ञानियो को)॥ १२ ॥

नित्योऽनित्याना चेतनश्चेतनानामेको बहूना यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थ येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषा शाति शाश्वती नेतरेषाम् ॥१३॥

नित्य —नित्य, अनित्यानाम्—अनित्य वस्तुओ मे, चेतन —चेतन, ज्ञानदाता, चेतनानाम्—चेतन (आत्माओ) का, एक —एक, बहूनाम्—

वह ब्रह्म 'अनिर्देश्य' है, नहीं कहा जा सकता कि वह 'यह' रहा, परन्तु अगर कुछ कहा जा सकता है तो वही-कुछ कहा जा सकता है जो ऊपर कहा है। उसे हम कैसे जाने ? वह कुछ-कुछ तो सभी को भासता है। हा, कभी-कभी उसका विशेष भास होने लगता है ॥१४॥

हमें उसका भास क्या होगा ? वह तो इतना भासमान है कि वहा सूर्य का प्रकाश फीका पड जाता है। वहा चन्द्र और तारे प्रकाश-हीन हो जाते है, विद्युत् भी उसके प्रकाश के सामने फीकी है, फिर इस अग्नि का तो कहना ही क्या ? उसी की आभा से, उसी के प्रकाश से सूर्य, चन्द्र, तारे, विद्युत् तथा अग्नि प्रकाश देते है, उसी के प्रकाश से स्वय प्रकाशित हो रहे हैं ॥१५॥

अनेकों के, य —जो, विदधाति—सम्पन्न (पूर्ण) करता है, कामान्—काम-नाओं को, भोग-सामग्री को, तम् आत्मस्यम् ये अनुपश्यन्ति धीरा —उस जीवात्मा के अन्दर विद्यमान (ब्रह्म) को जो धीर ज्ञानी जान लेते हैं, तेषाम् शान्ति शाश्वती न इतरेषाम्—उनको ही चिरस्थायी शान्ति प्राप्त होती है, इतर अज्ञानियो को नहीं ॥ १३ ॥

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्य परम सुखम्।
कथ नु तद्विजानीया किमु भाति विभाति वा ॥१४॥

तद्—वह, एतद्—यह, इसको, इति—ऐसे, मन्यन्ते—समझते हैं, जानते हैं, अनिर्देश्यम्—जिसका निर्देश (बताना) न किया जा सके, परमम्—परम, सर्वोत्तम, सुखम्—सुख, कथम् नु—किस प्रकार, तद्—उसको, विजानीयाम्—जानू , किम् उ—क्या, भाति—प्रकाशित होता है, विभाति—विशेष कर दीप्त होता है, वा—या ॥ १४ ॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्व तस्य भासा सर्वमिद विभाति ॥१५॥

न—नहीं, तत्र—वहा, सूर्य—सूर्य, भाति—चमकता है, न—नही, चन्द्रतारकम्—चन्द्रमा और तारे, न—नही, इमा —ये, विद्युत —बिजलियाँ, भान्ति—चमकती है, कुत —कैसे, क्योकर, अयम्—यह, अग्नि —अग्नि, तम्—उसको (के), एव—ही, भान्तम्—चमकने पर, अनुभाति—उसका प्रकाश लेकर चमकता है, सर्वम्—सब कुछ, तस्य—उस (ब्रह्म) की, भासा—चमक से, प्रकाश मे, सर्वम्—सारा, इदम्—यह, विभाति—चमकता है ॥ १५ ॥

षष्ठी वल्ली

यमाचार्य द्वारा आत्मा तथा ब्रह्म का वर्णन

यह मनुष्य का शरीर तो एक सनातन 'अश्वत्थ' है—(अ=नहीं, श्व =कल, स्थ=स्थायी) आज है, कल नहीं। यह उल्टा टंगा हुआ वृक्ष है। अगर मनुष्य को उल्टा लटका दिया जाय तो सिर को जटाए जड़ की तरह और हाथ-पैर वृक्ष की शाखाओ की तरह फैल जाते हैं। इस शरीर में क्यो रमता है, इस देह को तो पेड की तरह जड समझ—वास्तविक-सत्ता यह नहीं, वह है। वही 'शुक्र' है, वही 'ब्रह्म' है, वही 'अमृत' कहलाता है। सब लोक उसी में आश्रित हैं। उससे बढकर कोई नहीं। यही—'एतत् वै तत्'—ब्रह्म है ॥१॥

यह ससार यू ही नहीं आ टपका, कहीं से निकला है। इसमें गति दिखलाई देती है। शरीर में जीवन की गति, जगत् में भौतिक-गति। यह सब गति प्राण के कारण है। यह 'प्राण-शक्ति' न हो तो शरीर तथा जगत् दोनो जड है। प्राण भी स्वयं गति नहीं करता,

---

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ सनातन।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥
तस्मिल्लोका श्रिता सर्वे तदु नात्येति कश्चन, एतद्वै तत् ॥१॥

ऊर्ध्वमूल—ऊपर की ओर जड वाला, **अवाक्शाख**—नीचे की ओर शाखावाला, **एष**—यह, **अश्वत्थ**—पीपल का पेड, कार्य रूप मे कल न रहने वाला (अ+श्व+स्थ =कल न रहने वाला—अनित्य), **सनातन**—(कारण प्रकृति रूप मे) सदा रहने वाला, **तद्**—वह (ब्रह्म), **एव**—ही, **शुक्रम्**—शुद्ध, निर्मल, **तद्**—वह, **ब्रह्म**—ब्रह्म, **तद् एव**—वह ही, **अमृतम्**—अमृत, अमर, **उच्यते**—कहा जाता है, **तस्मिन्**—उसमे, **लोका**—सब लोक, **श्रिता**—आश्रित है, **सर्वे**—सब, **तद् उ**—उसको, **न**—नही, **अत्येति**—लाँघता है, बढकर है, **कश्चन**—कोई भी, **एतद्**—यह वर्णित, **वै**—निश्चय से, **तद्**—वह (ब्रह्म है) ॥ १ ॥

यदिद किंच जगत्सर्वं प्राण एजति नि सृतम्।
महद्भय वज्रमुद्यत य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२॥

यद्—जो, **इदम्**—यह, **किंच**—कुछ भी, **जगत्**—जगत्, **सर्वम्**—सारा, **प्राणे**—प्राण-शक्ति, जीवनदात्री-शक्ति (ब्रह्म) मे या प्राणः—जीवन-शक्ति, **एजति**—काँपता है, गति करता है, **नि सृतम्**—निकला हुआ, उत्पन्न, **महद्**—

उसे भी कोई गति देता है। इस प्राण के सिर पर भी कोई भयानक शक्ति मानो वज्र लेकर खड़ी है। इस प्रकार जो ब्रह्म को वज्र-रूप जानते हैं वे अमृत हो जाते हैं ॥२॥

उसी के भय से अग्नि तपती है, उसी के भय से सूर्य तपता है, इन्द्र, वायु उसी के भय से काम करते हैं। मृत्यु भी उसी के भय से भागा फिरता है ॥३॥

शरीर के छूट जाने से पहले—इस जन्म में—अगर उसे जान लिया, तो इस सृष्टि के बाद नये सिरे से जब सृष्टि उत्पन्न होगी तभी जीवात्मा शरीर धारण करता है, पहले नहीं; अथवा 'सर्ग-लोक'—'स्वर्ग-लोक'—में शरीर धारण करता है, इसमें नहीं (केन २-५, बृहदा० ४-४-१८) ॥४॥

बड़ा, उग्र; भयम्—भय, भयप्रद, वज्रम्—वज्र (वज्र के समान भयप्रद एवं नियामक), उद्यतम्—ऊपर खड़ा है, ये—जो, एतद्—इस (वज्ररूप ब्रह्म) को, विदु—जान जाते हैं, अमृता—अमर, ते—वे, भवन्ति—हो जाते हैं ॥ २ ॥

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चम ॥३॥

भयात्—भय से, अस्य—इसके, अग्नि—अग्नि, तपति—प्रज्वलित होती है, भयात्—भय से, तपति—तपता है, प्रकाशमान है, सूर्य—सूर्य, भयात्—भय से, इन्द्र—इन्द्र, जीवात्मा, च—और, वायु—वायु, जीवनाधार प्राण, च—और, मृत्यु—मृत्यु, प्रलय, धावति—दौड़ती है, अपना काम करती है, पञ्चम—पाँचवा ॥ ३ ॥

इह चेदशकद् बोद्धु प्राक् शरीरस्य विस्रस ।
तत सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥४॥

इह—इस (जन्म) में, चेद्—अगर, अशकत्—समर्थ हुआ, बोद्धुम्—(ब्रह्म को) जानने के लिए, प्राक्—पहले, शरीरस्य—शरीर के, विस्रस—छूटने से, (शरीरस्य विस्रस प्राक्—शरीर के छूटने—मरने—से पहले ही), तत—उसके बाद, सर्गेषु—सृष्टि काल में समर्थ, लोकेषु—पृथिवी आदि लोकों में, (सर्गेषु लोकेषु—प्रलय के बाद उत्पन्न होने वाले लोकों में—फलत वर्तमान सृष्टि में जन्म नहीं लेता और अगली सृष्टि तक मोक्ष सुख को भोगता है), शरीरत्वाय—शरीर धारण के लिए, कल्पते—समर्थ या योग्य होता है ॥ ४ ॥

ब्रह्म के दर्शन 'आत्म-लोक' मे, 'पितृ-लोक' में, 'गन्धर्व-लोक' और 'ब्रह्म-लोक' में होते है। अपने आत्मा में, अर्थात् 'आत्म-लोक' मे उसके दर्शन ऐसे होते है जैसे दर्पण में कोई प्रतिबिम्ब देखता है। पितृ-लोक अपने बड़ो-बूढो-बुजुर्गो का लोक है। 'पितृ-लोक' मे, अर्थात् बडे-बूढो के सहारे उसके दर्शन ऐसे होते है जैसे कोई स्वप्न मे किसी वस्तु को देखता है। गन्धर्व-लोक ज्ञानियो का लोक हैं। 'गन्धर्व-लोक' में, अर्थात् ज्ञानी-पुरुषो के सहारे उसके दर्शन ऐसे होते है जैसे जल की लहर मे कोई चीज भिन्न-भिन्न प्रकार से दीखती है। ब्रह्म-लोक ध्यानियो का लोक है। 'ब्रह्म-लोक' में, अर्थात् ध्यानी-पुरुषो की सहायता से ब्रह्म के दर्शन ऐसे होते है जैसे धूप और छाह को कोई अलग-अलग देख लेता है, वह जगत् और ब्रह्म को छाया और आतप की तरह बिल्कुल स्पष्ट—साफ-साफ—देखने लगता है ॥५॥

आत्मा उत्पन्न नही होता, इन्द्रिया आत्मा से पृथक् उत्पन्न हुई है। इन्द्रियो का उदय होता है, अस्त होता है, आत्मा का नही। इस प्रकार जो इन्द्रियो को आत्मा नही समझता, इन्द्रियो को आत्मा से पृथक् समझता है, वह धीर पुरुष शोकाकुल नही होता ॥६॥

यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके।
यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥५॥

यथा—जैसे, **आदर्शे**—दर्पण मे, **तथा**—वैसे, **आत्मनि**—(अपने) आत्मा मे, **यथा**—जैसे, **स्वप्ने**—स्वप्न मे, **तथा**—वैसे, **पितृलोके**—पितरो (बडे-बूढो-बाप-दादा) के लोक मे, **यथा**—जैसे, **अप्सु**—जलो मे, **इव**—तरह, **परि ददृशे**—(सब तरफ भिन्न-भिन्न) दिखाई देता है, **तथा**—वैसे, **गन्धर्वलोके**—वाणी का धारण करने वाले—वाक्चतुर—प्रवचन मे कुशल पुरुषो की मण्डली मे, **छाया+आतपयो**—(स्पष्ट दीखने या प्रगट होने वाली) छाया और धूप की, **इव**—तरह, **ब्रह्मलोके**—भगवान् के सान्निध्य मे या ब्रह्म-विद् ज्ञानी-ध्यानी पुरुषो की सगति मे ॥ ५ ॥

इन्द्रियाणा पृथग्भावमुदयास्तमयो च यत्।
पृथगुत्पद्यमानाना मत्वा धीरो न शोचति ॥६॥

इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियो के (शरीर मात्र के), **पृथग्भावम्**—चेतन आत्मा से भिन्नता (अलग सत्ता) को, **उदय+अस्तमयौ**—(इस शरीर के) उदय और अस्त—उत्पत्ति और विनाश को, **च**—और, **यत्**—जो, **पृथक्**—अलग ही,

इन्द्रियों से मन उत्तम है, मन से बुद्धि उत्तम है, बुद्धि से महत्-तत्त्व उत्तम है, महत्-तत्त्व से अव्यक्त, अर्थात् प्रकृति उत्तम है ॥७॥

अव्यक्त से पुरुष, अर्थात् 'ब्रह्म' उत्तम है, वह व्यापक है, अलिंग है। उसे जानकर यह जन्तु दुःख से मुक्त हो जाता है, और अमृतत्व प्राप्त कर लेता है ॥८॥

आंखों से देखने के लिए उसका रूप ठहरता नहीं। आंख उसी के रूप पर टिकना चाहती है, परन्तु टिकते ही जिसपर वह टिक रही होती है वह उसका रूप नहीं होता। आंख उस पर टिकते-टिकते नहीं टिक पाती, हाथ उसे पकड़ते-पकडते नहीं पकड पाते। मनीषी लोग आंख से और हाथ से नहीं, हृदय से और मन से उसे पकड पाते हैं। जो यह बात जान जाते हैं वे अमृत हो जाते हैं ॥९॥

उत्पद्यमानानाम्—उत्पन्न होते हुओं को, मत्वा—समझ कर, धीर—धीर ज्ञानी, न शोचति—शोक नहीं करता—दुःख से मुक्त हो जाता है ॥ ६ ॥

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥७॥

इन्द्रियेभ्य—इन्द्रियों से, पार्थिव शरीर से, परम्—श्रेष्ठ, उत्तम, मन—(मनुष्य का) मन, मनस—मन से, सत्त्वम्—बुद्धि या सत्त्व गुण, सत्त्वात्—बुद्धि से, अधि—अधिक, श्रेष्ठ, महान्—महत्-तत्त्व, आत्मा—सतत क्रियाशील, (आत्मा महान्—सतत क्रियाशील महत्तत्त्व), महत—महत्-तत्त्व (प्रकृति के सर्वप्रथम विकार) से, अव्यक्तम्—मूल कारण—प्रकृति, उत्तमम्—उत्तम है ॥ ७ ॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥८॥

अव्यक्तात्—अव्यक्त (अज्ञेय) प्रकृति से, तु—तो, पर—श्रेष्ठ, पुरुष—ब्रह्म, व्यापक—(चेतन जीव और जड प्रकृति में) व्यापक, अलिङ्ग—कारण-शून्य, अजन्मा, अज्ञेय, अनिर्वचनीय, एव—ही, च—और, यम्—जिसको, ज्ञात्वा—जान कर, साक्षात् करके, मुच्यते—(जन्म-मरण के चक्र से) छूट जाता है, जन्तु—जन्म-धारी जीवात्मा, अमृतत्वम्—अमर पद को, मोक्ष को, च—और, गच्छति—प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषी मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥९॥

न—नहीं, सन्दृशे—देख सकने के लिए, तिष्ठति—विद्यमान है,

जब पांचो ज्ञानेन्द्रियां मन के साथ स्थिर हो जाती है, भागती नहीं फिरतीं, ठहर जाती है, और मन निश्चल बुद्धि के साथ आ मिलता है, उस अवस्था को 'परम-गति' कहते हैं ॥१०॥

इन्द्रियो की स्थिर धारणा को 'योग' कहते है—'योगश्चित्तवृत्ति-निरोध'। जिसकी इन्द्रिया स्थिर हो जाती है वह अप्रमत्त हो जाता है, प्रमादहीन हो जाता है—सावधान हो जाता है। योग का अभिप्राय है—'प्रभव' तथा 'अप्यय'। शुभ सस्कारो की उत्पत्ति होना 'प्रभव' कहलाता है, तथा अशुभ सस्कारो का नाश 'अप्यय' कहलाता है ॥११॥

रूपम्—(इन्द्रिय गोचर) स्वरूप, अस्य—इस (ब्रह्म) का, न—नही, चक्षुषा—नेत्र से, ज्ञान-साधन इन्द्रियो से, पश्यति—देखता है, जानता है, कश्चन—कोई भी, एनम्—इस पुरुष (ब्रह्म) को, हृदा—हृदय से (प्रेममय भक्ति से), मनीषी—मन को वश मे रखने वाला ज्ञानी, मनसा—मन से, मनन-शक्ति (ज्ञान) से, अभिक्लृप्त—समर्थ, युक्त, ये—जो, एतद्—इसको, विदु—जान जाते है, अमृता—अमर, ते—वे, भवन्ति—हो जाते है ॥ ९ ॥

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहु परमा गतिम् ॥१०॥

यदा—जब, पञ्च—पाँच, अवतिष्ठन्ते—स्थिर (चचलताशून्य) हो जाती है, निरुद्ध हो जाती है, ज्ञानानि—ज्ञान-साधन इन्द्रियाँ, मनसा—मन के, सह—साथ, बुद्धि—बुद्धि, च—और, न विचेष्टति—निश्चल (चेष्टा-शून्य) हो जाती है, ताम्—उसको (ही), आहु—कहते है, परमाम्—श्रेष्ठ, गतिम्—अवस्था, (मनुष्य की) स्थिति ॥ १० ॥

ता योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥११॥

ताम्—उस (परम गति) को ही, योगम्—योग, शास्त्रोक्त चित्त-वृत्ति-निरोध, इति—यह, मन्यन्ते—मानते है, समझते हैं, स्थिराम्—स्थिर, अविचल, इन्द्रिय-धारणाम्—इन्द्रियो के स्थिर होने, चचल न होने को, अप्रमत्त—प्रमाद (गफलत, उपेक्षा) से रहित, सावधान, तदा—तब, भवति—हो जाता है, योग—योग, हि—क्योकि, प्रभव+अप्ययौ—प्रभव (उत्पत्ति-बढती) और अप्यय (नाश) है ॥ ११ ॥

वह वाणी से, मन से, आखो से नहीं पाया जा सकता। 'अस्ति इति'—'वह है'—इसके सिवाय उसे कैसे पाया जा सकता है?॥१२॥

'वह है' या 'नहीं है'—इन दोनो की तात्त्विक-विवेचना करके 'अस्ति इति'—'वह है'—यह कहकर ही उसे पाया जाता है। जिसने 'अस्ति'—'वह है'—इस प्रकार उसे प्राप्त कर लिया है, उसका तात्त्विक-विवेचन शुद्ध विवेचन है॥१३॥

मनुष्य के हृदय में जो कामनाएं है वे जब छूट जाती है तब 'मर्त्य' 'अमृत' हो जाता है और यहीं, इस जन्म में, ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है॥१४॥

नैव वाचा न मनसा प्राप्तु शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथ तदुपलभ्यते॥१२॥

न एव—न ही, वाचा—वाणी से, प्रवचन से, न—नही, मनसा—मन से, प्राप्तुम् शक्य—पाया जा सकता है, न—नही, चक्षुषा—आँख से, अस्ति—है, इति—यह, ब्रुवत—कहने वाले से (के), अन्यत्र—अलावा (भिन्न), (अस्ति इति ब्रुवत अन्यत्र—वह ब्रह्म है इस कथन—आस्तिक-भावना—के सिवाय), कथम्—कैसे, तद्—वह, उपलभ्यते—पाया जा सकता है॥१२॥

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयो।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभाव प्रसीदति॥१३॥

अस्ति इति एव—(वह ब्रह्म) है यह (आस्तिक बुद्धि) ही, उपलब्धव्य—प्राप्त करनी चाहिए (परमात्मा की सत्ता का अनुभव करना चाहिए), तत्त्व-भावेन—तात्त्विक-विवेचना से, वास्तविक स्वरूप के ज्ञान से, च—और, उभयो—दोनो (ब्रह्म ह और ब्रह्म नही है इन दोनो) के, अस्ति इति एव उप-लब्धस्य—वह ब्रह्म ह यह जिसने जान लिया उस तत्त्ववेत्ता का ही, तत्त्वभाव—विवेचन, प्रसीदति—निर्मल होता है, फलप्रद होता है॥ १३॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिता।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥१४॥

यदा—जब, सर्वे—सारे, प्रमुच्यन्ते—छुट जाते हैं, कामा—कामनाएँ—तीनो एषणाएँ, ये—जो, अस्य—इनके, हृदि—हृदय मे, श्रिता—विद्यमान है, अथ—इनके बाद, मर्त्य—मरणधर्मा मनुष्य, अमृत—अमर, भवति—हो जाता है, अत्र—इस अवस्था मे, ब्रह्म—ब्रह्म को, समश्नुते—प्राप्त कर लेता है, ब्रह्म के आनन्द का रस लेता है॥ १४॥

मनुष्य के हृदय में जो गाठें हैं, वे जब टूट जाती है, तब 'मर्त्य' 'अमृत' हो जाता है, यह मरण-धर्मा अमर हो जाता है—यही शास्त्रो का उपदेश है ॥१५॥

हृदय की एक-सौ-एक नाडिया है, उनमें से एक मूर्धा—सिर—की ओर निकल गई है। मृत्यु के समय उस नाडी से जो ऊपर को उत्क्रमण करता है वह अमृतत्व को प्राप्त करता है, बाकी की अन्य नाडिया साधारण व्यक्तियो के उत्क्रमण के समय काम आती है। ब्रह्म-निष्ठ व्यक्ति के प्राण मूर्धा से निकलते है, दूसरो के अन्य मार्गो से। (प्रश्न ३-६,७, छा० ८,६, बृहदा० ४-२-३) ॥१६॥

प्राणिमात्र के हृदय में आत्मा है, उस आत्मा के भीतर 'पुरुष'—ब्रह्म—छिपा बैठा है, वह आत्मा का भी 'अन्तरात्मा' है। वह अगुष्ठ-

---

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थय ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्धयनुशासनम् ॥१५॥

यदा—जब, सर्वे—सारी, प्रभिद्यन्ते—टूट जाती है, हृदयस्य—हृदय की, इह—इस (अवस्था) मे, इस जन्म मे, ग्रन्थय—(सशय की) गाठें (उलझन), अथ—तब, मर्त्य अमृत भवति—मरणधर्मा मनुष्य अमर (मुक्त) हो जाता है, एतावद्—इतना, हि—ही, अनुशासनम्—शास्त्रोक्त उपदेश है ॥ १५ ॥

शत चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासा मूर्धानमभिनि सृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विश्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥१६॥

शतम्, च एका—सौ और एक—एक-सौ-एक, हृदयस्य—हृदय की, नाड्य—नाडियाँ (है), तासाम्—उनमे की, मूर्धानम्—सिर, कपाल-मस्तिष्क की, अभि—ओर, नि सृता—निकल कर गई है, एका—एक (सुषुम्णा नामक), तया—इस (सुषुम्णा नाडी) से, ऊर्ध्वम्—ऊपर की ओर, आयन्—आता हुआ (आत्मा), अमृतत्वम्—अमरता को, एति—प्राप्त होता है, विश्वङ्—नाना गति वाली, अन्या—दूसरी (सौ नाडियाँ), उत्क्रमणे—आत्मा के शरीर से बाहर निकलने पर, अन्तकाल मे, भवन्ति—होती है ॥१६॥

अङ्गुष्ठमात्र पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनाना हृदये सनिविष्ट ।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीका धैर्येण ।
त विद्याच्छुक्रममृत त विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥१७॥

अङ्गुष्ठमात्र—(अगूठे के परिमाण वाले हृदय मे विद्यमान होने से) अगूठे के परिमाण वाला, पुरुष—परमात्मा, अन्तरात्मा—आत्मा के अन्दर

मात्र है, मानो वह सिर्फ ब्रह्म का अगूठा है। जैसे अंगूठे से पकड़कर किसी को बाहर खींचा जाता है, वैसे हमारी भीतरी गुफा में छिपकर बैठे ब्रह्म को खींचकर बाहर ले आये, ठीक ऐसे जैस मूंज में दबी सींक को खींचकर बाहर निकाला जाता है। वही 'शुक्र' है, वही 'अमृत' है, वही 'शुक्र' है, वही 'अमृत' है ॥१७॥

मृत्यु ने नचिकेता को जिस 'विद्या' तथा सम्पूर्ण 'योगविधि' का उपदेश दिया उसे पाकर नचिकेता ब्रह्म-युक्त तथा मल-विहीन हो गया, मृत्यु से रहित हो गया। दूसरा भी जो कोई इस अध्यात्म-विद्या को जानेगा वह नचिकेता के सदृश ही हो जायगा ॥१८॥

रहने वाला, सदा—हमेशा ही, जनानाम्—जन्मधारी मनुष्यों के, हृदये—हृदय में, सनिविष्ट—बैठा है, उपस्थित रहता है, तम्—उस परमात्मा को, स्वात्—अपने, शरीरात्—शरीर से, प्रवृहेत्—(ज्ञान-ध्यान से) बाहर निकाले (प्रत्यक्ष करे), मुञ्जाद्—मुज से, इव—तरह, इषीकाम्—सींक को, धैर्येण—धैर्य से, सतत प्रयत्न से, तम्—उसको, विद्यात्—जाने, शुक्रम्—शुद्ध, ज्योति-स्वरूप, अमृतम्—अमर, तम् विद्यात् शुक्रम् अमृतम् इति—शुद्ध-बुद्ध अमर उस परमात्मा को जाने (द्विरुक्ति ग्रन्थ समाप्ति-प्रदर्शन के लिए है) ॥ १७ ॥

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥१८॥

मृत्यु-प्रोक्ताम्—मृत्यु से कही (उपदिष्ट) हुई, नचिकेत—नचिकेता, अथ—इसके बाद, लब्ध्वा—प्राप्त कर, विद्याम्—विद्या को, एताम्—इस, योग-विधिम्—योग की प्रक्रिया को, च—और, कृत्स्नम्—सम्पूर्ण, ब्रह्मप्राप्त—ब्रह्म को प्राप्त हुआ-हुआ, विरज—रजोगुण (मलों) से विमुक्त, निर्मल, निर्दोष, अभूत्—हो गया, विमृत्यु—मरण (जन्म-मरण) से मुक्त, अन्य—दूसरा, अपि—भी, एवम्—इस प्रकार, य—जो, विद्—जानने वाला, अध्यात्मम्—आत्मा-परमात्मासम्बन्धी विषय को, एव—ही, निश्चय से ॥१८॥

प्रश्नोपनिषद्

प्रथम प्रश्न

तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, रयि, प्राण, दक्षिणायन, उत्तरायण, पितृयाण, देवयान, कृष्णपक्ष, शुक्लपक्ष

(तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा)

भरद्वाज के गोत्र में उत्पन्न सुकेशा, शिवि का पुत्र सत्यकाम, सौर्य का पुत्र गार्ग्य, अश्वल का पुत्र कौशल्य, भृगुगोत्र में उत्पन्न वैदर्भि तथा कत्य का पुत्र कबन्धी—ये छ जिज्ञासु थे। उन्होंने यह तो समझ लिया था कि ससार में अन्तिम सत्ता ब्रह्म ही है—अर्थात्, वे 'ब्रह्म-पर' थे, इसीलिये उनकी ब्रह्म में निष्ठा थी, उसे पाने की उत्कठा थी—अर्थात्, वे 'ब्रह्म-निष्ठ' भी थे, परन्तु अभी उनके हृदय में कुछ शकाएं थी। वे हाथ में समिधा लेकर ब्रह्म की खोज में प्रसिद्ध आचार्य पिप्पलाद के पास पहुचे ॥१॥

ॐ सुकेशा च भारद्वाज शैब्यश्च सत्यकाम सौर्यायणी च गार्ग्य
कौशल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भि कबन्धी कात्यायनस्ते हैते
ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठा पर ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं
वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्त पिप्पलादमुपसन्ना ॥१॥

ओम्—सर्वरक्षक, सर्वव्यापक आदिगुरु भगवान् का स्मरण कर, **सुकेशा**—सुकेशा (नामक), **च**—और, **भारद्वाज**—भरद्वाज गोत्री, **शैब्य**—शिवि का पुत्र, **च**—और, **सत्यकाम**—सत्यकाम (नामवाला), **सौर्यायणी**—सूर्य का पौत्र या सौर्य का पुत्र, **च**—और, **गार्ग्य**—गर्ग गोत्री, **कौशल्य**—कौशल्य (नामी), **च**—और, **आश्वलायन**—अश्वल का पुत्र, **भार्गव**—भृगु-गोत्री, **वैदर्भि**—वैदर्भि (नामवाला), **कबन्धी**—कबन्धी (नामक), **कात्यायन**—कत्य का पुत्र, **ते**—वे, **ह**—निश्चय से, **एते**—ये, **ब्रह्मपरा**—ब्रह्म को ही श्रेष्ठ समझने वाले या ब्रह्म—वेद के ज्ञान में कुशल (वेदज्ञ), **ब्रह्मनिष्ठा**—ब्रह्म-ज्ञान या ब्रह्म-प्राप्ति की धारणा (निश्चय) वाले, ब्रह्म-ज्ञान के लिए उत्सुक, **परम् ब्रह्म**—परमात्मा को, **अन्वेषमाणा**—खोज करते हुए, जिज्ञासु, **एष**—यह, **ह**—ही, अवश्य, **वै**—निश्चय से, **तत् सर्वम्**—इस सारे (रहस्य) को, **वक्ष्यति**—कहेगा, उपदेश करेगा, **इति**—इस कारण से, **ते**—वे, **ह**—निश्चय



छ जिज्ञासु ब्रह्म की खोज में पिप्पलाद के पास पहुँचे

उन्हें पिप्पलाद ऋषि ने कहा—तुम लोग तपस्वी तो हो, परन्तु एक साल और 'तप', 'ब्रह्मचर्य' और 'श्रद्धा'-पूर्वक मेरे समीप निवास

मे, समित्पाणय—समिधा (भेंट रूप में) हाथ में लेकर, भगवन्तम्—आदरणीय, पिप्पलादम्—पिप्पलाद-नामक ऋषि के, उपसन्ना—पास पहुँचे ॥ १ ॥

तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं
सवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान्पृच्छत
यदि विज्ञास्याम सर्वं ह वो वक्ष्याम इति ॥२॥

तान्—उनको, ह—निश्चय से, स—उस, ऋषि—ऋषि ने, उवाच—कहा, भूय—फिर, और अधिक, एव—ही, तपसा—तप (शरीर-

करो। उसके वाद अपनी-अपनी इच्छा अनुसार प्रश्न करना। अगर हम उन प्रश्नो का उत्तर जानते होंगे तो सब-कुछ बतला देंगे ॥२॥

(शरीर की साधना का नाम 'तप' है, मन की साधना का नाम 'ब्रह्मचर्य' है। मन या तो संकल्प-विकल्प मे उलझा रहता है, या इनमे से निकल कर किसी सत्य-निश्चय पर पहुच जाता है। संकल्प-विकल्प मे से, तर्क की उलझन मे से निकल कर सत्य की खोज के लिये डट जाने को 'श्रद्धा' कहा जाता है। पिप्पलाद ऋषि ने ब्रह्म-ज्ञान के लिये 'तप', 'ब्रह्मचर्य' तथा 'श्रद्धा'—इन तीन को आवश्यक बतलाया है। केन-उपनिषद् मे ब्रह्म-ज्ञान की प्रतिष्ठा 'तप', 'दम' तथा 'कर्म'—ये तीन कहे गये है। 'तप' शारीरिक-साधना है, 'दम' मानसिक-साधना है। 'ब्रह्मचर्य' भी तो मानसिक-साधना का नाम है। इसलिये 'तप' और 'दम' कहना या 'तप' और 'ब्रह्मचर्य' कहना एक ही बात है। इसीलिये ब्रह्मचारी के लिये कहा गया है कि वह तप करे—अर्थात् मानसिक-साधना के साथ-साथ शारीरिक-साधना करे। 'ब्रह्म-ज्ञानी' के आधार 'तप', 'दम' और 'कर्म' है, 'ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासु' के आधार 'तप', 'ब्रह्मचर्य' और 'श्रद्धा' है। 'जिज्ञासु' श्रद्धा को लेकर आता है, 'ब्रह्म-ज्ञानी' को 'श्रद्धा' की आवश्यकता नही रहती—वह 'कर्म' करने लगता है। 'श्रद्धा' की परिणति 'कर्म' मे होती है।)

(रयि तथा प्राण)

साल बीत जाने पर कत्य का पुत्र कवन्धी ऋषि के समीप आया और उसने पूछा—"भगवन्! सृष्टि के प्रारभ में प्रजा—अर्थात् जो कुछ भी उत्पन्न हुआ-हुआ दीखता है—किससे उत्पन्न होता है?" ॥३॥

साधना) से (पूर्वक), **ब्रह्मचर्येण**—ब्रह्मचर्य (मन की साधना—इन्द्रिय-दमन) पूर्वक, **श्रद्धया**—सत्य की धारणा से (पूर्वक), **संवत्सरम्**—एक वर्ष तक, **संवत्स्यथ**—तुम रहोगे,रहो, **यथाकामम्**—इच्छानुसार, **प्रश्नान्**—प्रश्नो को, **पृच्छत**—पूछो, **यदि**—अगर, **विज्ञास्याम**—हम जानते होंगे, **सर्वम्, ह**—सब को ही, **व**—तुम्हे, **वक्ष्याम**—उपदेश करेंगे, **इति**—यह (कहा) ॥ २ ॥

अथ कवन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ भगवन्
कुतो ह वा इमा प्रजा प्रजायन्त इति ॥३॥

अथ—इनके (साल भर) बाद, **कवन्धी कात्यायन**—कत्य के पुत्र

ऋषि ने उत्तर दिया—"चराचर-जगत् के स्वामी प्रजापति को जब प्रजा की उत्पत्ति की कामना हुई, तो उसने 'तप' किया। तप करने के बाद उसने 'मिथुन' को—जोड़े को—उत्पन्न किया। ये मिथुन है—'रयि' तथा 'प्राण'। उसने कहा कि मेरी भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रजा को 'रयि' तथा 'प्राण' ही उत्पन्न करेंगे ॥४॥

(ब्रह्म ने जब सृष्टि की रचना प्रारम्भ की तब पहले-पहल क्रिया (Activity) शुरू हुई होगी। यह 'क्रिया' जब अपने उग्र-रूप (Climax) पर आई, उस समय की अवस्था का नाम 'तप' है। इसीलिये कहा कि प्रजापति ने 'तप' किया। 'तप' के बाद 'मिथुन' हुआ इसका क्या अर्थ है? सृष्टि मे अनेकता (Multiplicity) है। इस अनेकता का प्रारम्भ 'द्वित्व' (Duality) के बिना नही आ सकता, क्योंकि एक से दो और दो से अनेक होगे। यह द्वित्व ही 'मिथुन' कहलाता है। अत सृष्टि का प्रारम्भ 'द्वित्व' अर्थात् 'मिथुन' से हुआ, और यह 'मिथुन' 'तप' या सृष्टि के उत्पादन की उग्र-क्रिया के बाद हुआ। उस 'द्वित्व' मे दो जो शक्तिया है, वे है 'रयि' तथा 'प्राण'। 'प्राण' धन-शक्ति (Positive) है, 'रयि' ऋण-शक्ति (Negative) है, 'प्राण' भोक्तृ-शक्ति है, 'रयि' भोग्य-शक्ति है, 'प्राण' कर्तृत्व-शक्ति (Active) है, 'रयि' कर्म-शक्ति (Passive) है। यह कथन इस बात से और अधिक स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत मे 'प्राण' पुँल्लिग शब्द है, 'रयि' स्त्रीलिगी शब्द है।)

कबन्धी ने, उपेत्य—पास आकर, पप्रच्छ—पूछा, भगवन्—हे पूजनीय, कुत—कहाँ से, किससे, ह वै—निश्चय रूप से, इमा—ये, प्रजा—प्रजाएँ, उत्पन्न जड-चेतन, प्रजायन्ते—उत्पन्न होती है ॥ ३ ॥

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापति
स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते।
रयिं च प्राण चेत्येतौ मे बहुधा प्रजा करिष्येत इति ॥४॥

तस्मै—उस (कबन्धी) को, स ह—उस (ऋषि) ने, उवाच—कहा, प्रजाकाम—प्रजा उत्पन्न करने के अभिलाषी (हुआ), वै—निश्चय से, प्रजापति—चराचर जगत् के स्वामी (अधिष्ठाता), स—उस (प्रजापति) ने, तप—तप, उग्र क्रिया, अतप्यत—तप किया, क्रिया की, स—उसने, तप—

आदित्य प्राण-शक्ति है, चन्द्रमा रयि-शक्ति है। भोक्तृ-शक्ति को बढाने वाला सूर्य है, भोग्य-शक्ति को बढाने वाला चन्द्रमा है। सूर्य तथा चन्द्रमा प्राण तथा रयि है, और इन्हीं के सयोग से विविध प्रकार की सृष्टि होती है। प्राण एक सूक्ष्म तत्त्व है, उसी का साक्षात् रूप सूर्य है, रयि भी एक सूक्ष्म तत्त्व है, उसी का साक्षात् रूप चन्द्र है। अथवा, यह जो-कुछ 'मूर्त' तथा 'अमूर्त' ससार में दीखता है, यह-सब 'रयि' ही है, भोग्य ही है, इस-सबकी तुलना में 'प्राण' तो वह 'ब्रह्म' ही है, क्योंकि ब्रह्म (प्राण) ही इस मूर्त-अमूर्त-रूप जगत् (रयि) का भोक्ता है, उसके लिये यह सब भोग्य है। ब्रह्म 'प्राण' है, मूर्त तथा अमूर्त जगत् 'रयि' है। जो-कुछ मूर्तिमान् है सब रयि है। इस दृष्टि से सूर्य भी 'रयि' है। सूर्य ससार में भोक्तृ-शक्ति उत्पन्न करता है, इसलिये 'प्राण' है, परन्तु ब्रह्म के सम्मुख सूर्य भी भोग्य हो जाता है, ब्रह्म उसका भोक्ता है, इस दृष्टि से सूर्य जो 'प्राण' है, ब्रह्म के लिये मानो 'रयि' हो जाता है ॥५॥

('प्राण' तथा 'रयि' ये दोनो सापेक्षिक शब्द है। 'सूर्य' प्राण है, परन्तु इसे भी तो रचा गया है, रचनहार की दृष्टि से यह 'रयि' है। 'चन्द्र' रयि है, परन्तु यह भी तो अपनी सृष्टि रचता है, इस दृष्टि से यह 'प्राण' है। प्रत्येक वस्तु में 'प्राण' तथा

तप, तप्त्वा—तप करके, स—वह, मिथुनम्—जोडे को, युगल को, उत्पादयते—उत्पन्न करता है, रयिम्—रयि (भोग्य-शक्ति या अन्न) को, च—और, प्राणम्—प्राण (भोक्तृ-शक्ति या अत्ता—भोक्ता) को, च—और, इति—यह, एतौ—ये दोनो (रयि और प्राण), मे—मेरी, मेरे लिए, बहुधा—बहुत सी, भिन्न-भिन्न प्रकार की, प्रजा—प्रजाओ को, करिष्येते—करेंगे, इति—यह ॥ ४ ॥

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा
एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयि ॥५॥

आदित्य ह वै—सूर्य ही, प्राण—भोक्ता, अत्ता, रयि एव—भोग्य-शक्ति, अन्न, चन्द्रमा—चन्द्रमा (है), रयि वै—रयि (भोग्य-शक्ति) ही, एतत्—यह, सर्वम्—सब कुछ है, यत्—जो, मूर्तम्—शरीरधारी, स्थूल, च—और, अमूर्तम्—सूक्ष्म, च—और, तस्मात्—उसमे (उस ब्रह्म की दृष्टि मे तो), मूर्ति—शरीरधारी, सब स्थूल जगत्, एव—ही, रयि—रयि (कहलाता है) ॥ ५ ॥

'रयि' का सम्मिश्रण है। सपूर्ण ससार भोग्य होने के कारण 'रयि' है, ब्रह्म इस ससार का भोक्ता होने के कारण 'प्राण' है।)

सूर्य उदय होने पर पूर्व दिशा में प्रवेश करता है। पूर्व दिशा मे सूर्य की जो 'प्राण-शक्ति' है उसे वह अपनी किरणो में डाल देता है। इसी प्रकार दक्षिण दिशा मे, पश्चिम दिशा मे, उत्तर दिशा में, नीचे-ऊपर, इन दिशाओ के बीच की दिशाओ मे—अपनी जिस 'प्राण-शक्ति' से सूर्य सब-कुछ प्रकाशित करता है उस सारी प्राण-शक्ति को वह अपनी किरणो में डाल देता है। सूर्य अपनी प्राण-शक्ति को किरणो में डाल देता है, और किरणें विश्व के कोने-कोने मे पहुचकर प्राण-शक्ति का सर्वत्र वितरण करती है ॥६॥

उदय होने वाला सूर्य एक अग्नि है, परन्तु यह अग्नि 'प्राण'-शक्ति है। यह प्राण-शक्ति सम्पूर्ण विश्व को अपने-अपने काम मे चलने की प्रेरणा देती है, यह प्राण-शक्ति विश्वरूप है, सम्पूर्ण विश्व का रूप हो रही है, इस प्राण-शक्ति से ही विश्व का रूप बना हुआ है। ऋचाओ ने भी ऐसा ही कहा है ॥७॥

अथादित्य उदयन्यत्प्राची दिश प्रविशति तेन प्राच्यान्प्राणान् रश्मिषु
सनिधत्ते यद्दक्षिणा यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा
दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान्प्राणान् रश्मिषु सनिधत्ते ॥६॥

अथ—और, आदित्य—सूर्य, उदयन्—उदय होता हुआ, यत्—जो, प्राचीम्—पूर्व, दिशम्—दिशा को (मे), प्रविशति—प्रवेश करता है, तेन—उस (उदय) से, प्राच्यान्—पूर्व दिशा मे होने वाले, प्राणान्—प्राणो को, भोक्तृ-शक्ति को, रश्मिषु—किरणो मे, सनिधत्ते—रखता है, डालता है, यत्—जो, दक्षिणाम्—दक्षिण दिशा मे, यत्—जो, प्रतीचीम्—पश्चिम दिशा मे, यत्—जो, उदीचीम्—उत्तर दिशा मे, यद्—जो, अध—नीचे की ओर, यत्—जो, ऊर्ध्वम्—ऊपर की ओर, यद्—जो, अन्तरा—मध्य भाग मे, दिश—दिशाओ के, (दिश अन्तरा—वायव्य-नैऋत आदि अवान्तर दिशाओ मे), यत्—जिस, सर्वम्—सब कुछ को, प्रकाशयति—(वह सूर्य) प्रकाशित करता है, तेन—उस (प्रकाशन) से, सर्वान्—सब ही, प्राणान्—प्राण-शक्तियो (भोक्तृ-शक्तियो) को, रश्मिषु—(अपनी) किरणो मे, सनिधत्ते—रखता है, डालता है ॥ ६ ॥

स एष वैश्वानरो विश्वरूप प्राणोऽग्निरुदयते । तदेतदृचाभ्युक्तम् ॥७॥

स—वह, एष—यह, वैश्वानर—सब मनुष्यो मे व्याप्त (सर्वात्मा),

सूर्य 'विश्वरूप' है--संसार में जो रूप है सूर्य की प्राण-प्रद किरणों के ही कारण है, वह 'हरिण' है--किरणों वाला है, 'जात-वेदस्' है--प्रत्येक उत्पन्न हुए पदार्थ में विद्यमान है क्योंकि उसी की प्राणदातृ-किरणों से सब बना है, 'परायण' है--प्राणियों का परम आश्रय है, एकमात्र ज्योति है, तप रहा है, सहस्र रश्मियों वाला, है, सैंकड़ों प्रकार से वर्तमान है--उसी से ईंट पकती है, उसी से अंकुर फूटता है, पौदा जमता है, अनाज तथा फल पकता है, सूर्य प्रजाओं का प्राण बनकर उदय होता है ॥८॥

(दक्षिणायन, उत्तरायण, पितृयाण, देवयान)

सूर्य द्वारा ही संवत्सर का, काल का विभाग होता है। यह काल मानो प्रजापति है। काल ही में तो सब जीते-मरते हैं। संवत्सर के

सब जगत् को कार्य के लिए प्रेरक, **विश्वरूप**--सब दृश्य जगत् में व्यापक होने से सर्वरूप धारी, विश्वात्मा, **प्राण**--भोक्तृ-शक्ति का प्रदाता, **अग्नि**--तेज स्वरूप अग्नि (भोक्ता), **उदयते**--उदित होता है, **तद् एतद्**--वह यह बात, **ऋचा**--वेद-वाक्य (मंत्र) ने भी, **अभि+उक्तम्**--कही है ॥ ७ ॥

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥८॥

विश्वरूपम्--सर्व रूपधारी (सब में ओत-प्रोत), **हरिणम्**--'हरतीति हरिणम्'--सूर्य की किरणें जल का हरण करती हैं इसलिए किरणों को हरिण कहते हैं, किरण वाले, **जातवेदसम्**--प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में विद्यमान या जानने वाला, **परायणम्**--सब का परम (अन्तिम) आश्रय (सहारा), **ज्योति**--प्रकाशक, **एकम्**--अद्वितीय, **तपन्तम्**--तपते हुए को (ज्ञानियों ने जाना कि वह ही), **सहस्ररश्मि**--असंख्य किरणों वाला, **शतधा**--अनेक प्रकार से, अनेक रूप में, **वर्तमान**--विद्यमान, **प्राण**--जीवनदाता, **प्रजानाम्**--उत्पन्न चराचर जगत् का, **उदयति**--उग रहा है, **एष**--यह, **सूर्य**--सब का प्रेरक सूर्य ॥ ८ ॥

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च।
तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव
लोकमभिजयन्ते। त एव पुनरावर्तन्ते तस्मादेते ऋषयः
प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः ॥९॥

संवत्सर--एक वर्ष, **वै**--वस्तुतः, **प्रजापति**--प्रजाओं का अधिपति, **तस्य**--उस प्रजापति रूप वर्ष के, **अयने**--गति, मार्ग, **दक्षिणम्**--दक्षिण, **च**--

दो भाग हैं। छ मास तक सूर्य दक्षिण दिशा की तरफ जाता है, इस समय को 'दक्षिणायन' कहते हैं, छ मास तक वह उत्तर दिशा की तरफ जाता है, इस समय को 'उत्तरायण' कहते हैं। जो लोग 'इष्ट-आपूर्त' (यज्ञ-यागादि 'इष्ट' है, कूआ-बावडी-अनाथालयादि वनवाना 'आपूर्त' है) को ही अपना कृत्य या लक्ष्य समझते हैं, यह सब-कुछ करके जो फल-लाभ की इच्छा रखते हैं, वे चन्द्र-लोक को जीत लेते हैं, भोग्य-पदार्थों की उनके पास बहुतायत होती है क्योंकि चन्द्र भोग्य-पदार्थों का प्रतिनिधि है। इस प्रकार ससार के भोगो में चित्त रखने वाले वार-वार जन्म-मरण के चक्र में चक्कर लगाते हैं। उनकी पुत्र-पौत्रो के लिये इच्छा बनी रहती है। उनका मार्ग 'दक्षिणायन' मार्ग है, इसे 'रयि-मार्ग' भी कह सकते हैं, यह 'पितृयाण' मार्ग है। सूर्य जब दक्षिण दिशा में जाता है तब मनुष्य में भोग की प्रवृत्ति की भावना प्रबल हो जाती है, उस समय ससार मे बादल उमडने लगते है, अधेरा छा जाता है, वर्षा होने लगती है। परन्तु जब सूर्य उत्तर की तरफ जाता है तब मनुष्य में त्याग की, निवृत्ति की भावना प्रबल हो जाती है, यह 'देवयान', अर्थात् दिव्यभाव उत्पन्न कर देवता बनने का मार्ग है। उस समय आकाश स्वच्छ हो जाता है, सूर्य का प्रकाश चारो तरफ चमकने लगता है। दक्षिणायन तथा उत्तरायण तो छ-छ मास रहते ही हैं, परन्तु अपने हृदय में उत्तरायण को हर समय बनाये रखना ही मनुष्य का लक्ष्य है। जो इस प्रकार नही कर सकते उनके जीवन में दक्षिणायन की अवस्था छा जाती है, वे रयि-मार्ग पर, प्रवृत्ति-मार्ग पर चल देते हैं, उनके हृदय मे घर-गृहस्थी बसाकर, पुत्र-पौत्र उत्पन्न करने की इच्छा प्रबल होती है, उनका मार्ग 'पितृ-याण' अर्थात् पिता-पितामह बनने का मार्ग है ॥९॥

और, उत्तरम्—उत्तर, च—और (दक्षिणायन और उत्तरायण), तत्—तो, ये—जो, ह वै—निश्चय मे, तत्—उस (श्रौत कर्म) को, इष्ट+आपूर्ते—स्वर्ग-साधक यज्ञ-याग आदि 'इष्ट' और कूप-वापी-तडाग-धर्मशाला आदि परोपकारी कार्य 'आपूर्त' को, कृतम्—कर्म या लक्ष्य, इति—ऐसा मान कर, उपासते—उपासना करते हैं, अनुष्ठान करते है, ते—वे, चान्द्रमसम्—चन्द्रमा सम्बन्धी, रयि-सम्बन्धी, भोग्य-सम्बन्धी, एव—ही, लोकम्—लोक को,

जो दक्षिणायन को छोडकर उत्तरायण-मार्ग से चलते है, जो प्रवृत्ति-मार्ग को छोड़कर निवृत्ति-मार्ग का आश्रय लेते है, वे 'तप', 'ब्रह्मचर्य', 'श्रद्धा' और 'विद्या' के सहारे आत्मा को ढूढ लेते है। जैसे 'इष्टापूर्त' के पीछे दौडने वाले 'चन्द्र-लोक' को जीत लेते है, वैसे 'आत्मा' को ढूढने वाले 'आदित्य-लोक' को जीत लेते है। चन्द्र-लोक रयि-प्रधान है, आदित्य-लोक प्राण-प्रधान है। चन्द्र-लोक दक्षिणायन (Rightists)-मार्ग है, आदित्य-लोक उत्तरायण (Leftists)-मार्ग है। चन्द्र-लोक का जीवन सकाम-जीवन है, प्रेय-मार्ग है, आदित्य-लोक का जीवन निष्काम-जीवन है, श्रेय-मार्ग है। आदित्य-लोक, उत्तरायण या आत्मा को ढूढने का मार्ग ही वह मार्ग है जिधर प्राण-शक्ति मनुष्य को खीचती है, चाहे वह उधर चले चाहे न चले, यह अमृत-मार्ग है, अभय-मार्ग है, यही परम-मार्ग है, अन्य मार्ग भटकाने वाले है। इस सीधे रास्ते पर जो चल देता है वह लौटकर नही आता, अन्य मार्गों पर चलने वाले भटक जाते है अत लौट-लौटकर इसी मार्ग पर फिर-फिर आते है, जो भटक जायगा वही तो लौटेगा। यह मार्ग 'निरोध-मार्ग है' इस पर चलने वाला आगे चलकर रुक जाता है, उसे फिर चलने की जरूरत नही रहती। ठीक मार्ग पर चलने वाले का ही

अवस्थिति को, अभिजयन्ते—जीत लेते है, पूर्णतया प्राप्त करने मे समर्थ हो जाते हैं, ते—वे, एव—ही, पुन—फिर, आवर्तन्ते—लौट आते है, जन्म-मरण के चक्र मे पडे रहते है, तस्मात्—इस कारण से, एते—ये, ऋषय—द्रष्टा, ज्ञानी, प्रजाकामा—प्रजा (पुत्र-पौत्र, धन-भोग) की कामना वाले, दक्षिणम्—दक्षिण (चातुर्य और शक्ति से सम्पन्न अयन-मार्ग) को, प्रतिपद्यन्ते—स्वीकार करते है, एष—यह, ह वै—ही, रयि—भोग-प्रधान 'रयि' (मार्ग) है, य—जो, पितृयाण—पितरो (बाप-दादा बनने वालो) का मार्ग है ॥ ९ ॥

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मान-
मन्विष्यादित्यमभिजयन्त एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभय-
मेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्लोक ॥१०॥

अथ—और, उत्तरेण—उत्तर (उत्कृष्टतम) अयन (मार्ग) मे, तपसा—तप (शरीर-नियन्त्रण) मे, ब्रह्मचर्येण—ब्रह्मचर्य (मनोनिग्रह) से, श्रद्धया—सत्य पर धारणा से, सत्य-आग्रह से, विद्यया—ज्ञान (श्रेयो मार्ग) से, आत्मानम्—अपने स्वरूप को, जीवात्मा को, अन्विष्य—ढूढ कर, जान कर,

चलना रुक सकता है, जो ठीक मार्ग पर नहीं चला वह तो चलता ही रहेगा, उसके चलने का 'निरोध' कभी नहीं होगा क्योंकि वह लक्ष्य पर कभी नहीं पहुंचेगा। सूर्य अथवा संवत्सर प्रजापति है, उसके विषय में किसी ने एक श्लोक कहा है वह यह है—॥१०॥

संवत्सर (सूर्य) एक पितर है। पांच ऋतु उसके पांच पांव हैं, बारह मास बारह आकृतियां हैं, द्यु-लोक का परला आधा हिस्सा ही उसकी पुरी है, नगरी है—वहां वह शयन कर रहा है। वह 'विचक्षण'—सबको ऊपर से देखने वाला पितर—सात चक्रों वाले, छः अरों वाले रथ पर बैठा है—ऐसा ये, वे और अन्य लोग कहते हैं। रथ के सात चक्र सूर्य की सात रंगों वाली किरणें हैं। जैसे एक-एक चक्र में अनेक अरे होते हैं वैसे एक-एक किरण में छः अरे कहे गये हैं, किरण के ये छः अरे एक-एक किरण की छः-छः सहायक किरणें हैं ॥११॥

आदित्यम्—(जीवात्मा में विद्यमान) परमात्मा को, ब्रह्मलोक को, अभिजयन्ते—जीत लेते हैं, प्राप्त कर लेते हैं। एतद्—यह (ब्रह्म, लोक या स्थिति), वै—ही, प्राणानाम्—जीवनप्रद शक्तियों का, आयतनम्—आधार, भण्डार (है), एतद्—यह ही, अमृतम्—अमर, अभयम्—भय से शून्य, एतत्—यह ही, परायणम्—सब का परम लक्ष्य (गति-मार्ग) है, एतस्मात्—इससे (इसको प्राप्त कर लेने पर), न—नहीं, पुनः—फिर, आवर्तन्ते—लौटते हैं (जन्म-मरण के चक्कर में पड़ते हैं), इति एषः—यह ही, निरोधः—रोक, विराम की स्थिति है, (इस विषय में) तद्—जो, एषः—यह (अधोनिर्दिष्ट), श्लोकः—श्लोक, उक्त (है) ॥ १० ॥

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितमिति ॥११॥

पञ्चपादम्—पांच (हेमन्त-शिशिर को एक करके) ऋतुरूपी पाद (अवयव) वाले, पितरम्—सब का पालन करने वाले, द्वादशाकृतिम्—बारह मास या राशि रूप आकृति (स्वरूप) वाले, दिवः—द्युलोक के, आहुः—बताते हैं, परे—परे, सबसे ऊपर, अर्धे—स्थान में, आधे भाग में, पुरीषिणम्—इस परार्धरूपी पुरी में शयन करने वाले, विद्यमान, अथ—किन्तु, इमे—ये, अन्ये—दूसरे (विचारक), उ—निश्चय से, परे—श्रेष्ठ, सब से परे, विचक्षणम्—निपुण, द्रष्टा को, सप्तचक्रे—सतरंगी किरणरूप चक्र वाले, षडरे—छः ऋतुरूपी अरों वाले, आहुः—बताते हैं, अर्पितम्—विराजमान, युक्त ॥ ११ ॥

(कृष्णपक्ष, शुक्लपक्ष)

प्रजापति ने सृष्टि उत्पन्न की और 'प्राण' तथा 'रयि' को उत्पन्न किया। प्रजापति कोई व्यक्ति-विशेष नहीं है। जहां-जहां प्रजोत्पत्ति है वहां-वहां प्रजापति का ही रूप है, और वहां-वहां 'प्राण' तथा 'रयि' है। संवत्सर (सूर्य) प्रजापति है, मास भी प्रजापति है क्योंकि संवत्सर तथा मास दोनों में प्रजा की उत्पत्ति होती है। मास में कृष्ण-पक्ष है, शुक्ल-पक्ष है। कृष्ण-पक्ष 'रयि' है, शुक्ल-पक्ष 'प्राण' है। इसीलिए ऋषि लोग शुक्ल-पक्ष में ही यज्ञ-याग आदि करते है, क्योंकि शुक्ल-पक्ष 'प्राण' का प्रतिनिधि है, दूसरे लोगों के काम कृष्ण-पक्ष में होते है जो 'रयि' का प्रतिनिधि है। 'प्राण' का उपासक अपने जीवन में हर समय शुक्ल-पक्ष बनाये रखता है, 'रयि' का उपासक हर समय कृष्ण-पक्ष में रहता है ॥१२॥

दिन-रात भी प्रजापति के ही रूप है इसलिये इसमें भी 'प्राण' तथा 'रयि' है। दिन 'प्राण' है, रात 'रयि' है। दिन में जो रति करते है उनके प्राण सूख जाते है, रात में जो रति करते है वे मानो ब्रह्मचर्यपूर्वक ही रहते है क्योंकि रात्रि 'रयि' है, और रति तो 'रयि' है ही—रयि के रयि के साथ मेल से हानि नहीं होती ॥१३॥

मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयि।
शुक्ल प्राणस्तस्मादेते ऋषय शुक्ल इष्ट कुर्वन्तीतर इतरस्मिन् ॥१२॥

मास वै प्रजापति—मास ही प्रजापति है, तस्य—उस (मास) का, कृष्णपक्ष—कृष्ण पक्ष, एव—ही, रयि—भोग्य-शक्ति है, शुक्ल—शुक्लपक्ष, प्राण—प्राणरूप, भोक्ता, जीवनदाता (है), तस्माद्—उस कारण से, एते—ये, ऋषय—ज्ञानी द्रष्टा लोग, शुक्ले—शुक्ल पक्ष मे, जीवन-प्रद समय मे, इष्टम्—अभीष्ट कर्म को, यज्ञ को, कुर्वन्ति—करते है, इतरे—दूसरे (अज्ञानी, बेसमझ), इतरस्मिन्—दूसरे (कृष्णपक्ष—अननुकूल समय) मे ॥ १२ ॥

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव
रयि प्राण वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या सयुज्यन्ते
ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या सयुज्यन्ते ॥१३॥

अहोरात्रो वै प्रजापति—वस्तुत अहोरात्र (दिन रात) ही प्रजापति है, तस्य—उस (दिन-रात) का, अह—दिन, एव—ही, प्राण—प्राण-शक्ति है,

अन्न भी प्रजापति का ही रूप है। अन्न से ही वीर्य उत्पन्न होता है। उसी से प्रजा उत्पन्न होती है ॥१४॥

जो प्रजापति-व्रत करते हैं वे पुत्र-पुत्री अर्थात् सन्तानोत्पत्ति करते हैं। वे दक्षिणायन, रयि-मार्ग, पितृयाण, प्रवृत्ति-मार्ग के पथिक हैं। ब्रह्म-लोक तो उनका है जो 'तप', 'ब्रह्मचर्य' तथा 'सत्य' में निष्ठ हैं। वे उत्तरायण, प्राण-मार्ग, देवयान, निवृत्ति-मार्ग के पथिक हैं ॥१५॥

शुद्ध, निर्मल ब्रह्म-लोक तो उनका है जिनमें कुटिलता नहीं, अनृत नहीं, माया नहीं ॥१६॥

रात्रि एव—रात ही, रयि—भोग्य शक्ति, प्राणम्—प्राण (जीवन-शक्ति) को, वै—निश्चय में, एते—ये लोग, प्रस्कन्दन्ति—गिरा देते हैं, क्षीण करते हैं, ये—जो, दिवा—दिन में, रत्या—रति (मैथुन-कर्म) से, संयुज्यन्ते—संलग्न होते हैं, (रत्या संयुज्यते—मैथुन-कर्म करते हैं), ब्रह्मचर्यम् एव—ब्रह्मचर्य ही (है), तद्—वह, यद्—जो, रात्रौ—रात्रि में, रत्या संयुज्यन्ते—मैथुन-कर्म करते हैं ॥ १३ ॥

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥१४॥

अन्नम् वै प्रजापतिः—अन्न ही प्रजापति है, ततः—उस अन्न से, ह वै—ही, तद्—वह, रेतः—वीर्य (बनता) है, तस्माद्—उस (वीर्य) से, इमाः—ये, प्रजाः—चर सृष्टि, प्राणधारी, प्रजायन्ते—उत्पन्न होते हैं, इति—यह ॥१४॥

तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते।
तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

तद्—तो, ये—जो, ह वै—ही, तत्—उस (पूर्वोक्त), प्रजापति-व्रतम्—प्रजापति (संवत्सर, मास, अहोरात्र एवं अन्न रूप) के व्रत का, चरन्ति—आचरण करते हैं, पालन करते हैं, ते—वे (गृहस्थ), मिथुनम्—पुत्र-पुत्रीरूप युग्म को, उत्पादयन्ते—उत्पन्न करते हैं, (परन्तु) तेषाम्—उनका, एव—ही, एषः—यह, ब्रह्मलोकः—ब्रह्म-धाम, मोक्ष, येषाम्—जिनका (में), तपः—तप, ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्मचर्य (इन्द्रिय एवं मन का निग्रह) है, येषु—जिनमें, सत्यम्—सत्य, प्रतिष्ठितम्—प्रतिष्ठा पाता है, (सत्यं प्रतिष्ठितम्—सत्य-प्रतिष्ठा—श्रद्धा है) ॥ १५ ॥

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ॥१६॥

तेषाम्—उनका (ही), असौ—यह, विरजः—रजोगुण से रहित, निर्मल, शुद्ध, ब्रह्मलोकः—ब्रह्म-धाम, मोक्ष (है), न—नहीं, येषु—जिनमें, जिह्मम्—

द्वितीय प्रश्न

सृष्टि का 'धारण'-'प्रकाशन' करने वाली 'मुख्य-शक्ति' प्राण ही है

कत्य के पुत्र कबन्धी के प्रश्न के बाद भृगु-गोत्र में उत्पन्न वैदर्भि पिप्पलाद ऋषि से पूछने लगा—"भगवन् ! प्रजा किससे 'उत्पन्न' होती है, इस प्रश्न का तो आपने उत्तर दे दिया। अब कृपा करके यह बतलाइये कि उत्पन्न होने के बाद इस प्रजा का कौन देव 'धारण' करते हैं, कौन इस प्रजा को 'प्रकाशित' करते हैं, इन देवों में कौन सबसे 'मुख्य' है ? सृष्टि का 'धारण' किस शक्ति से है, किस शक्ति के कारण यह सृष्टि टिकी हुई है ? सृष्टि का 'प्रकाशन' किस शक्ति से है, किस शक्ति के कारण यह सृष्टि अपने वर्तमान विकसित स्वरूप में पहुंची है ? अगर इस प्रकार की अनेक शक्तियां हैं तो उनमें 'मुख्य' कौन-सी है ?" ॥१॥

पिप्पलाद ऋषि ने उत्तर दिया—सृष्टि दो प्रकार की है—जड़ और चेतन। इन दोनों को 'बाण' कहा जाता है। 'बाण' का अर्थ है,

---

कुटिलता, अनृतम्—असत्य, न—नहीं, माया—माया—छल-प्रपंच, मिथ्याचार, च—और, इति—यह ॥ १६ ॥

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ, भगवन्कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते, कतर एतत्प्रकाशयन्ते, कः पुनरेषां वरिष्ठ इति ॥१॥

अथ—इसके बाद, ह—निश्चय से, एनम्—इस (पिप्पलाद ऋषि) को, भार्गव—भृगुकुलोत्पन्न, वैदर्भि—वैदर्भि ने, पप्रच्छ—पूछा, भगवन्—हे पूजनीय महर्षे !, कति—कितने, एव—ही, देवा—देवता, दिव्य गुण वाली शक्तियाँ, प्रजाम्—उत्पन्न जगत् को, विधारयन्ते—धारण करते हैं, कतरे—कौन-से, एतत्—इसको, प्रकाशयन्ते—प्रकाशित करते हैं, इसका ज्ञान कराते हैं, क—कौन, पुन—फिर, एषाम्—इनका (में), वरिष्ठ—मुख्य, श्रेष्ठ (है), इति—यह (पूछा) ॥ १ ॥

तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद् बाणमवष्टभ्य विधारयामः ॥२॥

तस्मै—उस (वैदर्भि) को, स ह—उस (पिप्पलाद ऋषि) ने, उवाच—कहा, आकाश—आकाश, ह वै—निश्चय से, एष—यह (जगत् का धर्ता),

'वा+अन' अर्थात् जिसका जीवन निश्चित न हो, जो है, और न भी रहे। सस्कृत मे 'अन' का अर्थ है—'प्राण', 'वा' का अर्थ है—'शायद'। इस वाण-रूप जड-चेतन सृष्टि को कोई इस प्रकार धारण करता है जैसे छप्पर को नीचे से गिरने से एक बल्ली रोके रहती है, अपने ऊपर टिकाये रखती है। 'ब्रह्माड' के जड-जगत् के विषय मे आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी एक-दूसरे से झगड़ने लगे और कहने लगे कि हम इसका धारण कर रहे हैं, 'पिड' के चेतन-जगत् के विषय मे वाणी, मन, चक्षु तथा श्रोत्र झगडने लगे, और जोर-जोर से कहने लगे कि हम इसका धारण कर रहे हैं ॥२॥

इन्हे झगडते देखकर सर्व-श्रेष्ठ 'प्राण' ने कहा—मूर्खता मे मत पड़ो। मै अपने को पाच भागो मे विभक्त करके 'वाण' रूप जड-चेतन जगत् को जैसे छप्पर को बल्ली धारण करती है वैसे धारण कर रहा हू (केन ३, बृहदा० १-३, ३-१) ॥३॥

देव—देव, वायु—वायु, अग्नि—अग्नि, आप—जल, पृथिवी—पृथिवी (ये पच महाभूत जगत् का धारण कर रहे हैं), वाङ्—वाणी, रसना, मन—मन, अन्त करण, चक्षु—आँख, श्रोत्रम्—कान, च—और (ये ज्ञान-कर्म-इन्द्रियाँ दस और ग्यारहवाँ मन इस जगत् के प्रकाशक हैं), ते—वे देवता, प्रकाश्य—(जगत् को) प्रकाशित करके, अभिवदन्ति—आपस मे कहते है, झगडने लगे, वयम्—हम, एतद्—इस, बाणम्—उत्पन्न जगत् रूपी छप्पर को, अवष्टभ्य—सहारा देकर, थाम कर, विधारयाम—धारण करते है ॥२॥

तान्वरिष्ठ प्राण उवाच, मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मान
प्रविभज्यैतद्वाणमवष्टभ्य विधारयामीति । तेऽश्रद्दधाना बभूवु ॥३॥

तान्—उन (इन्द्रियो) को, वरिष्ठ—उनमे मुख्य, प्राण—प्राण ने, उवाच—कहा, मा—मत, मोहम्—अज्ञान को, मूर्खतामय अभिमान को, आपद्यथ—प्राप्त हो, पडो, अहम्—मैं, एव—ही, एतद्—इस को, पञ्चधा—पाँच प्रकार से (रूप मे), आत्मानम्—अपने आपको, प्रविभज्य—विभक्त करके, एतद्—इस, वाणम्—छप्पर को, अवष्टभ्य—थाम कर, विधारयामि—धारण करता हू, इति—यह (बात कही), ते—वे (इन्द्रियादि), अश्रद्-दधाना—अविश्वासी, बभूवु—हुए, (अश्रद्दधाना बभूवु—विश्वास न किया, बात न मानी) ॥३॥

'ब्रह्माण्ड' के जड-जगत् के पृथिवी-जल आदि पांचो महाभूतो ने और 'पिंड' के चेतन-जगत् की पाचो इन्द्रियो ने 'प्राण' की इस बात में अश्रद्धा प्रकट की, मानने से हिचकिचाहट दिखलाई। प्राण भी अपना अभिमान रोक न सका। वह उत्क्रमण करने ही लगा, निकलने ही लगा कि दूसरे सब भी निकलते नजर आने लगे, वह ठहर गया तो दूसरे भी सब ठहर गये। जैसे शहद की मक्खियो की रानी-मक्खी (Queen bee) के उड जाने पर सब मक्खिया उड जाती है उसके बैठ जाने पर सब बैठ जाती है, इसी प्रकार 'ब्रह्माण्ड' के पांचो महाभूत तथा 'पिंड' की पाचो इन्द्रिया प्रीति-पूर्वक प्राण की स्तुति करने लगीं ॥४॥

प्राण ही अग्नि के रूप में ताप दे रहा है, प्राण ही सूर्य के रूप में प्रकाश दे रहा है, प्राण ही बादल के रूप में जल बरसा रहा है,

---

सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्त सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एव वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्र च ते प्रीता प्राण स्तुन्वन्ति ॥४॥

स—वह (प्राण), अभिमानात्—आत्माभिमान के कारण, ऊर्ध्वम्—ऊपर, उत्क्रमते—उछलता है, निकलता है, इव—मानो, तस्मिन् उत्क्रामति—उसके निकलने पर, अथ—फिर, इतरे—दूसरे, सर्वे—सारे (देव), एव—ही, उत्क्रामन्ते—बाहर निकल जाते है, तस्मिन्—उसमे (के), च—और, प्रतिष्ठमाने—प्रतिष्ठित होने पर, पुन आ जाने पर, सर्वे एव—सारे ही, प्रातिष्ठन्ते—ठहर जाते है, तत्—तो, यथा—जैसे, मक्षिका—मक्खियाँ, मधुकरराजानम्—शहद की रानी मक्खी के, उत्क्रामन्तम्—उड जाती हुई को (देखकर), सर्वा एव—सारी ही, उत्क्रामन्ते—उड जाती है, तस्मिन् च प्रतिष्ठमाने—और उस (रानी-मक्खी) के बैठ जाने पर, सर्वा एव—सारी ही, प्रातिष्ठन्ते—बैठ जाती है, एवम्—इस ही प्रकार, वाक्—वाणी, मन—मन, चक्षु—आँख, श्रोत्रम्—कान, च—और, प्रीता—प्रसन्न हुए-हुए, प्राणम्—प्राण को (की), स्तुन्वन्ति—स्तुति करते है ॥४॥

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष
वायुरेष पृथिवी रयिर्देव सदसच्चामृत च यत् ॥५॥

एष—यह प्राण ही, अग्नि—आग (रूप मे), तपति—तप रहा है,

प्राण ही धन के रूप में दान दे रहा है, प्राण ही वायु के रूप में जीवन दे रहा है, प्राण ही पृथिवी के रूप मे आश्रय दे रहा है, प्राण ही रयि के रूप मे भोग्य-जगत् को उत्पन्न कर रहा है। ससार में जो मरण-धर्मा 'सत्-असत्' है, जो अमरण-धर्मा 'अमृत' है—सब प्राण है ॥५॥

(इस दृष्टि से 'प्राण' ही के सहारे 'रयि' टिकी हुई है। रयि मे जो भोग्य-शक्ति है वह प्राण द्वारा ही निहित है। भोग्य न हो, तो भोक्ता हो सकता है, भोक्ता न हो, तो भोग्य नही हो सकता, 'रयि' न हो, तो 'प्राण' रह सकता है, 'प्राण' न हो, तो 'रयि' नही रह सकती। भोक्ता की ही यथार्थ सत्ता है, भोग्य की नही। प्रथम प्रश्न मे 'प्राण' तथा 'रयि' की स्थापना करने के वाद इस प्रश्न मे ऋषि कहते है कि इन दोनो मे मुख्यता 'रयि' की नही, 'प्राण' की, अर्थात् भोक्ता की है।)

रथ के चक्र की नाभि में जैसे अरे जुडे रहते है, वैसे प्राण मे सब स्थित है। ऋक्, यजु, साम—अर्थात् सम्पूर्ण 'ज्ञान-काड' एव यज्ञ—अर्थात् सम्पूर्ण 'कर्म-कांड' प्राण की साधना के लिये ही है। ससार को थामने वाली भौतिक-शक्ति 'क्षत्र' है, आत्मिक-शक्ति 'ब्रह्म' है। ये दोनो भी प्राण-शक्ति पर ही आश्रित है ॥६॥

एष—यह, **सूर्य**—सूर्य (रूप मे,) **एष**—यह, **पर्जन्य**—वादल (रूप मे), **मघवान्**—धनदाता, इन्द्र, **एष**—यह, **वायु**—वायु (रूप मे), **एष**—यह, **पृथिवी**—पृथ्वी (रूप मे), **रयि**—भोग्य-जगत् (रूप मे), **देव**—देव, **सत्**—सत्तावान् (अविनाशी), **असद्**—विनाशी, **च**—और, **अमृतम्**—अमर, **च**—और, **यत्**—जो कुछ (भी है सब प्राण ही है) ॥५॥

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञ क्षत्र ब्रह्म च ॥६॥

अरा—अरो (की), **इव**—तरह, **रथनाभौ**—रथ के पहिये की नाभि मे, **प्राणे**—प्राण मे, **सर्वम्**—सव कुछ, **प्रतिष्ठितम्**—प्रतिष्ठित है, स्थित है, **ऋच**—ऋग्वेद, **यजूंषि**—यजुर्वेद, **सामानि**—सामवेद, **यज्ञ**—शुभ कर्म, **क्षत्रम्**—क्षात्र भाव (भौतिक शक्ति), **ब्रह्म**—ज्ञान (आत्मिक-शक्ति), **च**—और ॥६॥

हे प्राण ! तू प्रजापति का रूप है। गर्भ में तू ही विचरण करता है, उत्पन्न होने पर तू ही उत्पन्न होता है। हे प्राण ! सम्पूर्ण प्रजाए उपहार ला-लाकर तेरे ही चरणो में रखती है। तू ही अपनी भिन्न-भिन्न प्राण-शक्तियो के द्वारा जड-चेतन-जगत् को थामे हुए है ॥७॥

हे प्राण ! 'देवो' (गुणो से बड़ो) मे तू अग्नि से भी अधिक दिव्य-गुणो वाला है, 'पितरो' (आयु से बडो) मे किसी पिता के सन्तान उत्पन्न होने पर उसे जो पहला उल्लास होता है वह तू ही है, अथर्वांगिरस् 'ऋषियो' (गुण तथा आयु दोनो से बडो) का जो सत्य-चरित्र है वह भी तू ही है ॥८॥

हे प्राण ! अपने तेज से तू ही 'इन्द्र' है, अपने रक्षण से तू ही 'रुद्र' है, तू ही ससार की ज्योतियो के स्वामी 'सूर्य' के रूप मे अन्तरिक्ष में विचरण कर रहा है ॥९॥

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे।
तुभ्य प्राण प्रजास्त्विमा वलिं हरन्ति य प्राणै प्रतितिष्ठसि ॥७॥

प्रजापति—प्रजापति (के रूप मे), **चरसि**—विचरण करता है, **गर्भे**—गर्भ मे, **त्वम् एव**—तू ही, **प्रतिजायसे**—(माता-पिता का) प्रतिरूप उत्पन्न होता है, **तुभ्यम्**—तुझे, **प्राण**—हे प्राण, **प्रजा**—प्रजाए, **तु**—तो, **इमा**—ये, **वलिम्**—उपहार, **हरन्ति**—लाती है (भेट करती है), **य**—जो (तू), **प्राणै**—प्राण-शक्तियो द्वारा, **प्रतितिष्ठसि**—प्रतिष्ठित हो रहा है ॥७॥

देवानामसि वह्नितम पितॄणा प्रथमा स्वधा।
ऋषीणा चरित सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ॥८॥

देवानाम्—देवताओ (गुण-वृद्ध या ज्ञान-वृद्ध) मे, **वह्नितम**—वाहक (प्रापक) अग्नि (देव) मे बढ कर है, **पितॄणाम्**—पितरो (आयु-वृद्ध) जनो मे, **प्रथमा**—प्रथम, मुख्य, **स्वधा**—उल्लास, आत्मनिर्भरता, अन्न, **ऋषीणाम्**—क्रान्तद्रष्टा, दूरदर्शी, गुण-आयु दोनो मे वृद्ध (युक्त), **चरितम्**— आचरण, सदाचार, **सत्यम्**—सत्य-चरित्र, समीचीन, **अथर्वाङ्गिरसाम्**—अथर्व (निश्चल, अपने ध्येय पर दृढ) और अङ्गिरस् (ज्ञान-सम्पादन मे तत्पर), **असि**—है ॥८॥

इन्द्रस्त्व प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्व ज्योतिषा पति ॥९॥

इन्द्र—सकलैश्वर्यसम्पन्न, प्रभु, **त्वम्**—तू, **प्राण**—हे प्राण, **तेजसा**—तेज से, **रुद्र**—रुद्र, **असि**—है, **परिरक्षिता**—रक्षा करनेवाला, **त्वम्**—तू,

हे प्राण ! जब तू वर्षा करता है तब आनन्द से विभोर तेरी प्रजाए सब-तरफ खडी मन-ही-मन कह उठती है, अब भरपूर अन्न होगा ॥१०॥

हे प्राण ! नीच-से-नीच पुरुष---'व्रात्य'---तेरा ही रूप है, उच्च-से-उच्च---एकमात्र 'ऋषि'---भी तेरा ही रूप है, तू ससार का 'अत्ता' है, भोक्ता है, हम तेरे 'आद्य' को, भोग्य को पहुचाने वाले हैं---तू भोक्ता और हम भोग्य है, तू विश्व का पति है; प्राण-रूप दीखने वाली वायु का भी तू ही पिता है ॥११॥

हे प्राण ! तेरा जो रूप वाणी में जाकर ठहरा हुआ है, जो श्रोत्र और जो चक्षु में है, तेरा जो रूप मन में फैल रहा है, उसे कल्याण-कारी बना, उत्क्रमण मत कर---मेरी प्राण-शक्ति का किसी अग में ह्रास न हो ॥१२॥

अन्तरिक्षे---आकाश मे, चरसि---विचरण कर रहा है, सूर्य---सूर्य, त्वम्=तू, ज्योतिषाम्---प्रकाशको---नक्षत्र-अग्नि-विद्युत्---का, पति---स्वामी ॥९॥

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमा प्राण ते प्रजा ।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्न भविष्यतीति ॥१०॥

यदा---जब, त्वम्---तू, अभिवर्षसि---वर्षा करता है, अथ---तो, इमा---ये, प्राण---हे प्राण ! ते---तेरी, प्रजा---प्रजाए (जड-चेतन उत्पन्न भूत), आनन्दरूपा---आनन्दमग्न, तिष्ठन्ति---हो जाती है, स्थिर (निश्चिन्त) हो जाती है, कामाय---यथेच्छ, प्रभूत, अन्नम्---अन्न, भविष्यति---होगा, इति---यह (सोचकर) ॥१०॥

व्रात्यस्त्व प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पति ।
वयमाद्यस्य दातार पिता त्व मातरिश्वन ॥११॥

व्रात्य---पतित, सस्कारहीन, त्वम्---तू, प्राण---हे प्राण !, एकऋषि---अद्वितीय ज्ञानी (सस्कारक), अत्ता---भोक्ता या प्रलयकर्ता, विश्वस्य---सब का, जगत् का, सत्पति---श्रेष्ठ या सर्वदा विद्यमान पति---भरण करने वाला, वयम्---हम, आद्यस्य---भक्ष्य के, भोग्य के, दातार---देनेवाले, पहुचानेवाले, पिता---पालक, त्वम्---तू, मातरिश्वन---वायु का ॥११॥

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि ।
या च मनसि सतता शिवा ता कुरु मोत्क्रमी ॥१२॥

या---जो, ते---तेरा, तनू---शरीर, रूप, वाचि---वाणी मे, प्रतिष्ठिता---स्थित है, या---जो, श्रोत्रे---कान मे, या---जो, च---और, चक्षुषि

पृथिवी, द्यु तथा अन्तरिक्ष—इन तीनों लोकों में जो-कुछ भी स्थित है, सब प्राण के ही वश में है। हे प्राण! जैसे माता पुत्र की रक्षा करती है, ऐसे ही तू हमारी रक्षा कर। हमें 'श्री'—भौतिक-ऐश्वर्य—तथा 'प्रज्ञा'—मानसिक तथा आत्मिक ऐश्वर्य—का प्रदान कर ॥१३॥

तृतीय प्रश्न

प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान का पिंड तथा ब्रह्मांड में रूप

द्वितीय प्रश्न में यह बताया कि प्रजा, अर्थात् जो-कुछ उत्पन्न हुआ है, उसे 'रयि' नहीं, 'प्राण' धारण करता है, उसका प्राण ही प्रकाशन करता है, प्राण ही सब में मुख्य है। यह सुनने के बाद अश्वल का पुत्र कौशल्य पिप्पलाद ऋषि से पूछने लगा—"भगवन्! यह 'प्राण' जो सब उत्पन्न हुए पदार्थों को धारण करता है, स्वयं कहां से उत्पन्न होता है? इस शरीर में यह किस प्रकार आता है? अपने भिन्न-

---

—आँख में, या च—और जो, मनसि—मन में, सतता—फैला है, शिवाम्—कल्याणकारी, शान्त, मंगलरूप, ताम्—उसको, कुरु—कर, मा—मत, उत्क्रमी—(हमें छोड़ कर) बाहर निकल ॥१२॥

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति ॥१३॥

प्राणस्य—प्राण के, इदम्—यह, वशे—वश में, अधीन, सर्वम्—सब-कुछ, त्रिदिवे—तीनों लोकों में, स्वर्ग में, अन्तरिक्ष में, यत्—जो, प्रतिष्ठितम्—स्थित है, माता+इव—माता की तरह, पुत्रान्—पुत्रों की, रक्षस्व—रक्षा कर, श्री—लक्ष्मी, शोभा, कान्ति, च—और, प्रज्ञाम्—बुद्धि को, ज्ञान-सामर्थ्य को, च—और, विधेहि—सम्पादन कर, दे, न—हमें, इति—यह (स्तुति देवताओं—इन्द्रियों—ने की) ॥१३॥

अथ हैनं कौशल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ। भगवन्कुत एष प्राणो
जायते कथमायात्यस्मिञ्छरीर आत्मानं वा प्रविभज्य कथं
प्रातिष्ठते केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति ॥१॥

अथ ह—इसके बाद, एनम्—इसको (से), कौशल्य—कौशल्य ने, च—और, आश्वलायन—अश्वल के पुत्र, पपच्छ—पूछा, भगवन्—हे आदरणीय,

भिन्न विभाग करके शरीर में किस प्रकार स्थित है ? किस प्रकार यह शरीर में से निकलता है ? बाह्य-ससार को यह प्राण किस प्रकार धारण करता है, और आत्मा को इस शरीर में यह किस प्रकार धारण करता है ?" ॥१॥

ऋषि ने उत्तर दिया—बड़े प्रश्न पूछ डाले तूने, खैर, तू ब्रह्मिष्ठ है, इसलिए तेरे प्रश्नो का उत्तर देता हू ॥२॥

जिस प्राण के विषय में तूने पूछा उसकी उत्पत्ति 'आत्मा' से होती है। जैसे पुरुष के साथ छाया लगी है इसी प्रकार 'आत्मा' के साथ 'प्राण' लगा है। पुरुष से छाया की उत्पत्ति है, आत्मा से प्राण की उत्पत्ति है। मन के किये से वह इस शरीर में आता है। मन की वासनाए ही रस्सी बनकर आत्मा को शरीर में खींच लाती हैं, आत्मा शरीर में आया नहीं कि प्राण चलने लगा ॥३॥

कुत—कहाँ से, किससे एष—यह (पूर्ववर्णित), प्राण—प्राण, जायते—उत्पन्न होता है कथम्—कैसे, आयाति—आता है, अस्मिन्—इस, शरीरे—शरीर में, आत्मानम्—अपने आपको, वा—या, प्रविभज्य—विभक्त करके, कथम्—कैसे, प्रातिष्ठते—स्थित होता है, केन—किस प्रकार, उत्क्रमते—निकलता है, कथम्—कैसे, बाह्यम्—बाहर होने वाले अधिभूत और अधिदैवत को, अभिधत्ते—धारण करता है या कहता है (प्रकाशित करता है), कथम्—किस प्रकार, अध्यात्मम्—आत्मा को, इति—यह (पूछा) ॥१॥

तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि ॥२॥

तस्मै—उस (कौशल्य) को, स ह—उसने, उवाच—कहा, अति-प्रश्नान्—बहुत से प्रश्नों को अथवा प्रश्न-कोटि में न आने वाले (केवल अनुभव के विषय) प्रश्नों को, पृच्छसि—तू पूछ रहा है, ब्रह्मिष्ठ—ब्रह्मज्ञान में तत्पर, ब्रह्मज्ञानी, असि—तू है, इति—अत, तस्मात्—उस कारण से, ते—तुझे, अहम्—मैं, ब्रवीमि—उपदेश करता हू, उत्तर देता हू ॥२॥

आत्मन एष प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे
छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे ॥३॥

आत्मन—आत्मा से, एष—यह, प्राण—प्राण, जायते—उत्पन्न होता है, यथा—जैसे, पुरुषे—पुरुष में (के साथ रहने वाली), छाया—छाया, एतस्मिन्—इस (आत्मा) में, एतद्—यह (प्राणतत्त्व), आततम्—फैला,

जैसे सम्राट् अपने अधीन कर्मचारियो को अपने-अपने काम मे नियुक्त करता है, किसी को इस तथा किसी को उस ग्राम मे अधिष्ठाता बनाता है, इसी प्रकार यह प्राण अन्य प्राणो को पृथक्-पृथक् अपने-अपने काम में नियुक्त करता है ।।४।।

गुदा तथा उपस्थ भाग में 'अपान'—'अप+आन'—नीचे की तरफ जीवन—(Alimentary system), चक्षु-श्रोत्र-मुख-नासिका में स्वय 'प्राण'—'प्र+आन'—(Respiratory system), शरीर के मध्य भाग मे 'समान'—'सम+आन'—(Digestive system) प्रतिष्ठित होता है। समान द्वारा ही शरीर में आहुति के रूप में पडा हुआ अन्न

साथ लगा, **मनोकृतेन**—मन द्वारा (मन की प्रेरणा से) किये हुए कर्म से, **आयाति**—आता है, **अस्मिन्**—इस, **शरीरे**—शरीर मे ।।३।।

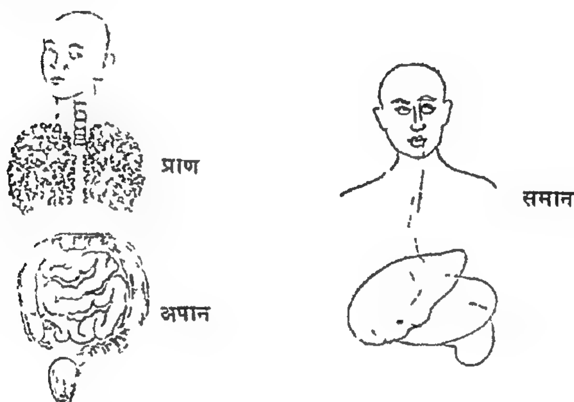
यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते एतान्ग्रामानेतान्ग्रामान-
धितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण इतरान्प्राणान्पृथक्पृथगेव संनिधत्ते ।।४।।

यथा—जैसे, **सम्राट्**—चक्रवर्ती राजा, **अधिकृतान्**—अपने अधीन कर्मचारियो को, **विनियुङ्क्ते**—नियुक्त करता है, **एतान्**—इन, **ग्रामान्**—ग्रामो को, **एतान्**—इन, **ग्रामान्**—ग्रामो को, **अधितिष्ठस्व**—अधिकार मे रक्खो, अधिष्ठाता (अध्यक्ष-प्रबन्धक) बनो, **इति**—ऐसे, **एवम् एव**—ऐसे ही, **एष**—यह, **प्राण**—प्राण, **इतरान्**—दूसरे, **प्राणान्**—(अपान आदि) प्राणो को, **पृथक् पृथग् एव**—पृथक्-पृथक् ही (यथास्थान), **संनिधत्ते**—रखता है, नियुक्त करता है ।।४।।

पायूपस्थेऽपान चक्षु श्रोत्रे मुखनासिकाभ्या प्राण स्वय प्रातिष्ठते मध्ये तु
समान । एष ह्येतद्धुतमन्न सम नयति तस्मादेता सप्तार्चिषो भवन्ति ।।५।।

पायूपस्थे—गुदा और मूत्रेन्द्रिय मे, **अपानम्**—अपान को, **चक्षु श्रोत्रे**—आँख और कान, **मुख-नासिकाभ्याम्**—मुख और नासिका द्वारा (मे), **प्राण**—(सम्राड् रूपी) प्राण, **स्वयम्**—खुद, अपने आप, **प्रातिष्ठते**—स्थित है, **मध्ये तु**—(पायूपस्थ और चक्षु श्रोत्र के) बीच मे तो, **समान**—'समान' नामक तीसरा प्राणभेद, **एष**—यह 'समान' प्राण, **हि**—ही, **हुतम्**—ग्रहण किये हुए (जठराग्नि मे डाले हुए), **अन्नम्**—खान-पान को, **समम्**—समान, एक बराबर, **नयति**—ले जाता है, (**सम नयति**—सब को समान रूप से बाटता है), **तस्मात्**—उस कारण से ही, **एता**—ये, **सप्त**—सात (दो आँख, दो कान, दो नाक और एक मुख या जिह्वा), **अर्चिष**—प्रदीप्त ज्वालाए, अपने कार्य मे समर्थ, **भवन्ति**—होती है ।।५।।

सम करके—एक-रस बनाकर—सब जगह पहुचाया जाता है जिससे शरीर में सात ज्योतिया जग उठती है। दो आख, दो नाक, दो कान तथा एक मुख—ये सात शरीर की ज्योतिया है जिन्हें समान द्वारा रस मिलता है ॥५॥

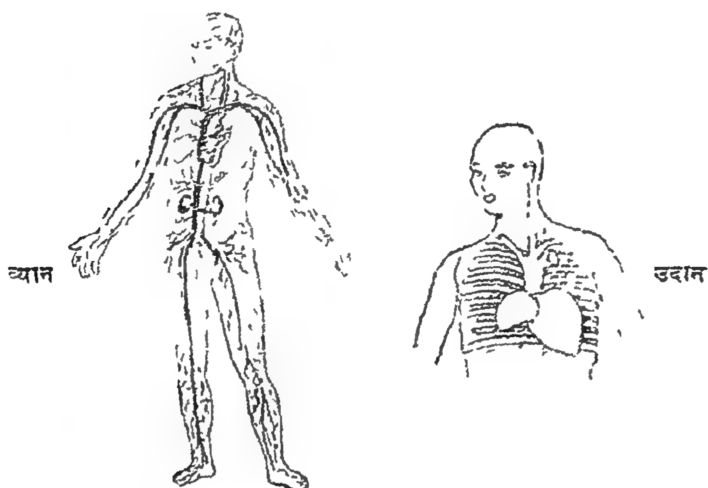


आत्मा का निवास हृदय मे है। इस हृदय के साथ मुख्य-मुख्य १०१ नाडिया है। इनमें से एक-एक से सौ-सौ शाखाए फूटी है। उन शाखाओ मे भी एक-एक से बहत्तर-बहत्तर हजार प्रतिशाखाए फूटी है। हृदय से लेकर इस सम्पूर्ण 'रक्त-सचारिणी-सस्थान' (Circulatory system) में 'व्यान'—'वि+आन'—विचरता है (कठ ६-१६, छान्दोग्य ८-६, बृहदा० ४-२-३) ॥६॥

हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशत नाडीना तासा शत शतमेकैकस्या द्वासप्ततिर्द्वासप्तति प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥६॥

हृदि हि—हृदय मे ही, एष आत्मा—यह आत्मा (जीव) स्थित है, अत्र—इस हृदय मे ही, एतद्—यह, एकशतम्—एकोत्तर शत (एक सौ एक), नाडीनाम्—नाडियो की (सख्या है), तासाम्—उन (एक सौ एक) की, शतम् शतम्—सौ-सौ, एकैकस्याम्—एक-एक (मूल) नाडी मे (शाखा होती है), द्वा-सप्तति द्वासप्तति—बहत्तर-बहत्तर, प्रतिशाखानाडी-सहस्राणि—प्रत्येक शाखा (नाडी की) एक हजार, (द्वासप्तति द्वासप्तति प्रतिशाखानाडीसहस्राणि—प्रत्येक शाखा नाडी मे बहत्तर हजार प्रतिशाखा-नाडियाँ), भवन्ति—होती है, आसु—इनमे, व्यान—'व्यान' नामक प्राण-भेद, चरति—विचरण करता है, फिरता है ॥६॥

(अनेक अध्यात्मशास्त्रियों का कथन है कि उपनिषद् में 'नाडी' का अर्थ 'नर्व' या 'आर्टरी' आदि न होकर सूक्ष्म-शरीर की अदृश्य नाडियों से है जिनका संबंध चक्रों से है। इन चक्रों का वर्णन तांत्रिक ग्रन्थों में पाया जाता है।)



हृदय से एक नाडी (Carotid artery) ऊर्ध्व-देश को, मस्तिष्क को जाती है। उसमें 'उदान'–'उद्+आन'–ऊपर या नीचे की तरफ जीवन—रहता है। पुण्य कार्य करने से हृदय में बैठे हुए आत्मा को उदान 'पुण्य-लोक' में ले जाता है, पाप-कर्म करने से आत्मा को उदान

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति
पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥७॥

अथ—और, एकया—एक (ऊपर मस्तिष्क की ओर जाने वाली 'सुषुम्णा' नाडी) से, ऊर्ध्व—ऊपर उठता हुआ, उदान—'उदान' नामक प्राण-भेद, **पुण्येन**—पुण्य (सुकृत) कर्म करने से, **पुण्यम्**—पुण्य (श्रेष्ठ-उच्च), **लोकम्**—लोक को, स्थान को, गति को, योनि को, **नयति**—प्राप्त कराता है, **पापेन**—पाप (दुष्कृत) कर्म करने से, **पापम्**—नीच, अधम (योनि) को, **उभाभ्याम्**—दोनों (पुण्य-पापमय) कर्मों के करने से, **एव**—ही, **मनुष्य-लोकम्**—मनुष्य-योनि को (प्राप्त कराता है) ॥७॥

'पाप-लोक' मे ले जाता है, दोनो प्रकार के कर्म करने से आत्मा को उदान 'मनुष्य-लोक' मे ले जाता है (तैत्तिरीय १-६, ऐतरेय १-३-१२) ॥७॥

('आन' अन प्राणने धातु से घञ् प्रत्यय लगने पर सिद्ध होता है---'आन' का अर्थ हुआ 'जीवन-क्रिया'।)

'पिंड' मे प्राणापान आदि का वर्णन करने के अनन्तर अब 'ब्रह्माड' मे प्राणापान आदि का वर्णन करते है। बाह्य-जगत् मे प्राण ही आदित्य-रूप होकर उदय होता है। आदित्य की प्राण-शक्ति ही चक्षु की प्राण-शक्ति को अनुगृहीत करती है। चक्षु का प्राण पिंड का प्राण है, आदित्य का प्राण ब्रह्माड का प्राण है। चक्षु इस पिंड का सूर्य है, सूर्य इस ब्रह्माण्ड का चक्षु है---दोनो मे तादात्म्य है, पृथ्वी नीचे है, वैसे प्राण ऊपर और अपान नीचे है। सूर्य के साथ 'प्राण' का सम्बन्ध है, पृथिवी के साथ 'अपान' का। पृथिवी मे जो देवता है वह पुरुष में अपान है। पृथिवी का देवता कौन है ? जो इसे नीचे की तरफ खीचता है, वही तो इसका देवता है, उसी से तो पृथिवी टिकी हुई है, नही तो सूर्य के खिचाव से उसी से जा टकराती। बाह्य-जगत् मे अपान ही गुरुत्व-रूप होकर स्थिति का कारण है। पृथिवी की अपान-शक्ति ही शरीर की अपान-शक्ति की प्रतिनिधि है। सूर्य तथा पृथिवी के बीच जो अन्तर है, इन दोनो के बीच जो आकाश है, वही समान है। वायु व्यान है ॥८॥

आदित्यो ह वै बाह्य प्राण उदयत्येष ह्येन चाक्षुष
प्राणमनुगृह्णान । पृथिव्या या देवता सैषा
पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाश स समानो वायुर्व्यान ॥ ८ ॥

आदित्य—सूर्य, ह वै—निश्चयपूर्वक, बाह्य—(पिण्ड से) बाहर का (अधिदैवत), प्राण—प्राण है, उदयति—उदित होता है, एष—यह (आदित्य रूप प्राण), हि—ही, एनम्—इस, चाक्षुषम्—नेत्र मे होने वाले (विद्यमान), प्राणम्—(शरीर-वर्ती) प्राण को, अनुगृह्णान—अनुगृहीत करता है, प्राण-शक्ति देने की कृपा करता है, पृथिव्याम्—पृथिवी मे, या—जो, देवता—दिव्य शक्ति (नीचे की ओर ले जाने वाली गुरुत्व-शक्ति), सा एषा—वह यह (पृथिवी की गुरुता) ही, पुरुषस्य—पुरुष के, मनुष्य-शरीर के,

शरीर में जैसे उदान है वैसे बाह्य-जगत् में तेज है। पिंड तथा ब्रह्मांड के पांचो प्राणों का वर्णन करने के बाद फिर पिंड की तरफ आते हुए ऋषि कहते हैं कि उदान द्वारा आत्मा शरीर से निकलता है। जब तक शरीर में तेज रहता है तब तक आत्मा उदान की सहायता से शरीर में ही रहता है। जब शरीर का तेज शांत हो जाता है तब इन्द्रियां बाहर फिरना छोडकर मन में जा टिकती हैं और मनुष्य पुनर्जन्म की तय्यारी करने लगता है। शरीर का 'उदान' बाह्य-जगत् के 'तेज' का प्रतिनिधि है। जो प्राण-शक्ति शरीर में उदान का काम करती है, वही बाह्य-जगत् में तेज का काम करती है। जैसे बाह्य-जगत् में जब तेज अस्त होने लगता है तब सारी सृष्टि मानो मर कर नये दिन की तय्यारी करने लगती है, वैसे शरीर का तेज जब शांत हो जाता है तब उदान की सहायता से आत्मा पुण्य-कर्मों के कारण पुण्य-लोक में, पाप-कर्मों के कारण पाप-लोक में, उभय-कर्मों के कारण मनुष्य-लोक में जाता है ॥९॥

मृत्यु के समय जिस प्रकार का 'चित्त' होता है, उसी प्रकार का चित्त 'प्राण' के पास पहुंचता है। प्राण अपने तेज के साथ

अपानम्—अपान को अवष्टभ्य—थाम कर गुरुत्व शक्ति देकर, (अनुगृह्णाना—अनुग्रह कर रही है—शक्ति प्रदान कर रही है), अन्तरा—(सूर्य और पृथिवी के) बीच में, यत्—जो आकाश—आकाश है, स—वह ही, समान—'समान'-नामी प्राण-भेद का अनुग्रहकर्ता है वायु—(बाह्य जगत् में) वायु ही, व्यान—'व्यान'-नामी प्राण-भेद का अनुग्रहीता है ॥८॥

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजा।
पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सपद्यमानैः ॥९॥

तेज—(बाह्य जगत् का) तेज (उष्णता, गर्मी), ह वै—ही, उदान—'उदान' नामक प्राण का अनुग्रहीता है। तस्माद्—उस कारण से, उपशान्ततेजा—जिसका तेज (गर्मी) शान्त (समाप्त) हो गया है, वह, पुनर्भवम्—पुनर्जन्म (पुनः जन्म धारण करने की स्थिति) को (प्राप्त होता है), (तब) इन्द्रियैः—इन्द्रियों द्वारा, मनसि—मन में, सपद्यमानैः—लीन होती हुई ॥९॥

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्त
सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति ॥१०॥

यच्चित्त—जैसे चित्त (संकल्प-विकल्प) वाला (होता है), तेन—उस

आत्मा के पास पहुचता है। 'प्राण' ही 'तेज', 'चित्त' और 'आत्मा' को अपने 'सकल्पो' के अनुसार के लोक में ले जाता है। ये 'तेज'-'चित्त'-'आत्मा' क्या है ? इन तीनो का 'प्राण' के साथ क्या सम्बन्ध है ? प्राण की दो शक्तिया है—शारीरिक तथा मानसिक। प्राण की शारीरिक-शक्ति उसका 'तेज' है, प्राण के तेज से ही तो शरीर क्रिया करता है। प्राण की मानसिक-शक्ति उसका 'चित्त' है, इस चित्त के द्वारा ही सकल्प-विकल्प होता है। शरीर से कूच करते समय प्राण अपने 'तेज' और 'चित्त' को साथ लेकर चलता है, परन्तु इस शरीर में रहते हुए इसका जैसा तेज और चित्त हो चुका होता है वैसे ही लोक में जा सकता है। चलते समय आत्मा भी कूच करता है क्योकि आत्मा और प्राण तो साथ-साथ ही रहते है। इस प्रकार प्राण शरीर से कूच करते हुए अपने शारीरिक (तेज), मानसिक (चित्त) तथा आत्मिक (आत्मा)—इन तीनो आधारो को साथ लेकर चल देता है। आत्मा शरीर में से निकलता जिस मार्ग से है उसे उपनिषत्कार ने 'उदान'-मार्ग कहा है। यह वह मार्ग है जो हृदय की उस नाडी मे चलता है जो मस्तिष्क में जाकर खुलती है और जिसे 'कैरोटिड आर्टरी' कहते है ॥१०॥

जो विद्वान् प्राण के सबध मे यह सब-कुछ जानता है, वह मृत्यु के बाद भी अमर हो जाता है, उसका वशोच्छेद नही होता ॥११॥

चित्त के साथ, एष—यह जीवात्मा, प्राणम्—प्राण-शक्ति को, आयाति—प्राप्त करता है, पहुँचता है, (तब) प्राण—प्राण, तेजसा—तेजस्वरूप उदान (उत्क्रमण-गति) से, युक्त—युक्त होकर, सह आत्मना—जीवात्मा के साथ, यथासकल्पितम्—चित्त के तत्कालीन सकल्प के अनुसार, लोकम्—(पाप-पुण्य-मय) योनि को, नयति—ले जाता है ॥१०॥

य एव विद्वान्प्राण वेद न हास्य प्रजा
हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोक ॥११॥

य—जो, एवम्—इस प्रकार, विद्वान्—जानने वाला, प्राणम्—प्राण को, वेद—जानता है, न—नही, ह—निश्चय से, अस्य—इसकी, प्रजा—प्रजा (सन्तति), हीयते—क्षीण होती है, (न ह अस्य प्रजा हीयते—इसका वश-उच्छेद नहीं होता, वश-परम्परा चलती रहती है), अमृत भवति—स्वयम्

प्राण के विषय मे जो यह जानता है कि इसकी उत्पत्ति कहा से होती है, इसके भिन्न-भिन्न पाच स्थान कौन-कौन से है, यह किस प्रकार ससार मे सब जगह व्याप रहा है, यह शरीर मे तथा बाह्य-जगत् में, अर्थात् पिड तथा ब्रह्माड मे किस प्रकार तादात्म्य स्थापित किये हुए है---वह अमृत को चख लेता है, अमृत को चख लेता है ।।१२।।

चतुर्थ प्रश्न

प्राण, मन, आत्मा, ब्रह्म का उत्तरोत्तर महत्त्व

प्राण कहा से उत्पन्न होता है, शरीर में कहा-कहा स्थित है, कैसे आता है, कैसे जाता है, इसका मनुष्य-शरीर तथा बाह्य-जगत् से क्या सम्बन्ध है---इन प्रश्नो के उत्तर सुनने के बाद सौर्य का पुत्र गार्ग्य पूछने लगा---"भगवन् ! कौन सोता है, कौन जागता है, कौन स्वप्न देखता है, किसे सुख होता है, यह सब किसमे प्रतिष्ठित है, कौन इन सब का आधार है ?" ।।१।।

अमर हो जाता है, तद्—तो (इस विषय मे), एष—यह, श्लोक—सूक्ति (भी है) ।।११।।

उत्पत्तिमायतिं स्थान विभुत्व चैव पञ्चधा ।
अध्यात्म चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते विज्ञायामृतमश्नुत इति ।।१२।।

उत्पत्तिम्—(प्राण की) उत्पत्ति को, **आयतिम्**—(इसके शरीर मे) आगमन को, **स्थानम्**—स्थिति (प्रतिष्ठा) को, **विभुत्वम्**—(शरीर में) व्यापकता को, **च+एव**—और ही, **पञ्चधा**—(इस प्राण के) पाँच प्रकार (के विभाग) को, **अध्यात्मम्**—शरीर के अन्दर आत्मा के साथ सम्बन्ध को, आत्मा मे, **च एव**—और ही (अधिदैवत—ब्रह्माण्ड मे प्राण की उत्पत्ति-स्थिति आदि को), **प्राणस्य**—प्राण की, **विज्ञाय**—जान कर, **अमृतम् अश्नुते**—अमरता को प्राप्त करता है—भोगता ह, **विज्ञाय अमृतम् अश्नुते**—जान कर अमरता को पाता है, **इति**—यह (श्लोक है) ।१२।।

अथ हैन सौर्यायणी गार्ग्य पप्रच्छ । भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति, कान्यस्मिन् जाग्रति, कतर एष देव स्वप्नान्पश्यति, कस्यैतत्सुख भवति, कस्मिन्नु सर्वे सप्रतिष्ठिता भवन्तीति ।।१।।

अथ ह—इसके बाद, **एनम्**—इसको (से), **सौर्यायणी**—सौर्य के पुत्र, **गार्ग्य**—गर्ग गोत्री ने, **पप्रच्छ**—पूछा, **भगवन्**—हे पूजनीय ऋषे ! , **एतस्मिन्**—इन, **पुरुषे**—मनुष्य (देह) मे, **कानि**—कौन, **स्वपन्ति**—सोते है,

पिप्पलाद ऋषि ने उत्तर दिया—सूर्य जब अस्त होने लगता है, तो सब किरणें उस तेजोमडल में सिमिट कर एक हो जाती हैं, जब वह फिर उदय होता है, वे भी दिग्दिगन्त में चल पडती हैं। इसी प्रकार, यह सब-कुछ, उस परम-देव, अर्थात् इन्द्रियों का जो मुखिया है—हमारा 'मन'—उसमें एक हो जाता है। मनरूपी सूर्य की इन्द्रिया किरणें हैं। मन के अस्त होने, अर्थात् सोने के समय, ये सिमिट कर एक हो जाती हैं, और इसी से, सोते समय पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूघता है, न चखता है, न छूता है, न बोलता है, न पकडता है, न आनन्द लेता है, न मल-मूत्र त्यागता है, न चलता है। ऐसी अवस्था में हम कहते हैं कि वह सो रहा है ॥२॥

कानि—कौन, **अस्मिन्**—इसमें, **जाग्रति**—जागते है, **कतर**—कौन-सा, **एष**—यह, **देव**—देव, **स्वप्नान्**—सपनों को, **पश्यति**—देखता है, **कस्य**—किस को, **एतत्**—यह, **सुखम्**—सुख, **भवति**—होता है, **कस्मिन्**—किसमें, **नु**—प्रश्न अर्थ में, **सर्वे**—सारे, **सम्प्रतिष्ठिता**—प्रतिष्ठित, भली प्रकार स्थित, **भवन्ति**—होते है, **इति**—यह (प्रश्न पूछा) ॥१॥

तस्मै स होवाच, यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्त गच्छत सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति ता पुन पुनरुदयत प्रचरन्त्येव ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते ॥२॥

तस्मै—उस (सौर्यायणी गार्ग्य) को, **स ह**—उसने, **उवाच**—कहा, उत्तर दिया, **यथा**—जैसे, **गार्ग्य**—हे गार्ग्य, **मरीचय**—किरणें, **अर्कस्य**—सूर्य के, **अस्तम् गच्छत**—अस्त होते हुए, **सर्वा**—सारी, **एतस्मिन्**—इस, **तेजोमण्डले**—तेज के गोले (बिम्ब) में, **एकीभवन्ति**—एक (एकत्र) हो जाती हैं, **ता**—वे (किरण) ही, **पुन**—फिर, **पुन उदयत**—फिर (दोबारा) उदय होते हुए सूर्य में, **प्रचरन्ति**—चल निकलती है, फैल पडती है, **एवम्**—इस प्रकार, **ह वै**—ही, **तत् सर्वम्**—वह (इन्द्रिय आदि) सब कुछ, **परे**—श्रेष्ठ, **देवे**—(विषयों के ज्ञापक) देव में, **मनसि**—मन में, **एकीभवति**—एक (एकत्र) हो जाता है, **तेन**—उस कारण से ही, **तर्हि**—तब, **एष पुरुष**—यह पुरुष (जीवात्मा), **न शृणोति**—नहीं सुनता, **न पश्यति**—नहीं देखता, **न जिघ्रति**—नहीं सूघता, **न रसयते**—न रस (स्वाद) लेता, **न स्पृशते**—नहीं छूता (छू कर जानता), **न अभिवदते**—नहीं बातचीत करता, **न आदत्ते**—

कौन जागता है ? जैसे नगर में पांच अग्निया सदा जला करती हैं, वैसे इस शरीर-रूपी नगरी में, पाचो प्राण-रूपी अग्निया सदा जगती रहती हैं। सोते समय भी पाचो प्राण नहीं सोते, वे चला ही करते हैं। बाह्य-जगत् मे जैसे 'गार्हपत्य' आदि पाच अग्निया हैं, वैसे शरीर में कौन-सी अग्निया हैं ? 'गार्हपत्य-अग्नि' सबकी आधार है, यह शरीर के आधार-रूप निम्न-भाग में स्थित मानो 'अपान' है, 'अन्वाहार्य-पचन-अग्नि' वह अग्नि है जो गार्हपत्य से रसोईघर मे भोजन पकाने के लिये लाई जाती है, यह मानो 'व्यान' है, 'आहवनीय-अग्नि' वह अग्नि है जो गार्हपत्य से अग्निहोत्र के लिये प्रणीत होती है, यह प्रणयन के कारण मानो 'प्राण' है ॥३॥

जिस प्रकार यज्ञ में एक-दूसरे के पीछे आहुति पर 'आहुति' पड़ती है, इसी प्रकार शरीर में 'समान' का काम उच्छ्वास तथा निःश्वास-रूपी आहुतियो को डालकर शरीर मे समता रखना है। जिस प्रकार

नही (कुछ) ग्रहण करता (पकडता), न आनन्दयते—नही आनन्द लेता, न विसृजते—नही मलो को बाहर फेंकता है, न इयायते—नही चलना-फिरना है, (तब ही) स्वपिति—(यह जीवात्मा) सोता है, इति—यह (बात), आचक्षते—(लोग) कहते है ॥२॥

प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति। गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो
व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद् गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीय प्राण ॥३॥

प्राण+अग्नय—पाँच प्राण रूप अग्नियाँ, एतस्मिन्—इस, पुरे—(पुरुष जीवात्मा के) नगर मे, जाग्रति—जागते है, गार्हपत्य—गार्हपत्य अग्नि, ह वै—ही, एष अपान—यह अपान (प्राण-भेद) है, व्यान—व्यान (प्राण-भेद), अन्वाहार्यपचन—अन्वाहार्यपचन-नामक अग्नि (है), यत्—जो, क्योंकि, गार्हपत्यात्—गार्हपत्य अग्नि से, प्रणीयते—ले जाई जाती है, प्रदीप्त की जाती है, प्रणयनात्—(इस) प्रणयन (ले जाना रूप क्रिया) के कारण ही, आहवनीय—आहवनीय अग्नि, प्राण—प्राण (प्राण) है ॥३॥

यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समान ।
मनो ह वाव यजमान इष्टफलमेवोदान
स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति ॥४॥

यद्—जो, यत, उच्छ्वास-निःश्वासौ—साँस का अन्दर आना व बाहर जाना, एतौ—इन दोनों, आहुती—आहुतियो को, समम्—समभाव से, लगा-

यज्ञ में 'यजमान' यज्ञ करता है, इसी प्रकार शरीर में 'मन' यजमान है। जिस प्रकार यज्ञ का 'इष्ट-फल' होता है, यह इष्ट-फल ही शरीर में मानो 'उदान' है। उदान ही तो आत्मा को पुण्य-लोक, पाप-लोक या मनुष्य-लोक में ले जाता है (प्रश्न ३-७)। ये ही इष्ट हैं। यह उदान मन-रूपी यजमान को दिन-दिन ब्रह्म की तरफ ले जाता है ॥४॥

(पांचों अग्नियों तथा पांच प्राणों की समता दिखाते-दिखाते ऋषि ने तीन अग्नियों तथा तीन प्राणों की—गार्हपत्य, अन्वाहार्यपचन, आहवनीय की अपान, व्यान तथा प्राण के साथ समता दिखाई, परन्तु यह दिखाते-दिखाते उनका ध्यान शरीर तथा यज्ञ की समता की तरफ चला गया। इसलिए 'समान' तथा 'उदान' की समता उन्होंने अग्नियों से करने के स्थान में यज्ञ से कर दी। शरीर मानो एक यज्ञ हो रहा है, निरन्तर यज्ञ जिसमें यजमान, आहुति, इष्ट-फल सभी हैं। बाहर के यज्ञ की अपेक्षा अन्दर का यज्ञ महान् है।)

कौन स्वप्न देखता है? स्वप्न में यह दिव्य-गुणवाला मन ही महिमा का अनुभव करता है, यह मन ही स्वप्न देखता है। जो जागते समय देखा है उसे सोते समय भी ऐसे देखता है जैसे प्रत्यक्ष देख रहा हो, जो जागते समय सुना है उसे सोते समय भी ऐसे सुनता है जैसे

तार, **नयति**—ले जाता है (करता है), **इति**—इस कारण से, **समान**—'समान' नामक प्राण-भेद कहलाता है, **मन**—मन, **वाव**—ही, **यजमान**—यज्ञ का अनुष्ठाता (है), **इष्टफलम्**—अभीष्ट फल-प्राप्ति, **एव**—ही, **उदान**—उदान है, **स**—वह उदान, **एनम्**—इस, **यजमानम्**—यज्ञकर्त्ता (मन) को, **अहरह**—प्रतिदिन, **ब्रह्म**—ब्रह्म को, **गमयति**—प्राप्त कराता है, (**ब्रह्म गमयति**—ब्रह्म की ओर ले जाता है) ॥४॥

> अत्रैष देव स्वप्ने महिमानमनुभवति, यद्दृष्ट दृष्टमनुपश्यति,
> श्रुत श्रुतमेवार्थमनुशृणोति, देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूत पुन
> पुन प्रत्यनुभवति, दृष्ट चादृष्ट च श्रुत चाश्रुत चानुभूत
> चाननुभूत च सच्चासच्च सर्व पश्यति सर्व पश्यति ॥५॥

अत्र—यहा ही, इसमें ही, **एष**—यह, **देव**—दिव्यगुण युक्त मन, **स्वप्ने**—स्वप्न में, **महिमानम्**—बडप्पन का, **अनुभवति**—अनुभव करता है, **यत्**—जो, **दृष्टम्**—देखा है, **दृष्टम्**—(उस) देखे पदार्थ को, **अनुपश्यति**—

जागते हुए ही सुन रहा हो, देश-देशान्तर में जो अनुभव किया है, उसे बार-बार स्वप्न में अनुभव करता है। जो देखा है, जो नहीं भी देखा, जो सुना है, जो नहीं भी सुना, जो अनुभव किया है, जो नहीं भी अनुभव किया---सत्-असत्---वह मन सब देखता है, और मनुष्य ही नहीं सभी प्राणी देखते हैं ॥५॥

किसे सुख होता है? निद्रा की दशा में जीवात्मा सत्त्व, रज, तम---इन तीनों में से किसी एक से अभिभूत हो सकता है, कोई एक अवस्था प्रबल हो सकती है। जब निद्रा की अवस्था में सत्त्वगुण प्रधान होता है तब जीवात्मा तेज से अभिभूत होता है। उस समय वह स्वप्न नहीं देखता। उस समय इस शरीर में ही उसे सुख हो रहा होता है। तभी तो सात्त्विक-निद्रा के पीछे मनुष्य तरोताजा हो जाता है, वह

स्वप्न में तदनुरूप देखता है, श्रुतम्---(जो) सुना है, श्रुतम्---(उस) सुने; एव---ही, अर्थम्---बात को, चीज को, अनुशृणोति---स्वप्न में तदनुरूप सुनता है, देश-दिगन्तरै---भिन्न-भिन्न देश और दिशाओं से, च---और, प्रत्यनुभूतम्---अनुभव में आये (अर्थों) को, पुन पुन---बार-बार, प्रत्यनुभवति---स्वप्न में तदनुरूप अनुभव करता है, दृष्टम्---देखे हुए को, च---और, अदृष्टम्---(कई बार) पहले न देखे हुए को, च---और, भी, श्रुतम् च अश्रुतम् च---सुने हुए और (कभी-कभी) पहले न सुने हुए को भी, अनुभूतम् च अननुभूतम् च, और पहले अनुभव किये पदार्थ को और (कभी-कभी) पहले न अनुभव में आये पदार्थ को भी, सत् च असत् च---सच्ची और झूठी, विद्यमान और अविद्यमान, होने वाली और न होने वाली, सभव और असम्भव दोनों को, सर्वम्---सब को ही, पश्यति---(स्वप्न में) देखता है, सर्व---सब मन आदि इन्द्रियों का अधिष्ठाता आत्मा या मन ही, पश्यति---देखता है ॥५॥

स यदा तेजसाभिभूतो भवत्यत्रैष देव स्वप्नान्न
पश्यत्यथ तदैतस्मिञ्छरीर एतत्सुख भवति ॥६॥

स---वह (मन-देव), यदा---जब, तेजसा---प्रकाश से, सत्त्व गुण से, अभिभूत---व्याप्त, अधिकृत, भवति---होता है, (तो) अत्र---इस अवस्था में, सुषुप्ति में, एष देव---यह देव मन, स्वप्नान्---स्वप्नों को, न पश्यति---नहीं देखता, अथ---और, तदा---तब, एतस्मिन् शरीरे---इस शरीर में, एतत्---यह (मन), सुखम्---सुख वाला या 'सु'=अच्छी+'ख'=इन्द्रियों वाला---स्वस्थ, भवति---होता है ।६॥

कहता है, बड़े सुख से सोया। अगर निद्रा मे रजोगुण प्रधान हो जाय, तो वह सोकर उठने पर अपने को दु:खी अनुभव करता है, हृदय धड़कता है, बेचैनी होती है। अगर निद्रा में तमोगुण प्रधान हो, तो उठने पर शरीर हल्का होने के बजाय भारी हो जाता है, चित्त मे ग्लानि होती है, सोने पर भी ऐसा लगता है मानो एक क्षण को नही सोया। ये सब अवस्थाएं आत्मा की नहीं, शरीर की ही होती है ॥६॥

('सुषुप्ति' तथा 'समाधि' दोनों अवस्थाओं मे जीव तथा ब्रह्म एक-दूसरे के सम्पर्क मे आ जाते है। 'सुषुप्ति' दशा इस प्रकार की है जैसे कोई राजा के पास बैठा हो परन्तु सो रहा हो, उसे राजा के पास बैठे होने का कोई ज्ञान न हो। 'समाधि' दशा ऐसी है जैसे कोई राजा के पास बैठा जाग रहा हो, उसे यह अनुभव हो कि वह राजा के पास बैठा है। कितना भेद है इन दोनो अवस्थाओं मे, परन्तु यह भेद मानसिक-अनुभूति का है, बाह्य-दृष्टि से तो दोनो दशाएं एक-सी है।)

यह सब किस में प्रतिष्ठित है? हे सोम्य! जैसे पक्षी वृक्ष में वास बना लेते है, उसमें प्रतिष्ठित रहते है, इसी प्रकार इन्द्रिया, मन, प्राण आदि सब आत्मा में प्रतिष्ठित है ॥७॥

स्थूल-पृथिवी, सूक्ष्म-पृथिवी, स्थूल-जल, सूक्ष्म-जल, स्थूल-तेज, सूक्ष्म-तेज, स्थूल-वायु, सूक्ष्म-वायु, स्थूल-आकाश, सूक्ष्म-आकाश—अर्थात् सम्पूर्ण 'भौतिक-जगत'—या 'ब्रह्माड', आख, आख के विषय, श्रोत्र, श्रोत्र के विषय, घ्राण, घ्राण के विषय, रस, रस के विषय, त्वचा,

---

स यथा सोम्य वयासि वासोवृक्ष सप्रतिष्ठन्ते
एव ह वै तत्सर्व पर आत्मनि सप्रतिष्ठते ॥७॥

स—वह, यथा—जैसे, सोम्य—हे वत्स! प्रिय गार्ग्य!, वयासि—पक्षी (नायकारु मे), वासोवृक्षम्—घोसले के वृक्ष को, सप्रतिष्ठन्ते—प्रस्थान करते हैं, उनमें जा बैठते हैं, एवम् ह वै—इस ही प्रकार से, तत् सर्वम्—वह (विस्तृत) सब कुछ, परे आत्मनि—परमात्मा मे, सप्रतिष्ठते—स्थिति-लाभ करता है, लीन हो जाता है ॥७॥

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्य च श्रोत्र

त्वचा के विषय, वाणी, वाणी के विषय, हाथ, हाथ के विषय, उपस्थ, उपस्थ के विषय, पायु, पायु के विषय, पाव, पाव के विषय, मन, मन के विषय, बुद्धि, बुद्धि के विषय, अहकार, अहकार के विषय, चित्त, चित्त के विषय, शरीर का तेज और जो-कुछ चमकता है, प्राण और प्राण द्वारा जो-कुछ धारण होता है—अर्थात् सम्पूर्ण 'आध्यात्मिक जगत्'—या 'पिंड' ॥८॥

च श्रोतव्य च घ्राण च घ्रातव्य च रसश्च रसयितव्य च त्वक् च
स्पर्शयितव्य च वाक् च वक्तव्य च हस्तौ चादातव्य चोपस्थश्चानन्द-
यितव्य च पायुश्च विसर्जयितव्य च पादौ च गन्तव्य च मनश्च
मन्तव्य च बुद्धिश्च बोद्धव्य चाहकारश्चाहकर्तव्य च चित्त च
चेतयितव्य च तेजश्च विद्योतयितव्य च प्राणश्च विधारयितव्य च ॥८॥

पृथिवी—स्थूल भूत कार्य पृथिवी, च—और, पृथिवीमात्रा—सूक्ष्म कारण पृथिवी, च—और, आप च अपोमात्रा च—जल और जलमात्रा, तेज च तेजोमात्रा च—स्थूल तेज और कारण सूक्ष्म तेज, वायु च वायुमात्रा च—स्थूल वायु और सूक्ष्म वायु, आकाश च आकाशमात्रा च—स्थूल कार्य आकाश और सूक्ष्म कारण आकाश, चक्षु च—और आँख, द्रष्टव्यम् च—आँख का विषय रूप, श्रोत्रम् च श्रोतव्यम् च—कान और कान का विषय शब्द, घ्राणम् च घ्रातव्यम् च—नासिका और नासिका का विषय गन्ध, रस च रसयितव्यम् च—जिह्वा और जिह्वा का विषय रस, त्वक् च स्पर्शयितव्यम् च—त्वचा और त्वचा का विषय (ज्ञेय) स्पर्श, वाक् च वक्तव्यम् च—(कर्मेन्द्रिय) वाणी और उसका कर्म जो-कुछ बोलना, हस्तौ च आदातव्यम् च—कर्मेन्द्रिय हाथ और उनका कर्म ग्रहण करना (ग्राह्य पदार्थ), उपस्थ च आनन्दयितव्यम् च—उपस्थ कर्म-इन्द्रिय और उसका कर्म आनन्द-भोग, पायु च विसर्जयितव्यम् च—पायु (गुदा) कर्मेन्द्रिय और उसका कर्म मल-विसर्ग, पादौ च गन्तव्यम् च—दोनों पाँव कर्मेन्द्रिय और उनका कर्म जाना, मन च मन्तव्यम् च—ज्ञान-कर्म-इन्द्रियों का अधिष्ठाता मन और उसका विषय मनन, बुद्धि च बोद्धव्यम् च—अन्तःकरण बुद्धि और उसका विषय ज्ञेय (जानने योग्य) अहंकार च अहकर्तव्यम् च—अन्तःकरण अहंकार और अहंकार करने योग्य विषय (वस्तु), चित्तम् च चेतयितव्यम् च—अन्तःकरण चित्त और उसका विषय चेतना, तेज च विद्योतयितव्यम् च—प्रकाशक और उसका क्षेत्र प्रकाश्य प्राण च विधारयितव्यम् च—प्राण-शक्ति, जीवन-शक्ति—आधार और आधेय, (यह सब ही कार्य-कारण रूप जगत् उस परमात्मा में ही स्थित है, स्थिति पाता है) ॥८॥

इन सबका वही पुरुष, विज्ञानमय (Super-Consciousness) आत्मा द्रष्टा है, श्रोता है, स्प्रष्टा है, घ्राता है, रसयिता है, मन्ता है, बोद्धा है, कर्ता है। वह विज्ञानात्मा (Super-Consciousness) परम अक्षर आत्मा (Eternal Principle) में प्रतिष्ठित होता है ॥९॥

हे सोम्य! जो छाया-रहित, शरीर-रहित, रुधिर-रहित, शुभ्र, अक्षर को जान लेता है वह उस परम, अक्षर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। वह पूर्ण हो जाता है, सर्वज्ञ हो जाता है। कहा भी है—॥१०॥

हे सोम्य! जो विज्ञानमय आत्मा उस अक्षर ब्रह्म (Super-Conscious Eternal Principle) को जान लेता है जिसमें सब

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा
कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। स परेऽक्षर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते ॥९॥

एष—यह, हि—ही, द्रष्टा—देखनेवाला, स्प्रष्टा—स्पर्श का अनुभव करने वाला, श्रोता—श्रवण करने वाला, घ्राता—गन्ध का भोक्ता, रसयिता—रस (स्वाद) का ज्ञाता, मन्ता—मनन करने वाला, बोद्धा—ज्ञाता, बुद्धि से काम लेने वाला, कर्त्ता—क्रिया का संचालक, विज्ञानात्मा—सत्-चित्स्वरूप, पुरुष—शरीर रूपी नगरी का अधिष्ठाता (जीवात्मा) ही है। स—वह भी, परे—परम, अक्षरे—अविनाशी, आत्मनि—आत्मा में, (परे आत्मनि—परमात्मा में), सम्प्रतिष्ठते—स्थित एवं स्थिर होता है ॥९॥

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं
वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वो भवति। तदेष श्लोकः ॥१०॥

परम्—परम, एव—ही, अक्षरम्—अविनाशी (ब्रह्म) को, प्रतिपद्यते—प्राप्त कर लेता है, स य ह वै—सो जो ही, तद्—उस, अच्छायम्—छाया (सूक्ष्म कारण-शरीर) से रहित, अशरीरम्—अकाय, शरीर-रहित, अलोहितम्—रुधिर-शून्य या रजोगुण-रहित—निर्मल, शुभ्रम्—शुद्ध, अक्षरम्—अविनाशी, वेदयते—जानता है, य तु—जो तो, सोम्य—हे प्रिय वत्स!, स—वह, सर्वज्ञ—(उस ब्रह्म के जान लेने पर) सब कुछ का जानने वाला, सर्व—पूर्ण, कामना-शून्य, भवति—हो जाता है, तद् एष श्लोक—(इसकी पुष्टि में ही) यह प्रसिद्ध सूक्ति है ॥१०॥

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति ॥११॥

विज्ञानात्मा—(जब) जीवात्मा, सह—साथ, देवैः—देवगण, सूक्ष्म-स्थूलभूतों के, च—और, सर्वैः—सारे, प्राणा—प्राण व इन्द्रियाँ, भूतानि—

इन्द्रियाँ, सब प्राण और सब महाभूत प्रतिष्ठित हैं, ठहरे हुए हैं, वह सर्वज्ञ हो जाता है, और पूर्ण ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाता है ॥११॥

('रयि' तथा 'प्राण' से इस उपनिषद् को प्रारम्भ किया। 'रयि' की अपेक्षा 'प्राण' के महत्त्व को बतलाया। अब इस प्रश्न में प्राण की अपेक्षा भी 'मन', आत्मा' तथा 'ब्रह्म' के महत्त्व को दिखा दिया।)

पंचम प्रश्न

ओंकार की उपासना का महत्त्व

कौन सोता है, कौन जागता है, कौन स्वप्न देखता है, किसे सुख होता है, यह सब-कुछ किसमें प्रतिष्ठित है—ये सब पूछने के बाद शिबि का पुत्र सत्यकाम पूछने लगा—"हे भगवन्! जो व्यक्ति जीवन-भर ओंकार का ध्यान करे वह ऐसे ध्यान से किस लोक को जीत लेता है?" ॥१॥

प्राणिमात्र, सम्प्रतिष्ठन्ति—स्थिति पाते हैं, स्थिर होते हैं, यत्र—जिसमें, तद् अक्षरम्—उस अविनाशी को, वेदयते—जान लेता है, य तु—जो तो, सोम्य—हे प्रिय वत्स!, स—वह, सर्वज्ञ—सब कुछ का जानने वाला, सर्वम् एव—सबमय पूर्ण ब्रह्म को, आविवेश—प्रवेश करता है, प्राप्त कर लेता है, इति—यह (श्लोक है) ॥११॥

अथ हैनं शैब्य सत्यकाम पप्रच्छ। स यो ह वैतद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत। कतम वाव स तेन लोकं जयतीति ॥१॥

अथ ह—उसके बाद, एनम्—उस पिप्पलाद ऋषि से, शैब्य—शिबि के पुत्र, सत्यकाम—सत्यकाम ने, पप्रच्छ—पूछा, स—वह, य—जो, ह वा—निश्चय से, एतद्—इस, भगवन्—हे आदरणीय ऋषे!, मनुष्येषु—मनुष्यों में, प्रायणान्तम्—मृत्यु प्राप्त होने तक, जीवन भर, ओंकारम्—(ईश्वर के वाचक) 'ओम्' पद का, अभिध्यायीत—ध्यान करे, जप करे, कतमम्—कौन-से, वा व—ही, स—वह, तेन—उस (ध्यान-जप) से, लोकम्—लोक को, स्थिति को, योनि को, जयति—जीतता है, अधिकारी होता है, इति—यह (प्रश्न किया) ॥१॥

पिप्पलाद ऋषि ने उत्तर दिया—हे सत्यकाम ! ब्रह्म के दो रूप हैं—एक 'पर-ब्रह्म' दूसरा 'अपर-ब्रह्म' ! योगी लोग जो इस संसार के विषयों से परे है, उस—पर—की उपासना करते हैं, वे 'पर-ब्रह्म' के उपासक हैं, संसारी लोग संसार के विषयों के भीतर—अपर—की उपासना करते हैं, सांसारिक सुखों की इच्छा से पूजा-पाठ, यज्ञ-याग आदि करते हैं, वे 'अपर-ब्रह्म' के उपासक हैं। 'पर-ब्रह्म' तथा 'अपर-ब्रह्म' दोनों का समन्वय 'ओंकार' में हो जाता है—ओंकार की उपासना ही 'पर' तथा 'अपर' ब्रह्म की उपासना है। विद्वान् पुरुष 'ओंकार' को ही साधन बनाकर 'पर' या 'अपर' दोनों में से ब्रह्म के किसी एक रूप को प्राप्त कर लेता है। ॥२॥

('पर-ब्रह्म' की उपासना उपनिषदों का ज्ञान-कांड है, 'अपर-ब्रह्म' की उपासना ब्राह्मण ग्रंथों का कर्म-कांड है।)

अगर भक्त-पुरुष 'ओंकार' की एक मात्रा का भी ध्यान करे, अर्थात् ओंकार में थोड़ा-सा भी चित्त लगाये, तो वह उतने से ही सचेत हो जाता है, उसका आत्मा जाग उठता है, और वह संसार में बड़ी ही जल्दी जगत् की सुख-सामग्री का सम्पादन कर लेता है।

तस्मै स होवाच एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च
ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ॥२॥

तस्मै—उस (सत्यकाम) को, **स ह**—उस (ऋषि) ने, **उवाच**—कहा, उत्तर दिया, **एतत् वै**—यह ही, **सत्यकाम**—हे सत्यकाम !, **परम्**—परम, ध्यानगम्य, योग-साधना से ज्ञेय, **च**—और, **अपरम्**—अपर, सृष्टि रचयिता के रूप में साधारण जनों से अनुमेय, सृष्टि-रचना से जिसकी सत्ता जानी जाय, **च**—और, **ब्रह्म**—ब्रह्म है, **यद्**—जो, **ओंकार**—ओम्पदवाच्य है, **तस्माद्**—उस कारण से, **विद्वान्**—ज्ञानी, **एतेन एव**—इस ही, **आयतनेन**—सहारे से, प्रयत्न से, **एकतरम्**—किसी एक (पर ब्रह्म या अपर ब्रह्म) को, **अनु एति**—अनुगमन करता है, ध्यान के बाद प्राप्त कर लेता है ॥२॥

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव
जगत्यामभिसंपद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र
तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संपन्नो महिमानमनुभवति ॥३॥

स—वह, **यदि**—अगर, **एकमात्रम्**—एक मात्रा वाले (ओंकार) का, एक मात्रा भर, तिहाई, थोड़ा, कुछ-कुछ, **अभिध्यायीत**—ध्यान-जप करे,

ओंकार की एक मात्रा का ध्यान ऋग्वेद का ज्ञान है। एक मात्रा का ज्ञान, अर्थात् ऋक्-ज्ञान उसे 'मनुष्य-लोक' में ले जाता है जहां वह 'तप', 'ब्रह्मचर्य' और 'श्रद्धा' से युक्त होकर परमात्मा की महिमा का अनुभव करता है ॥३॥

(ससार मे उन्नति करने के लिए, मनुष्य-लोक मे ससार का सुख लेने के लिए भी ओकार का थोडा-बहुत ध्यान, जिसे ऋषि अपने ढग से एक मात्रा का ध्यान कहते है, आवश्यक है। साथ ही 'तप' शारीरिक-साधना—'ब्रह्मचर्य'—मानसिक-साधना—'श्रद्धा'—आत्मिक-साधना—ये तीनो भी आवश्यक है।)

अगर भक्त-पुरुष 'ओंकार' की दो मात्राओ का ध्यान करता है, अर्थात् ओंकार में और अधिक चित्त लगाता है, वह उससे मानसिक-जगत् की सम्पूर्ण सुख-शांति का सम्पादन कर लेता है। पार्थिव-जगत् के सुख-भोग मिलने पर भी मानसिक-शांति नही मिलती, धनी भी दु:खी तथा अशांत हो सकता है। सुख तथा शांति के लिये, मन के राज्य का सम्पादन करने के लिये 'द्विमात्र' ओंकार की 'साधना' करनी चाहिये। द्वि-मात्र का ध्यान मानो ऋक् के साथ यजुर्वेद का भी ध्यान है। इस प्रकार जो ध्यान करता है वह अन्तरिक्ष में—'सोम-लोक' मे—जा पहुचता है। वह सोम-लोक की विभूति का अनुभव करके फिर यहां लौट आता है ॥४॥

स—वह, **तेन**—उस (एक मात्रा वाले ओम् के जप) से, **एव**—ही, **सवेदित**—ज्ञानी हुआ, प्राप्त-ज्ञान, **तूर्णम्**—शीघ्र, **एव**—ही, **जगत्याम्**—जगमशील सृष्टि मे, **अभिसपद्यते**—(सपन्न) हो जाता है, **तम्**—उस (ज्ञानी) को, **ऋच**—ऋग्वेद (ज्ञान), **मनुष्यलोकम्**—मनुष्य-लोक (पृथिवी) को, **उपनयन्ते**—पहुँचा देती है, प्राप्त कराती है, **स**—वह (ज्ञानी), **तत्र**—वहाँ, उस (मनुष्य-जन्म) मे, **तपसा**—(शरीर-साधनामय) तप से, **ब्रह्मचर्येण**—ब्रह्मचर्य (मानसिक साधना, इन्द्रिय-दमन) से, **श्रद्धया**—सत्य मे आस्था (धारणा) से, **सपन्न**—समृद्ध, युक्त, **महिमानम्**—महिमा को, बडप्पन को, प्रतिष्ठा को, **अनुभवति**—अनुभव करता है ॥३॥

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सपद्यते सोऽन्तरिक्ष यजुर्भिरुन्नीयते
सोमलोकम्। स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते ॥४॥

अथ—और, **यदि**—अगर, **द्विमात्रेण**—दो मात्राओ से, दो हिस्से भर,

('सोम-लोक' मानसिक-शान्ति का लोक है। कहीं दूर नहीं, यहीं, इसी भूमि पर, इसी शरीर में। जब-जब हमें मानसिक-शान्ति प्राप्त होती है, हममें सौम्यता आती है, तब-तब हम सोम-लोक में जा पहुंचते हैं, और उसमें निकलते ही इस लोक में आ पहुंचते हैं। इस अवस्था को पाने के लिए द्वि-मात्र ओंकार का ध्यान करना चाहिये। एक-मात्र का अर्थ है--कुछ-कुछ, द्वि-मात्र का अर्थ है---बहुत-कुछ।)

और, जो भक्त-पुरुष त्रिमात्र 'ओंकार', अर्थात् कुछ-कुछ नहीं, बहुत-कुछ भी नहीं, परन्तु ब्रह्म-ही-ब्रह्म की उपासना करता है, जो ओंकार की तीनों मात्राओं से, तीनों अक्षरों से, अ उ म् से परम-पुरुष का, ब्रह्म का ध्यान करता है, उसीमें चित्त रखता है, अन्य सब जगह से अपने को हटा लेता है, उसमें तेज उत्पन्न हो जाता है, वह सूर्य

बहुत कुछ, **मनसि**—मन में, मनन में, **सम्पद्यते**—युक्त होता है, तत्पर होता है, **स**—वह, **अन्तरिक्षम्**—अन्तरिक्ष लोक को, **यजुर्भि**—यजुर्वेद से (श्रौत कर्मों से), **उन्नीयते**—ऊपर ले जाया जाता है, उन्नति को पाता है, **स**—वह, **सोम-लोकम्**—चन्द्र-लोक, सौम्यता (मानसिक-शान्ति की अवस्था) की स्थिति को, **स**—वह, **सोमलोके**—चन्द्र-लोक में, **विभूतिम्**—ऐश्वर्य को, योग-साधना से प्राप्त सिद्धियों को, **अनुभूय**—अनुभव कर, भोग कर, **पुन**—फिर, **आवर्तते**—लौट आता है (उस स्थिति से च्युत हो कर पूर्व स्थिति मनुष्य-लोक को या जन्म-मरण चक्र को फिर प्राप्त हो जाता है) ॥४॥

य पुनरेत त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण पर पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सपन्न । यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एव ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्त स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोक स एतस्माज्जीव-घनात्परात्पर पुरिशय पुरुषमीक्षते। तदेतौ श्लोकौ भवत ॥५॥

य पुन—जो फिर, **एतम्**—इस (ब्रह्म) का,, **त्रिमात्रेण**—तीन मात्रा वाले, सम्पूर्ण, **ओम् इति**—'ओम्', **एतेन**—इस (पूर्ण), **एव**—ही, **अक्षरेण**—पद से, **परम् पुरुषम्**—परम पुरुष, परमात्मा का, **अभिध्यायीत**—ध्यान करे, **स**—वह, **तेजसि**—तेजोमय, **सूर्ये**—सूर्य (आदित्य) लोक में, **सपन्न**—युक्त, प्राप्त होता है, **यथा**—जैसे, **पादोदर**—सर्प, **त्वचा**—केंचुली से, **विनिर्मुच्यते**—अनायास और पूर्णतया मुक्त हो जाता है, **एवम्**—इस प्रकार, **ह वै**—ही, **स**—वह (आदित्य लोक में वर्तमान), **पाप्मना**—पाप से, मल से, **विनिर्मुक्त**

के समान तेज का सम्पादन कर लेता है। जैसे साप केंचली को छोड देता है वैसे वह पाप को छोड देता है। त्रिमात्र का ध्यान मानो ऋक्, यजु के साथ साम का ध्यान है। वह सामवेद से 'ब्रह्म-लोक' मे जा पहुचता है। वह जीव के इसी शरीर से परे-से-परे ससार की महान् पुरी मे शयन कर रहे पुरुष को, पर-ब्रह्म को देख लेता है। किसी ने ये दो श्लोक कहे है ॥५॥

(ओंकार की एक-मात्रा के ध्यान से यह पार्थिव-जगत्, अर्थात् 'पृथिवी-लोक' तथा इसके भोग-ऐश्वर्य, द्वि-मात्रा के ध्यान से सोम-लोक, अर्थात् 'चन्द्र-लोक' तथा उसकी सौम्यता, त्रि-मात्रा के ध्यान से 'सूर्य-लोक' तथा उसका तेज इसी मनुष्य-शरीर मे प्राप्त हो जाते है। पृथिवी का ऐश्वर्य, चन्द्र की सौम्यता, सूर्य का तेज ओंकार के ध्यान से, ऋक्, यजु, साम से प्राप्त होते है—यह इस सबका आशय है।)

ओंकार की तीन मात्राए है, तीन हिस्से है। तुम उसका कितना ध्यान करते हो? थोडा-बहुत करते हो, तब तो वह एक मात्रा का ध्यान है। बहुत-कुछ करते हो, तब वह द्वि-मात्रा का ध्यान है। उसी के ध्यान में रहते हो, तब त्रि-मात्रा का ध्यान है। इन मात्राओ का ध्यान, 'मृत्युमान्' है। जिस मात्रा में, अर्थात् जिस अश तक उसका ध्यान होता है उसी मात्रा में, उसी अश तक, ससार ध्यानी

मुक्त, स—वह, सामभि—सामवेद (उपासना) मे, उन्नीयते—ऊपर ले जाया जाता है, ब्रह्मलोकम्—ब्रह्मलोक को, स—वह, एतस्मात्—इस जीवघनात्—(शरीरधारी) जीव के शरीर से, परात् परम्—श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ (सर्वश्रेष्ठ), परम, पुरिशयम्—कारण-कार्य रूप प्रकृतिरूपी नगरी मे सोने वाले (सर्वत्र व्यापक), पुरुषम्—परमात्मा को, ईक्षते—देखता है, जान लेता है, दर्शन करता है, तत्—सो (इस विषय मे), एतौ—ये दो, श्लोकौ—श्लोक भवत—है ॥५॥

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्य प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ता ।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञ ॥६॥

तिस्र—तीन, मात्रा—'अ-उ-म्' रूप 'ओम्' की तीन मात्राए, अश, मृत्युमत्य—मरणधर्मा, विनाशी, प्रयुक्ता—उपयोग मे लाई हुई, अन्योन्य-सक्ता—एक-दूसरी मे गुथी हुई, परस्पर सम्बद्ध, अनविप्रयुक्ता—विशेषकर

के लिये मर जाता है। इन मात्राओ का प्रयोग ही ऐसा करना चाहिये जिससे ससार का जो रूप हमारे लिये मर जाना चाहिये वह वास्तव में मर जाय। आत्मा के एक तरफ ससार के विषय है, दूसरी तरफ ब्रह्म है। अभी तक हमारे लिये ससार जीवित है, ब्रह्म मृत है। ओकार की मात्रा का ध्यान ससार को हमारे लिये मृत बना देता है, ब्रह्म को जीवित बना देता है। ये मात्राए एक-दूसरे से सटी हुई है। एक मात्रा के ध्यान से अगली मात्रा पर भक्त स्वय पहुच जाता है, ये एक-दूसरे से अलग हो ही नही सकती। जो ज्ञानी अपनी बाह्य, आभ्यन्तर तथा मध्यम क्रियाओ में 'त्रिमात्र-ओकार' का सम्यक् प्रयोग करता है वह कपमान नही होता, अपने मार्ग से विचलित नही होता ॥६॥

(बाह्य-क्रियाए शरीर की क्रियाए है, आभ्यन्तर-क्रियाए मन की क्रियाए है, मध्यम क्रियाए वे है जो मन तथा शरीर के बीच की है, कुछ मानसिक है, कुछ शारीरिक। क्रिया की इन तीनो अवस्थाओ मे ज्ञानी तथा ध्यानी को त्रि-मात्रा की ही उपासना में रहना चाहिए।)

ऋक् से 'पृथिवी' के भोग-ऐश्वर्य प्राप्त होते है, यजु से अन्तरिक्ष के 'चन्द्र'-लोक वाले सौम्य-गुण प्राप्त होते है, साम से कवि लोग कहते है कि 'सूर्य' का तेज प्राप्त होता है। अगर कोई 'ओकार' को साधन बनाये, तो ऋक्, यजु, साम की सहायता के बिना 'ओकार' की उपासना से ही ये-सब प्राप्त हो जाते है। 'ओकार' की उपासना

एक ही विषय पर प्रयुक्त होनेवाली, क्रियासु—ध्यान-कर्मो के, बाह्य-आभ्यन्तर-मध्यमासु—बाह्य, आन्तर और उभयवर्ती, सम्यक्—भली प्रकार, विधिपूर्वक प्रयोग मे लाने पर, न—नही, कम्पते—कापता है, लक्ष्य मे विचलित होता है, ज्ञ—ज्ञाता आत्मा ॥६॥

ऋग्भिरेत यजुर्भिरन्तरिक्ष सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते तमोकारे-
णैवायतनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभय पर चेति ॥७॥

ऋग्भि—ऋचाओ (ज्ञान) से, एतम्—इस मनुष्य लोक को, यजुर्भि—यजुर्वेद (कर्मो) से, अन्तरिक्षम्—अन्तरिक्ष मे विद्यमान 'सोम लोक' को, सामभि—सामवेद (उपासना) से, यत्—जिस लोक को, तद्—उस (ब्रह्मलोक) को,

से उपासक उस 'शांत', 'अजर', 'अमृत', 'अभय', 'पर'-ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ॥७॥

षष्ठ प्रश्न

ब्रह्म की सोलह कलाएँ

ओंकार के ध्यान से 'पृथिवी', 'चन्द्र' तथा 'सूर्य'—इन तीनों लोकों को जीत सकते हैं, यह सुनने के बाद भरद्वाज के गोत्र में उत्पन्न सुकेशा पूछने लगा—"भगवन् ! एक समय हिरण्यनाभ नामक कोसलदेश के राजकुमार ने मुझ से आकर पूछा, सोलह कलाओं वाले पुरुष को जानते हो ? कुमार को मैंने कहा, मैं उसे नहीं जानता, जानता होता तो तुझे क्यों न बतला देता। जो व्यक्ति असत्य बोलता है वह समूल सूख जाता है, इसलिये मैं झूठ नहीं बोल सकता। मेरा कथन सुनकर वह राजकुमार चुपचाप रथ पर चढ़कर चल दिया। हे भगवन् ! मैं वही प्रश्न आप से पूछता हूं। वह सोलह कलाओं वाला पुरुष कहां है ?" ॥१॥

कवय—ज्ञानी पुरुष, वेदयन्ते—बताते हैं, कहते हैं, तम्—उस (ब्रह्मलोक) को, ओंकारेण—'ओ३म्' पद के, आयतनेन—सहारे से, साधन से, अन्वेति—प्राप्त करता है, विद्वान्—ज्ञानी, यत् तद्—जो वह (ब्रह्म), शान्तम्—अविचल, अजरम्—जरा (क्षय) से रहित, अक्षर, अमृतम्—अमर, अभयम्—स्वयं भयशून्य परन्तु औरों को अभय-प्रदाता, परम्—परम (आत्मा) है, च—और इति—ये (वे श्लोक हैं) ॥७॥

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ। भगवन्हिरण्यनाभः कौसल्यो राज-
पुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत। षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ, तमहं
कुमारमब्रुवं नाहमिमं वेद। यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति।
समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम्।
स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज। तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति ॥१॥

अथ ह—इसके बाद, एनम्—इस ऋषि से, सुकेशा—सुकेशा ने, भारद्वाज—भरद्वाज-गोत्री, पप्रच्छ—पूछा, भगवन्—हे आदरणीय महर्षे !, हिरण्यनाभ—हिरण्यनाभ नामक, कौसल्य—कोसल देश के, राजपुत्र—राजकुमार ने, माम् उपेत्य—मेरे समीप आकर, एतम् प्रश्नम्—इस प्रश्न को, अपृच्छत—पूछा, षोडशकलम्—सोलह कला (अंग, अवयव) से युक्त, भारद्वाज—हे भारद्वाज !, पुरुषम्—पुरुष (जीवात्मा) को, वेत्थ—तू जानता है,

पिप्पलाद ऋषि ने कहा—हे सोम्य ! वह पुरुष जिसमें सोलह कलाओं का प्रादुर्भाव होता है इसी शरीर के भीतर है ॥२॥

(सोलह कला [illegible] भगवान् [illegible] नहीं, हमारे ही अन्दर बैठा है। उपनिषद् में [illegible] इस बात को [illegible] गया है कि भगवान [illegible] नहीं, अन्दर है—हमारे ही अन्दर—[illegible] पुरुषो [illegible] निर्झरि'।)

ब्रह्म कलामय है। सोलहों कला उसकी हैं। ब्रह्म की अगर पुरुष के रूप में कल्पना करें तो उस पुरुष-रूप ब्रह्म की सोलहों कलाओं से ही मनुष्य-शरीर बना है। जीवात्मा ने चिंतन किया कि किसके

यम्—[illegible], अहम्—मैं, कुमारम्—[illegible] कुमार [illegible], अब्रुवम्—[illegible], न—नहीं, अस्मि—हूँ, इमम्—[illegible], वेद—[illegible], यदि—[illegible] अहम्—[illegible] इमम्—[illegible] ([illegible]) [illegible], अवेदिषम्—[illegible], कथम्—[illegible], ते—[illegible] न अवक्ष्यम्—[illegible] इति—[illegible] ([illegible]) समूलः—[illegible] वा एषः—[illegible] परिशुष्यति—[illegible], यः—[illegible], अनृतम्—[illegible], अभि-वदति—[illegible], तस्मात्—[illegible] न—नहीं अर्हामि—[illegible] अनृतम्—[illegible] वक्तुम्—[illegible] स—[illegible], तूष्णीम्—[illegible], रथम् आरुह्य—[illegible], प्रवव्राज—[illegible], तम्—उस ([illegible]) को, त्वा—तुझसे, पृच्छामि—पूछता हूँ, क्व—कहाँ, [illegible], असौ—वह ([illegible]), पुरुष—पुरुष ([illegible]), इति—यह (पूछा) ॥१॥

तस्मै स होवाच। इहैवान्तःशरीरे सोम्य स
पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीति ॥२॥

तस्मै—उस [illegible], सः ह—उस ऋषि ने उवाच—कहा, उत्तर दिया, इह एव—यहाँ ही, अन्तःशरीरे—शरीर के अन्दर सोम्य—हे प्रियतम !, सः—वह, पुरुष—पुरुष (है), यस्मिन्—जिसमें एताः—ये, षोडश—सोलह, कलाः—कलाएँ, प्रभवन्ति—उत्पन्न होती हैं इति—यह ॥२॥

स ईक्षाचक्रे। कस्मिन्नहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो
भविष्यामि, कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति ॥३॥

स—उस ([illegible] पुरुष) ने, ईक्षाचक्रे—विचार किया, कस्मिन्—किसके (के) अहम्—मैं, उत्क्राते—निकल जाने पर, उत्क्रान्तः—निकला हुआ, भविष्यामि—होऊँगा, कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते—या किसके

निकल जाने से मैं शरीर से से निकल जाऊंगा, किसके शरीर में प्रतिष्ठित होने से प्रतिष्ठित होऊंगा ? पुरुष-रूप ब्रह्म की सोलहों कलाओं के निकल जाने से, जिनसे यह मनुष्य-शरीर बना है, मैं भी इस शरीर में नहीं रह सकता, यह उसे ज्ञात हुआ, इसलिये जैसे जीवात्मा इस शरीर में रहता है, वैसे ही सोलहों कलाओं वाला पुरुष—ब्रह्म—भी इसी शरीर में वास करता है ॥३॥

वे सोलह कलाएं कौन-सी हैं ? पुरुष ने पहले-पहल प्राण का सर्जन किया। प्राण द्वारा श्रद्धा, पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश, इन्द्रिया, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम—इन १६ कलाओं का सर्जन किया, इन सोलहों कलाओं का जिनसे 'ब्रह्मांड' तथा 'पिंड' का निर्माण होता है। (क्योंकि इन सोलहों से 'ब्रह्मांड' तथा 'पिंड' का निर्माण होता है अतः कल्पना की गई है कि मानो ये सोलहों कलाएं उसी ब्रह्म का शरीर है। इन कलाओं वाला वह ब्रह्म कहीं बाहर थोड़े-ही रहता है—इसी मनुष्य के देह ही में तो अपनी सोलहों कलाओं के सहित वह वास कर रहा है। फिर उसे बाहर क्यों ढूंढना ?) ॥४॥

(पुरुष-रूप ब्रह्म की, जो इसी मनुष्य-शरीर में विद्यमान है, ऊपर कही गई सोलह कलाएं हैं। कला का अर्थ है—'अंग'।

(शरीर में) प्रतिष्ठित होने पर, **प्रतिष्ठास्यामि**—मैं प्रतिष्ठित रहूंगा, **इति**—यह (विचार किया) ॥३॥

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं
मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च ॥४॥

सः—उस (पुरुष) ने, **प्राणम्**—(छाया के समान रहने वाले, सहानुवर्ती) प्राण (सूक्ष्म शरीर) को, **असृजत**—रचा, प्रगट किया, **प्राणात्**—प्राण से, **श्रद्धाम्**—सत्य पर आस्था को, **खम्**—आकाश को, **वायुः**—वायु, **ज्योतिः**—तेज, **आपः**—जल, **पृथिवी**—पृथिवी (ये पाँचों स्थूल भूत—शरीर-रचना में सहायक), **इन्द्रियम्**—ज्ञान-कर्मेन्द्रियों को, **मनः**—मन (अन्तःकरण) को, **अन्नम्**—अन्न को, **अन्नाद्**—अन्न से, **वीर्यम्**—वीर्य (रेतस्) को, **तपः**—शरीर-साधना, **मन्त्राः**—मनन (मानसिक चेष्टा), **कर्म**—प्रयत्न, **लोकाः**—रूप, आकृति, **लोकेषु**—रूप में, **च**—और, **नाम**—संज्ञा, **च**—और (इन सोलह कलाओं को उत्पन्न किया) ॥४॥

ब्रह्म की अगर एक पुरुष के रूप मे कल्पना करे, तो ये उसके १६ अग है। इनका क्रमपूर्वक वर्णन नही किया गया, सोलह अगो का परिगणन-मात्र कर दिया गया है। ये हो, तो पुरुष-रूप मे कल्पित ब्रह्म का शरीर बनता है, न हो, तो नही बनता। ब्रह्म भोक्ता है, इसलिये सबसे पहले तो भोक्तृ-रूप 'प्राण' को उत्पन्न किया ही, परन्तु फिर उन सबको उत्पन्न किया जिनका प्राण ने भोग करना है। यह सब उत्पत्ति 'तप' के बिना नही हो सकती क्योकि तप का अर्थ ही 'उग्र-क्रिया' है। तभी जहा-जहा सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन आया है, वहा-वहा यह भी कहा है, उसने 'तप' किया। बिना तप के कुछ नही होता। तप के साथ सृष्टि मे 'श्रद्धा' भी है। श्रद्धा का अर्थ है, सत्य मे धारणा—'श्रत्' अर्थात् 'सत्य', 'धा' अर्थात् 'धारण करना'। ससार की प्रत्येक वस्तु का विकास सत्य की तरफ है। अगर कही असत्य प्रबल भी दीखता है तो सामयिक है, वह अपनी प्रतिक्रिया को उत्पन्न कर रहा होता है। इसलिये सृष्टि की आधार-भूत कला, वह कला जो ब्रह्म के शरीर का अग है, 'श्रद्धा' है। 'श्रद्धा' का अर्थ है यह विश्वास कि ससार के प्रवाह की दिशा 'सत्य' की तरफ है, असत्य की तरफ नही। 'प्राण', 'तप' और 'श्रद्धा' के बाद पच-महाभूतो की उत्पत्ति हुई। एक-एक महाभूत एक-एक 'इद्रिय' के साथ सम्बद्ध है, अत महाभूतो की उत्पत्ति के बाद 'इन्द्रियो' की उत्पत्ति हुई। इन्द्रियो का जीवन मानसिक-दृष्टि से मन पर और शारीरिक-दृष्टि से अन्न पर निर्भर है। अत 'मन' तथा 'अन्न' की भी उत्पत्ति हुई। अन्न का वास्तविक-तत्त्व 'वीर्य' है क्योकि अन्न का बहुत-सा हिस्सा तो मल-मूत्र बन कर फेक ही दिया जाता है, अत अन्न से बनने वाला अन्न का मूल-तत्त्व वीर्य भी पुरुष की सोलह कलाओ मे से एक है। शरीर की रचना के बाद मनुष्य शारीरिक तथा मानसिक कार्य करता है—शारीरिक-कार्य 'कर्म' है, मानसिक-कार्य 'मन्त्र' है। कर्म तथा मन्त्र के अतिरिक्त सृष्टि मे नाम-रूप (Name and form) भी है, रूप को ऋषि ने 'लोक'

शब्द से कहा है, नाम को 'नाम' शब्द से ही । इस प्रकार इन सोलह कलाओ (प्राण, तप, श्रद्धा, पच महाभूत, इन्द्रिया, मन, अन्न, वीर्य, कर्म, मन्त्र, लोक, नाम) मे ब्रह्म की पुरुष के रूप मे कल्पना की गई है। यह पुरुष अन्य कही नही, इस मनुष्य-देह के भीतर ही है, इसे पाने के लिये दूर-दूर भटकने की आवश्यकता नही ।)

जैसे ये नदिया बह रही है, समुद्र की तरफ जा रही है, समुद्र तक पहुचकर अस्त हो जाती है, उनका नाम-रूप छिन्न-भिन्न हो जाता है, बस इतना ही कहा जाता है कि यह समुद्र है, ऐसे ही उस द्रष्टा ब्रह्म की ये सोलह कलाएं है, ये पुरुष-रूप ब्रह्म की तरफ ही जा रही है, उस तक पहुचकर ये अस्त हो जाती है, इनका नाम-रूप छिन्न-भिन्न हो जाता है, पुरुष-मात्र रह जाता है। ये सोलह कलाए उसी मे उत्पन्न हुई है, परन्तु वह स्वय कला-रहित है, अमृत है। जब ये कलाए उसमें अस्त हो जाती है, तो कलाओ वाला 'सकल' (स+कल) कलाओं से रहित 'अकल' (अ+कल) हो जाता है, अमृत हो जाता है ।।५।।

स यथेमा नद्य स्यन्दमाना समुद्रायणा समुद्र प्राप्यास्त गच्छन्ति भिद्येते तासा नामरूपे समुद्र इत्येव प्रोच्यते । एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमा षोडशकला पुरुषायणा पुरुष प्राप्यास्त गच्छन्ति भिद्येते चासा नामरूपे पुरुष इत्येव प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति । तदेष श्लोक ।।५।।

स—वह (दृष्टान्त है), यथा—जैसे, इमा—ये, नद्य—नदियाँ; स्यन्दमाना—बहती हुई, समुद्रायणा—समुद्र की ओर गतिवाली, समुद्र जिनका आधार है, समुद्रम्—समुद्र को, प्राप्य—पा कर, पहुँच कर, अस्तम् गच्छन्ति—छिप जाती है, मिट जाती है, भिद्येते—नष्ट हो जाते है, तासाम्—उनके, नामरूपे—नाम और रूप, समुद्र इति—समुद्र ही है, एवम्—इस प्रकार, प्रोच्यते—कहा जाता है, एवम् एव—इस प्रकार ही, अस्य—इस, परिद्रष्टु—साक्षी, ज्ञाता (जीवात्मा) की, षोडश कला—सोलहो कलाए, अवयव, पुरुषायणा—पुरुष (जीवात्मा) के आधार वाली (उसके लिये ही प्रादुर्भूत), पुरुषम्—जीवात्मा को, प्राप्य—उसमे स्थिति कर, अस्त गच्छन्ति—अस्त (छिप) जाती है, अपनी सत्ता खो देती है, भिद्यते—लुप्त हो जाते है, च—और, आसाम्—इन (सोलह कलाओ, अवयवो) के, नामरूपे—नाम और रूप (आकृति), पुरुष इति—(सब को मिला कर) यह पुरुष ही है, एवम्—इस प्रकार, प्रोच्यते—कहा जाता है, स एष—वह यह पुरुष (जीवात्मा),

जैसे रथ की नाभि में अरे लगे होते हैं, ऐसे ही जिस ब्रह्म मे कलाएं प्रतिष्ठित हैं, उस जानने योग्य पुरुष का ज्ञान प्राप्त करो, तभी तुम्हें मृत्यु किसी प्रकार की व्यथा नहीं देगी ॥६॥

पिप्पलाद ऋषि उन छहों जिज्ञासुओं को सम्बोधित करके कहने लगे—"मैं उस 'पर-ब्रह्म' के विषय में इतना ही जानता हूं। इससे परे वह है भी नहीं" ॥७॥

वे जिज्ञासु ऋषि की स्तुति करने लगे और कहने लगे कि आप हमारे पिता हैं, आप ही हमें अविद्या-रूपी नदी के परले किनारे लगाने वाले हैं। आप परम ऋषि हैं, आपको बार-बार नमस्कार हो, बार-बार नमस्कार हो ॥८॥

अकल—(वस्तुत प्राण आदि सोलह) कलाओं से विहीन, अमृत—अमर, भवति—है, तद्—तो (इसकी पुष्टि में), एष श्लोक—यह श्लोक (सूक्ति) भी है ॥५॥

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिता ।
त वेद्य पुरुष वेद यथा मा वो मृत्यु परिव्यथा इति ॥६॥

अरा इव—अरों की तरह, रथनाभौ—रथ के पहिये की नाभि में, कला—(प्राण आदि सोलह) कलाएँ, यस्मिन्—जिसमे, प्रतिष्ठिता—स्थित हैं, तम्—उस, वेद्यम्—जानने योग्य, ज्ञेय, पुरुषम्—जीवात्मा को, वेद—जानो, पहिचानो, यथा—जैसे, यत, मा—मत, व—तुम को, मृत्यु—मौत, परिव्यथा—पीडित करे, सतावे, इति—यह (वह श्लोक है) ॥६॥

तान्होवाचैतावदेवाहमेतत्पर ब्रह्म वेद नात परमस्तीति ॥७॥

तान् ह—उन (छहों शिष्यों) को, उवाच—(ऋषि पिप्पलाद ने) कहा, एतावद्—इतना, एव—ही, अहम्—मैं, एतत्—इस, परम्—परम (सर्वश्रेष्ठ, सर्वोत्कृष्ट), ब्रह्म—ब्रह्म को, वेद—जानता हूँ, न—नहीं, अत—इस ब्रह्म से, परम्—श्रेष्ठ, अस्ति—है, या न अत परम् अस्ति—इससे आगे कुछ वक्तव्य नहीं है, इति—यह ॥७॥

ते तमर्चयन्तस्त्व हि न पिता योऽस्माकमविद्याया पर
पार तारयसीति। नम परमऋषिभ्यो नम परमऋषिभ्य ॥८॥

ते—उन शिष्यों ने, तम्—उस गुरु (को), अर्चयन्त—पूजा-अर्चना करते हुए (कहा कि), त्वम् हि न पिता—गुरुदेव! तुम ही हमारे पिता हो, य—जो आप, अस्माकम्—हम को, अविद्याया—अविद्या के, अविद्या-जन्य भवसागर के, परम् पारम्—परले पार, तारयसि—तारते हो, पार करते हो, इति—यह (वचन कहा), नम परमऋषिभ्य—परम तत्त्वज्ञानी ऋषियों को हमारा प्रणाम है, नम परमऋषिभ्य—तत्त्वज्ञान-प्रदाता ऋषियों को हमारा नमस्कार है ॥८॥

मुण्डकोपनिषद्

(ब्रह्म-विद्या का उपदेश)

प्रथम-मुण्डक—(प्रथम-खण्ड)

अपरा-विद्या अर्थात् भौतिक-विज्ञान तथा परा-विद्या अर्थात् अध्यात्म-विज्ञान

ब्रह्मा देवताओ में सबसे पहले कभी हुआ था, विश्व के (सामाजिक सगठन को) करने वाला, देवताओ के द्वारा ही ससार के (सामाजिक सगठन की) रक्षा करने वाला। उसने सब विद्याओ की आधार 'ब्रह्म-विद्या' का अपने ज्येष्ठ पुत्र 'अथर्वा' को उपदेश दिया ॥१॥

ब्रह्मा ने जिस 'ब्रह्म-विद्या' का अथर्वा को उपदेश दिया, अथर्वा ने प्राचीन-काल में उसका अगिर्-नामक ऋषि को उपदेश दिया। अगिर् ने उसका भरद्वाज-गोत्री सत्यवाह को उपदेश दिया। पिछला अगले को जो उपदेश देता गया उसी उपदेश को भारद्वाज ने अगिरा को दिया ॥२॥

ॐ ब्रह्मा देवाना प्रथम सबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्या सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥१॥

ओम्—ग्रन्थारम्भ मे ओम्पदवाच्य ब्रह्म का स्मरण कर आरम्भ करते हैं। **ब्रह्मा**—ब्रह्मानामी (आदि पुरुष), **देवानाम्**—देवताओ मे, **प्रथम**—सब मे पहले, मुख्य, प्रसिद्ध, **सम्बभूव**—हुआ था, **विश्वस्य**—जगत् का, **कर्ता**—रचयिता, **भुवनस्य**—लोको का, **गोप्ता**—रक्षक, **स**—उस (ब्रह्मा) ने, **ब्रह्मविद्याम्**—ब्रह्म-विषयक ज्ञान को या वेद-विद्या को, **सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्**—सब विद्याओ की आधार (जिसमे अन्य सब विद्याएँ भी विद्यमान हैं), **अथर्वाय**—अथर्व नामी, **ज्येष्ठपुत्राय**—(अपने) बडे पुत्र को, **प्राह**—उपदेश दिया ॥१॥

अथर्वणे या प्रवदेत ब्रह्माऽथर्वा ता पुरोवाचागिरे ब्रह्मविद्याम्।
स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥२॥

अथर्वणे—अथर्वा को, **याम्**—जिस, **प्रवदेत**—उपदेश दिया, **ब्रह्मा**—ब्रह्मा ने, **अथर्वा**—अथर्वा ने, **ताम्**—उस वेद विद्या को, **पुरा**—अब से बहुत पहले, **उवाच**—उपदेश दिया, **अगिरे**—अगिर् नामक को, **ब्रह्मविद्याम्**—

कालान्तर में शौनक नाम का एक जिज्ञासु हुआ। उसकी बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएं थी। वह अंगिरा के पास शिष्टाचार-पूर्वक पहुंचा और पूछने लगा, हे भगवन्! किस के जानने से यह सब-कुछ जाना जाता है ॥३॥

अंगिरा ने शौनक से कहा—ब्रह्मवित् लोग यह कहते रहे हैं कि दो विद्याओं को जानना चाहिए—'परा' तथा 'अपरा' ॥४॥

इनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष का ज्ञान 'अपरा' विद्या (Scientific Knowledge) है, जिस विद्या से उस अक्षर ब्रह्म का ज्ञान हो वह 'परा' विद्या (Spiritual Knowledge) है। ('अपरा-विद्या'—Scientific

---

ब्रह्म-विद्या को, स—उस (अंगिर्) ने, भारद्वाजाय—भरद्वाजगोत्री, सत्यवाहाय—सत्यवाह को, प्राह—उपदेश दिया, भारद्वाज—भारद्वाज ने, अंगिरसे—अंगिरस् को, परावराम्—परम्परा प्राप्त या परा-अपरा विषयक विद्या को ॥२॥

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ।
कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥३॥

शौनक—शौनक, ह वै—ही, महाशाल—बड़ी-बड़ी इमारतों वाला, महागृहस्थ, अंगिरसम्—अंगिरा ऋषि को (के पास), विधिवत्—विधिपूर्वक, उपसन्न—उपस्थित हुआ, पप्रच्छ—पूछा, कस्मिन्—किसमें (के), नु—प्रश्नार्थ में, भगव—हे भगवन्, विज्ञाते—जान लेने पर, सर्वम्—सब कुछ, इदम्—यह, विज्ञातम्—ज्ञात, भवति—हो जाता है, इति—यह (पूछा) ॥३॥

तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म
यद् ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैवापरा च ॥४॥

तस्मै—उस (शौनक) को, स ह—उस (अंगिरा) ने, उवाच—कहा, द्वे—दो, विद्ये—विद्याएँ, वेदितव्ये—जानने योग्य हैं, जाननी चाहिये, इति ह स्म—इस प्रकार, यद्—जो, ब्रह्मविद—ब्रह्मज्ञानी, वेदवक्ता, वदन्ति—कहते हैं, परा—परा-विद्या, च—और, एव—ही, अपरा च—और अपरा-विद्या ॥४॥

तत्रापरा, ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं
निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते ॥५॥

तत्र—उन (दोनों) में, अपरा—अपरा (विज्ञान-प्रधान) विद्या, ऋग्वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद—यजुर्वेद, सामवेद—सामवेद, अथर्ववेद—अथर्ववेद,

Knowledge---को, ईशोपनिषद् में भी 'अविद्या', तथा 'परा-विद्या' ---Spiritual Knowledge---को 'विद्या' कहा गया है ।) ॥५॥

'परा'-विद्या से जिस अक्षर ब्रह्म का ज्ञान होता है वह देखा नही जा सकता, ग्रहण नही किया जा सकता, उसका कोई वंश नहीं, वर्ण नही, उसके आंख-कान नही, हाथ-पांव नही । वह नित्य है, विभु है, सब जगह पहुंचा हुआ है किंतु सूक्ष्म है, अव्यय है, सब भूतों का कारण है । धीर-लोग 'परा'-विद्या से उस ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेते हैं ॥६॥

जैसे मकडी अपने शरीर के भीतर से जाले का सृजन करती है और फिर उसे समेट लेती है, जैसे पृथिवी में ओषधियां उत्पन्न होती हैं, जैसे-जीवित पुरुष के शरीर से केश-लोम निकलते हैं, इसी प्रकार अक्षर ब्रह्म (के प्रकृति-रूपी शरीर) से विश्व हो जाता है ॥७॥

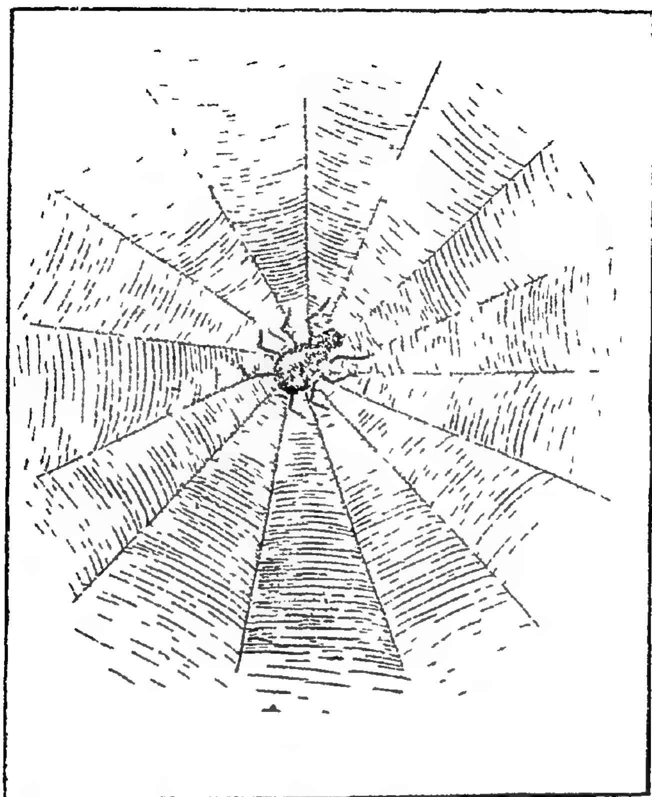
शिक्षा---शिक्षा, कल्प---कल्प (श्रौत सूत्र), व्याकरणम्---व्याकरण, निरुक्तम् ---निरुक्त, छन्द---छन्दशास्त्र, ज्यौतिषम्---ज्योतिषशास्त्र---ये छ अंग, इति---यह (अपरा विद्याएं हैं), अथ---और, परा---परा (अध्यात्म-विद्या), यया---जिससे, तद्---वह, अक्षरम्---अविनाशी (ब्रह्म), अधिगम्यते---जाना जाता है, प्राप्त किया जा सकता है ॥५॥

यत्तदद्रे(दृ)श्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षु श्रोत्रं तदपाणिपादम् ।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीरा ॥६॥

यत् तद्---जो वह, अद्रे(दृ)श्यम्---ज्ञानेन्द्रियों से अज्ञेय, अग्राह्यम्---ग्रहण नही किया जा सकता (कर्मेन्द्रियों का विषय नहीं), अगोत्रम्---गोत्र (वंश-परम्परा) से रहित, अवर्णम्---रंग-रूप से शून्य या वर्णनातीत, अचक्षु श्रोत्रम् ---आँख आदि ज्ञानेन्द्रियों से रहित, तद्---वह, अपाणिपादम्---हाथ-पाँव (आदि कर्मेन्द्रियों) से रहित, नित्यम्---त्रिकाल मे रहने वाला, सनातन, विभुम्---व्यापक, सर्वगतम्---सर्वव्यापक, सुसूक्ष्मम्---सूक्ष्मातिसूक्ष्म, तद्---वह ब्रह्म, अव्ययम्---अविनाशी, यद्---जिसको, भूतयोनिम्---सब चराचर भूतों का निमित्तकारण या सब भूतों का आश्रय, परिपश्यन्ति---साक्षात्कार करते है, धीरा---धीर ज्ञानी ॥६॥

यथोर्णनाभि सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधय संभवन्ति ।
यथा सत पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सभवतीह विश्वम् ॥७॥

यथा---जैसे, ऊर्णनाभि---मकडी, सृजते---(जाले की) रचना करती है, गृह्णते च---और (जाले को) ले लेती है, समेट लेती है, यथा---जैसे, पृथिव्याम्



जैसे मकडी जाले का सृजन करती है वैसे ही ब्रह्म इस सृष्टि का

अक्षर ब्रह्म से यह विश्व कैसे हुआ ? ब्रह्म ने तप किया, 'तप' अर्थात् 'उग्र-क्रिया' (Activity in Climax) से ब्रह्म बढने लगा,

---

—पृथिवी पर, ओषधय —ओषधियाँ, वनस्पति, सभवन्ति—उत्पन्न होती हैं, यथा—जैसे, सत —सत्तावान्, जीवित, पुरुषात्—पुरुष-देह से, केश-लोमानि—बाल और रोम (निकलते हैं), तथा—वैसे ही, अक्षरात्—अव्यय-अविनाशी (ब्रह्म के शरीर के समान प्रकृति) से, सभवति—होता है, इह—इस (ब्रह्माण्ड) मे, विश्वम्—सम्पूर्ण ससार ॥७॥

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात्प्राणो मन सत्य लोका कर्मसु चामृतम् ॥८॥

तपसा—तप से, चीयते—बढता है, ब्रह्म—परमात्मा, ज्ञान, तत —

विश्व के रूप में विकसित होने लगा। विकसित होते-होते 'अन्न' तक उसका विकास हो गया। ब्रह्म के विश्व-रूप में विकास का आदि 'तप' है, अन्त 'अन्न' है। अन्न ऐसी वस्तु है जो प्राण, मन, सत्य, लोक, कर्म और कर्म में रहने वाले अमृत, अर्थात् ऐसा कर्म जिसमें अमृत निहित है—इन सब को उत्पन्न करता है। अन्न से ही सब चलता है ॥८॥

वह सर्वज्ञ है। वह सब जगह पहुंचा हुआ है। उसका 'तप' क्या है? 'ज्ञान' ही उसका तप है। हमारा तप कैसे प्रकट होता है?—'क्रिया' के रूप में। उसका 'तप' कैसे प्रकट होता है?—'ज्ञान' के रूप में। इसलिये उसके लिये 'ज्ञान' ही 'तप' है। उसी के विकास से यह बृहत्, नाम-रूपवाला जगत्, और यह अन्न जिससे सब व्यवहार चल रहा है, उत्पन्न होता है ॥९॥

प्रथम-मुडक—(द्वितीय खण्ड)

अपरा-विद्या अर्थात् कर्म-काड की निरर्थकता

'अपरा-विद्या' का अर्थ है 'कर्म-काड', अथवा 'रूढिवाद'। 'परा-विद्या' का अर्थ है 'ज्ञान-काड', अथवा 'प्रगतिवाद'। 'अपरा-

---

उनसे, अन्नम्—अन्न, अभिजायते—उत्पन्न होता है, अन्नात्—अन्न से, प्राण—प्राण, मन—मन, सत्यम्—सत्यम्, अस्तित्व, लोका—लोक, कर्मसु—कर्मो मे, च—और, अमृतम्—अमरता, कर्म-फल ॥८॥

य सर्वज्ञ सर्वविद्यस्य ज्ञानमय तप।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्न च जायते ॥९॥

य—जो, सर्वज्ञ—सर्वज्ञाता, सर्वविद्—सब मे पहुँचा हुआ, सर्वव्यापक, यस्य—जिसका, ज्ञानमयम्—ज्ञान-स्वरूप या बुद्धिपूर्वक, तप—कर्म, तस्मात्—उस (तप) से, एतद्—यह, ब्रह्म—ब्रह्म, वेद-ज्ञान, नाम—नाम, रूपम्—रूप (आकृति), अन्नम्—अन्न, च—और, जायते—उत्पन्न होता है, प्रगट होता है ॥९॥

तदेतत्सत्य मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यस्तानि त्रेताया बहुधा सततानि।
तान्याचरथ नियत सत्यकामा एष व पन्था सुकृतस्य लोके ॥१॥

तद्—वह, एतत्—यह, सत्यम्—सत्य है, मन्त्रेषु—वेदमन्त्रो मे, कर्माणि—कर्मो को, कवय—क्रान्तदर्शी, मनीषियो ने, यानि—जिन, अपश्यन्

विद्या' के अनुयायी कर्म-काण्डी, यज्ञ-याग आदि करने वाले, ब्रह्म को प्राप्त करने का साधन यज्ञों को, रूढ़ियों को बतलाते हैं। इस संबंध में अंगिरा ने शौनक को कहा—

कर्म-काण्डियों का कहना है कि ऋषि लोगों ने वेद-मन्त्रों में जिन कर्मों, अर्थात् यज्ञों का बखान किया है, वे ही सत्य-मार्ग हैं। त्रेता-युग में उन्हीं कर्मों का विस्तार होता था। हे सत्य-संकल्प वालो! उन्हीं के अनुसार दृढ़ता से आचरण करो। तुम अपने पुरुषार्थ से जिस लोक का निर्माण करना चाहते हो, उसमें तुम्हारा यही रास्ता है, इसी सत्य-मार्ग पर दृढ़ता से कदम बढ़ाये चलो ॥१॥

जब हव्य का वाहन करने वाली अग्नि प्रदीप्त हो उठती है, ज्वालाएं लपटें मारने लगती हैं, तब बीच में, श्रद्धा से आज्यभागाहुती नाम की दो आहुतियां डाली जाती हैं ॥२॥

अगर अग्निहोत्र उक्त प्रकार का न हो—न अग्नि ही प्रदीप्त हो, न श्रद्धा-पूर्वक आहुतियां ही दी जायं—अगर अग्निहोत्र दर्शेष्टि-रहित हो, पौर्णमासेष्टि-रहित हो, चातुर्मास्येष्टि-रहित हो, नवान्नेष्टि-

---

—देखा, जाना, तानि—वे कर्म, त्रेतायाम्—त्रेता-युग में, बहुधा—बहुत प्रकार से, सततानि—विस्तृत हुए, फैले, तानि—उन (वेद-विहित कर्मों) को, आचरथ—आचरण करो, अनुष्ठान करो, नियतम्—निश्चित ही, अवश्य ही, सत्यकामा—हे सच्चे संकल्प वालो दृढ़ निश्चयी, एष—यह ही, व—तुम्हारा, पन्था—मार्ग है, सुकृतस्य—पुण्य (सत्कर्म) के, लोके—लोक में ॥१॥

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने।
तदाज्यभागावन्तरेणाहुती प्रतिपादयेच्छ्रद्धया हुतम् ॥२॥

यदा—जब, लेलायते—लपलपाती है, हि—ही, अर्चि—अग्नि की लपट, समिद्धे—प्रदीप्त होने पर, हव्यवाहने—अग्नि के, तदा—तब, आज्य-भागौ—आज्यभाग नाम की, अन्तरेण—बीच में, आहुती—आहुतियों को, प्रतिपादयेत्—करे, डाले, श्रद्धया—श्रद्धा से, हुतम्—होम करके ॥२॥

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च।
अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान्हिनस्ति ॥३॥

यस्य—जिस (कर्मकाण्डी) का, अग्निहोत्रम्—अग्निहोत्र, अदर्शम्—अमावस्या-इष्टि के बिना, अपौर्णमासम्—पौर्णमासेष्टि के बिना, अचातुर्मास्यम्—

रहित हो, अतिथि-पूजा-रहित हो, आहुति-रहित हो, वैश्वदेव-यज्ञ-रहित हो, अर्थात् विधि-रहित हो, तो उक्त सातो प्रकार की विधियो से रहित होने के कारण वह उसके सात लोको के पुण्य को समाप्त कर देता है, उस यज्ञ से कोई पुण्य-फल नही मिलता ॥३॥

लपटें मारती हुई 'यज्ञाग्नि-रूपी' देवी की सात जिह्वाए है, वे जिह्वाए है, 'काली', 'कराली', मन के समान वेग से उठने वाली 'मनोजवा', रक्त-वर्ण वाली 'सुलोहिता', धूम्रयुक्त 'सुधूम्रवर्णा', चिनगारियो वाली 'स्फुलिंगिनी', भिन्न-भिन्न रूपो वाली 'विश्व-रुची' ॥४॥

(भू भुव स्व मह जन तप सत्यम्—ये सात लोक है। जीव अपने प्राण द्वारा भू लोक से क्रमिक लोको मे से होता हुआ सत्य लोक तक पहुचता है। जीव का प्राण जब भू लोक मे होता है तब तथा अन्य लोको मे जब जाता है तब की अवस्था को यज्ञ कहा जाता है। उस अवस्था मे प्राण की अग्नि उत्पन्न होती है। भू लोक मे प्राण की अग्नि का नाम काली, भुव लोक की अग्नि का नाम कराली, स्व लोक की अग्नि का नाम मनोजवा आदि है। इसी प्रकार यह सिलसिला आगे चलता चला जाता

चातुर्मास्य-इष्टि के बिना, **अनाग्रयणम्**—शरत्कालीन नव-सस्येष्टि के बिना, **अतिथिवर्जितम्**—अतिथि-यज्ञ—अतिथि-पूजा के बिना, **च**—और, **अहुतम्**—अग्निहोत्र किया ही न जाय, **अवैश्वदेवम्**—वैश्वदेव यज्ञ के बिना, **अविधिना हुतम्**—उचित विधान से न किया हुआ (अग्निहोत्र), **तस्य**—उसके, **आसप्तमान् लोकान्**—सातवे लोक (सात कर्म-फलो) तक, **हिनस्ति**—नष्ट कर देता है, निष्फल कर देता है॥ ३ ॥

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिंगिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वा ॥४॥

काली—काले वर्णवाली, **कराली**—भयावह, **मनोजवा**—मन के समान वेगवाली, अति चचल, **सुलोहिता**—बहुत लाल रग की, **या च**—और जो, **सुधूम्रवर्णा**—गहरे धुएँ के रगवाली, **स्फुलिंगिनी**—चिनगारी वाली, **विश्वरुची**—भिन्न-भिन्न कान्ति (रग) वाली, बहुरगी, च—और, **देवी**—प्रकाशवती, **लेलायमाना**—लपलपाती हुई, **इति**—ये, **सप्त**—सात, सात प्रकार की, **जिह्वा**—(अग्नि की) लपटें है ॥४॥

है। जीव अपने प्राण द्वारा जिस लोक मे जाता है उस लोक की अग्नि उसमे प्रदीप्त हो जाती है। प्रश्न है कि ये लोक क्या है? ये लोक शरीर मे भिन्न-भिन्न चक्र है। मूलाधार चक्र भू लोक है और ब्रह्म-रध्र सत्य लोक है। बीच के चक्र बीच के लोक है। जब तक कुडलिनी जागृत नही होती तब तक मनुष्य भू लोक मे, अर्थात् भौतिक-जगत् मे रमा रहता है, जब कुडलिनी साधना मे जागृत हो जाती है तब वह इन सातो लोको के क्रम पर चल पडता है। इस यात्रा मे भू लोक के बाद भुव आदि के क्रम मे विकास करता हुआ अन्त मे सत्य लोक मे पहुच जाता है जहा प्राण मे 'विश्वरुची' अग्नि प्रकट होती है।)

जो याज्ञिक ठीक-ठीक समय पर यज्ञाग्नि की इन दीप्त जिह्वा-रूप-ज्वालाओ में आहुतिया देता रहता है, उसे सूर्य की रश्मिया उस लोक में ले जाती हैं जहा देवताओ के पति का एकमात्र अधिवास है ॥५॥

तेजोमय आहुतिया सूर्य की रश्मियो के साथ यजमान को 'आइये'-'आइये'—ऐसी मीठी वाणी बोलती हुई, उसकी स्तुति करती हुई, उसे वहन करके ले जाती हैं, और कहती है, तुम्हारे सुकृत से यह पुण्य 'ब्रह्म-लोक' तुम्हें प्राप्त हुआ है ॥६॥

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकाल चाहुतयो ह्याददायन्।
तन्नयन्त्येता सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवाना पतिरेकोऽधिवास ॥५॥

एतेषु—उन (अग्नि की लपटा) मे, य—जो, चरते—अग्निहोत्र आदि करता है, भ्राजमानेषु—चमकती, प्रदीप्त, यथाकालम्—नियत समय पर, समयानुसार, च—और, आहुतय—आहुतियाँ, हि—ही, आददायन्—लेता हुआ, होमता हुआ, तम्—उसको, नयन्ति—ले जाती हैं, पहुँचा देती हैं, एता—ये, सूर्यस्य—सूर्य की, रश्मय—किरणे, यत्र—जहा, देवानाम्—देवताओ का, पति—रक्षक, अध्यक्ष, राजा, एक—एक, अधिवास—रहता है ॥५॥

एह्येहीति तमाहुतय सुवर्चस सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमान वहन्ति।
प्रिया वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष व पुण्य सुकृतो ब्रह्मलोक ॥६॥

एहि-एहि—आ-आ, इति—इस प्रकार से, तम्—उसको, आहुतय—प्रदत्त आहुतियाँ, सुवर्चस—दीप्तिमती, प्रदीप्त, सूर्यस्य—सूर्य की, रश्मिभि—

यज्ञ के विषय में याज्ञिक लोग, ऊपर जो-कुछ कहा गया है, यह सब-कुछ कहते हैं, परन्तु अंगिरा ऋषि का कथन है कि भव-सागर को पार करने के लिये ये यज्ञ-रूप प्लव, ये यज्ञ-याग आदि के बेड़े, अदृढ हैं, बिल्कुल ढीले हैं। ये 'अपरा-विद्या' हैं, विद्या क्या, ये अविद्या हैं। इनमें १८ प्रकार के कर्म कहे गये हैं, परन्तु ये सब कर्म 'अवर' हैं, श्रेष्ठ नहीं हैं। जो मूढ व्यक्ति इन यज्ञीय-कर्मों को श्रेय मानकर आनन्द मनाते फिरते हैं, वे बार-बार जरा तथा मृत्यु के बन्धन में फंसते हैं ॥७॥

(यज्ञ में १८ प्रकार के 'कर्म' कौन-से हैं ? ब्रह्मा-उद्गाता-अध्वर्यु-होता—ये चार यज्ञ कराते हैं, इनके सहयोगी प्रत्येक के तीन-तीन होते हैं, इस प्रकार चार-चार के जोड़े से १६ कर्म करने वाले हुए। इन १६ के अतिरिक्त यजमान और यजमान-पत्नी दो हुए। कुल १८ कर्म करने वाले हो गये। बाह्य-यज्ञ के ये १८ कर्म हैं—यह ब्रह्माण्ड की चर्चा हुई। ऋषि का कहना है कि वास्तविक यज्ञ तो पिंड में, अध्यात्म में हो रहा प्राण-यज्ञ है। उस प्राण-यज्ञ में ब्रह्मा के स्थान में 'मन' है, अध्वर्यु के स्थान में 'वाणी' है—देखो छान्दोग्य ४-१५।)

किरणों के द्वारा, **यजमानम्**—यज्ञ-कर्ता को, **वहन्ति**—ले जाती हैं, पहुंचाती हैं, **प्रियाम्**—प्रिय, मधुर, **वाचम्**—वाणी को, **अभिवदन्त्य**—बोलती हुई, **अर्चयन्त्य**—पूजा-अर्चना करती हुई, **एष**—यह ही, **व**—तुम्हारा, **सुकृत**—पुण्यमय, **ब्रह्मलोक**—बृहि (फलने व फूलने) का यज्ञ-फल है ॥६॥

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्यु ते पुनरेवापि यन्ति ॥७॥

प्लवा—बेड़े, नाव, **हि**—निश्चयपूर्वक, **एते**—ये, **अदृढा**—कमजोर, समय पर धोखा देने वाले, **यज्ञरूपा**—यज्ञरूपी, **अष्टादश**—अठारह प्रकार का, **उक्तम्**—कहा गया है, बताया गया है, **अवरम्**—हीन, **येषु**—जिनमें, **कर्म**—विधियाँ, **एतत्**—इसको, **श्रेय**—कल्याणकारी, मोक्ष साधन, **ये**—जो, **अभिनन्दन्ति**—(मानकर) प्रसन्न होते हैं या (इनका) आदर करते हैं, **मूढा**—अज्ञानी, **जरामृत्युम्**—बुढ़ापा और मौत को, जन्म-मरण को, **ते**—वे, **पुन एव**—फिर भी, **अपियन्ति**—प्राप्त होते हैं (आवागमन के चक्र से नहीं छूटते) ॥७॥

अविद्या में पडे हुए, अपने को धीर और पडित मानते हुए मूर्ख लोग ऐसे फिरते है जैसे अन्धे को अन्धा रास्ता दिखा रहा हो, और ठोकरे खा रहा हो ॥८॥

भिन्न-भिन्न प्रकार से अविद्या मे पडे हुए, बडे होकर भी बालक-की-सी बुद्धि रखने वाले लोग, अपने को कृतार्थ मानकर अभिमान से फूले फिरते है। जिस काम मे लगे होते है उसमे इतने अनुरक्त हो जाते है कि यह नही जान पाते कि कर क्या रहे है। उसी से दु ख मे आतुर होकर दीन-दुनिया से हाथ धो बैठते है, और सब तरह से नीचे जा गिरते है ॥९॥

मूढ-लोग इष्टापूर्त को, यज्ञ-याग आदि तथा दान आदि को सब-कुछ समझ बैठते है। कहते है, हमने सब अच्छे काम कर लिये, वे इससे

अविद्यायामन्तरे वर्तमाना स्वय धीरा पण्डितमन्यमाना ।
जघन्यमाना परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा ॥८॥

अविद्यायाम्—अविद्या मे, प्रेयोमार्ग मे, **अन्तरे**—बीच मे, **वर्तमाना**—विद्यमान, **स्वयम्**—स्वय ही, **धीरा**—ज्ञानी, (**स्वय धीरा**—तथा-कथित ज्ञानी), **पण्डितमन्यमाना**—अपने को पण्डित (चतुर, समझदार) समझने वाले, **जघन्यमाना**—ठोकरे खाते हुए, **परियन्ति**—इधर-उधर फिरते है, भटकते है, **मूढा**—मूर्ख, अविद्याग्रस्त, **अन्धेन**—अन्धे से, **एव**—ही, **नीयमाना**—ले जाये जाते हुए, **यथा**—जैसे, **अन्धा**—अन्धे ॥८॥

अविद्याया बहुधा वर्तमाना वय कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बाला ।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुरा क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥९॥

अविद्यायाम्—अज्ञान मे, प्रेयोमार्ग मे, **बहुधा**—भिन्न-भिन्न रूप से, **वर्तमाना**—विद्यमान, पडे हुए, **वयम्**—हम, **कृतार्था**—पूर्णकाम, सफल मनोरथ (हो गये है), **इति**—इस प्रकार से, **अभिमन्यन्ति**—अभिमान करते है, **बाला**—बालक समान अज्ञानी, **यत्**—क्योंकि, **कर्मिण**—सकाम कर्म करने वाले, **न**—नही, **प्रवेदयन्ति**—तत्त्व (असली स्थिति) को जानते है, **रागात्**—सुखाभिलाषा से, **तेन**—उस कारण से, **आतुरा**—(बदले मे) दु खी हुए, **क्षीणलोका**—जिनके कर्मफल (भोगने के पश्चात्) समाप्त हो गये है, वे, **च्यवन्ते**—(उस सुख की स्थिति से) गिर जाते है, पतित हो जाते है ॥९॥

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठ नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढा ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेम लोक हीनतर वा विशन्ति ॥१०॥

इष्ट+आपूर्तम्—इष्ट (श्रौत यज्ञ-याग) और आपूर्त (धर्मार्थ बनाये

अन्य कुछ श्रेय जानते ही नही। सुकृत से जो सुख प्राप्त होता है, उसको तो मानो वे पीठ को ही छू पाते है, और इस हीनतर लोक में आ पहुचते है, क्योकि यज्ञ-याग आदि वास्तविक 'सुकृत' नही है ॥१०॥

वास्तविक 'सुकृत' कौन करता है ? जो शात-चित्त, विद्वान् जगल में भिक्षा-वृत्ति से जीवन-निर्वाह करते हुए 'तप' (शारीरिक-साधना) और 'श्रद्धा' (आत्मिक-साधना)-पूर्वक रहते है, वे सब मलो से शुद्ध होकर सूर्य-द्वार से वहा पहुचते है जहा अमृत, अव्ययात्मा पुरुष है ॥११॥

(सूर्य शुद्धता का प्रतिनिधि है। अन्य किसी भी वस्तु मे अशुद्धता की सम्भावना हो सकती है, सूर्य मे नही। जो शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक-दृष्टि से सर्वथा शुद्ध हो जाते है, वे सूर्य के, अर्थात् विलक्षण-शुद्धता के मार्ग पर चल देते है। इस सूर्य-मार्ग द्वारा ही वे परमात्मा को पाते है। ससार की किसी वस्तु मे उनकी आसक्ति नही होती। जो यज्ञ-यागादि, दान-पुण्यादि मे अनुरक्त रहते है, वे कर्मफल के बन्धन मे बधे रहते है, शुद्ध नही हो पाते, 'ससार'

वापी-कूप-तडाग-धर्मशाला आदि) कर्मा को, **मन्यमाना**—समझते हुए, **वरिष्ठम्**—सबसे बढकर, **न**—नही, **अन्यत्**—(इष्टापूर्त से) भिन्न दूसरा, **श्रेय**—कल्याणकर, मोक्ष-साधन को, **वेदयन्ते**—जानते है, **प्रमूढा**—मूर्ख लोग, **नाकस्य**—दु खशून्य स्वर्ग के, **पृष्ठे**—छत पर, शिखर पर, **ते**—वे, **सुकृते**—पुण्यकर्म से सम्पादित, **अनुभूत्वा**—(उनका) अनुभव करके, **इमम्**—इस, **लोकम्**—लोक को, अवस्था को, **हीनतरम्**—बहुत ही निकृष्ट, **वा**—फिर, **विशन्ति**—घुसते हैं, प्राप्त करते है ॥१०॥

तप श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वासो भैक्षचर्या चरन्त।
सूर्यद्वारेण ते विरजा प्रयान्ति यत्रामृत स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥११॥

तप श्रद्धे—तप और श्रद्धा (सत्य-धारणा) को, **ये हि**—जो तो, **उपवसन्ति**—सेवन करते है, अनुष्ठान करते है, **अरण्ये**—वन मे, **शान्ता**—शान्त, उद्वेग शून्य, **विद्वास**—ज्ञानी, **भैक्ष्यचर्याम्**—भिक्षा-वृत्ति को, **चरन्त**—करते हुए, **सूर्यद्वारेण**—सूर्य-द्वार से, उदान द्वारा सुषुम्णा मार्ग से (प्राण छोड कर), **ते**—वे, **विरजा**—मल-दोषो से रहित, शुद्ध, **प्रयान्ति**—पहुँच जाते हैं, **यत्र**—जहाँ, **अमृत**—अमर, **स**—वह, **पुरुष**—सर्व व्यापक ब्रह्म, **हि**—ही, **अव्यय+आत्मा**—अविनाशी (अक्षर) स्वरूप वाला (है) ॥११॥

को तो पा जाते है, 'अमृत' को नही पा सकते । इस प्रकरण मे सूर्य-मार्ग का अर्थ उत्तरायण-मार्ग भी हो सकता है । छान्दोग्य —४-१५, ५-१०—मे देवयान तथा पितृयाण मार्गो का वर्णन है । देवयान सूर्य-मार्ग है, यही उत्तरायण-मार्ग है । ब्रह्मज्ञानियो का कहना है कि ब्रह्म-लोक पृथिवी के उत्तर मे है । जब सूर्य भी पृथिवी के उत्तर मे आ जाता है, उस समय—उत्तरायण-काल मे—प्राण त्यागने से जीव सूर्य के द्वार से होता हुआ सीधा ब्रह्म-लोक पहुच जाता है । 'उपवसन्ति अरण्ये'—इसका अर्थ आध्यात्मिक लोग जगल मे जा बसना न करके मस्तिष्क के सहस्रार मे अर तथा ण्य नामक शक्ति के दो केन्द्रो मे ध्यान जमाना—यह करते है । उपनिषद् ने स्वय भी—छान्दोग्य, ८-५-३—'अरण्यायन' का अर्थ 'अर' तथा 'ण्य' ये दो समुद्र किया है ।)

यज्ञ-याग, दान-पुण्य—इन कर्मों से, अर्थात् सकाम-भावना से किये गये कर्मो से जो सुख-ऐश्वर्य प्राप्त होते है, इनकी परीक्षा करके ब्राह्मण-वृत्ति के मनुष्य के हृदय में ससारी विषयो से उदासीनता आ जाती है, और वह समझ जाता है कि 'अकृत' को 'कृत' से नही पाया जा सकता । यज्ञ-याग आदि सब 'कृत' है, तभी इन्हे 'क्रतु' कहा गया है । 'कृत' से 'कृत' ही पाया जा सकता है, जिसकी उत्पत्ति है और विनाश है वही मिल सकता है । 'कृत' से 'अकृत' नही मिलता । ब्रह्म तो 'अकृत' है, उसकी उत्पत्ति नही, विनाश नही । 'अकृत' को 'अक्रतु' ही पा सकता है—'तमक्रतु पश्यति' । उस 'अकृत' को जानने के लिये समित्पाणि होकर, श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु के चरणो मे उपस्थित होना आवश्यक है ॥१२॥

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृत कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठम् ॥१२॥

परीक्ष्य—परीक्षा करके, **लोकान्**—लोको को, भोगो को, कर्म-फलो को, **कर्म-चितान्**—कर्मो मे सचित (अर्जित), **ब्राह्मण**—ब्रह्मज्ञान का इच्छुक, **निर्वेदम्**—(सकाम कर्मो से) विरक्ति—वैराग्य को, **आयात्**—प्राप्त होवे, (क्योकि) **न+अस्ति**—नहीं प्राप्त होता है, **अकृत**—नित्य, सनातन, जिसकी उत्पत्ति नहीं, **कृतेन**—अनित्य कर्मो से, **तद्**—उसके, **विज्ञानार्थम्**—

इस प्रकार श्रद्धा-पूर्वक जब कोई जिज्ञासु चित्त में शांति लेकर, इन्द्रियों को कल्याण-मार्ग पर लगाकर गुरु के निकट पहुंचता है, तब वह विद्वान्, जिस 'ब्रह्म-विद्या' द्वारा अक्षर पुरुष का तात्त्विक-ज्ञान हो सकता है, उस ब्रह्म-विद्या का सत्य उपदेश दे देता है ॥१३॥

द्वितीय-मुण्डक—(प्रथम-खण्ड)

विराट्-पुरुष से ही सब कुछ उत्पन्न है

वह सत्य उपदेश यह है। जैसे प्रचण्ड, प्रदीप्त अग्नि से एक ही प्रकार की सहस्रों चिनगारियां पैदा होती हैं, हे सोम्य! इसी प्रकार अक्षर से विविध 'भाव', अर्थात् अस्त्यात्मक 'चेतन' और 'जड'-जगत्, सत्तारूप जगत् (भावा—Substances) उत्पन्न होता है, उसी में फिर लौट जाता है ॥१॥

ज्ञान के लिये, स—वह (जिज्ञासु), गुरुम्—गरिमामय उपदेष्टा के, एव—ही, अभिगच्छेत्—पास जावे, समित्पाणि—(उपहार भूत) समिधाएँ (यज्ञ-सामग्री) हाथ में लेकर, श्रोत्रियम्—श्रुति (वेद) के तत्त्वार्थ को जानने वाले, ब्रह्मनिष्ठम्—स्वय ब्रह्म में निष्ठा (अविचल स्थिति) रखने वाले, ('कृत' जो किया जा सके—'अनित्य', 'अकृत' जो न किया जा सके—'नित्य') ॥१२॥

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥१३॥

तस्मै—उस (जिज्ञासु) को, **स**—वह गुरु, **उपसन्नाय**—पास में आये हुए-बैठे हुए, **सम्यक्**—पूर्णतया, **शान्तचित्ताय**—प्रशान्त चित्त वाले, चित्त-विक्षेपों से मुक्त, **शमान्विताय**—बाह्य इन्द्रियों के निग्रह से युक्त, इन्द्रियजयी, **येन**—जिस प्रकार, **अक्षरम् पुरुषम्**—अविनाशी परमात्मा को, **वेद**—जान जाये, **सत्यम्**—सत्यस्वरूप ब्रह्म को या ठीक-ठीक-सच्चा, सही रूप में (क्रिया विशेषण), **प्रोवाच**—कहा, उपदेश करे, **ताम्**—उस, **तत्त्वत**—यथार्थता से, **ब्रह्मविद्याम्**—ब्रह्मज्ञान (परा विद्या) को ॥१३॥

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥१॥

तद् एतद् सत्यम्—वह सत्य यह है, **यथा**—जैसे, **सुदीप्तात्**—भली प्रकार प्रज्वलित, **पावकाद्**—अग्नि से, **विस्फुलिंगा**—चिनगारियाँ, **सहस्रश**—हजारों, **प्रभवन्ते**—उत्पन्न होती हैं, **सरूपा**—समान रूप वाली, एक सी,

भावात्मक, अर्थात् सत्तात्मक-जगत् में जो भी सत्ताएं हैं, वे या तो चेतन है या जड़। 'जड' की व्याख्या करने की आवश्यकता न समझ कर ऋषि 'चेतन' सत्ताओ की भी मूर्धन्य सत्ता, पुरुषों के भी पुरुष—विराट्-पुरुष की—व्याख्या करते हुए कहते हैं—वह चेतन सत्तारूप विराट् 'पुरुष' दिव्य-आभायुक्त होता हुआ भी अमूर्त है, बाहर होता हुआ भी अन्दर है, संसार को उत्पन्न करता हुआ भी स्वय उत्पन्न नहीं होता, प्राण का सचार करते हुए भी स्वय अप्राण है, सब मनों को प्रेरणा देते हुए भी उसका अपना मन नहीं, वह अक्षर है परन्तु उसका शुभ्र रूप तो अक्षर से भी परे-से-भी-परे है ॥२॥

प्राण, मन, सब इन्द्रिया, आकाश, वायु, ज्योति, जल, विश्व का धारण करने वाली पृथिवी उसी से उत्पन्न होती है ॥३॥

तथा—वैसे ही, अक्षराद्—अविनाशी प्रकृति मे या अविनाशी (निमित्त कारण) ब्रह्म से, विविधा—अनेक प्रकार की, भावा—सत्ताएँ, पदार्थ, प्रजायन्ते—उत्पन्न होते ह, तत्र च—और उस (उपादान कारण प्रकृति या निमित्त कारण ब्रह्म) मे, एव—ही, अपियन्ति—प्रलीन हो जाते है ॥१॥

दिव्यो ह्यमूर्त पुरुष स बाह्याभ्यन्तरो ह्यज ।
अप्राणो ह्यमना शुभ्रो ह्यक्षरात्परत पर ॥२॥

दिव्य—दिव्य, हि—ही, अमूर्त्त—अशरीरी, अरूप, पुरुष—पुरुष (कार्य-कारण प्रकृति मे व्यापक), स—वह ब्रह्म, बाह्य+आभ्यन्तर—इस रचना के बाहर भी है और इसके अन्दर भी रमा हुआ है, हि—ही, अज—अजन्मा, अप्राण—प्राण-शून्य, हि—ही, अमना—मन से रहित, शुभ्र—कान्तिमान्, स्वच्छ, निर्मल, हि—ही, अक्षरात्—अविनाशी अव्यक्त प्रकृति मे भी, परत. पर—सूक्ष्मातिसूक्ष्म, अधिक श्रेष्ठ है, उससे बढकर है ॥२॥

एतस्माज्जायते प्राणो मन सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिराप पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥३॥

एतस्मात्—इससे ही, जायते—उत्पन्न होता है, प्राण—प्राण, मन—मन, सर्वेन्द्रियाणि च—और सारी इन्द्रियाँ, खम्—आकाश, वायु—वायु, ज्योति—तेज, आप—जल, पृथिवी—पृथिवी, विश्वस्य—सब का, धारिणी—धारण करने वाली ॥३॥

जैसे मनुष्य-शरीर में आत्मा है, वैसे पच-महाभूतो में परमात्मा का वास है, वह सब भूतो का अन्तरात्मा है। यह ससार उस विराट्-पुरुष का शरीर है। अग्नि उसका मूर्धा है, मस्तिष्क है। जैसे मस्तिष्क द्वारा ज्ञान होता है, वैसे अग्नि द्वारा जहा चाहें वही हम अन्धकार को दूर कर सकते हैं। सूर्य अपने निश्चित समय पर उदित-अस्त होता है, परन्तु अग्नि का उपयोग अन्धकार को दूर करने के लिये हर समय किया जा सकता है। चन्द्र तथा सूर्य उसकी दो आखें हैं। दिशाएं उसके श्रोत्र हैं। विस्तृत ज्ञान-रूपी वेद उसकी वाणी है। वायु प्राण है। विश्व उसका हृदय है। पृथिवी पाव है ॥४॥

जिस विराट्-पुरुष के लिये सूर्य समिधा-रूप है, अर्थात् जैसे समिधा प्रदीप्त नही होती, वैसे जिस तेज के पुज भगवान् के सम्मुख सूर्य जैसा दीप्तिमान् तेज का पुंज समिधा की तरह तेज-हीन है, उसी विराट्-पुरुष से अग्नि उत्पन्न हुई है। चन्द्र जैसे पृथिवी में वर्षा का सिचन करता है और उससे ओषधिया उत्पन्न होती है, पुरुष जैसे स्त्री में वीर्य का सिचन करता है और उससे प्रजा उत्पन्न होती है, इसी तरह विराट्-पुरुष से ही सब-कुछ प्रसूत हुआ है ॥५॥

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिश श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदा ।
वायु प्राणो हृदय विश्वमस्य पद्भ्या पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥४॥

(इस विराट्-पुरुष ब्रह्म का) अग्नि—अग्नि, तेज, मूर्धा—सिर (शिर स्थानीय है), चक्षुषी—(इसकी) आँखे, चन्द्र-सूर्यौ—चन्द्र और सूर्य है, दिश—दिशाएँ (आकाश), श्रोत्रे—(इसके) कान है, वाग्—(इसकी) वाणी, विवृता—विवरण सहित (सागोपाग), च—और, वेदा—वेद है, वायु—वायु, प्राण—(इसका) प्राण (श्वास-प्रश्वास) है, हृदयम्—हृदय, विश्वम्—सारा ब्रह्माण्ड, अस्य—इसका, पद्भ्याम्—पाँवो से (पाद स्थानीय), पृथिवी—पृथिवी है, हि—निश्चय से, एष—यह ब्रह्म ही, सर्वान्तरात्मा—सब का अन्तर्वर्त्ती आत्मा है या यह सर्वान्तर्यामी है ॥४॥

तस्मादग्नि समिधो यस्य सूर्य सोमात्पर्जन्य ओषधय पृथिव्याम् ।
पुमान् रेत सिञ्चति योषितायां बह्वी प्रजा पुरुषात्सप्रसूता ॥५॥

तस्माद्—उससे, अग्नि—अग्नि, तेज, समिध—समिधाएँ, प्रकाशक, यस्य—जिसका, सूर्य—सूर्य, सोमात्—सोम से, त्राटा से, पर्जन्य—मेघ, ओषधय—वनस्पतियाँ, पृथिव्याम्—पृथिवी पर, पुमान्—पुरुष (पुल्लिङ्ग

उसी विराट्-पुरुष से ऋक्, यजु, साम प्रकट होते हैं। इन तीनो वेदो में 'दीक्षा' लेकर, 'यजमान' 'संवत्सर' तक अर्थात् संवत्सर-पर्यन्त 'यज्ञ' तथा अन्य सब 'ऋतु' अर्थात् कर्म करता है, और 'दक्षिणा' देकर उन 'लोको' को प्राप्त होता है जिनमें 'सोम' और 'सूर्य' अपना प्रकाश देते हैं। ये दीक्षा, यजमान, संवत्सर, यज्ञ, सब ऋतु, दक्षिणा, लोक, सोम, सूर्य—सब उसी विराट्-पुरुष से उत्पन्न हुए हैं ('सोम और सूर्य प्रकाश देते हैं' का अभिप्राय 'सोम' से दक्षिणायन तथा 'सूर्य' से उत्तरायण—मुंडक १-२-११ तथा छान्दोग्य ५-१० से है।) ॥६॥

देव, साध्य तथा मनुष्य—ये तीन कोटि के उच्च-जीव हैं। जो पिछले जन्म में साधना कर चुकने के कारण दिव्य गुणो को पाकर उत्पन्न हुए हैं, वे 'देव', जिन्होंने साधना द्वारा इस जन्म में दिव्य-गुण प्राप्त किये हैं, वे 'साध्य' जो साधारण गुणो वाले हैं, वे 'मनुष्य'। ये तीनो उसी विराट्-पुरुष से उत्पन्न हुए हैं। पशु, पक्षी भी उसी से उत्पन्न हुए हैं। प्राण, अपान, व्रीहि, यव, तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य, और इनकी विधि—सब उसी से है ॥७॥

प्राणी), रेत—वीर्य को, सिञ्चति—सींचता है, डालता है, योषितायाम्—स्त्री (स्त्रीलिंग प्राणियों) में, बह्वी—बहुत, अनेक, प्रजा—प्रजाएँ, सन्तति, पुरुषात्—विराट्-पुरुष से, संप्रसूता—उत्पन्न हुई है ॥५॥

तस्मादृच साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोका सोमो यत्र पवते यत्र सूर्य ॥६॥

तस्माद्—उस (विराट्-पुरुष) से, ऋच—ऋचाएँ, ऋग्वेद, साम—सामवेद, यजूंषि—यजुर्वेद, दीक्षा—(कर्म में) अधिकार-स्वीकृति, यज्ञा—यज्ञ (शुभ कर्म), च—और, सर्वे—सब, क्रतव—(सकाम) यज्ञ-कर्म, दक्षिणा—दक्षिणा, कर्म-फल, च—और, संवत्सर—वर्ष (काल-परिमाण), च—और, यजमान—यज्ञ-कर्ता, च—और, लोका—लोक, कर्म-फल के भोग के स्थान (स्थिति-अवस्था), सोम—चन्द्र, यत्र—जिन (लोको) में, पवते—पवित्र करता है, (सूर्य-पक्ष में) तपता है, यत्र—जहाँ, सूर्य—सूर्य ॥६॥

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूता साध्या मनुष्या पशवो वयांसि।
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥७॥

तस्मात् च—और उससे, देवा—विद्वान्, (सर्वश्रेष्ठ) मनुष्य, बहुधा

मनुष्य-शरीर में दो आख, दो कान, दो नाक और एक मुख—ये सात लोक हैं, जो मानो सात गुफाए हैं। इन गुफाओ में प्रविष्ट हुए प्राण विचरते हैं। एक-एक में एक-एक प्राण है, अत सातो में सात-सात प्राण हैं। ये सातो प्राण उसी से उत्पन्न होते हैं। इन सातो गुफाओ मे प्राण-यज्ञ हो रहा है, सात होम हो रहे हैं, जिनमें विषय-रूपी सात समिधाए पड रही हैं, और इन समिधाओ के जलने से ज्ञान-रूपी सात अग्निया ज्योति दे रही हैं। ये सब उसी विराट्-पुरुष से है ॥८॥

इसी से समुद्र, पर्वत हैं, इसी से छोटे-बडे सिन्धु, नदी-नाले बह रहे हैं, इसी से ओषधिया, इसी से ओषधियो का रस उत्पन्न होता है। यह जगत् पाच महाभूतो के साथ विराजमान है। इन सबका अन्तरात्मा वही है ॥९॥

—अनेक, सम्प्रसूता—उत्पन्न हुए, साध्या—सिद्धि-प्राप्त जन, मनुष्या—साधारण जन, पशव—पशु (स्थल-चर), वयासि—पक्षी (नभ-चर), प्राण+अपानौ—प्राण और अपान, व्रीहि-यवौ—धान व जौ (अन्न), तप—तप, च—और, श्रद्धा—सत्य मे दृढ आस्था, सत्यम्—सत्य, ब्रह्मचर्यम्—मनोनिग्रह, विधि—कर्म-विधान (उचित-व्यवस्था), च—और ॥७॥

सप्त प्राणा प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिष समिध सप्त होमा।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिता सप्त सप्त ॥८॥

सप्त—सात (शिर स्थानीय), प्राणा—इन्द्रियाँ, प्रभवन्ति—उत्पन्न होती है, तस्मात्—उस (विराट्-पुरुष) मे, सप्त—सात, अर्चिष—अग्नि-ज्वाला (ज्ञान-ग्रहण-शक्तियाँ), (सप्त) समिध—समिधायें, ईधन (इन्द्रियो के रूप आदि विषय), सप्त—सात, होमा—हवन (ज्ञान), सप्त—सात, इमे—ये, लोका—स्थान (इन्द्रिय-गोलक), येषु—जिनमे, चरन्ति—विचरते है, गति करते है, प्राणा—सात इन्द्रियाँ (ज्ञान-शक्ति), गुहाशया—गुहा (शरीर या हृदय के सुरक्षित स्थान) मे रहने वाले, निहिता—स्थापित, सप्त-सप्त—सात-सात या उनचास (४०) वायु ॥८॥

अत समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धव सर्वरूपा।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥९॥

अत—इस (विराट्पुरुष या हिरण्यगर्भ) मे, समुद्रा—समुद्र, गिरय—पर्वत, च—और, सर्व—सारे, अस्मात्—इससे, स्यन्दन्ते—प्रवाहित होते

हे सोम्य ! यह विश्व उसी पुरुष में है। कर्म, तप, ब्रह्म और परम अमृत सब उसी में है, और उसी से है। गुहा में छिपे हुए उसको जो जान लेता है वह अविद्या की गांठ को, जिसने हमें बांध रखा है, काट डालता है—'अविद्याग्रन्थि विकिरति' ॥१०॥

द्वितीय-मुण्डक—(द्वितीय-खण्ड)

प्रणव द्वारा उसी को जानो

वह गुहा में छिपा है, परन्तु फिर भी प्रकट रूप में हमारे सामने ही पड़ा है, कहते हैं वह महान् है, परन्तु हमारे आत्म-समर्पण के लिये उसके पांव तो यहीं हमारे सामने इस पृथिवी के रूप में समर्पित हैं। हे जड-चेतन-जगत् ! तुम यह जान लो कि वह विज्ञान से परे है, सत्-असत् दोनों से वरेण्य है, अर्थात् बेहतर है, प्रजाओं में वह वरिष्ठ, अर्थात् सबसे बढ़ा-चढ़ा है ॥१॥

है, सिन्धव—नदियाँ, सर्वरूपा—सब प्रकार की (छोटी-बडी), अत च—और इससे ही, सर्वा—सारी, ओषधय—वनस्पतियां, हरियाली, रस—स्वाद, छहों रस, च—और, येन—जिससे, यत , एष—यह, भूतै—पंच-भूतों से, तिष्ठते—विद्यमान है, हि—ही, अन्तरात्मा—अन्तरात्मा (अन्दर रहने वाला) शरीरी जीव या सर्वव्यापक ब्रह्म ॥९॥

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ॥१०॥

पुरुषे—पुरुष (ब्रह्म) में, एव—ही, इदम्—यह, विश्वम्—संसार, ब्रह्माण्ड, कर्म—कर्म, तप—तप, ब्रह्म—ज्ञान, वेद (जिसके लिए ब्रह्मचर्य किया जाता है), पर + अमृतम्—परम-मोक्ष स्थान, एतद्—यह, इसको, य—जो, वेद—जानता है, निहितम्—स्थापित, विद्यमान, गुहायाम्—हृदयाकाश में, स—वह, अविद्या-ग्रन्थिम्—अविद्या (अज्ञान, प्रेय की ओर झुकाव, सकाम कर्म) की गाँठ (बन्धन) को, विकिरति—बखेर देता है, तोड़ देता है, इह—यहाँ, इस जन्म में ही, सोम्य !—हे प्रियवत्स शौनक ! ॥१०॥

आविः सन्निहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्।
एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥१॥

आवि—प्रगट, प्रत्यक्ष, सनिहितम्—(हृदय में) विद्यमान है, गुहाचरम्—(इसलिए ही वह हृदय-गुहा में विद्यमान होने से) गुहाचर, नाम—नाम वाला है, महत्—महान्, पदम्—प्राप्तव्य, लक्ष्य, सब का आश्रय (वह ही है),

हे सोम्य ! जो प्रकाशमान है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, परन्तु जिसमें स्थूल से भी स्थूल लोक निहित है, इन लोकों में जिनका वास है वे प्राणी भी जिसमें निहित है, वही अक्षर ब्रह्म है, वही प्राण है, वही वाणी है, वही मन है, वही सत्य है, वही अमृत है, हे सोम्य ! यह जान ले कि वही तेरा लक्ष्य है, उसी को तूने वींधना है ॥२॥

हे सोम्य ! 'उपनिषद्'-रूप महान् अस्त्र-रूपी धनुष को ग्रहण करके, 'उपासना'-रूप तेज शर का सन्धान करके, 'भगवान्'-रूप लक्ष्य

अत्र—इस (ब्रह्म) में, एतत्—यह (दृश्यमान जगत्), समर्पितम्—सौंपा हुआ, प्रविष्ट, स्थित, आश्रित है, एजत्—काँपता हुआ, गतिमान्, प्राणत्—साँस लेता, प्राणधारी, निमिषत्—आँख की पलकें मारने वाला, च—और भी, यत्—जो कुछ (है सो उसमें ही आश्रित है), एतत्—इसको, जानथ—(हे शिष्यो !) जानो, जानने का प्रयत्न करो, सत्—स्वयं सत्ता वाला, असद्—(अन्य) सत् (जीव-प्रकृति) से भिन्न, वरेण्यम्—वरण करने योग्य, ज्ञेय, प्रार्थनीय, या (सदसद्वरेण्यम्—जगत् की सब सत् (नित्य) और असत् (अनित्य) वस्तुओं से श्रेष्ठ), परम् विज्ञानात्—विज्ञान (अपरा विद्या—लौकिक ज्ञान) से परे, अपरा विद्या से अज्ञेय, यद्—जो, वरिष्ठम्—सर्वोत्कृष्ट, प्रजानाम्—उत्पन्न (अनित्य-विनाशी) पदार्थों में (से) ॥१॥

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च ।
तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः ।
तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि ॥२॥

यद्—जो, अर्चिमद्—ज्योतिष्मान्, प्रकाशस्वरूप है, यद्—जो, अणुभ्य अणु—अणुओं से भी अधिक सूक्ष्म, च—और, यस्मिन्—जिसमें, लोका—लोक-लोकान्तर, निहिता—समर्पित, आश्रित, लोकिन—लोकों में विद्यमान जड़-चेतन, लोकवासी, च—और, तद्—वह (सर्वाश्रय), एतद्—यह, अक्षरम्—अविनाशी, ब्रह्म—ब्रह्म (है), स—वह ही (उसके सहारे ही), प्राण—प्राण, तद् उ—वह ही, वाङ् मन—वाणी और मन, सब ज्ञान-कर्म इन्द्रियाँ व अन्तःकरण (है), तद् एतत्—वह यह ही, सत्यम्—परम सत्तावाला, तद्—वह, अमृतम्—अमर, तद्—उसको ही, वह ही, वेद्धव्यम्—वींधने योग्य, (ज्ञान का) लक्ष्य, सोम्य—प्रिय शिष्य !, विद्धि—जान ॥२॥

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत ।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥३॥

धनु—धनुष को, गृहीत्वा—हाथ में लेकर, औपनिषदम्—उपनिषद्



प्रणव धनुष है—ब्रह्म लक्ष्य है, उसी को तूने बींधना है

ने लगे चित्त से धनुष को खींचकर, 'अक्षर'-रूप लक्ष्य का वेध कर डाल ।।३।।

(परा-विद्या और गुरु-सन्निधि) में प्रतिपादित, प्रसिद्ध, **महास्त्रम्**—कृत्यकारी महान् अस्त्र (साधन) को, **शरम्**—बाण को, **हि**—और, **उपासानिशितम्**—उपासना—सतत ध्यान-भक्ति से तेज (उग्र) हुए, **सधयीत (सदधीत)**—सन्धान कर, **आयम्य**—(अपनी ओर) खूब खींच कर, **तद्भावगतेन**—उसमें ही लीन, तत्त्वभाव (यथार्थ-ज्ञान) को प्राप्त, **चेतसा**—चित्त से, **लक्ष्यम्**—वेद्धव्य लक्ष्य (पद), **तद् एव**—उस ही, **अक्षरम्**—अविनाशी ब्रह्म को, **सोम्य**—प्रिय शौनक, **विद्धि**—जान ।।३।।

प्रणव धनुष है, आत्मा शर है, ब्रह्म लक्ष्य है। अप्रमत्त होकर इस लक्ष्य का वेध करे, फिर जैसे शर लक्ष्यमय हो जाता है, वैसे आत्मा ब्रह्ममय हो जायगा ॥४॥

द्यु, पृथिवी, अन्तरिक्ष—अर्थात् यह विशाल 'ब्रह्माड', एव मन तथा सभी प्राण—अर्थात् यह छोटा 'पिड', उसी ब्रह्म मे ताने-बाने की तरह ओत-प्रोत है। उसी एक आत्मा को पहिचानो—'तम् एव एक जानथ', अन्य बातें करना छोड दो—'अन्या वाचो विमुञ्चथ'। दु ख-मय भव-सागर से पार होकर अमृत तक पहुचने का वही पुल है—'अमृतस्य एष सेतु' ॥५॥

जैसे भिन्न-भिन्न अरे रथ की नाभि में जडे होते है, जैसे भिन्न-भिन्न नाडिया हृदय मे सहत हो जाती है, वैसे ही अनेक रूपो में प्रकट

प्रणवो धनु शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्य शरवत्तन्मयो भवेत् ॥४॥

प्रणव—(ब्रह्म वाचक) ओम् (पद) ही, **धनु**—धनुष्, **शर हि**—और बाण, **आत्मा**—(तेरा चेतन) आत्मा, **ब्रह्म**—परमात्मा ही, **तत्-लक्ष्यम्**—उस जीवात्मा का लक्ष्य, **उच्यते**—कहा जाता है, **अप्रमत्तेन**—प्रमादरहित, सावधान (अन्तर्मुख) होकर, **वेद्धव्यम्**—बीधना चाहिये, **शरवत्**—बाण की तरह, **तन्मय**—उस लक्ष्य मे लीन (लक्ष्य मे प्रविष्ट), **भवेत्**—होवे ॥४॥

यस्मिन्द्यौ पृथिवी चान्तरिक्षमोत मन सह प्राणैश्च सर्वै।
तमेवैक जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुचथामृतस्यैष सेतु ॥५॥

यस्मिन्—जिस (ब्रह्म) मे, **द्यौ**—द्युलोक, **पृथिवी**—पृथिवी, **च**—और, **अन्तरिक्षम्**—अन्तरिक्ष-तीनो लोक (सारा ब्रह्माण्ड), **ओतम्**—व्याप्त है, **मन**—मन, **सह प्राणै**—प्राणो (इन्द्रियो) के साथ, **च**—और, **सर्वै**—सारे, **तम् एव एकम्**—उस ही एक को, **जानथ**—जानो, **आत्मानम्**—परमात्मा को, **अन्या**—दूसरी, **वाच**—वाणियो को, **विमुचथ**—छोड दो, चर्चा मत करो, **अमृतस्य**—अमर-पद मोक्ष का (के लिये), **एष**—यह (आत्म-ज्ञान), **सेतु**—पुल, (भव-सागर मे) पार ले जाने वाला है ॥५॥

अरा इव रथनाभौ सहता यत्र नाड्य।
स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमान।
ओमित्येव ध्यायथ आत्मान स्वस्ति व पाराय तमस परस्तात् ॥६॥

अरा—अरो के, **इव**—समान, **रथनाभौ**—रथ के पहिये की नाभ मे, **सहता**—इकट्ठी हुई, लगी हुई, **यत्र**—जिसमे, **नाड्य**—नाडियाँ (देहमात्र),

होने वाला वह विराट्-पुरुष हमारे हृदय के भीतर ही विचरता है। उस आत्मा का ओंकार के रूप में ध्यान करो, तुम्हारा कल्याण होगा, गाढान्धकार के भी परले पार ले जाने का यही साधन है॥६॥

जो सर्वज्ञ है, सर्ववित् है—सब जगह विद्यमान है, जिसकी महिमा भू-लोक में तथा दिव्य ब्रह्मपुर—ब्रह्म की नगरी—व्योम-लोक में हो रही है, जो आत्मा इन सब स्थानों में प्रतिष्ठित है, जो मनोमय है, जो प्राण और शरीर का नेता है, जो अन्न में भी प्रतिष्ठित है, धीर लोग हृदय (Emotion) तथा मस्तिष्क (Intelligence) के मेल से उसका दर्शन करते हैं। सृष्टि में जो आनन्द की, अमृत की झलक है—'आनन्दरूपम् अमृत यद्विभाति'—वह उसी की झलक दीख रही है॥७॥

स—वह, एष—यह (आत्मा), अन्त—अन्दर, चरते—विचरता है, गति करता है, बहुधा—बहुत प्रकार से, जायमान—प्रगट होता हुआ, ओम् इति—यह ही है 'ओम्', एव—इस प्रकार (रूप में), ध्यायय—ध्यान करो, आत्मानम्—आत्मा का, स्वस्ति—कल्याणपूर्वक, व—तुम्हारे (अपने), पाराय—पार होने के लिए, तमस—अन्धकार, अज्ञान से, परस्तात्—बहुत परे॥६॥

य सर्वज्ञ सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठित।
मनोमय प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदय सन्निधाय।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृत यद्विभाति॥७॥

य—जो, सर्वज्ञ—सर्वज्ञाता, सर्वविद्—सब जगह विद्यमान, यस्य—जिसकी, एष—यह, महिमा—प्रतिष्ठा, महत्त्व, बडाई, भुवि—पृथिवी पर, दिव्ये—दिव्य, असाधारण, ब्रह्मपुरे—ब्रह्मलोक (हृदय) में, हि—ही, एष—यह परमात्मा, व्योम्नि—हृदयाकाश में, प्रतिष्ठित—प्रतिष्ठा पा रहा है, मनोमय—मनोगम्य, मन में रमा हुआ, प्राण-शरीरनेता—प्राण और शरीर का सचालक, प्रतिष्ठित—स्थित, अन्ने—अन्न में, भोग्य में, हृदयम्—हृदय को, सन्निधाय—स्थापित कर, तद्विज्ञानेन—उसके जानने से ही, परिपश्यन्ति—साक्षात् करते हैं, धीरा—धीर ज्ञानी, आनन्दरूपम्—आनन्दस्वरूप, अमृतम्—अमर, यद्—जो, विभाति—प्रकाशित हो रहा है॥७॥

'हृदय' की सब गाठें (Emotional Complexes) टूट जाती है, मस्तिष्क के सब संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, मनुष्य जिन नाना कर्मों में व्याकुलता से भागा फिरता है वे छूट जाते हैं, जब उसका पर और अवर—ओर-छोर—दीख जाता है ॥८॥

हिरण्मय कोश—सोने का खजाना—जो तुम्हें दीखता है, इससे दूर एक आध्यात्मिक सुवर्ण का खज़ाना है। दुनिया के खजाने का सिक्का मैला है, कलदार है, उस खजाने का सिक्का निर्मल है, निष्कल है। तुम इस सोने की चमक से चकाचौंध हो रहे हो, उसे देखो, जो शुभ्र है, ज्योतियों की ज्योति है। संसार में रमने वाले इन खजानों के गीत गाते हैं, आत्मा को जानने वाले उस खजाने को जानते हैं जिसकी चमक के बराबर दुनिया में कोई चमक ही नहीं ॥९॥

उसकी ज्योति के सम्मुख सूर्य की ज्योति क्षीण हो जाती है, चन्द्र, तारे, विद्युत् वहा तेजोहीन हो जाते हैं, इस आग का तो कहना

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥८॥

भिद्यते—टूट जाती है, **हृदयग्रन्थि**—हृदय मे पड़ी अभिलाषाओं (काम) की गाठ, **छिद्यन्ते**—कट (मिट) जाते हैं, दूर हो जाते हैं, **सर्वसंशया**—सारे संशय, **क्षीयन्ते**—क्षीण (नष्ट) हो जाते हैं, **च**—और, **अस्य**—इसके, **कर्माणि**—योगक्षेम या प्रेय प्राप्ति के लिए किये जानेवाले कर्म, **तस्मिन्**—उसके, **दृष्टे**—दीखने पर, **परावरे**—वार-पार, ओर-छोर (सीमा) के ॥८॥

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥९॥

हिरण्मये—सोने के बने, **परे**—श्रेष्ठ, उत्तम, **कोशे**—खज़ाने मे, मियान मे, **विरजम्**—मलरहित, **ब्रह्म**—ब्रह्म, **निष्कलम्**—निरवयव, प्राण आदि कलाओं से रहित, **तत्**—वह, **शुभ्रम्**—शुद्ध, **ज्योतिषा ज्योति**—प्रकाशकों (सूर्य-नक्षत्र आदि) का भी प्रकाशक, **तद्**—वह है, **यद्**—जिसको, **आत्मविद**—(पूर्ववर्त्ती) आत्मज्ञानी (जीवात्मा के स्वरूप को जानने वाले) ही, **विदु**—जानते हैं ॥९॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१०॥

न—नही, **तत्र**—उसमें, **सूर्य**—सूर्य, **भाति**—प्रकाशित होता है, **न**—नहीं, **चन्द्र-तारकम्**—चन्द्र और तारे, **न**—नही, **इमा**—ये, **विद्युत**—

ही क्या ? उसकी ज्योति के पीछे ही सब प्रकाशित होते हैं, उसके प्रकाश से ही यह सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित हो रहा है ॥१०॥

अमृत ब्रह्म ही सामने है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दक्षिण में है, ब्रह्म ही उत्तर में है, नीचे ब्रह्म है, ऊपर ब्रह्म है, यह सम्पूर्ण विश्व—संसार में जो-कुछ भी वरिष्ठ है, सब ब्रह्म-ही-ब्रह्म का प्रसार है, उसी का विस्तार है ॥११॥

तृतीय-मुण्डक—(प्रथम-खण्ड)

संसार-वृक्ष के दो पक्षी—एक द्रष्टा, दूसरा भोक्ता

दो पक्षी हैं, सुन्दर पंखों वाले, साथ-साथ जुड़े हुए, एक-दूसरे के सखा। एक ही वृक्ष को सब ओर से घेरे हुए हैं वे। उनमें से एक वृक्ष के फल को बड़े स्वाद से चख रहा है, दूसरा बिना चखे सब-कुछ देख रहा है। जीवात्मा तथा परमात्मा ही दो पक्षी हैं, प्रकृति ही वृक्ष है, कर्मफल ही वृक्ष का फल है। जीवात्मा को कर्मफल मिलता है, परमात्मा प्रकृति में सक्त हुए बिना सम्पूर्ण विश्व का द्रष्टा है (श्वेताश्वतर ४।६ में भी यही भाव है।) ॥१॥

बिजलियाँ, भान्ति—चमकती हैं, कुत—कैसे, अयम्—यह, अग्नि—आग, तम् एव भान्तम् अनु भाति सर्वम्—उसके चमकने के बाद ही यह सब चमकता है, तस्य—उसकी, भासा—दीप्ति से, सर्वम् इदम्—सब कुछ यह, विभाति—चमकता है, प्रकाशित हो रहा है ॥१०॥

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥११॥

ब्रह्म—ब्रह्म, एव—ही, इदम्—यह, अमृतम्—अमर, जरा-मरण रहित, पुरस्तात्—आगे, सामने, ब्रह्म—ब्रह्म ही, पश्चात्—पीछे की ओर, ब्रह्म—ब्रह्म, दक्षिणत—दक्षिण की ओर, च—और, उत्तरेण—उत्तर की ओर, अध—नीचे, च—और, ऊर्ध्वम्—ऊपर, च—और, प्रसृतम्—फैला है, ब्रह्म एव—ब्रह्म ही, इदम्—यह, विश्वम्—ब्रह्माण्ड, इदम्—यह, वरिष्ठम्—सर्वोत्कृष्ट ॥११॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाय समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥१॥

द्वा—दो, सुपर्णा—अच्छे पंखों वाले, सयुजा—साथ-साथ जुड़े हुए, मिले हुए, अविच्छिन्न, सखाया—समान ख्याति (गुण) वाले, समानम्—

प्रकृति-रूपी वृक्ष तो दोनों के लिये समान ही है, परन्तु जीवात्मा तो उसके फल को देखकर बेबस हो जाता है, सामर्थ्यहीन हो जाता है, उसी के खाने में निमग्न हो जाता है, और पीछे अपनी मूर्खता पर पछताने लगता है। और परमात्मा ? परमात्मा प्रकृति-रूपी वृक्ष के फल को नहीं खाता, और फिर भी भोक्ता बना हुआ है, सम्पूर्ण प्रकृति उसी की उपासना में लीन है। जीवात्मा जब परमात्मा की इस महिमा को देख लेता है, तब शोक करना, पछताना छोड देता है ॥२॥

जब जीवात्मा द्रष्टा बनकर, बृहत् विश्व के कारण, इसके स्वामी, इसके कर्ता, प्रकाश-स्वरूप पुरुष को देख लेता है, तब वह विद्वान्

एक ही, **वृक्षम्**—शरीर रूप या प्रकृति रूप वृक्ष को, **परिषस्वजाते**—चिपट रहे है, मे व्याप्त है, **तयो**—उन दोनों में से, **अन्य**—एक (जीवात्मा), **पिप्पलम्**—पीपलीरूप कर्म-फल को, भोग को, **स्वादु**—स्वादपूर्वक, **अत्ति**—खाता है, भोगता है, **अनश्नन्**—न भोग करता हुआ (साक्षी रूप में), **अन्य**—दूसरा (परमात्मा), **अभिचाकशीति**—दोनों (जीव और प्रकृति) को देख रहा है ॥१॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमान ।
जुष्ट यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोक ॥२॥

समाने—एक ही, **वृक्षे**—शरीर-रूप वृक्ष में, **पुरुष**—शरीरधारी जीवात्मा, **निमग्न**—लीन, डूबा हुआ, फसा हुआ, **अनीशया**—(भोग-तृप्ति मे) असामर्थ्य से, दीन भाव से, **शोचति**—शोकाकुल हो जाता है, **मुह्यमान**—मोह (अज्ञान) मे पडा, **जुष्टम्**—शान्तिपूर्वक (क्रिया विशेषण) या भक्तों से सेवित (विशेषण), **यदा**—जब, **पश्यति**—(शरीर-वृक्ष के मोह को छोडकर) देखता है, **अन्यम्**—दूसरे (अपने सखा-मित्र) को, **ईशम्**—समर्थ, सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र (परमात्मा) को, **अस्य**—इसकी, **महिमानम्**—महिमा को, **इति**—तब, अत, **वीतशोक**—शोक रहित (हो जाता है) ॥२॥

यदा पश्य पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीश पुरुष ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जन परम साम्यमुपैति ॥३॥

यदा—जब, **पश्य**—द्रष्टा (जीवात्मा), **पश्यते**—देखता है, **रुक्मवर्णम्**—सुन्दर ज्योति स्वरूप, **कर्त्तारम्**—(निज शरीर-वृक्ष के) रचयिता को, **ईशम्**—प्रभु, **पुरुषम्**—प्रकृति-पुरी में व्याप्त, **ब्रह्म-योनिम्**—ब्रह्म (वेद) के



जीव प्रकृति का भोग करता है, ब्रह्म साक्षी-चेता है

होकर पुण्य-पाप को छोड़कर, शोक, मोह, राग, द्वेष से अलग होकर, परम समता को प्राप्त कर लेता है ॥३॥

आधार या कारण, उपदेष्टा, आदि-गुरु को या सकल सृष्टि के रचयिता को, **तदा**—तब, **विद्वान्**—ब्रह्म-ज्ञानी, **पुण्य-पापे**—पुण्य और पाप को (तज्जन्य सुख-दुःखों को), **विधूय**—झटक कर, हटा कर, **निरञ्जन**—निर्दोष, निष्कलंक, शुद्ध, **परमम्**—परम, **साम्यम्**—समता को, स्वस्थता को, शान्ति को, **एति**—प्राप्त होता है—शान्ति-लाभ करता है ॥३॥

विद्वान् पुरुष यह जान लेता है कि सृष्टि मे जो पच-महाभूतो की आभा छिटक रही है, यह वास्तव में उस ब्रह्म की उत्पन्न की हुई प्राण-शक्ति ही अठखेलिया कर रही है—यह सोचकर वह अधिक नही बोलता। उसकी क्रीडा का क्षेत्र प्रकृति नही रहती, आत्मा हो जाता है,—वह 'आत्म-क्रीड' हो जाता है, उसकी रति प्रकृति में नही, आत्मा मे,—वह 'आत्म-रति' हो जाता है, आत्म-ज्ञान में लग जाने से वह क्रिया-हीन नही हो जाता, पहले से अधिक क्रियावान् हो जाता है। ब्रह्मवादियो मे ऐसा व्यक्ति उच्च-कोटि का माना जाता है ॥४॥

वह आत्मा नित्य के 'सत्य' से, 'तप' से, 'सम्यक्-ज्ञान' से और 'ब्रह्मचर्य' से पाया जा सकता है। शरीर के भीतर ही वह शुभ्र ज्योतिर्मय रूप में विद्यमान है। यति लोग राग-द्वेष आदि दोषो का क्षय करके उसे देख पाते है ॥५॥

प्राणो ह्येष य सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी।
आत्मक्रीड आत्मरति क्रियावानेष ब्रह्मविदा वरिष्ठ ॥४॥

प्राण—जीवन-दाता (ब्रह्म), **हि**—ही, **एष**—यह है, **य**—जो, **सर्वभूतै**—सब भूतो के द्वारा, **विभाति**—प्रकाशित हो रहा है (सब जड-चेतन उस ही का बखान कर रहे है), (यह बात) **विजानन्**—जानने वाला, **विद्वान्**—धीर ज्ञानी, **भवते**—होता है, **न**—नही, **अतिवादी**—बहुत बोलने वाला, **आत्म-क्रीड**—अपने आत्मा मे ही दिल बहलाव करने वाला (अन्तर्मुख), **आत्म-रति**—अपने आत्म-स्वरूप मे रमने वाला, **क्रियावान्**—कर्म करने मे तत्पर (हो जाता है), **एष**—यह (कर्म-तत्पर) ज्ञानी ही, **ब्रह्मविदाम्**—ब्रह्म-ज्ञानियो मे, **वरिष्ठ**—सर्वोत्कृष्ट है ॥४॥

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्त शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो य पश्यन्ति यतय क्षीणदोषा ॥५॥

सत्येन—सत्य से, **लभ्य**—पाया जा सकता है, **तपसा**—तप (शरीर-साधना) से, **हि**—निश्चय रूप से, **एष**—यह, **आत्मा**—ब्रह्म, **सम्यग्ज्ञानेन**—सही ज्ञान से, **ब्रह्मचर्येण**—ब्रह्मचर्य से, **नित्यम्**—लगातार, अव्याहत, **अन्त. शरीरे**—शरीर के अन्दर, **ज्योतिर्मय**—प्रकाश का पुज, **हि**—ही, **शुभ्र**—निर्मल, **यम्**—जिसको, **पश्यन्ति**—साक्षात् करते है, **यतय**—सयमी, **क्षीण-दोषा**—जिनके शरीर-मन-बुद्धि-आत्मा के मल नष्ट हो गये है, वे ॥५॥

सत्य का ही विजय होता है, अनृत का नही। 'देवयान-पन्था'—देव की तरफ जाने वाला मार्ग सत्य से बना है। आप्तकाम-ऋषि जिस मार्ग से चलते हैं, जहा पहुचते हैं, वह सत्य का ही परम-धाम है ॥६॥

वह स्वय महान् है, दिव्य है, अचिन्त्य-रूप है, परन्तु सूक्ष्म-से-सूक्ष्म वस्तु में भी प्रकाशित हो रहा है। वह दूर-से-दूर है, परन्तु देखने वालो के लिये निकट-से-निकट अन्तरात्मा की गुफा में मौजूद है ॥७॥

वह आख से नहीं देखा जा सकता, दूसरे की वाणी के उपदेश से वह नहीं मिलता, अन्य इन्द्रियो से भी उसका ग्रहण नहीं होता, तपो से और भिन्न-भिन्न प्रकार के क्रिया-कर्मो से भी वह हाथ नही आता। क्या ज्ञान से वह मिल सकता है ? ज्ञान से तो नही, परन्तु ज्ञान के प्रसाद से शुद्ध अन्त करण वाला व्यक्ति निष्कल ब्रह्म का ध्यान करता हुआ उसे देख पाता है ॥८॥

सत्यमेव जयति नानृत सत्येन पन्था विततो देवयान ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परम निधानम् ॥६॥

सत्यम् एव जयति—सत्य की ही विजय होती है, न अनृतम्—असत्य की नही, सत्येन—सत्य से, पन्था—मार्ग, वितत—विस्तृत होता है, निष्कण्टक होता है, येन—जिस (मार्ग) से, आक्रमन्ति—चलते है, ऋषय—द्रष्टा, हि—ही, आप्तकामा—सफल-मनोरथ, कृत-कृत्य, यत्र—जहाँ, तत्—वह, सत्यस्य—सत्य का, परमम्—उत्कृष्ट, निधानम्—निधि, आधार, धाम ॥६॥

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूप सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतर विभाति ।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहित गुहायाम् ॥७॥

बृहत्—बडा, ब्रह्म, च—और, तद्—वह, दिव्यम्—दिव्य, अचिन्त्य-रूपम्—जिसका रूप कल्पना का भी विषय नही, सूक्ष्मात् च तत् सूक्ष्मतरम्—और वह सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म, विभाति—प्रकाशित हो रहा है, दूरात्—दूर से, सुदूरे—अति दूर, तद्—वह, इह—यहाँ, अन्तिके—पास में, च—और, पश्यत्सु—देखनेवाले (जिज्ञासुओं) मे, इह एव—यहाँ ही, निहितम्—स्थित, विद्यमान, गुहायाम्—हृदय-प्रदेश मे ॥७॥

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु त पश्यते निष्कल ध्यायमान ॥८॥

न—नही, चक्षुषा—आँख से, गृह्यते—ग्रहण किया जाता है, न अपि—ना ही, वाचा—वाणी से, न—नही, अन्यै—दूसरे, देवै—इन्द्रियो

('ज्ञान' और 'ज्ञान के प्रसाद' मे क्या भेद है ? 'ज्ञान' मनुष्य को मार्ग दिखाता है, एक मार्ग नही अनेक, परन्तु 'ज्ञान का प्रसाद' तब मिलता है, जब अनेक मार्ग देखकर मनुष्य एक मार्ग को ज्ञान-पूर्वक चुन लेता है, नही तो ज्ञान ही मनुष्य के लिये शान्ति के बजाय अशाति का कारण हो जाता है । ज्ञान-प्रसाद से 'निष्कल' ब्रह्म दीख जाता है । ब्रह्म को 'निष्कल' कहा है । कला का अर्थ है—भाग, हिस्सा । चन्द्र की कलाए होती है, उसके भाग होते है । भाग या हिस्सा उसी वस्तु का होता है, जो सीमित हो, परिमित हो । ब्रह्म सीमित नही, परिमित नही, इसलिये उसकी कला भी नही, वह निष्कल है ।)

आत्मा स्थूल नहीं, अणु है, सूक्ष्म है, अत उसका ज्ञान इन्द्रियो से नहीं, चित्त से ही हो सकता है, परन्तु कठिनाई यह है कि चित्त में प्राण अपने पाच रूपो को लेकर आ घुसा है, और चित्त को आत्मा की तरफ नही जाने देता, अपनी तरफ, जिस शरीर में पाचो प्राणो का भोग चल रहा है, उस शरीर की तरफ खींचता है । प्रभु की सम्पूर्ण प्रजा का चित्त-रूपी मनका प्राणो के धागे में ओत है, अर्थात् पिरोया हुआ है । आत्मा की तरफ जाने के बजाय, चित्त, प्राणो की तरफ,

---

से, **तपसा**—तप से, **कर्मणा**—कर्म से, **वा**—या, **ज्ञान-प्रसादेन**—ज्ञान की निर्मलता से, सम्यग्ज्ञान से, **विशुद्धसत्त्व**—पवित्र बुद्धि (अन्त करण) वाला, **तत**—उस (बुद्धि की निर्मलता) से, **तु**—तो, **तम्**—उसको, **पश्यते**—साक्षात् करता है, **निष्कलम्**—षोडश कलाओ (अवयवो) से रहित, **ध्यायमान**—ध्यान-चिन्तन करता हुआ ॥८॥

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राण पञ्चधा सविवेश ।
प्राणैश्चित्त सर्वमोत प्रजाना यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥९॥

एष—यह, **अणु**—अणु-परिमाण, सूक्ष्म, **आत्मा**—आत्मा (जीव), **चेतसा**—चित्त से, **वेदितव्य**—जानने योग्य है, **यस्मिन**—जिस (चित्त) मे, **प्राण**—प्राण वायु, **पंचधा**—पाँच (अपान आदि) रूप मे, **सविवेश**—प्रविष्ट हुआ है, **प्राणै**—इन पाँचो प्राणो मे, **चित्तम्**—चित्त, **सर्वम्**—सारा ही, **ओतम्**—व्याप्त है, **प्रजानाम्**—सब प्राणधारियो का, **यस्मिन् विशुद्धे**—जिसके निर्मल हो जाने पर, **विभवति**—अपने को विशेषकर प्रकाशित करता है या वैभव (सामर्थ्य) से सम्पन्न होता है, **एष**—यह, **आत्मा**—जीवात्मा ॥९॥

शरीर के भोगो की तरफ चल रहा है। चित्त-रूपी मनके को प्राणो के धागे में से निकालकर आत्मा के धागे में पिरोने की आवश्यकता है। आत्मा के धागे में पिरोये जाने पर चित्त शुद्ध हो जाता है, निर्मल हो जाता है, और प्राणो की तरफ खिचने के स्थान में दर्पण की तरह विशुद्ध हो जाता है, चित्त के विशुद्ध हो जाने पर उसमें आत्मा की आभा दीख पडती है ॥९॥

संसारी लोग भोगो की तरफ भाग रहे हैं, परन्तु अगर ससार की विभूतियो की ही कामना हो, तो भी ब्रह्म-ज्ञानी के चरणो में ही जाने की आवश्यकता है, क्योकि अन्त करण शुद्ध हो जाने के पश्चात् आत्मज्ञ जिस-जिस लोक में जाने का मानस-सकल्प करता है, या जो-जो कामना करता है, उसी-उसी लोक में वह पहुंच जाता है, और उसकी वही-वही कामना पूर्ण हो जाती है ॥१०॥

तृतीय-मुण्डक—(द्वितीय खण्ड)

ब्रह्म-ज्ञान से मनुष्य की क्या अवस्था हो जाती है ?

जिस ब्रह्म-ज्ञानी का अभी वर्णन किया वह ब्रह्म के परम-धाम को जानता है। ब्रह्म के उस परम-धाम के कारण ही यह विश्व शुभ्र

य य लोक मनसा सविभाति विशुद्धसत्त्व कामयते याश्च कामान्।
त त लोकं जयते ताश्च कामास्तस्मादात्मज्ञ ह्यर्चयेद् भूतिकाम ॥१०॥

यम्-यम्—जिस-जिस, लोकम्—लोक को, स्थिति को, मनसा—मन ने, सविभाति—प्रकाशित करता है, सकल्प करता है, विशुद्धसत्त्व—शुद्ध अन्त करण (बुद्धि) वाला, कामयते—चाहना करता है, यान्+च—और जिन, कामान्—काम-भोगो की, तम्-तम्—उस-उस, लोकम्—लोक को, जयते—जीत लेता है, प्राप्त कर लेता है, तान्+च—और उन, कामान्—काम-भोगो को, तस्माद्—उस कारण से, आत्मज्ञम्—आत्म-ज्ञानी की, हि—अवश्य, अर्चयेत्—पूजा करे, मान करे, भूतिकाम—ऐश्वर्य (कल्याण) का इच्छुक ॥१०॥

स वेदैतत्परम ब्रह्मधाम यत्र विश्व निहित भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुष ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीरा ॥१॥

स—वह, वेद—जानता है, एतत्—इस, परमम्—श्रेष्ठ, ब्रह्म-धाम—ब्रह्म लोक को, यत्र—जिसमे, विश्वम्—सकल जगत्, निहितम्—

रूप में भास रहा है। इस विश्व का तेज उस ब्रह्म का ही तेज है। जो धीर, कामना-रहित होकर उस पुरुष-रूप ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे योनि से योनि में चक्कर लगाने के मार्ग को लांघ जाते हैं ॥१॥

जो व्यक्ति कामनाओं को ही सब-कुछ माने बैठा है, उन्हीं की आराधना करता है, वह उन कामनाओं से भिन्न-भिन्न योनियों में उत्पन्न होता है। जिस व्यक्ति के लिये कामनाएं पर्याप्त हो चुकी हैं, बहुत हो चुकी हैं, अब उनमें वह नहीं फंसा हुआ, वह 'कृतात्मा' हो जाता है, उसका सब ध्यान 'आत्मा' में लग जाता है, और उसकी सब कामनाएं यहीं लीन हो जाती हैं। कामनाएं बनी रहें, लीन न हों, इसीलिये तो भिन्न-भिन्न योनियों का द्वार देखना पड़ता है ॥२॥

आत्मा बड़े-बड़े भाषणों से नहीं मिलता, तर्क-वितर्क से नहीं मिलता, बहुत-कुछ पढ़ने-सुनने से नहीं मिलता। जिसको यह वर लेता है, वही इसे प्राप्त कर सकता है, उसके सामने आत्मा अपने स्वरूप को खोलकर रख देता है ॥३॥

स्थित, भाति—प्रतीत होता है, शुभ्रम्—शोभा-सपन्न, उपासते—उपासना करते हैं, पुरुषम्—पुरुष की, ये—जो, हि—ही, अकामा—कामना से रहित होकर, ते—वे, शुक्रम्—वीर्य को, वीर्य से उत्पत्ति को, जन्म-मरण को, अतिवर्तन्ति—लाँघ जाते है, धीरा—धीर ज्ञानी ॥१॥

कामान्य कामयते मन्यमान स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामा ॥२॥

कामान्—काम-भोगों को, य—जो, कामयते—चाहना करता है, मन्यमान—जानता-बूझता भी, स—वह, कामभि—उन कामनाओं के प्रभाव से, जायते—जन्म लेता है, तत्र-तत्र—वहाँ-वहाँ ही, पर्याप्तकामस्य—सफल मनोरथ (कामना-शून्य), कृतात्मन—कृती-कृतकृत्य, आत्म-जयी के, तु—तो, इह एव—यहाँ ही, सर्वे—सारी, प्रविलीयन्ति—नष्ट हो जाती है, कामा—कामनाएँ ॥२॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनु स्वाम् ॥३॥

न अयम् आत्मा—नहीं यह आत्मा, प्रवचनेन—शास्त्रोपदेश से, भाषणों से, लभ्य—पाया जा सकता है, न मेधया—न अधिक बुद्धि-विकास से, न बहुना श्रुतेन—न ही बहुत अधिक शास्त्राध्ययन से, यम् एव एष—जिसको ही

आत्मा को शारीरिक बल से हीन व्यक्ति प्राप्त नही कर सकता, मानसिक प्रमाद में पडा हुआ व्यक्ति भी इसे प्राप्त नहीं कर सकता, अलिंग-'तप'—प्रयोजन-हीन-तपस्या—करने वाला भी इसे प्राप्त नहीं कर सकता। जो यह सब-कुछ जानता-बूझता इन उपायो से उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, उसे आत्मा तो प्राप्त क्या होना था, आत्मा उससे पीठ फेरकर अपने ब्रह्म-धाम में जा छिपता है, उसके सामने प्रकट ही नही होता ॥४॥

ज्ञान से तृप्त, आत्माराधन में दिन-रात लगे हुए, वीतराग, प्रशात ऋषि, आत्मा को प्राप्त करके, अपने आत्मा को परमात्मा से जोड देते है। परमात्मा सब जगह पहुचने वाला है, वे अपने को परमात्मा के साथ सब ओर से जोड लेते हैं, फिर परमात्मा के साथ-साथ जहा वह पहुचता है, वहा आत्मा भी जा पहुचता है। जब पल्ला उसके साथ बाध दिया तब उससे छुडा कौन सकता है ? ॥५॥

यह (आत्मा), वृणुते—वरण करता है, अविकारी समझता है, तेन लभ्य—वह ही पा सकता है, तस्य—उसके लिए, एष आत्मा—यह आत्मा, विवृणुते—उद्घाटित कर देता है, प्रगट कर देता है, तनुम्—स्वरूप को, स्वाम्—अपने ॥३॥

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिंगात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥४॥

न अयम् आत्मा—नही यह आत्मा, बलहीनेन—(शारीरिक-मानसिक-बौद्धिक-आत्मिक) बल से वचित, लभ्य—पाया जा सकता, ज्ञेय है, न च—और नही, प्रमादात्—प्रमाद से, चित्त के व्यवस्थित न होने से, तपस—तप से, वा अपि—या भी, अलिङ्गात्—लिङ्ग (प्रयोजन, उद्देश्य) से हीन, निष्कारण, व्यर्थ, एतै—इन, उपायै—उपायो से, साधनो से, यतते—(जानने का) प्रयत्न करता है, य—जो, तु—तो, विद्वान्—जानकार, समझदार, तस्य—उसका ही, एष आत्मा—यह जीवात्मा, विशते—प्राप्त करता है, ब्रह्म-धाम—ब्रह्म-लोक को, (विशते ब्रह्मधाम—ब्रह्मलोक मे प्रवेश पाता है, ब्रह्म को जान लेता है) ॥४॥

सप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ता कृतात्मानो वीतरागा प्रशान्ता।
ते सर्वग सर्वत प्राप्य धीरा युक्तात्मान सर्वमेवाविशन्ति ॥५॥

सप्राप्य—प्राप्त कर, एनम्—इस परमात्मा को, ऋषय—ज्ञानी ऋषि,

जो 'वेदान्त' (Religion) और 'विज्ञान' (Science) से जीवन के लक्ष्य को निश्चित-रूप से जान गये हैं, जो संसार में 'सन्यास' (Detachment) और 'योग' (Attachment) से यति हो गये हैं, जो शुद्धान्त करण हैं, वे परम-'अन्तकाल' में परम-'अमृत' होकर ब्रह्म-लोक में चले जाते हैं, और बन्धनो से मुक्त हो जाते हैं ।।६।।

उनकी पन्द्रहो कलाए (पाच ज्ञानेन्द्रियां, पाच कर्मेन्द्रिया तथा पाच प्राण) समाप्त हो जाती हैं, सोलहवा निष्कल आत्मा रह जाता है, उनकी इन्द्रिया अपने कारणो मे लीन हो जाती हैं, उनके कर्म भी नि शेष हो जाते है, और विज्ञानमय 'आत्मा' (Super-Consciousness) अव्यय 'परमात्मा' (Eternal Principle) में जा पहुचता है। उस अव्यय-ब्रह्म में सब एक हो जाते हैं ।।७।।

ज्ञानतृप्ता—ब्रह्म-ज्ञान से पूर्ण सन्तुष्ट (छके हुए), कृतात्मान—आत्म-ज्ञान मे तत्पर, आत्म-जयी, वीतरागा—राग-द्वेष से मुक्त, कामना-शून्य, प्रशान्ता—शान्त चित्तवाले, ते—वे (ऋषि), सर्वगम्—सब मे विद्यमान, सर्वत—सब ओर से, पूर्णतया, प्राप्य—प्राप्त कर, धीरा—धीर ज्ञानी, युक्तात्मान—समाहित चित्तवाले, समाधि अवस्था को प्राप्त, सर्वम्—सर्वरूप, सर्वान्तर्यामी भगवान् मे, एव—ही, आविशन्ति—प्रविष्ट हो जाते है, उसे प्राप्त कर लेते है ।।५।।

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था सन्यासयोगाद्यतय शुद्धसत्त्वा ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृता परिमुच्यन्ति सर्वे ।।६।।

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था—वेदान्त (वेद के सिद्धान्त, धर्म) और विज्ञान (साइन्स) से जिन्होंने अपने लक्ष्य को निश्चित कर लिया है या वेदान्त (ब्रह्मविद्या) के ज्ञान से अपने लक्ष्य को स्थिरता से निश्चय करने वाले, सन्यास-योगात्—(एषणाओं—सांसारिक भोगो के) त्याग और (आत्मा के साथ) योग (समाहित-चितता) से, यतय—सयमी या प्रयत्नशील, शुद्धसत्त्वा—शुद्ध अन्त करण वाले, ते—वे, ब्रह्मलोकेषु—ब्रह्म-धाम मे, मोक्ष मे, परान्तकाले—परम (श्रेष्ठ) अन्तकाल मे (मृत्यु होने पर), पर+अमृता—परम अमर हुए, परिमुच्यन्ति—मुक्त हो जाते है, सर्वे—सारे ही ।।६।।

गता कला पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रति देवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ।।७।।

गता—चली जाती है, कला—प्राण आदि कलाए, पञ्चदश—पन्द्रह, प्रतिष्ठा—अपने कारण भूत आधार मे, देवा च—और (देहाश्रय) चक्षु आदि इन्द्रियां, सर्व—सारी, प्रति (गता)—(कारणभूत देवताओं) की ओर,

जैसे नदिया बहती है, और बहते-बहते अपना-अपना पृथक् नाम और रूप छोडकर समुद्र में अस्त हो जाती है, इसी प्रकार विद्वान् पुरुष नाम-रूप से छूटकर परे-से-परे दिव्य-पुरुष के निकट पहुच जाता है ॥८॥

जो उस परम-ब्रह्म को जान जाता है, वह मानो ब्रह्म ही हो जाता है, उसके कुल में भी कोई ब्रह्म को न जानने वाला नही रहता। हृदय तथा मस्तिष्क की भीतरी गुफाओ में जो ग्रन्थिया (Complexes) पडी रहती है, उनसे छूटकर वह अमृत हो जाता है, शोक को तर जाता है, पाप को तर जाता है ॥९॥

देवतासु—सूर्य आदि देवताओ में (लीन हो जाती हैं), कर्माणि—किये (शुभ) कर्म, विज्ञानमय च—और ज्ञानस्वरूप (चित्स्वरूप), आत्मा—जीवात्मा, परे अव्यये—सब से परे अविनाशी ब्रह्म में, सर्वे—सारे ही, एकीभवन्ति—एक हो जाते हैं ॥७॥

यथा नद्य स्यन्दमाना समुद्रेऽस्त गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्त परात्पर पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥८॥

यथा—जैसे, नद्य—नदियाँ, स्यन्दमाना—बहती हुई, समुद्रे—समुद्र मे, अस्त गच्छन्ति—लीन हो जाती हैं, नामरूपे—अपने नाम और आकृति को, विहाय—छोडकर, तथा—वैसे ही, विद्वान्—ब्रह्मज्ञानी, नामरूपाद्—नाम और आकृति से, विमुक्त—मुक्त हुआ, परात्परम्—सर्वोत्कृष्ट, परे-से-परे, पुरुषम्—प्रकृति में व्याप्त ब्रह्म के, उपैति—समीप पहुँच जाता है, दिव्यम्—दिव्य, अलौकिक ॥८॥

स यो ह वै तत्परम ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति।
तरति शोक तरति पाप्मान गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥९॥

स—वह, य—जो, ह वै—निश्चय से, तत्—उस, परमम्—सब से उत्कृष्ट, ब्रह्म—ब्रह्म को, वेद—जान लेता है, ब्रह्म—ब्रह्म, एव—ही, भवति—हो जाता है, (ब्रह्म एव भवति—ब्रह्म के समान सत्-चिद्-आनन्द स्वरूप वाला हो जाता है), न—नही, अस्य—इसके, अब्रह्मविद्—ब्रह्म को न जानने वाला, कुले—खानदान मे, भवति—होता है, तरति—पार कर जाता है, शोकम्—शोक को, (तरति शोकम्—शोक मे मुक्त—वीतशोक—हो जाता है), तरति पाप्मानम्—पाप से रहित (निष्पाप) हो जाता है, गुहा-ग्रन्थिभ्य—(हृदय-बुद्धि की) रहस्यपूर्ण उलझनो मे, विमुक्त—मुक्त, अमृत—अमर, मुक्त, भवति—हो जाता है ॥९॥

ऋचाओ में भी कहा है—ब्रह्मनिष्ठ क्रियाशील श्रोत्रिय जगह-जगह न भटक कर श्रद्धा-पूर्वक स्वय किसी एक ब्रह्म-ज्ञानी ऋषि के चरणो में उपस्थित होते हैं। इस प्रकार ऋषि के पास जो जिज्ञासु स्वयं पहुचते है, जो विधि-पूर्वक इस व्रत को अपने सिर पर ही लेते हैं, दूसरो का सहारा नहीं लेते, उन्हें 'ब्रह्म-विद्या' का उपदेश दे ॥१०॥

किसी पुरातन-काल में अगिरा ऋषि ने उक्त तथ्यो का उपदेश दिया था। सकल्प-शक्ति-हीन व्यक्ति इस पाठ को नही पढ सकता। उन परम ऋषियो को नमस्कार हो, नमस्कार हो ॥११॥

(इस उपनिषद् मे 'परा' तथा 'अपरा' विद्या का वर्णन करते हुए यह वतलाया है कि यज्ञ-याग आदि 'कर्मकाड' अपरा-विद्या है—इनसे पर-ब्रह्म प्राप्त नही होता, ईश्वर-प्रणिधान आदि 'ज्ञान-काड' परा-विद्या है—इसी से ब्रह्म प्राप्त होता है। और, वास्तव मे 'अपरा' तो अविद्या है, परा ही यथार्थ मे विद्या है—क्योंकि परा

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्।
क्रियावन्त श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठा स्वय जुह्वत एकर्षि श्रद्धयन्त ।
तेषामेवैता ब्रह्मविद्या वदेत शिरोव्रत विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥१०॥

तद् एतत्—वह यह वात, **ऋचा**—ऋचा (मत्र) ने भी, **अभ्युक्तम्**—कही है, **क्रियावन्त**—कर्मशील, **श्रोत्रिया**—श्रुति (वेद) के मर्मज्ञ, **ब्रह्मनिष्ठा**—ब्रह्म-ध्यान मे मग्न, **स्वयम्**—स्वयम्, **जुह्वते**—स्वीकार करते हैं, पास जाते है, **एकर्षिम्**—अद्वितीय नामी ज्ञानी को, **श्रद्धयन्त**—श्रद्धा रखते हुए, **तेषाम्**—उनको, **एव**—ही, **एताम्**—इस, **ब्रह्मविद्याम्**—ब्रह्मज्ञान (परा विद्या) को, **वदेत**—कहे, उपदेश करे, **शिरोव्रतम्**—मुख्य व्रत को, **विधिवत्**—विधि-पूर्वक, **यै**—जिन्होंने, **तु**—तो, **चीर्णम्**—आचरण किया है ॥१०॥

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिरा पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते।
नम परमऋषिभ्यो नम परमऋषिभ्य ॥११॥

तद् एतत् सत्यम्—उस इस सत्य को, **ऋषि अगिरा**—अगिरा ऋषि ने, **पुरा**—पुरातन काल मे, **उवाच**—कहा था, **न**—नही, **एतद्**—इसको, **अचीर्णव्रत**—व्रत का आचरण न करने वाला, **अधीते**—अध्ययन करता है, सीखता है, **नम परमऋषिभ्य**—परम ऋषियो को हमारा प्रणाम है, **नम परमऋषिभ्य**—परम ऋषियों को हमारा पुन प्रणाम है ॥११॥

से ही ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त होता है । ब्रह्म से ही जगत् का विस्तार होता है––इसका क्या अर्थ ? । यह विस्तार कैसे होता है ? इसमे दृष्टात दिया है––जैसे मकडी अपने मे से जाला बना डालती है, और फिर समेट लेती है ! वेदान्ती इसका अर्थ अद्वैत-परक करते है, द्वैत-वादी द्वैत-परक । मकडी अपने मे से जो जाला निकालती है, वह अपने शरीर मे से ही तो निकालती है, अपने ही मे से, अपने आत्म-तत्त्व मे से तो नही निकालती । ब्रह्म भी अपने शरीर मे से, और प्रकृति ही उसका शरीर है, इस विश्व की रचना कर डालता है । इसी द्वैतभाव के आधार पर दो पक्षी है, जो प्रकृति-रूपी वृक्ष पर रहते है––यह विचार, जो इसी उपनिषद् मे है, समझ मे आ सकता है ।)

माण्डूक्योपनिषद् मे वर्णित शरीर मे 'जीव' तथा प्रकृति मे 'ब्रह्म' के स्वरूप का चित्र मे वर्णन

प्रथम 'अवस्था' या 'स्थान'—जाग्रत्	द्वितीय 'अवस्था' या 'स्थान'—स्वप्न	तृतीय 'अवस्था' या 'स्थान'—सुषुप्ति	चतुर्थ अवस्था—तुरीय
शरीर तथा प्रकृति की जो 'जागृतावस्था' है वह जीव तथा ब्रह्म का 'जाग्रत्-स्थान' है।	शरीर तथा प्रकृति की जो 'स्वप्नावस्था' है वह जीव तथा ब्रह्म का 'स्वप्न-स्थान' है।	शरीर तथा प्रकृति की जो 'सुपुप्तावस्था' है वह जीव तथा ब्रह्म का 'सुपुप्त-स्थान' है।	
जाग्रत्-स्थान मे जीव तथा ब्रह्म दोनो 'बहि प्रज्ञ' (Extrovert) होते है।	स्वप्न-स्थान मे जीव तथा ब्रह्म दोनो 'अन्त प्रज्ञ' (Introvert) होते है।	सुपुप्त-स्थान मे जीव 'प्रज्ञ' (Consciousness) तथा ब्रह्म 'प्रज्ञानघन' (Concentric Consciousness) है।	अदृष्ट
जाग्रत्-स्थान मे जीव तथा ब्रह्म का शरीर 'वैश्वानर' है। (क) जीव का शरीर 'वैश्वानर' है, अर्थात् उसमे 'व्यक्तित्व' (Individuality) पैदा हो जाता है, (ख) ब्रह्म का शरीर 'वैश्वानर' है, अर्थात् उसके शरीर—'प्रकृति'—मे 'व्यक्तत्व' (Definiteness) आ जाता है।	स्वप्न-स्थान मे जीव तथा ब्रह्म का शरीर 'तैजस' है। (क) जीव का शरीर 'तैजस' है, अर्थात् स्वप्न मे तेजोमय-मन (Sub-conscious) जाग उठता है। (ख) ब्रह्म का शरीर 'तैजस' है, अर्थात् इस समय प्रकृति 'हिरण्यगर्भ' (Nebular) अवस्था मे है।	सुपुप्त-स्थान मे जीव तथा ब्रह्म का शरीर 'प्राज्ञ' है। (क) जीव का शरीर प्राज्ञ=प्र+अज्ञ (Unconscious) है। (ख) ब्रह्म का शरीर—प्रकृति—प्राज्ञ—अज्ञानावस्था मे (Indefinite) है।	अचिन्त्य अव्यवहार्य अग्राह्य अव्यपदेश्य
जाग्रत्-स्थान मे जीव शरीर द्वारा और ब्रह्म प्रकृति द्वारा 'स्थूल-भुक्' कहलाता है।	स्वप्न-स्थान मे जीव शरीर द्वारा और ब्रह्म प्रकृति द्वारा 'प्रविविक्त-भुक्' कहलाता है।	सुपुप्त-स्थान मे जीव शरीर द्वारा तथा ब्रह्म प्रकृति द्वारा 'आनन्द-भुक्' कहलाता है।	निर्गुण
जाग्रत्-स्थान मे जीव तथा ब्रह्म दोनो 'सप्ताग' तथा 'एकोनविंशति मुख' है।	स्वप्न-स्थान मे जीव तथा ब्रह्म दोनो 'सप्ताग' तथा 'एकोनविंशति मुख' है।	सुपुप्त-स्थान मे जीव तथा ब्रह्म दोनो 'चेतोमुख' है।	नेति नेति
अ (प्रथम पाद)	उ (द्वितीय पाद)	म् (तृतीय पाद)	अमात्र (चतुर्थ पाद)
'अ'-'उ'-'म्'—यह 'जीव' तथा 'ब्रह्म' का त्रिमात्र-रूप, सगुण-रूप, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति का रूप है।			जाग्रत् स्वप्न सुषुप्तिसे परे जीव तथा ब्रह्म का तुरीय, अमात्र निर्गुण रूप है।

माण्डूक्योपनिषद्

'ओम्'—यह एक छोटा-सा अक्षर है, परन्तु निखिल ससार इसी एक अक्षर की व्याख्या है, भूत-वर्तमान-भविष्यत्—सब ओकार का ही विस्तार है। जो भूत, वर्तमान तथा भविष्यत्—इन तीनो कालो मे नही समाता, जो त्रिकालातीत है, वह भी ओकार का ही प्रसार है ॥१॥

यह सम्पूर्ण विश्व—'ब्रह्माड'—ब्रह्म' है, अर्थात् ब्रह्म का विस्तार है, इसी प्रकार हम-सबका यह 'पिड' भी ब्रह्म है, अर्थात् जैसे ब्रह्माड में ब्रह्म का विस्तार विश्व है, वैसे ब्रह्म की भाति पिड में जीव का विस्तार शरीर है। 'आत्मा' के, अर्थात् ब्रह्माड मे 'ब्रह्म' तथा पिड में 'जीवात्मा' के चार पाद है, अर्थात् इन दोनो की अनुभूति के चार स्थान है, चार जगह है, जहा इन्हें पाया जा सकता है ॥२॥

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यान भूत भवद् भविष्यदिति
सर्वमोकार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीत तदप्योकार एव ॥१॥

ओम्—ओम्पदवाच्य ब्रह्म या 'ओम्' यह पद, इति एतद्—यह ही, अक्षरम्—अविनाशी या वर्ण-समूह, इदम्—यह (दृश्यमान), सर्वम्—सब (जगत्), तस्य—उन (अक्षर) का, उपव्याख्यानम्—व्याख्या करने वाला, स्पष्ट (प्रकट-ज्ञान) कराने वाला है, भूतम्—जो पहिले उत्पन्न हो चुका है, भवद्—जो उत्पन्न हो रहा है, भविष्यत्—जो आगे उत्पन्न होगा, इति—यह, सर्वम्—सब कुछ, ओकार—ओकार, एव—ही (है) अथवा ओकारे एव—ओकार (ब्रह्म) मे ही है, ईश मे आवास्य (ईशावास्यम्) है, यत् च—और जो, अन्यत्—दूसरा (इस ब्रह्म या दृश्यमान जगत् से भिन्न) है, त्रिकाल+अतीतम्—तीनों कालों की मर्यादा मे मुक्त (जीवात्मा या प्रकृति), तद् अपि—वह भी, ओकारे एव—ओम्पद वाच्य ब्रह्म मे ही है ॥१॥

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥२॥

सर्वम् हि एतद्—यह सब कुछ ही, ब्रह्म—ब्रह्म है, अयम्—यह, आत्मा—आत्मा भी, ब्रह्म—ब्रह्म है, स—वह, अयम्—यह, आत्मा—आत्मा, चतुष्पात्—चार पाँव (स्थान-अवस्थिति) वाला या चार प्रकार से प्राप्तव्य है ॥२॥

'आत्मा', अर्थात् 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म' का प्रथम-पाद, प्रथम-स्थान वह है जिसे हम 'शरीर' तथा 'प्रकृति' की जागृतावस्था कहते है। जव चेतना अन्दर से बाहर आती है तब शरीर की जागृतावस्था होती है। 'जागृतावस्था' में 'चेतना' भीतर से निकलकर 'जाग्रत्-स्थान' में आ जाती है। कौन-सी चेतना ? 'जीव' की चेतना शरीर में, और 'ब्रह्म' की चेतना विश्व में, प्रत्यक्ष-रूप में आ वैठती है। जागती हुई अवस्था मे, 'जीव' के लिये 'शरीर' तथा 'ब्रह्म' के लिये 'प्रकृति' ही, उसका स्थान है, जगह है, यही इन्हें ढूढा जा सकता है, पाया जा सकता है। मानो उस समय ब्रह्म, जीव की तरह, अन्दर से बाहर आ बैठता है। उस अवस्था में जीव अपना कार्य-क्षेत्र शरीर को बना लेता है, ब्रह्म इस विशाल प्रकृति को। फिर जहा कोई काम कर रहा होगा, वही तो उससे मिला जा सकेगा। शरीर में हम झट जीवात्मा को पा लेंगे, प्रकृति में ब्रह्म को। शरीर 'जागृतावस्था' में तभी तो आता है, जव जीवात्मा 'जाग्रत्-स्थान' में आ बैठता है, तव शरीर की ओट हटा देने से ही जीवात्मा मानो नजर आ जाता है। प्रकृति भी तो इस सुन्दर रूप में तभी प्रकट होती है, जव विश्वकर्मा के रूप में ब्रह्म हमारे सामने आ बैठता है। वह हमारे इतना निकट आ बैठता है कि प्रकृति की ओट हटाते ही वह मानो हमें दीखने लगता है। जैसे 'जीवात्मा' जव जाग्रत्-'स्थान' में आ वैठता है तव 'वहि प्रज्ञ' होता है, अन्दर की तरफ नही बाहर की तरफ उसका ध्यान होता है, वैसे 'ब्रह्म' जव सृष्टि को रचकर उसमें मानो आ वैठता है तव, उस अवस्था में, वह भी 'वहि प्रज्ञ' है। ब्रह्म तत्त्वत प्रज्ञा-रूप है।

जागरितस्थानो वहि प्रज्ञ सप्ताग एकोनविंशति-
मुख स्थूलभुग्वैश्वानर प्रथम पाद ॥३॥

जागरितस्थान—जाग्रद्-अवस्थावाला, वहि प्रज्ञ—वाहर की ओर प्रज्ञा (ज्ञान) वाला, वहिर्मुख, सप्ताग—सात (इन्द्रिय रूप) अगो वाला, एकोनविंशतिमुख—उन्नीस (१० ज्ञान-कर्म इन्द्रिय, ५ प्राण, ४ अन्त करण) मुखो से भोगनेवाला, स्थूलभुक्—स्थूल वस्तुओ का भोक्ता (ज्ञाता), वैश्वानर—सव (करणो) का नेता, सव नरो (प्राणियो) मे रहने वाला, अग्नि, प्रथम—पहला, पाद—ज्ञान का स्थान (क्षेत्र) है ॥३॥

प्रज्ञा जब विकास की तरफ चल पड़ती है तब अन्दर से बाहर की ओर चलती है, अत विकसित सृष्टि के रूप मे वह 'वहि प्रज्ञ' कहलाता है। जैसे 'जीवात्मा' के जाग्रत्-स्थान में आ बैठने पर सिर, आख, कान, वाणी, फेफड़े, हृदय तथा पाव—ये सात अग है, वैसे 'ब्रह्म' के विकसित सृष्टि के रूप मे प्रकट होने पर—'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ', दिश श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदा , वायु प्राणो हृदय विश्वमस्य, पद्भ्या पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा' (मुण्डक)—अग्नि सिर है, सूर्य-चन्द्र आखें है, दिशाए कान है, वेद वाणी है, वायु फेफडे है, विश्व हृदय है, पृथिवी पाव है । 'जीवात्मा' की तरह 'ब्रह्म' के भी वहि प्रज्ञावस्था मे ये सात अग है, अत जाग्रत्-स्थान मे जीव तथा ब्रह्म दोनो को 'सप्ताग' कहा है । अगो का काम ससार का भोग करना है, भोग का प्रतिनिधि मुख है, जिससे खाया जाता है। जीवात्मा के पास भोग के १९ साधन है, इसके १९ मुख है जिनसे यह संसार को भोगता है । ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, ५ प्राण ये १५ 'बाह्य-करण' तथा ४ 'अन्तः-करण' (मन, बुद्धि, चित्त, अहकार)—ये १९ मुख है जिनसे जीवात्मा ससार का भोग करता है। ब्रह्म भी, ससार के सम्पूर्ण प्राणियो के इन १९ मुखो से 'जाग्रत्-स्थान' मे बैठकर 'वहि प्रज्ञावस्था' में, जीवात्मा की तरह इन प्राणियो द्वारा स्थूल-ससार का भोग कर रहा है—इसलिये वह भी 'स्थूल-भुक्' है। जाग्रत्-स्थान में बैठा हुआ जीवात्मा विश्व के व्यष्टि-रूप, अर्थात् एक-एक व्यक्तिरूप नर-नारी (Individuality) के रूप में है, इसलिये जीवात्मा की यह अवस्था 'वैश्वानर' कहलाती है, ब्रह्म भी वहि प्रज्ञावस्था मे समष्टिरूप नर-नारायण के रूप में ही प्रकट होता है, अर्थात्, सब नर-नारियो के अलग-अलग शरीर मिलकर उसका एक विश्व-शरीर बनता है जो 'वैश्वानर' है, अत ब्रह्म की इस अवस्था को भी 'वैश्वानर' ही कहा जाता है ॥३॥

(जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—ये तीन अवस्थाए है जिनका सभी को अनुभव है । अवस्थाए शरीर की है, जीवात्मा की नही । जीवात्मा की तो सदा एक ही अवस्था रहती है, शरीर की अवस्थाए बदलती रहती है । 'जागृतावस्था' शरीर की है, 'जाग्रत्-स्थान'

जीवात्मा का है। 'अवस्था' तथा 'स्थान' मे भेद है। जब शरीर 'जागृत-अवस्था' मे होता है, तब जीवात्मा 'जाग्रत्-स्थान' मे होता है, जब शरीर 'स्वप्नावस्था' मे होता है, तब जीवात्मा 'स्वप्न-स्थान' मे होता है, जब शरीर 'सुषुप्तावस्था' मे होता है, तब जीवात्मा का 'सुषुप्त-स्थान' है। सृष्टि की भी विकृति के रूप मे कार्य-रूप सृष्टि (जागृतावस्था), महत्-अहकार-पचतन्मात्र के रूप मे कारण-रूप सृष्टि (स्वप्नावस्था), सत्त्व-रज-तम की साम्या-वस्था-रूप सृष्टि (सुषुप्तावस्था)——ये तीन अवस्थाए है, और इन अवस्थाओ के कारण ब्रह्म के भी जाग्रत्-स्थान, स्वप्न-स्थान तथा सुषुप्त-स्थान——ये तीन 'स्थान' है। 'जीवात्मा' की तथा 'ब्रह्म' की 'अवस्था' तो एक ही रहती है, परन्तु इनकी क्रिया-शक्ति के स्थान बदलते रहते है। जिस स्थान मे इनकी क्रिया (Function) हो रही है, वही इनका स्थान है। जीवात्मा की जब जाग्रत्-स्थान मे क्रिया हो रही है, तब इसका जाग्रत्-स्थान है, जब स्वप्न-स्थान मे क्रिया हो रही है, तब इसका स्वप्न-स्थान है, जब सुषुप्त-स्थान मे क्रिया हो रही है, तब इसका सुषुप्त-स्थान है। इसी प्रकार ब्रह्म की जब सृष्टि की रचना मे क्रिया हो रही है, तब उसका जाग्रत्-स्थान है, जब सृष्टि के निर्माण का आयोजन (Planning) हो रहा है, तब उसका स्वप्न-स्थान है, जब सृष्टि विलीन हो गई है, तब उसका सुषुप्त-स्थान है। इन तीनो स्थानो से निकलकर जीवात्मा तथा ब्रह्म जब अपने स्वरूप मे होते है, तब वह तुरीय-स्थान है। शरीर की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति——इन अवस्थाओ के कारण जैसे 'जीवात्मा' तीन स्थानो मे रहता है, और इन तीनो मे से निकल जाने के बाद अपने शुद्ध चौथे स्थान मे आ पहुचता है, वैसे ही 'ब्रह्म' प्रकृति की तीन अवस्थाओ के कारण जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्त——इन तीन स्थानो मे रहता है, और इन तीनो मे से निकल जाने के बाद अपने शुद्ध चौथे स्थान मे आ पहुचता है। ब्रह्म का तीन स्थानो का रूप 'सगुण' है, चौथे स्थान का रूप 'निर्गुण' है। 'सगुण' रूपो मे से जाग्रत्-स्थान के उसके रूप का ध्यान सबसे आसान है क्योकि सृष्टि

के चमत्कार को देखकर ब्रह्म की महिमा का कौन वर्णन नहीं करेगा? परन्तु जाग्रत्-स्थान के 'बहि प्रज्ञ', 'स्थूल-भुक्', 'सप्ताग', 'एकोनविंशति-मुख' ब्रह्म का बखान उसके सिर्फ चतुर्थांश का, एक पाद का वर्णन है। अपने आत्मा के सम्बन्ध में क्योंकि सबको अपने भीतर प्रतिदिन जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्त-स्थानों का अनुभव होता है, अत उस अनुभव के आधार पर ऋषि ने ब्रह्म-ज्ञान का अनुभव जिज्ञासु को दिया है।)

'आत्मा', अर्थात् 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म' का द्वितीय-पाद, द्वितीय-स्थान वह है जिसे हम 'शरीर' तथा 'प्रकृति' की स्वप्नावस्था कहते हैं। शरीर की स्वप्नावस्था तभी होती है जब जीवात्मा जाग्रत्-स्थान से हटकर, वहा क्रिया (Function) न करके, स्वप्न-'स्थान' में क्रिया-शील हो जाता है। शरीर की जब 'स्वप्नावस्था' होती है, तब जीवात्मा का 'स्वप्न-स्थान' होता है। उस समय जीवात्मा 'बहि प्रज्ञ' (Extrovert) से हटकर 'अन्त प्रज्ञ' (Introvert) हो जाता है, बाहर से उसका ध्यान हटकर अन्दर की तरफ चला जाता है। बहि प्रज्ञावस्था में वह अपने 'सप्ताग' शरीर से—सिर, आख, कान, वाणी, फेफडे, हृदय, पाव से—और 'एकोनविंशति' मुख से—भोग के साधन १९ उपकरणों से—ससार का भोग करता था, स्वप्न-स्थान में, अन्त प्रज्ञावस्था में भी उसके 'सप्ताग-शरीर' तथा 'एकोनविंशति मुख' बने रहते है, भेद इतना आ जाता है कि जहा जाग्रत्-स्थान में बैठकर जीवात्मा स्थूल-शरीर से और स्थूल-इन्द्रियो से भोग करता था वहा स्वप्न-स्थान में आकर सूक्ष्म-शरीर से और सूक्ष्म-शरीर की इद्रियो से भोग करता है। यह भोग स्थूल-जगत् का भोग नही है, विचार-

---

स्वप्नस्थानोऽन्त प्रज्ञ सप्ताग एकोनविंशतिमुख
प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीय पाद ॥४॥

स्वप्नस्थान—निद्रा (उपरति) की अवस्था वाला, अन्त प्रज्ञ—अन्तर्मुख, सप्ताग—सात अगों वाला, एकोनविंशतिमुख—उन्नीस मुखों से भोगने वाला, प्रविविक्तभुक्—विवेकपूर्वक (कुछ ही) सूक्ष्म (वासनामय ज्ञान) का भोगना, तैजस—तेज प्रधान, द्वितीय—दूसरा, पाद—(ज्ञान का) स्थान (क्षेत्र) है ॥४॥

मय-जगत् का भोग है, विवेक के जगत् का, इसलिये इस स्थान में आत्मा 'स्थूल-भुक्' न होकर, 'प्रविविक्त-भुक्' कहलाता है। इस अवस्था में बाह्य ससार विचार के ससार में आ बैठता है। जैसे जाग्रत्-स्थान में जीवात्मा का शरीर 'वैश्वानर' (Individuality) है, भिन्न-भिन्न नरो के शरीर ही आत्मा के शरीर है, वैसे स्वप्न-स्थान में जीवात्मा का शरीर 'तैजस' है, तेज से बना हुआ (Astral) है। जीवात्मा का जाग्रत्-स्थान में 'स्थूल-शरीर' है, इसे 'वैश्वानर' कहते है, स्वप्न-स्थान में 'सूक्ष्म-शरीर' है, इसे 'तैजस' कहते है। 'तैजस' इसलिये कहते है क्योकि शरीर जब सो जाता है, स्वप्नावस्था में चला जाता है, तब जीवात्मा का यथार्थ तेजोमय रूप जो शरीर के अन्धकारमय आवरण से ढका हुआ था, चमक उठता है। सुषुप्त-स्थान में जीवात्मा का 'कारण-शरीर' है, इसे 'प्राज्ञ' कहते है, इसे 'प्राज्ञ' क्यो कहते है—इसका आगे वर्णन आयेगा। वास्तव में ये शरीर जीवात्मा के नहीं है, इन शरीरो में क्रिया करने के कारण ये उसके शरीर कहलाते है, जब जीवात्मा इन तीनो में से हट जाता है तब वह अपने शुद्ध रूप में आता है, वह उसका तुरीय-स्थान है। जैसे जीवात्मा का जाग्रत्-स्थान से हट आने पर स्वप्न-स्थान है, वैसे ब्रह्म का कार्य-रूप सृष्टि से हटकर कारण-रूप सृष्टि में क्रिया करते समय स्वप्न-स्थान है। जब ब्रह्म स्वप्न-स्थान में होता है तब सम्पूर्ण स्थूल-सृष्टि सूक्ष्म-रूप में उसके विचार में होती है, अग्नि, सूर्य-चन्द्र, दिशाए, वेद, वायु, विश्व, पृथिवी—ये सातो अग जैसे स्थूल-जगत् में ब्रह्म के अग है, वैसे बीज-रूप में भी ब्रह्म के अग बने होते है, और वह विवेक में, विचार में, इन अगो द्वारा विश्व का उपभोग कर रहा होता है। जैसे मकान बनाने वाला मकान बनाने से पहले सम्पूर्ण रचना को मन में बना लेता है, ईंट-पत्थर का मकान बनने से पहले नक्शे का मकान, विचार का मकान मानो बन चुका होता है, मकान बनाने वाला अपने विवेक में ही, विचार में ही बने मकान का आनन्द भोग चुका होता है, वैसे ही ब्रह्म ससार की रचना करने से पूर्व स्वप्न-स्थान में बैठकर अपने विचार में, विवेक में, बिना विश्व की रचना किये विश्व-रचना का

आनन्द भोग लेता है, इसलिये उसे भी जीवात्मा की तरह 'प्रविविक्तभुक्' अर्थात् 'विचार या विवेक में जिसने भोग लिया'—यह कहा है। स्वप्न-स्थान में जीवात्मा की तरह ब्रह्म का शरीर तैजस है, तेज से बना है। इसी को वेद में 'हिरण्यगर्भ' कहा है। सृष्टि के प्रारम्भ में, जब कार्यावस्था में सृष्टि नहीं आई थी, साम्यावस्था से तो आगे चल पड़ी थी परन्तु अभी कारणावस्था में ही थी, उस समय सबसे प्रथम 'हिरण्यगर्भ' उत्पन्न हुआ—'हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे'। कारणावस्था में सृष्टि का जो रूप था उसी को 'हिरण्यगर्भ' कहा गया है। यह 'हिरण्यगर्भ' (Nebula) तेजोमय पिंड था, इसीका नाम महत्, अहंकार, पंचतन्मात्र है, यही ब्रह्म का स्वप्नावस्था का तैजस शरीर था। स्वप्न-स्थान के इस 'अन्तःप्रज्ञ', 'तैजस', 'प्रविविक्त-भुक्', 'सप्तांग', 'एकोनविंशति-मुख' ब्रह्म का बखान उसके द्वितीय पाद का, दूसरे चतुर्थांश का वर्णन है ॥४॥

'आत्मा', अर्थात् 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म' का तृतीय-पाद, तृतीय-स्थान वह है जिसे हम 'शरीर' तथा 'प्रकृति' की सुषुप्तावस्था कहते हैं। शरीर की सुषुप्तावस्था तभी होती है जब जीवात्मा जाग्रत्-स्थान से हटकर, वहां क्रिया (Function) न करके, सुषुप्ति-'स्थान' में क्रियाशील हो जाता है। शरीर की जब 'सुषुप्त-अवस्था' होती है,

---

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं
पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन
एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥५॥

यत्र—जिस (अवस्था) में, सुप्तः—सोया हुआ, न—नहीं, कंचन—किसी, कामम्—कामना को, भोग को, कामयते—चाहना करता है, न कंचन स्वप्नम्—नहीं किसी स्वप्न को, पश्यति—देखता है (गाढ निद्रा में सोना है), तत्—वह, सुषुप्तम्—सुषुप्ति की अवस्था है, सुषुप्तस्थान—सुषुप्ति की अवस्थावाला, एकीभूत—एकाग्र हुआ, प्रज्ञानघन—घने (केन्द्रीभूत, स्थिर) ज्ञानवाला, एव—ही, आनन्दमय—आनन्द (सुख-दुःख से शून्य) स्वरूप, हि—ही, आनन्दभुक्—आनन्द का भोग करने वाला, चेतोमुख—केवल चित्त से ही भोगनेवाला, प्राज्ञ—(प्र+अज्ञ) कुछ भी (बाह्य सूक्ष्म-स्थूल पदार्थों को) न जानने वाला या अत्यधिक चेतना वाला, तृतीय—तीसरा, पाद—(ज्ञान का) स्थान (क्षेत्र) है ॥५॥

तब जीवात्मा का 'सुषुप्त-स्थान' होता है। उस सोयी हुई अवस्था में शरीर किसी प्रकार की कामना नही करता, किसी प्रकार का स्वप्न भी नही देखता। उपनिषत्कार ने शरीर की उस अवस्था को 'प्राज्ञ'-अवस्था कहा है। 'प्राज्ञ' का अर्थ है 'प्र+अज्ञ', अर्थात् 'अत्यन्त अज्ञान की अवस्था'। सुषुप्तावस्था में शरीर जड हो जाता है, अत्यन्त अज्ञानावस्था मे होता है, शरीर और जीवात्मा का सम्बन्ध होता हुआ भी एक प्रकार से टूट जाता है। शरीर में जितनी चेतनता है, ज्ञान है, सब जीवात्मा के कारण है, अत सुषुप्तावस्था मे जब शरीर से सम्बन्ध तोडकर, जीवात्मा अपनी शक्ति को बाहर बखेरने के स्थान में अपने अन्दर खीच लेता है, अपनी शक्तियो को 'एकीभूत' कर लेता है, शरीर से मानो अलग-सा कर लेता है, तब जीवात्मा तो 'प्रज्ञानघन', अर्थात् ज्ञान की घनावस्था मे आ पहुचता है, और शरीर 'प्राज्ञ' (प्र+अज्ञ), अर्थात् अत्यन्त अज्ञान की अवस्था मे आ पहुचता है। जागृतावस्था में शरीर को 'वैश्वानर' कहा गया है, स्वप्नावस्था में 'तैजस', और सुषुप्तावस्था में 'प्राज्ञ' कहा गया है। शरीर के विपरीत जीवात्मा का यथार्थ-रूप तो 'प्रज्ञ' (प्र+ज्ञ) अर्थात् विशेषरूप से ज्ञान वाला है, वह ज्ञानरूप है, चेतनारूप है। शरीर की जागृतावस्था मे प्रज्ञा बाहर भ्रमण कर रही होती है, अत उस समय जीवात्मा 'बहि प्रज्ञ' (Extrovert) कहलाता है, शरीर की स्वप्नावस्था में प्रज्ञा अन्दर भ्रमण करती है, अत उस समय जीवात्मा 'अन्त प्रज्ञ' (Introvert) कहलाता है। शरीर की सुषुप्तावस्था में प्रज्ञा एकीभूत हो जाती है, घनीभूत हो जाती है, अत उस समय जीवात्मा 'प्रज्ञान-घन' (Concentric Consciousness) कहलाता है। जाग्रत्-स्थान में बैठे हुए जीवात्मा के भोग के साधन 'सप्तांग' और 'एकोनविंशति' मुख थे, स्वप्न-स्थान में भी जीवात्मा इन्ही अगो और मुखो से सस्कारो के रूप में वह भोग करता है, परन्तु सुषुप्त-स्थान मे आकर तो उसके सस्कार तक शात हो जाते है। उस समय जीवात्मा के भोग का साधन अपनी 'चेतना'-मात्र रह जाती है, अत सुषुप्त-स्थान में आने पर जीवात्मा को 'चेतोमुख', अर्थात् 'चेतना ही जिसके भोग का साधन है, और कोई अग नही'—ऐसा कहा है। सुषुप्तावस्था मे

शरीर तो ज्ञान-रहित हो जाता है, परन्तु जीवात्मा सुषुप्त-स्थान में आकर अपने रूप में समा जाता है, ज्ञानरूप हो जाता है, आनन्दमय हो जाता है, आनन्द का ही उपभोग करता है, अतः उस समय जीवात्मा को 'आनन्द-भुक्' कहते हैं। तभी सुषुप्तावस्था से निकलकर मनुष्य कहता है, बड़े आनन्द से सोया। शरीर की सुषुप्तावस्था में जीवात्मा को जो आनन्द प्राप्त होता है, उसी का जागने पर मनुष्य स्मरण-सा करता है, और कहता है, ऐसी आनन्दमय निद्रा तो कभी आई ही नहीं! यह आनन्द कौन-सा है? जीव ने सुषुप्ति में कोई काम तो किया नहीं, कोई भोग भोगा नहीं, जिसे स्मरण करके यह कह रहा हो कि आनन्द आया। हां, शरीर की सुषुप्तावस्था में एक बात हुई। जीवात्मा का शरीर से सम्बन्ध छूट गया, शरीर ही नहीं, मन से भी सम्बन्ध छूट गया। शरीर तथा मन से जो सम्बन्ध छूटा, उस समय यह अपने आपे में, अपने रूप में आया—उसी अपनेपन का स्मरण कर यह आनन्द का अनुभव करता है। शरीर के साथ सम्बन्ध जोड़ने में जो सुख-दुःख होता है, वह शरीर का सुख-दुःख है, जीवात्मा का अपना नहीं, शरीर से सम्बन्ध छूटने में केवल सुख-ही-सुख है, वह जीवात्मा का अपने स्वरूप में आने का सुख है। जागने पर उसी को यह स्मरण करता है। जीवात्मा की तरह ब्रह्म भी इन तीनों स्थानों में समय-समय पर क्रिया (Function) करता है। रची हुई सृष्टि उसका जाग्रत्-'स्थान' है, सृष्टि-रचना का सम्पूर्ण आयोजन उसका स्वप्न-'स्थान' है, और जब ब्रह्म सृष्टि में से अपनी रचना-रूप शक्ति को खींच लेता है वह प्रलयावस्था उसका सुषुप्ति-'स्थान' है। 'स्थूल-सृष्टि', 'सूक्ष्म-सृष्टि', 'प्रलय'—ये तीनों, प्रकृति की जागृत-'अवस्था', स्वप्न-'अवस्था', सुषुप्त-'अवस्था' हैं। प्रकृति की इन तीनों अवस्थाओं में ब्रह्म अपनी 'स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया' से कार्य करता है। जब प्रकृति की जागृतावस्था में वह कार्य करता है तब ब्रह्म का जाग्रत्-'स्थान' है, जब प्रकृति की स्वप्नावस्था में वह कार्य करता है तब ब्रह्म का स्वप्न-'स्थान' है, जब प्रकृति की सुषुप्तावस्था में वह कार्य करता है तब ब्रह्म का सुषुप्त-'स्थान' है। ये तीनों उसके 'सगुण' रूप हैं। जब हम उसके उस रूप का ध्यान करते हैं, जो प्रकृति की

तीनो अवस्थाओ से पृथक् है, वह उसका चतुर्थ-रूप है, तुरीय-रूप है, निर्गुण-रूप है। जैसे जीवात्मा 'प्रज्ञ' (प्र+ज्ञ) तथा 'प्रज्ञानघन' है, शरीर 'प्राज्ञ' (प्र+अज्ञ) है, वैसे ब्रह्म भी 'प्रज्ञ' तथा 'प्रज्ञानघन' (प्र+ज्ञान+घन) है, प्रकृति 'प्राज्ञ' (प्र+अज्ञ) है—प्रकृति भी सुषुप्तावस्था के मनुष्य-शरीर की तरह ज्ञान अर्थात् चेतना से रहित है। ज्ञान में और चेतना मे आधारभूत कोई भेद नही है। 'ज्ञान' जब क्रिया करने लगता है, प्रकट होने लगता है, तब 'चेतना' कहलाता है। चेतना-हीन होने का 'ज्ञान अथवा अनुभव न होना'—यही तो अर्थ होता है। 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म'—ये दोनो 'प्रज्ञ' है, अर्थात् ज्ञान वाले है, अर्थात् चेतनावाले है, 'शरीर' तथा 'प्रकृति'—ये दोनो 'प्राज्ञ' है, 'प्र+अज्ञ' है, ज्ञान वाले नही है, अर्थात् चेतना वाले नही है। सुषुप्ति-स्थान मे आकर ब्रह्म अपने 'प्रज्ञानघन', अर्थात् घनीभूत चेतना के रूप मे, अर्थात् 'चेतोमुख'-रूप मे आ जाता है, 'बहि प्रज्ञ' से 'अन्त प्रज्ञ', और 'अन्त प्रज्ञ' से 'प्रज्ञानघन'-रूप मे एकीभूत हो जाता है। उस समय वह आनन्दमय होता है, आनन्द का ही भोग करता है, 'आनन्द-भुक्' हो जाता है। सुषुप्त-स्थान के इस 'एकीभूत', 'प्रज्ञानघन', 'चेतोमुख', 'आनन्दमय', 'आनन्दभुक्' ब्रह्म का बखान उसके तृतीय-पाद का, तीसरे चतुर्थांश का वर्णन है ॥५॥

उक्त तीन स्थानो मे निवास करने वाले जिस ब्रह्म का वर्णन किया गया है, वह 'सर्वेश्वर' है, 'सर्वज्ञ' है, 'सर्वान्तर्यामी' है, सबका कारण है, भूतो की उत्पत्ति तथा प्रलय उसी से होती है। इन तीन स्थानो में रहने वाला ब्रह्म 'सगुण' ब्रह्म है ॥६॥

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष
योनि सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥६॥

एष—यह (आत्मा), सर्वेश्वर—सब ऐश्वर्य (प्रभुत्व) से सम्पन्न, एष—यह, सर्वज्ञ—सर्वज्ञाता, एष—यह, अन्तर्यामी—सारे शरीर या प्रकृति के अन्दर रहकर उनका नियन्ता या सर्वव्यापक, एष—यह, योनि—कारण, आधार, सर्वस्य—सब का, प्रभव+अप्ययौ—प्रभव (उत्पत्ति-कर्ता) और अप्यय (अपने में लीन करने वाला) या उत्पत्ति और विनाश का कर्ता, हि—ही, भूतानाम्—चर-अचर भूतो का ॥६॥

'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म' के तीन 'सगुण' रूपों के अतिरिक्त चौथा 'निर्गुण' रूप भी है, यह चतुर्थ-पाद है, जीवात्मा तथा ब्रह्म का तुरीय-स्थान है। इस रूप में वह अन्त प्रज्ञ नही होता, वहि प्रज्ञ नही होता, उभय-प्रज्ञ नही होता, प्रज्ञानघन नही होता, प्रज्ञ नही होता, अप्रज्ञ भी नही होता। जीवात्मा की शरीर मे और ब्रह्म की प्रकृति में क्रिया करते समय ही तो ये अवस्थाए होती हैं। जब जीवात्मा को शरीर की, और ब्रह्म को प्रकृति की तीनो अवस्थाओ से अलग करके उसके शुद्ध स्वरूप में देखें, तो 'ज्ञान' को आधार बनाकर अप्रज्ञ, प्रज्ञ, प्रज्ञानघन, उभयप्रज्ञ, अन्त प्रज्ञ, वहि प्रज्ञ—ये अवस्थाए न जीवात्मा की रहती है, न ब्रह्म की। जीवात्मा के शरीर के साथ, और ब्रह्म के प्रकृति के साथ संयोग से ही ये अवस्थाए प्रकट होती है, अन्यथा नही। जीवात्मा तथा ब्रह्म का चतुर्थ-पाद इन सब अवस्थाओ से पृथक् है। वह अदृष्ट है, अव्यवहार्य है, अग्राह्य है, उसका लक्षण नही हो सकता, चितन नही हो सकता, निर्देश नहीं हो सकता। तो क्या उसका कुछ वर्णन हो भी सकता है ? हा, इतना कहा जा सकता है कि वहा ससार का सब प्रपंच उपशम हो जाता है, वह शान्त अवस्था है, शिव अवस्था है, अद्वैत अवस्था है, प्रपच के उपशम के कारण उस अवस्था में केवल 'आत्मा' की सत्ता ही सार रूप में रह जाती है। शरीर के प्रपच के पीछे 'जीवात्मा' ही सार वस्तु है, ससार के प्रपच के पीछे 'ब्रह्म' ही सार वस्तु है। 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म' ही आत्म-तत्त्व है, उसे ही जानना चाहिए ॥७॥

नान्त प्रज्ञ न वहि प्रज्ञ नोभयत प्रज्ञ न प्रज्ञानघन न प्रज्ञ नाप्रज्ञम्।
अदृश्यमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसार
प्रपञ्चोपशम शान्त शिवमद्वैत चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेय ॥७॥

न—नही, अन्त प्रज्ञम्—अन्तर्मुख वृत्तिवाला, न—नहीं, वहि प्रज्ञम्—वहिर्मुख वृत्तिवाला, न—नहीं, उभयत प्रज्ञम्—दोनो (अन्तर्मुख और वहिर्मुख) वृत्ति वाला, न—नहीं, प्रज्ञानघनम्—केन्द्रीभूत ज्ञानवाला, न—नहीं, प्रज्ञम्—ज्ञाता, प्रज्ञा से युक्त, न—नही, अप्रज्ञम्—कुछ न जाननेवाला, प्रज्ञा से शून्य, अदृश्यम्—(इन्द्रियो से) अज्ञेय, अव्यवहार्यम्—किसी भी व्यवहार (कार्य) मे न आने योग्य, अग्राह्यम्—पकड मे न आने योग्य, कर्मेन्द्रियों का विषय

अक्षरों और मात्राओं में उस आत्म-तत्त्व का वर्णन किया जाय, तो उसे 'ओंकार' कहते हैं। अक्षर और मात्रा में कोई खास भेद नहीं है। अक्षर ही मात्रा है, मात्रा ही अक्षर हैं। वे अक्षर वा मात्राएं 'अकार', 'उकार' तथा 'मकार' हैं ॥८॥

'अकार' प्रथम मात्रा है। यह 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म' के जाग्रत्-स्थान को, जिसका 'वैश्वानर'-शरीर कहा गया है, प्रतिनिधि है। जो जाग्रत्-स्थान वाले जीवात्मा को तथा ब्रह्म को जानता है, उसकी उपासना करता है, वह सब कामनाओं को 'आप्नोति', अर्थात् प्राप्त कर लेता है। 'आप्नोति' का 'अ' ओंकार का 'अकार' है। वह सब

नहीं, **अलक्षणम्**—उसका कोई ज्ञापक चिह्न या परिभाषा नहीं, अनुमान का विषय नहीं, **अचिन्त्यम्**—चिन्तन का विषय नहीं, **अव्यपदेश्यम्**—शब्दों में—वाणी से बताया नहीं जा सकता, **एकात्मप्रत्ययसारम्**—(उस समय उसे) केवल आत्मा (अपने स्वरूप) का भान होता है, **प्रपञ्चोपशमम्**—उसमें सब प्रपंच (जगत् के त्रिगुणात्मक स्वरूप) की शान्ति (लय) हो जाती है, **शान्तम्**—अविचल, निर्द्वन्द्व, **शिवम्**—कल्याणमय, **अद्वैतम्**—अद्वितीय, (अपने से भिन्न) दूसरे का भान न करने वाला या लासानी, **चतुर्थम्**—(इस पूर्वोक्त स्थिति को ब्रह्म का) चौथा पाद (ज्ञान-क्षेत्र), **मन्यन्ते**—(ब्रह्मविद्) मानते, समझते (कहते) हैं, **स**—वह (पूर्ववर्णित स्वरूप वाला) ही, **आत्मा**—आत्मा (का स्वरूप) है, **स**—वह ही, **विज्ञेय**—जानने योग्य है, उसे ही जानना चाहिये ॥७॥

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा
मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥८॥

स अयम् आत्मा—वह यह आत्मा, **अध्यक्षरम्**—अक्षरों (वर्णों) का आधार लेने पर, **ओङ्कार**—'ओम्' यह पद है, **अधिमात्रम्**—मात्राओं के आधार से, **पादा**—पाद ही, **मात्रा**—मात्रा (कहलाते हैं), **मात्रा च पादा**—और मात्राएँ पाद कहलाती हैं (दोनों शब्दों का एक ही अभिप्राय है), **अकार, उकार, मकार**—(वे तीन पाद या मात्राएँ) अ-उ-म्, **इति**—इस प्रकार हैं ॥८॥

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्त्वा-
द्वाप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥९॥

जागरितस्थान वैश्वानर—(पूर्ववर्णित) जागरित स्थान वैश्वानर ही, **अकार** ('ओम्' का) 'अ', **प्रथमा मात्रा**—प्रथम मात्रा (पाद) है, **आप्ते**—(यह

स्थानों में 'आदि'-स्थान, मुख्य-स्थान, प्राप्त करता है। 'आदि' का 'अ' ओंकार का 'अकार' है। 'ओंकार' की 'अकार'-मात्रा का ध्यान जाग्रत्-स्थान के जीवात्मा तथा ब्रह्म का ध्यान है ॥९॥

'उकार' द्वितीय मात्रा है। यह 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म' के स्वप्न-स्थान की, जिसका 'तैजस'-शरीर कहा गया है, प्रतिनिधि है। जो स्वप्न-स्थान वाले जीवात्मा तथा ब्रह्म को जानता है, उसकी उपासना करता है, उसका 'उत्कर्ष' होता है, वह अपने कुल में तथा समाज में ज्ञान का विस्तार करता है। 'उत्कर्ष' का 'उ' ओंकार का 'उकार' है। वह 'उभय'-स्थिति प्राप्त करता है, जहां दो पक्ष हों वहां वह दोनों पक्षों में आदर प्राप्त करता है, उसकी दोनों पक्षों के लिए 'समान' स्थिति हो जाती है। 'उभय' का 'उ' ओंकार का 'उकार' है। 'ओंकार' की 'उकार'-मात्रा का ध्यान स्वप्न-स्थान के जीवात्मा तथा ब्रह्म का ध्यान है। जो इस प्रकार 'उकार' की उपासना करता है उसके कुल में 'अब्रह्मवित्'—'ब्रह्म को न जानने वाला'—नहीं होता ॥१०॥

'अ' मात्रा) व्याप्ति-अर्थक आप्लृ धातु से निष्पन्न है या इसका अर्थ व्यापक है, आदिमत्त्वाद् वा—या आदिमान् (प्रथम–मुख्य) होने के कारण 'अ' (कहलाती है), आप्नोति—(इस 'अ'-मात्रा का ज्ञाता) प्राप्त करता है, ह वै—निश्चय से, सर्वान् कामान्—सब कामनाओं–भोगों को, आदि च भवति—और सबसे मुख्य (प्रथम) होता है, य एव वेद—जो इस प्रकार जानता है ॥९॥

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसंतति समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एव वेद ॥१०॥

स्वप्नस्थान तैजस—(उपरिवर्णित) स्वप्नस्थान तैजस ही, **उकार द्वितीया मात्रा**—('ओम्' का) 'उ' अक्षर दूसरी मात्रा (पाद) है, **उत्कर्षात्**—उत्कर्ष के कारण, **उभयत्वात् वा**—या दोनों में होने के कारण, (दोनों–उत्कर्ष और उभय का आदि अक्षर 'उ' लेकर इस मात्रा का निर्वचन होता है), **उत्कर्षति**—ऊपर उठाता, उन्नत करता है, **ह वै**—निश्चय से, **ज्ञानसंततिम्**—ज्ञान के विस्तार (परम्परा) को या ज्ञान-संतति–शिष्य-परम्परा को, **समान च**—और सब के लिए समान (एकभाव) रखने वाला या सब का आदरणीय (स+मान), **भवति**—होता है, **न अस्य**—नहीं इसके, **अब्रह्मविद्**—ब्रह्म को न जानने वाला, **कुले**—वंश में, **भवति**—होता है, **य एवम् वेद**—जो इस प्रकार (इस 'उ' मात्रा को) जानता है ॥१०॥

'मकार' तृतीय मात्रा है। यह 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म' के सुषुप्त-स्थान की, जिसको 'प्राज्ञ'-शरीर कहा गया है, प्रतिनिधि है। जो सुषुप्त-स्थान वाले जीवात्मा तथा ब्रह्म को जानता है, उसकी उपासना करता है, वह सम्पूर्ण विश्व को 'मिनोति'—उसे माप लेता है—उसकी थाह पा जाता है। 'मिनोति' का 'म्' ओंकार का 'मकार' है। वह विश्व की 'इति'—इसका अन्त—भी पा लेता है। जैसे 'म्' स्पर्श-व्यंजनों का अन्तिम अक्षर है वैसे सुषुप्तावस्था प्रकृति की 'इति', अर्थात् अन्तिम अवस्था है। जो इस प्रकार 'मकार' की उपासना करता है वह सम्पूर्ण संसार की थाह पा लेता है, अन्त पा लेता है ॥११॥

मात्रा-रहित 'ओंकार' चतुर्थ है। जैसे शरीर की जागृतावस्था, स्वप्नावस्था तथा सुषुप्तावस्था में से निकलकर जीवात्मा अपने चतुर्थ रूप में आ जाता है, जैसे प्रकृति की जागृतावस्था, स्वप्नावस्था तथा सुषुप्तावस्था में से निकलकर ब्रह्म अपनी तुरीयावस्था में आ जाता है, वैसे अ, उ, म्—इन जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्त अवस्थाओं की प्रतिनिधि तीन मात्राओं से पृथक् ओंकार का अमात्र रूप भी है। वह

सुषुप्तस्थान प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा
मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥११॥

सुषुप्तस्थान प्राज्ञ—(उपरिवर्णित) सुषुप्तस्थान प्राज्ञ ही, **मकार तृतीया मात्रा**—('ओम्' का) 'म्' अक्षर तीसरी मात्रा (पाद) है, **मिते**—ज्ञानार्थक या परिमापार्थक 'मा' धातु से निष्पन्न 'मिति' (प्रमाण या परिमाप) से, **अपीते वा**—या अपीति (लय, समाप्ति) से ('म्' मात्रा का निर्वचन होता है), **मिनोति**—जान लेता है, माप लेता है, **ह वै**—निश्चय से, **इदम् सर्वम्**—इस सब जगत् को, **अपीति**—अपीति (विषयों की, दुःखों की, अज्ञान की समाप्ति—या जगत् की अपीति—लय), **भवति**—हो जाती है, **य एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है ॥११॥

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार
आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥१२॥

अमात्र—मात्राओं से रहित, अखण्ड, पूर्ण 'ओम्' ब्रह्म, **चतुर्थ**—चौथा (पाद—ज्ञान-क्षेत्र), **अव्यवहार्य**—जो व्यवहार के अयोग्य है, **प्रपञ्चोपशम**—जिसमें सब प्रपञ्च की उपरति (लय) हो जाती है, **शिव**—सर्वकल्याणकारी,

रूप व्यवहार में नहीं आता, वह शिव है, अद्वैत है, वहां संसार के प्रपंच का उपशमन हो जाता है। ओंकार का यह अमात्र रूप, 'आत्मा' का—अर्थात् 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म' का—तात्त्विक रूप है, इस रूप में ओंकार मानो आत्मा ही है। जो ओंकार के इस रूप को जानता है, वह बाहर न भटककर आत्मज्ञान द्वारा अन्तरात्मा में प्रवेश कर जाता है ॥१२॥

(जिस वस्तु को हम नहीं जानते उसके जानने का एक ही उपाय है। वह उपाय यह है कि 'ज्ञात' द्वारा हम 'अज्ञात' को जानें। जो बालक नदी को नहीं जानता उसे एक छोटा-सा नाला दिखाकर कहा जा सकता है कि यह नाला अगर बहुत बड़ा हो जाय, तो उसे नदी कहा जाता है। इस उपनिषद् में ब्रह्म को जानने के लिये भी 'ज्ञात' से 'अज्ञात' (From known to unknown) का आश्रय लिया गया है। हम अपने विषय में कुछ जानते हैं—यह 'ज्ञात' है। जो पिंड में है, वही ब्रह्मांड में है—इस प्रकार 'अज्ञात' को हम अपने पिंड के ज्ञान से जान जाते हैं। अर्थात् 'जीवात्मा' के ज्ञान से 'ब्रह्म' का ज्ञान हो सकता है—यह उपनिषत्कार का कथन है।

'ज्ञात' से 'अज्ञात' को जाना जा सकता है, तो हम 'पिंड' से 'ब्रह्मांड' को, 'जीव' से 'ब्रह्म' को कैसे जानें? वह उपाय क्या है? हम किसी वस्तु के तात्त्विक-रूप को तभी जान सकते हैं जब उसकी 'रचना' (Structure) तथा उसके 'कार्य' (Function) का हमें ज्ञान हो। ऋषि ने जीवात्मा की 'रचना तथा 'कार्य' का माण्डूक्य

अद्वैत—अद्वितीय, लासानी, अप्रतिम, **एवम्**—इस प्रकार उपव्याख्यान से, **ओंकारे**—'ओम्'—पद वाच्य ब्रह्म में, **आत्मा**—जीवात्मा, **एव**—ही, **संविशति**—प्रवेश पाता है, प्राप्त करता है, सो जाता है, आनन्द भोगता है, **आत्मना**—निज (कर्मशील) आत्मा (जीवात्मा) से, **आत्मानम्**—सतत (ज्ञान-शील) परमात्मा को, **य**—जो, **एवम्**—इस प्रकार, **वेद**—जानता है, **य एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है (वाक्य की द्विरुक्ति ग्रन्थ समाप्ति की सूचना के लिए है) ॥१२॥

में वर्णन किया है, और जीवात्मा की 'रचना' तथा उसके 'कार्य' के वर्णन से 'ब्रह्म' की रचना तथा उसके 'कार्य' का निर्देश दिया है।

जीवात्मा तथा ब्रह्म की तात्त्विक-रचना का तो कुछ पता नहीं। वह रूप अदृष्ट है, अचिन्त्य है, अव्यवहार्य है, निर्गुण है। उस रूप की तो 'नेति-नेति' से ही चर्चा हो सकती है, वहां तो गुरु मौन हो जाता है, और मौन में ही सब-कुछ कह जाता है। परन्तु उस अदृष्ट, अचिन्त्य, अव्यवहार्य तथा निर्गुण रूप के अलावा उसका दृष्ट, चिन्त्य, व्यवहार्य तथा सगुण रूप भी है। वह रूप, वह 'रचना' (Structure) क्या है? ऋषि का कहना है कि इस रूप में, इस 'रचना' में, ब्रह्म 'प्रज्ञानघन' (Concentric Consciousness) है। इस अवस्था में विकासोन्मुख ब्रह्म पहले 'अन्तः प्रज्ञ' (Introvert) तथा फिर 'बहिः प्रज्ञ' (Extrovert) इन दो अवस्थाओं में जाता है, ठीक इस तरह जैसे जीवात्मा। 'प्रज्ञानघन' ब्रह्म अपने शुद्ध रूप में बाहर की तरफ जाता हुआ सृष्टि की रचना करता है, अन्दर की तरफ लौटता हुआ अपने रूप में प्रतिष्ठित होता है अपने सगुण रूप में बाहर की तरफ जाता हुआ सुषुप्त-स्थान से स्वप्न-स्थान में, और स्वप्न-स्थान से जाग्रत्-स्थान में जाता है, अन्दर की तरफ लौटता हुआ जाग्रत् से स्वप्न और स्वप्न से सुषुप्त-स्थान में लौट आता है। सुषुप्त-स्थान में आकर उसका प्रकृति से ऐसा सम्पर्क रह जाता है, जैसे सुषुप्त-अवस्था में जीवात्मा का शरीर से। जीवात्मा के हम जितने रूप देख पाते हैं सब शरीर से किसी-न-किसी तरह रले-मिले हैं, इसी प्रकार ब्रह्म के भी हम जितने रूप देख पाते हैं सब प्रकृति से रले-मिले हैं। केवल सुषुप्तावस्था में कुछ ऐसा रूप भास-सा जाता है, जो शरीर के साथ रहते हुए भी शरीर से अलग-सा है। जागृत तथा स्वप्नावस्था में तो शरीर तथा जीवात्मा का बन्धन ऐसा जकड़ा-हुआ-सा रहता है कि इन दोनों को अलग किया ही नहीं जा सकता। केवल सुषुप्तावस्था ऐसी अवस्था है जब इन दोनों का बन्धन, इन दोनों की जकड़न शिथिल-सी हो जाती है। तब शरीर तथा जीवात्मा साथ-साथ रहते हुए भी जरा एक दूसरे से अलग-से हो जाते हैं। इस अवस्था

में शरीर का असली रूप प्रकट हो जाता है। वह बोल नहीं सकता, सुन नहीं सकता, हिल नहीं सकता, अनुभव नहीं कर सकता, जड़ पड़ा रहता है। उस समय जीवात्मा का क्या रूप है? उस अवस्था में लौट आने पर हम कहते हैं, बड़ा आनन्द आया। यह आनन्द किसे आया? शरीर तो जड़ पड़ा हुआ था, उसे तो कोई अनुभव था ही नहीं। मानना पड़ेगा कि सुषुप्तावस्था के समय जीवात्मा के शरीर से अलग-से होने पर उसे अपने आनन्दमय रूप का ज्ञान हुआ था, उसी की अब स्मृति हो रही है। उस अलग-से रूप को बिल्कुल अलग कर लिया जाय, तो आत्मा का शुद्ध रूप झलकने लगता है। ब्रह्म के ज्ञान का भी यही मार्ग है। प्रकृति की जागृतावस्था में, कार्य-रूप-सृष्टि में तो ब्रह्म तथा प्रकृति रले-मिले रहते हैं, ठीक ऐसे जैसे जागृतावस्था में शरीर तथा जीवात्मा, परन्तु सुषुप्तावस्था में ब्रह्म प्रकृति के साथ रहता हुआ भी अलग-सा होता है, उसे बिल्कुल अलग करके देखा जाय, तो वही उसका तात्त्विक रूप है।

यह तो 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म' की 'सूक्ष्म-रचना' (Fine structure) है—ये दोनों 'प्रज्ञ' या 'प्रज्ञानघन' हैं, अर्थात् सुषुप्ति में हमें पता चलता है कि जब शरीर से जीवात्मा और प्रकृति से ब्रह्म अलग हो जाते हैं, तब उनकी सूक्ष्म-रचना का आधार-भूत तत्त्व 'प्रज्ञा' (Consciousness) दीख पड़ने लगता है। परन्तु इनकी 'स्थूल-रचना' (Grosser structure) क्या है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि स्थूल-रचना 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म' की नहीं है, 'शरीर' तथा 'प्रकृति' की है, परन्तु क्योंकि शरीर तथा प्रकृति की स्थूल-रचना के करने वाले क्रमशः जीवात्मा तथा ब्रह्म हैं, अतः इस स्थूल-रचना को जीवात्मा तथा ब्रह्म की ही रचना कह दिया गया है। सूक्ष्म-रचना के समय सुषुप्तावस्था में जीवात्मा की रचना तो 'प्रज्ञ' (प्र+ज्ञ—Consciousness) है, शरीर की रचना 'प्राज्ञ' (प्र+अज्ञ—Unconscious) है। इस 'प्राज्ञ' (प्र+अज्ञ—Unconscious) का वर्णन वर्तमान मनोविश्लेषणवाद के प्रवर्तक फ्रॉयड ने बहुत विस्तार से किया है। इस प्राज्ञ (Unconscious) को

सम्मुख रखकर 'अज्ञात-चेतना के मनोविज्ञान' (Psychology of the Unconscious) का जन्म हुआ है। यह स्मरण रहे कि 'अज्ञात-चेतना' (Unconscious) का वर्णन आत्मा का वर्णन नही है, यह शरीर का ही वर्णन है, मनुष्य के स्नायु-ततुओ (Nervous System) मे अज्ञात-रूप से जो क्रिया-कलाप चलता है, उसका वर्णन है। जीवात्मा 'प्रज्ञ'=प्र+ज्ञ (Conscious) तथा 'शरीर' 'प्राज्ञ'= प्र+अज्ञ (Unconscious) है, एक चेतन दूसरा जड, एक ज्ञान-मय, दूसरा अज्ञानमय, एक विद्या, दूसरा अविद्या--इन दोनो के सयोग से विश्व विकास के मार्ग पर चलता है। सूक्ष्म-रचना से स्थूल-रचना मे आते समय सुपुप्तावस्था से जब शरीर स्वप्नावस्था मे आता है तब जीवात्मा 'अन्त प्रज्ञ' तथा शरीर 'तैजस' हो जाता है। जीवात्मा का 'प्रज्ञ' रूप 'अन्त प्रज्ञ' रूप मे बदल जाता है, शरीर का 'अज्ञ' रूप 'तैजस' रूप मे बदल जाता है, कुछ ज्ञान न होने के स्थान मे, कुछ प्रकाश न होने के स्थान मे, ज्ञान होने लगता है, प्रकाश होने लगता है, परन्तु इस प्रकाश मे स्पष्टता नही होती। इसी प्रकाश को 'तैजस' कहा है। स्वप्नावस्था से जब शरीर जागृतावस्था मे आता है तब जीवात्मा 'अन्त प्रज्ञ' से 'वहि प्रज्ञ' हो जाता है, और शरीर 'तैजस' से 'वैश्वानर' हो जाता है, भिन्न-भिन्न नरो के रूपो मे दीख पडता है। आत्मा के कारण जैसे शरीर की ये तीन स्थूल-रचनाए (Grosser Structures) है, वैसे परमात्मा के कारण प्रकृति की भी सुपुप्तावस्था मे 'अज्ञ' (Indefinite), स्वप्नावस्था मे 'तैजस' अथवा 'हिरण्यगर्भ' (Nebular) तथा जागृतावस्था मे 'वैश्वानर' (Definite)–ये तीन स्थूल-रचनाए है।

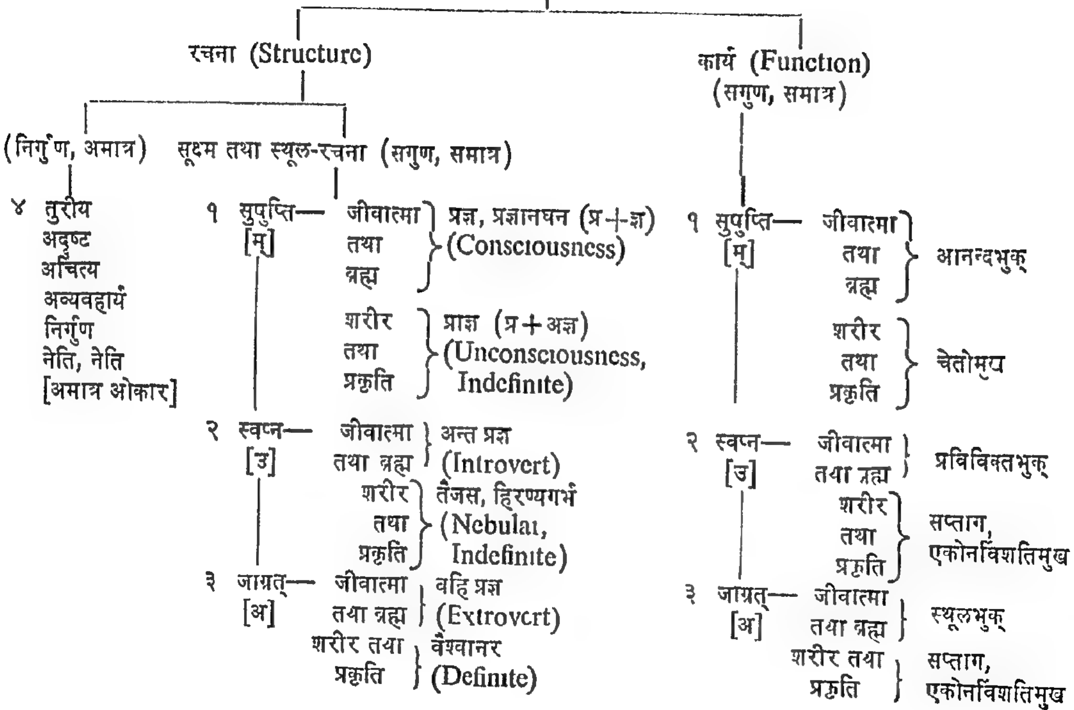
'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म' की सूक्ष्म-'रचना' तथा स्थूल-'रचना' (Finer and Grosser Structure) के बाद इन दोनो के 'कार्य' (Function) का जानना आवश्यक है। 'जीव' तथा 'ब्रह्म' की 'रचना' (Structure) क्या है? सूक्ष्म-रचना 'प्रज्ञानघन', तथा स्थूल-रचना, जो वास्तव मे शरीर तथा प्रकृति की है, परन्तु जीव तथा ब्रह्म मे आरोपित हो जाती है, जाग्रत् मे 'वैश्वानर', स्वप्न

मे 'तैजस', सुषुप्ति मे 'प्र+अज्ञ' है। 'जीव' तथा 'ब्रह्म' के 'कार्य' (Function) है—जाग्रत् में 'स्थूल-भुक्', स्वप्न मे 'प्रविविक्त-भुक्', सुषुप्ति मे 'आनन्द-भुक्'। जागृतावस्था मे जीवात्मा तथा ब्रह्म का कार्य स्थूल-जगत् मे है, अत ऋषि ने इन दोनो की उस अवस्था को 'स्थूल-भुक्' कहा है। स्वप्नावस्था वह है जब बाहर से ध्यान टूटकर अन्दर चला जाता है—चाहे वह अवस्था इच्छा-पूर्वक (Voluntary) हो, चाहे अनिच्छा-पूर्वक (Involuntary)। अनिच्छा-पूर्वक स्वप्नावस्था मे स्वप्न आते है, उनमे सिलसिला नही होता, तरतीब नही होती, परन्तु अगर इच्छा-पूर्वक बाहर से ध्यान खीचकर अन्दर की तरफ ले जाय, तो मनुष्य विचार-मग्न हो जाता है, सिलसिलेवार, तरतीबवार विचार कर सकता है। अस्ल मे ध्यान की उसी अवस्था मे वह अपने कार्यो का आयोजन (Planning) करता है। यह अवस्था भी 'स्वप्नावस्था' है, इस अवस्था को ऋषि ने 'प्रविविक्त-भुक्' कहा है। 'विविक्त' शब्द 'विवेक' से बना है। इस अवस्था मे स्थूल रूप से ससार का भोग करने के स्थान मे विवेक द्वारा, विचार-मय जगत् मे ससार का भोग होता है। स्वप्नावस्था के बाद सुषुप्तावस्था मे जीवात्मा तथा ब्रह्म 'आनन्द-भुक्' कहे गये है। सुषुप्तावस्था मे जीवात्मा का शरीर से, और ब्रह्म का प्रकृति से सम्बन्ध होते हुए भी टूट-सा जाता है। सुषुप्ति से उठकर मनुष्य कहता है, आनन्द से सोया। सुषुप्ति मे शरीर और आत्मा के सम्बन्ध के टूटने से जो आनन्द की अनुभूति होती है, उसी का जागने पर स्मरण-सा रह जाता है। यह आनन्द 'निषेधात्मक' (Negative) है। शरीर से जीवात्मा के सम्बन्ध के ढीला होते ही आनन्द का अनुभव होता है। अगर शरीर से ढीलापन बढता जाय, और जीवात्मा शरीर से अलग होकर ब्रह्म के साथ वैसा सम्बन्ध स्थापित कर ले जैसा शरीर के साथ स्थापित किया था, तब तो 'निश्चयात्मक' (Positive) आनन्द प्राप्त होगा—यही ब्रह्मानन्द है। सुषुप्तावस्था से जागने पर अनुभव होने वाला आनन्द ब्रह्म के उस आनन्दमय रूप की तरफ सकेत करता है, जो सुषुप्तावस्था मे जीवात्मा के शरीर के साथ

सम्बन्ध के टूटने के समय प्रादुर्भूत होता है। यह आनन्द जीवात्मा के शरीर के साथ सम्बन्ध टूटने से उत्पन्न हुआ, इसीलिये यह 'निषेधात्मक' है। अगर शरीर के साथ सम्बन्ध टूटने के बाद जीवात्मा का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध जुड जाय, तो 'निषेधात्मक'-आनन्द 'निश्चयात्मक'-आनन्द मे बदल जायगा।

इस प्रकार जीवात्मा द्वारा ब्रह्म के 'रचना' (Structure) तथा 'कार्य' (Function) का ज्ञान कराने के बाद ऋषि ने उसे ओंकार की अ-उ-म् इन तीन मात्राओ पर घटा दिया है। ओंकार की अ-उ-म्——इन तीन मात्राओ द्वारा ब्रह्म के 'सगुण' तथा ओंकार के अमात्र द्वारा उसके 'निर्गुण' रूप की उपासना करनी चाहिये।)

माण्डूक्योपनिषद् मे 'आत्म-तत्त्व', अर्थात् जीवात्मा तथा परमात्मा की जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-तुरीय——इन चार अवस्थाओ का वर्णन छन्दोग्य ('इन्द्र-विरोचन' कथानक, ८-१२) तथा बृहदारण्यकोपनिषद् (४-२, ३ तथा २-१) मे वर्णित अवस्थाओ के अनुसार ही पाया जाता है। माण्डूक्य के वर्णन को चित्र मे इस उपनिषद् के शुरू मे दिया गया है। अभी हमने जो व्याख्या की उसके अनुसार एक दूसरा चित्र यो भी बनाया जा सकता है ——



आत्म-तत्त्व, अर्थात् जीव तथा ब्रह्म के जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति मे निर्गुण तथा सगुण रूप
रचना (Structure)
कार्य (Function)
(सगुण, समात्र)
(निर्गुण, अमात्र)
सूक्ष्म तथा स्थूल-रचना (सगुण, समात्र)
४ तुरीय
अदृष्ट
अचित्य
अव्यवहार्य
निर्गुण
नेति, नेति
[अमात्र ओंकार]
१ सुषुप्ति—[म्]
जीवात्मा तथा ब्रह्म
प्रज्ञ, प्रज्ञानघन (प्र+ज्ञ) (Consciousness)
शरीर तथा प्रकृति
प्राज्ञ (प्र+अज्ञ) (Unconsciousness, Indefinite)
२ स्वप्न—[उ]
जीवात्मा तथा ब्रह्म
अन्तःप्रज्ञ (Introvert)
शरीर तथा प्रकृति
तैजस, हिरण्यगर्भ (Nebular, Indefinite)
३ जाग्रत्—[अ]
जीवात्मा तथा ब्रह्म
बहिःप्रज्ञ (Extrovert)
शरीर तथा प्रकृति
वैश्वानर (Definite)
१ सुषुप्ति—[म्]
जीवात्मा तथा ब्रह्म
आनन्दभुक्
शरीर तथा प्रकृति
चेतोमुख
२ स्वप्न—[उ]
जीवात्मा तथा ब्रह्म
प्रविविक्तभुक्
शरीर तथा प्रकृति
सप्ताग, एकोनविंशतिमुख
३ जाग्रत्—[अ]
जीवात्मा तथा ब्रह्म
स्थूलभुक्
शरीर तथा प्रकृति
सप्ताग, एकोनविंशतिमुख

तैत्तिरीय-उपनिषद्
(शिक्षाध्याय-वल्ली)
शिक्षाध्याय-वल्ली का प्रथम अनुवाक

मित्र, वरुण, अर्यमा हमारे लिये कल्याणकारी हो, इद्र, बृहस्पति, महा-पराक्रमी विष्णु हमारे लिये कल्याणकारी हो। ब्रह्म को नमस्कार हो, हे वायु, तुझे नमस्कार हो, तू मानो प्रत्यक्ष, साक्षात् ब्रह्म है। मैं तुझे ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूगा, ऋत कहूगा, सत्य कहूगा। हे वायु-रूप प्रत्यक्ष ब्रह्म! मेरी रक्षा करो, मुझे उपदेश देने वाले मेरे गुरु की रक्षा करो, मेरी रक्षा करो, ब्रह्म का निर्वचन करने वाले गुरु की रक्षा करो।

ॐ श नो मित्र श वरुण। श नो भवत्वर्यमा। श न इन्द्रो बृहस्पति। श नो विष्णुरुरुक्रम। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्ष ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्ष ब्रह्म वदिष्यामि। ऋत वदिष्यामि। सत्य वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति ॥

ओम्—हे परमात्मन्!, शम्—कल्याणकारी, शान्तिदायक, न—हमारे लिए, मित्र—मित्र, शम्—कल्याणप्रद, वरुण—वरुण, शम् न भवतु अर्यमा—अर्यमा हमारे लिए कल्याणकारी, शान्तिदाता हो, शम् न इन्द्र बृहस्पति—इन्द्र और बृहस्पति हमारे लिये शान्तिप्रद हो, शम् न विष्णु उरुक्रम—महापराक्रमी विष्णु हमे शान्ति दे, नम ब्रह्मणे—ब्रह्म को नमस्कार है, नम ते वायो—हे वायु तुझे प्रणाम है, त्वम् एव प्रत्यक्षम् ब्रह्म असि—तू ही साक्षात् ब्रह्म है, त्वाम् एव—तुझको ही, प्रत्यक्षम् ब्रह्म—साक्षात् ब्रह्म, वदिष्यामि—मैं कहूगा, उपदेश करूगा, ऋतम् वदिष्यामि—ऋत (यथार्थ) कहूगा, सत्यम् वदिष्यामि—सत्य कहूगा, तत्—वह, माम्—मुझे, अवतु—रक्षा करे, तद् वक्तारम् अवतु—वह वक्ता की रक्षा करे, अवतु माम्—मेरी रक्षा करे, अवतु वक्तारम्—वक्ता (उपदेष्टा) की रक्षा करे, ओम्—हे परमात्मन्, शान्ति—(आध्यात्मिक) शान्ति हो, शान्ति—(आधिभौतिक) शान्ति हो, शान्ति—(आधिदैविक) शान्ति हो ॥

शिक्षाध्याय-वल्ली का द्वितीय अनुवाक

वर्ण, स्वर, मात्रा, बल और इनके मेल से शब्द-सन्तान या संहिता

अब 'शिक्षा' की व्याख्या करेंगे। शिक्षा 'शब्दों' द्वारा दी जाती है, शब्दों की उत्पत्ति 'वर्णों' से होती है। अ, आ, इ, ई तथा क, ख, ग, घ आदि 'वर्ण' हैं। वर्णों के ज्ञान के बाद 'स्वर', अर्थात् उच्चारण का ज्ञान होना आवश्यक है। 'वर्ण-ज्ञान' का अर्थ है अक्षरों का ज्ञान, 'स्वर-ज्ञान' का अर्थ है कौन-सा वर्ण कैसे बोला जाता है—इसका ज्ञान स्वर-ज्ञान है। कई बालक 'स' को 'फ' और 'त' को 'ट' बोलने लगते हैं। उनका स्वर ठीक नहीं होता। जैसे 'वर्ण' का ज्ञान कराना आवश्यक है, वैसे 'स्वर' का ज्ञान कराना भी उतना ही आवश्यक है। वर्ण तथा स्वर-ज्ञान के बाद 'मात्रा' का ज्ञान कराया जाता है। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत—इन मात्राओं का ज्ञान शब्दोच्चारण में सहायक होता है। कई बालक ह्रस्व की जगह दीर्घ और दीर्घ की जगह ह्रस्व मात्रा का प्रयोग कर देते हैं। वर्ण, स्वर, मात्रा के ज्ञान के बाद मात्राओं का 'बल' जानना आवश्यक है। संस्कृत के ज्ञान में मात्राओं का अपना-अपना बल है। 'आ' की मात्रा का बल शब्द को स्त्री-लिंगी बना देता है—जैसे 'स' का अर्थ है 'वह पुरुष', 'सा' का अर्थ है, 'वह स्त्री', 'औ' की मात्रा का बल एक वस्तु को दो बना देता है—जैसे 'तौ' का अर्थ है 'वे दोनों'। 'आ' की मात्रा का बल एक को अनेक बना देता है—जैसे 'गता' का अर्थ है—'वे सब गये'।

ॐ शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्।
साम सन्तानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः ॥१॥

ओम्—ईश्वर का स्मरण कर, शीक्षाम्—शिक्षा—वर्णोच्चारण की शिक्षा की, व्याख्यास्यामः—व्याख्या—विशेष विवरण करेंगे, वर्णः—वर्ण (अ से लेकर ह पर्यन्त अक्षर), स्वरः—उच्चारण-विधि (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित), मात्रा—उच्चारण काल (ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत), बलम्—(बाह्य और आभ्यन्तर) प्रयत्न, साम—(उच्चारण में) समता, सन्तानः—(पद-शब्द-वाक्य में वर्णों का) विस्तार या वृद्धि, इति—इस प्रकार से, उक्तः—कह दिया है, शीक्षाध्यायः—शिक्षा के अध्ययन का स्वरूप ॥१॥

इसके बाद 'शब्द-ज्ञान' में 'साम'—अर्थात् समता (Harmony) से उच्चारण करना आना चाहिये, ऊंचे-नीचे बोलने का ढग आना चाहिये। वर्ण, स्वर, मात्रा, बल और साम के ज्ञान के अनन्तर शब्दो का 'सन्तान' प्रारम्भ हो जाता है, शब्दो से वाक्य और वाक्यो मे ग्रन्थ बन जाते हैं। यही शब्दो का सन्तान है, फैलाव है। इस प्रकार वर्णो से प्रारभ करके वर्णो की सन्तान तक पहुच जाने में ही सब शिक्षा समा जाती है ॥१॥

शिक्षाध्याय-वल्ली का तृतीय अनुवाक

अक्षराभ्यास की सहिता जीवन मे महासहिता बन जानी चाहिये

शब्द-ज्ञान कराकर गुरु-शिष्य दोनो मिलकर कहते है—'सह नौ यश सह नौ ब्रह्मवर्चसम्'—हम दोनो का यश एक-साथ बढे, हम दोनो का ब्रह्म-तेज एक-साथ बढे।

अभी कहा कि 'वर्णों' से प्रारम्भ करके 'वर्णो की सन्तान' तक पहुच जाना ही शिक्षा है। 'वर्णो की सन्तान' का अर्थ है, वर्णो का आपस में मिलना-जुलना। वर्णो के इस मेल-जोल को ही 'सहिता' कहते है। जैसे माता-पिता के मेल से सन्तान होती है, वैसे वर्णो के मेल से, उनकी 'सहिता' से 'शिक्षा' प्रारम्भ होती है।

'सहिता' से 'ज्ञान' का उदय होता है, पांच 'महा-सहिता' से 'उपनिषद्-ज्ञान' का उदय होता है। कठ-उपनिषद् में यम ने भी नचिकेता को सन्धि में से गुजरने का उपदेश दिया है। 'सहिता', यह 'सन्धि' का ही दूसरा नाम है। इन महा-सहिताओ का पाच प्रकार मे वर्णन किया जा सकता है—अधिलोक, अधिज्योतिष, अधिविद्य, अधिप्रज तथा अध्यात्म। जैसे वर्णो की सन्धि होती है, सहिता होती

सह नौ यश। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्। अथात संहिताया उपनिषद व्याख्यास्याम। पचस्वधिकरणेषु। अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम्। ता महासंहिता इत्याचक्षते ॥१॥

सह—एक साथ, युगपद्, नौ—हम दोनो (गुरु-शिष्य) का, यश—कीर्ति, सह—साथ ही, नौ—हम दोनो का, ब्रह्मवर्चसम्—ब्रह्म-तेज, वेद-ज्ञान

है, वैसे इन पांच-स्थानो मे, पांच अधिकरणो मे महासन्धि, महासहिता होती है। जैसे वर्णो की सन्धि से ज्ञान का उदय होता है, वैसे लोक में, ज्यौतिष मे, विद्या मे, प्रजा में तथा आत्मा मे जो महासन्धिया होती है, उनसे ब्रह्म-ज्ञान का उदय होता है ॥१॥

लोक में महा-सन्धिया क्या है ? जैसे वर्णो मे एक 'पूर्व' वर्ण होता है, एक 'उत्तर' वर्ण होता है, इन वर्णो मे अवकाश अर्थात् 'सन्धि' हो सकती है, और यह अवकाश किसी अक्षर से पुर कर दिया जाता है, जिसे 'सन्धान' कहते है, वैसे लोको मे 'पृथिवी' पूर्व-रूप है, 'द्यौ' उत्तर-रूप है, 'आकाश' सन्धि है, 'वायु' सन्धान है, पृथिवी और द्यु को मिलाने वाला है, इनकी सहिता करने वाला है। वर्णो की सहिता की तरह यह लोको की महा-सहिता है। ये लोक मानो एक-एक वर्ण है। जैसे भिन्न-भिन्न वर्णो की सन्धि से एक अभिन्न शब्द उत्पन्न होता है, वैसे इन भिन्न-भिन्न लोक-रूपी वर्णो की महासन्धि से अभिन्न ब्रह्म-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है ॥२॥

का उत्कर्ष हो, **अथ**—अब, **अत**—इसके आगे, **सहितायाः**—सहिता (सधि, समन्वय, मेल) की, **उपनिषदम्**—दर्शन, ज्ञान, **व्याख्यास्याम**—व्याख्या करेंगे (करते है), **पचसु**—पाँच, **अधिकरणेषु**—आधारो मे (सहारे से), **अधिलोकम्**—लोक के आधार पर, **अधिज्यौतिषम्**—ज्यौतिष के आधार पर, **अधिविद्यम्**—विद्या को आधार बना कर, **अधिप्रजम्**—प्रजा को आधार बना कर, **अध्यात्मम्**—आत्मा के शरीर को आधार बनाकर, **ता**—उनको ही, **महासहिता**—महासहिता (बडी सन्धियाँ या गहरे मेल-जोल), **इति**—इस (नाम से), **आचक्षते**—कहते है ॥१॥

अथाधिलोकम् । पृथिवी पूर्वरूपम् । द्यौरुत्तररूपम् ।
आकाश सधि । वायु सधानम् । इत्यधिलोकम् ॥२॥

अथ—अब, **अधिलोकम्**—लोक के आधार पर (सहिता का निरूपण करते है), **पृथिवी**—पृथ्वी, **पूर्वरूपम्**—पूर्वरूप (पहले वर्ण के समान), **द्यौ**—द्युलोक, **उत्तररूपम्**—उत्तर रूप (बाद मे—परे होनेवाले वर्ण के समान), **आकाश**—आकाश, **सधि**—सधि (मेल), **वायु**—वायु, **सधानम्**—मिलाने वाला है, **इति अधिलोकम्**—यह लोक के रूप मे सहिता का वर्णन है ॥२॥

ज्यौतिष में महा-सन्धियां क्या हैं ? प्रकाश का आदि-कारण 'अग्नि' है, प्रकाश की चरम-सीमा 'आदित्य' है, अतः 'अग्नि' पूर्व-रूप है, 'आदित्य' उत्तर-रूप है। अग्नि और आदित्य जब तपते हैं, तो इनके मेल से जल उत्पन्न होता है, तभी घोर ग्रीष्म के बाद वर्षा आती है, इसलिये 'जल' सन्धि है। जल की अभिव्यक्ति विद्युत् से होती है, अतः 'विद्युत्' सन्धान है। वर्णों की संहिता की तरह यह ज्योतिर्मय पिंडों की महा-संहिता है। ये ज्यौतिष-पिण्ड मानो एक-एक वर्ण हैं, जैसे भिन्न-भिन्न वर्णों की सन्धि से एक अभिन्न अक्षर उत्पन्न होता है, वैसे अग्नि, आदित्य, जल, विद्युत्—इन भिन्न-भिन्न पिंडों की सन्धि से, इनकी महा-संहिता से अभिन्न ब्रह्म-ज्ञान उत्पन्न होता है ॥३॥

विद्या में महा-सन्धियां क्या हैं ? विद्या का उद्‌गम-स्थान 'आचार्य' है, विद्या का लक्ष्य शिष्य है, 'अन्तेवासी' है, अतः 'आचार्य' पूर्व-रूप है, 'अन्तेवासी', अर्थात् शिष्य उत्तर-रूप है। गुरु-शिष्य का मेल विद्या द्वारा होता है, अतः 'विद्या' सन्धि है, विद्या की अभि-व्यक्ति 'प्रवचन' से होती है, अतः 'प्रवचन' सन्धान है। वर्णों की संहिता की तरह यह विद्या की महा-संहिता है। विद्या के क्षेत्र आचार्य, अन्तेवासी, विद्या तथा प्रवचन मानो एक-एक वर्ण हैं। जैसे भिन्न-

---

अथाधिज्यौतिषम्। अग्निः पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्।
आपः सन्धिः। वैद्युतः सन्धानम्। इत्यधिज्यौतिषम् ॥३॥

अथ अधिज्यौतिषम्—अब ज्योतिष के आधार पर वर्णन यह है, अग्निः पूर्वरूपम्—अग्नि पूर्वरूप है, आदित्यः—सूर्य, उत्तररूपम्—उत्तर रूप है, आपः—जल, सन्धिः (सिद्ध रूप) है, वैद्युतः—विद्युत् की ज्योति (प्रकाश), सन्धानम्—सन्धान है, इति अधिज्यौतिषम्—यह ज्योतिष के आधार पर संहिता है ॥३॥

अथाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्।
विद्या सन्धिः। प्रवचनꣳ सन्धानम्। इत्यधिविद्यम् ॥४॥

अथ अधिविद्यम्—अब विद्या के आधार पर संहिता यह है, आचार्यः पूर्वरूपम्—आचार्य पूर्वरूप, अन्तेवासी—शिष्य, उत्तररूपम्—उत्तर रूप, विद्या—विद्याप्राप्ति ही, सन्धिः—सिद्ध वस्तु है, प्रवचनम्—उपदेश, सन्धानम्—सन्धान है, इति अधिविद्यम्—यह विद्याश्रित संहिता का वर्णन हुआ ॥४॥

भिन्न वर्णों की सन्धि से एक अभिन्न अक्षर उत्पन्न होता है, वैसे आचार्य, अन्तेवासी, विद्या तथा प्रवचन की महा-सन्धि से, महा-संहिता से ब्रह्म-ज्ञान उत्पन्न होता है ॥४॥

प्रजा में महा-सन्धियां क्या हैं? 'माता' पूर्व-रूप है, 'पिता' उत्तर-रूप है, 'प्रजा' सन्धि है, 'प्रजनन' सन्धान है। ये महा-संहिताएं सब-की-सब ब्रह्मज्ञान का ही उपदेश कर रही हैं ॥५॥

अपने आत्मा में अपने शरीर में महा-सन्धियां क्या हैं? 'कर्मेन्द्रियां' पूर्व-रूप है, 'ज्ञानेन्द्रियां' उत्तर-रूप है, कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों के बीच में 'वाणी' है, यह सन्धि है, जिह्वा द्वारा वाणी अभिव्यक्त होती है, अतः 'जिह्वा' सन्धान है। ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, वाणी तथा जिह्वा का समन्वय, इनकी महा-संहिता (Great co-ordination) ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश कर रही हैं ॥६॥

संसार में सब जगह 'संहिता' है, समन्वय है, हर-एक वस्तु का ऐसा मेल-जोल है जैसे वे एक-दूसरे के लिये ही गढ़ी गई हैं। यह

अथाधिप्रजम्। माता पूर्वरूपम्। पितोत्तररूपम्।
प्रजा संधिः। प्रजननं संधानम्। इत्यधिप्रजम् ॥५॥

अथ अधिप्रजम्—अब प्रजा को लक्ष्य में रख कर संहिता इस प्रकार है, माता पूर्वरूपम्—माता पूर्वरूप, पिता उत्तररूपम्—पिता उत्तर रूप, प्रजा—संतति होना, संधि—सिद्ध संहिता का रूप है, प्रजननम्—मैथुन कर्म, उत्पत्ति क्रिया, संधानम्—संधान है, इति अधिप्रजम्—यह प्रजा (संतति) सम्बन्धी-संहिता है ॥५॥

अथाध्यात्मम्। अधरा हनुः पूर्वरूपम्। उत्तरा हनुरुत्तररूपम्।
वाक् संधिः। जिह्वा संधानम्। इत्यध्यात्मम् ॥६॥

अथ अध्यात्मम्—यह आत्मा (शरीर) के आधार पर संहिता का रूप है, अधरा हनु—जबड़े का निचला भाग या कर्मेन्द्रिय, पूर्वरूपम्—पूर्वरूप है, उत्तरा हनु—जबड़े का ऊपरला भाग या ज्ञानेन्द्रियाँ, उत्तररूपम्—उत्तर रूप है, वाक्—वाणी, संधि—सन्धि है, जिह्वा संधानम्—जिह्वा संधान है, इति अध्यात्मम्—यह शरीराश्रित संहिता का निरूपण है ॥६॥

इतीमा महासंहिता। य एवमेता महासंहिता व्याख्याता वेद।
संधीयते प्रजया पशुभिः। ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्ग्येण लोकेन ॥७॥

इति इमाः—उपरोक्त ये, महासंहिता—महा संहिताएँ हैं, यः—जो, एवम्—इस प्रकार, एताः—इन, महासंहिता—महासंहिताओं को, व्याख्याता

समन्वय (Co-ordination, Adjustment) अक्षरो तथा शब्दो में ही नहीं, विश्व की सभी रचनाओ में, पृथिवी और द्यु में, अग्नि और सूर्य में, आचार्य और शिष्य में, माता और पिता में, शरीर की उभयविध इन्द्रियो में, सभी जगह पाया जाता है। जो इस महा-सहिता को, विश्व के महान् समन्वय को जानता है वह प्रजा, पशु, ब्रह्म-तेज, अन्न, स्वर्गलोक—सभी से समन्वित हो जाता है ॥७॥

(इस उपनिषद् मे कहा गया है कि 'समन्वय' ही सबसे वडी शिक्षा है। ससार मे सब जगह 'समन्वय' है। आचार्य ने शिष्य को जिस 'महासहिता'—Great Adjustment—का उपदेश दिया है, उसे चित्ररूप मे यो प्रकट कर सकते है —

अधिकरण	पूर्व-रूप	उत्तर-रूप	सन्धि	सन्धान
अधिलोक	पृथिवी	द्यौ	आकाश	वायु
अधिज्यौतिष	अग्नि	सूर्य	जल	विद्युत्
अधिविद्य	आचार्य	शिष्य	विद्या	प्रवचन
अधिप्रज	माता	पिता	प्रजा	प्रजनन
अध्यात्म	कर्मेन्द्रिय	ज्ञानेन्द्रिय	वाणी	जिह्वा

इन पाचो मे से एक-एक को लेकर विचार करे, तो उनमे जो महासहिता का भाव दीख पडता है, एक-दूसरे के साथ ऐसा सम्बन्ध दीख पडता है कि मानो वे गढ-गढकर एक-दूसरे के लिये रची गई है, यही उपनिषद् का महान् ब्रह्म-ज्ञान है। ससार का इतना महान् समन्वय (Adjustment, Co-ordination), इतनी 'महान्-सहिता' नास्तिक-से-नास्तिक को 'ब्रह्म'-ज्ञान करा देती है। इस उपनिषद् मे वर्ण, स्वर, मात्रा की 'सहिता' को जीवन की 'महा-सहिता' के रूप मे दर्शा कर यह बतलाया गया है कि पुस्तको की शिक्षा मे जो सहिता है वह तभी सफल हो सकती है जब वह सहिता जीवन मे 'महा-सहिता' का रूप धारण कर ले।)

—व्याख्या की गई, **वेद**—जानता है, **सधीयते**—युक्त हो जाता है, **प्रजया**—प्रजा (सन्तान) से, **पशुभि**—पशुओ से, **ब्रह्मवर्चसेन**—ब्रह्मतेज से, **अन्नाद्येन**—खाद्यान्न से, **सुवर्ग्येण**—अच्छे वर्ग (श्रेणी) वाले, **लोकेन**—स्थिति से, प्रतिष्ठा से ॥७॥

शिक्षाध्याय-वल्ली का चतुर्थ अनुवाक

जो छन्दो में ऋषभ-छन्द की भांति विश्वरूप है, जैसे सब छन्द ऋषभ-छन्द में समा जाते हैं वैसे सब रूप जिसके रूप मे समा जाते हैं, जो छन्दो में से झरे हुए अमृत मे से आविर्भूत होता है, वह इन्द्र, मेधा से मेरा पालन करे। मैं अमृत के दिव्य गुणो को धारण करू। मेरा शरीर बलवान् हो। मेरी जिह्वा मधु में सनी हो। कानो से मैं खूब सुनूं। हे इन्द्र! तू ज्ञान का कोश है, खजाना है, मेधा से चारो तरफ से घिरा हुआ है। मैं जो-कुछ सुनू उसकी मैं रक्षा भी कर सकू—ऐसी मुझे शक्ति दे ॥१॥

मेरी मेधा नवीन ज्ञान का आवाहन करती रहे, उसका विस्तार करती रहे, अपने को शीघ्र-शीघ्र बढाती रहे। मुझे वस्त्र, गाय आदि

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूप । छन्दोभ्योऽध्यमृतात्सबभूव ।
स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देव धारणो भूयासम्।
शरीर मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा । कर्णाभ्या भूरि
विश्रुवम् । ब्रह्मण कोशोऽसि मेधया पिहित । श्रुत मे गोपाय ॥१॥

य—जो, छन्दसाम्—छन्दो का, वेदो का, ऋषभ—उपदेष्टा, आदि-गुरु, ऋषभ स्वर, उत्पादक, विश्वरूप—विश्व ही जिसका रूप (द्योतक-प्रकाशक) है, सर्वात्मा, छन्दोभ्य—वेदो से, अमृतात्—अमृत से (वेदान्त-ज्ञान से), अधि सबभूव—उत्पन्न हुआ, प्रगट—व्यक्त होकर जाना जाता है, स—वह, मा—मुझ को, इन्द्र—इन्द्र (आत्मा-ब्रह्म), मेधया—धारणावती बुद्धि से, स्पृणोतु—बढावे, युक्त करे, अमृतस्य—अमरत्व का, देव—हे देव, इन्द्र!, धारण—धर्ता, भूयासम्—होऊँ, शरीरम्—शरीर, मे—मेरा, विचर्षणम्—शक्ति-सपन्न, बलयुक्त, योग्य (होवे), जिह्वा—वाणी, मे—मेरी, मधुमत्तमा—मीठी, मधुरभाषिणी (हो), कर्णाभ्याम्—कानो से, भूरि—बहुत, उत्कृष्ट बात को, विश्रुवम्—सुनू, ब्रह्मण—ब्रह्म का, वेद का, ज्ञान का, कोश—भण्डार, असि—है, मेधया—बुद्धि से, पिहित—बन्द, ढका हुआ, श्रुतम्—सुने ज्ञान को, मे—मेरे, गोपाय—रक्षा कर ॥१॥

आवहन्ती वितन्वाना । कुर्वाणाऽचीरमात्मन । वासांसि मम
गावश्च । अन्नपाने च सर्वदा । ततो मे श्रियमावह । लोमशा पशुभि
सह स्वाहा । आ मा यन्तु ब्रह्मचारिण स्वाहा । वि मा
यन्तु ब्रह्मचारिण स्वाहा । प्र मा यन्तु ब्रह्मचारिण स्वाहा ।
दमायन्तु ब्रह्मचारिण स्वाहा । शमायन्तु ब्रह्मचारिण स्वाहा ॥२॥

आवहन्ती—प्राप्त कराती हुई, वितन्वाना—बढाती हुई, कुर्वाणा—

पशु तथा अन्न-पान सदा प्राप्त रहे। इन सब वस्तुओं से मैं श्रीमान् रहूं। मुझे लोमश पशु भी प्राप्त हो, परन्तु इन सब धन-धान्यों को पाकर भी मैं सब-कुछ ब्रह्मार्पण कर दूं। मैं जो-कुछ पाऊं, उसे देश के युवकों की पालना में लुटा दूं। चारों तरफ से ब्रह्मचारी लोग मुझे घेर लें,—'आ मा यन्तु ब्रह्मचारिणः', विशेषकर ब्रह्मचारी ही मुझे घेरें, खूब घेरें। इन्द्रियों का दमन करने वाले, अन्तःकरण को शांत रखने वाले ब्रह्मचारी मुझे प्राप्त हों ॥२॥

ब्रह्मचारियों में ही नहीं, जन-समुदाय में भी मैं यश-रूप हो जाऊं, धनी पुरुषों में मैं श्रेष्ठ माना जाऊं। हे ऐश्वर्यरूप भगवन्! मैं तुझ में समा जाऊं, तू मुझ में समा जाय। तू सहस्र शाखाओं वाला है, यह विश्व मानो विशाल वृक्ष है, एक-एक वस्तु उसकी शाखा-

---

सम्पादित करती हुई, अचीरम् (अचिरम्)—तुरन्त ही, आत्मनः—मुझ आत्मा की (के लिये), वासांसि—वस्त्रों को, मम—मेरी, गावः—गौएं, च—और, अन्नपाने—खाद्य और पेय पदार्थ, च—और, सर्वदा—हमेशा, ततः—उससे, उसके बाद, मे—मुझे, मेरी, श्रियम्—लक्ष्मी को, शोभा को, सौन्दर्य को, आवह—प्राप्त करा, लोमशाम्—रोम वाले भेड आदि से युक्त, पशुभिः—पशुओं के, सह—साथ, स्वाहा—यह वचन (प्रार्थना) समीचीन हो, मुझ में त्याग-बुद्धि बनी रहे, मा—मुझको, आ यन्तु—प्राप्त हों, ब्रह्मचारिणः—ब्रह्मचर्यव्रती शिष्य, स्वाहा—स्वाहा, मा वि यन्तु ब्रह्मचारिणः—मुझको ब्रह्मचारी घेरे रहें, मा प्र यन्तु ब्रह्मचारिणः—मुझे उत्कृष्ट ब्रह्मचारी मिलें, दमायन्तु ब्रह्मचारिणः—मेरे ब्रह्मचारी इन्द्रिय-निग्रही हों, शमायन्तु ब्रह्मचारिणः—मेरे ब्रह्मचारी शान्त-शीलवान् हों, स्वाहा—स्वाहा (यह 'स्वाहा' शब्द आहुति देने के लिए तथा वाक्य-परिसमाप्ति के लिए यहां १२ वाक्यों के अन्त में प्रयुक्त हुआ है) ॥२॥

यशो जनेऽसानि स्वाहा। श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा।
तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा। स मा भग प्रविश स्वाहा।
तस्मिन् सहस्रशाखे। नि भगाहं त्वयि मृजे स्वाहा।
यथापः प्रवता यन्ति। यथा मासा अहर्जरम्। एवं मां ब्रह्मचारिणः।
धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा। प्रतिवेशोऽसि प्र मा भाहि प्र मा पद्यस्व ॥३॥

यशः—यशस्वी, जने—जनता में, असानि—होऊँ, श्रेयान्—कल्याणकारी, श्रेष्ठ, वस्यसः—वास देने वाला, वसुओं से बढकर, असानि—होऊँ, तम्—उस, त्वा—तुझको (मैं), भग—हे ऐश्वर्यरूप इन्द्र!, प्रविशानि—

प्रशाखा है, ये सब तेरे नाना रूप है। मैं तेरे इन रूपो में से किसी में भी समा जाऊ और इस प्रकार तुझ में समाकर अपने को शुद्ध करू। हे धाता! जैसे जल नीचे को वेग से बहते रहते है, जैसे मास वर्षों में वेग से विलीन होते जाते है, ऐसे ही चारो तरफ से ब्रह्मचारी मेरी तरफ उमड पडें। हे भगवन्! आप विश्राम के स्थान है, जो भी प्राणी जीवन के मार्ग पर चल रहा है उसे पहुचना आप तक ही है, इसलिये मुझे प्रकाश दीजिये ताकि अन्धकार के कारण मैं भटक न जाऊ, आप मुझे प्राप्त हो, अगर मैं भटक भी जाऊ, तो भी आप मुझे ठीक रास्ते पर डाल दें ॥३॥

शिक्षाध्याय-वल्ली का पंचम अनुवाक

'भू'-'भुव'-'सुव'—ये तीन व्याहृतिया है। महाचमस ऋषि के पुत्र को एक चौथी व्याहृति का ज्ञान था, वह व्याहृति है, 'मह'। 'मह' ब्रह्म है, आत्मा है, अन्य देवता 'मह' के अग है। 'भू' का

प्रवेश करूँ, प्राप्त होऊँ, स—वह (तू), मा—मुझ को (मे), भग—हे ऐश्वर्य-प्रदाता!, प्रविश—प्रविष्ट हो, मुझे मत विसरा, तस्मिन्—उस, सहस्रशाखे—अनन्त शाखा (विस्तार) वाले, भग—हे ऐश्वर्यवन्! अहम्—मैं, त्वयि—तुझ मे (प्रविष्ट—लीन होकर), नि मृजे—(अपने आपको) शुद्ध (पापो मे रहित) करता हूँ, यथा—जैसे, आप—जल, प्रवता—निम्नगा नदियो को, यथा—जैसे, मासा—महीने, अहर्जरम्—सवत्सर (वर्ष) को प्राप्त होते है, एवम्—इस ही प्रकार, माम्—मुझ को, ब्रह्मचारिण—ब्रह्मचारी वर्ग, धात—हे धाता (जगत् के धारयिता), आ यन्तु—आवे, प्राप्त हो, सर्वत—चारो दिशाओ में, स्वाहा—यह ही मेरा 'स्व' का 'आहा' त्याग (आत्म-समर्पण) है, प्रतिवेश असि—तू ही (सब का) विश्राम-भूमि है, मा—मुझको, प्र भाहि—(ज्ञानी) कर, मा—मुझको, प्र पद्यस्व—प्राप्त हो (मैं तुझे पा जाऊँ) ॥३॥

भूर्भुव सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतय । तासामु ह स्मैता चतुर्थीम् ।
माहाचमस्य प्रवेदयते। मह इति। तद्ब्रह्म। स आत्मा। अगान्यन्या देवता ।
भूरिति वा अय लोक । भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोक ।
मह इत्यादित्य । आदित्येन वा व सर्वे लोका महीयन्ते ॥१॥

भू, भुव, स्व—भू, भुव, स्व, इति वै एता—प्रसिद्ध ये, तिस्र—तीन, व्याहृतय—व्याहृतियाँ है, तासाम्—उनकी, उ ह—निश्चय ही, एताम्—

अर्थ है, यह लोक, 'भुव' का अर्थ है, अन्तरिक्ष-लोक, 'सुव' का अर्थ है, अन्तरिक्ष से ऊपर का लोक, 'मह' का अर्थ है, आदित्य-लोक। आदित्य से ही अन्य तीनों लोक प्रकाशित होते हैं ॥१॥

'भू' अग्नि है, 'भुव' वायु है, 'सुव:' आदित्य है, 'मह:' चन्द्र है। चन्द्र की ज्योति से ही सब ज्योतियों की महिमा है, अन्य ज्योतियों में उष्णता है, चन्द्र की ज्योति में शीतलता है, इसलिए चन्द्र की ज्योति से सब ज्योतियों की महिमा है।

उस, चतुर्थीम्—चौथी (व्याहृति) को, माहाचमस्य—महाचमस का पुत्र, प्रवेदयते स्म—बताया करता था, जानता था, मह इति—'मह' इस नाम वाली, तद्—वह 'मह' (महान् होने से), ब्रह्म—ब्रह्म ही है, स आत्मा—वह ही आत्मा है, अगानि—अंग हैं, अन्या—दूसरे, देवता—दिव्य ('भू-भुव-स्व' व्याहृतियों से वाच्य तत्त्व), भू इति—'भू' यह, वै—ही, अयम् लोक—यह पृथिवी लोक है, भुव इति अन्तरिक्षम्—'भुव' यह अन्तरिक्ष लोक है, सुव इति—'स्व' यह, असौ—वह (दूरवर्ती), लोक—लोक (द्युलोक) है, मह इति आदित्य—'मह' यह आदित्य (सूर्य) का नाम है, आदित्येन—सूर्य से, वाव—ही, सर्वे—सारे (भू आदि), लोका—लोक, महीयन्ते—प्रकाशित होते हैं, वृद्धि को प्राप्त होते हैं, महान् हैं ॥१॥

भूरिति वा अग्नि। भुव इति वायु। सुवरित्यादित्य।
मह इति चन्द्रमा। चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते ॥२॥

भू इति वै अग्नि—'भू' यह अग्नि का नाम है, भुव इति वायु—'भुव' यह वायु का नाम है, सुव इति आदित्य—'स्व' यह सूर्य का नाम है, मह इति चन्द्रमा—'मह' चन्द्रमा है, चन्द्रमसा—चन्द्रमा से, वाव—ही, सर्वाणि—सारी, ज्योतींषि—ज्योतियाँ, महीयन्ते—महत्त्व वाली हैं ॥२॥

भूरिति वा ऋच। भुव इति सामानि। सुवरिति यजूंषि। मह इति
ब्रह्म। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते। भूरिति वै प्राण। भुव
इत्यपान। सुवरिति व्यान। मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा
महीयन्ते। ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा। चतस्रश्चतस्रो व्याहृतय।
ता यो वेद। स वेद ब्रह्म। सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति ॥३॥

भू इति वै ऋच—'भू' यह ऋचाओं-छन्दों का नाम है, भुव इति सामानि—'भुव' यह साम-वेद है, सुव इति यजूंषि—'स्व' यह यजुर्वेद का नाम है, मह—'मह' इति—यह, ब्रह्म—ब्रह्म (आदि-गुरु ईश्वर) है, ब्रह्मणा—

'भू' ऋक् है; 'भुव' साम है, 'सुव' यजु है, 'मह' ब्रह्म है। ब्रह्म से ही सब वेदो की महिमा है। 'भू' प्राण है; 'भुव.' अपान है, 'सुव' व्यान है, 'मह' अन्न है। अन्न से ही सब प्राणो की महिमा बनी रहती है, अन्न की कमी से प्राण सूखने लगते है। इस प्रकार चारो व्याहृतियो के चार प्रकार से अर्थ है, अर्थात् चारो व्याहृतियो के चार-चार अर्थ है। जो इन सोलहो को जानता है, वह ब्रह्म को जानता है, सब देवता ऐसे ज्ञानी के सम्मुख भक्ति के उपहार लाते है ॥३॥

चारो व्याहृतियो के चार-चार अर्थ निम्न चित्र से स्पष्ट हो जायेगे। इनमे 'महाचमस' ऋषि को 'मह'-व्याहृति का ज्ञान और उसका जो अर्थ ज्ञात हुआ उसे उपनिषत्कार ने विशेष माना है —

	अधिलोक	अधिज्यौतिष	अधिविद्य	अध्यात्म
भू	पृथिवी	अग्नि	ऋक्	प्राण
भुव	अन्तरिक्ष	वायु	साम	अपान
सुव	द्युलोक	आदित्य	यजु	व्यान
मह	आदित्य	चन्द्रमा	ब्रह्म	अन्न

ब्रह्म (ईश्वर) मे, वा व—ही, सर्वे वेदा महीयन्ते—सारे वेद महिमा (प्रतिष्ठा) वाले है।

भू इति प्राण—'भू' यह (शरीर मे) प्राण का नाम है, भुव इति अपान—'भुव' यह अपान का नाम है, सुव इति व्यान—'स्व' यह व्यान है, मह इति अन्नम्—'मह' यह अन्नवाची है, अन्नेन वा व—अन्न से ही, सर्वे—सारे, प्राणा—प्राण, महीयन्ते—बढते है, ता वै—वे ही, एता—ये, चतस्र—चारो व्याहृतियाँ, चतुर्धा—(लोक, ज्योति, वेद और प्राण के भेद मे) चार प्रकार की है, चतस्र चतस्र—(कुल मिला कर चार व्याहृतियाँ चार प्रकार की) सोलह, व्याहृतय—व्याहृतियाँ है, ता—उन सोलहो को, य· वेद—जो जानता है, स—वह, वेद—जान सकता है, ब्रह्म—परमात्मा को, वेद को, सर्वे—सारे, अस्मै—इस (व्याहृति-ज्ञाता) को, देवा—विद्वान् लोग, या दिव्य शक्तियाँ, बलिम्—पूजा-सत्कार रूप मे उपहार, आवहन्ति—लाते हैं ॥३॥

शिक्षाध्याय-वल्ली का षष्ठ अनुवाक

हृदय के भीतर जो आकाश है, उसमें पुरुष का निवास है। वह पुरुष मनोमय है, अमृत है, हिरण्मय है। तालु के भीतर स्तन की तरह जो लटकता है, वह इन्द्र अर्थात् जीवात्मा की योनि है। यह जीव, केशो का जहा अन्त है, वहा तक जीवन पहुचाता है—वहा तक वरतता है। जिस प्रकार योनि गर्भ के निकलने का मार्ग है, उसी प्रकार मुक्तात्मा के लिये सुषुम्णा नाडी, जो काकु (Uvula) में से गुज़र कर, कपाल को भेद कर, वालो का जहा अन्त है वहा से जाती है, वह सुषुम्णा नाडी आत्मा के शरीर में से निकलने का मार्ग है (ऐतरेय १-३-१२, प्रश्न ३-७, छान्दोग्य ८-६) ॥१॥

इस प्रकार जो मुक्त होता है, वह कपालो को भेदकर, पिछले अनुवाक में जिन 'भू'-'भुव'-'स्व'-'मह'—इन चार व्याहृतियो का

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाश । तस्मिन्नय पुरुषो मनोमय ।
अमृतो हिरण्मय । अन्तरेण तालुके । य एष स्तन इवावलम्बते ।
सेन्द्रयोनि । यत्रासौ केशान्तो विवर्तते । व्यपोह्य शीर्षकपाले ॥१॥

स—वह, य—जो, अन्तर्हृदये—हृदय के अन्दर, आकाश—आकाश है, तस्मिन्—उस (आकाश मे), अयम्—यह, पुरुष—(शरीर का अधिष्ठाता) जीवात्मा (रहता है), मनोमय—मन (अन्त करणो) से युक्त, अमृत—अमर, हिरण्मय—ज्योतिर्मय, अन्तरेण तालुके—दोनो तालुओं के बीच मे, य एष—जो यह, स्तन इव—स्तन की तरह (मास-खण्ड—काकु), अवलम्बते—लटक रहा है, सा—वह, इन्द्रयोनि—इन्द्र (जीवात्मा) के (मरने पर निकलने का) मार्ग है, यत्र—जहाँ, असौ—यह, केशान्त—वालो की जड-मूल है, विवर्तते—विशिष्टतया वर्तमान है, वरतता है, रूप बदलता है, शरीर वदलता है, शरीर से वाहर होता है, व्यपोह्य—फाड कर, उपेक्षा कर, शीर्षकपाले—सिर की खोपडी मे, या सिर के दोनो कपालो को ॥१॥

भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति। भुव इति वायौ। सुवरित्यादित्ये।
मह इति ब्रह्मणि। आप्नोति स्वाराज्यम्। आप्नोति
मनसस्पतिम्। वाक्पतिश्चक्षुष्पति। श्रोत्रपतिर्विज्ञानपति।
एतत्ततो भवति। आकाशशरीर ब्रह्म। सत्यात्मप्राणाराम
मन आनन्दम्। शान्तिसमृद्धममृतम्। इति प्राचीनयोग्योपास्स्व ॥२॥

(मरने पर) भू इति—पूर्ववर्णित शरीर का प्राण या अग्नि तत्त्व, अग्नौ—कारण अग्नि तत्त्व मे, प्रतितिष्ठति—लीन हो जाता है, भुव इति—(शरीर का)

वर्णन किया गया है—उनका ही रूप हो जाता है। यह शरीर तत्त्वों का बना है। मरने पर तत्त्व तत्त्वों में मिल जाते हैं। 'भू', अर्थात् उसके पिंड की अग्नि ब्रह्माण्ड की अग्नि में मिल गई, 'भुव', अर्थात् उसके पिंड की प्राण-वायु ब्रह्माण्ड की वायु में मिल गई, 'स्व', अर्थात् उसके पिंड का आदित्य—चक्षु आदि इन्द्रियां—ब्रह्माण्ड के आदित्य में मिल गई, 'मह', अर्थात् उसके पिंड की महत्ता, उसका व्यक्तित्व विश्व की, ब्रह्माण्ड की महान् विभूति में समा गया। अथवा, 'भू', 'भुव', 'सुव' 'मह'—इन चार व्याहृतियों का जो उसे ज्ञान प्राप्त हो गया था, उसके फल-स्वरूप वह 'अग्नि', 'वायु', 'आदित्य' और 'ब्रह्म' में जाकर प्रतिष्ठित हो जाता है। पंचम अनुवाक में दर्शाया गया है कि 'भू' का सम्बन्ध 'अग्नि' से है। 'भू' व्याहृति को जिसने जीवन में आत्मसात् कर लिया है, वह मृत्यु के समय, इसके फलस्वरूप, 'अग्नि-रूप' हो जाता है, अर्थात् तेजस्वी हो जाता है। 'भुव' का सम्बन्ध 'वायु' से है। 'भुव' व्याहृति को जिसने जीवन में आत्मसात् कर लिया है, वह मृत्यु के समय, इसके फलस्वरूप, 'वायु-रूप' हो जाता है, अर्थात् बन्धन-रहित हो जाता है। 'सुव' का सम्बन्ध 'आदित्य' से है। 'सुव' व्याहृति को जिसने जीवन में आत्मसात् कर लिया है, वह मृत्यु के समय, इसके फलस्वरूप, 'आदित्य-रूप' हो जाता है, अर्थात्

प्राण या वायु तत्त्व, वायौ—बाह्य वायु तत्त्व में, सुव इति—(शरीर का) प्रकाश या चक्षु इत्यादि इन्द्रियां, आदित्ये—सूर्य में, मह इति—(शरीर का) ज्ञान या महिमा, ब्रह्मणि—महान् ब्रह्म में (लीन हो जाता है), (वह जीवात्मा स्वयं) आप्नोति—पा लेता है, स्वाराज्यम्—अपनी इन्द्रियों पर आधिपत्य को, आप्नोति—पा लेता है, मनसस्पतिम्—मन के शासन को, (वह) वाक्पति—वाणी का स्वामी, चक्षुष्पति—आँख का स्वामी, श्रोत्रपति—कान का पति, विज्ञानपति—बुद्धि का अधिष्ठाता, एतत्—यह सब ही कुछ, तत—उसके बाद, भवति—हो जाता है, आकाशशरीरम्—आकाशरूपी शरीर वाले, ब्रह्म—ब्रह्म को, सत्यात्म-प्राणारामम्—सत्य रूप आत्मा वाले और प्राणों में ही विश्राम अनुभव करने वाले, मन आनन्दम्—आनन्दमय मनवाले, शान्ति-समृद्धम्—अत्यधिक शान्ति से सम्पन्न, अमृतम्—जरा-मरण से रहित ब्रह्म को, इति—इस रूप में, प्राचीनयोग्य—हे चिर-संस्कारी शिष्य! उपास्स्व—तू उपासना कर, भक्ति कर ॥२॥

महान् तेजस्वी हो जाता है। 'मह' का सम्बन्ध 'ब्रह्म' से है। 'मह' व्याहृति को जिसने जीवन में आत्मसात् कर लिया है, वह मृत्यु के समय, इसके फल-स्वरूप, 'ब्रह्म-रूप' हो जाता है, अर्थात् सब तरह से महान्-ही-महान् हो जाता है। अबतक वह बधा हुआ था, दूसरो की महानता मे महत्ता प्राप्त करता था, अब अपनी महत्ता मे महान् कहलाता है, अब उसे अपना राज्य---स्वराज्य---प्राप्त हो जाता है। उसे मन का स्वामित्व, वाणी, चक्षु, श्रोत्र, विज्ञान का प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है। अब तक जो उसका क्षुद्र रूप था उसे छोडकर वह अग्नि, वायु, आदित्य---यह ब्रह्म का विशाल रूप धारण कर लेता है। अबतक हृदय के आकाश में उसका वास था, अब भू-लोक के महान् आकाश को वह अपना शरीर बना लेता है, सत्य उसका आत्मा हो जाता है, प्राण हो जाता है, विश्राम-स्थान हो जाता है। आनन्द ही उसका मन हो जाता है, शाति ही उसकी सम्पत्ति हो जाती है, वह अमृत हो जाता है। चार व्याहृतियो के अनुष्ठान द्वारा क्षुद्र जीवन से महान् जीवन में परिणत होने की यह प्रक्रिया है। हे प्राचीन-योग्य! प्राचीन-काल से, जन्म-जन्मान्तर मे योग्यता वाले सस्कारी शिष्य! इस प्रकार के जीवन की उपासना कर ॥२॥

शिक्षाध्याय-वल्ली का सप्तम अनुवाक

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, दिशाए, अवान्तर दिशाए---यह एक पचक, अर्थात् पाच का समुदाय है। अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा, नक्षत्र---यह दूसरा पचक है। जल, ओषधि, वनस्पति, आकाश,

---

पृथिव्यन्तरिक्ष द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशा । अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि। आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा। इत्यधिभूतम्। अथाध्यात्मम्। प्राणो व्यानोऽपान उदान समान । चक्षु श्रोत्र मनो वाक् त्वक्। चर्म मांसं स्नावास्थि मज्जा। एतदधिविधाय ऋषिरवोचत्। पाङ्क्त वा इदं सर्वम्। पाङ्क्तेनैव पाङ्क्तं स्पृणोतीति ॥१॥

पृथिवी, अन्तरिक्षम, द्यौ, दिश, अवान्तरदिशा—पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, दिशाएँ, अवान्तर (दिशाओंके मध्य या कोण की) दिशाएँ (इनका एक 'पचक' है), अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा, नक्षत्राणि—अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र (इनका एक 'पचक' है), आप, ओषधय, वनस्पतय, आकाश,

आत्मा—यह तीसरा पचक है। ये तीनो पचक ब्रह्माड मे है, अत ये 'अधिभूत'-पचक कहलाते है। इसी प्रकार पिड मे भी पचक है, और मनुष्य-शरीर में होने के कारण वे 'अध्यात्म'-पंचक कहलाते हैं। प्राण, व्यान, अपान, उदान, समान—यह एक पचक है। चक्षु, श्रोत्र, मन, वाक्, त्वक्—यह दूसरा पचक है। चर्म, मांस, स्नायु, अस्थि, मज्जा—यह तीसरा पचक है। ब्रह्माड तथा पिड के इन तीन-तीन पचको की गणना करके ऋषि ने कहा—ये सब पाच-पाच ही हैं। एक पचक से दूसरे पचक की पालना होती है, ब्रह्माड का तथा पिड का आपस में सम्बन्ध है। इस सृष्टि मे 'ब्रह्माड' (Macrocosm) तथा 'पिड' (Microcosm) का एक-दूसरे से समन्वय है ॥१॥

शिक्षाध्याय-वल्ली का अष्टम अनुवाक

'ओम्' ही ब्रह्म है, 'ओम्' ही यह सब-कुछ है, ससार 'ओम् की ही अनुकृति है, गुरु शिष्य को पाठ सुनाने के लिये जब कहता है,

---

आत्मा—जल, ओषधियां, बडे वृक्ष, आकाश और आत्मा (इनका एक 'पचक' है), इति—ये तीनो पचक, अधिभूतम्—भूत (ब्रह्माण्ड) सम्बन्धी 'पचक' है, अथ—अब, अध्यात्मम्—आत्मा (पिंड) सम्बन्धी पचक कहते है, **प्राण, व्यान, अपान, उदान, समान**—प्राण, व्यान, अपान, उदान, समान (इनका एक 'पचक' है), **चक्षु, श्रोत्रम्, मन, वाक्, त्वग्**—आंख, कान, मन, वाणी, त्वचा (इनका एक 'पंचक' है), **चर्म, मासम्, स्नावा, अस्थि, मज्जा**—चमडा, मास, नस-नाडी, हड्डियाँ, मज्जा (इनका एक 'पचक' है और ये तीनो पचक 'अध्यात्म-पचक' कहलाते है), **एतत्**—यह (इनके), **अधिविधाय**—आधार पर कल्पना या गणना करके, **ऋषि**—उपनिषद्वेत्ता, ब्रह्मविद् ज्ञानी ने, **अवोचत्**—कहा था, **पाक्तम्**—पचकमय, (समूहमय, सगठित), **वै**—ही, **इदम्**—यह, **सर्वम्**—सारा विश्व (है), **पाक्तेन**—एक पचक से (द्वारा), **एव**—ही, **पाक्तम्**—दूसरे पचक को, **स्पृणोति**—विस्तृत करता है, बढाता है, पालन करता है ॥१॥

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदँ सर्वम्। ओमित्येतदनुकृति ह स्म वा
अप्योँ श्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। ओँ
शोमिति शस्त्राणि शँसन्ति। ओमित्यध्वर्यु प्रतिगर प्रतिगृणाति।
ओमिति ब्रह्मा प्रसौति। ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। ओमिति
ब्राह्मण प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति। ब्रह्मैवोपाप्नोति ॥१॥

ओम् इति—'ओम्' यह ही, ब्रह्म—सब से बडा परमात्मा (ओम्पद का

तब शिष्य 'ओम्' कहकर ही पाठ सुनाता है, 'ओम्' कहकर साम का गान करता है। शस्त्र-पाठ 'ओम्' से, और समाप्ति 'शमोम्'—'शोम्'—से होती है। अध्वर्यु 'ओम्' कहकर यजुर्वेद का पाठ करता है, ब्रह्मा 'ओम्' से परमात्मा की स्तुति करता है, और 'ओम्' कहकर ही अग्निहोत्र प्रारम्भ करने की अनुज्ञा देता है। ब्राह्मण प्रवचन करते समय 'ओम्' का प्रयोग करता है, और कहता है कि मैं ब्रह्म को प्राप्त करूँ, इस प्रकार वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ॥१॥

शिक्षाध्याय-वल्ली का नवम अनुवाक

'ऋत' का पालन करे, परन्तु स्वाध्याय और प्रवचन को न भूले, 'सत्य' का पालन करे, परन्तु स्वाध्याय और प्रवचन को न छोड़े,

---

वाच्य) है, ओम् इति—ओंवाच्य ब्रह्म ही, इदम् सर्वम्—यह सब कुछ है (सब विश्व में व्याप्त है), ओम् इति—ओम् इस ही को, एतद्—यह विश्व, अनुकृति—अनुकरण, व्यक्त रूप है, ह स्म वै—यह प्रसिद्ध है कि, ओम्—ओम् कहकर, श्रावय—सुनाओ, इति—ऐसा कहने पर ही, आश्रावयन्ति—सुनाते हैं, प्रवचन करते हैं, ओम् इति—ओम् का (उच्चारण कर), सामानि—साम-मन्त्रों को (गा), गायन्ति—गान करते हैं, ओं शोम् इति—ओम् से आरम्भ कर शोम् (शम्+ओम्) से समाप्ति कर, शस्त्राणि—स्तुति-प्रशंसापरक मन्त्रों का, शंसन्ति—पाठ करते हैं, ओम् इति—ओम् ऐसा कहकर ही, अध्वर्युः—अध्वर्यु ऋत्विक्, प्रतिगरम्—यजुर्वेद के विशिष्ट मन्त्रों का, प्रतिगृणाति—पाठ करता है, ओम् इति—ओम् का उच्चारण कर, ब्रह्मा—ब्रह्मा (ऋत्विक्), प्रसौति—यज्ञ का आरम्भ करता है, ओम् इति—ओम् कहकर ही, अग्निहोत्रम्—अग्निहोत्र की, अनुजानाति—अनुज्ञा देता है, ओम् इति—ओम् ऐसा कहकर ही, ब्राह्मण—ब्राह्मण, प्रवक्ष्यन्—प्रवचन करने से पूर्व, आह—कहता है, ब्रह्म—(ओम्पद वाच्य) ब्रह्म को, उपाप्नवानि—मैं प्राप्त कर लूँ, इति—और, ब्रह्म एव उपाप्नोति—ब्रह्म को ही प्राप्त कर लेता है ॥१॥

> ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥१॥

ऋतम् च स्वाध्यायप्रवचने च—ऋत (की भावना करे) और अध्ययन

'तप' करे, परन्तु स्वाध्याय और प्रवचन को भी साथ रखे, दम-शम-अग्न्याधान-अग्निहोत्र-अतिथिसेवा-मनुष्यसेवा-प्रजापालन-सतानोत्पत्ति-पुत्र-पौत्र का पालन---सभी कुछ करे, परन्तु स्वाध्याय तथा प्रवचन का त्याग कभी न करे।

'सत्य' ही सब-कुछ है, यह सत्यवाक् रथीतर के पुत्र का कहना है, 'तप' ही सब-कुछ है, यह तपस्वी पुरुशिष्ट के पुत्र का कथन है, 'स्वाध्याय तथा प्रवचन' ही सब-कुछ है, यह मुद्गल के पुत्र नाक का कथन है---वह कहता था कि स्वाध्याय ही तप है, प्रवचन ही तप है, परन्तु ऋत, सत्य, तप, दम आदि के साथ स्वाध्याय और प्रवचन को कभी नहीं छोडना चाहिये। ('स्वाध्याय' का अर्थ है---'स्व' का स्वयं अध्ययन करना, और 'प्रवचन' का अर्थ है---स्वाध्याय किये हुए का दूसरों को उपदेश देना।) ॥१॥

शिक्षाध्याय-वल्ली का दशम अनुवाक

कठ (६-१) में कहा है कि यह शरीर 'उल्टा टगा हुआ वृक्ष' है--'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख'। मै इस शरीर-रूपी वृक्ष को ढोये-ढोये फिरता

और अध्यापन (साथ-साथ करता रहे), **सत्यम् च** —सत्य पालन के साथ स्वाध्याय प्रवचन भी करता रहे, **दम** —इन्द्रिय-मन का निग्रह, **शम** —मन की शान्ति, **अग्नय** —अग्न्याधान, **अग्निहोत्रम्**—दैनिक अग्निहोत्र, **अतिथय** —अतिथि-पूजा-सत्कार, **मानुषम्**—मनुष्य-सेवा, पितृ-यज्ञ, **प्रजा**—सन्तति-पालन, **प्रजन** —सन्तोनोत्पत्तिकर्म, **प्रजाति** —वंश-वृद्धि (पुत्र के विवाह द्वारा)—इन सब के साथ-साथ अध्ययन-अध्यापन जारी रहना चाहिए।

सत्यम्—सत्य का ही पालन करना चाहिये, सत्य-वचन ही मुख्य है, **इति**—यह मत, **सत्यवचा** —सत्यवक्ता या सत्यवचानामक, **राथीतर** —रथीतर के सगोत्री (का है), **तप** —तप ही मुख्य है, **इति**—यह मत, **तपोनित्य** —नित्य (अनवरत) तप करने वाले, **पौरुशिष्टि** —पुरुशिष्ट के पुत्र (आचार्य का है), **स्वाध्याय-प्रवचने एव**—केवल अध्ययन-अध्यापन ही मुख्य है, **इति**—यह मत, **नाक** —नाक-नामक, **मौद्गल्य** —मुद्गल गोत्री (आचार्य का है), **तद् हि तप** —वह ही तप है, **तद् हि तप** —वह ही परम तप है ॥१॥

अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्ति पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो
वाजिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविणं सुवर्चसम्। सुमेधा
अमृतोक्षित। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम् ॥१॥

अहम्—मैं (जीवात्मा), **वृक्षस्य**—शरीर-रूपी वृक्ष के, **रे** —प्रेरयिता के, **इवा**—समान हूँ, **कीर्ति** —(मेरा) यश, **पृष्ठम्**—ऊपरी सतह, शिखर,

हू। मैं इससे पृथक् हूँ। मेरी कीर्ति इतनी फैले जितनी फैली हुई पहाड़ की पीठ होती है। पर्वत की चोटी पर जैसे पवित्र हिम होती है, उसी प्रकार पवित्रता को लेकर मैं ऊंचा उठूं। मेरे उठने में अपवित्रता नहीं, हिम की-सी पवित्रता सहायक हो। अन्नों में मैं अमृत की भांति होऊं, धनों में वर्चस्वी धन की भांति होऊं, बुद्धि में क्षीण न होने वाली अमर मेधा की भांति होऊं। त्रिशंकु ऋषि के ये वेद को आधार लेकर कहे हुए वचन हैं॥१॥

शिक्षाध्याय-वल्ली का एकादश अनुवाक

वेद पढ़ चुकने के अनन्तर दिया गया दीक्षान्त-भाषण

वेद-विद्या पढ़ा चुकने के अनन्तर आचार्य अन्तेवासी को, शिष्य को अनुशासन करता है, और दीक्षान्त-भाषण (Convocation address) देता हुआ कहता है—सत्य बोलना। धर्माचरण करना। स्वाध्याय में प्रमाद मत करना। आचार्य को जो प्रिय हो वह दक्षिणारूप में उसे देकर ब्रह्मचर्याश्रम के अनन्तर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना, और प्रजा के सूत्र को मत तोड़ना। सत्य बोलने से प्रमाद न करना, धर्माचरण से प्रमाद न करना, जिस बात से तुम्हारा भला

गिरे—पर्वत की, इव—तरह (शुभ्र और विस्तृत है), ऊर्ध्वपवित्र—उन्नत, ऊपर उठा हुआ, उच्च और पवित्र, वाजिनि—अन्न और ज्ञान वाले में, इव—तरह, सु अमृतम् अस्मि—मैं अत्यधिक अमृत हूं, (मेरा) द्रविणम्—धन-सम्पत्ति, सुवर्चसम्—तेजोयुक्त (हो, तेजोहानि करने वाला न हो), सुमेधा—अच्छी बुद्धि वाला (मैं), अमृत+उक्षित—अमृत (अमरत्व) से सिंचित (युक्त) होऊँ, इति—यह, त्रिशंको—त्रिशंकु ऋषि का, वेदानुवचनम्—वेदानुसारी उपदेश (है)॥१॥

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्॥१॥

वेदम्—वेद का, अनूच्य—उपदेश करके, आचार्य—आचार्य, अन्तेवासिनम्—सदा साथ सरक्षा में रहने वाले शिष्य को (गुरुकुल छोड़ घर जाते समय), अनुशास्ति—उपदेश करता है, सत्यम् वद—सत्य बोलना, धर्मम्—

हो उससे प्रमाद मत करना, अपनी विभूति बढाने में प्रमाद मत करना, स्वाध्याय और प्रवचन में प्रमाद मत करना ॥१॥

ससार में जो 'देव' हैं, तुमसे 'गुणो' में बढे-चढे हैं, और जो 'पितर' हैं, 'आयु' में बडे हैं, उनके प्रति अपने कर्तव्य के पालन में प्रमाद मत करना। माता को देवी समझना। पिता, आचार्य, अतिथि इन्हें देव मानना। हमारे जो अनिन्दित कर्म हैं उन्हीं का सेवन करना, दूसरों का नहीं। जो हमारे सुचरित हैं उन्हीं को उपास्य समझना, दूसरों को नहीं ॥२॥

चर—धर्म का आचरण करना, **स्वाध्यायाद् मा प्रमद**—स्वाध्याय मे मत विमुख होना (प्रमाद करना), **आचार्याय**—आचार्य के लिये, **प्रियम्**—उनके अभीष्ट, **धनम्**—धन को, **आहृत्य**—लाकर (समावर्त्तन विधि कर), **प्रजातन्तुम्**—वश-परम्परा को, **मा**—मत, **व्यवच्छेत्सी**—काटना (उसे आगे बढाना), (इस द्वितीय आश्रम मे भी) **सत्यात्**—सत्य-कथन मे, **धर्मात्**—धर्म से, **कुशलात्**—(अपने) कुशल-क्षेमसाधक कार्यों से, **भूत्यै**—ऐश्वर्य-प्राप्ति के लिए (मे), **स्वाध्याय-प्रवचनाभ्याम्**—अध्ययन और अध्यापन मे, **न**—नही, **प्रमदितव्यम्**—प्रमाद करना चाहिए ॥१॥

देवपितृकार्याभ्या न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि, तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ॥२॥

देव-पितृकार्याभ्याम् न प्रमदितव्यम्—देव-कार्य (ब्रह्मयज्ञ—सध्या, देवयज्ञ—दैनिक अग्निहोत्र) मे और पितृ-कार्य (बडे बूढो, माता-पिता आदि की सेवा—पितृ-यज्ञ) मे प्रमाद नहीं करना चाहिए, **मातृदेव भव**—माता को देवता जान सेवा करना, **पितृदेव**—पिता को देवता के समान समझने वाला, **भव**—हो, **आचार्यदेव, अतिथिदेव**—आचार्य और अतिथि को देव-समान जान उनकी सेवा मे तत्पर, **भव**—हो, **यानि**—जो, **अनवद्यानि**—अनिन्दित, शिष्ट-सम्मत, **कर्माणि**—कार्य हैं, **तानि**—उनको (का), **सेवितव्यानि**—सेवन कर, आचरण कर, **नो**—नही, **इतराणि**—इनसे भिन्न (निन्दित) कर्मों का, **यानि**—जो, **अस्माकम्**—हमारे, **सुचरितानि**—अच्छे आचरण हैं, **तानि**—वे ही, **त्वया**—तूने, **उपास्यानि**—आचरण करने चाहिये, **नो**—नहीं, **इतराणि**—इनसे उलटे दुश्चरित ॥२॥

हमसे श्रेष्ठ विद्वान् जहां बैठे हों वहां उनके उपदेश को ध्यान से सुनना, वाद-विवाद में मत पड़ना। श्रद्धा से देना, अश्रद्धा से भी देना। अपनी बढ़ती श्री में से देना, श्री न बढ़ रही हो, तो भी लोक-लाज से देना। भय से देना, प्रेम से भी देना ॥३॥

ऐसा करते हुए भी अगर किसी काम में सन्देह उत्पन्न हो जाय, यह समझ न पड़े कि 'धर्माचार' क्या है अथवा किस स्थिति में कैसे बरतना है, 'लोकाचार' क्या है—यह सन्देह खड़ा हो जाय, तो तुम्हारे आस-पास के धर्म-कार्य में स्वत प्रवृत्त, प्रेरणावश प्रवृत्त, अरूक्ष-स्वभाव के, सब पहलुओं पर विचार करने वाले ब्राह्मण जैसे बरतें वैसे बरतना। 'विवादास्पद' विषयों में भी युक्त आयुक्त अरूक्ष धर्म-काम, समदर्शी ब्राह्मणों के पीछे ही चलना। यही आदेश है, यही उपदेश है, यही वेद और उपनिषद् का सार है यही हमारा अनु-शासन है, ऐसा ही आचरण करना ऐसा ही अनुष्ठान करना ॥४॥

ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणा, तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम् ॥३॥

ये के च—और जो कोई, अस्मत्—हमसे, श्रेयांस—श्रेष्ठ, बढ़कर, ब्राह्मणा—ज्ञानी ब्राह्मण हों, तेषाम्—उनकी, त्वया—तूने, आसनेन—पूजार्थ आसन देने आदि से, प्रश्वसितव्यम्—सन्तुष्टि करनी चाहिये, उन्हें प्रसन्न रखना, (दान के विषय में) श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक अश्रद्धया—श्रद्धा न होने पर भी, श्रिया—(अपने पास) लक्ष्मी होने के कारण, ह्रिया—लोक-लाज के कारण, भिया—भय के कारण (निन्दा पाने के लिए) संविदा—सहानुभूति के कारण या मित्र-कार्य (प्रेमवश) से, देयम्—दान अवश्य करना चाहिए ॥३॥

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन्। तथा तेषु वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम् ॥४॥

अथ—और, यदि—अगर, ते—तेरी, कर्म-विचिकित्सा—किसी कार्य कर्म में संशय, वा—या, वृत्तविचिकित्सा—आचार में सन्देह, वा—या स्यात्

शिक्षाध्याय-वल्ली का द्वादश अनुवाक

मित्र, वरुण, अर्यमा हमारे लिये कल्याणकारी हो, इन्द्र, बृहस्पति, महान् पराक्रम वाला विष्णु हमारे लिये कल्याणकारी हो। हे ब्रह्म, तुझे नमस्कार है। हे वायु! तुझे नमस्कार है। हे वायु! तू ही प्रत्यक्ष-ब्रह्म है। तुझे ही अपने अध्ययन-काल में मैंने प्रत्यक्ष-ब्रह्म कहा, ऋत कहा, सत्य कहा। हे वायु-रूप प्रत्यक्ष-ब्रह्म! मेरी रक्षा कर, मेरे उपदेष्टा आचार्य की रक्षा कर, मेरी रक्षा कर, मेरे आचार्य की रक्षा कर। ओ३म् शांति शांति शांति ॥१॥

—उत्पन्न हो जाय, (तो), ये—जो, तत्र—वहाँ, ब्राह्मणा —ज्ञानी ब्राह्मण, सम्मर्शिन —विचारशील, परामर्श देने मे समर्थ, युक्ता —स्वय (उन कार्य मे) लगे हुए, आयुक्ता —किसी ने नियुक्त वा प्रेरित, अलूक्षा —स्वभाव मे रूखे न हो, स्नेहमय हो, धर्मकामा —धर्म-वृद्धि चाहने वाले, स्यु —होवे, यथा—जैसे, ते—वे, तत्र—वहा या उन सदिग्ध कार्यों मे, वर्तेरन्—वर्ताव करे, व्यवहार करे तथा—वैसे ही, तत्र—वहाँ, उन कार्यों मे, वर्तेथा —तू वरतना, व्यवहार करना, अथ—और, अभ्याख्यातेषु—(तेरे मन मे सन्देह न रहने पर भी जिन कर्म या आचार मे) विवादमय दोष लगाया गया हो, विवादास्पद विषयो मे, ये तत्र ब्राह्मणा वर्तेथा —जो वहाँ ज्ञानी ब्राह्मण विचारशील, स्वय प्रवृत्त या पर-प्रेरित, स्नेहमय, धर्म-वृद्धि चाहने वाले हो जैसे वे उन (विवादास्पद बातो) मे व्यवहार करे, वैसे ही तू भी व्यवहार करना, एष आदेश —यह ही (हमारी) आज्ञा है, एष उपदेश —यह ही (हमारा तुम्हे) उपदेश (परामर्श) है, एषा—यह ही, वेदोपनिषद्—वेद का रहस्य (सार) है, एतद्—यह ही, अनुशासनम्—पुन उपदेश है, एवम्—इस प्रकार ही, उपासितव्यम्—करना चाहिये, एवम्—इस प्रकार, उ—निश्चय से, अवश्यमेव, च—और, एतद्—इसका, उपास्यम्—आचरण करना चाहिए ॥४॥

श नो मित्र श वरुण । श नो भवत्वर्यमा । श न इन्द्रो बृहस्पति । श नो विष्णुरुरुक्रम । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्ष ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्ष ब्रह्मावादिषम् । ऋतमवादिषम् । सत्यमवादिषम् । तन्मामावीत् । तद्वक्तारमावीत् । आवीन्माम् । आवीद्वक्तारम् । ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ॥१॥

शम् नो मित्र प्रत्यक्षम् ब्रह्म असि—हे परमात्मन् हमारे लिये मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति और महापराक्रमी विष्णु—सब ही कल्याणकारी शान्ति प्रदाता हो, ब्रह्म और वायु को नमस्कार हो, हे ओम् तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है, त्वाम् एव—तुझ को ही, प्रत्यक्षम् ब्रह्म—प्रत्यक्ष ब्रह्म, अवादिषम्—(इस

[ब्रह्मानन्द-वल्ली]

ब्रह्मानन्द-वल्ली का प्रथम अनुवाक

हम दोनो, अर्थात् गुरु तथा शिष्य की परमात्मा साथ-साथ रक्षा करे, हम दोनो साथ-साथ भोजन करें, हम दोनो साथ-साथ अपने बल की वृद्धि करे, हम दोनो का पढा-पढाया तेजस्वी हो, हम आपस में कभी द्वेष न करें। ओ३म् शांति शांति शांति।

ब्रह्म का वेत्ता, अन्य व्यक्तियो के लिये जो-कुछ भी परे है, निकट नहीं दूर है, उसे प्राप्त कर लेता है। कहा भी है—ब्रह्म 'सत्य' है, 'ज्ञान' है, 'अनन्त' है। वह हृदय की गुहा में छिपा हुआ है, परन्तु साथ

प्रवचन मे, उस सन्दर्भ मे) मैंने कहा है, **ऋतम् अवादिषम्**—ऋत ही कहा है, **सत्यम् अवादिषम्**—सत्य ही का उपदेश किया है, **तत्**—उस प्रवचन ने, **माम्**—मुझ को (मेरी), **आवीत्**—रक्षा की है, **तद् वक्तारम् आवीत्**—उसने ही मुझ उपदेष्टा की रक्षा की है, **आवीत् माम्**—मेरी रक्षा की, **आवीद् वक्तारम्**—वक्ता की रक्षा की, **ओम् शान्ति शान्ति शान्ति**—हे परमात्मन् हमें शारीरिक, मानसिक, आत्मिक या आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त हो ॥१॥

ॐ सह नाववतु। सह नो भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै। ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ॥

ओम्—हे परमात्मन्, **सह**—एक साथ ही, **नौ**—हम दोनो (आचार्य-शिष्य) की, **अवतु**—रक्षा करो, **सह नौ**—साथ ही हम दोनो को, **भुनक्तु**—पालन (भरण-पोषण) करो, **सह**—(हम दोनो) साथ ही, **वीर्यम्**—बल को, **करवावहै**—करें, बढावें, **तेजस्वि**—तेजोयुक्त, प्रभावजनक, **नौ**—हम दोनो का, **अधीतम्**—पढना-स्वाध्याय, **अस्तु**—हो, **मा**—मत, नहीं, **विद्विषावहै**—द्वेष करें, एक-दूसरे का अहित सोचे, **ओ शान्ति**—हे प्रभु हम दोनो को त्रिविध शान्ति प्राप्त हो।

ॐ ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाऽभ्युक्ता। सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म। यो वेद निहित गुहाया परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।

ओम्—ईश्वर स्मरण रूप मगलाचरण करके, **ब्रह्मविद्**—ब्रह्म को जानने वाला, **आप्नोति**—प्राप्त कर लेता है, पहुँच जाता है, **परम्**—परम ब्रह्म को या परम स्थान (लक्ष्य) को, **तद्**—तो, उस ब्रह्म के विषय मे, **एषा**—यह (वचन), **अभि+उक्ता**—कहा गया है, **सत्यम्**—सत्यस्वरूप, सदा सत्ता

हो परम-व्योम में, अन्तरिक्ष-मडल में वही स्पष्ट दीख रहा है। उसे जो जान लेता है वह सर्वज्ञ ब्रह्म का साथी हो जाता है, और साथी होने के कारण जैसे ब्रह्म के लिये कोई कामना अपूर्ण नहीं रह जाती, सब प्रकार से वह तृप्त होता है, वैसे ब्रह्म का साथी होने के कारण उसके लिये भी कोई कामना अपूर्ण नहीं रह जाती, वह सब प्रकार से तृप्त हो जाता है।

उसी ब्रह्म से आकाश हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधिया, ओषधियो से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष। यह शरीर, अन्न तथा अन्न के रस के अतिरिक्त क्या है? इस शरीर का स्थूल रूप हमें क्या दिखाई देता है? सबसे ऊपर सिर है, दाया भाग है, बाया भाग है, धड है, पूछ है, जहा से प्राणी बैठता है। यह स्थूल-शरीर प्राणी का 'अन्नमय-कोष' है। कहा भी है—॥(क)॥

सत्यम्—ज्ञानम्—ज्ञानमय, चिन्स्वरूप, अनन्तम्—अनन्त, सर्वव्यापक, आदि-अन्त से रहित, ब्रह्म—परमात्मा को, य—जो, वेद—जानता है, निहितम्—स्थित गुहायाम्—हृत्प्रदेश मे (के), परमे—परमसूक्ष्म, व्योमन्—आकाश मे, स—वह, अश्नुते—भोगता है, पा लेता है, सर्वान्—सब, कामान्—कामनाओ-भोगो को, सह—साथ, ब्रह्मणा—ब्रह्म (परमात्मा) के, (ब्रह्मणा-सह—ब्रह्म के साथ रहता हुआ, मुक्त हुआ), विपश्चिता—ज्ञानी, सर्वज्ञ, इति—यह (वचन कहा गया है)।

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सभूत । आकाशाद्वायु । वायोरग्नि । अग्नेराप. । अद्भ्य पृथिवी । पृथिव्या ओषधय । ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नाद्रेत । रेतस पुरुष । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय । तस्येदमेव शिर । अयं दक्षिण पक्ष । अयमुत्तर पक्ष । अयमात्मा । इद पुच्छ प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ॥(क)॥

तस्माद्—उस (पूर्वोक्त), वै—ही, एतस्माद्—इस, आत्मन—(निमित्त कारण) परमात्मा से (की प्रेरणा से) या सतत गति (परिवर्तन) शील—आत्मा महान् (महत्-तत्त्व उपादान कारण) से, आकाश—आकाश, सभूत—उत्पन्न हुआ, आकाशात्—आकाश से, वायु—वायु, वायो—वायु से, अग्नि—अग्नि, तेज, अग्ने—अग्नि—तेज से, आप—जल, अद्भ्य—जल से पृथिवी—पृथिवी, पृथिव्या—पृथिवी से, ओषधय—वनस्पतियाँ, ओषधीभ्य—ओषधियो से, अन्नम्—अन्न, अन्नात्—अन्न से, रेत—वीर्य,

ब्रह्मानन्द-वल्ली का द्वितीय अनुवाक
पाच कोशो का वर्णन

सब प्रजाओ की अन्न से ही उत्पत्ति होती है। जो कोई भी प्राणी पृथिवी पर आश्रित है वे अन्न से ही जीवित रहते है, अन्त मे अन्न मे ही लीन हो जाते है, क्योकि पच-महाभूतो का श्रेष्ठतम रूप अन्न ही है। अन्न को 'सर्वौषध' कहा जाता है, सब ओषधियो का सार अन्न मे है। जो अन्न को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करते है वे अन्न से, भोग्य-पदार्थो से जो-कुछ मिल सकता है, उसे पा लेते है। अन्न सब भूतो मे श्रेष्ठ है, तभी इसे 'सर्वौषध' कहा गया है। अन्न से प्राणी उत्पन्न होते है, उत्पन्न होने के बाद अन्न से ही बढते है। अन्न खाया जाता है, परन्तु यह खा भी जाता है। ससार भोगा तो जाता ही है, परन्तु जो भोगो का दास हो जाता है, उसे भोग ही भोग लेते है, उसे अन्न ही खा जाता है। अन्न को यही

रेतस—वीर्य मे, **पुरुष**—शरीर-सहित जीवात्मा, **स वै एष**—वह यह, **पुरुष**—शरीरी आत्मा, **अन्नरसमय**—अन्न के सार (वीर्य) से युक्त या बना हुआ, **तस्य**—उस आत्मा का, **इदम् एव शिर**—यह ही सिर है, **अयम्**—यह, **दक्षिण**—दायाँ, **पक्ष**—पार्श्व, पासा, भाग, **अयम् उत्तर पक्ष**—यह उत्तर (बायाँ) पार्श्व है, **अयम् आत्मा**—यह (शरीर-नियन्ता) आत्मा है, **इदम्**—यह, **पुच्छम्**—पूछ (मध्यवर्ती पृष्ठभाग), **प्रतिष्ठा**—सहारा देने वाला है, **तदपि**—तो (इस विषय मे), **एष**—यह, **श्लोक भवति**—श्लोक (पद्य) है ॥(क)॥

अन्नाद्वै प्रजा प्रजायन्ते। या काश्च पृथिवीँ श्रिता। अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपि यन्त्यन्तत। अन्नँ हि भूताना ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति। येऽन्न ब्रह्मोपासते। अन्नँ हि भूताना ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। अन्नाद् भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्धन्ते। अद्यतेऽत्ति च भूतानि। तस्मादन्न तदुच्यत इति। तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय। तेनैष पूर्ण। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वय पुरुषविध। तस्य प्राण एव शिर। व्यानो दक्षिण पक्ष। अपान उत्तर पक्ष। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छ प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति ॥(ख)॥

अन्नाद् वै—अन्न से ही, **प्रजा**—जीवधारी प्राणी, **प्रजायन्ते**—उत्पन्न होते है, **या का च**—और जो कोई भी, जितनी भी, **पृथिवीम्**—पृथिवी को

व्याख्या है—'अद्यते अत्ति च भूतानि'—यह खाया जाता है, परन्तु खा भी जाता है। इस 'अन्न-रस-मय-कोश' को, इस शरीर को सब-कुछ मत समझो। इससे भिन्न, किन्तु इसी के भीतर, इस शरीर का आत्मा, एक अन्य शरीर है, जिसे 'प्राणमय-कोश' कहते हैं। 'अन्नमय-कोश' में 'प्राणमय-कोश' है। जैसे 'अन्नमय-कोश' पुरुष के आकार का है, वैसे 'प्राणमय-कोश' भी पुरुष के ही आकार का है। इस 'प्राणमय-कोश' का सिर प्राण है, दक्षिण-भाग व्यान है, उत्तर-भाग अपान है, धड़ आकाश है, पूछ पृथिवी है—प्राणी के बैठने का स्थान है। कहा भी है—॥(ख)॥

(के), **श्रिता**—आश्रित है, (**पृथिवीं श्रिता**—पृथ्वी पर विद्यमान है), **अथ उ**—और, **अन्नेन एव**—अन्न से ही, **जीवन्ति**—जीवित रहती है, **अथ**—और, **एतद्**—इसको (मे), **अपि यन्ति**—लीन हो जाती है, अन्न ही इन्हे खा जाता है, **अन्तत**—अन्त मे, मृत्यु होने पर, **अन्नम् हि**—अन्न ही, **भूतानाम्**—उत्पन्न पदार्थों मे, **ज्येष्ठम्**—सबसे बडा, श्रेष्ठ है, **तस्मात्**—उस कारण से, **सर्वौषधम्**—सब (भूख आदि) का औषध या सब ओषधियो मे निष्पन्न, **उच्यते**—कहा जाता है, **सर्वम् वै**—सब ही, सारे ही, **ते**—वे, **अन्नम्**—अन्न को, **आप्नुवन्ति**—प्राप्त कर लेते है, **ये**—जो, **अन्नम्**—अन्न को, **ब्रह्म**—सब से बडा, **उपासते**—उपासना करते है, तदनुसार आचरण करते है, **अन्नम् हि भूतानाम् ज्येष्ठम्**—अन्न ही सब उत्पन्न पदार्थो मे श्रेष्ठ है, **तस्मात् सर्व+औषधम् उच्यते**—उस कारण से ही सब की ओषधि कहा जाता है, **अन्नाद्**—अन्न से, **भूतानि**—शरीरधारी, **जायन्ते**—उत्पन्न होते है, **जातानि**—उत्पन्न हुए, **अन्नेन**—अन्न से, **वर्धन्ते**—बढते है, **अद्यते**—खाया जाता है (प्राणी इसे खाते है), **अत्ति**—खाता है (अपने मे लय कर लेता है), **च**—और, **भूतानि**—प्राणियो को, **तस्मात्**—उस कारण से, अत, **अन्नम्**—अन्न, **तद्**—वह (उसको), **उच्यते**—कहा जाता है (कहते है), **इति**—यह, **तस्माद् वै एतस्मात्**—उस इस, **अन्नरसमयात्**—अन्न के रस (सार-वीर्य) से बने हुए से, **अन्य**—दूसरा, भिन्न, **अन्तर**—अन्तर्वर्ती, **आत्मा**—आत्मा है, **प्राणमय**—(जो) प्राण से उत्पन्न या प्राणस्वरूप है, **तेन**—उस (प्राणमय) से, **एष**—यह (शरीर युक्त अन्नरसमय आत्मा), **पूर्ण**—पूर्ण (व्याप्त–भरा हुआ) है, **स वै एष**—वह यह प्राणमय, **पुरुषविध एव**—आत्मा के शरीर जैसा ही है, **तस्य**—उसकी, **पुरुषविधताम् अनु**—पुरुष-शरीर के स्वरूप के अनुरूप ही, **अयम्**—यह (प्राणमय आत्मा), **पुरुषविध**—मनुष्य के स्वरूप वाला है, **तस्य**—उस

ब्रह्मानन्द-वल्ली का तृतीय अनुवाक

देव, मनुष्य, पशु—सभी प्राण से ही अनुप्राणित हो रहे हैं। प्राण ही सब भूतों की आयु है, इसलिये इसे 'सर्वायु' कहा जाता है। जो प्राण को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करते हैं, वे अपनी सारी आयु को प्राप्त कर लेते हैं। प्राण ही सब भूतों की आयु है, इसलिये उसे 'सर्वायु' कहा गया है। 'प्राणमय-कोश' का वही आत्मा है, जो 'अन्नमय-कोश' का है। इस 'प्राणमय-कोश' से भिन्न, किन्तु इसी के भीतर, इस 'प्राणमय-कोश' का आत्मा एक अन्य शरीर है, जिसे 'मनोमय-कोश' कहते हैं। 'प्राणमय-कोश' में 'मनोमय-कोश' पूर्ण है। जैसे 'प्राणमय-कोश' पुरुष के आकार का है, वैसे 'मनोमय-कोश' भी पुरुष के आकार का है। इस 'मनोमय-कोश' का सिर यजु है, दक्षिण-भाग ऋक् है, उत्तर-भाग साम है, धड़ आदेश है, पूछ अथर्व है। कहा भी है—॥(ग)॥

(प्राणमय आत्मा) का, प्राण एव शिर—प्राण ही सिर है, व्यान—व्यान (प्राण-भेद), दक्षिण पक्ष—दायाँ पार्श्व (भाग) है, अपान—अपान नामी प्राण-भेद, उत्तर पक्ष—बायाँ अंग है, आकाश आत्मा—आकाश ही आत्मा है, पृथिवी पुच्छम् प्रतिष्ठा—पृथिवी ही पूछ और आश्रय है, तद् अपि एष श्लोक भवति—उस विषय में यह श्लोक है ॥(ख)॥

प्राण देवा अनु प्राणन्ति। मनुष्या पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायु। तस्मात्सर्वायुषमुच्यते। सर्वमेव त आयुर्यन्ति। ये प्राण ब्रह्मोपासते। प्राणो हि भूतानामायु। तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। य पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा मनोमय। तेनैष पूर्ण। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वय पुरुषविध। तस्य यजुरेव शिर। ऋग् दक्षिण पक्ष। सामोत्तर पक्ष। आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरस पुच्छ प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति। ॥(ग)॥

प्राणम्—प्राण को (से), देवा—देव योनि या इन्द्रियाँ, अनुप्राणन्ति—अनुप्राणित हो रहे हैं—जीवन ग्रहण कर रहे हैं, मनुष्या—मनुष्य, पशव—पशु, च—और, ये—जो, प्राण हि—प्राण ही, भूतानाम्—चर प्राणियों की, आयु—जीवन का समय (निर्धारक), तस्मात्—अत एव, सर्वायुषम्—सब की आयु (जीवन-अवधि), उच्यते—कहा जाता है, सर्वम्—सारी, पूर्ण, एव—ही, ते—वे, आयु—आयु को, यन्ति—प्राप्त होते हैं, ये—जो, प्राणम्—प्राण

ब्रह्मानन्द-वल्ली का चतुर्थ अनुवाक

वाणी जहां से लौट आती है, मन जिसे प्राप्त नही कर सकता, उस आनन्द-रूप ब्रह्म को जो जान लेता है, वह कभी भयभीत नही होता। अन्न, प्राण और मन को ब्रह्म मानकर इनकी उपासना करने वाला ब्रह्म को नही पा सकता, भोग्य पदार्थों को पा लेता है, प्राण-शक्ति को पा लेता है, मानसिक-शक्ति को प्राप्त कर लेता है, जहा से वाणी और मन भी लौट आते है, वहां से ब्रह्म का ज्ञान प्रारम्भ होता है।

को, **ब्रह्म**—बडा, मुख्य (जानकर), **उपासते**—उपासना करते है, उनकी रक्षा का ध्यान रखते है, **प्राण हि भूतानाम् आयु तस्मात् सर्वायुषम् उच्यते**—प्राण ही भूतो की आयु है अतएव यह प्राण सब की आयु कहलाता है, **तस्य**—उस (प्राणमय कोष का), **एष**—यह, **एव**—ही, **शारीर**—शरीरी, **आत्मा**—आत्मा है, **य**—जो, **पूर्वस्य**—पहले (अन्नमय कोश) का है, **तस्माद् वै एतस्मात्**—उस इस, **प्राणमयात्**—प्राणमय से, प्राण-युक्त से, **अन्य**—दूसरा, **अन्तर**—मध्यवर्ती, **आत्मा**—आत्मा, **मनोमय**—मनन शक्ति वाला है, **तेन**—उस (मनोमय) से, **एष**—यह (प्राणमय कोश), **पूर्ण**—पूर्ण (व्याप्त, भरा हुआ) है, **स वै एष पुरुषविध एव**—वह यह (मनोमय कोश) शरीरधारी पुरुष की आकृति के अनुरूप ही है, **तस्य**—उस (प्राणमय कोश) की, **पुरुषविधताम् अनु अयम् पुरुषविध**—पुरुषानुरूप आकृति के अनुसार यह भी पुरुषानुरूप है, **तस्य**—उस (मनोमय कोष) का, **यजु एव शिर**—यजुर्वेद ही शिरस्थानीय है, **ऋक्**—ऋग्वेद, **दक्षिण पक्ष**—दाहिना पासा (भाग है), **साम उत्तर पक्ष**—सामवेद ही बायाँ भाग है, **आदेश**—आज्ञा, विधिवाक्य, **आत्मा**—ढाँचा (स्वरूप) है, **अथर्वाङ्गिरस**—अथर्ववेद, **पुच्छम् प्रतिष्ठा**—पूछ और आश्रय है, **तद् अपि एष श्लोक भवति**—इसकी पुष्टि में यह श्लोक भी है ॥(ग)॥

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। य पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमय। तेनैष पूर्ण। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वय पुरुषविध। तस्य श्रद्धैव शिर। ऋत दक्षिण पक्ष। सत्यमुत्तर पक्ष। योग आत्मा। मह पुच्छ प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति ॥(घ)॥

यत—जहां से, जिसके पास से, **वाच निवर्त्तन्ते**—वाणियाँ लौट आती है (जो वाणी का विषय नही), **अप्राप्य**—न पाकर, **मनसा सह**—मन के साथ

'मनोमय-कोश' का वही आत्मा है, जो 'प्राणमय-कोश' का है। इस 'मनोमय-कोश' से भिन्न, किन्तु इसी के भीतर, इसका आत्मा, एक अन्य शरीर है, जिसे 'विज्ञानमय-कोश' कहते हैं। 'मनोमय-कोश' में 'विज्ञानमय-कोश' पूर्ण है। जैसे 'मनोमय-कोश' पुरुष के आकार का है, वैसे 'विज्ञानमय-कोश' भी पुरुष के आकार का है। इस 'विज्ञानमय-कोश' का सिर श्रद्धा है, दक्षिण-भाग ऋत है, उत्तर-भाग सत्य है, धड़ योग है, पूछ मह है—महानता में 'विज्ञानमय-कोश' की प्रतिष्ठा है। कहा भी है—॥(घ)॥

ब्रह्मानन्द-वल्ली का पञ्चम अनुवाक

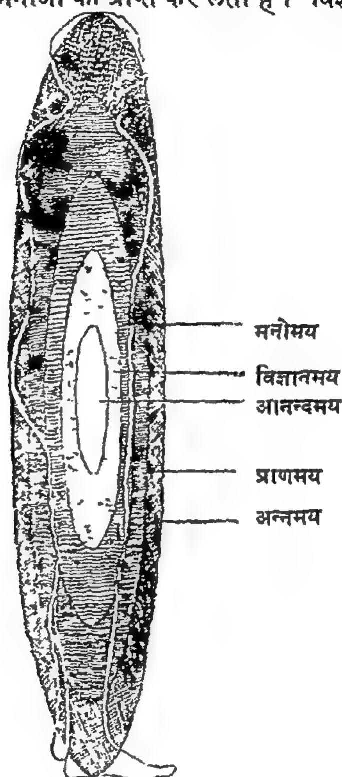
'यज्ञ', अर्थात् आध्यात्मिक-कार्य, 'कर्म' अर्थात् लौकिक-कार्य—ये दोनो विज्ञान से ही विस्तार पाते हैं। सब विद्वान् लोग 'विज्ञान'

(जो मन का भी विषय नही), **आनन्दम्**—आनन्द (स्वरूप) को, **ब्रह्मण**—ब्रह्म के, **विद्वान्**—जानने वाला, **न**—नही, **बिभेति**—डरता है, **कदाचन**—कभी भी, **तस्य**—उस (मनोमय कोश) का, **एष एव शारीर आत्मा य पूर्वस्य**—यह ही शरीरी आत्मा है जो पहिले (प्राणमय कोश) का है, **तस्माद् वै एतस्मात्**—उस इस, **मनोमयात्**—मनोमय (कोश) से, **अन्य अन्तर आत्मा**—भिन्न अन्तवर्ती आत्मा, **विज्ञानमय**—विज्ञान स्वरूप है, **तेन**—उस (विज्ञानमय) से, **एष**—यह (मनोमय कोष), **पूर्ण**—पूर्ण है, **स वै एष पुरुषविध एव**—वह यह विज्ञानमय कोश भी पुरुष के अनुरूप आकृति वाला ही है, **तस्य पुरुषविधताम् अनु अयम् पुरुषविध**—उस (मनोमय कोश) की पुरुषानुरूप आकृति के अनुसार ही यह (विज्ञानमय) भी पुरुषानुकृति है, **तस्य**—उस (विज्ञानमय कोश) की, **श्रद्धा एव शिर**—श्रद्धा ही सिर है, **ऋतम् दक्षिण पक्ष**—ऋत ही दक्षिण पक्ष है, **सत्यम् उत्तर पक्ष**—सत्य ही बायाँ भाग है, **योग**—चित्त की समाधि (एकाग्रता), **आत्मा**—स्वरूप या ढाचा है, **मह**—महत्त्व (महिमा), **पुच्छम् प्रतिष्ठा**—पूछ और प्रतिष्ठा है, **तद् अपि एष श्लोक भवति**—इसकी पुष्टि मे यह वचन भी है॥(घ)॥

विज्ञान यज्ञ तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च। विज्ञान देवा सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते। विज्ञान ब्रह्म चेद्वेद। तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति। शरीरे पाप्मनो हित्वा। सर्वान्कामान्समश्नुत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। य पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमय। तेनैष पूर्ण। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वय पुरुषविध। तस्य प्रियमेव शिर। मोदो दक्षिण पक्ष। प्रमोद उत्तर पक्ष। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥(ङ)॥

विज्ञानम्—विज्ञान ही, **यज्ञम्**—शुभ कर्म को, आध्यात्मिक कर्म को,

को ही ज्येष्ठ ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करते हैं। जो 'विज्ञान' को ब्रह्म मानकर उससे प्रमाद नहीं करता, वह शरीर के सब पापों को छोड़कर सब कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। 'विज्ञानमय-कोश'



पांच कोश

का वही आत्मा है, जो 'मनोमय-कोश' का है। इस 'विज्ञानमय-कोश' से भिन्न, किन्तु इसके भीतर, इसका आत्मा, एक अन्य शरीर

तनुते—बढ़ाता है, विस्तार देता है, कर्माणि—(सामान्य-दैनिक) कर्मों को, तनुते—बढ़ाता है, अपि च—और, विज्ञानम्—विज्ञान को, देवा: सर्वे—सारे देव (विद्वान्), ब्रह्म—सब से बड़ा, ज्येष्ठम्—अग्रज, प्रथम उत्पन्न, उपासते—

हैं, जिसे 'आनन्दमय-कोश' कहते हैं। 'विज्ञानमय-कोश' में 'आनन्दमय-कोश' पूर्ण है। जैसे 'विज्ञानमय-कोश' पुरुष के आकार का है, वैसे 'आनन्दमय-कोश' भी पुरुष के आकार का है। इस 'आनन्दमय-कोश' का सिर प्रिय है, दक्षिण-भाग मोद है, उत्तर-भाग प्रमोद है, धड़ आनन्द है, पूछ ब्रह्म है। 'आनन्दमय-कोश' में विचरने वाला 'ब्रह्म' को ही अपना आधार बना लेता है। कहा भी है—॥(ङ)॥

पाच कोशो का चित्र

सं०	नाम कोश	कोश का सिर	दक्षिण भाग	वाम भाग	धड	आश्रय स्थान	शरीर विशेष
१	अन्नमय कोश	सिर	दाया	बाया	धड़	पूछ	स्थूल शरीर
२	प्राणमय कोश	प्राण	व्यान	अपान	आकाश	पृथिवी	सूक्ष्म शरीर
३	मनोमय कोश	यजु	ऋक्	साम	आदेश	अथर्व	
४	विज्ञानमय कोश	श्रद्धा	ऋत	सत्य	योग	मह	
५	आनन्दमय कोश	प्रिय	मोद	प्रमोद	आनन्द	ब्रह्म	कारण शरीर

(पाच कोशो मे पहला कोश 'अन्नमय-कोश' है। यह शरीर ही 'अन्नमय-कोश' है, और पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश—इन पाच

उपासना करते हैं, **विज्ञानम्**—विज्ञान को, **ब्रह्म**—बड़ा, मुख्य, **चेद्**—अगर, **वेद**—जानता है, **तस्मात् चेत् न प्रमाद्यति**—उससे (उसकी प्राप्ति मे) अगर नही प्रमाद करता है, **शरीरे**—शरीर मे (इस जीवन मे), **पाप्मन**—पापो को, त्रुटियो को, **हित्वा**—छोड कर, **सर्वान्**—सब, **कामान्**—कामनाओ को, भोगो को, **समश्नुते**—प्राप्त कर लेता है, भोगता है, **तस्य**—उस (विज्ञानमय कोश) का, **एष एव शारीर आत्मा**—यह ही शरीरी आत्मा है, **य**—जो,

महाभूतों से बना है। परन्तु यह कोश तो सबसे निचला है, अन्य चार कोश हैं, जो इससे ऊपर हैं। 'अन्नमय-कोष' से ऊंचा, परन्तु उसी के भीतर 'प्राणमय-कोश' है। जैसे 'अन्नमय' पांच महाभूतों से बना है, वैसे 'प्राणमय' किससे बना है? उपनिषदों के अनुसार 'प्राणमय' की रचना 'प्राण-तत्त्व' से हुई है। अगर 'आकाश' को वर्तमान परिभाषा में 'ईथर' माना जाय, तो कहना होगा कि उपनिषदों के ऋषि 'ईथर' से भी एक सूक्ष्म 'तत्त्व' (Substance) को मानते थे, जिसका नाम 'प्राण-तत्त्व' (Life Substance) था। 'ईथर' की तरह यह 'प्राण-तत्त्व' भी विश्वभर में व्याप्त हो रहा है, और उसी से हमारा 'प्राणमय-कोश' बना है। 'स्वर्णमय' का अर्थ है स्वर्ण से बना, 'काष्ठमय' का अर्थ है काष्ठ से बना, इसी प्रकार 'प्राणमय' का अर्थ है प्राण से बना। अथर्ववेद में भी 'प्राण' को ऐसा ही एक तत्त्व माना है, तभी कहा है—'या ते प्राण प्रिया तनू' (११-४-५३)। इस 'प्राण-तत्त्व' का स्रोत सूर्य को माना गया है। प्रश्नोपनिषद् में कहा है—'आदित्यो ह वै प्राण'। 'प्राण-तत्त्व' से सूक्ष्म 'मनस्-तत्त्व' माना गया है, यह भी 'प्राण' से सूक्ष्म होता हुआ सब जगह व्याप्त है, और प्राण की तरह एक 'तत्त्व' (Substance) है। वैशेपिक-दर्शन ने 'पृथिव्यप्तेजो-वाय्वाकाशो कालो दिगात्मा मनासि द्रव्याणि'—इस सूत्र में 'मन'

पूर्वस्य—पहिले (मनोमय-कोश) का, **तस्माद् वै एतस्माद् विज्ञानमयात्**—उस इस विज्ञानमय कोश से, **अन्य अन्तर आत्मा**—दूसरा अन्तर्वर्ती आत्मा, **आनन्दमय**—आनन्दमय है, **तेन**—उस (विज्ञानमय कोश) से, **एष**—यह (आनन्दमय कोश), **पूर्ण**—पूर्ण है, **स वै एष**—वह यह, **पुरुषविध**—पुरुष की तरह का है, **तस्य**—उस (विज्ञानमय कोश) की, **पुरुषविधताम् अनु अयम् पुरुषविध**—पुरुषानुरूप आकृति के समान यह (आनन्दमय कोश) भी पुरुषानुरूप है, **तस्य**—उस (आनन्दमय कोश) का, **प्रियम् एव**—प्रिय होना ही, **शिर**—सिर है, **मोद**—प्रसन्नता, **दक्षिण पक्ष**—दाहिना भाग है, **प्रमोद**—विशेष हर्ष, **उत्तर पक्ष**—बायां भाग है, **आनन्द आत्मा**—आनन्द ही इसका आत्मा (स्वरूप, ढांचा, धड़) है, **ब्रह्म**—परमात्मा, **पुच्छम् प्रतिष्ठा**—पूछ और आश्रय स्थान है, **तद् अपि एष श्लोक भवति**—इसमें यह श्लोक (सूक्ति) भी है ॥(ङ)॥

को 'द्रव्य' (Substance) माना है। क्योंकि 'मनस्-तत्त्व' प्रकृति के अन्य तत्त्वो की तरह सूक्ष्म है, और सब जगह व्याप रहा है, इसीलिये मन की गति शब्द से भी प्रबल है। उपनिषदो के इस विचार को कि 'ईथर' की तरह 'प्राण' और 'मनस्' भी तत्त्व है, वर्तमान-युग के वैज्ञानिक सर आलिवर लाज भी मानते थे। उनका कथन था—"My doctrine is that Life exists in space, that Mind is a higher development of that, and I presume that Spirit is a higher development still, but they all exist in space"—अर्थात् 'प्राण' (Life) विश्व मे व्याप रहा है, 'मन' (Mind) उससे विकसित हुआ है, 'आत्मा' (Spirit) मन से भी अधिक विकसित है, और ये तीनो सब जगह वर्तमान है। उपनिषदो की परिभाषा मे पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश—प्रकृति के ये पाच ही तत्त्व नही है, अपितु आकाश से सूक्ष्म 'प्राण-तत्त्व' है, जिससे 'प्राणमय-कोश' बना है, प्राण से सूक्ष्म 'मनस्-तत्व' है, जिससे 'मनोमय-कोश' बना है, मनस् से सूक्ष्म 'विज्ञान-तत्त्व' है, जिससे 'विज्ञानमय-कोश' बना है, विज्ञान से सूक्ष्म 'आनन्द-तत्त्व' है, जिससे 'आनन्दमय-कोश' बना है। सांख्य मे प्रकृति का जो विकास-क्रम दिया है, उसके साथ इन का समन्वय स्पष्ट है। 'सत्त्व-रज-तम की साम्यावस्था' ही 'आनन्द-तत्त्व' है, जिससे 'आनन्दमय-कोश' हुआ, 'प्रकृति' से 'महान्' हुआ, यह 'महत्-तत्त्व' ही 'विज्ञान-तत्त्व' है, जिससे 'विज्ञानमय-कोश' हुआ, 'महत्' से 'अहकार' हुआ, यह 'अहकार-तत्त्व' ही 'मनस्-तत्त्व' है, जिससे 'मनोमय-कोश' हुआ, 'अहकार' से 'पचतन्मात्रा हुई, ये 'पचतन्मात्राए' ही 'प्राण-तत्त्व' है, जिनमे 'प्राणमय-कोश' हुआ, 'पचतन्मात्राओ' से स्थूल 'पच-महाभूत' हुए, ये पाचो महाभूत ही 'अन्न-तत्त्व' है, जिनसे 'अन्नमय-कोश' हुआ। इन पाचो कोशो का अपना-अपना 'लोक' (Plane) है। 'अन्नमय-कोश' से इस 'भू-लोक' मे व्यवहार हो सकता है, अन्य लोको मे नही 'प्राणमय-कोश' से 'भुवर्लोक' मे—प्राण-लोक मे—व्यवहार हो सकता है, 'मनोमय-कोश' से 'स्वर्लोक' (Plane) मे व्यवहार हो सकता है। यही क्रम सब लोको मे है। इसी उपनिषद्

की 'भृगु-वल्ली' मे बताया गया है कि मनुष्य अपने कोशो से जिस-जिस लोक मे व्यवहार करता हे, उसी को 'ब्रह्म' समझने लगता है, असल मे 'ब्रह्म' इन सब 'लोको' (Planes) से ऊपर है, परे है।)

ब्रह्मानन्द-वल्ली का षष्ठ अनुवाक

जो ब्रह्म को 'असत्' कहता है, ब्रह्म तो क्या असत् होना है, वह स्वय 'असत्' हो जाता है। जो ब्रह्म को 'सत्' समझता है, वह ब्रह्म की सत्ता से स्वय 'सत्' हो जाता है। सब सत्ता उसी से है। 'आनन्द-मय-कोश' का वही आत्मा है, जो 'विज्ञानमय-कोश' का है।

ऊपर जो-कुछ कहा गया है, उसे समझ लेने के अनन्तर, ये प्रश्न तो साधारण से ही प्रश्न रह जाते है। कौन-से प्रश्न ? यह प्रश्न कि मरने के बाद 'अविद्वान्' ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है या नही, अथवा यह प्रश्न कि मरने के बाद 'विद्वान्' ब्रह्म-लोक को प्राप्त होता है या नहीं ? इन प्रश्नो का उत्तर कोशो को समझ लेने के बाद स्वय मिल जाता है।

असन्नेव स भवति। असद् ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेन ततो विदुरिति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। य पूर्वस्य। अथातोऽनुप्रश्ना। उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चन गच्छती ३। आहो विद्वानमु लोक प्रेत्य। कश्चित्समश्नुता ३ उ।

असन्—न होता हुआ (अस्तित्वरहित-सत्ताशून्य), एव—ही, स भवति—वह (स्वय) हो जाता है, असद् ब्रह्म—ब्रह्म सत्ताशून्य है (ब्रह्म है ही नहीं), इति—ऐसे, वेद चेत्—अगर जानता है, मानता है, अस्ति ब्रह्म—ब्रह्म है (ब्रह्म की सत्ता है), इति—इस प्रकार, चेद् वेद—अगर जानता-मानता है, सन्तम्—सत्तावाला, एतम्—इस (मनुष्य) को, तत—तब ही, विदु—मानते है, तस्य एष एव शारीर आत्मा—उस (आनन्दमय कोश) का यह ही शरीरी आत्मा है, य पूर्वस्य—जो पहले (विज्ञानमय कोश) का है, अथ—अब, अत—इससे परे, अनुप्रश्ना—अवान्तर (साधारण) प्रश्न है

उत—क्या, अविद्वान्—अज्ञानी, अमुम् लोकम्—इस ब्रह्मलोक को, प्रेत्य—मरकर, मरने के बाद, कश्चन—कोई, गच्छति—प्राप्त होता है, आहो—अथवा, विद्वान्—ज्ञानी, अमुम् लोकम्—इस ब्रह्म-लोक को, प्रेत्य—मरने के बाद, कश्चित्—कोई, समश्नुते—प्राप्त होता है।

हां, सबसे बड़ा प्रश्न है, संसार की रचना कैसे हुई ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ऋषि कहते हैं—उसने 'कामना' की। क्या कामना की ? मैं एक से अनेक हो जाऊं, प्रजनित हो जाऊं। उसने 'तप' किया। सृष्टि की रचना करने का अर्थ है 'क्रिया' (Activity) का प्रारम्भ हो जाना। ब्रह्म की यह 'क्रिया' बढ़ते-बढ़ते जब उग्र-रूप में पहुंची, तो उसी अवस्था को 'तप' कहते हैं। 'तप' है—'क्रिया की उग्र-अवस्था' (Activity in climax)। तप करने के बाद उसने यह सब सृजा। जो-कुछ भी है, उसकी सृष्टि करके—उसे रचकर—उसमें वह अनुप्रविष्ट हो गया। ब्रह्म के सृष्टि में अनुप्रविष्ट होने पर ब्रह्म के दो रूप हो गये। एक रूप 'सत्' है, दूसरा 'त्यत्', अर्थात् 'तत्' है। 'सत्' वह, जो दृश्यमान संसार है—यह भी ब्रह्मरूप है,

---

सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदं सर्वमसृजत। यदिदं किंच। तत्सृष्ट्वा। तदेवानुप्राविशत्। तदनु प्रविश्य। सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च। सत्यमभवत्। यदिदं किंच। तत्सत्यमित्याचक्षते। तदप्येष श्लोको भवति ॥(च)॥

स—उसने, ब्रह्म ने, अकामयत—चाहा, बहु—(मैं) बहुत (अनेक), स्याम्—हो जाऊँ, प्रजायेय—प्रजा वाला होऊँ, इति—यह (कामना की), स तपः अतप्यत—उसने तप (उग्र क्रिया) किया, स तपः तप्त्वा—उसने तप करके, इदम् सर्वम्—इस सारे विश्व को, असृजत—उत्पन्न किया, रचा, बनाया, यद् इदम् किञ्च—यह जो कुछ भी (दृश्यमान) है, तत्—उसको, सृष्ट्वा—बनाकर, रचकर, तद् एव—उसमें ही, अनु प्राविशत्—अनुप्रविष्ट हुआ, तद् अनु प्रविश्य—उसमें अनुप्रविष्ट हो कर, सत् च—सद् रूप (अस्मि रूप, अहंरूप), त्यत् च—वह रूप (अपने से भिन्न रूप), अभवत्—हो गया, निरुक्तम् च—निर्वचनीय, वर्णन-योग्य, अनिरुक्तम् च—अनिर्वचनीय, वर्णनातीत, निलयनम् च—सर्वाधार, अनिलयनम् च—(स्वयं) किसी आश्रय की अपेक्षा न रखने वाला, विज्ञानम् च—ज्ञानस्वरूप चेतन, अविज्ञानम् च—ज्ञानशून्य, जड, सत्यम् च—कारणरूप, सत्तावाला, सत्स्वरूप, अनृतम्—असत्, कार्यरूप (विनाशी), सत्यम् अभवत्—सत्य हो गया 'सत्य' का 'स' और 'त्यत्' का 'त्य' मिलकर 'सत्य' बन गया), यद् इदम् किञ्च—जो यह कुछ है, तत्—उसको, सत्यम् इति—'सत्य' इस प्रकार (इस नाम से), आचक्षते—कहते हैं, तद् अपि एष श्लोकः भवति—उसकी पुष्टि में यह श्लोक भी है ॥च॥

'तत्' वह, जो 'यह' नहीं, 'वह' है, अदृश्यमान है, वह भी ब्रह्मरूप ही है। ब्रह्म का एक रूप 'निरुक्त'-रूप है, जिसका निर्वचन हो सकता है, वर्णन हो सकता है, दूसरा 'अनिरुक्त'-रूप है, जिसका निर्वचन, वर्णन नहीं हो सकता। एक रूप 'निलयन'-रूप है, दूसरे के आश्रय से स्थित है, जैसे पृथिवी सूर्य के आश्रय से स्थित है, दूसरा 'अनिलयन'-रूप है, स्वाश्रित रूप है, जैसे सूर्य स्वाश्रय से, अर्थात् बिना किसी दूसरे के सहारे स्थित है। एक रूप 'विज्ञान'-रूप है, चेतन-रूप है, दूसरा 'अविज्ञान'-रूप है, जड़-रूप है। एक रूप 'सत्य'-रूप है, कारण-रूप है, दूसरा 'अनृत'-रूप है, कार्य-रूप है। इस प्रकार 'सत्' और 'त्यत्'—'यह' और 'वह'—इन दोनों रूपों के मेल से 'सत्' का 'स' और 'त्यत्' का 'त्य' मिलकर ब्रह्म का 'स+त्य'-रूप हो जाता है। ब्रह्म का 'सत्' और 'त्यत्' रूप ही ब्रह्मांड में 'सत्य'-रूप कहलाता है—'सत्य' शब्द 'सत्' के 'स' और 'त्यत्' के 'त्य' के मेल से बना है। कहा भी है—॥(च)॥

(ब्रह्म के दो रूप हैं—'सत्' तथा 'तत्'—'यह' तथा 'वह'। 'यह' का अर्थ है—यह दृश्यमान जगत्, 'वह' का अर्थ है भगवान् का वह रूप जो इस दृश्यमान-जगत् से परे है, अदृश्य है। उपनिषत्कार का कहना है कि ब्रह्म को देखने के लिये कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं, यह संसार जो दीखता है यह ब्रह्म का ही एक प्रत्यक्ष रूप है। इसी भाव को लेकर गीता में कहा है—'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च, अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा' (७-४)—यह पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार प्रत्यक्ष ब्रह्म है।)

ब्रह्मानन्द-वल्ली का सप्तम अनुवाक

ब्रह्म 'सत्' था—यह पहले कहा। अब कहते हैं, यही मान लो पहले 'असत्' था। 'असत्' से 'सत्' हुआ। सृष्टि जब नहीं थी, तब

असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति। यद्वै तत्सुकृतम्। रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां

'असत्' ही थी। ब्रह्म अपने सत् रूप में तभी प्रकट होता है, जब सृष्टि की रचना करता है। जब सृष्टि 'असत्' थी, तो ब्रह्म भी मानो 'असत्' ही था, क्योंकि कुछ भी कर नही रहा था। उस 'असत्' अवस्था से जब वह सृष्टि को 'सत्'-रूप में लाया, तब वह स्वयं भी 'सत्'-अवस्था में आया। अपने 'सत्'-रूप को उसने स्वयं किया। स्वयं, अपनी इच्छा से उसने सृष्टि को रचा, और जो-कुछ रचा, सब ठीक-ठीक रचा, इसलिये उसे 'सुकृत' कहते है। जो-कुछ उसने रचा, सब 'सुकृत' था—बिलकुल ठीक रचा गया था। वह तो रस-ही-रस है,—'रसो वै स'—फिर जो उसने रचा, वह 'सुकृत' क्यो न होता? वह रस-रूप है, तभी रस को पाकर—जहा कही रस मिलता है, उसे पाकर मनुष्य आनन्द-मग्न हो जाता है। जहा-कहीं जो रस है, उसी का है। अगर आसमान में रस-ही-रस न भरा हो, तो कौन जीना चाहे, कौन श्वास तक लेना चाहे? वह सब जगह रस भरे हुए है, उसी से हमें आनन्द मिलता है। जब यह जीव उस अदृश्य, निराकार, अनिर्वचनीय, निराधार ब्रह्म मे बिना किसी भय के प्रतिष्ठित हो जाता है, उसकी गोद में अपना स्थान बना लेता है, तब यह अभय हो जाता है। जब यह जीव अपने में तथा ब्रह्म में जरा भी अन्तर रखता है, बस, उसी समय 'भय' उठ खड़ा होता है। जो विद्वान् भय को नहीं मानता, उसकी विचार-प्रक्रिया तो वही रहेगी जो अभी कही गई। वह रस-मय ब्रह्म में अपने को प्रतिष्ठित करेगा, उससे अपना भेद-भाव नही रखेगा। कहा भी है—॥(छ)॥

विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य। तदप्येष श्लोको भवति ॥(छ)॥

असद् वै—असत् (अव्यक्त) ही; अग्रे—सृष्टि के पहले, आसीत्—था, ततः वै—उस (सृष्टि) के बाद ही, सत्—सत् (व्यक्त), अजायत—हुआ, तत्—वह, तो, उसने, आत्मानम्—अपने (स्वरूप) को, स्वयम्—अपने आप (बिना किसी 'कारण' के), अकुरुत—(व्यक्त) किया, तस्मात्—अतएव, तद्—वह ब्रह्म, सुकृतम् (सुष्ठु+कृतम्)—ठीक-ठीक रचा हुआ, उच्यते—कहा जाता है, इति—यह (वह श्लोक है), यद् वै—जो भी (इस सृष्टि मे है), तत्—वह सब, सुकृतम्—ठीक-ठीक रचा गया था, रस—रस (स्वयं तो वह

ब्रह्मानन्द-वल्ली का अष्टम अनुवाक

ब्रह्मानन्द में आनन्द की मात्रा

उसके भय से वायु बहती है; उसके भय से सूर्य उदय होता है, उसके भय से अग्नि तथा इन्द्र अपना काम करते हैं, पांचवां मृत्यु भी उसी के भय से भागा फिरता है।

आनन्दस्वरूप) है, वै—निश्चय से, स—वह (सृष्टिकर्त्ता), रसम्—आनन्द-स्वरूप ब्रह्म को, हि एव—ही, लब्ध्वा—पाकर, अयम्—यह जीवात्मा, आनन्दी भवति—आनन्द वाला (आनन्द स्वरूप) हो जाता है, क हि एव—कौन ही, अन्यात्—जीना चाहे, जी सकता है, क—कौन प्राण्यात्—श्वास-प्रश्वास लेवे, यद्—जो (अगर), एष—यह, आकाशे—हृदयाकाश में, बुद्धि-गुहा में, आनन्द—आनन्दस्वरूप ब्रह्म, न स्यात्—न होवे, एष हि एव—यह आनन्द-स्वरूप ब्रह्म ही, आनन्दयाति—(जीवात्मा को) आनन्दमय करता है, यदा हि एव—जब ही, एष—यह (जीवात्मा), एतस्मिन्—इस, अदृश्ये—इन्द्रिया-गोचर, परोक्ष, अनात्म्ये—आत्मा (स्वरूप) से रहित, निराकार, अशरीरी, अनिरुक्ते—अनिर्वचनीय, वर्णनातीत, अनिलयने—(स्वयं) निराधार ब्रह्म में, अभयम्—निर्भयता को, प्रतिष्ठाम्—आश्रय को, स्थिति को, विन्दते—पाता है, अथ—इसके बाद, स—वह (जीवात्मा), अभयम् गत—निर्भय, भवति—हो जाता है, यदा हि एव एष—जब ही यह जीवात्मा, एतस्मिन्—इस ब्रह्म में, उदरम् (उत्=अपि+अरम्=अल्पम्)—बहुत थोड़ा भी, अन्तरम्—भेद (विस्मृति रूप), कुरुते—करता है, (उदरम् अन्तरं कुरुते—तनिक भी उसे भूल जाता है), अथ—तब ही तस्य—उस जीवात्मा को, भयम् भवति—भय होने लगता है, तत् तु एव—वह ही तो, भयम्—भय, विदुष—ज्ञानी (होकर भी), अमन्वानस्य—अज्ञानी (भेद-भाव रखने वाले) बने हुए को होता है। तद् अपि एष श्लोक भवति—इसकी पुष्टि में यह श्लोक (सूक्ति) है॥(छ)॥

भीषाऽस्माद्वात पवते। भीषोदेति सूर्य। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्यु-र्धावति पञ्चम इति। सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति युवा स्यात्साधुयुवा-ध्यायक। आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठ। तस्येय पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्द। ते ये शत मानुषा आनन्दा। स एको मनुष्यगन्धर्वाणा-मानन्द। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शत मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दा। स एको देवगन्धर्वाणामानन्द। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शत देवगन्ध-र्वाणामानन्दा। स एक पितृणा चिरलोकलोकानामानन्द। श्रोत्रियस्य चाकाम-हतस्य। ते ये शत पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दा। स एक आजानजाना देवाना-मानन्द। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमाजानजाना देवानामानन्दा।

अब 'आनन्द' की मीमासा करते है। कल्पना करो कि एक युवक है, बहुत अच्छा युवक, खूब पढा-लिखा, शासन करने वाला, दृढ और बलवान्। अब कल्पना करो कि उसके लिए सम्पूर्ण पृथिवी धन-धान्य से पूर्ण हो जाय। उसे जो आनन्द होगा वह 'एक मानुष-आनन्द' (Unit of human happiness) है। इस प्रकार के 'सौ-मानुष-आनन्दो' से एक 'मनुष्य-गन्धर्वानन्द' बनता है। श्रोत्रिय तथा कामनाओ से असक्त व्यक्ति को ऐसा आनन्द प्राप्त होता है। 'सौ-मनुष्य-गन्धर्वो' का जो आनन्द है, उससे एक 'देव-गन्धर्वानन्द' बनता है। श्रोत्रिय तथा कामनाओ से असक्त व्यक्ति को ऐसा आनन्द प्राप्त होता है। 'सौ-देव-गन्धर्वो' का जो आनन्द है, वह चिर-काल तक लोकान्तरो पर विजय प्राप्त करने वाले 'पितरो' (Elders) का एक

स एक कर्मदेवानामानन्द। ये कर्मणा देवानपियन्ति। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शत कर्मदेवानामानन्दा। स एको देवानामानन्द। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शत देवानामानन्दा। स एक इन्द्रस्यानन्द। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दा। स एको बृहस्पतेरानन्द। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शत बृहस्पतेरानन्दा। स एक प्रजापतेरानन्द। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शत प्रजापतेरानन्दा। स एको ब्रह्मण आनन्द। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। स यश्चाय पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एक। स य एववित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसक्रामति। एत प्राणमयमात्मानमुपसक्रामति। एत मनोमयमात्मानमुपसक्रामति। एत विज्ञानमयमात्मानमुपसक्रामति। एतमानन्दमयमात्मानमुपसक्रामति। तदप्येष श्लोको भवति। (ज)

भीषा—भय से, अस्माद्—इससे (इसके), वात—वायु, पवते—बहता है, पवित्र करता है, भीषा—भय से, उदेति—उगता है, सूर्य—सूर्य, भीषा—भय से, अस्माद्—इससे (के), अग्नि च—और अग्नि, इन्द्र च—और इन्द्र (अपना कार्य करते है), मृत्यु—मौत, काल, यम, धावति—दौडता है, अपने काम मे व्यग्र होता है, पञ्चम—पाँचवाँ, इति—यह (श्लोक) है।

सा एषा—वह यह (आगे वर्णित), आनन्दस्य—आनन्द की, मीमासा—विचार (निर्देश) करते है, युवा—(कोई पुरुष) जवान, स्यात्—हो, साधुयुवा—जवान होने के साथ सज्जन हो, अध्यायक—पढा-लिखा, गृहीतविद्य, आशिष्ठ—अत्यधिक आशाम्ना (उमगो—महत्त्वाकाक्षाओ से भरा हुआ) या अच्छा प्रशासक, द्रढिष्ठ—खूब मजबूत, बलिष्ठ—बलवान्, तस्य—उसके (पास), इयम्—यह, पृथिवी सर्वा—सारी पृथ्वी, वित्तस्य—धन के (से),

आनन्द है। श्रोत्रिय तथा कामनाओ से असक्त व्यक्ति को ऐसा आनन्द प्राप्त होता है। जो लोक-लोकान्तरो पर विजय पाने वाले 'सौ-पितरो' का आनन्द है, वह 'आजानज-देवो' का—जन्म से ही दिव्य-गुणो वाले व्यक्तियो का—एक आनन्द है। श्रोत्रिय तथा कामनाओ से असक्त व्यक्ति को ऐसा आनन्द प्राप्त होता है। जो 'सौ-आजानज-देवो' का आनन्द है, वह कर्म से देवत्व प्राप्त हुए देवताओ का एक आनन्द है। ऐसे व्यक्ति कर्म से दिव्य-गुणो को प्राप्त करते है। श्रोत्रिय तथा कामनाओ से असक्त व्यक्ति को ऐसा आनन्द प्राप्त होता है। 'सौ-कर्मदेव'-देवताओ का जो आनन्द है, वह 'देवो' का एक आनन्द है। श्रोत्रिय तथा कामनाओ से असक्त व्यक्ति को ऐसा आनन्द प्राप्त होता है। 'सौ-देवो' का जो आनन्द है, वह 'इन्द्र' का

पूर्णा—भरी, **स्यात्**—होवे, **स**—वह, **एक**—एक, **मानुष**—मनुष्यो का, **आनन्द**—आनन्द (होता है), **ते ये**—वे जो (ऐसे), **शतम्**—सौ, **मानुषा आनन्दा**—मनुष्यो के आनन्द है, **स**—वह (सौगुणा आनन्द), **एक**—एक, **मनुष्य-गन्धर्वाणाम्**—मनुष्य-गन्धर्वो का, **आनन्द**—आनन्द (होता है), **श्रोत्रियस्य**—वेदतत्त्ववेत्ता का, **च**—और, **अकामहतस्य**—जिसे कामनाएँ नही सताती, निष्काम, एषणाओ से शून्य (का भी यह ही आनन्द होता है), **ये ते शतम् मनुष्यगन्धर्वाणाम्**—वे ये जो मनुष्य गन्धर्वो के सौ आनन्द है, **स एक**—वह एक, **देवगन्धर्वाणाम् आनन्द**—देवयोनि गन्धर्वो का आनन्द है, **श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य**—और ये (सौ मनुष्य गन्धर्वो के आनन्द) वेदज्ञ और एषणाओ से मुक्त पुरुष के भी है, **ये ते शतम् देवगन्धर्वाणाम् आनन्दा**—वे जो सौ देव-गन्धर्वो के आनन्द है, **स एक**—वह (इनके बराबर) एक, **पितृणाम्**—पितरो का, **चिरलोकलोकानाम्**—चिरकाल के लिए प्राप्त लोको मे रहनेवाले, **आनन्द**—आनन्द है, **श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य**—एषणाओ से विरत वेदज्ञ का भी यह आनन्द है, **ते ये शतम् पितृणाम् चिरलोकलोकानाम् आनन्दा**—ये जो सौ चिरलोक-निवासी पितरो के आनन्द है, **स एक**—वह एक, **आजानजानाम्**—दिव्य लोको मे उत्पन्न, **देवानाम्**—देवो का, **आनन्द**—आनन्द है, **श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य**—यह ही आनन्द एषणा-शून्य वेदज्ञ को भी प्राप्त है, **ते ये शतम् आजानजानाम् देवानाम् आनन्दा**—वे जो ये सौ दिव्य लोक निवासी देवो के आनन्द है, **स एक**—वह एक, **कर्मदेवानाम्**—दिव्य कर्मवाले, शुभ कर्मो मे रत या कर्म से देवत्व को प्राप्त हुओ का, **आनन्द**—आनन्द है, **ये**—जो, **कर्मणा**—शुभ कर्मो द्वारा, **देवान्**—देवो को, दिव्य गुणो को, **अपियन्ति**—प्राप्त करते है,

एक आनन्द है। श्रोत्रिय तथा कामनाओ से असक्त व्यक्ति को ऐसा आनन्द प्राप्त होता है। 'सौ-इन्द्रो' के आनन्द के बराबर 'वृहस्पति' का एक आनन्द है, 'सौ-वृहस्पतियो' के आनन्द के बराबर 'प्रजापति' का एक आनन्द है, 'सौ-प्रजापतियो' के आनन्द के बराबर 'ब्रह्म' का एक आनन्द है। श्रोत्रिय तथा कामनाओ से असक्त व्यक्ति को यह 'ब्रह्मानन्द' प्राप्त होता है।

'पुरुष' में जो है, और 'आदित्य' में जो है—वह एक है। जो यह जानता है, वह इस लोक से मरकर, 'अन्नमय-कोश' को छोड़कर आगे निकल जाता है, 'प्राणमय-कोश' को छोडकर आगे निकल जाता है, 'मनोमय-कोश' को छोडकर आगे निकल जाता है, 'विज्ञानमय-कोश' को छोडकर आगे निकल जाता है, 'आनन्दमय-कोश' को छोडकर आगे निकल जाता है। कहा भी है—॥(ज)॥

श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य—यह ही आनन्द एपणा-शून्य वेदज्ञ को प्राप्त है, **ते ये शतम् कर्मदेवानाम् आनन्दा**—वे जो ये कर्मदेवो के सौ आनन्द है, **स एक देवानाम् आनन्द**—वह देवताओ का एक आनन्द है, **श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य**—एपणा-शून्य वेदज्ञ का भी, **ते ये शतम् देवानाम् आनन्दा**—वे ये जो देवताओ के सौ आनन्द है, **स एक**—वह एक, **इन्द्रस्य आनन्द**—इन्द्र का आनन्द है, **श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य**—वह ही आनन्द एपणा-शून्य वेदतत्त्व-विद् को भी प्राप्त है, **ते ये शतम् इन्द्रस्य आनन्दा**—वे ये जो इन्द्र के सौ आनन्द है, **स एक वृहस्पते आनन्द**—वह वृहस्पति का एक आनन्द है, **श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य**—वह ही आनन्द कामनाओ से मुक्त वेदार्थज्ञाता को होता है, **ते ये शतम् वृहस्पते आनन्दा**—वे ये जो वृहस्पति के सौ आनन्द है, **स एक प्रजापते आनन्द**—वह प्रजापति का एक आनन्द है, **श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य**—वह ही आनन्द निष्काम श्रोत्रिय को प्राप्त है, **ते ये शतम् प्रजापते आनन्दा**—वे जो ये प्रजापति के सौ आनन्द है, **स एक ब्रह्मण आनन्द**—वह ब्रह्म का एक आनन्द है, **श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य**—एपणा-शून्य श्रोत्रिय का भी, **स य च अयम्**—वह जो यह (परमात्मा), **पुरुषे**—पुरुष (जीवात्मा) मे (पिण्ड मे) है, **य च असौ**—और जो यह, **आदित्ये**—सूर्य मे या अदिति (प्रकृति) से उत्पन्न कार्य जगत् (ब्रह्माण्ड) मे है, **स एक**—वह (दोनो मे) एक ही है, भिन्न-भिन्न नही, **स य**—वह जो, **एवविद्**—इस प्रकार (प्रकृति और जीवात्मा मे व्याप्त एक ही तत्त्व परमात्मा है) जानने वाला है, **अस्मात् लोकात्**—इस लोक से, **प्रेत्य**—मरकर, मरने के बाद, **एतम्**—इस, **अन्नमयम् आत्मानम्**—अन्नमय कोश को, **प्राणमयम्**

ब्रह्मानन्द-वल्ली का नवम अनुवाक

वाणी जहाँ से लौट आती है, मन जिसे प्राप्त नहीं कर सकता, उस आनन्द-रूप ब्रह्म को जो जान लेता है, वह कभी भयभीत नही होता।

जो इस प्रकार आनन्द-रूप ब्रह्म को जानता है, उसे सन्ताप नहीं होता। किसी को यह सन्ताप होता है कि मैंने ठीक नही किया, किसी को यह सन्ताप होता है कि मैंने पाप किया। ये दोनो सन्ताप उसे नहीं होते जो 'ब्रह्मानन्द' में लीन हो जाता है।

जिस किसी की आखें इन दो बातो की तरफ खुल जाती है—मैंने ठीक नहीं किया, या मैंने पाप किया, इन दो बातो पर जो विचार करने लगता है, उसका आत्मा बलवान् हो जाता है, ये दोनो विचार आत्मा को बलवान् बना देते हैं। जो यह बात जान जाता है, वह उपनिषद् के रहस्य को पा जाता है। (झ)

आत्मानम्—प्राणमय कोश को, मनोमयम् आत्मानम्—मनोमय कोश को, विज्ञानमयम् आत्मानम्—विज्ञानमय कोश को, आनन्दमयम् आत्मानम्—आनन्दमय कोश को, उपसक्रामति—प्राप्त हो कर उसे लाँघ जाता है, अगली स्थिति (आनन्द-ब्रह्मलोक) को प्राप्त कर लेता है, तद् अपि एष श्लोक भवति—उनकी पुष्टि में यह श्लोक (सूक्ति) भी है॥ (ज)॥

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चनेति। एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवम्। किमह पापमकरवमिति। स य एव विद्वानेते आत्मानं स्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते। य एव वेद। इत्युपनिषत्॥झ॥

यत वाच निवर्त्तन्ते—जहा से वाणियाँ लौट आती है, अप्राप्य—बिना उसे प्राप्त करके, मनसा सह—मन के साथ, आनन्दम्—आनन्द को, ब्रह्मण—ब्रह्म के, विद्वान्—जानने वाला, न—नहीं, बिभेति—डरता है, कुतश्चन—किसी से भी, इति—यह (श्लोक) है, एतम्—इस ब्रह्म-ज्ञानी को, ह वा व—निश्चय ही, न तपति—(आगे कही बात) नही तपाती है, दुखी करती है, किम्—क्या, अहम्—मैंने, साधु—अच्छा, उचित, न—नहीं, अकरवम्—किया, किम्—क्या, अहम्—मैंने, पापम्—पाप, बुरा, अनुचित, अकरवम्—किया (अर्थात् पाप के करने या पुण्य न करने का सताप—पछतावा—आनन्दमय ब्रह्म को प्राप्त जीवात्मा को नही होता क्योंकि उसने तो पुण्य करके ही ब्रह्म को

[भृगु-वल्ली]

भृगु-वल्ली का प्रथम अनुवाक

पाच कोश तथा ब्रह्म

वरुण का पुत्र भृगु अपने पिता वरुण के पास गया, और कहने लगा—भगवन् ! ब्रह्म का उपदेश कीजिये । भृगु को वरुण ने कहा—अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, वाणी—जिससे ये उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने के वाद जिससे ये जीवित रहते हैं, जिसमे विलीन हो जाते हैं, उसे जानो, वह 'ब्रह्म' है । भृगु ने तप किया, और तप करने के अनन्तर—॥ (ञ) ॥

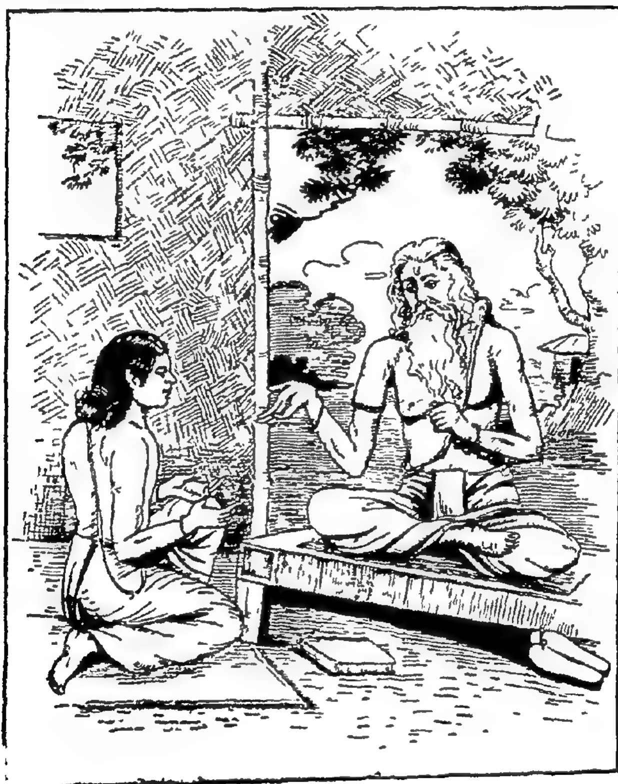
पाया है), स य एवम् विद्वान्—वह जो इस प्रकार जानने वाला-ज्ञानी है, एते—इन (दोनो मतापकारी विचारो) को, आत्मानम्—अपने आपको, आत्मा को, स्पृणुते—वल देता है, उन्नत करता है, उभे हि एव एते—दोनो ही इनको, य एव वेद—जो इस प्रकार जानता है, एप —वह यह ज्ञानी मनुष्य, आत्मानम्—अपने आपको, स्पृणुते—उन्नत करता है, वलवान् करता है ॥

भृगुर्वै वारुणि । वरुण पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तस्मा एतत्प्रोवाच । अन्न प्राण चक्षु श्रोत्र मनो वाचमिति । त ँ होवाच । यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा । (ञ)

भृगु वै—भृगु (नामवाला), वारुणि —वरुण का पुत्र, वरुणम् पितरम् —अपने पिता वरुण के, उपससार—पास पहुँचा, अधीहि—उपदेश कीजिये, भगव —हे पूजनीय, ब्रह्म—ब्रह्म (का), इति—यह (कहा), तस्मै—उस (भृगु) को, एतत्—यह, प्रोवाच—(वरुण ने) कहा, अन्नम्, प्राणम्, चक्षु, श्रोत्रम्, मन, वाचम्—अन्न, प्राण, चक्षु, कान, मन और वाणी, इति—ये (सकेत दिये), तम् ह—और उसको, उवाच—(सकेत देने के वाद) कहा, यत वै—जिस (कारण) से ही, इमानि—ये, भूतानि—पृथिवी आदि अचर-भूत और शरीरधारी प्राणी चर-भूत, जायन्ते—उत्पन्न होते है, येन—जिस (सावन) के द्वारा, जातानि—उत्पन्न (ये भूत), जीवन्ति—जीवित रहते है, यत्—जिसको (मे), प्रयन्ति—लौट जाते हैं या लौटते हुए, अभिसविशन्ति—सो जाते है, लीन हो जाते है, तद्—उसको, विजिज्ञासस्व—जानने की इच्छा (प्रयत्न) कर, तद्—वह ही, ब्रह्म—ब्रह्म है, इति—यह (वचन वरुण ने कहा), स —उस (भृगु) ने, तप —तप, अतप्यत—तपा, किया, स—वह, तप —तप, तप्त्वा—(तप) करके ॥ ञ ॥

भृगु-वल्ली का द्वितीय अनुवाक

यह जाना कि 'अन्न' ब्रह्म है। अन्न से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने के बाद अन्न से जीवित रहते हैं, अन्न में ही, अर्थात्



भृगु अपने पिता वरुण से ब्रह्म का उपदेश ले रहे हैं

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तं होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

पच भूतो में ही विलीन हो जाते है। यह ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर वह अपने पिता के पास फिर गया। 'अन्नमय-कोश' को ब्रह्म मान कर, उससे जो प्राप्त करना था, वह भृगु ने प्राप्त कर लिया, और पिता से कहा, भगवन्! 'अन्नमय-कोश' के मार्ग को मैंने तय कर लिया, अब इससे आगे का उपदेश दीजिये, ब्रह्म-ज्ञान दीजिये। वरुण ने कहा, 'तप' करो, और तप से ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को जानो। तप ही ब्रह्म है, तप से ही उसका ज्ञान होता है। उसने फिर तप किया, और तप करने के अनन्तर—

भृगु-वल्ली का तृतीय अनुवाक

उसने जाना कि 'प्राण' ब्रह्म है। प्राण से ही सब भूत उत्पन्न होते है, उत्पन्न होने के बाद प्राण से जीवित रहते है, प्राण में ही अन्त में विलीन हो जाते है। यह ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर वह अपने पिता के पास फिर गया। 'प्राणमय-कोश' को ब्रह्म मानकर, उससे जो प्राप्त करना था, वह भृगु ने प्राप्त कर लिया, और पिता

अन्नम्—अन्न को ही, ब्रह्म इति—ब्रह्म है ऐसे, व्यजानात्—जाना, अन्नात् हि एव—क्योंकि अन्न से ही, खलु—निश्चय ही, इमानि भूतानि जायन्ते—ये भूत उत्पन्न होते है, अन्नेन जातानि जीवन्ति—उत्पन्न ये भूत अन्न से ही जीवित रहते है, अन्नम् प्रयन्ति अभिसविशन्ति—अन्न को (मे) ही (अन्त मे) लौट जाते है और (उसमे) लीन हो जाते है, तद्—उसको (यह बात), विज्ञाय—जानकर, पुन एव वरुणम् पितरम् उपससार—फिर भी अपने पिता वरुण के पास पहुचा, अधीहि भगव ब्रह्म इति—हे भगवन्! ब्रह्म का उपदेश कीजिये, तम् ह उवाच—उसको (वरुण ने) कहा, तपसा—तप से, तप करके, ब्रह्म—ब्रह्म को, विजिज्ञासस्व—जानने की इच्छा (प्रयत्न) कर, तप ब्रह्म इति—तप ही ब्रह्म है या ब्रह्मप्राप्ति मे सब मे मुख्य है, स तप अतप्यत—उसने तप किया, स तप तप्त्वा—उसने तप करके॥

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राण प्रयन्त्यभिसविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुण पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तँ् होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

प्राण ब्रह्म इति व्यजानात्—'प्राण ही ब्रह्म है' यह जाना, प्राणात् हि एव—क्योंकि प्राण ही से, खलु इमानि भूतानि जायन्ते—निश्चय ही ये भूत उत्पन्न

से कहा, भगवन्! 'प्राणमय-कोश' के मार्ग को मैंने तय कर लिया, अब इससे आगे का उपदेश दीजिये, ब्रह्म-ज्ञान दीजिये। वरुण ने कहा, 'तप' करो, और तप से ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को जानो। तप ही ब्रह्म है, तप से ही उसका ज्ञान होता है। उसने फिर तप किया, और तप करने के अनन्तर—

भृगु-वल्ली का चतुर्थ अनुवाक

उसने जाना कि 'मन' ब्रह्म है। मन से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने के बाद मन से ही जीवित रहते हैं, मन में ही अन्त मे विलीन हो जाते हैं। यह ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर वह अपने पिता के पास फिर गया। 'मनोमय-कोश' को ब्रह्म मानकर, उससे जो प्राप्त करना था, वह भृगु ने प्राप्त कर लिया, और पिता से कहा, भगवन्! 'मनोमय-कोश' के मार्ग को मैंने तय कर लिया,

---

होते है, **प्राणेन**—प्राण (साधन) के द्वारा, **जातानि**—उत्पन्न हुए, **जीवन्ति**—जीवित रहते हैं, **प्राणान् प्रयन्ति अभिसविशन्ति**—प्राण को (मे) ही लौट जाते हैं और लीन हो जाते है, **इति**—इस प्रकार (जाना), **तद् विज्ञाय**—उस (प्राण) को (ही) ब्रह्म (बडा) जानकर, **पुन एव वरुणम् पितरम् उपससार**—फिर भी अपने पिता वरुण के पास पहुचा, **अधीहि भगव ब्रह्म**—हे भगवन् (आदरणीय) ब्रह्म का उपदेश कीजिये, **इति**—यह (कहा), **तम् ह उवाच**—उस (भृगु) को (वरुण ने) कहा, **तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व**—तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा (प्रयत्न) कर, **तप ब्रह्म इति**—तप ही ब्रह्म है, **स तप अतप्यत**—उसने तप किया, **स तप तप्त्वा**—उसने तप करके ॥

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मन प्रयन्त्यभिसविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुण पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। त ँ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

मन—मन ही, **ब्रह्म**—ब्रह्म (बडा, महान्) है, **इति**—यह, **व्यजानात्**—जाना, **मनस हि एव**—क्योंकि मन से ही, **खलु इमानि भूतानि जायन्ते**—ये भूत उत्पन्न होते है, **मनसा**—मन (साधन) के द्वारा, **जातानि**—उत्पन्न ये भूत, **जीवन्ति**—जीवित रहते है, **मन प्रयन्ति अभिसविशन्ति**—मन को (मे) ही लौट जाते है और लीन हो जाते है, **तद् विज्ञाय**—उसको (मन को ब्रह्म) जान कर, **पुन एव वरुणम् पितरम् उपससार**—फिर भी अपने पिता वरुण के पास

अब इससे आगे का उपदेश दीजिये, ब्रह्म-ज्ञान दीजिये। वरुण ने कहा, 'तप' करो, और तप से ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को जानो। तप ही ब्रह्म है, तप से ही उसका ज्ञान होता है। उसने फिर तप किया, और तप करने के अनन्तर—

भृगु-वल्ली का पंचम अनुवाक

उसने जाना कि 'विज्ञान' ब्रह्म है। 'विज्ञान' से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने के बाद 'विज्ञान' से ही जीवित रहते हैं, विज्ञान में ही अन्त में विलीन हो जाते हैं। यह ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर वह अपने पिता के पास फिर गया। 'विज्ञानमय-कोश' को ब्रह्म मानकर, उसमें जो प्राप्त करना था, वह भृगु ने प्राप्त कर लिया, और पिता से कहा, भगवन्! 'विज्ञानमय-कोश' के मार्ग को मैंने तय कर लिया, अब इससे आगे का उपदेश दीजिये, ब्रह्म-ज्ञान दीजिये। वरुण ने कहा, 'तप' करो, और तप से ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को जानो। फिर उसने तप किया, और तप करने के अनन्तर—

आया, अधीहि भगव ब्रह्म—हे भगवन् ब्रह्म का उपदेश कीजिये, इति—यह (कहा), तम् ह उवाच—उस (भृगु) को (वरुण ने) कहा, तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व—तप द्वारा ब्रह्म को जानने की इच्छा (प्रयत्न) कर, तप ब्रह्म इति—तप (से प्राप्य) ही यह ब्रह्म है, स तप अतप्यत—उसने तप किया, स तप तप्त्वा—उसने तप करके॥

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तँ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

विज्ञानम्—विज्ञान (बुद्धि) ही, ब्रह्म—ब्रह्म है, इति—इस प्रकार, व्यजानात्—जाना, विज्ञानाद् हि एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते—क्योंकि विज्ञान से ही निश्चय ही ये भूत उत्पन्न होते हैं, विज्ञानेन जातानि जीवन्ति—विज्ञान (साधन) के द्वारा ही उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं, विज्ञानम् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति—विज्ञान को ही लौट जाते हैं और उसमें लीन हो जाते हैं, तद्—विज्ञान रूप ब्रह्म को, विज्ञाय—जान कर, पुन एव वरुणम् पितरम् उपससार—फिर भी अपने पिता वरुण के पास पहुंचा, अधीहि भगव ब्रह्म—हे भगवन्! ब्रह्म का उपदेश कीजिये, इति—यह (कहा), तम् ह उवाच—उस (भृगु) को

भृगु-वल्ली का षष्ठ अनुवाक

उसने जाना कि 'आनन्द' ब्रह्म है। 'आनन्द' से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने के बाद आनन्द से ही जीवित रहते हैं, आनन्द में ही अन्त में विलीन हो जाते हैं।

भृगु तथा वरुण की यह विद्या है, जो हृदयाकाश में प्रतिष्ठित है। जो इस क्रम से इस विद्या को जानता है, वह भी प्रतिष्ठित हो जाता है, अन्नवान् हो जाता है, अन्न का 'भोक्ता' हो जाता है, प्रजा, पशु तथा ब्रह्म-तेज से महान् हो जाता है, उसकी कीर्ति विशाल हो जाती है।

वरुण ने कहा, **तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व**—तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा (प्रयत्न) करो, **तप ब्रह्म**—तप (में प्राप्य) ही ब्रह्म है, **इति**—यह (कहा), **स तप अतप्यत**—उसने तप किया, **स तप तप्त्वा**—उसने तप करके ॥

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्द प्रयन्त्यभिसविशन्तीति। सैषा भार्गवी वारुणी विद्या। परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। स य एव वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।

आनन्द—आनन्द ही, **ब्रह्म**—ब्रह्म है, **इति**—ऐसे, यह, **व्यजानात्**—जाना, **आनन्दाद् हि एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते**—क्योंकि आनन्द से ही निश्चय से ये भूत उत्पन्न होते हैं, **आनन्देन जातानि जीवन्ति**—आनन्द (साधन) के द्वारा ही उत्पन्न भूत जीवित रहते हैं, **आनन्दम् प्रयन्ति अभिसविशन्ति**—(फिर अन्त में) आनन्द को (में) ही लौट जाते हैं और लीन हो जाते हैं, **सा**—वह, **एषा**—यह (उपर्युक्त), **भार्गवी**—भृगु को प्राप्त, **वारुणी**—वरुण द्वारा उपदिष्ट, **विद्या**—(ब्रह्म) विद्या है, **परमे व्योमन्**—परम विशिष्ट ओम् (ब्रह्म) में या हृदयाकाश में, **प्रतिष्ठिता**—स्थित है (इसका विषय—उद्देश्य—ब्रह्म है और इसका आधार बुद्धि या हृदय है), **य॰ एवम् वेद**—जो इस प्रकार (इस ब्रह्म को) जानता है (वह भी), **प्रतितिष्ठति**—(ब्रह्म में) स्थिर हो जाता है या प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है, **अन्नवान्**—अन्न का स्वामी, **अन्नाद**—अन्न को भोगने वाला (भोक्ता), **भवति**—होता है, **महान्**—बड़ा, प्रतिष्ठित, महिमा वाला, **भवति**—होता है, **प्रजया**—पुत्र-पौत्र सन्तति (वंश-परम्परा) से, **पशुभि**—(गौ आदि) पशुओं से, **ब्रह्मवर्चसेन**—ब्रह्म-तेज से, **महान् कीर्त्या**—यश द्वारा भी महान् हो जाता है ॥

(भृगु की इस सम्पूर्ण कथा मे यह दर्शाया गया है कि वह अन्न, प्राण, मनस्, विज्ञान आदि तत्त्वो को क्रमश 'ब्रह्म' मानता गया, और गुरु ने हर बार उसे आगे-आगे चलने को कहा। जब मनुष्य 'अन्नमय' शरीर के क्षेत्र मे रहता है, तब 'अन्न' को ही ब्रह्म समझे रहता है, क्योकि उस समय वह 'अन्नमय-कोश' से ही सोच-समझ सकता है। जब मनुष्य 'प्राणमय-कोश' के द्वारा सोचने लगता है, तब उसे सर्वत्र प्राण-ही-प्राण व्याप्त दीखता है, और वह 'प्राण' को ही 'ब्रह्म' समझने लगता है। इसी प्रकार आगे-आगे चलते-चलते उसे ज्ञान होने लगता है कि न पचभूत ही ब्रह्म है, न प्राण ब्रह्म है, न मनस्-तत्त्व ब्रह्म है, न विज्ञान-तत्त्व ब्रह्म है। आत्मा के ब्रह्म-ज्ञान के विकास मे यही प्रक्रिया है।)

भृगु-वल्ली का सप्तम अनुवाक

अन्न की निंदा न करे—इसका व्रत कर ले। हर-एक 'भोग्य' अन्न है, 'भोक्ता' अन्नाद है। 'प्राण' को अन्न कहा जा सकता है, 'शरीर' को अन्नाद कहा जा सकता है। 'भोक्ता' और 'भोग्य' एक दूसरे के सहारे टिके रहते हैं—प्राण के सहारे शरीर, और शरीर के सहारे प्राण टिका हुआ है। परन्तु ऊची दृष्टि से विचार करने से 'भोक्ता' भी भोग्य ही है, शरीर प्राण का भोग करता है, परन्तु शरीर भी तो भोगा ही जाता है, भोग्य ही है। इस प्रकार एक 'अन्न' दूसरे 'अन्न' में प्रतिष्ठित है। ससार के सभी पदार्थ भोग्य है, जो भोक्ता मालूम पडता है वह भी भोग्य ही है, अस्ली भोक्ता तो वही 'ब्रह्म' है। इस प्रकार जो अन्न में अन्न को प्रतिष्ठित जान लेता है, वह 'अन्न-वान्' हो जाता है, 'अन्नाद' हो जाता है, 'भोक्ता' बन जाता है, प्रजा, पशु, ब्रह्म-तेज तथा कीर्ति से महान् हो जाता है।

अन्न न निन्द्यात्। तद् व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीर प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राण प्रतिष्ठित। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठित वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।

अन्नम्—अन्न की, न—नही, निन्द्यात्—निन्दा करे, तद्—वह (यह उपदेश), व्रतम्—सकल्पपूर्वक धारण करने योग्य आचरण है, प्राण वै—प्राण

भृगु-वल्ली का अष्टम अनुवाक

अन्न का अनादर न करे—इसका व्रत कर ले। 'जल' अन्न है, 'अग्नि' अन्नाद है; 'जल' में 'अग्नि' प्रतिष्ठित है, 'अग्नि' में 'जल' प्रतिष्ठित है। अग्नि-रूप सूर्य जल को खींच लेता है, उसे भोग लेता है, इसलिये अग्नि भोक्ता है, जल भोग्य है, अग्नि अन्नाद, अर्थात् भोक्ता है, जल अन्न, अर्थात् भोग्य है। जल के भीतर भी विद्युत् छिपी रहती है, इसलिये जल भोक्ता है, अग्नि भोग्य है, जल अन्नाद, अर्थात् भोक्ता है, अग्नि अन्न, अर्थात् भोग्य है। परन्तु ऊंची दृष्टि से विचार करने से 'भोक्ता' भी भोग्य ही है, जल अग्नि को और अग्नि जल को भोगती है, परन्तु ये दोनों भी तो भोगे ही जाते हैं। इस प्रकार एक 'अन्न' दूसरे 'अन्न' में प्रतिष्ठित है। संसार के सभी पदार्थ 'भोग्य' हैं, जो 'भोक्ता' मालूम पड़ता है, वह भी 'भोग्य' ही है, 'अन्न' ही है, असली 'भोक्ता'—'अन्नाद'—तो वही 'ब्रह्म है'। इस प्रकार जो 'अन्न' में 'अन्न' को प्रतिष्ठित जान लेता है, वह 'अन्नवान्' हो जाता है, 'अन्नाद' हो जाता है, 'भोक्ता' बन जाता है, प्रजा, पशु, ब्रह्म-तेज और कीर्ति से महान् हो जाता है।

ही, अन्नम्—अन्न है, शरीरम्—शरीर, काया, अन्नादम्—अन्न (प्राण) को खाने वाला (भोक्ता) है, प्राणे—प्राण मे (पर), शरीरम्—शरीर, प्रतिष्ठितम्—स्थित है, (और) शरीरे—शरीर मे (पर), प्राण—प्राण, प्रतिष्ठित—स्थित है, तद् एतत् अन्नम्—जो यह अन्न, अन्ने—अन्न मे (पर) ही, प्रतिष्ठितम्—आश्रित है, स य—वह जो, एतद् अन्नम्—इस अन्न को, अन्ने प्रतिष्ठितम्—अन्न पर स्थित (आश्रित), वेद—जानता है, प्रतितिष्ठति—(स्वयं) स्थिर हो जाता है, प्रतिष्ठा पाता है, अन्नवान् अन्नाद भवति—अन्न का स्वामी और अन्न का भोक्ता होता है, महान् भवति प्रजया पशुभि ब्रह्मवर्चसेन—प्रजा, पशु और ब्रह्म-तेज से महिमा वाला होता है, महान् कीर्त्या—और यश से भी महान् (यशस्वी होता है)॥

अन्नं न परिचक्षीत। तद् व्रतम्। आपो वा अन्नम्। ज्योतिरन्नादम्। अप्सु ज्योति प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्याप प्रतिष्ठिता। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या।

अन्नम्—अन्न को, न—नहीं, परिचक्षीत—(मिलने अन्न को) इनकार

भृगु-वल्ली का नवम अनुवाक

अन्न को बहुत बढावे—यह व्रत कर ले। पृथिवी अन्न, अर्थात् भोग्य है, आकाश अन्नाद, अर्थात् भोक्ता है। पृथिवी आकाश के सहारे, और आकाश पृथिवी के सहारे टिके हुए हैं, परन्तु असल में दोनो अन्न हैं, भोग्य हैं। अन्न अन्न में टिका हुआ है, भोग्य भोग्य में टिका हुआ है, असली भोक्ता तो वही ब्रह्म है। इस प्रकार संसार के सब पदार्थों को जो अन्न-रूप में, 'भोग्य'-रूप में जान लेता है, और समझ जाता है कि जो भोक्ता मालूम पड़ता है, वह भी भोग्य ही है, असली भोक्ता तो वही 'ब्रह्म' है, वह 'अन्नवान्' हो जाता है, 'अन्नाद' हो जाता है, 'भोक्ता' बन जाता है, प्रजा, पशु, ब्रह्म-तेज और कीर्ति से महान् हो जाता है।

न करे, तद् व्रतम्—यह अनुष्ठेय सङ्कल्प होना चाहिये, आप वै—जल ही, अन्नम्—अन्न है, ज्योति—तेज, अन्नादम्—अन्न (जल) का भोक्ता है, अप्सु—जलों में, ज्योति—तेज, प्रतिष्ठितम्—स्थित है, ज्योतिषि—तेज में, आप—जल, प्रतिष्ठिता—स्थित (आश्रित-आवृत) हैं, तद् एतद्—जो यह, अन्नम्—अन्न, अन्ने—अन्न में, प्रतिष्ठितम्—स्थित है, स य—वह जो, एतत्—इस, अन्नम् अन्ने प्रतिष्ठितम् वेद प्रतितिष्ठति—अन्न में अन्न को स्थित (आश्रित हुआ) जानता है स्वयं स्थिर होकर प्रतिष्ठा पाता है, अन्नवान् अन्नाद भवति—अन्न का अधिपति और अन्न का भोक्ता होता है, महान् भवति प्रजया पशुभि ब्रह्मवर्चसेन—प्रजा, पशु और ब्रह्मतेज से महान् होता है, महान् कीर्त्या—महा यशस्वी होता है॥

अन्नं बहु कुर्वीत। तद् व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्। आकाशोऽन्नाद। पृथिव्यामाकाश प्रतिष्ठित। आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या।

अन्नम्—अन्न को, बहु—बहुत, कुर्वीत—करे, (बहु कुर्वीत—बहुत बढावे, पर्याप्त सञ्चय करे), तद् व्रतम्—वह (मनुष्य का) व्रत (कर्तव्य कर्म) है, पृथिवी वै अन्नम्—पृथिवी ही अन्न है, आकाश अन्नाद—आकाश अन्न का भोक्ता है, पृथिव्याम् आकाश प्रतिष्ठित—पृथिवी में आकाश विद्यमान (स्थित) है, आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता—आकाश में पृथिवी स्थित है, तद् एतद्—जो यह, इस प्रकार, अन्नम् अन्ने प्रतिष्ठितम्—अन्न ही अन्न में स्थित है,

भृगु-वल्ली का दशम अनुवाक

वसने के लिए आये किसी अतिथि को मना न करे—यह व्रत कर ले। इसलिये जिस-किस विधि से पुष्कल अन्न प्राप्त करे। जो भोजन तय्यार किया जाता है, अतिथि के लिये ही किया जाता है—ऐसा कहा है। तय्यार किये हुए भोजन का जो 'मुख' का, ऊपर का, भोजन है, वह इसी के लिये पकाया गया है, पात्र का 'मध्य' का भोजन भी इसी के लिए पकाया गया है, पात्र का 'अन्त' का, नीचे का जो अन्न है वह भी अतिथि के लिए ही पकाया गया है ॥१॥

स य एतद्—वह जो इस, **अन्नम् अन्ने प्रतिष्ठितम् वेद**—अन्न को अन्न मे स्थित हुआ जानता है, **प्रतितिष्ठति**—स्वय स्थित होकर प्रतिष्ठा पाता है, **अन्नवान् अन्नाद भवति**—अन्न का स्वामी और अन्न का भोक्ता हो जाता है, **महान् भवति प्रजया पशुभि ब्रह्मवर्चसेन**—प्रजा, पशु और ब्रह्म तेज से महान् होता है, **महान् कीर्त्या**—महा यशस्वी होता है ॥

न कचन वसतौ प्रत्याचक्षीत। तद् व्रतम्। तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्न प्राप्नुयात्। अराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते। एतद्वै मुखतोऽन्नँ राद्धम्। मुखतोऽस्मा अन्नँ राध्यते। एतद्वै मध्यतोऽन्नँ राद्धम्। मध्यतोऽस्मा अन्नँ राध्यते। एतद्वा अन्ततोऽन्नँ राद्धम्। अन्ततोऽस्मा अन्नँ राध्यते ॥१॥

न—नही, **कचन**—किसी को, **वसतौ**—निवास देने के विषय मे, बस्ती मे, **प्रत्याचक्षीत**—मना करे (अभ्यागत के निवास के विषय मे या बस्ती के आदमी को अन्न देने मे किसी को मना न करे), **तद् व्रतम्**—वह व्रत (मनुष्य का अवश्य कर्तव्य कर्म) है, **तस्माद्**—अत एव, **यया कया च**—जिस किसी भी, **विधया**—तरीके से, **बहु**—बहुत, **अन्नम्**—अन्न को, **प्राप्नुयात्**—प्राप्त करे, **अराधि**—सिद्ध किया या पकाया, बढा, **अस्मै**—इसके लिये, **अन्नम्**—अन्न, **इति**—यह, **आचक्षते**—कहते है, **एतद् वै**—यह ही, **मुखत**—मुख से, **अन्नम्**—अन्न, **राद्धम्**—सिद्ध किया, बढाया, **मुखत**—मुख से, **अस्मै**—इसके लिए, **अन्नम्**—अन्न, **राध्यते**—पकाया जाता है, बढाया जाता है, **एतद् वै**—यह, **मध्यत**—मध्य भाग मे, **अन्नम्**—अन्न, **राद्धम्**—सिद्ध किया, **मध्यत**—बीच मे, **अस्मै अन्नम् राध्यते**—इसके लिये अन्न सिद्ध किया जाता है, **एतद् वै**—यह, **अन्तत**—अन्त से, **अन्नम्**—अन्न, **राद्धम्**—पकाया, बढाया, **अन्तत**—अन्त से, **अस्मै**—इसके लिए, **अन्नम् राध्यते**—अन्न सिद्ध किया जाता है ॥१॥

जो यह जानकर अतिथि की सेवा करता है उसकी वाणी में क्षेम होता है, प्राणापान में योग-क्षेम होता है, हाथो में कर्म-शक्ति रहती है, पावो में गति रहती है, पायु में विमुक्ति रहती है। मनुष्यो के लिये शास्त्र की यही आज्ञा है कि स्वार्थ का जीवन न व्यतीत करें, परार्थ का जीवन व्यतीत करें। जो परार्थ-भावना से जीवन विताता है, वह जीवन-पर्यन्त क्रिया-शील रहता है, उसके सब अग अन्त तक ठीक-ठीक काम करते है ॥२॥

ऐसे व्यक्ति को कई दिव्य-गुण भी प्राप्त होते है। उसके लिये वृष्टि तृप्ति-कारक होती है, विद्युत् वल देने वाली होती है, पशु यश वढाने वाले होते है, नक्षत्र ज्योतिष्मान् होते है, विषय पुत्र-पौत्र तथा अमृत आनन्द देने वाले होते है—उसे इस आकाश में सब प्राप्त हो जाता है ॥३॥

य एव वेद। क्षेम इति वाचि। योगक्षेम इति प्राणापानयो। कर्मेति हस्तयो। गतिरिति पादयो। विमुक्तिरिति पायौ। इति मानुषी समाज्ञा ॥२॥

य एवम् वेद—जो इस प्रकार जानता है, क्षेम—प्राप्त की सरक्षा, इति—यह, वाचि—वाणी मे, योगक्षेम—योग (अप्राप्त की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त की सरक्षा), इति—यह, प्राणापानयो—प्राण और अपान में, कर्म—कर्म, इति—यह, हस्तयो—हाथो मे, गति—चलना-फिरना, इति—यह, पादयो—पावो में, विमुक्ति—विसर्ग, वाहर करना, निकालना, इति—यह, पायौ—गुदा (शौचेन्द्रिय) मे, इति—ये, मानुषी—मनुष्य सबन्धी, मनुष्यो के लिये, समाज्ञा—शास्त्र की आज्ञाए या निर्देश हैं ॥२॥

अथ दैवी। तृप्तिरिति वृष्टौ। वलमिति विद्युति। यश इति पशुषु। ज्योतिरिति नक्षत्रेषु। प्रजापतिरमृतमानन्द इत्युपस्थे। सर्वमित्याकाशे ॥३॥

अथ—अव, ये, और, दैवी—देव सम्वन्धी, तृप्ति—तृप्त होना, छकना, इति—यह, वृष्टौ—वर्षा मे, वलम्—वल, शक्ति, इति—यह, विद्युति—विजली मे, यश—कीर्ति, इति—यह, पशुषु—पशुओ मे, ज्योति—ज्योति, प्रकाश, इति—यह, नक्षत्रेषु—नक्षत्र-ताराओ मे, प्रजापति—प्रजा (तन्तु) का रक्षक, अमृतम्—(परम्परा से) अमर, आनन्द—आनन्द—रति, इति—यह, उपस्थे—उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) मे, सर्वम्—सव कुछ, आकाशे—आकाश मे ॥३॥

जो यह समझ कर ब्रह्म की उपासना करता है कि सब जगह वही प्रतिष्ठित है, वह प्रतिष्ठावान् हो जाता है, ब्रह्म के 'मह'-रूप की उपासना से महान् हो जाता है, 'मन'-रूप की उपासना से मानवान् हो जाता है, 'नम'-रूप की उपासना से सब कामनाए उसके सम्मुख नमने लगती हैं, 'ब्रह्म'-रूप की उपासना से ब्रह्मवान् हो जाता है, ब्रह्म के 'परिमर'-रूप की उपासना से उसके चारो तरफ के सब शत्रु मर जाते हैं ॥४॥

पुरुष मे जो है, और आदित्य में जो है—वह एक है। जो यह जानता है वह मरकर, 'अन्नमय'-'प्राणमय'-'मनोमय'-'विज्ञानमय'-

---

तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत। प्रतिष्ठावान् भवति। तन्मह इत्युपासीत।
महान् भवति। तन्मन इत्युपासीत। मानवान् भवति। तन्नम
इत्युपासीत। नम्यन्तेऽस्मै कामा। तद्ब्रह्मेत्युपासीत।
ब्रह्मवान् भवति। तद्ब्रह्मण परिमर इत्युपासीत।
पर्येण म्रियन्ते द्विषन्त सपत्ना। परि येऽप्रिया भ्रातृव्या ॥४॥

तत्—जो, उसको, **प्रतिष्ठा**—सर्वाधार, **इति**—इस रूप मे, **उपासीत**—उपासना करे, ध्याये, **प्रतिष्ठावान्**—प्रतिष्ठित, समादृत, **भवति**—होता है, **तत्**—उसको, **मह**—महिमाशाली, बडा, **इति**—इस रूप मे, **उपासीत**—उपासना करे, **महान्**—बडा, **भवति**—हो जाता है, **तत्**—उसको, **मन**—मनन, मान, **इति**—इस रूप मे, **उपासीत**—ध्याये, **मानवान्**—सम्मानित, मननशील, **भवति**—हो जाता है, **तत्**—उसको, **नम**—नमनशील, नम्र, **इति**—इस रूप मे, **उपासीत**—उपासना करे, **नम्यन्ते**—(इसकी) ओर झुकते है, उन्मुख होते हैं, **अस्मै**—इसके लिए, **कामा**—कामनाए, **तद्**—उसको, **ब्रह्म**—बडा, ज्ञान, **इति**—इस रूप मे, **उपासीत**—ध्याये, **ब्रह्मवान्**—बृहत्, वेदज्ञ, **भवति**—होता है, **तद्**—उसको, **ब्रह्मण**—ब्रह्म का, **परिमर**—चारो ओर से मारने वाला, सर्वसहारक, सहर्ता, **इति**—इस रूप मे, **उपासीत**—उपासना करे (सर्वत्र समझे), **परि**—चारो ओर घेरे, **एनम्**—इस (उपासक) को, **म्रियन्ते**—मर जाते हैं, **द्विषन्त**—द्वेष करने वाले, **सपत्ना**—शत्रु, **परि**—चारो ओर से (मर जाते हैं), **ये**—जो, **अप्रिया**—प्रेम से शून्य, **भ्रातृव्या**—भाई-बन्धु ॥४॥

स यश्चाय पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एक। स य एववित्।
अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसक्रम्य। एत प्राणमय-
मात्मानमुपसक्रम्य। एत मनोमयमात्मानमुपसक्रम्य। एत

'आनन्दमय' कोशों को लांघकर, कामना के लोकों में निष्कामरूपी होकर विचरने लगता है, और प्रसन्नता से साम-गान करने लगता है, और कहने लगता है—॥५॥

अ हो ! अ हो ! अ हो ! मैं अब तक अन्न था, अन्न था, अन्न था—भोग्य बना हुआ था, भोग्य बना हुआ था, भोग्य बना हुआ था। मैं अब अपने यथार्थ-स्वरूप को समझ गया। मैं अन्नाद हूं, अन्नाद हूं, अन्नाद हूं—भोक्ता हूं, भोक्ता हूं, भोक्ता हूं। मैं अपनी

विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य ।
इमाँल्लोकान्कामान्नीकामरूप्यनुसंचरन् । एतत्साम गायन्नास्ते ॥५॥

स य च—और वह जो, अयम्—यह, पुरुषे—पुरुष में (जीवात्मा में), य च—और जो, असौ—यह, आदित्ये—सूर्य में या अदिति (प्रकृति) में उत्पन्न कार्य-जगत् में, स एक—वह एक ही है (भिन्न-भिन्न नहीं—वह जड़-चेतन दोनों में रमा हुआ है), स—वह, य—जो, एवं-वित्—इस प्रकार जानने वाला, अस्मात् लोकात्—इस लोक में, प्रेत्य—मर कर, मरने के बाद, एतम्—इस, अन्नमयम् आत्मानम्—अन्नमय आत्मा (स्वरूप) को, उपसंक्रम्य—लांघ कर, पार कर, छोड़ कर, एतम् प्राणमयम् आत्मानम् उपसंक्रम्य—इस प्राणमय आत्मा को लांघकर, एतम् मनोमयम्—इस मनोमय, आत्मानम् उपसंक्रम्य—आत्मा को छोड़कर, एतम् विज्ञानमयम् आत्मानम् उपसंक्रम्य—इस विज्ञानमय (बुद्धि-प्रधान) स्वरूप को छोड़कर, एतम् आनन्दमयम् आत्मानम् उपसंक्रम्य—इस आनन्दमय आत्मा को छोड़ कर, इमान्—इन, लोकान्—लोकों को (में), कामान्—काम-भोगों को, नीकाम-रूपी—निष्कामरूपी, कामना-रहित, अनुसंचरन्—विचरण करता हुआ, एतत्—इस, साम—साम-मन्त्र को, शान्तिप्रद भक्ति प्रधान मन्त्र को, गायन्—गाता हुआ, जपता हुआ, आस्ते—ठहरता है, बैठता है, स्थिर-चित्त हो जाता है ॥५॥

हा३वु हा३वु हा३वु । अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादो३ हमन्नादो-३हमन्नाद । अहँ श्लोककृदहँ श्लोककृदहँ श्लोककृत् । अहमस्मि प्रथमजा ऋता३स्य । पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना३भायि । यो मा ददाति स इदेव मा३वा । अहमन्नमन्नमदन्तमा३द्मि । अहं विश्वं भुवनमभ्य-भवा३म् । सुवर्णज्योती । य एवं वेद । इत्युपनिषत् ॥६॥

हा३वु, हा३वु, हा३वु—ओहो, ओहो, ओहो, अहम्—मैं, अन्नम्—अन्न (भोग्य) हूं, अहम् अन्नम्, अहम्, अन्नम्—मैं अन्न हूं, मैं अन्न हूं, अहम्—मैं,

कीर्ति को स्वयं बनाने वाला हू, कीर्ति को स्वय बनाने वाला हू, स्वय बनाने वाला हू। मै ऋत-स्वरूप ब्रह्म की सबसे प्रथम उत्पन्न हुई विभूति हू। मै इन्द्रियो से पूर्व हूं, अमृत की नाभि हू, अमृत-स्वरूप हू। जो मुझे देता चला आया है, वही मेरी रक्षा करेगा। मै अब तक अपने को 'अन्न'-'अन्न' ही माने रहा, 'भोग्य' ही बना रहा, परन्तु अब मै इतना अपने स्वरूप में आ गया हू कि भोक्ता को भी खा जाऊ, भोक्ता का भी भोक्ता बन जाऊ! मै ससार के विषयो में पडा हुआ इनमें इतना उलझ गया कि इनका भोग करते-करते इनसे ही भोगा जाने लगा, अब मै निष्काम होकर कामना के लोको में विचरता हू। मै अब भोक्ता बनकर विश्व-भुवन को इस प्रकार अभिभूत कर रहा हू जैसे सूर्य अपनी ज्योति से नक्षत्रो को अभिभूत कर देता है। जो यह सब जानता है वह उपनिषद् के रहस्य को जानता है ॥६॥

(मूल तैत्तिरीयोपनिषत् मे जो निर्णय-सागर प्रेस मे छपी है अनुवाको मे दस-दस वाक्यो के पीछे अक दिये गये है, इस बात का विचार नही रखा गया कि वाक्य पूरा हुआ है, या नही। हम ने उस प्रकार अक नही दिये, एक विचार के समाप्त होने पर दिये है। मूल मे प्रत्येक अनुवाक के अन्त मे उपनिषत्कार ने यह भी दिया है कि इस अनुवाक मे कौन-कौन से मुख्य-मुख्य शब्द आये

अन्नाद'—अन्न का खाने वाला (भोक्ता) हू, अहम् अन्नाद अहम् अन्नाद —मैं अन्न-भोक्ता हू, मैं अन्न-भोक्ता हू, अहम्—मैं स्वयम्, श्लोककृत्—श्लोक (कीर्ति-यश) का रचयिता हू, अहम् श्लोककृत्—मैं ही अपनी कीर्ति का निर्माता हू, अहम्—मैं, अस्मि—हू, प्रथमजा—प्रथम उत्पन्न, ऋतस्य—परमेश्वर की सृष्टि का, पूर्वम्—पहले, देवेभ्य—देवो से, इन्द्रियो से, अमृतस्य—अमर पद का, मोक्ष का, नाभि—आधार, मध्यम विन्दु, य—जो, मा—मुझ को, ददाति—(जीवन) देता है, स—वह, इद् एव—ही, मा—मुझ को (मेरी), अवा—रक्षा करने वाला है, अहम् अन्नम्—मै अन्न, अन्नम् अदन्तम्—अन्न के भोक्ता को, आ अद्मि—खा जाता हू, अहम्—मैंने, विश्वम्—सम्पूर्ण, भुवनम्—लोक-लोकान्तरो को, अभ्यभवाम्—अभिभूत किया हुआ है, सुव—सूर्य ने, न—तरह, ज्योती—नक्षत्रो को, य—जो, एवविद्—इस प्रकार जानने वाला है, इति—यह ही, उपनिषद्—रहस्य-विज्ञान है ॥६॥

है, कितने वाक्य आये हैं। यह इसलिये किया गया है जिससे उपनिषद् के वाक्यों की रक्षा हो सके। ये हमने नहीं दिये। कुछ शब्द इस मूल-उपनिषद् मे ऐसे आये है जो भाषा के विकास पर प्रकाश डालते है। जैसे, 'शिक्षा' के स्थान मे 'शीक्षा', 'तत्' के स्थान मे 'त्यत्', 'निष्काम' के स्थान मे 'नीकाम'।

तैत्तिरीय-उपनिषद् की ब्रह्मानन्द-वल्ली का मुख्य विषय ब्रह्म का ज्ञान कराना है। ब्रह्म-ज्ञान मे अन्नमय-कोश आदि पाचो कोश ज्ञान के क्रमिक साधन हैं। मनुष्य पहले-पहल अन्न को, भौतिक पदार्थों को ही सब कुछ मानता है, धीरे-धीरे उसकी आस्था इन सब से उठ जाती है, और वह स्थूल से सूक्ष्म--अन्न से प्राण, मन, विज्ञान, आनन्द की तरफ जाने लगता है। शिक्षा का यही ध्येय है, यही लक्ष्य है--यह इस उपनिषद् का सार है।)

ऐतरेय-उपनिषद्

प्रथम अध्याय—(प्रथम खड)

जब इस सृष्टि की रचना नही हुई थी, तब पहले-पहल इकला 'आत्मा' ही था। दूसरी कोई चीज झपकती तक न थी। 'आत्मा' ने 'ईक्षण' किया, सब-कुछ बारीकी से विचार-ही-विचार में देख लिया कि 'लोको' का, अर्थात् नाना-रूप सृष्टि का, किस-किस रूप म सर्जन करू ॥१॥

'ईक्षण' करने के बाद उसने इन लोकों का सर्जन कर दिया। उसने चार लोको को रचा—'अम्भस्', 'मरीची', 'मर' और 'आपस्'। द्यु-लोक से परे और द्यु-लोक तक जो लोक है, वह 'अम्भस्'-लोक है, उसके नीचे अन्तरिक्ष में जो सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि प्रकाश-युक्त लोक है, वह 'मरीची'-लोक है, यह पृथिवी जिसमें प्राणी उत्पन्न होते और मरते है, यह मर्त्य-लोक 'मर'-लोक है, पृथिवी के भी जो नीचे है, वह 'आपस्'-लोक है ॥२॥

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन
मिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ॥१॥

आत्मा वै—आत्मा (नियन्ता, कर्ता परमात्मा) ही, इदम्—यह, एक एव—इकला ही, केवल, अग्रे—(सृष्टि-रचना से) पहिले, आसीत्—था, न—नही, अन्यत्—अन्य, दूसरा, किंचन—कुछ भी, मिषत्—आख की गति करता हुआ (जीवनधारी), स—उस (परमात्मा) ने, ईक्षत—देखा, मन मे विचारा, लोकान्—लोको (प्राणि-शरीर और पृथिवी आदि) को, नु—अवश्य ही, सृजै—बनाऊ, रचू, इति—यह विचारा ॥१॥

स इमाल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भ परेण दिव
द्यौ प्रतिष्ठाऽन्तरिक्ष मरीचय। पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आप ॥२॥

स—उसने, इमान्—इन, लोकान्—(चार) लोको को, असृजत—रचा, अम्भ—अम्भस् (लोक), मरीची—मरीचि (लोक), मरम्—मर (लोक), आप—अप् (लोक), अद—यह (आगे निर्दिष्ट), अम्भ—अम्भस् (लोक) है, परेण—परे, आगे, दिवम्—द्यु-लोक के, द्यौ—द्युलोक, प्रतिष्ठा—(इस अम्भस् लोक का) आरम्भ सीमा है, (परेण दिवम् द्यौः प्रतिष्ठा—

उसने फिर 'ईक्षण' किया, यह सोचा कि ये तो 'लोक' रचे गये। इन लोको की रक्षा कैसे होगी ? इसलिये 'लोकपालो' की रचना भी कर डालू, उसने 'जल' में से 'पुरुष' को निकाला। 'जल' का अर्थ पानी नही, अपितु पच-महाभूतो के सूक्ष्म-रूप को, जिसके कारण रचना सभव हो सकती है, 'जल' कहा गया है। 'जल' से 'पुरुष' निकाला गया—इस वाक्य मे 'पुरुष' का अभिप्राय विराट्-पुरुष से है, उस पुरुष से जिसे जगह-जगह 'हिरण्य-गर्भ' कहा गया है। 'जल' से 'पुरुष' को, 'जल' अर्थात् प्राकृतिक-सूक्ष्म-तत्त्वो से विराट्-पुरुष को—हिरण्यगर्भ को—रचने के बाद उसे मूर्च्छित किया गया। जैसे कच्चे लोहे को तपा कर उसे पानी मे मूर्च्छित (tempered) किया जाता है ताकि वह दृढ हो जाय, पक्का हो जाय, इसी प्रकार 'विराट्-पुरुष' भी तो प्रारम्भ मे कच्ची हालत मे था, उसे मूर्च्छित करने की, उसके परिपाक की आवश्यकता थी ॥३॥

ब्रह्म ने विराट्-पुरुष को तपाया। अभी तक विराट्-पुरुष एक अगढ रूप में था, पुरुषाकार तो था परन्तु उसके मुख, नाक, आख,

---

द्युलोक और उससे परे तक का नाम अम्भस् लोक है), **अन्तरिक्षम्**—(ज्योतिष्मान् सूर्य-चन्द्र-तारा का आधार) अन्तरिक्ष, **मरीचय**—मरीचि-लोक है, **पृथिवी**—पृथिवी (लोक का नाम ही), **मर**—मर (मर्त्य) है, **या**—जो, **अधस्तात्**—(इस पृथिवी से) नीचे है (वह), **आप**—अप्-लोक है ॥२॥

स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति।
सोऽद्भ्य एव पुरुष समुद्धृत्यामूर्च्छयत् ॥३॥

स—उस (परमात्मा) ने, **ईक्षत**—(फिर) सोचा, **इमे नु**—ये तो, **लोका**—लोक (बना दिये, बन गये), **लोकपालान् नु**—(इन) लोको के रक्षकों (अधिष्ठाता, देवताओ) को भी, **सृजै**—रचू, बनाऊ, **इति**—यह (सोचा), **स**—उसने, **अद्भ्य एव**—जलो (तन्मात्राओ-सूक्ष्म तत्त्वो) से ही, **पुरुषम्**—पुरुष (हिरण्यगर्भ या विराट्-पुरुष) को, **समुद्धृत्य**—उठाकर, लेकर, रचकर, **अमूर्च्छयत्**—मूर्च्छित (दोष-रहित) किया—सर्वाङ्ग-पूर्ण किया ॥३॥

तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुख निरभिद्यत यथाण्डम्। मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येता नासिकाभ्या प्राण प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षीभ्या चक्षुश्चक्षुष आदित्य कर्णौ निरभिद्येता कर्णाभ्या श्रोत्र श्रोत्राद्दिशस्त्वङ्निरभिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो

कान आदि द्वार खुले नहीं थे, बन्द थे। तपाने से उसका मुख खुल गया, जैसे अंडा खुल जाता है। विराट्-पुरुष के मुख से वाक्-शक्ति प्रकट हुई, और उस महापुरुष की वाक् में वाणी का देवता 'अग्नि' प्रकट हुआ। नासिकाएं खुल गईं, नासिकाओं से प्राण-शक्ति प्रकट हुई, और उस महापुरुष के प्राण से प्राण का देवता 'वायु' प्रकट हुआ। आंखों के गोलक खुल गये, उनमें चक्षु-शक्ति प्रकट हुई और चक्षु से चक्षु का देवता 'आदित्य' प्रकट हुआ। कान खुल गये, कानों में श्रोत्र-शक्ति प्रकट हुई और श्रोत्र में श्रोत्र की देवता 'दिशाएं' प्रकट हुईं। त्वचा खुल गई, त्वचा से लोम प्रकट हुए और लोम से 'ओषधि' तथा 'वनस्पति' प्रकट हुए। हृदय खुल गया, हृदय से मन प्रकट हुआ, और मन से मन का देवता 'चन्द्रमा' प्रकट हुआ। नाभि खुल गई, नाभि से अपान प्रकट हुआ, अपान से अपान का देवता 'मृत्यु' प्रकट हुआ। शिश्न खुल गया, उससे उत्पादन-शक्ति प्रकट हुई, और उत्पादन-शक्ति से उसका देवता 'जल' हुआ—'जल' ही उत्पादन-शक्ति का आधार है। इस प्रकार चार लोकों को बनाकर 'अग्नि', 'वायु', आदित्य', 'दिशाएं', 'वनस्पति', 'चन्द्रमा', 'मृत्यु' तथा 'जल'—इन आठ लोकपालों को, अर्थात् 'ब्रह्मांड' के आधारभूत आठ तत्त्वों को विराट्-पुरुष से रचा ॥४॥

हृदयं निरभिद्यत हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्निरभिद्यत नाभ्या
अपानोऽपानान्मृत्युः शिश्नं निरभिद्यत शिश्नाद्रेतो रेतस आपः ॥४॥

तम्—उस (पुरुष—हिरण्यगर्भ) को, अभ्यतपत्—तपाया, परिपक्व किया, तस्य—उस (हिरण्यगर्भ) का, अभितप्तस्य—परिपक्व हुए, मुखम्—मुख, निरभिद्यत—फट गया, खुल गया, बन गया, यथा अण्डम्—अण्डे के समान, मुखाद्—मुख में, वाग्—वाणी, वाचः—वाणी से, अग्निः—अग्नि (उत्पन्न हुए), नासिके—दोनों नाक के छिद्र, निरभिद्येताम्—फटे, बन गये, नासिकाभ्याम्—नाक में, प्राणः—प्राण (श्वास-प्रश्वास), प्राणाद्—प्राण से, वायुः—वायु (उत्पन्न हुए), अक्षिणी—आंखें, निरभिद्येताम्—फटीं, बनीं, अक्षिभ्याम्—आंखों में, चक्षुः—दृष्टि-शक्ति, चक्षुषः—दर्शन-शक्ति से, आदित्यः—सूर्य (उत्पन्न हुए), कर्णौ—दोनों कान (के गोलक), निरभिद्येताम्—फटे, बने, कर्णाभ्याम्—कानों में, श्रोत्रम्—श्रवण-शक्ति, श्रोत्राद्—श्रवण-शक्ति से, दिशः—दिशाएं (अवकाश), त्वक्—त्वचा, निरभिद्यत—फटी, बनी,

प्रथम अध्याय—(द्वितीय खड)

ये आठो देवता—'अग्नि', 'वायु' आदि आठो लोकपाल—मानो इस ससार-रूपी महान् समुद्र में आ पडे, विराट्-पुरुष के शरीर से प्रकट तो हो गये, परन्तु उन्हें अपना कोई ठिकाना न मिला। प्रकट होने के बाद भूख-प्यास भी उनके साथ जोड दी गई। अब ये देवता मानो व्याकुल होकर अपने रचयिता से कहने लगे—हमारा कोई ठिकाना भी तो बताइये जहा रहकर हम खायें-पीये ।।१।।

विधाता ने उनके लिये गाय बनाई, और देवताओ से कहा, इसमें ठिकाना कर लो ! उन्होने कहा, यह ठिकाना हमारे लिये पर्याप्त नही रहेगा। फिर घोडे को लाकर कहा, यह कैसा रहेगा ? उन्होने कहा, यह भी हमारे लिये पर्याप्त नही रहेगा ।।२।।

त्वच—त्वचा से, लोमानि—रोम, बाल, लोमभ्य—बालो से, ओषधिवनस्पतय—ओषधिया तथा वृक्ष (उत्पन्न हुए), हृदयम्—हृदय, निरभिद्यत—फटा, बना, हृदयात्—हृदय से, मन—मन (मनन-शक्ति), मनस—मनन-शक्ति से, चन्द्रमा—चन्द्रमा (उत्पन्न हुए), नाभि—नाभि, निरभिद्यत—फटी, बनी, नाभ्या—नाभि (टूण्डी) से, अपान—अपान (प्राणभेद), अपानात्—अपान से, मृत्यु—मौत, मरण, शिश्नम्—मूत्रेन्द्रिय, निरभिद्यत—फटी, बनी, शिश्नात्—मूत्रेन्द्रिय मे, रेत—वीर्य, शुक्र, रेतस—वीर्य से, आप—जल ।।४।।

ता एता देवता सृष्टा अस्मिन्महत्यर्णवे प्रापतस्तमशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जत्
ता एनमब्रुवन्नायतन न प्रजानीहि यस्मिन्प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ।।१।।

ता—वे, एता—ये, देवता—देवता, सृष्टा—रचे हुए (रच जाने के बाद), अस्मिन्—इस, महति—बडे, विशाल, अर्णवे—समुद्र मे, भवसागर मे, प्रापतन्—गिर पडे, तम्—उस (भव-सागर) को, अशनायापिपासाभ्याम्—भूख-प्यास मे, अन्ववार्जत्—युक्त किया, ता—उन (उत्पन्न अग्नि आदि देवताओ) ने, एनम्—इस (स्रष्टा) को, अब्रुवन्—कहा, आयतनम्—घर, स्थान, आश्रय, आधार, न—हमे, प्रजानीहि—बताओ, यस्मिन्—जिसमे, प्रतिष्ठिता—आश्रित (रहकर), अन्नम्—(भूख-प्यास की निवृत्ति के लिये) अन्न को, अदाम—खायें, इति—यह (वचन कहा) ।।१।।

ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ।
ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ।।२।।

ताभ्य—उनके लिये, गाम्—गौ (बैल) को, आनयत्—बनाकर लाया,

फिर वह उनके लिये 'पुरुष' को रचकर लाया। वे बोले, अहो! यह अच्छा बना है, निस्सन्देह 'पुरुष' ही विधाता की सुन्दर कृति है, 'सुकृति' है। विधाता ने उन्हें कहा, जिस-जिसका जो-जो ठिकाना है, वह उस-उसमें प्रविष्ट हो जाय ॥३॥

अग्नि वाणी होकर मुख में प्रविष्ट हो गई, वायु प्राण होकर नासिकाओ में प्रविष्ट हो गया, आदित्य चक्षु होकर आखो में प्रविष्ट हो गया, दिशाए श्रोत्र होकर कानो में जा घुसी, ओषधि तथा वनस्पति लोम होकर त्वचा में जा पहुचे, चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हो गया, मृत्यु अपान होकर नाभि में प्रविष्ट हो गया, जल वीर्य होकर जनन-प्रदेश में प्रविष्ट हुए ॥४॥

ता—उन देवताओ ने, **अब्रुवन्**—कहा, **न वै**—नही ही, **न**—हमारे लिये, **अयम्**—यह (बैल), **अलम्**—पर्याप्त, काफी है, **इति**—यह (कहा), **ताभ्य**—उन देवताओ के लिए, **अश्वम्**—घोडा, **आनयत्**—लाया, **ता अब्रुवन् न वै न अयम् अलम् इति**—(तब फिर) उन्होने कहा कि नही हमारे लिए यह घोडा पर्याप्त होगा ॥२॥

ताभ्य पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृत बतेति पुरुषो वाव सुकृतम् ।
ता अब्रवीद्यथाऽऽयतन प्रविशतेति ॥३॥

ताभ्य—उनके लिए, **पुरुषम्**—पुरुष (शरीरी आत्मा, मनुष्य) को, **आनयत्**—लाया, **ता अब्रुवन्**—उन देवताओ ने कहा, **सु कृतम्**—अच्छा (भला) किया, बनाया, रचा, **बत**—बहुत, **इति**—यह (कहा), **पुरुष**—मनुष्य, **वा व**—ही, **सुकृतम्**—(भगवान् की) सु (श्रेष्ठ) कृति (रचना) है, **ता**—उन देवताओ को, **अब्रवीत्**—(परमात्मा) ने कहा, **यथाऽऽयतनम्**—अपने आयतन (आश्रयस्थान-प्रतिष्ठा) के अनुसार, अपने अनुकूल आयतन मे, **प्रविशत**—प्रवेश करो, आश्रय लो, **इति**—यह (बात कही) ॥३॥

अग्निर्वाग्भूत्वा मुख प्राविशद्वायु प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदा-
दित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशद्दिश श्रोत्र भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोष-
धिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वच प्राविशश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदय
प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभि प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्न प्राविशन् ॥४॥

अग्नि—अग्नि ने, **वाक्**—वाणी, **भूत्वा**—होकर, **मुखम्**—मुख मे, **प्राविशत्**—प्रवेश किया, **वायु प्राण भूत्वा नासिके प्राविशत्**—वायु ने प्राण (श्वास-प्रश्वास या घ्राण-शक्ति) होकर नासिका मे प्रवेश किया, **आदित्य चक्षु भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्**—सूर्य ने आख (दर्शन-शक्ति) होकर (आख के रूप मे)

विधाता को भूख-प्यास ने कहा, हमें आपने उत्पन्न तो कर दिया, हमारा भी तो ठिकाना बताइये। विधाता ने कहा, इन देवताओं के ही साथ तुम्हें जोड़ देता हूं, इन्हीं का तुम्हें भागीदार बना देता हूं। इसलिये जिस किसी देवता को हवि दी जाती है, उसमें भूख-प्यास भी भागीदार होते हैं। अग्नि की हवि द्वारा, वायु की ओषजन द्वारा, आदित्य की रस द्वारा, दिशाओं की सीमा द्वारा, ओषधि की खाद द्वारा, चन्द्र की सूर्य के प्रकाश द्वारा, मृत्यु की अपचय द्वारा, जल की वाष्प द्वारा भूख-प्यास शांत होती है ॥५॥

(विधाता ने पहले पुरुषाकार विराट्-पुरुष रचा। वह अगढ था, ऐसा जैसे कोई शिल्पी प्रतिमा बनाने से पूर्व उसका अगढ रूप बना लेता है। इस अगढ विराट्-पुरुष के मुख में अग्नि, नासिका से प्राण, आंख से आदित्य आदि का निर्माण हुआ। इसके अनन्तर,

---

अक्षिगोलकों में प्रवेश किया, दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्—दिशाओं ने श्रवण-शक्ति होकर कानों में प्रवेश किया, ओषधिवनस्पतयः लोमानि भूत्वा त्वचम् प्राविशन्—ओषधि और वृक्षों ने रोम-रूप में होकर त्वचा में प्रवेश किया, चन्द्रमा मनः भूत्वा हृदयम् प्राविशत्—चन्द्रमा ने मनन-शक्ति के रूप में होकर हृदय में प्रवेश किया, मृत्युः अपानः भूत्वा नाभिम् प्राविशत्—मृत्यु ने अपान होकर नाभि में प्रवेश किया, आपः रेतो भूत्वा शिश्नम् प्राविशन्—जलों ने वीर्य होकर मूत्रेन्द्रिय में प्रवेश किया ॥४॥

तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्रजानीहीति। ते अब्रवीदेतास्वेव वा देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति। तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्यामशनायापिपासे भवतः ॥५॥

तम्—उस (स्रष्टा) को, **अशनायापिपासे**—भूख और प्यास, **अब्रूताम्**—बोली, **आवाभ्याम्**—हम दोनों के लिये भी, **अभिप्रजानीहि**—(योग्य आश्रय-प्रतिष्ठा) बताइये, **इति**—यह (कहा), **ते**—उन दोनों (भूख-प्यास) को, **अब्रवीत्**—कहा, **एतासु**—इन, **एव**—ही, **वाम्**—तुम दोनों को, **देवतासु**—(अग्नि आदि) देवताओं में, **आभजामि**—अनुगृहीत करता हूं, इनमें ही रहो, **एतासु**—इनमें ही, **भागिन्यौ**—भागीदार, **करोमि**—करता हूं, **इति**—यह (कहा), **तस्मात्**—इस कारण से, अतएव, **यस्यै कस्यै च**—जिस-किसी, **देवतायै**—देवता के लिए, **हवि**—भोग्य सामग्री, **गृह्यते**—ली जाती है, **भागिन्यौ**—हिस्सेदार, **एव**—ही, **अस्याम्**—इस देवता में, **अशनाया-पिपासे**—भूख-प्यास, **भवतः**—होती हैं ॥५॥

अर्थात् विराट्-पुरुष की रचना के अनन्तर, इस छ फीट वाले पुरुष का विराट्-पुरुष की प्रतिकृति के रूप मे निर्माण हुआ। विराट्-पुरुष के तो मुख से अग्नि प्रकट हुई थी, परन्तु इस पुरुष का मुख विराट्-पुरुष की उस अग्नि से बना, विराट्-पुरुष की नासिका से प्राण उत्पन्न हुआ था, परन्तु इस पुरुष की नासिका विराट्-पुरुष के उस प्राण से बनी, विराट्-पुरुष की आख से सूर्य प्रकट हुआ था, परन्तु इस पुरुष की आख विराट्-पुरुष के उस आदित्य से बनी। इस सम्पूर्ण उपाख्यान का अभिप्राय यह है कि जो अनुपात हमारी आख का सूर्य से है, वही अनुपात सूर्य का उस विराट्-पुरुष की आख से है। हमारी आख सूर्य के सामने क्या हस्ती रखती है, इसी प्रकार सूर्य उस विराट्-पुरुष की आख के सामने क्या हस्ती रखता है ? इतनी बडी है उस 'विराट्-पुरुष' की आख ! अग्नि, वायु, आदित्य आदि के सम्बन्ध मे इसी अनुपात को सम्मुख रखते हुए 'पुरुष' के रूप मे अगर हम 'विराट्-पुरुष' की कल्पना करे, तो उसका मुख, नासिका, चक्षु कितना विशाल होगा ? आदित्य उस विराट्-पुरुष की आख नही है, परन्तु उसकी आख से आदित्य बना है। तो फिर उसके नेत्र कितने विशाल है। अन्य सभी देवताओ के सबध मे यही अनुपात सामने रखते हुए इस प्रकरण मे विराट्-पुरुष की कल्पना की गई है।

प्रारम्भ मे 'अम्भस्'-'मरीची'-'मर'-'आपस्'—ये चार लोक बनाये, इसका क्या अर्थ है ? आस्मान मे ऊपर अम्भ अर्थात् जल-ही-जल जैसा नीला दीखता है। इसे 'अम्भस्' कहा, इस नीले जल-सरीखे आकाश मे चमकते सूर्य-चन्द्र-तारे दीखते है। जैसे मरु-मरीचिका को चमकने के कारण मरीचिका कहा जाता है वैसे सूर्य-चन्द्र-तारो को भी चमकने के कारण 'मरीची' कहा है। इसके नीचे 'मर'-लोक है—यह जीने-मरने वालो का मर्त्य-लोक—यह तीसरा लोक है। इसके नीचे फिर जल-ही-जल है, या नीला आकाश है जिसे 'अम्भस्' कहने के स्थान में 'आपस्'-लोक कह दिया है। 'आपस्' का अर्थ भी जल ही है। इस प्रकार 'अम्भस्'-'मरीची'-'मर'-'आपस्'—ये चार लोक है जो दीखते है।)

प्रथम अध्याय—(तृतीय खंड)

जगत् के रचयिता ने फिर 'ईक्षण' किया, अपने रचे की जाच-पडताल की—'लोक' रचे गये, 'लोकपाल' रचे गये, लोकपालो का अधिष्ठान 'पुरुष' को बनाया, 'पुरुष' में 'अग्नि', 'वायु' आदि सब देवता प्रतिष्ठित हो गये, भूख-प्यास को भी उन्हीं में हिस्सेदार बनाया। भूख-प्यास की शांति के लिये, इन देवताओ की तृप्ति के लिये 'अन्न' को रचा ॥१॥

रचना का कार्य 'जल' से होता है। पहले भी 'जल' में से 'पुरुष' को निकाला था, अब फिर रचना के कार्य के लिये 'जलो' को तपाया। जलो का रस तप-तपकर ही भिन्न-भिन्न प्रकार की मूर्तियां उत्पन्न होती हैं। जलो के तपने से जो मूर्ति उत्पन्न हुई, वही 'अन्न' है ॥२॥

(उपनिषदो मे जहा-जहा रचना का, निर्माण का वर्णन है, वहा-वहा 'तप' का वर्णन अवश्य है। कुछ भी रचने के लिये 'तप' आवश्यक है।)

अन्न जब पैदा हुआ, तो वह देवो से दूर भागा। उस समय देवो ने अन्न को 'वाणी' से पकडना चाहा, परन्तु वाणी से वे उसे न पकड़

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्य सृजा इति ॥१॥

स—उस (स्रष्टा) ने, ईक्षत—देखा, विचारा, इमे नु—ये, लोका—लोक, च—और, लोकपाला—लोक-रक्षक (मैंने रच दिये), अन्नम्—अन्न—भोग्य-सामग्री, एभ्य—इनके लिए, सृजै—बनाऊ, रचू, इति—यह (बात सोची) ॥१॥

सोऽपोऽभ्यतपत् ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत
या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत् ॥२॥

स—उस (स्रष्टा) ने, अप—जलो को, अभ्यतपत्—तपाया, ताभ्य—उन (जलो) से, अभितप्ताभ्य—तप्त हुए-हुए, मूर्ति—सघन पदार्थ (पाचभौतिक दृश्यमान पृथिवी), अजायत—उत्पन्न हुई, या वै सा—जो ही वह, मूर्ति—(पृथिवी-रूप) सघन वस्तु, अजायत—उत्पन्न हुई, अन्नम्—(इन लोक और लोकपालो का) भोग्य-पदार्थ है, वै—निश्चय से, तत्—वह (अभीष्ट) अन्न ॥२॥

तदेतत्सृष्टं पराङत्यजिघासत् तद्वाचाऽजिघृक्षत्तन्नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुम्।
स यद्धैनद्वाचाऽग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥३॥

सके। यदि वे अन्न को वाणी से पकड पाते, तो वाणी द्वारा 'अन्न' कह देने मात्र से ही भूख-प्यास शांत हो जाया करती ॥३॥

तब उन्होने अन्न को 'प्राण' से पकडना चाहा, परन्तु वे उसे प्राण से भी न पकड सके। अगर प्राण से पकड पाते, तो अन्न को सूघने से ही क्षुधा-निवृत्ति हो जाया करती ॥४॥

फिर उन्होने अन्न को 'आख' से ग्रहण करना चाहा, परन्तु आख से भी वे उसे ग्रहण न कर सके। अगर आख से ग्रहण कर सकते, तो अन्न को देखने से ही तृप्ति हो जाती ॥५॥

तत्—तो, एतत्—यह, सृष्टम्—उत्पन्न किया (अन्न), पराङ्—बाहर की ओर (लोकपालो से विपरीत दिशा मे), अत्यजिघासत्—भागने की इच्छा करने लगा भाग खडा हुआ, तद्—उसको, वाचा—वाणी से, अजिघृक्षत्—(देवताओं ने) ग्रहण करना चाहा, पकडना चाहा, तद्—उसको, न—नहीं, अशक्नोत्—समर्थ हुआ (देव-गण), वाचा—वाणी से, ग्रहीतुम्—पकडने के लिए, स—वह, यद् ह—जो, एतत्—इस (अन्न) को, वाचा—वाणी से, अग्रहैष्यत्—पकड लेता (तो), अभिव्याहृत्य—उसे अपनी ओर बुलाकर (कहने मात्र से), ह एव—ही, अन्नम्—अन्न को, अत्रप्स्यत्—तृप्त हो जाता (भूख-प्यास मिटा लेता) ॥३॥

तत्प्राणेनाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोत्प्राणेन ग्रहीतुम्।
स यद्धैनत्प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥४॥

तत्—उस (अन्न) को, प्राणेन—श्वास-प्रश्वास से, अजिघृक्षत्—पकडना चाहा, तत्—उसको, न—नही, अशक्नोत्—समर्थ हुआ, प्राणेन—प्राण से, ग्रहीतुम्—पकडने के लिये, स—वह (भोक्ता), यद् ह—जो, एतत्—इस (अन्न) को, प्राणेन—श्वास-प्रश्वास से, अग्रहैष्यत्—पकड लेता (तो), अभिप्राण्य—(अन्न की) ओर श्वास-प्रश्वास लेकर, ह एव—ही, अन्नम्—अन्न को, अत्रप्स्यत्—तृप्त हो जाता ॥४॥

तच्चक्षुषाऽजिघृक्षत तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुम्।
स यद्धैनच्चक्षुषाऽग्रहैष्यद् दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥५॥

तत्—उस (अन्न) को, चक्षुषा—दृष्टि से, अजिघृक्षत्—पकडना चाहा, तत्—उसको, न अशक्नोत् चक्षुषा ग्रहीतुम्—आख से पकडने मे समर्थ नही हुआ, स—वह, यद् ह—अगर, एतत्—इस (अन्न) को, चक्षुषा—दृष्टि से, अग्रहैष्यत्—पकड लेता (तो), दृष्ट्वा—देखकर, ह एव—ही, अन्नम्—अन्न को, अत्रप्स्यत्—तृप्त हो जाता ॥५॥

उन्होंने अन्न को 'श्रोत्र' से ग्रहण करना चाहा, परन्तु श्रोत्र से भी वे उसे गहण न कर सके। अगर श्रोत्र से ग्रहण कर सकते, तो 'अन्न'-शब्द को सुनकर ही मनुष्य तृप्त हो जाता ॥६॥

उन्होंने अन्न को 'त्वचा' से ग्रहण करना चाहा, परन्तु त्वचा से भी वे उसे ग्रहण न कर सके। अगर त्वचा से ग्रहण कर सकते, तो अन्न को छूकर ही तृप्ति हो जाती ॥७॥

उन्होंने अन्न को मन से ग्रहण करना चाहा, परन्तु मन से भी वे उसे ग्रहण न कर सके। अगर मन से ग्रहण कर सकते, तो अन्न का ध्यान करके ही भूख-प्यास शांत हो जाती ॥८॥

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुम्।
स यद्धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥६॥

तत्—उस (अन्न) को, श्रोत्रेण—श्रवण शक्ति से, अजिघृक्षत्—पकडना चाहा, तत् न अशक्नोत् श्रोत्रेण ग्रहीतुम्—उसको श्रवण-शक्ति से नही पकड सका, स यद् ह एनत्—वह अगर इस (अन्न) को, श्रोत्रेण—श्रवण-शक्ति से, अग्रहैष्यत्—पकड लेता (तो), श्रुत्वा—सुनकर, ह एव—ही, अन्नम्—अन्न को, अत्रप्स्यत्—तृप्त हो जाता ॥६॥

तत्त्वचाऽजिघृक्षत् तन्नाशक्नोत्त्वचा ग्रहीतुम्।
स यद्धैनत्त्वचाऽग्रहैष्यत्स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥७॥

तत्—उस (अन्न) को, त्वचा—त्वचा से, अजिघृक्षत्—पकडना चाहा, तत्—उस (अन्न) को, न—नही, अशक्नोत्—समर्थ हुआ, त्वचा—त्वग्-इन्द्रिय से, ग्रहीतुम्—पकडने के लिए, स—वह (देव-समूह), यद् ह—जो, अगर, एनत्—इस (अन्न) को, त्वचा—त्वचा से, अग्रहैष्यत्—ग्रहण कर लेता, पकड पाता (तो), स्पृष्ट्वा—छूकर, ह एव—ही, अन्नम्—अन्न को, अत्रप्स्यत्—तृप्त हो जाता ॥७॥

तन्मनसाऽजिघृक्षत् तन्नाशक्नोन्मनसा ग्रहीतुम्।
स यद्धैनन्मनसाऽग्रहैष्यद्ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥८॥

तत्—उस (अन्न) को, मनसा—मनन-शक्ति से, अजिघृक्षत्—लेना चाहा, तत् न अशक्नोत् मनसा ग्रहीतुम्—उसको मन से ग्रहण करने (पकडने) मे समर्थ नही हुआ, स—वह (देव-समूह-भोक्ता), यद् ह एनत्—अगर इस (अन्न) को, मनसा—मन से, अग्रहैष्यत्—पकड पाता, ले सकता (तो),

उन्होंने अन्न को 'जननेन्द्रिय' से ग्रहण करना चाहा, परन्तु उससे भी वे उसे ग्रहण न कर सके। अगर उससे ग्रहण कर सकते, तो अन्न को त्याग कर ही तृप्ति हो जाती ॥९॥

तब देवों ने अन्न को 'अपान' से पकडना चाहा, उसने इसे पकड़ लिया। अपान-वायु नाभि के निचले प्रदेश में रहती है। वह समावस्था में रहे तभी अन्न पकड़ा जाता है। पेट और आंतों में विचरने वाली प्राण-शक्ति ही अपान है। उसके बिगडने पर ही अन्न का पाचन शिथिल हो जाता है। यह जो अपान-वायु है, वह अन्न को ग्रहण करने वाली वायु है। यह 'वायु' क्या है, मानो 'अन्नायु' है। 'वायु' का अर्थ है—'वा+आयु', जिसके रहने पर प्राणी जीवित रहेगा, न रहने पर नही रहेगा, परन्तु उपनिषत्कार कहते हैं कि यह 'आ+आयु' है, मानो 'अन्नायु' है, अर्थात् 'अन्न+आयु', अन्न पर ही आयु है, बिना अन्न के आयु नही है ॥१०॥

ध्यात्वा—ध्यान कर, मनन कर, ह एव—निश्चय ही, अन्नम्—अन्न को, अत्रप्स्यत्—तृप्त हो जाता ॥८॥

तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छिश्नेन ग्रहीतुम्।
स यद्धैनच्छिश्नेनाग्रहैष्यद्विसृज्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥९॥

तत्—उस (अन्न) को, शिश्नेन—पुजननेन्द्रिय से, अजिघृक्षत्—पकडना चाहा, तत् न अशक्नोत् शिश्नेन ग्रहीतुम्—उसको पुजननेन्द्रिय से नहीं पकड सका, स—वह, यद् ह—जो, एनत्—इसको, शिश्नेन—मूत्रेन्द्रिय (लिङ्ग से), अग्रहैष्यत्—पकड सकता (तो), विसृज्य—छोड कर, त्याग कर, ह एव—ही, अन्नम्—अन्न को, अत्रप्स्यत्—तृप्त हो जाता ॥९॥

तदपानेनाजिघृक्षत् तदावयत्। सैषोऽन्नस्य
ग्रहो यद्वायुरन्नायुर्वा एष यद्वायु ॥१०॥

तद्—उस (अन्न) को, अपानेन—अपान नामी (उदर और आँतो मे विचरने वाले) प्राण-भेद से, अजिघृक्षत्—पकडना चाहा, तद्—वह या उसको, आवयत्—पकड में आ गया, स एष—वह यह (अपान), अन्नस्य—अन्न का, ग्रह—पकडने वाला है, यत्—जो, वायु—वायु है, अन्नायु—(यह) अन्न की आयु या अन्न पर आश्रित आयु वाला है, वै—निश्चय से, एष—यह, यद्—जो कि, वायु—वायु है ॥१०॥

रचयिता ने लोक रचे, लोकपाल रचे, पुरुष रचा, अन्न रचा। रचयिता का ईक्षण हो चुका। अब जीवात्मा की बारी आई। उसने 'ईक्षण' किया। मेरे बिना पुरुष का यह भौतिक-देह कैसे रहेगा? अब वह सोचने लगा, मैं इस शरीर में किस मार्ग से प्रवेश करूं? उसने कहा, शरीर में वाणी बोलती मालूम देती है, प्राण चलता मालूम देता है, आंख देखती प्रतीत होती है, कान सुनता जान पड़ता है, त्वचा स्पर्श करती, मन ध्यान करता, अपान और शिश्न स्वयं काम करते प्रतीत होते हैं, परन्तु क्या यह-सब मेरे बिना काम हो रहा है? अगर नहीं, तो मैं कौन हूं, मेरा स्थान कहां है? ॥११॥

यह सोचकर जीवात्मा देह की जो 'सीमा' है, जहां देह समाप्त हो जाता है, उस कपाल को दो भागों में विदीर्ण करके, फाड़ कर,

---

स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति।
स ईक्षत यदि वाचाभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितं यदि चक्षुषा
दृष्टं यदि श्रोत्रेण श्रुतं यदि त्वचा स्पृष्टं यदि मनसा ध्यातं
यद्यपानेनाभ्यपानितं यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽहमिति ॥११॥

स—उस (जीवात्मा) ने, ईक्षत—विचार किया, कथम् नु—कैसे, इदम्—यह (शरीर), मद् ऋते—मेरे बिना, स्याद्—होवे, रह सकता है, इति—यह (सोचा) (फिर), स—उस (जीवात्मा) ने, ईक्षत—विचारा, कतरेण—किसके द्वारा, किस साधन से, प्रपद्यै—(इस शरीर को) प्राप्त करूं, प्रवेश करूं, इति—यह (सोचा), स ईक्षत—उसने विचारा, यदि—अगर, वाचा—वाणी के द्वारा, अभिव्याहृतम्—बोलना, यदि—अगर, प्राणेन—प्राण से या घ्राण (नासिका) से, अभिप्राणितम्—श्वास-प्रश्वास लेना, यदि चक्षुषा दृष्टम्—यदि आंख द्वारा देखना, यदि श्रोत्रेण श्रुतम्—यदि कान द्वारा सुनना, यदि त्वचा स्पृष्टम्—यदि त्वचा द्वारा छूना, यदि मनसा ध्यातम्—यदि मन द्वारा ध्यान (मनन) करना, यदि अपानेन—अगर अपान वायु (प्राण-भेद) से, अभ्यपानितम्—बाहर फेंकना, यदि शिश्नेन विसृष्टम्—यदि लिङ्गेन्द्रिय द्वारा (वीर्य का) उत्सर्ग करना (ही हो जाये तो), क अहम्—इस शरीर में मैं क्या व कौन हूं (मेरी क्या सत्ता व स्थिति है?), इति—यह (भी सोचने लगा) ॥११॥

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम
द्वास्तदेतन्नान्दनम्। तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्ना
अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति ॥१२॥

इसी द्वारा देह में प्रविष्ट हो गया। इसीलिये इस द्वार को 'विदृति' कहते हैं। 'विदृति' का अर्थ है 'विदारण'—फाड़ना, ये दोनो कपाल अलग-अलग हैं, फटे हुए हैं। शरीर में जब जीवात्मा इस स्थान में रहता है, तब उसे परम आनन्द प्राप्त होता है इसलिये इस स्थान को 'नान्दन' भी कहते हैं। जीवन के समय 'नान्दन'-स्थान में जीवात्मा का वास, और मृत्यु के समय 'नान्दन'-स्थान में आकर विदृति-मार्ग से जीवात्मा का निर्गमन—यही योगी का ध्येय है (तैत्तिरीय १-६, प्रश्न ३-७, छान्दोग्य ८-६)। उपनिषत्कार कहते हैं कि जब जीवात्मा शरीर में रहता है तब तीन 'आवसथो' में, तीन स्थानो में रहता है। निम्न-विचारो के जीव नीचे के स्थानो में, मध्य-विचारो के जीव मध्य-स्थानो में, और उच्च-विचारो के जीव उत्तम-स्थान, नान्दन-स्थान में रहते हैं। उपदेश देते हुए ऋषि ने अगुली से बताया कि यह उत्तम आवसथ है, यह मध्यम आवसथ है, यह निकृष्ट आवसथ है। आवसथ, अर्थात् स्थान। जीवात्मा तीन स्थानो मे रहता हुआ शरीर की तीन अवस्थाए उत्पन्न कर देता है। वे अवस्थाए हैं जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति। परन्तु यहा ऋषि ने इन तीनो अवस्थाओ को सोई हुई अवस्था कहा है। शरीर की इन तीनो अवस्थाओ में रहता हुआ भी जीव जबतक ब्रह्म का साक्षात्कार नही कर लेता, वह सोया हुआ ही है ॥१२॥

स—उसने, **एतम् एव**—इस ही, **सीमानम्**—(केशान्त या कपालो की सन्धि रूपी सीमा) ब्रह्म-रन्ध्र को, **विदार्य**—फाड़कर, **एतया**—इस, **द्वारा**—दरवाजे से, मार्ग से, **प्रापद्यत**—पहुचा, शरीर मे प्रविष्ट हुआ, **सा एषा**—वह यह (सीमा-ब्रह्मरन्ध्र) ही, **विदृति**—विदृति, **नाम**—नाम वाला, **द्वा**—दरवाजा, मार्ग है, **तद् एतत्**—वह यह ही, **नान्दनम्**—हर्षित करने वाला, आनन्द-प्रदाता है, **तस्य**—उस (शरीर मे प्रविष्ट जीवात्मा) के, **त्रय**—तीन (आगे वर्णित जीवात्मा के तीन जन्म), **आवसथा**—रहने के स्थान—घर हैं, **त्रय**—तीन ही, **स्वप्ना**—सोने के स्थान (आरामगाह) हैं, **अयम्**—यह (वीर्यरूप मे स्थित प्रथम), **आवसथ**—घर है, **अयम्**—यह (शिशुरूप मे जन्म द्वितीय), **आवसथ**—घर है, **अयम्**—यह (मरणोपरान्त पुनर्जन्म तृतीय), **आवसथ**—आश्रय स्थल है, **इति**—ऐसे ॥१२॥

जीवात्मा जब सोई हुई अवस्था को छोड़ता है, और सब भूतों को देखता है, तो सोचता है कि मैं दूसरे किससे बात करूं, सब जगह विराट्-पुरुष, सब जगह ब्रह्म-ही-ब्रह्म तो विस्तार पा रहा है। उसे सब जगह ब्रह्म के ही दर्शन होने लगते हैं, और वह कह उठता है, 'इदम्+अदर्शम्', 'मैंने यह देख लिया'—अर्थात्, ब्रह्म यह सामने ही तो दीख रहा है, दूर कहां है? ॥१३॥

'इदम्+अदर्शम्' का अर्थ है—'यह देख लिया'। इसमें 'इदम्' के साथ 'अदर्शम्' का 'द+र' जोड देने से 'इदम्+द+र' बन गया, इसलिये उसे 'इदन्द्र' कहते हैं। अस्ल में 'इदन्द्र' शब्द है, इसी के बीच का 'द' हटाकर 'इन्द्र' बन जाता है। देवता लोग 'इदन्द्र' के स्थान में 'इन्द्र' शब्द का प्रयोग करते हैं क्योंकि वे रहस्यमयी भाषा को पसन्द करते हैं, परोक्ष-प्रिय होते हैं ॥१४॥

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति।
स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यदिदमदर्शमिती३ ॥१३॥

स—उसने, जात—उत्पन्न हुए (उत्पन्न होकर), भूतानि—भूतों (चराचर प्राणी व पंच भूतों) को, अभिव्यैख्यत्—और देखा, समझा, किम्—क्या, कौन, किसको, इह—यहां, अन्यम्—दूसरा, दूसरे को, वावदिषत्—बोल रहा है, (किम् इह अन्यम् वावदिषत्—यहां इस शरीर में दूसरा कौन बोलता रहा है, विद्यमान है, या यहां अब मैं किस से बोलूं-चालूं), इति—ऐसे (देखा), स—उस (जीवात्मा) ने, एतम् एव—इस ही, पुरुषम्—कार्य-कारण रूप प्रकृति-पुरी में व्याप्त, ब्रह्म—ब्रह्म को, ततमम्—उस (दृश्यमान-शरीर में उपस्थित) सब में से एक (अद्वितीय) को या सर्वत्र व्यापक को, अपश्यत्—देखा, जाना, (और कहा कि) इदम्—इसको, अदर्शम्—(मैंने) देख लिया, इति—यह ॥१३॥

तस्मादिदन्द्रो नाम इदन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते
परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः ॥१४॥

तस्मात्—(उस ब्रह्म को देखकर कहने के) कारण ही, इदन्द्र—(यह जीवात्मा) इदन्द्र, नाम—संज्ञा, नाम वाला, इदन्द्र ह वै नाम—(जीवात्मा की) इदन्द्र यह संज्ञा हुई, तम्—उस, इदन्द्रम्—इदन्द्र को, सन्तम्—रूप को, हुए-हुए को, इन्द्र इति—'इन्द्र' इस (नाम) से, आचक्षते—कहते हैं, परोक्षेण—अव्यक्त रूप में, हि—क्योंकि, परोक्षप्रिया—अदृश्य, अव्यक्त वस्तुओं

(पुरुष के देह का आधार अन्न है, अन्न का ग्रहण अपान वायु से होता है, यह स्पष्ट कर देने के बाद ऋषि ने अपने ढग से यह उपदेश दिया है कि देह का धारण आख, नाक, कान आदि से नही परन्तु जीवात्मा से होता है। जीवात्मा जब तक सोया रहे, तब तक उसे कुछ मालूम नही होता, जब वह जाग जाय, उसके ज्ञान-नेत्र खुल जाय, तब वह शरीर मे और ब्रह्माड मे---'मैने यह देख लिया'---कहकर उसके दर्शन करने लगता है।

तान्त्रिक लोग इस स्थल का यह अर्थ करते है कि जीव सोया हुआ कुडलिनी के जगाने से जागता है। उसके तीन 'आवसथ' है, तीन स्थान है---मूलाधार, हृदय तथा ब्रह्मरध्र। कुडलिनी जागती हुई, नीचे से ऊपर जाती हुई अन्त मे ब्रह्मरध्र मे पहुचती है जिसे यहा 'नान्दन'-स्थान कहा गया है। वहा पहुच कर आत्मा ब्रह्म के साक्षात् दर्शन करता है, इसीलिये १३वे सन्दर्भ मे कहा गया है--- 'मैने यह देख लिया'। उपनिषदो मे ब्रह्म के साक्षात् दर्शन का अनेक स्थानो मे वर्णन है---'त्वामेव प्रत्यक्ष ब्रह्म वदिष्यामि'---'मै तुझे प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूगा'। गीता मे भी ७वे अध्याय मे सृष्टि को ही प्रत्यक्ष-ब्रह्म कहा है।)

द्वितीय अध्याय

इस अध्याय में गर्भाधान का आनुषगिक वर्णन किया है इसलिये ऋषि इस अध्याय का प्रवचन करते हुए प्रारम्भ में कहते हैं, गर्भिणी स्त्रियां उठ जाय। उनके उठकर चले जाने पर ऋषि अपना उपदेश प्रारम्भ करते हैं---

---

मे प्रीति रखने वाले, **इव**---मानो, जानो, **देवा**---विद्वान-ज्ञानी होते है, **परोक्षप्रिया इव हि देवा**---ज्ञानी सदैव अज्ञात पदार्थो की जिज्ञासा मे रुचि रखते है ॥१४॥

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति। यदेतद्रेतस्तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेज सभूतमात्मन्येवात्मान बिभर्ति तद्यदा स्त्रिया सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथम जन्म ॥१॥

पुरुषे---पुरुष (पु जाति प्राणी) मे, **ह वै**---ही, **अयम्**---यह, **आदित**---शुरु से, सर्वप्रथम, **गर्भ**---गर्भ (नूतन-जन्म के निर्माण का स्थान), **भवति**---

गर्भ कहने को तो स्त्री धारण करती है, परन्तु अस्ल में शुरू से ही यह पुरुष धारण करता है। वीर्य से ही तो गर्भ होता है। यह वीर्य, रेतस्, पुरुष के अग-अग के तेज का ही तो सार-तत्त्व है। क्योकि पुरुष के अगो के इस तेज से ही गर्भ होता है, इसलिये यह कहना ठीक होगा कि पुरुष पहले वीर्य-रक्षा द्वारा अपने में अपने को धारण करता है। उसे जब स्त्री में सिंचित करता है, तब मानो अपने को ही सिंचित करता है, अपने को ही उत्पन्न करता है। इस प्रकार पुरुष अपने को ही उत्पन्न करता है, यह उसका प्रथम जन्म है ॥१॥

वह रेतस् स्त्री में जाकर उसका आत्मवत् हो जाता है, ठीक ऐसे जैसे अपना ही अग। इसीलिये विजातीय-द्रव होने के कारण भी आत्म-वत् हो जाने से वह स्त्री को कष्ट नही देता। स्त्री, पुरुष के आत्मा को अपने भीतर सुरक्षित रखकर उसकी पालना करती है ॥२॥

होता है, यद् एतद्—जो यह, रेत—वीर्य है, तद् एतत्—वह यह (वीर्य), सर्वेभ्य—सब, अङ्गेभ्य—अगो मे (निकल कर), तेज—तेज (शक्ति), सभूतम्—इकट्ठा हुआ, उत्पन्न, आत्मनि—अपने मे, एव—ही, आत्मानम्—अपने आप को, अपने स्वरूप को, बिभर्ति—धारण करता है, पोषण करता है, तद्—तो, उसको, यदा—जब, स्त्रियाम्—स्त्री (योनि) मे, सिञ्चति—(मनुष्य) सीचता है, डालता है, अथ—तब, एनत्—इसको (अपने को), जनयति—पैदा करता है, तद्—वह, अस्य—इसका, प्रथमम्—पहला, जन्म—जन्म (है) ॥१॥

तत् स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति यथा स्वमङ्गं तथा।
तस्मादेनां न हिनस्ति साऽस्यैतमात्मानमत्र गतं भावयति ॥२॥

तत्—वह (सिचित वीर्य), स्त्रिया—स्त्री के, आत्मभूयम्—अपनत्व को, गच्छति—प्राप्त हो जाता है, (स्त्रिया आत्मभूयम् गच्छति—स्त्री का अपना अभिन्न अग बन जाता है), यथा—जैसे, स्वम्—अपना, अगम्—अग, तथा—वैसे, तस्मात्—उस कारण से ही, एनाम्—इस (स्त्री) को, न—नही, हिनस्ति—मारता है, हानि पहुचाता है, सा—वह (स्त्री), अस्य—इस (पुरुष) के, एतम्—इस, आत्मानम्—स्वरूप को, अत्र—यहा, इस (गर्भ) मे, भावयति—(ध्यानपूर्वक) पालन करती है ॥२॥

क्योंकि वह मानो हमारी ही पालना करती है, इसलिये उसकी पालना करना भी हमारा कर्तव्य है। स्त्री, पुरुष को ही गर्भ में धारण करती है। जन्म के बाद पुरुष 'कुमार' की रक्षा करता है, उसकी भावना करता है, यह रक्षा, यह भावना मानो अपनी ही रक्षा है, अपनी ही भावना है, इस प्रकार लोक में वह जो सन्तति बढाता है, अपने को ही बढाता है, लोक का इसी प्रकार सन्तान-वितान बढा है। इस प्रकार 'कुमार'-रूप में बालक का जो जन्म होता है, वह पुरुष का अपना ही जन्म है। वीर्य-दान उसका प्रथम, और कुमार-रूप में उत्पन्न होना पुरुष का अपना ही द्वितीय-जन्म है ॥३॥

'कुमार'-रूप में ही पुरुष का एक आत्मा उसी के पुण्य-कर्मों का प्रतिनिधि बनकर संसार में रह जाता है। अर्थात्, पुरुष के पुण्य-

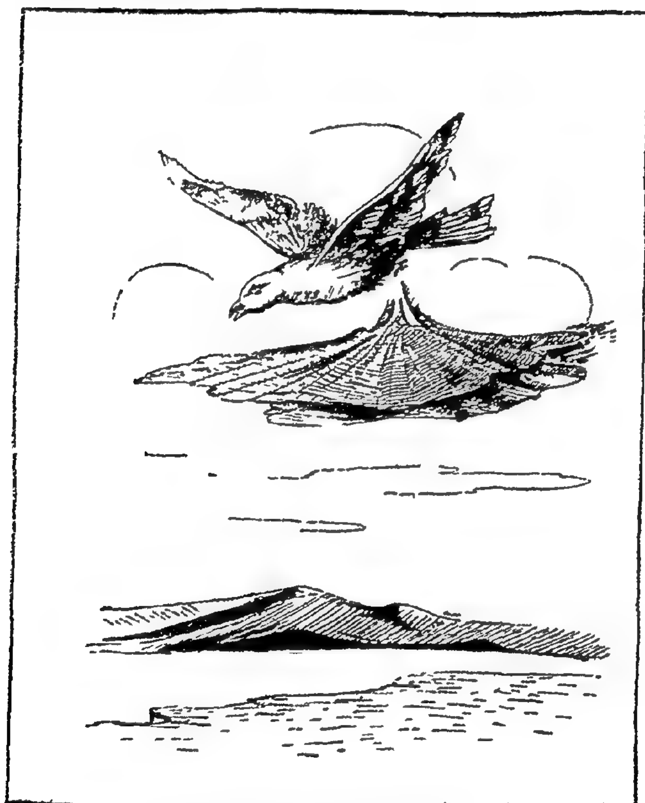
---

सा भावयित्री भावयितव्या भवति तं स्त्री गर्भं बिभर्ति
सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति स यत्कुमारं
जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेव तद्भावयत्येषां लोकानां
सन्तत्या एवं सन्तता हीमे लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्म ॥३॥

सा—वह, **भावयित्री**—(अपने तेज व स्वरूप का) पालन करने वाली (स्त्री), **भावयितव्या**—(पुरुष द्वारा) पालने योग्य, **भवति**—होती है, (क्योंकि) **तम्**—उस (पुरुष) को ही, **स्त्री**—स्त्री, **गर्भम्**—गर्भ को (में), **बिभर्ति**—धारण-पोषण करती है, **स**—वह (पुरुष), **अग्रे एव**—(जन्म से) पहिले ही (गर्भ रूप में स्त्री-रक्षा करके भावी कुमार का ही पालन करता है), **कुमारम्**—(उत्पन्न) शिशु को, **जन्मन अग्रे**—जन्म के आगे (बाद में), **अधिभावयति**—पालन करता है, **स**—वह (पुरुष), **यत्**—जो, **कुमारम् जन्मन अग्रे अधि भावयति**—कुमार की जन्म के बाद पालना करता है (वह वास्तव में), **आत्मानम् एव**—अपने आप को (की) ही, **तत्**—तो, **भावयति**—पालना करता है, **एषाम्**—इन, **लोकानाम्**—लोकों की (वंश-परम्परा की), **सन्तत्यै**—विस्तार के लिये, आगे बढने के लिये, नष्ट न होने देने के लिए, **एवम्**—इस प्रकार ही, **सन्तता**—(परम्परा से) विस्तृत, **हि**—ही, **इमे**—ये, **लोका**—लोक (मनुष्य-समाज), **तद् अस्य**—वह (इस शरीरी जीवात्मा) का, **द्वितीयम्**—दूसरा, **जन्म**—जन्म (है) ॥३॥

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयतेऽथास्यायमितर आत्मा
कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म ॥४॥

कर्म उसके पुत्र के रूप में संसार में बने रहते हैं। उसका दूसरा आत्मा, अर्थात् यह स्थूल-शरीर, कृतकृत्य होकर, बूढा होकर संसार को छोड देता है। इस लोक से जाते ही वह फिर उत्पन्न हो जाता है, यह उसका तृतीय-जन्म है ॥४॥



बाज जैसे जाल से मुक्त हो जाता है, वैसे मैं
जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाऊं !

स—वह (कुमार रूप मे), अस्य—इस (पिता) का, अयम्—यह, आत्मा—आत्मा, स्वरूप, पुण्येभ्य—पुण्य (अच्छे), कर्मभ्य—कर्मों के (करने के) लिए, प्रतिधीयते—स्थापित किया जाता है, प्रतिनिधि (आगे सम्भालने वाला)

वामदेव ऋषि ने ठीक कहा है—मैं जब गर्भ में था तभी मैंने देवों के सब जन्मों को जान लिया था। मुझे लोहे के समान सैकड़ों शरीरों में रखा गया। जैसे बाज नीचे जाल में बंधा हो, और वेग से सब बन्धनों को छिन्न-भिन्न करके आसमान में उड़ जाय, वैसे मैंने लोहे के समान सैकड़ों शरीर-रूपी बन्धनों को तोड़-फोड़ डाला, और स्वतन्त्र हो गया। गर्भ में पड़े-पड़े ही वामदेव ने ऐसा कहा—॥५॥

इस प्रकार वामदेव-ऋषि शरीर का भेदन करके, ऊपर पहुंच कर, उस स्वर्ग-लोक में सब कामनाओं को पाकर अमर हो गया, हो गया ॥६॥

बनाया जाता है, अथ—और अस्य—उसका, अयम्—यह, इतर—दूसरा, आत्मा—आत्मा, (इतर आत्मा—स्वयं का आत्मा), कृतकृत्य—सफल, सब कर्तव्य कर्मों को समाप्त करने वाला, वयोगत—वृद्ध हुआ (पूर्ण आयु को प्राप्त), प्रैति—मर जाता है, स—वह, इत—यहां से, उस (लोक) में, प्रयन्—जाता हुआ, शरीर को छोड़ता हुआ, एव—ही, पुन—फिर, जायते—जन्म लेता है, तद् अस्य तृतीयम् जन्म—वह इसका तीसरा जन्म है ॥४॥

तदुक्तमृषिणा। गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयमिति
गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच ॥५॥

तद्—वह (ही बात), उक्तम्—कही है, ऋषिणा—ऋषि (वामदेव) ने, गर्भे—गर्भ में, नु—तो, सन्—रहते हुए, एषाम्—उन, अनु अवेदम्—जाना, अहम्—मैंने, देवानाम्—देवों के, इन्द्रियों के, जनिमानि—जन्मों को, उत्पत्ति को, विश्वा—सब, शतम्—सौ, सैकड़ों, मा—मुझ को, पुर—नगरियों ने, आयसी—लोहे से निर्मित, बहुत दृढ़, अरक्षन्—रक्षा की, बचाया (रोका), अध—नीचे, श्येन—बाज (की तरह), जवसा—वेग से, बल से, निरदीयम्—फाड़दिया, तोड़ दिया, इति—यह (बात कही), गर्भे एव—गर्भ में ही, एतत्—यह (बात), शयान—सोते हुए, वामदेव—वामदेव ऋषि ने, एवम्—इस प्रकार, उवाच—कहा था ॥५॥

स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्वं उत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे
लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत् समभवत् ॥६॥

स—वह (वामदेव ऋषि), एवम्—इस प्रकार, विद्वान्—जानने वाला, अस्माद—इस, शरीर-भेदात्—शरीर के नाश से, (शरीर के बन्धन से), उत्क्रम्य—ऊपर उठकर, पार कर, अमुष्मिन्—इस, स्वर्गे—सुखप्रद,

तृतीय अध्याय

गर्भाधान का आनुषंगिक वर्णन करने के अनन्तर ऋषि ने कहा, अब गर्भिणी स्त्रियां यथा-स्थान आकर बैठ जायं, और उपदेश सुनें।

यह 'आत्मा' कौन है जिसकी हम उपासना करते हैं, और वह आत्मा कौन-सा है जिससे यह मनुष्य 'रूप' को देखता है, 'शब्द' को सुनता है, 'गन्ध' को सूंघता है, 'वाणी' का व्यवहार करता है, और जिससे स्वादु वा अस्वादु पदार्थ को जानता है? ॥१॥

इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—यह जो 'हृदय' (Emotion) और 'मन' (Reason) है, और इनके साथ जो यह 'संज्ञान', 'आज्ञान', 'विज्ञान', 'प्रज्ञान', 'मेधा', 'दृष्टि', 'धृति', 'मति', 'मनीषा', 'जूति', 'स्मृति', 'संकल्प', 'क्रतु', 'असु', 'काम' और 'वश' हैं—ये सब 'प्रज्ञान' के ही नाम हैं। जीवात्मा के ये गुण हैं। जीवात्मा के कारण यही नहीं कि रूप, रस, गन्ध का ज्ञान होता है, अपितु अभी कहे ये सब कार्य भी जीवात्मा के कारण ही होते हैं ॥२॥

लोके—लोक में, अवस्था में, सर्वान्—सब, कामान्—कामनाओं को, आप्त्वा—प्राप्त करके, अमृत—अमर, मोक्ष का अधिकारी, समभवत्—हो गया, समभवत्—हो गया ॥६॥

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे कतरः स आत्मा येन वा रूपं
पश्यति येन वा शब्दं शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा
वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति ॥१॥

कः—कौन, कौन सा, अयम्—यह, आत्मा—(उपास्य) आत्मा (है), इति—ऐसे, वयम्—हम, उपास्महे—(जिसकी) उपासना करें, कतरः—(दोनों आत्माओं में से) कौन सा, सः—वह, आत्मा—आत्मा (है), येन—जिससे, वा—वा, पश्यति—देखता है, येन वा—या जिससे, शृणोति—सुनता है, येन वा—या जिससे, गन्धान्—गन्धों को, आजिघ्रति—सूंघता है, येन वा—या जिससे, वाचम्—वाणी को, व्याकरोति—व्यक्त करता है (बोलता है), येन वा—या जिससे, स्वादु च—और स्वादिष्ट, अस्वादु च—और अस्वादिष्ट (वस्तु को), विजानाति—जानता है ॥१॥

यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्। संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा
दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो
वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥२॥

'जीवात्मा' का वर्णन कर चुकने पर, 'परमात्मा' का वर्णन करते हैं। ब्रह्म यह है, इन्द्र यह है, प्रजापति यह है। यह क्या ? जिसका अभी वर्णन करते हैं—वह। ये सब देव, ये पांचो महाभूत, पृथिवी, वायु, आकाश, आप और ज्योति, ये क्षुद्र जीव, ये मिश्र जीव-जन्तु, ये बीज, ये अडज, जरायुज, स्वेदज, उद्भिज्ज, ये अश्व, गौ, पुरुष, हस्ती—ये जो भी प्राणि-जगत् है, स्थावर, जगम, परद—ये सब 'प्रज्ञा-नेत्र' हैं, इन सबमें प्रज्ञा मानो दीख रही है, यह सृष्टि अन्धी नहीं चली जा रही, प्रज्ञा से जा रही है, किसी लक्ष्य की तरफ मानो आख उठाकर जा रही है, यह सृष्टि 'प्रज्ञान' में प्रतिष्ठित है, प्रज्ञान में ही ठहरी हुई है। सम्पूर्ण लोक 'प्रज्ञा-नेत्र' है, प्रज्ञा में प्रतिष्ठित

यद्—जो, एतत्—यह, हृदयम्—हृदय (भाव प्रधान), मन—मन (मनन-प्रधान), च—और, एतत्—यह, सज्ञानम्—सम्यग् ज्ञान, आज्ञानम्—आज्ञा देना, ईश्वर-भाव, विज्ञानम्—विशिष्ट (विवेकपूर्वक) ज्ञान, कला आदि का ज्ञान, प्रज्ञानम्—उत्कृष्ट ज्ञान, मेधा—धारणावती बुद्धि, दृष्टि—दर्शन-शक्ति, धृति—धैर्य, मति—मनन, मनीषा—सूझ-बूझ, जूति—वेग, शक्ति, प्रेरणा, स्मृति—स्मरण करना, सकल्प—करने का निश्चय करना, क्रतु—कर्मशीलता, परिश्रम करना, असु—प्राण-शक्ति, या कमी को दूर करना, काम—भविष्य की कामनाएं करना, वश—(अपने को या दूसरों को) वश मे रखना, प्राप्त भोगों को भोगने की इच्छा, इति—ये, सर्वाणि—सारे, एव—ही, एतानि—ये, प्रज्ञानस्य—उत्कृष्ट ज्ञान के ही, नामधेयानि—नाम, सज्ञाए, भवन्ति—है ॥२॥

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि
पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव।
बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि
चोद्भिज्जानि चाश्वा गाव पुरुषा हस्तिनो यत्किचेद प्राणि जगम
च पतत्रि च यच्च स्थावर सर्वं तत्प्रज्ञानेत्र प्रज्ञाने
प्रतिष्ठित प्रज्ञानेत्रो लोक प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञान ब्रह्म ॥३॥

एष—यह (उपास्य आत्मा—ब्रह्म ही), ब्रह्मा—ब्रह्मा (जगत्स्रष्टा), एष इन्द्र—यह इन्द्र, ईश्वर, एष प्रजापति—यह प्रजापति, एते सर्वे देवा—ये सब देव, इमानि च—और ये, पञ्च—पाच, महाभूतानि—महाभूत, पृथिवी—पृथिवी (१), वायु—वायु (२), आकाश—आकाश (३), आप—जल (४), ज्योतींषि—तेज (५), एतानि—ये (पाच), इमानि च—और

है--'प्रज्ञानेत्रो लोक'। वह 'प्रज्ञान' ही ब्रह्म है, वही इन्द्र है, वही प्रजापति है। जिस आत्मा की हम उपासना करते है, वह यही है ॥३॥

(ससार प्रज्ञान' मे प्रतिष्ठित है--अर्थात् ससार का निर्माण सोच-समझ पर आश्रित है, यह अटकलपच्चू नही है।)

उपासक इसी 'प्रज्ञ'-आत्मा की उपासना से इस मर्त्य-लोक से उत्क्रमण कर उस स्वर्ग-लोक मे सब कामनाओ को प्राप्त कर अमृत हो गया, हो गया ॥४॥

ये, **क्षुद्रमिश्राणि इव**--कुछ-कुछ आपस मे मिश्रित (पदार्थ), **बीजानि**--बीज, **इतराणि**--दूसरे, **च**--और, **इतराणि**--दूसरे, अन्य, **च**--और, **अण्डजानि**--अण्डे से उत्पन्न होने वाले (पक्षी-मत्स्य, कूर्म-सर्प आदि), **च**--और, **जारुजानि**--जरायु (जेर) से उत्पन्न होने वाले (मनुष्य-गाय आदि), **स्वेदजानि**--स्वेद (गर्मी व नमी के योग) से उत्पन्न होने वाले (जू-गिजाई आदि), **च**--और, **उद्भिज्जानि**--उद्भिद् से उत्पन्न (जमीन फाडकर उत्पन्न होने वाले--वृक्ष वनस्पति आदि), **च**--और, **अश्वा**--घोडे, **गाव**--गौए, **पुरुषा**--मनुष्य, **हस्तिन**--हाथी, **यत् किम् च**--और जो कुछ भी, **इदम्**--यह, **प्राणि**--प्राणधारी (सास लेने वाला), **जगमम्**--गतिशील, चर, **च**--और, **पतत्रि**--उडने वाला, **च**--और, **यत् च**--और जो, **स्थावरम्**--स्थिर रहने वाले, गतिशून्य (पर्वत आदि), **सर्वम् तत्**--वह सब ही, **प्रज्ञा-नेत्रम्**--प्रज्ञा (बुद्धि-ज्ञान) से प्रेरित, **प्रज्ञाने**--प्रज्ञा (बुद्धि) पर, **प्रतिष्ठितम्**--आश्रित है, **प्रज्ञानेत्र**--प्रज्ञा से प्रेरित (प्रज्ञा है नेत्र--नेता जिसका), **लोक**--(यह) ससार, **प्रज्ञा**--बुद्धि, चिति-शक्ति ही, **प्रतिष्ठा**--आश्रय, **प्रज्ञानम्**--प्रज्ञा, **ब्रह्म**--बडा, मुख्य है, (**प्रज्ञानम् ब्रह्म**--बुद्धि का अधिष्ठाता आदि-गुरु ब्रह्म है, वह ही वह आत्मा है, जो उपास्य है) ॥३॥

स एतेन प्रज्ञेनात्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वाऽमृत समभवत् समभवत्। इत्योम् ॥४॥

स--वह (उपासक), **एतेन**--इस, **प्रज्ञेन**--सर्वज्ञाता, **आत्मना**--परमात्मा द्वारा (की उपासना करके), **अस्मात् लोकात्**--इस (पृथिवी) लोक से या इस मनुष्य-जन्म से, **उत्क्रम्य**--ऊपर उठकर, इसे छोडकर, **अमुष्मिन्**--उस, **स्वर्गे**--सुखमय, **लोके**--लोक मे, (**स्वर्गे लोके**--आनन्दमय लोक, परमधाम मोक्ष मे), **सर्वान्**--सब, **कामान्**--कामनाओ को, **आप्त्वा**--प्राप्त कर, **अमृत**--अमर (जन्म-मरण बन्धन से मुक्त), **समभवत्**--हो गया, **समभवत्**--हो गया, **इति ओम्**--यह उपनिषद् समाप्त हुई ॥४॥

उपदेश की समाप्ति पर ऋषि कहते हैं—मेरी वाणी मन में प्रतिष्ठित हो, मेरा मन वाणी में प्रतिष्ठित हो। मन और वाणी की एकात्मता से मेरे अन्तरात्मा का उत्तरोत्तर विकास हो। मैं वेद को प्राप्त कर सकूं। मेरा सुना हुआ अनायास ही न नष्ट हो जाय। इस पढ़े हुए से दिन-रात को एक कर दूं। ऋत कहूं, सत्य कहूं, मेरी रक्षा करो, मुझे उपदेश देने वाले की रक्षा करो, मेरी तथा मेरे गुरु की रक्षा करो। ओ शान्ति. शान्ति शान्ति।

वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थ श्रुत मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाऽहोरात्रान्सदधाम्यृत वदिष्यामि सत्य वदिष्यामि तन्मामवतु तद्वक्तारमवत्ववतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्। ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ॥

वाङ्—वाणी, मे—मेरी, मेरे, मनसि—मनन मे, ज्ञान मे, प्रतिष्ठिता—स्थित हो गई, मन—मन, मे—मेरी, वाचि—वाणी मे, प्रतिष्ठित हो, आवि—प्रकट, प्रत्यक्ष, आवी—रक्षा, मे—मुझे, एधि—(प्राप्त) हो, वेदस्य—वेद का, ज्ञान का, मे—मे, आणीस्थ—सूक्ष्म अग्र-भाग (अग्र्या बुद्धि) मे स्थित हो, श्रुतम्—सुना हुआ ज्ञान, मे—मुझे, मा—मत, प्रहासी—छोडे, अनेन—इन, अधीतेन—अध्ययन मे, अहोरात्रान्—दिन-रातों को, सदधामि—जोड़दूं, एक कर दूं, ऋतम्—यथार्थ बात, वदिष्यामि—कहूंगा, सत्यम्—सत्य, वदिष्यामि—बोलूंगा, तत्—वह (अध्ययन), माम्—मेरी, अवतु—रक्षा करे, तद्—वह (अध्यापन), वक्तारम्—उपदेष्टा को (की), अवतु—रक्षा करे, अवतु माम्—मेरी रक्षा करे, अवतु वक्तारम्—उपदेष्टा की रक्षा करे, अवतु वक्तारम्—उपदेष्टा की रक्षा करे, ओम् शान्ति शान्ति शान्ति—हे सर्वरक्षक प्रभु हमे तीनो कालो मे सर्वथा आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक शान्ति एवम् शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक शान्ति प्राप्त हो ॥

छान्दोग्य-उपनिषद्

प्रथम प्रपाठक—(पहला खंड)

(प्रथम प्रपाठक के तेरहों खंडों में उद्गीथ अर्थात् ओंकार की उपासना का वर्णन है)

'ओम्'—यह अक्षर 'उद्गीथ' है, इस 'उद्गीथ' की उपासना करे। गायक 'ओम्' ही का उच्च-स्वर से गान करता है, उसी का आगे व्याख्यान है ॥१॥

('उत्' अर्थात् उच्च-स्वर में गाने को 'उद्गीथ' कहते हैं। 'ओम्' भगवान् का नाम है—इसका उच्च-स्वर में गान करना उद्गीथ-गान है।)

पाँचों महाभूतों का रस पृथिवी है, पृथिवी का रस जल है, जलों का रस ओषधियां है, ओषधियों का रस पुरुष है, पुरुष का रस वाणी है, वाणी का रस ऋक्, अर्थात् भगवान् की स्तुति है, ऋक् का रस साम, अर्थात् प्रभु के नाम का गायन है, साम का रस उद्गीथ, अर्थात् ओंकार का 'उत्'—अर्थात् उच्च-स्वर से, 'गीथ'—अर्थात् गान है ॥२॥

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत, ओमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥१॥

ओम्—ब्रह्म-वाचक, इति—यह, एतद्—इस, अक्षरम्—अविनाशी, अक्षरमय पद (ओंकार) को, उद्गीथम्—उद्गीथ (उच्च स्वर में गायन द्वारा), उपासीत—उपासना करे, ओम् इति हि—ओम् इस ही को, उद्गायति—उच्च स्वर में गान करता है, तस्य—इस ('ओम्' उद्गीथ) का, उपव्याख्यानम्—(आगे) व्याख्यान करते हैं ॥१॥

एषां भूतानां पृथिवी रस पृथिव्या आपो रसोऽपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रस पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋच साम रस साम्न उद्गीथो रस ॥२॥

एषाम्—इन, भूतानाम्—पांच महाभूतों का, पृथिवी—स्थूल (दृश्य) पृथिवी, रस—रस (आनन्द, सार-निचोड़) है, पृथिव्या—पृथिवी का, आप—जल, रस—रस (है), अपाम्—जल का, ओषधय—ओषधियां, रस—रस (है), ओषधीनाम्—वनस्पतियों का, पुरुष—मनुष्य-

यह जो 'उद्गीथ' है—ओंकार का उच्च-ध्वनि से गान है—वह रसों का रस है, परम-रस है, सर्वोच्च-स्थानी रस है, रसों की शृंखला में, पृथिवी-जल-ओषधि-पुरुष-वाणी-ऋक्-साम-उद्गीथ के रस-क्रम में वह आठवां रस है ॥३॥

ऋक् कौन-कौन-सी है, साम कौन-कौन-सा है, उद्गीथ कौन-कौन-सा है—इसका विमर्श भी तो करना चाहिए ॥४॥

वाणी ही ऋक् है, प्राण साम है, ओम् जो अक्षर है यही उद्गीथ है। अथवा, वाणी और प्राण का एक मिथुन है, एक जोड़ा है, और ऋक् और साम का दूसरा मिथुन है, दूसरा जोडा है ॥५॥

शरीर, रस—रस (है), पुरुषस्य—पुरुष का, वाग्—वाणी, रस—रस (है), वाच—वाणी का, ऋक्—ऋग्वेद (स्तुतिपरक-मन्त्र), रस—रस (है), ऋच—ऋचा का, साम—सामवेद (भक्ति-गान-परक मन्त्र), रस—रस (है), साम्न—साम-गायन का, उद्गीथ—उच्च स्वर से गायन (ओम्), रस—रस है ॥२॥

स एष रसानाँ रसतम परम परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथ ॥३॥

स एष—वह यह, रसानाम्—रसों में, रसतम—सर्वोत्तम रस, परम—श्रेष्ठ, परार्ध्य—सर्वोच्च स्थानी, अष्टम—(ऊपर गिनाये रसों में) आठवां, यद्—जो, उद्गीथ—उद्गीथ है ॥३॥

कतमा कतमर्क्कतमत्कतमत्साम कतम कतम उद्गीथ इति विमृष्ट भवति ॥४॥

कतमा-कतमा—कौन-कौन सी, ऋक्—ऋचा, कतमत्-कतमत्—कौन-कौन सा, साम—साम-गायन, कतम-कतम—कौन-कौन सा, उद्गीथ—उद्गीथ (है), इति—यह बात, विमृष्ट—विचारणीय, भवति—है ॥४॥

वागेवर्क् प्राण सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथ ।
तद्वा एतन्मिथुन यद्वाक् च प्राणश्चर्क् च साम च ॥५॥

वाग् एव—वाणी ही, ऋग्—ऋचा है, प्राण—प्राण ही, साम—साम, ओम् इति एतत् अक्षरम्—'ओम्' यह अक्षर (पद) ही, उद्गीथ—उद्गीथ है, तद्—तो, वै—निश्चय ही, एतद्—यह, मिथुनम्—जोडा है, यद् वाक् च प्राण च—जो (जोडा) वाणी और प्राण (का है), (और दूसरा) ऋक् च साम च—ऋचा और साम (का जोडा है) ॥५॥

जैसे जोडे के मिलने से नवीन-सृष्टि उत्पन्न होती है, वैसे वाणी और प्राण तथा ऋक् और साम के जोड़े से 'ओम्'—इस अक्षर की सृष्टि होती है। वाणी द्वारा प्रभु का नाम प्राण-शक्ति से जब गाया जाता है, तब ओंकार प्रकट होता है, इसी प्रकार ऋचा, अर्थात् भगवान् की स्तुति के वाक्य, साम-गान, अर्थात् संगीत में पड़कर, ओंकार को जन्म देते हैं। जब दो परस्पर मिलते हैं, तब वे एक-दूसरे की कामना को पूर्ण करते हैं, इसी प्रकार जब वाणी के साथ प्राण तथा ऋचा के साथ साम मिलकर प्रभु के ओंकार नाम का गान करते हैं, तब एक-दूसरे की पूर्ति करते हैं ॥६॥

जो इस प्रकार जानता हुआ अक्षर उद्गीथ की उपासना करता है, वह निश्चय ही आप्त-काम हो जाता है ॥७॥

'ओम्'—यही अक्षर अनुज्ञा में भी प्रयुक्त होता है। जब किसी बात की अनुज्ञा—स्वीकृति—देनी होती है, तब 'ओम्' कहकर दी जाती है। अनुज्ञा देना—किसी बात की स्वीकृति देना—समृद्धि का

तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे सँसृज्यते यदा वै मिथुनौ समागच्छत आपयतो वै तावन्योन्यस्य कामम् ॥६॥

तद् एतद् मिथुनम्—वह यह जोडा, **ओम्**—'ओम्', **इति एतस्मिन्**—इस, **अक्षरे**—अक्षर (पद) मे, **संसृज्यते**—संसर्ग करते है, आपस मे मिलते हैं, **यदा वै**—जब ही, **मिथुनौ**—स्त्री और पुरुष दोनो, **समागच्छत**—संगत होते है, **आपयत**—पूर्ण करते है, **वै**—ही, **तौ**—वे दोनो, **अन्योन्यस्य**—एक-दूसरे के, **कामान्**—कामनाओ को, मनोरथ को ॥६॥

आपयिता ह वै कामाना भवति य एतदेव विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥७॥

आपयिता—पूर्ण करने वाला, **ह वै**—निश्चय से, **कामानाम्**—कामनाओ का, **भवति**—होता है, **य**—जो, **एतद्**—इसको, **एवम्**—इस प्रकार, **विद्वान्**—जानने वाला, जानता हुआ, **अक्षरम्**—'ओम्' इस अक्षर को, **उद्गीथम्**—उद्गीथ (रूप मे), **उपास्ते**—उपासना करता है (ओम् का उच्च स्वर से गान करता है) ॥७॥

तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं यद्धि किंचानुजानात्योमित्येव तदाहैषो एव समृद्धिर्यदनुज्ञा समर्धयिता ह वै कामाना भवति य एतदेव विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥८॥

तद् वै—वह (ओम्), **एतद्**—यह, **अनुज्ञा-अक्षरम्**—अनुमति का (अनुमति-स्वीकृति सूचक) अक्षर है, **यद् हि किंच**—जो कुछ भी (बात की),

सूचक है, जो समृद्ध है, आप्त-काम है, वही तो अनुज्ञा देता है। जो इस प्रकार जानता हुआ अक्षर उद्गीथ की उपासना करता है, वह कामनाओ को पूरा करने वाला हो जाता है ॥८॥

'ओंकार' से ही त्रयी विद्या का प्रारभ होता है, सोम-यज्ञ में अध्वर्यु, होता, उद्गाता ओंकार से ही अपना काम प्रारभ करते है; इसी अक्षर की पूजा के लिये, इसी की महिमा से और इसी के रस से ससार के सब काम चलते है ॥९॥

प्रभु के ओंकार नाम की जिस महिमा का वर्णन किया गया, उसे जो जानता है और जो नही जानता—उन दोनो का उसी की कृपा

अनुजानाति—अनुमति-स्वीकृति देता है, **ओम् इति एव**—(वह मनुष्य तब) 'ओम्' ऐसे ही, **तद्**—उस को, **आह**—कहता है, **एषा उ एव**—यह ही, **समृद्धि**—महा-ऐश्वर्य है, **यद्**—जो, **अनुज्ञा**—अनुमति-स्वीकृति देना है, **समर्धयिता**—बढाने वाला, समृद्ध (महाधनी), **ह वै**—निश्चय ही, **कामानाम्**—काम्य भोगो का, **भवति**—हो जाता है, **य एतद् एवम् विद्वान् अक्षरम् उद्गीथम् उपास्ते**—जो इस (ओम्) को इस प्रकार जानता हुआ अक्षर (ओम्) की उद्गीथ रूप मे उपासना करता है ॥८॥

तेनेय त्रयी विद्या वर्त्तते ओमित्याश्रावयत्योमिति
श॰ सत्योमित्युद्गायत्येतस्यैवाक्षरस्यापचित्यै महिम्ना रसेन ॥९॥

तेन—उस (अक्षर 'ओम्') से, **इयम्**—यह, **त्रयो विद्या**—तीनो प्रकार के वेदमत्र (ऋग्, यजु, साम), **वर्त्तते**—(प्रारम्भ) होती है, **ओम् इति**—'ओम्' यह (बोल कर ही), **आश्रावयति**—(ऋचाओ का) होता उच्चारण करता है, **ओम् इति**—'ओम्' यह (बोलकर ही), **शसति**—(अध्वर्यु यजुर्वेद मन्त्रो द्वारा कर्म का) उपदेश करता है, **ओम् इति**—'ओम्' यह (बोलकर ही), **उद्गायति**—(उद्गाता साम-मत्रो का) उच्च स्वर से गान करता है, **एतस्य एव**—इस ही, **अक्षरस्य**—('ओम्' पद) की, **अपचित्यै**—पूजा के लिए, बढती के लिए, **महिम्ना**—महत्ता से (महत्त्वशाली), **रसेन**—रस रूप (उद्गीथ) से ॥९॥

तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेव वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या
चाविद्या च। यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव
वीर्यवत्तर भवतीति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यान भवति ॥१०॥

तेन—उस ('ओम्' अक्षर) से, **उभौ**—दोनो (ज्ञानी व अज्ञानी), **कुरुत**—(अपने-अपने कार्य) करते है, **य च**—और जो, **एतद्**—इस (अक्षर) को,

से काम चल रहा है। विद्या तथा अविद्या भिन्न-भिन्न हैं—जो विद्या से, ओंकार की महिमा को जानता हुआ काम करता है, श्रद्धा से और उपनिषद् के ज्ञान से काम करता है, उसका काम वीर्यशाली होता है। यह-सब कुछ उस अक्षर ओंकार का ही व्याख्यान है ॥१०॥

प्रथम प्रपाठक—(दूसरा खंड)

(पिंड में प्राण तथा ब्रह्मांड में सूर्य ओंकार का प्रतिनिधि है, २ से ३ खंड)

'देव' और 'असुर'—ये दोनों 'प्रजापति' की सन्तान हैं। जब ये आपस में लड़ने लगे, तब देवताओं ने 'उद्गीथ' को इसलिये ग्रहण कर लिया कि इससे असुरों का हम पराभव कर देंगे ॥१॥

एवम् वेद—इस प्रकार जानता है, **य च न वेद**—और जो नहीं जानता, **च**—और, **नाना**—भिन्न-भिन्न (हैं), **तु**—तो, **विद्या**—विद्या (ज्ञान), **अविद्या च**—और अविद्या (अज्ञान), **यद् एव**—जिस (कर्म) को ही, **विद्यया**—ज्ञान से (ज्ञानपूर्वक), **करोति**—करता है, **श्रद्धया**—सत्य-निष्ठा से, **उपनिषदा**—उपनिषद् से, योग से, तल्लीन होकर या किसी ज्ञानी के सहवास से परामर्श कर, **तद्**—वह (कर्म), **एव**—ही, **वीर्यवत्तरम्**—अधिक फलप्रद, सफल, **भवति**—होता है, **इति खलु**—निश्चय से यह, **एतस्य एव**—इस ही, **अक्षरस्य**—अक्षर ('ओम्') का, **उपव्याख्यानम्**—व्याख्यान (स्पष्टीकरण), **भवति**—है ॥१०॥

देवासुरा ह वै यत्र संयेतिर उभये प्राजापत्यास्तद्ध
देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिभविष्याम इति ॥१॥

देवासुरा (देव+असुरा)—देव (सत्पुरुष, सद्-इन्द्रिय-वृत्तियां, सद्-मनोभाव) और असुरों (दुष्ट-पुरुष, दुष्ट-इन्द्रिय-वृत्तियां, दुष्ट-मनोभाव) ने, **ह वै**—यह प्रसिद्ध है, **यत्र**—जिस (निमित्त) पर, **संयेतिरे**—युद्ध किया, **उभये**—ये दोनों ही, **प्राजापत्या**—प्रजापति (सद्गृहस्थ) की ही सन्तान थे (प्रजापति—जीवात्मा संबन्धी इन्द्रिय और मनोवृत्तियां थीं), **तद्**—तो, **ह**—निश्चय से, **देवा**—देवों ने, **उद्गीथम्**—उद्गीथ (ओंकार-जप) को, **आजह्रुः**—आहरण किया, स्वीकार किया, **अनेन**—इस (उद्गीथ) से, **एतान्**—इन (असुरों) को, **अभिभविष्याम**—तिरस्कृत, पराभूत करेंगे या जीतेंगे, **इति**—इस कारण से ॥१॥

उन्होने नासिका में रहने वाले प्राण, अर्थात् 'घ्राण-शक्ति' को शरीर में उद्गीथ का प्रतीक मानकर उसकी उपासना की, यह सोचा कि इससे हम असुरो का पराभव कर देंगे। घ्राण को असुरों ने पाप से बींध दिया, इसलिये मनुष्य घ्राण से दोनो को सूंघता है--सुगंधि तथा दुर्गन्धि--इन दोनो को, क्योकि घ्राण पाप से जो बिंधा हुआ है ॥२॥

तब देवो ने वाणी को शरीर में उद्गीथ का प्रतीक मानकर उसकी उपासना की, और सोचा कि वाणी से हम असुरो का पराभव कर देंगे। उसे भी असुरो ने पाप से बींध दिया, इसलिये मनुष्य वाणी से दोनो बातें कहता है--सत्य और अनृत--ये दोनो, क्योकि वाणी पाप से जो बिंधी हुई है ॥३॥

ते ह नासिक्य प्राणमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे तँ हासुरा पाप्मना विविधुस्त-स्मात्तेनोभय जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च पाप्मना ह्येष विद्ध ॥२॥

ते ह—उन (देवताओं) ने, नासिक्यम्—नासिका में होने (रहने) वाले, प्राणम्—घ्राणेन्द्रिय को, उद्गीथम्—उद्गीथ (मान कर—के रूप में), उपासाञ्चक्रिरे—उपासना की, तम् ह—उस (नासिक्य प्राण) को, असुरा—असुरों ने, पाप्मना—पाप से, त्रुटि या कमी से, विविधु—बींधा, आहत किया, तस्मात्—उस कारण से, अतएव, तेन—उस (घ्राण-इन्द्रिय) से, उभयम्—दोनों को, जिघ्रति—सूंघता है, सुरभि—सुगन्ध (पदार्थ), च—और, दुर्गन्धि—बुरी गन्ध वाला (पदार्थ), च—और, पाप्मना—पाप से, त्रुटि या कमी से, हि—क्योंकि, एष—यह (घ्राण—प्राण), विद्ध—बिंधा हुआ, आहत (है) ॥२॥

अथ ह वाचमुद्गीथमुपासाचक्रिरे तॉँ हासुरा पाप्मना विविधुस्तस्मात्तयोभय वदति सत्य चानृत च पाप्मना ह्येषा विद्धा ॥३॥

अथ ह—इसके अनन्तर, वाचम्—वाणी को, उद्गीथम्—उद्गीथ (रूप में), उपासाचक्रिरे—उपासना की, तम् ह—उस (वाणी रूप उद्गीथ) को भी, असुरा—असुरों ने, पाप्मना—पाप से, त्रुटि से, विविधु—बींध दिया, आहत किया, तस्मात्—उस कारण से, तया—उस (वाणी) से, उभयम्—दोनों को, वदति—बोलता है, सत्यम् च—सत्य को, अनृतम् च—और झूठ को, हि—क्योंकि, पाप्मना—पाप से, एषा—यह वाणी, विद्धा—आहत है ॥३॥

तब देवो ने चक्षु को शरीर मे उद्गीथ का प्रतीक मानकर उसकी उपासना की, और सोचा कि चक्षु से हम असुरो का पराभव कर देंगे। उसे भी असुरो ने पाप से बींध दिया, इसलिये मनुष्य आखो से दोनो पदार्थ देखता है—दर्शनीय तथा अदर्शनीय—इन दोनो को, क्योकि आंख पाप से जो बिंधी हुई है ॥४॥

तब देवो ने श्रोत्र को शरीर मे उद्गीथ का प्रतीक मानकर उसकी उपासना की, और सोचा कि श्रोत्र से हम असुरो का पराभव कर देंगे। उसे भी असुरो ने पाप से बींध दिया, इसलिये मनुष्य कानो से दोनो बातें सुनता है—श्रवण-योग्य तथा श्रवण के अयोग्य—ये दोनो बातें, क्योकि कान पाप से जो बिंधे हुए हैं ॥५॥

तब देवो ने मन को शरीर में उद्गीथ का प्रतीक मानकर उसकी उपासना की, और सोचा कि मन से हम असुरो का पराभव कर देंगे।

अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासाचक्रिरे तद्धासुरा· पाप्मना विविधुस्त-
स्मात्तेनोभय पश्यति दर्शनीय चादर्शनीय च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥४॥

अथ ह—इसके बाद, चक्षु उद्गीथम् उपासाञ्चक्रिरे—आख की उद्गीथ-रूप मे उपासना करने लगे, तद् ह—उस (आख) को भी, असुरा. पाप्मना विविधु—असुरो ने पाप से बींध दिया, आहत कर दिया, तस्मात् तेन उभयम् पश्यति—उस कारण से ही उस (आख) से दोनो को ही देखता है, दर्शनीयम् च—देखने योग्य, सत्य-शिव-सुन्दर (पदार्थ) को, अदर्शनीयम् च—और न देखने योग्य, कुरूप (पदार्थ) को, पाप्मना हि एतद् विद्धम्—क्योकि यह (आख) पाप (त्रुटि) से आहत है ॥४॥

अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासाचक्रिरे तद्धासुरा पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनो-
भय॑ शृणोति श्रवणीय चाश्रवणीय च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥५॥

अथ ह—इसके बाद, श्रोत्रम् उद्गीथम् उपासाञ्चक्रिरे—कान (श्रवण-शक्ति) की उद्गीथ रूप मे उपासना करने लगे, तत् ह—उस (कान) को भी, असुरा—असुरो ने, पाप्मना विविधु—पाप (त्रुटि) से आहत (युक्त) कर दिया, तस्मात् तेन उभयम् शृणोति—अत एव उस (कान) से दोनो को ही सुनता है, श्रवणीयम् च—सुनने योग्य (मधुर, हित-मित वचन) को, अश्रवणीयम् च—न सुनने योग्य (कटु, गन्दे, अहितकर वचन) को, पाप्मना हि एतद् विद्धम्—क्योकि यह (कान) पाप से आहत (लिप्त) है ॥५॥

अथ ह मन उद्गीथमुपासाचक्रिरे तद्धासुरा पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनो-
भय॑ सकल्पयते सकल्पनीय चासकल्पनीय च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥६॥

उसे भी असुरों ने पाप से बींध दिया, इसलिये मनुष्य मन से दोनों प्रकार का संकल्प करता है—विचारणीय तथा अविचारणीय, क्योंकि मन पाप से जो विंधा हुआ है ॥६॥

तब देवों ने मुख में रहने वाले प्राण को शरीर में उद्‌गीथ का प्रतीक मान कर उसकी उपासना की, और सोचा कि इससे हम असुरों का पराभव कर देंगे। अन्य इन्द्रियों में स्वार्थ की भावना है, मुख में स्वार्थ की भावना नहीं है। मुख जो लेता है, अपने पास कुछ न रखकर, सब में बांट देता है, प्राण भी दिन-रात चलता हुआ आंख, कान, नाक आदि सभी इन्द्रियों को सजीव बनाये हुए है। जब असुर मुख में रहने वाले प्राण अथवा 'मुख्य-प्राण' को पाप से बींधने के लिये उसके पास पहुंचे, तो ऐसे नष्ट हो गये जैसे कठोर पत्थर से टकराकर मिट्टी का ढेला नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है ॥७॥

(मुख में रहने वाले प्राण को उद्‌गीथ का प्रतीक मानकर उसकी उपासना का अभिप्राय मुख द्वारा उच्च घोष से ओंकार के

अथ ह—इसके बाद, मन उद्‌गीयम् उपासाञ्चक्रिरे—मन को उद्‌गीथ मान कर उपासना करने लगे, तद् ह असुरा पाप्मना विविधु—उस (मन) को असुरों ने पाप से बींध दिया, तस्मात् तेन उभयम्—उस कारण से उस (मन) ने दोनों का ही, संकल्पयते—संकल्प (सोच-विचार) करता है, संकल्पनीयम् च—संकल्प (विचार) करने योग्य, असंकल्पनीयम् च—न विचार करने योग्य, अशुभ विचार, पाप्मना हि एतद् विद्धम्—क्योंकि यह पाप से आहत है ॥६॥

अथ ह य एवायं मुख्य प्राणस्तमुद्‌गीथमुपासाञ्चक्रिरे तं हासुरा ऋत्वा विदध्वंसुर्यथाऽश्मानमाखणमृत्वा विध्वंसेत ॥७॥

अथ ह—इसके बाद, य एव अयम्—जो ही यह, मुख्य—मुख में होने वाला या (सर्व-शरीर-व्यापी) प्रधान, प्राण—प्राण (जीवनदाता आत्मा) है, तम्—उसकी ही, उद्‌गीयम् उपासाञ्चक्रिरे—उद्‌गीथ रूप में उपासना प्रारम्भ की, तम् ह—उस (मुख्य प्राण) को, असुरा—असुर, ऋत्वा—पहुंच कर, पास जाकर, विदध्वंसु—नष्ट हो गये, यथा—जैसे, अश्मानम्—पत्थर को, आखणम्—न खोदे जाने लायक, न हिलने-डुलने वाले, स्थिर, ऋत्वा—पास जाकर, विध्वंसेत—(टकराकर मिट्टी का ढेला) नष्ट हो जाये (हो जाता है) ॥७॥

नाद को गुजाने से है—इसी को उद्गीथ कहते हैं, 'उत्' अर्थात् उच्च-स्वर से, 'गीथ' अर्थात् गाना। अन्य इन्द्रियो से उद्गीथोपासना मे शुभाशुभ वासना बनी रहती है, 'मुख' मे 'प्राण' के योग द्वारा उद्गीथोपासना करने से, अर्थात् उच्च-घोष से ओंकार के नाद को गुजाने से पाप का स्पर्श नही होता क्योंकि मुख तथा प्राण दोनो मे स्वार्थ का सम्पर्क नही है।)

जैसे कठोर पत्थर से टकराकर मिट्टी का ढेला चूर-चूर हो जाता है, इसी प्रकार वह नष्ट हो जाता है, जो ओंकार के उपासक के लिये पाप की कामना करता है, या उस पर आक्रमण करता है। उपासक एक अडिग चट्टान है ॥८॥

मुख-स्थित प्राण से न मनुष्य सुगन्धि को जानता है, न दुर्गन्धि को—यह प्राण पाप-रहित है, स्वार्थ-शून्य है, तभी तो यह जो-कुछ खाता है, पीता है, उससे अन्य इन्द्रियो की पालना करता है। अन्त में मृत्यु-समय पर इस प्राण के न मिलने पर मनुष्य चल देता है, और आखीरी घडी में मुह फाड देता है, मानो उसे लौटा लाना चाहता है ॥९॥

एव यथाऽश्मानमाखणमृत्वा विध्वँसत एवँ हैव स विध्वँसते य एवंविदि पाप कामयते यश्चैनमभिदासति स एषोऽश्माखण ॥८॥

एवम्—इस ही प्रकार, **यथा**—जैसे, **अश्मानम्**—पत्थर को, **आखणम्**—कठोर, स्थिर, **ऋत्वा**—पास जाकर (टकराकर), **विध्वसते**—(मट्टी का ढला) नष्ट हो जाता है, **एवम् ह एव**—इस प्रकार ही, **स**—वह, **विध्वसते**—नष्ट हो जाता है, **य**—जो, **एवविदि**—इस (उद्गीथ) के जानने वाले मे (के लिए), **पापम्**—पाप को, अनिष्ट को, **कामयते**—चाहना करता है, **य च**—और जो, **एनम्**—इस (तत्त्वज्ञ) को, **अभिदासति**—दबाना चाहता है, आक्रमण करना चाहता है, **स एष**—वह यह (तत्त्वज्ञानी, उद्गीथ का उपासक) तो, **अश्माखण**—स्थिर अडिग पत्थर (चट्टान के समान) है ॥८॥

नैवैतेन सुरभि न दुर्गन्धि विजानात्यपहतपाप्मा ह्येष तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान् प्राणानवति। एतमु एवान्ततोऽवित्त्वोत्क्रामति व्याददात्येवान्तत इति ॥९॥

न एव—नही, **एतेन**—इस (मुख्य प्राण) से, **सुरभि**—सुगन्ध (पदार्थ) को, **न**—नही, **दुर्गन्धि**—बुरी गन्ध वाले (पदार्थ) को, **विजानाति**—जानता

मुख-स्थित प्राण को उद्गीथ का प्रतीक मानकर अंगिरस् ने ओंकारोपासना की, इससे उसका कल्याण हो गया। इसलिये प्राण को 'आंगिरस' माना जाता है, शरीर के अंगों का यह रस है ॥१०॥

इसी प्रकार मुख-स्थित प्राण को उद्गीथ का प्रतीक मानकर बृहस्पति ने ओंकारोपासना की, इससे उसका भी कल्याण हो गया। इसलिये प्राण को 'बृहस्पति' माना जाता है, वाणी 'बृहती' है, महान् है, और प्राण उसका 'पति' है ॥११॥

है, अपहतपाप्मा—नष्ट पाप वाला, उसके पाप नष्ट हो चुके हैं, निष्पाप, हि—चूंकि, एष—यह (मुख्य प्राण) है, तेन—उसके द्वारा, यद्—जो कुछ, अश्नाति—खाता है, यत्—जो कुछ, पिबति—पीता है, तेन—उस (खाये-पिये) से, इतरान्—दूसरे (गौण), प्राणान्—प्राणों की, अवति—रक्षा करता है, एतम् उ एव—और इस (प्राण) को ही, अन्तत—अन्तकाल में, अवित्त्वा—(प्राण-शक्ति क्षीण हो जाने के कारण) न प्राप्त कर, उत्क्रामति—(शरीर छोड़ कर आत्मा) निकल जाता है, व्याददाति—(मुंह) खोल देता, फाड़ देता है, एव—ही, अन्तत—अन्त में, इति—यह ॥९॥

तं हाङ्गिरा उद्गीथमुपासाचक्र एतमु एवाङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां यद्रसः ॥१०॥

तम् ह—(उस मुख्य प्राण) को, अंगिरा—अंगिरस्-नामी ऋषि ने, उद्गीथम्—उद्गीथ रूप में, उपासाचक्रे—उपासना की, एतम् उ—उस (मुख्य प्राण) को, एव—ही, आंगिरसम्—आंगिरस, मन्यन्ते—मानते हैं, समझते हैं, कहते हैं, अङ्गानाम्—अंगों का, यद्—(यह) जो, रस—आनन्ददाता सार-तत्व है ॥१०॥

तेन तं ह बृहस्पतिरुद्गीथमुपासाचक्र एतमु एव
बृहस्पतिं मन्यन्ते वाग्घि बृहती तस्या एष पतिः ॥११॥

तेन—उससे ही (अतएव), तम् ह—उस (मुख्य प्राण) को, बृहस्पति—नामी ऋषि ने, उद्गीथम्—उद्गीथ रूप में, उपासाचक्रे—उपासना की, एतम् उ—इस (मुख्य प्राण) को, एव—ही, बृहस्पतिम्—बृहस्पति, मन्यन्ते—जानते हैं, वाक् हि—क्योंकि वाणी (का नाम), बृहती—बृहती (है), तस्या—उस (वाणी) का, एष—यह (मुख्य प्राण), पति—पालक, रक्षक, अधिष्ठाता है ॥११॥

इसी प्रकार मुख-स्थित प्राण को उद्गीथ का प्रतीक मानकर अयास्य ने ओंकारोपासना की, इससे उसका कल्याण हो गया। इसलिये प्राण को 'अयास्य' माना जाता है, 'आस्य' अर्थात् मुख, 'अय' अर्थात् जाना—अर्थात् जो मुख से आता-जाता है ॥१२॥

इसी प्रकार मुख-स्थित प्राण को उद्गीथ का प्रतीक मानकर दल्भ के पुत्र बक ने ओंकारोपासना की। वह इसके प्रताप से नैमिषारण्य के निवासियों का उद्गाता बन गया। वह गा-गाकर नैमिषारण्य-वासियों के मनोरथों को पूर्ण किया करता था ॥१३॥

जो ओंकारोपासना के रहस्य को जानता हुआ इस प्रकार अक्षर उद्गीथ की उपासना करता है, वह ओंकार के सघोष-नाद से कामनाओं को पूर्ण करनेवाला हो जाता है। शरीर की इन्द्रियों की दृष्टि से ओंकारोपासना का जो रहस्य था, वह 'अध्यात्म'-वर्णन कर दिया

तेन तँ हायास्य उद्गीथमुपासाचक्र एतमु
एवायास्यं मन्यन्त आस्याद्यदयते ॥१२॥

तेन—अतएव, तम् ह—उस (मुख्य प्राण) को, अयास्य—अयास्य-नामी ऋषि ने, उद्गीथम्—उद्गीथ रूप में, उपासाचक्रे—उपासना की, एतम् उ एव—इस (मुख्य प्राण) को ही, अयास्यम्—अयास्य, मन्यन्ते—समझते—कहते हैं, आस्याद्—मुख में, यत्—जो, क्योंकि, अयते—गति करता, आना-जाता है ॥१२॥

तेन तँ ह बको दाल्भ्यो विदाचकार। स ह नैमिषीयाणामुद्गाता बभूव स ह स्मैभ्यः कामानागायति ॥१३॥

तेन—अतएव, तम् ह—उस (मुख्य प्राण) को, बक—बक (नाम वाले) ऋषि ने, दाल्भ्य—दल्भ के पुत्र, विदाचकार—(उपासना कर) जान लिया, स ह—वह ही तो, नैमिषीयाणाम्—नैमिषारण्य-निवासी मन्त्र-यज्ञ-कर्ताओं का, उद्गाता—उद्गाता (ऋत्विज्), बभूव—हुआ, था, स ह—वह बक ऋषि, स्म—था, एभ्यः—इन (यज्ञ कर्ताओं) के लिए, कामान्—काम्य-भोगों का, आगायति—गान करता था, प्राप्त कराता था ॥१३॥

आगाता ह वै कामानां भवति य एतदेवं
विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्त इत्यध्यात्मम् ॥१४॥

आगाता—प्राप्त कराने वाला, पूरयिता, ह वै—अवश्यमेव, कामानाम्—कामनाओं का, भवति—होता है, य—जो, एतद्—इस, एवम्—इस प्रकार,

गया। उपनिषदों में 'अध्यात्म' का अर्थ है—आत्मा जिस शरीर में, पिंड में रहता है, उस शरीर को, अर्थात् पिंड को लक्ष्य में रख कर किया गया वर्णन ॥१४॥

प्रथम प्रपाठक—(तीसरा खंड)

अब देवताओं की दृष्टि से, अर्थात् पिंड को नहीं ब्रह्मांड को लक्ष्य में रखकर, ओंकारोपासना का जो रहस्य है, वह 'अधिदैवत' वर्णन प्रारंभ करते हैं। जैसे शरीर में 'प्राण' उद्गीथ का प्रतीक है, वैसे ब्रह्मांड में तप रहा 'सूर्य' उद्गीथ का प्रतीक है, उसकी उपासना करे। शरीर में निस्स्वार्थ चल रहे 'प्राण' को, और विश्व में स्वयं तप करके प्रकाश तथा जीवन फैलाने वाले 'सूर्य' को, ओंकार का भौतिक रूप समझ कर इनकी आराधना करे। उदय होता हुआ सूर्य मानो उद्-गीथ का रूप है, वह उदय होता हुआ मानो प्रजाओं के मनोरथों को उद्गाता की तरह गा रहा होता है, वह उदय होता हुआ भौतिक-अन्धकार तथा मानसिक-भय को मार भगाता है। जो इस प्रकार 'सूर्य' को उद्गीथ का प्रतीक मानता है, वह भय तथा अन्धकार को मार भगाता है ॥१॥

विद्वान्—जानने वाला, जानता हुआ, अक्षरम्—अविनाशी, 'ओम्' इस अक्षर को, उद्गीथम्—उद्गीथ को, उपास्ते—उपासना करता है, इति—यह, अध्यात्मम्—आत्मा के पिंड को लक्ष्य कर (वर्णन) है ॥१४॥

अथाधिदैवतम्। य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीतोद्यन्वा एष प्रजाभ्य उद्गायति उद्यँस्तमो भयमपहन्त्यपहन्ता ह वै भयस्य तमसो भवति य एवं वेद ॥१॥

अथ—अब, अधिदैवतम्—देवता सम्बन्धी, ब्रह्माण्ड सम्बधी (उद्गीथ का वर्णन करते हैं), य एव असौ—जो ही यह, तपति—(सूर्य) तप रहा है (उदीयमान है), तम्—उसको, उद्गीथम्—उद्गीथ रूप में, उपासीत—उपा-सना करे, ध्याये, उद्यन्—उगता हुआ (प्रातःकाल में), वै—ही, एष—वह (सूर्य), प्रजाभ्य—प्रजाओं के लिये, उद्गायति—(कल्याण का) गान (निर्देश) करता है, उद्यन्—उगता हुआ ही, तम—अन्धकार को, भयम्—(मानसिक) भय को, अपहन्ति—नष्ट कर देता है, अपहन्ता—नाशक, ह वै—निश्चय ही, भयस्य—भय का, तमस—अन्धकार (अविद्या) का, भवति—होता है, य—जो, एवम्—इस प्रकार, वेद—जानता है ॥१॥

'प्राण' तथा 'सूर्य' एक-समान ही हैं। यह 'प्राण' उष्ण है, शरीर मे गर्मी रखता है, वह 'सूर्य' भी उष्ण है, विश्व मे गर्मी रखता है। इस 'प्राण' को स्वर कहते है, उस 'सूर्य' को स्वर तथा प्रत्यास्वर दोनो कहते हैं। 'स्वर' का अर्थ है, 'जाने वाला'--प्राण मरने पर जाता है, उसी शरीर मे फिर लौटकर नही आता। 'प्रत्यास्वर' का अर्थ है, 'लौट कर आने वाला'--सूर्य 'स्वर' तो है ही, जाता तो है ही, परन्तु 'प्रत्यास्वर' भी है, लौट भी आता है, अस्त होकर उदय भी हो जाता है। इसलिये 'प्राण', 'सूर्य', तथा 'उद्गीथ' इन्हें एक समान समझ कर इनकी उपासना करे ॥२॥

'व्यान' को उद्गीथ का प्रतीक मानकर ओंकारोपासना करे। जो सास भीतर लिया जाता है वह 'प्राण' है, जो सास बाहर निकाला जाता है वह 'अपान' है, जो प्राण तथा अपान की सधि है--सास का अन्दर थमना है--वह 'व्यान' है। यह व्यान ही 'वाणी' है, इसलिये जब मनुष्य सास अन्दर नही ले जा रहा होता, न बाहर फेंक रहा होता है, तभी वाणी का व्यवहार करता है ॥३॥

समान उ एवाय चासो चोष्णोऽयमुष्णोऽसौ स्वर इतीममाचक्षते
स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुम्। तस्माद्वा एतमिममम् चोद्गीथमुपासीत ॥२॥

समान --समान, एक जैसे, उ एव--ही अयम्--यह (पिण्ड-स्थित प्राण), च--और, असौ--वह (ब्रह्माण्ड-स्थित सूर्य), च--और, उष्ण--गर्म (तेज दाता), अयम्--यह (प्राण), उष्ण--गर्म (गर्माई देनेवाला), असौ--यह (सूर्य), स्वर--स्वर (जानेवाला), इति--इस नाम से, इमम्--इम (प्राण) को, आचक्षते--कहते है, स्वर--स्वर (जानेवाला, अस्त होने वाला), इति--इस नाम से, प्रत्यास्वर--प्रत्यास्वर (लौट कर आनेवाला, पुन उदय-होनेवाला), इति--इन दो नामों से, अमुम्--इस (सूर्य) को (कहते है), तस्माद् वै--उस कारण से ही, इमम्--इम (प्राण) को, अमुम् च--और इन (सूर्य) को, उद्गीथम्--उद्गीथ रूप मे, उपासीत--उपासना करे ॥२॥

अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत। यद्वै प्राणिति स प्राणो
यदपानिति सोऽपान। अथ य प्राणापानयो सन्धि स व्यानो
यो व्यान सा वाक्। तस्मादप्राणन्ननपानन्वाचमभिव्याहरति ॥३॥

अथ खलु--और, व्यानम्--व्यान (प्राण-भेद) को, एव--ही, उद्-गीयम्--उद्गीथ रूप मे, उपासीत--आराधना करे, यद् वै--जो ही, प्राणिति

यह वाणी ही 'ऋक्' है, इसलिये ऋचा का उच्चारण तभी हो सकता है, जब न प्राण अन्दर लिया जा रहा हो, न अपान बाहर फेंका जा रहा हो। ऋचा ही 'साम' है, इसलिये साम-गान करते हुए न प्राण अन्दर लिया जाता है, न अपान बाहर फेंका जाता है। साम ही 'उद्गीथ' है, इसलिये गान करते हुए न प्राण काम करता है, न अपान काम करता है ॥४॥

इसके अतिरिक्त जो अन्य बल वाले कार्य हैं—जैसे अग्नि का मन्थन, संग्राम में सरपट दौड़ना, दृढ धनुष का खींचना—इन्हें प्राण

—अन्दर श्वास लिया जाता है, स—वह, प्राण—प्राण (कहलाता है), यद्—जो, अपानिति—बाहर प्राण निकाला जाता है, स—वह, अपान—अपान (कहलाता है), अथ—और, य—जो, प्राणापानयो—(प्राण+अपानयो)—प्राण और अपान की, सन्धि—रोकना, मेल, संयोग, स—वह, व्यान—व्यान (कहलाता है), य व्यान—जो व्यान (प्राण) है, सा वाग्—वही वाणी (है), तस्माद्—अतएव, अप्राणन्—सांस अन्दर न लेते हुए, अनपानन्—सांस बाहर न निकालते हुए ही, वाचम्—वाणी को, अभिव्याहरति—बोल सकता है ॥३॥

या वाक्सा ऋक्। तस्मादप्राणन्ननपानन्नृचमभिव्याहरति।
या ऋक् तत्साम। तस्मादप्राणन्ननपानन्साम गायति।
यत्साम स उद्गीथस्तस्मादप्राणन्ननपानन्नुद्गायति ॥४॥

या वाक्—जो वाणी है, सा ऋक्—वह ऋचा है, तस्मात्—उस कारण से, अप्राणन्—सांस न लेते हुए, अनपानन्—सांस न छोड़ते हुए, ऋचम्—ऋचा को अभिव्याहरति—उच्चारण करता है, या ऋक्—जो ऋचा है, तत्—वह ही, साम—साम-गान है, तस्मात्—उस कारण से, अप्राणन्—सांस न लेते हुए, अनपानन्—सांस न छोड़ते हुए, साम—साम-मंत्र का, गायति—गान किया जाता है, यत् साम—जो साम है, स उद्गीथ—वह ही उद्गीथ ('ओम्' का उच्च-स्वर से गान) है, तस्मात्—उस कारण से, अप्राणन्—सांस न लेते हुए, अनपानन्—सांस न छोड़ते हुए ही, उद्गायति—('ओम्' का) उच्च स्वर से गान किया जाता है ॥४॥

अतो यान्यन्यानि वीर्यवन्ति कर्माणि यथाऽग्नेर्मन्थनमाजेः सरणं दृढस्य धनुष आयमनमप्राणन्ननपानंस्तानि करोत्येतस्य हेतोर्व्यानमेवोद्गीथमुपासीत ॥५॥

अत—इस कारण से ही, यानि—जो, अन्यानि—दूसरे, वीर्यवन्ति—बल वाले, बल की अपेक्षा रखने वाले, कर्माणि—कार्य हैं, यथा—जैसे (उदा-

खींचने तथा अपान निकालने के बिना ही, इन्हें रोक कर करना होता है। यह अवस्था 'व्यान' की है, अत 'व्यान' को उद्गीथ का प्रतीक मानकर ओंकारोपासना करे ॥५॥

'उद्गीथ' के अक्षरो पर विचार करना भी आवश्यक है। वे अक्षर है—'उद्'—'गी'—'थ'। शरीर में 'प्राण' उत् है, इससे उठते है; 'वाणी' गीर् है, वाणी को गिरा कहते है, 'अन्न' थम् है, अन्न में ही सब कुछ स्थित है ॥६॥

ब्रह्माड में 'द्यौ' उत् है, 'अन्तरिक्ष' गीर् है, 'पृथिवी' थम् है। अथवा 'आदित्य' उत् है, 'वायु' गीर् है, 'अग्नि' थम् है। अथवा, 'सामवेद' उत् है, 'यजुर्वेद' गीर् है, 'ऋग्वेद' थम् है। जो इस प्रकार 'उद्-गी-थ' के अक्षरो को समझता है, उसके लिये वाणी-रूपी गौ

हरणार्थ), अग्ने—अग्नि का, मन्थनम्—अरणियो का जोर से रगडना, आजे—युद्ध का (सामुख्य मे शर्त लगाकर), सरणम्—भागना, दृढस्य—मजबूत, धनुष—धनुष् का, आयमनम्—(डोरी चढाने के लिए) झुकाना, मोडना, अप्राणन्—न साँस लेते हुए, अनपानन्—न साँस छोडते हुए ही, तानि—उन (कार्यो) को, करोति—करता है, एतस्य—इसके, हेतो—कारण से, व्यानम् एव—व्यान को ही, उद्गीथम्—उद्गीथ रूप मे, उपासीत—उपासना करे, ध्यान करे ॥५॥

अथ खलूद्गीथाक्षराण्युपासीतोद्गीथ इति। प्राण एवोत्प्राणेन ह्युत्तिष्ठति। वाग्गीर्वाचो ह गिर इत्याचक्षतेऽन्न थमन्ने हीदं सर्वं स्थितम् ॥६॥

अथ खलु—अब पुन, उद्गीथ-अक्षराणि—उद्गीथ (पद) के अक्षरो की, उपासीत—उपासना करे, उद्गीथ इति—(जो सब मिल कर) उद्गीथ ऐसे बने हैं, प्राण एव—प्राण ही, उद्—'उद्' (शब्द का वाच्य-अर्थ) है, प्राणेन हि—क्योंकि प्राण से ही, उत्तिष्ठति—ऊपर उठता है, उन्नति करता है, वाग्—वाणी, गी—'गी' (शब्द से अभिप्रेत) है, वाच ह—वाणियो को, गिर इति—गिर् ऐसे, आचक्षते—(लोक मे) कहते है (गिर् और वाणी पर्यायवाची शब्द है), अन्नम्—अन्न, थम्—'थ' है, अन्ने हि—अन्न पर ही, इदम् सर्वम्—यह सब, स्थितम्—ठहरा हुआ, आश्रित (है) ॥६॥

द्यौरेवोदन्तरिक्ष गी पृथिवी थमादित्य एवोद्वायुर्गीरग्निस्थम्। सामवेद एवोद्यजुर्वेदो गीर्ऋग्वेदस्थ दुग्धेऽस्मै वाग्दोह यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतान्येव विद्वानुद्गीथाक्षराण्युपास्त उद्गीथ इति ॥७॥

द्यौ एव उत्—द्यु लोक ही 'उद्' है, अन्तरिक्षम् गी—अन्तरिक्ष 'गी'

मानो अपना दूध दुह देती है—वाणी का यही दूध है—अर्थात्, इन अक्षरों के अभिप्राय को समझना ही वाणी को मानो दुह लेना है। जो 'उद्गीथ' के अक्षरों के आशय को समझता है, वह अन्नवान् तथा अन्न का भोक्ता हो जाता है ॥७॥

उद्गीथ का गान करने वाला उद्गाता कहलाता है। उसे परमात्मा का आशीर्वाद कैसे प्राप्त हो, और उसकी समृद्धि कैसे हो—अब यह कहते हैं। उद्गाता को चाहिये कि वह 'उपसरण' पर विचार करे। 'उपसरण' का अर्थ है 'उप+सरण'—पास जाना दौड़ कर। अर्थात्, मन को जल्दी-जल्दी इन बातों की तरफ दौड़ाये। किन बातों की तरफ? जिस साम-गान से प्रभु का कीर्तन करना हो, उस साम पर मन को दौड़ाये ॥८॥

जिस ऋचा से प्रभु-कीर्तन करना हो, उस ऋचा को ध्यान

है, पृथिवी थम्—पृथिवी 'थ' है, आदित्य एव उद्—आदित्य (सूर्य) ही 'उद्' है, वायु गी—वायु 'गी' है, अग्नि थम्—अग्नि 'थ' है, सामवेद एव उद्—सामवेद ही 'उद्' है, यजुर्वेद गी—यजुर्वेद 'गी' है, ऋग्वेद थम्—ऋग्वेद 'थ' है, दुग्धे—दोहती है (प्रगट कर देती है), अस्मै—इसके लिए, वाग्—वाणी, दोहम्—दूध को, वाणी के सार को, य—जो, वाच—वाणी का, दोह—दूध (सारभूत, लक्ष्य, वाच्य) है, अन्नवान्—अन्न का पति, अन्नाद—अन्न का भोक्ता, भवति—होता है, य—जो, एतानि—इन, एवम् विद्वान्—इस प्रकार जानता हुआ, उद्गीथ+अक्षराणि—'उद्गीथ' के अक्षरों की, उपास्ते—उपासना करता है, उद्गीथ इति—यह ही उद्गीथ है ॥७॥

अथ खल्वाशी समृद्धिरुपसरणानीत्युपासीत येन
साम्ना स्तोष्यन्स्यात्तत् सामोपधावेत् ॥८॥

अथ खलु—अब इसके आगे, आशी समृद्धि—आशाओं (अभीष्ट कामनाओं) की समृद्धि (बढ़ती, पूरी पूर्ति कैसे हो, इसका वर्णन) है, उपसरणानि—उपसरणों (पास दौड़कर प्राप्त करने के उपायों) को, साधनों को, इति—ऐसे (आगे बताये), उपासीत—उपासना करे, पालन करे, येन साम्ना—जिस साम-मन्त्र से, स्तोष्यन्—स्तुति करने वाला, स्यात्—होवे, (स्तोष्यन् स्यात्—स्तुति करना चाहे), तत्—उस, साम—साम-गान का, उपधावेत्—पूरी तरह (मन में) चिन्तन करे ॥८॥

यस्यामृचि तामृच यदार्षेयं तमृषिं या देवताम-
भिष्टोष्यन्स्यात्तां देवतामुपधावेत् ॥९॥

में लाये, जिस ऋषि तथा जिस देवता का ध्यान करना हो, झट ध्यान उधर दौडाये ॥९॥

जिस छन्द मे गाना हो, उस छन्द पर झट पहुचे—यह नही कि सोच में ही पडा रहे। जिस छन्दो के समूह से प्रभु की स्तुति करनी हो, उस छन्द-समूह पर भी भक्त का झट ध्यान चला जाय ॥१०॥

जिस दिशा में स्तुति का प्रवाह बहाना हो, वह दिशा भी फौरन ध्यान में आ जाये ॥११॥

इस प्रकार सब बातो को ध्यान में लाकर अन्त में आत्मा—ब्रह्म—के निकट पहुंच कर अप्रमत्त होकर, यथाकाम भगवान् का चिंतन करता हुआ प्रभु की स्तुति करे। इस प्रकार जिस कामना को लेकर प्रभु का स्तवन करेगा, जिस कामना से स्तवन करेगा, आशा के अनुरूप वह कामना समृद्ध होगी ॥१२॥

यस्याम्—जिस, **ऋचि**—ऋचा मे, **ताम्**—उस, **ऋचम्**—ऋचा को, **यद् आर्षेयम्**—जिस ऋषि का वह साम हो, **तम् ऋषिम्**—उस ऋषि को, **याम् देवताम्**—जिस देवता को, **अभिष्टोष्यन् स्यात्**—स्तुति करना चाहे, **ताम् देवताम्**—उस देवता का, **उपधावेत्**—चिन्तन-ध्यान करे ॥९॥

येन च्छन्दसा स्तोष्यन्स्यात्तच्छन्द उपधावेद्येन
स्तोमेन स्तोष्यमाण स्यात्त्ँ स्तोममुपधावेत् ॥१०॥

येन छन्दसा—जिस छन्द से, **स्तोष्यन् स्यात्**—स्तुति करना विचारे, **तत् छन्द**—उस छन्द का, **उपधावेत्**—ध्यान-मनन करे **येन स्तोमेन**—जिस साममन्त्र-समूह से, **स्तोष्यमाण स्यात्**—स्तुति करने के लिए सोचे, **तम् स्तोमम्**—उस मन्त्र-समूह का, **उपधावेत्**—भली प्रकार मनन-चिन्तन करे ॥१०॥

या दिशमभिष्टोष्यन्स्यात्ता दिशमुपधावेत् ॥११॥

याम् दिशम्—जिस दिशा को (की ओर), **अभिष्टोष्यन् स्यात्**—स्तुति करने लगे, **ताम् दिशम्**—उस दिशा का, **उपधावेत्**—भली प्रकार विचार करे (इन सब बातो को पहिले से विचार कर लेने पर सब पूर्ण फल-प्राप्ति—'आशी समृद्धि' होती है) ॥११॥

आत्मानमन्तत उपसृत्य स्तुवीत काम ध्यायन्नप्रमत्तोऽभ्याशो ह
यदस्मै स काम समृध्येत यत्काम स्तुवीतेति यत्काम स्तुवीतेति ॥१२॥

आत्मानम्—आत्मा (परमात्मा) को, **अन्तत**—अन्त में, इन सब के बाद, **उपसृत्य**—पास पहुच कर, ध्यान-मग्न हो कर, **स्तुवीत**—स्तुति करे, **कामम्**—

प्रथम प्रपाठक—(चौथा खंड)

(ओंकार का पाठ ही नहीं उसका मर्म भी समझना चाहिये)

'ओम्—यह अक्षर 'उद्‌गीथ' है, इस 'उद्‌गीथ' की उपासना करे। गायक 'ओम्' का ही उच्च-स्वर से गायन करता है, उसी का आगे उपाख्यान है ॥१॥

देव, मृत्यु के भय से त्रयी विद्या में जा छिपे और उन्होंने वेद के छन्दों से अपने को ढाप लिया। देवों ने छन्दों से अपने को आच्छादित कर लिया इसीलिये छन्दों को 'छन्द', अर्थात् आच्छादित करने वाले कहा जाता है ॥२॥

जैसे जल में छिपी मछली को कोई देख ले, वैसे ऋक्, साम, यजु में छिपे देवों को मृत्यु ने देख लिया। केवल वेदमन्त्रों के पाठ

यथेच्छ, ध्यायन्—ध्यान करता हुआ, अप्रमत्त—प्रमाद न करता हुआ, लवलीन होकर, अभ्याश ह—समीप, जल्दी ही (ह), यत्—कि, अस्मै—इस (उपासक) के लिए, स काम—वह कामना, समृद्ध्येत—पूर्ण हो जाये, यत्काम—जिस कामना वाला (इच्छुक), स्तुवीत—स्तुति करे, यत्काम स्तुवीत इति—जिस कामना को करके स्तुति करता है ॥१२॥

ॐमित्येतदक्षरमुद्‌गीथमुपासीतोमिति ह्युद्‌गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥१॥

ओम् इति एतद् अक्षरम्—'ओम्' इस अक्षर, उद्‌गीथम्—उद्‌गीथ की, उपासीत—उपासना करे, ध्यान करे, ओम् इति हि—'ओम्' इस को ही, उद्‌गायति—उच्च स्वर से गान करता है, तस्य—उस ('ओम्' उद्‌गीथ) का ही, उपव्याख्यानम्—व्याख्या करते है ॥१॥

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशँस्ते छन्दो-
भिरच्छादयन्। यदेभिरच्छादयँस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ॥२॥

देवा वै—देवता लोग, मृत्यो—मृत्यु से, बिभ्यत—डरते हुए, त्रयीम् विद्याम्—ऋग्-यजु-सामवेदों को (में), प्राविशन्—घुसे, छिप गये, ते—उन्होंने (अपने आपको), छन्दोभि—छन्द रूप मंत्रों में, अच्छादयन्—ढाप लिया, यद्—जो, एभि—इन (छन्दों) में, अच्छादयन्—ढाप लिया, तद्—वह ही, छन्दसाम्—छन्दों का, छन्दस्त्वम्—छन्दोरूप (छन्द-संज्ञा का निर्वचन) है ॥२॥

तान् तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके परिपश्येदेवं पर्यपश्यदृचि साम्नि यजुषि।
ते नु विदित्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव प्राविशन् ॥३॥

के सहारे देव मृत्यु से बचना चाहते थे, परन्तु यह उनकी भूल थी। यह जानकर कि मृत्यु ने उन्हें देख लिया है, वे ऋक्, साम, यजु से ऊपर—'स्वर' में—अर्थात्, भगवान् के नाम की धुन में प्रविष्ट हो गये, उसमें जा छिपे ॥३॥

तभी तो ऋचाओं के मर्म को पा कर 'ओ ३ म्' का दीर्घ-स्वर से उच्चारण किया जाता है, साम तथा यजु के मर्म को पाकर 'ओ३म्' का दीर्घ-स्वर से उच्चारण किया जाता है। 'ओ३म्' यही 'स्वर' है, जो 'अक्षर' है, 'अमृत' है, 'अभय' है। इसी 'ओ३म्' में लीन होकर देव-लोग 'अमृत' तथा 'अभय' हो गये ॥४॥

जो उपासक इस प्रकार ओंकार की महिमा को जानता हुआ अक्षर की स्तुति करता है, वह इस अमृत, अभय, अक्षर स्वर में—अक्षर ध्वनि में—लीन हो जाता है। उसमें लीन होकर जैसे देव अमृत हो गये, वैसे वह भी अमृत हो जाता है ॥५॥

तान् उ—उन (देवों) को, तत्र—वहां, उन (छन्दों) में, मृत्यु—मृत्यु ने, यथा—जैसे, मत्स्यम्—मछली को, उदके—जल में, परिपश्येत्—देख लेवे, एवम्—इस प्रकार, वैसे ही, पर्यपश्यत्—देख लिया, ऋचि—ऋचा में, साम्नि—साम-मन्त्र में, यजुषि—यजु मन्त्र में, ते नु—वे (देव) भी, विस्वा—(इस बात को) जानकर, ऊर्ध्वा—ऊपर हुए-हुए, वहां से हटकर, ऋचः—ऋचा से, साम्नः—साम से, यजुषः—यजुष् से, स्वरम् एव—स्वर (उच्चारण) में ही, प्राविशन्—प्रविष्ट हो गये, छिप गये ॥३॥

यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्येवातिस्वरत्येवं सामैव यजुरेष उ स्वरो यदेतदक्षरमेतदमृतमभयं तत्प्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन् ॥४॥

यदा वै—जब ही, ऋचम्—ऋचा को, आप्नोति—प्राप्त कर लेता है, मर्म जान जाता है, ओम् इति एव—(तब मनुष्य) 'ओम्' इसका ही, अति स्वरति—प्लुत रूप में, दीर्घ उच्चारण करता है, एवम् साम—इस ही प्रकार साम-वेद को, एवम् यजु—इस ही प्रकार यजुर्वेद को, एष उ स्वर—यह ही 'स्वर' है, यद् एतद् अक्षरम्—जो यह 'ओम्' अक्षर है, एतद् अमृतम्—यह अमर है, अभयम्—निर्भय, भयहर्ता है, तत् प्रविश्य—उसमें प्रवेश करके, देवा—देवगण, अमृता अभया—अमर और निर्भय, अभवन्—हो गये ॥४॥

स य एतदेव विद्वानक्षरं प्रणौत्येतदेवाक्षरं स्वरममृतमभयं प्रविशति तत्प्रविश्य यदमृता देवास्तदमृतो भवति ॥५॥

प्रथम प्रपाठक—(पांचवां खंड)
(उद्गीथ तथा प्रणव एक ही है)

जो उद्गीथ है, वह प्रणव है, जो प्रणव है, वह उद्गीथ है। यह सूर्य मानो उद्गीथ है, प्रणव है, ओ३म् है, यह सूर्य मानो उच्च स्वर से ओंकार का घोष करता हुआ उदित होता है ॥१॥

कौषीतकि ने अपने पुत्र से कहा—इसी ओंकार का मैंने गान किया था, इसलिये तू मेरा एक पुत्र हुआ। तू सूर्य की रश्मियों को

स य—वह जो, **एतद्**—इस, **एवम् विद्वान्**—इस प्रकार जानता हुआ, **अक्षरम्**—'ओम्' इस अक्षर की या अविनाशी ब्रह्म की, **प्रणौति**—स्तुति करता है, **एतद् एव**—इस ही, **अक्षरम्**—अविनाशी, **स्वरम्**—स्वर को, **अमृतम्**—अमर—जन्म-मरण से मुक्त, **अभयम्**—निर्भय, **प्रविशति**—प्रवेश करता है, लीन हो जाता है, **तत् प्रविश्य**—उस अक्षर में लीन होकर, **यद्**—जो, जैसे, **अमृता**—अमर (हो गये), **देवा**—देवगण, **तत्**—तो, वैसे, **अमृत भवति**—(वह उपासक भी) अमर (मृत्यु-भय से मुक्त) हो जाता है ॥५॥

अथ खलु य उद्गीथ स प्रणवो य प्रणव स उद्गीथ इत्यसौ
वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥१॥

अथ खलु—और, **य. उद्गीथ**—जो उद्गीथ है, **स प्रणव**—वह ही प्रणव (ओम्) है, **य प्रणव स. उद्गीथ इति**—जो प्रणव है वह ही उद्गीथ है (प्रणव—ओम्—और उद्गीथ दोनों शब्दों का वाच्य एक ही है), **असौ वै आदित्य उद्गीथ**—यह आदित्य ही उद्गीथ है, **एष**—यह (सूर्य) ही, **प्रणव**—प्रणव (ओम्) भी है, **ओम् इति हि एष**—क्योंकि यह ही 'ओम्' का, **स्वरन्**—उच्चारण करता हुआ, **एति**—चलता है ॥१॥

एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकि
पुत्रमुवाच रश्मीँस्त्वं पर्यावर्तयाद् बहवो वै ते भविष्यन्तीत्यधिदैवतम् ॥२॥

एतम् उ एव—इसको ही, **अहम्**—मैंने, **अभ्यगासिषम्**—गान किया था (ध्यान किया था), **तस्मात्**—उस कारण से, **मम**—मेरा, **त्वम्**—तू, **एक**—इकला (ही पुत्र), **असि**—है, **इति**—यह (बात), **कौषीतकि**—कौषीतकि मुनि ने, **पुत्रम्**—अपने पुत्र को, **उवाच**—कहा था, **रश्मीन्**—किरणों को, **त्वम्**—तू, **पर्यावर्तयात्**—चारों ओर से घेर ले (बहुसंख्यक किरणों को ही उद्गीथ मान कर उपासना कर), **बहव वै**—बहुत से (पुत्र), **ते**—तेरे **भविष्यन्ति**—होंगे, **इति अधिदैवतम्**—यह अधिदैवत (देवता को लक्ष्य कर वर्णन) है ॥२॥

ओंकार का प्रतीक मानकर उन द्वारा अपने को चारों तरफ से घेर ले। जैसे सूर्य की एक-एक किरण से ओंकार का स्वर प्रकट होता है, वैसे तेरे एक-एक रोम से ओंकार का नाद गूंज उठे। तेरे अनेक पुत्र होंगे, अर्थात् तेरे पग-चिह्नों पर चलने वाले अनेक भक्त होंगे। यह 'अधिदैवत' वर्णन हुआ—अर्थात् सृष्टि में, ब्रह्माड में सूर्य द्वारा ओंकार-नाद का दृष्टांत हुआ ॥२॥

अब 'अध्यात्म' वर्णन करते हैं, अर्थात् शरीर में, पिंड में ओंकारोपासना के स्वरूप का उल्लेख करते हैं। मुख-स्थित प्राण को उद्‌गीथ मानकर उसकी उपासना करे, क्योंकि यह प्राण मानो ओंकार का उच्च स्वर से नाद करता हुआ चलता है ॥३॥

कौषीतकि ने अपने पुत्र से कहा—इसी ओंकार का मैंने गान किया था, इसलिये तू मेरा एक पुत्र हुआ। तू प्राण को ओंकार का प्रतीक मानकर भूमा-रूप भगवान् का गान कर, इससे तेरे द्वारा मेरे अनेक पुत्र होंगे, अर्थात् अनेक मेरे पग-चिह्नों पर चलेंगे ॥४॥

अथाध्यात्मम्। य एवायं मुख्य प्राणस्तमुद्‌गीथमुपासीतोमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥३॥

अथ अध्यात्मम्—अब अध्यात्म (शरीरसहित आत्मा संबंधी, पिण्ड सम्बन्धी) वर्णन करते हैं, **य एव अयम्**—जो ही यह, **मुख्य प्राण**—मुख्य (मुख-स्थित या प्रधान) प्राण है, **तम्**—उस (प्राण) को, **उद्‌गीथम्**—उद्‌गीथ रूप में, **उपासीत**—उपासना करो, **ओम् इति**—'ओम्' ऐसे, **हि एष**—क्योंकि यह, **स्वरन्**—उच्चारण करता हुआ, **एति**—गति करता, चलता है ॥३॥

एतमु एवाहमभ्यगासिष तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकि पुत्रमुवाच प्राणांस्त्वं भूमानमभिगायताद् बहवो वै मे भविष्यन्तीति ॥४॥

एतम् उ—इस (मुख्य प्राण) को, **एव**—ही, **अहम्**—मैंने, **अभ्यगासिषम्**—गान किया था (उपासना की थी), **तस्मात् मम त्वम् एक असि**—उस कारण से मेरा तू एक (पुत्र) ही है, **इति ह**—यह (बात), **कौषीतकि**—कौषीतकि ने, **पुत्रम्**—(अपने) पुत्र को, **उवाच**—कही थी, **प्राणान्**—प्राण के अपान आदि भेदों सहित प्राणों को, **त्वम्**—तू, **भूमानम्**—बहुरूप (अनेक रूप) ब्रह्म का, **अभिगायताद्**—गान कर, उपासना कर, (तब) **बहव वै**—बहुत से (पुत्र-रूप शिष्य), **मे**—मेरे, **भविष्यन्ति**—होंगे, **इति**—यह (वचन कहा) ॥४॥

जो उद्‌गीथ है, वही प्रणव है; जो प्रणव है, वही उद्‌गीथ है—जो यह जानता है वह होता के स्थान से ही प्रणव के उच्चारण की त्रुटि को दूर कर देता है, दूर कर देता है ॥५॥

(ओंकार के लिये ऋग्वेदी 'प्रणव'-शब्द का प्रयोग करते है, सामवेदी 'उद्‌गीथ'-शब्द का । यहा कहा गया है कि 'प्रणव' तथा 'उद्‌गीथ' एक ही है, अर्थात् ऋग्वेदियो और सामवेदियो मे कोई भेद नही है ।)

प्रथम प्रपाठक—(छठा खंड)

(ऋक् तथा साम की एकता दर्शाते हुए ब्रह्माड तथा पिड मे उद्‌गीथ, ६-७)

उपनिषद् मे 'उद्‌गीथ' की उपासना का वर्णन है । जैसा ऊपर कहा गया, 'उद्‌गीथ' शब्द सामवेदियो का है । इससे कोई यह न समझे कि ऋग्-वेदियो को भुला दिया गया है, इसलिये छठे तथा सातवे खंड मे बार-बार इस बात को दोहराया गया है कि सामवेद ऋग्वेद के सहारे ही टिका हुआ है । यह बात इससे भी स्पष्ट है कि सामवेद

अथ खलु य उद्‌गीथ स प्रणवो य प्रणव स उद्‌गीथ इति
होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्‌गीतमनुसमाहरतीत्यनुसमाहरतीति ॥५॥

अथ—और, (पाठभेद से) **अत्र**—यहा (इस प्रकरण मे, इस सामवेद मे), **य**—जो, **उद्‌गीथ**—उद्‌गीथ शब्द से अभिप्रेत (वाच्य) है, **स**—वह ही, **प्रणव**—(ऋग्वेद मे) प्रणव (नाम मे कहा गया) है, **य प्रणव स उद्‌गीथः**—और जो प्रणव है वह ही उद्‌गीथ है (दोनो का अर्थ—वाच्य एक ही है), **इति**—अतएव, **होतृषदनाद्**—होता (ऋग्वेदी ऋत्विज्) अपने स्थान (आसन) से, **ह एव**—ही, **अपि**—भी, **दुर्+उद्‌गीतम्**—(सामवेदी उद्‌गाता द्वारा) अशुद्ध (त्रुटिपूर्ण) गान किये हुए को, **अनुसमाहरति**—(बताकर) ठीक कर देता है, **अनुसमाहरति**—त्रुटि दूर कर देता है, **इति**—इस कारण (उद्‌गीथ और प्रणव एक ही है) ॥५॥

इयमेवर्गग्नि साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ साम
तस्मादृच्यध्यूढँ साम गीयत इयमेव साऽग्निरमस्तत्साम ॥१॥

इयम्—यह (पृथिवी), **एव**—ही, **ऋक्**—ऋचा है, (और) **अग्नि**—अग्नि, **साम**—साम-गान है, **तद् एतद्**—वह यह (साम), **एतस्याम्**—इस,

के ७० मन्त्रो को छोडकर सामवेद के सभी मन्त्र ऋग्वेद से लिये गये है। इसी बात को ऋषि ने अपने ढग से कहा है—

'पृथिवी' ऋग्वेद का सूचक है, 'अग्नि' सामवेद का। जैसे अग्नि का आधार पृथिवी है वैसे साम का आधार ऋक् है, साम ऋचा के सहारे गाया जाता है। ऋक् और साम में इतनी अभिन्नता है कि पृथिवी मानो 'सा' है, अग्नि 'अम' है, इन दोनो के मिलने से 'साम' बन जाता है ॥१॥

अथवा, 'अन्तरिक्ष' ऋग्वेद का सूचक है। 'वायु' सामवेद का। जैसे वायु का आधार अन्तरिक्ष है वैसे साम का आधार ऋक् है, साम ऋचा के सहारे गाया जाता है। ऋक् और साम में इतनी अभिन्नता है कि अन्तरिक्ष मानो 'सा' है, वायु 'अम' है, इन दोनो के मिलने से 'साम' बन जाता है ॥२॥

अथवा, 'द्यौ' ऋग्वेद' का सूचक है, 'आदित्य' सामवेद का। जैसे आदित्य का आधार द्यु-लोक है वैसे साम का आधार ऋक् है,

---

ऋचि—ऋचा पर, **अध्यूढम्**—ऊपर स्थित है, आश्रित है (या व्याप्य-व्यापक भाव मे स्थित है), **साम**—साम-गान, **तस्मात्**—अतएव, **ऋचि**—ऋचा पर, **अध्यूढम्**—आश्रित, आधारवाले ही, **साम गीयते**—साम का गान किया जाता है, **इयम् एव**—यह (पृथिवी) ही, **सा**—(साम-पद का पूर्व आधा भाग) 'सा' है, **अग्नि**—अग्नि, **अम**—(साम-पद का उत्तरार्द्ध भाग) 'अम' है, **तत्**—वह (मिल कर), **साम**—साम-पद बनता है (साम पद से दोनो का ग्रहण होता है) ॥१॥

अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढ॑ साम
तस्मादृच्यध्यूढ॑ साम गीयतेऽन्तरिक्षमेव सा वायुरमस्तत्साम ॥२॥

अन्तरिक्षम् एव—अन्तरिक्ष ही, **ऋग्**—ऋचा है, **वायु**—वायु, **साम**—साम है, **तद् एतद्**—वह यह, **एतस्याम्**—इस, **ऋचि**—ऋचा मे, **अध्यूढम्**—आधार वाला है, **साम**—साम, **तस्माद्**—उससे ही, **ऋचि**—ऋचा पर, **अध्यूढम्**—आवृत, आश्रित, **साम गीयते**—साम-गान किया जाता है, **अन्तरिक्षम् एव**—अन्तरिक्ष ही, **सा**—(साम-पद का पूर्वार्ध) 'सा' है, **वायु**—वायु, **अम**—(साम-पद का उत्तरार्ध) 'अम' है। **तत्**—वह (मिल कर बना हो), **साम**—साम है ॥२॥

द्यौरेवर्गादित्यः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढ॑ साम तस्मा-
दृच्यध्यूढ॑ साम गीयते द्यौरेव साऽऽदित्योऽमस्तत्साम ॥३॥

साम ऋचा के सहारे गाया जाता है। ऋक् और साम में इतनी अभिन्नता है कि द्यौ मानो 'सा' है, आदित्य 'अम' है, इन दोनो के मिलने से 'साम' बन जाता है ॥३॥

अथवा, 'नक्षत्र' ऋग्वेद का सूचक है, 'चन्द्रमा' सामवेद का। जैसे चन्द्रमा का आधार नक्षत्र-लोक है वैसे साम का आधार ऋक् है, साम ऋचा के सहारे गाया जाता है। ऋक् और साम में इतनी अभिन्नता है कि नक्षत्र मानो 'सा' है, चन्द्रमा 'अम' है, इन दोनो के मिलने से 'साम' बन जाता है ॥४॥

अथवा, 'आदित्य' की जो श्वेत-आभा है, वह ऋग्वेद की सूचक है, जो नीली—परम-कृष्ण—आभा है, वह सामवेद की सूचक है। जैसे कृष्ण-आभा का आधार श्वेत-आभा है वैसे साम का आधार ऋक् है, साम ऋचा के सहारे गाया जाता है। ऋक् और साम में इतनी अभिन्नता है कि आदित्य की जो शुक्ल-आभा है वह मानो 'सा' है, जो नील—परम-कृष्ण—आभा है वह 'अम' है, इन दोनो के मिलने से 'साम' बन जाता है ॥५॥

द्यौ एव ऋग्—द्युलोक ही ऋचा है, **आदित्य साम**—सूर्य ही साम है, **तद् एतत्**—वह यह, **एतस्याम् ऋचि अध्यूढम् साम**—इस ऋचा के ही आधार पर स्थित साम है, **तस्मात्**—इस कारण से ही, **ऋचि अध्यूढम्**—ऋचा के आधार वाला ही, **साम गीयते**—साम-गान किया जाता है, **द्यौ एव**—द्युलोक ही, **सा**—(साम-पद का पूर्व भाग) 'सा' है, **आदित्य**—सूर्य, **अम**—(साम-पद का उत्तर भाग) 'अम' है, **तत् साम**—वह (दोनों मिलकर) 'साम' है ॥३॥

नक्षत्राण्येवर्क् चन्द्रमा साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ साम तस्मा-
दृच्यध्यूढँ साम गीयते नक्षत्राण्येव सा चन्द्रमा अमस्तत्साम ॥४॥

नक्षत्राणि एव ऋग्—नक्षत्र-मण्डल ही ऋचा है, **चन्द्रमा साम**—चन्द्रमा ही साम है, **तद् एतद् एतस्याम् ऋचि अध्यूढम् साम**—वह यह साम ऋचा के ही आधारवाला है, **तस्माद्**—अतएव, **ऋचि अध्यूढम्**—ऋचा पर आश्रित ही, **साम गीयते**—साम का गान होता है, **नक्षत्राणि एव**—नक्षत्र-मण्डल ही, **सा**—'सा' है, **चन्द्रमा अम**—चन्द्रमा 'अम' है, **तत् साम**—दोनों ('सा' और 'अम' के मिलने पर) साम (बन जाता है) ॥४॥

अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम
तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ साम तस्मादृच्यध्यूढँ साम गीयते ॥५॥

और, जो आदित्य के भीतर यह सुनहरा पुरुष दीखता है, सुनहरी दाढी-मूछ वाला, सुनहरे केशो वाला, नखो तक सारा सोने-ही-सोने का ॥६॥

उसकी कमल-जैसी लाल-लाल आखे है, उस आदित्य का 'उत्' नाम है। 'उत्' नाम इसलिये क्योकि वह सब पापो से 'उत्', अर्थात् ऊपर है। जो इस प्रकार सूर्य के 'उत्' रूप को जानता है, वह सब पापो से ऊपर उठ जाता है ॥७॥

अथ—अव, यद् एतद्—जो यह, आदित्यस्य—सूर्य की, शुक्लम्—स्वच्छ, श्वेत, भा—कान्ति, आभा है, सा—वह (श्वेत आभा), एव—ही, ऋग्—ऋचा है, अथ—और, यत्—जो (आभा), नीलम्—नीली, पर—अत्यधिक, कृष्णम्—काली, तत्—यह (आभा) ही, साम—साम है, तद् एतद्—वह यह, एतस्याम् ऋचि—इस ऋचा पर, अध्यूढम्—आधार वाला, साम—साम-गान है, तस्मात् ऋचि अध्यूढम् साम गीयते—इस कारण से ही ऋचा के आधार पर ही साम-गान किया जाता है ॥५॥

अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्ल भा सैव साऽथ यन्नील पर
कृष्ण तदमस्तत्सामाऽथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मय पुरुषो
दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्ण ॥६॥

अथ—और, यद् एव एतद्—जो ही यह, आदित्यस्य—सूर्य की, शुक्लम् भा—श्वेत कान्ति है, सा एव—वह (श्वेत आभा) ही, सा—(सामपद का पूर्वार्द्ध) 'सा' भाग है, अथ यत् नीलम् पर कृष्णम्—और जो नीली बहुत काली (आभा) है, तद्—वह, अम—(साम-पद का उत्तरार्ध) 'अम' भाग है, य—जो, एष—यह, अन्तरादित्ये (अन्त+आदित्ये)—सूर्य के मध्य मे, हिरण्मय—सुवर्णमय, हित और रमणीय, पुरुष—मनुष्य, दृश्यते—दिखाई देता है, हिरण्यश्मश्रु—सोने की डाढी-मूछोवाला, हिरण्यकेश—सोने के बालो वाला, आप्रणखात्—पाव के नखो से लेकर (ऊपर तक), सर्व एव—सारा ही, सुवर्ण—सोने का, सुन्दर वर्ण वाला ॥६॥

तस्य यथा कप्यास पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम । स एष
सर्वेभ्य पाप्मभ्य उदित । उदेति ह वै सर्वेभ्य पाप्मभ्यो य एव वेद ॥७॥

तस्य—उस (मनुष्य) की, यथा—जैसे, कप्यासम्—(कपिवत् आस्यम्) वन्दर के मुख के समान लाल-लाल, पुण्डरीकम्—कमल, एवम्—ऐसी, अक्षिणी—दोनो आखे (है), तस्य—उसका, उद् इति—'उद्' यह, नाम—नाम, सज्ञा (है), स एष—वह यह, सर्वेभ्य—सव, पाप्मभ्य—पापो से,

उसी आदित्यस्थ पुरुष की महिमा का ऋक् और साम गान करते हैं, इसीलिये अधिदैवत दृष्टि से आदित्य को 'उद्गीथ' कहा गया है। 'उद्गाता' को उद्गाता भी इसलिये कहा जाता है क्योंकि वह इसी हिरण्मय-पुरुष की महिमा का गान करता है। वह हिरण्मय-पुरुष इस लोक से परे भी जो लोक हैं उनका भी स्वामी है, सब दिव्य-कामनाओं का भी वही स्वामी है ॥८॥

(आदित्य में स्थित पुरुष की यहां ऋषि ने कल्पना की है। आदित्य को अगर एक पुरुष के रूप में कल्पित किया जाय, उसकी किरणों को उस पुरुष की दाढ़ी-मूछ कल्पित कर लिया जाय, तो ऐसा प्रतीत होगा जैसे यह अन्तरिक्ष में एक देदीप्यमान सोने का पुरुष है, महान् शरीर वाला। यही मानो प्रत्यक्ष ब्रह्म है, एक विशाल दीप्तिमान् मुख वाला तेजोमय पुरुष सूर्य के रूप में। यह एक कवितामय कल्पना की उड़ान है।)

उदित (उद्+इत)—ऊपर गया (उठा हुआ) है, (**पाप्मभ्य उदित**—पापों से ऊपर है, उसमें कोई पाप नहीं, निष्पाप), **उदेति**—ऊपर उठ जाता है, **ह वै**—निश्चय से, **सर्वेभ्य**—सारे, **पाप्मभ्य**—पापों से, **य एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है ॥७॥

तस्यर्क् च साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीयस्तस्मात्त्वेवोद्गातैतस्य हि गाता स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्यधिदैवतम् ॥८॥

तस्य—उस (उत्-नामक पुरुष) के, **ऋक् च**—ऋग्वेद, **साम च**—और सामवेद, **गेष्णौ**—गायक, व्याख्या करने वाले (हैं), **तस्माद्**—उससे ही, **उद्गीथ**—(वह पुरुष) उद्गीथ (जिसका गान किया जाय) है, **तस्मात्**—उससे ही, **तु**—तो, **एव**—ही, **उद्गाता**—सामवेदी ऋत्विज् (उद्गाता कहलाता है क्योंकि), **एतस्य**—इस (उद्-नामक पुरुष) का, **हि**—ही, **गाता**—गान करने वाला (होता है), **स एष**—वह यह (पुरुष), **ये च**—और जो, **अमुष्मात्**—इस (आदित्य) से, **पराञ्च**—परे होने वाले, **लोका**—लोक (हैं), **तेषाम्**—उनका, **च**—और, **ईष्टे**—ईश्वर (स्वामी) है, **देवकामानाम् च**—और देवताओं की कामनाओं (भोगों) का भी स्वामी है, **इति अधिदैवतम्**—यह ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में वर्णन है ॥८॥

प्रथम प्रपाठक—(सातवां खंड)

'सृष्टि', अर्थात् ब्रह्मांड की दृष्टि से ऋक् तथा साम की अभिन्नता दर्शाकर, 'शरीर', अर्थात् पिंड की दृष्टि से इनकी अभिन्नता दिखाते हैं—पिछला 'अधिदैवत'-वर्णन था, यह 'अध्यात्म'-वर्णन है। अध्यात्म, अर्थात् शरीर की दृष्टि से 'वाक्' ऋग्वेद की सूचक है, 'प्राण' सामवेद का। जैसे प्राण वाणी के सहारे उच्चारण करता है वैसे साम ऋचा के सहारे है, साम ऋचा के सहारे गाया जाता है। ऋक् और साम में इतनी अभिन्नता है कि वाणी मानो 'सा' है, प्राण 'अम' है, इन दोनों के मिलने से 'साम' बन जाता है ॥१॥

अथवा, 'चक्षु' ऋग्वेद की सूचक है, आख में दीखने वाली 'छाया' सामवेद की। जैसे छाया आख के सहारे दीखती है वैसे साम ऋचा के सहारे है, साम ऋचा के सहारे गाया जाता है। ऋक् और साम में इतनी अभिन्नता है कि चक्षु मानो 'सा' है, छाया 'अम' है, इन दोनों के मिलने से 'साम' बन जाता है ॥२॥

अथाध्यात्मम्। वागेवर्क् प्राणः साम। तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ साम।
तस्मादृच्यध्यूढँ साम गीयते। वागेव सा प्राणोऽमस्तत्साम ॥१॥

अथ—अब, अध्यात्मम्—आत्मा को (शरीर-पिण्ड को) लक्ष्य कर वर्णन करते हैं, वाग् एव—वाणी ही, ऋक्—ऋचा है, प्राण—मुख्य प्राण, साम—साम-गान है, तद् एतत्—वह यह, एतस्याम्—इस, ऋचि—ऋचा (वाणी) पर, अध्यूढम्—आधारित, साम—साम (मुख्य प्राण), तस्मात्—अतएव, ऋचि—ऋचा पर, अध्यूढम्—आधारित, साम गीयते—साम-गान किया जाता है, वाग् एव—वाणी ही, सा—(साम-पद का पूर्वभाग) 'सा' है, प्राण—प्राण, अम—(साम-पद का उत्तर भाग) 'अम' है, तत्—वह (उनका संयुक्त रूप), साम—साम (बनता है) ॥१॥

चक्षुरेवर्गात्मा साम। तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ साम।
तस्मादृच्यध्यूढँ साम गीयते। चक्षुरेव साऽऽत्माऽमस्तत्साम ॥२॥

चक्षु—आख, दर्शन-शक्ति, एव—ही, ऋग्—ऋचा है, आत्मा—(दृश्य पदार्थ का) प्रतिबिम्ब (छाया) ही, साम—साम है, तद् एतद् एतस्याम् ऋचि अध्यूढम् साम—वह यह साम (प्रतिबिम्ब) इस ऋचा (चक्षु) पर आधारित है, तस्माद् ऋचि अध्यूढम्—अतएव ऋचा पर आधारित, साम गीयते—साम-गान किया जाता है, चक्षु एव सा—आख ही 'सा' है,

अथवा, 'श्रोत्र' ऋग्वेद का सूचक है, 'मन' सामवेद का। जैसे मन श्रोत्र के सहारे है वैसे साम ऋचा के सहारे है, साम ऋचा के सहारे गाया जाता है। ऋक् और साम मे इतनी अभिन्नता है कि श्रोत्र मानो 'सा' है, मन 'अम' है, इन दोनो के मिलने से 'साम' बन जाता है ॥३॥

अथवा, आंख की जो शुक्ल आभा है वह ऋग्वेद की सूचक है, जो नीली—परम-कृष्ण—आभा है वह सामवेद की सूचक है। जैसे कृष्ण आभा का सहारा श्वेत आभा है वैसे साम का सहारा ऋचा है, साम ऋचा के सहारे गाया जाता है। ऋक् और साम की इतनी अभिन्नता है कि आख की जो शुक्ल आभा है वह मानो 'सा' है, जो कृष्ण आभा है, वह 'अम' है, इन दोनो के मिलने से 'साम' बन जाता है ॥४॥

आत्मा अम—छाया (प्रतिविम्ब) 'अम' है, तत्—वह (उन दोनो का सयुक्त रूप), साम—साम (बनता है) ॥२॥

श्रोत्रमेव ऋक् मन साम। तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढ॰ साम। तस्मा-
दृच्यध्यूढ॰ साम गीयते। श्रोत्रमेव सा मनोऽमस्तत्साम ॥३॥

श्रोत्रम्—कान, एव—ही, ऋग्—ऋचा हे, मन—मनन-शक्ति, साम—साम-गान हे, तद् एतद् एतस्याम् ऋचि अध्यूढम् साम—वह यह साम (मनन) इस ऋचा (श्रोत्र) पर ही आधारित हे, तस्माद् ऋचि अध्यूढम् साम गीयते—उसमे ही ऋचा पर आधारित ही साम-गान किया जाता हे, श्रोत्रम् एव सा—कान ही 'सा' हे, मन अम—मनन ही 'अम' हे, तत् साम—वह (सयुक्त रूप) ही साम है ॥३॥

अथ यदेतदक्ष्ण शुक्ल भा सैवर्गथ यन्नील पर कृष्ण तत्साम।
तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढ॰ साम। तस्मादृच्यध्यूढ॰ साम गीयते। अथ
यदेवैतदक्ष्ण शुक्ल भा सैव साऽथ यन्नील पर कृष्ण तदमस्तत्साम ॥४॥

अथ—और, यद् एतत्—जो यह, अक्ष्ण—आख की, शुक्लम्—स्वच्छ, श्वेत, भा—कान्ति, आभा, सा एव ऋग्—वह (श्वेत आभा) ही ऋचा है, अथ—और, यत्—जो, नीलम्—नीली, पर—अत्यधिक, कृष्णम्—काला-पन है, तत्—वह (कलौंस), साम—साम है, तद् एतद् एतस्याम् ऋचि अध्यूढम् साम—वह यह साम (नील आभा) इस ऋचा (श्वेत आभा) पर आधारित हे, तस्माद् ऋचि अध्यूढम् साम गीयते—अतएव ऋचा पर आश्रित साम-गान किया जाता है, अथ—और, यद् एव एतद्—जो ही यह, अक्ष्ण—आख की, शुक्लम् भा—श्वेत आभा (कान्ति) है, सा एव—वह ही, सा—

और, जो आख के भीतर पुरुष दीखता है वही ऋक् है, वही साम है, वही उक्थ है, वही यजु है, वही ब्रह्म है। उसका वही हिरण्मय-रूप है जो आदित्यस्थ पुरुष का है, आख मे दीख रहे पुरुष की महिमा का भी वही ऋक् और साम गान करते है जो आदित्यस्थ पुरुष की महिमा का गान करते है, आख मे दीख रहे पुरुष का नाम भी आदित्य में दीख रहे पुरुष के नाम की तरह 'उत्' नाम ही है ॥५॥

वह जो आख में पुरुष दीखता है वह उन लोको का भी शासक है जो इस भूमि से नीचे है, वही इस भूमि पर की मनुष्य की सब कामनाओ का स्वामी है। उपासक लोग वीणा के मधुर तान में जो गाते है, वे इसी की महिमा का गान करते है, और इसीलिए वे धन-लाभ करते है ॥६॥

'मा' है, यत् नीलम् पर कृष्णम्—जो नीली बहुत अधिक काली आभा है, तद् अम—वह 'अम' है, तत् साम—दोनो मिलकर 'साम' बनते है ॥४॥

अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क्तत्साम तदुक्थ तद्यजुस्तद्ब्रह्म।
तस्यैतस्य तदेव रूप यदमुष्य रूप, यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ, यन्नाम तन्नाम ॥५॥

अथ—और, य एष—जो यह, अन्तरक्षिणि—(अन्त + अक्षिणि)—आँख के अन्दर, पुरुष—पुरुष (मनुष्य की छाया), दृश्यते—दिखाई देता है, सा एव ऋक्—वह ही ऋचा है, तत् साम—वह ही साम है, तद्—वह ही, उक्थम्—स्तोत्र (स्तुति-वाक्य), तद् यजु—वह ही यजुर्वेद, तद्—वह ही, ब्रह्म—महान्, परमात्मा या वेद, तस्य एतस्य—उस इस (अक्षि-गत पुरुष) का, तद् एव रूपम्—वह ही रूप है, यद्—जो, अमुष्य—इस (आदित्य-गत पुरुष) का, रूपम्—रूप (वर्ण) है, यौ—जो, अमुष्य—इस (आदित्य-गत पुरुष) के, गेष्णौ—गायक, स्तुति पाठक ह, तौ—वे (दोनो ऋक् और साम) ही, गेष्णौ—(इस अक्षि-गत पुरुष के) गायक ह, यत्—जो, नाम—(इस आदित्य-गत पुरुष का) नाम है, तद्—वह ('उत्' नाम) ही, नाम—(इस अक्षि-गत पुरुष का) नाम है ॥५॥

स एष ये चैतस्मादवाञ्चो लोकास्तेषा चेष्टे मनुष्यकामाना चेति
तद्य इमे वीणाया गायन्त्येत ते गायन्ति, तस्मात्ते धनसनय ॥६॥

स एष—वह यह (अक्षि-गत पुरुष), ये च—जो भी, एतस्मात्—इस (पुरुष) से, अवाञ्च—उरे के (नीचे के), लोका—लोक है, तेषाम्—उन (लोकों) का, च—और, ईष्टे—ईश्वर (स्वामी-अधिपति) है, मनुष्य-

उक्त रहस्य को जानता हुआ जो साम-गान करता है वह आदित्य में वर्तमान 'ब्रह्माण्ड'-पुरुष तथा आंख में वर्तमान 'पिंड'-पुरुष दोनों की महिमा को गाता है। इस गान द्वारा ही सूर्य-लोक से जो परे के लोक हैं उन्हें तथा देवों की सब कामनाओं को उद्गाता प्राप्त कर लेता है ॥७॥

और, उसी गान द्वारा मनुष्य-लोक से जो नीचे के लोक हैं उन्हें तथा मनुष्यों की सब कामनाओं को उद्गाता प्राप्त कर लेता है। इसलिये इस रहस्य को जानने वाला उद्गाता यजमान को कह सकता है—॥८॥

कामानाम् च इति—और मनुष्यों के काम्य-भोगों का भी, तद्—तो, ये—जो, वीणायाम्—वीणा पर (वीणा बजा कर), गायन्ति—गान करते हैं, एतम्—इनको (का), ते—वे (गायक), गायन्ति—गान करते हैं, तस्मात्—उस (प्रभु-गान) से ही, ते—वे (गायक), धनसनय—धन-लाभ करने वाले, धनपति (होते हैं) ॥६॥

अथ य एतदेव विद्वान्साम गायत्युभौ स गायति, सोऽमुनैव स एष
ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्ताँश्चाप्नोति देवकामाँश्च ॥७॥

अथ—तथा, और, य—जो, एतद्—उस (साम) को, एव—इस प्रकार, विद्वान्—जाननेवाला, साम गायति—साम का गान करता है, उभौ—दोनों (अक्षि-गत पुरुष और आदित्यगत पुरुष अर्थात् जीवात्मा तथा परमात्मा) का, स—वह, गायति—गान करता है, स्तुति करता है, स—वह (गायक, उपासक), अमुना—इस (आदित्य-गत पुरुष के गान) से, एव—ही, स एष—वह यह (साम-गायक), ये च—जो भी, जितने भी, अमुष्मात्—इस (आदित्य) से, पराञ्च—परवर्ती, परे होनेवाले, लोका—लोक हैं, तान्—उनको, च—और, आप्नोति—प्राप्त होता, प्राप्त कर लेता है, देवकामान् च—(और जो) देवों के अभीष्ट भोग हैं, उनको भी (प्राप्त कर लेता) है ॥७॥

अथानेनैव ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्ताँश्चाप्नोति।
मनुष्यकामाँश्च तस्मादु हैवंविदुद्गाता ब्रूयात् ॥८॥

अथ—और, अनेन—इस (अक्षि-गत पुरुष के गान) से, एव—ही, ये च—जो भी, एतस्मात्—इस (अक्षि-आँख-पृथिवी) से, अर्वाञ्च—नीचे के, लोका—लोक हैं, तान् च—उनको भी, आप्नोति—प्राप्त करता है, मनुष्य-कामान् च—और मनुष्य के काम्य—अभीष्ट भोगों को भी, तस्माद्—उस कारण से, उ ह—ही, एवंविद्—इस प्रकार जाननेवाला, उद्गाता—सामवेदी ऋत्विज्, ब्रूयात्—(अपने यजमान को) कहे—पूछे ॥८॥

क्या कह सकता है ? हे यजमान ! तेरी कौन-सी कामना तेरे लिये गाऊं ? क्योंकि वह जो-कुछ चाहे गाकर पूरा कर सकता है। जो इस रहस्य को जानता हुआ साम-गान करता है वही अस्ल में साम-गान जानता है ॥९॥

ऊपर जो-कुछ कहा उसे तालिका के रूप में निम्न प्रकार प्रकट कर सकते हैं

अध्यात्म (पिंड) में		अधिदैवत (ब्रह्मांड) में	
ऋक्	साम	ऋक्	साम
वाक्	प्राण	पृथिवी	अग्नि
चक्षु	छाया	अन्तरिक्ष	वायु
श्रोत्र	मन	द्यौ	आदित्य
आंख की शुक्ल आभा	आंख की कृष्ण आभा	आदित्य की शुक्ल आभा	आदित्य की नील आभा
आंख में दीख रहा पिंड पुरुष		सूर्य में दीख रहा ब्रह्मांड पुरुष	

प्रथम प्रपाठक (आठवां खंड)

(तीन ऋषियों में उद्गीथ की चर्चा, ८-९ खंड)

प्राचीन-काल में तीन व्यक्ति 'उद्गीथ' में कुशल थे। शालावान् का पुत्र शिलक, चिकितायन का पुत्र दाल्भ्य तथा जीवल का पुत्र

क ते काममागायानीति । एष ह्येव कामगानस्येष्टे
य एव विद्वान्साम गायति साम गायति ॥९॥

कम्—किस, ते—तेरे लिए, कामम्—काम (काम्य-भोग) को, आ गायानि—गान करूं, प्रार्थना करूं, इति—यह (पूछे), एष हि एव—क्योंकि यह ही, काम-गानस्य—गान द्वारा अभीष्ट कामना का, ईष्टे—स्वामी (समर्थ होता) है, य—जो, एव विद्वान्—इस प्रकार जानने वाला, साम गायति—साम-गान करता है, साम गायति—साम-गान करता है ॥९॥

त्रयो होद्गीथे कुशला बभूवु शिलकः शालावत्यश्चैकितायनो दाल्भ्य प्रवाहणो जैवलिरिति, ते होचुरुद्गीथे वै कुशलाः स्मो हन्तोद्गीथे कथां वदाम इति ॥१॥

त्रय—तीन, ह—पहिले की बात है, उद्गीथे—उद्गीथ में, कुशला—चतुर, मर्मज्ञ, बभूवु—हुए थे, शिलक—शिलक-नामी, शालावत्य—शालावन्

प्रवाहण। वे एक दूसरे से कहने लगे, हम तीनो उद्गीथ में कुशल हैं, आओ उद्गीथ की चर्चा करें ॥१॥

'बहुत अच्छा'—यह कहकर वे एक साथ बैठ गये। जीवल का पुत्र प्रवाहण बोला—आप दोनो पहले चर्चा करें, आपकी चर्चा मैं सुनूँगा ॥२॥

अब शिलक और दाल्भ्य की बातचीत शुरू हुई। शिलक ने दाल्भ्य से कहा, मैं अब आपसे पूछूँ ? दाल्भ्य ने कहा, पूछो ॥३॥

शिलक ने पूछा, साम-गान कैसे होता है ? दाल्भ्य ने कहा, स्वर से। स्वर कहा से होता है ? प्राण से। प्राण किसके आश्रय से है ? अन्न के। अन्न कैसे होता है ? जल से ॥४॥

का पुत्र, चैकितायन—चिकितायन का पुत्र, दाल्भ्य—दल्भ-गोत्र वाला, प्रवाहण—प्रवाहण-नामी, जैवलि—जीवल का पुत्र, इति—ये (तीन), ते ह ऊचु—उन्होंने (आपस मे) कहा, उद्गीथे—उद्गीथ के विषय मे, वै—निश्चय मे, कुशला—मर्मज्ञ, स्म—हम है, हन्त—(प्रसन्नता अर्थ मे) अरे, उद्गीथे—उद्गीथ के विषय मे, कथाम्—कथन, वदाम—कहे, (कथान् वदाम—चर्चा करे), इति—यह (परस्पर कहा) ॥१॥

तथेति ह समुपविविशु, स ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच,
भगवन्तावग्रे वदता ब्राह्मणयोर्वदतोर्वाचँ श्रोष्यामीति ॥२॥

तथा इति—ऐसा ही (हो—करो), ह—निश्चय से, समुपविविशु—(चर्चा के लिये) बैठ गये, स ह प्रवाहण जैवलि उवाच—उनमे से जीवल का पुत्र प्रवाहण बोला, भगवन्तौ—माननीय (आप दोनो), अग्रे—आगे, पहले, वदताम्—कहे, चर्चा करे, ब्राह्मणयो—ब्रह्मज्ञानी (आप दोनो) ब्राह्मणो की, वदतो—चर्चा करते हुए, वाचम्—वाणी को, श्रोष्यामि—मै सुनूगा, इति यह (जैवलि ने कहा) ॥२॥

स ह शिलक शालावत्यश्चैकितायन दाल्भ्यमुवाच
हन्त त्वा पृच्छानीति, पृच्छेति होवाच ॥३॥

स ह—उन, शिलक—शिलक ने, शालावत्य—शालावत् के पुत्र, चैकितायनम् दाल्भ्यम्—चिकितायन के पुत्र दल्भ-गोत्री को, उवाच—कहा, हन्त—लो, त्वा—तुझ से, पृच्छानि—पूछू, इति—यह (कहा), पृच्छ—पूछ, इति ह उवाच—ऐसा दाल्भ्य ने कहा ॥३॥

का साम्नो गतिरिति, स्वर इति होवाच, स्वरस्य का गतिरिति, प्राण इति होवाच, प्राणस्य का गतिरित्यन्नमिति
होवाचान्नस्य का गतिरित्याप इति होवाच ॥४॥

जल कहा से आता है ? उस लोक से, अर्थात् द्यु-लोक से, स्वर्ग-लोक से। उस लोक, अर्थात् स्वर्ग-लोक की स्थिति कैसे है ? दाल्भ्य ने उत्तर दिया कि स्वर्ग-लोक के आगे प्रश्न नही करना चाहिये। हम साम-गान से स्वर्ग-लोक की ही स्थापना करते है, इससे आगे नही जाते। साम का काम स्वर्ग की स्तुति करना ही है ॥५॥

यह सुनकर शिलक ने दाल्भ्य से कहा, हे दाल्भ्य ! तुम साम-गान से स्वर्ग-लोक की स्थापना करते हो, आगे नही जाते, परन्तु उद्गीथ-चर्चा में इस प्रकार स्वर्ग-लोक तक ठहर जाने से काम नही चलेगा, तुम्हारा साम-ज्ञान अप्रतिष्ठित हो जायगा। तुम्हें इस अल्प-ज्ञान के

का—क्या, कौन, साम्न—साम (गान) की, गति—आश्रय, आधार, पहुच, उद्देश्य, इति—यह (पूछा)), स्वर इति—स्वर ही (साम की गति) है, ह उवाच—उत्तर दिया, स्वरस्य का गति इति—स्वर का क्या आश्रय है, यह (पूछा), प्राण इति ह उवाच—प्राण (स्वर की गति) है, यह उत्तर दिया, प्राणस्य का गति इति—प्राण की क्या गति (आधार) है, यह पूछा, अन्नम् इति ह उवाच—अन्न ही (प्राण का आश्रय है), यह उत्तर दिया, अन्नस्य का गति इति—अन्न का आधार क्या है, यह पूछा, आप इति ह उवाच—जल ही (अन्न का आधार) है, यह उत्तर दिया ॥४॥

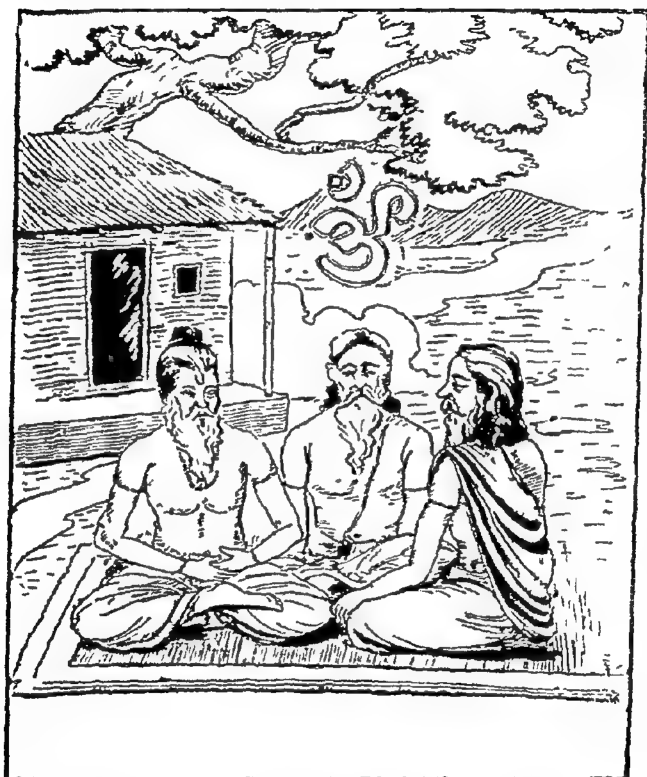
अपा का गतिरित्यसौ लोक इति होवाचामुष्य लोकस्य का
गतिरिति न स्वर्गं लोकमतिनयेदिति होवाच, स्वर्गं वय
लोकॅं सामाभिसस्थापयाम, स्वर्गसॅंस्तावॅं हि सामेति ॥५॥

अपाम् का गति इति—जल का आधार क्या है, यह पूछा, असौ लोक इति ह उवाच—यह (अन्तरिक्ष या आदित्य) लोक ही (जल का आश्रय-स्थान) है, यह उत्तर दिया, अमुष्य लोकस्य का गति—इस (द्युलोक या आदित्य) लोक का आश्रय कौन-सा है, यह पूछा, न—नही, स्वर्गम् लोकम्—आनन्दप्रद, आनन्दमय लोक को, अतिनयेद्—लाँघ कर जावे, उसके बारे मे प्रश्न करे, इति ह उवाच—यह (दाल्भ्य) ने कहा, स्वर्गम्—आनन्दप्रद, वयम्—हम (तो), लोकम्—लोक को, साम—साम-गान (का लक्ष्य), अभिसस्थापयाम—स्थापित करते है, स्वर्गसस्तावम्—स्वर्ग की स्तुति (गान) करनेवाला, हि—क्योकि, साम इति—साम-वेद है ॥५॥

तॅं ह शिलक शालावत्यश्चैकितायन दाल्भ्यमुवाचाप्रतिष्ठित
वै किल ते दाल्भ्य साम। यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा
ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति ॥६॥

तम् ह—उस (को), शिलक शालावत्य—शालावान् का पुत्र शिलक,

लिये अगर कोई धिक्कारे, तो लज्जा से तुम्हारा सिर नीचा हो जायगा ॥६॥



शिलक, दाल्भ्य तथा प्रवाहण ओंकार की चर्चा कर रहे हैं

चैकितायनम् दाल्भ्यम्—चिकितायन के पुत्र दाल्भ्य को, उवाच—बोला, अप्रतिष्ठितम्—प्रतिष्ठा (आश्रय) से रहित, बिना आश्रय का, वै किल—निश्चय से, ते—तेरा, दाल्भ्य—हे दाल्भ्य, साम—साम-गान है, य तु—जो तो (कोई), एतर्हि—इस (ऐसे) समय में (आकर), ब्रूयात्—बोले (पूछे), मूर्धा—सिर, मस्तक, ते—तेरा, विपतिष्यति—गिरेगा (लज्जा से नीचा हो जायगा), मूर्धा—मस्तक, ते—तेरा, विपतेत्—नीचा होवे (अपना अज्ञान स्वीकार करो), इति—यह (शिलक ने कहा) ॥६॥

दाल्भ्य ने कहा, हे भगवन् ! क्या मैं इस बात का ज्ञान आप से प्राप्त कर सकता हूं ? हां, करो। अब दाल्भ्य ने प्रश्न किया, उस लोक, अर्थात् स्वर्ग-लोक की स्थिति कैसे है ? शिलक ने उत्तर दिया, स्वर्ग-लोक का आश्रय यह लोक—यह पृथिवी—ही है। दाल्भ्य ने फिर पूछा, इस लोक की स्थिति किस पर है ? शिलक ने उत्तर दिया कि इस पृथिवी-लोक पर जो सब-कुछ प्रतिष्ठित है, इससे आगे प्रश्न नहीं करना चाहिये। हम साम-गान में इस प्रतिष्ठित पृथिवी-लोक की ही स्थापना करते हैं, इससे आगे नहीं जाते। साम का काम संसार का धारण करने वाले इस पृथिवी-लोक की स्तुति करना ही है ॥७॥

यह सुनकर शिलक को जैवलि ने कहा, हे शिलक ! तेरा साम-गान निष्फल है। अगर कोई सामवेद का ज्ञानी आ पहुंचे, और तुझे

हन्ताहमेतद् भगवतो वेदानीति, विद्धीति होवाच। अमुष्य लोकस्य का गतिरित्यय लोक इति होवाच। अस्य लोकस्य का गतिरिति। न प्रतिष्ठा लोकमतिनयेदिति होवाच। प्रतिष्ठा वयं लोकं सामाभिसंस्थापयाम प्रतिष्ठासंस्तावं हि सामेति ॥७॥

हन्त—अरे (तो), अहम्—मैं, एतद्—यह बात, भगवत —आदरणीय आप से, वेदानि—जानूं (जानना चाहता हूं), इति—यह (दाल्भ्य ने कहा), विद्धि—जान लो, इति ह उवाच—यह (शिलक ने) कहा, अमुष्य—उस, लोकस्य—(आदित्य) लोक का, का गति इति—क्या आधार है, अयम् लोक —यह (पृथिवी) लोक, इति ह उवाच—यह (शिलक ने) कहा, अस्य लोकस्य—इस (पृथिवी) लोक का, का गति —क्या आश्रय-आधार है, इति—यह (दाल्भ्य ने पूछा), न—नहीं, प्रतिष्ठाम्—सब के आश्रयभूत, लोकम्—लोक को, अतिनयेत्—लांघ कर जावे, उसके विषय में चर्चा करे, इति ह उवाच—यह (शिलक ने) कहा, प्रतिष्ठाम्—सब के आश्रय, वयम्—हम सब, लोकम्—लोक को, साम—साम (स्तुति का लक्ष्य), अभिसंस्थापयाम —स्थापित करते हैं, प्रतिष्ठा-संस्तावम्—सब के आश्रयभूत (पृथिवी-लोक) की स्तुति करनेवाला, हि—ही, साम—साम-गान है, इति—यह (कहा) ॥७॥

तं ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच। अन्तवद्वै किल ते शालावत्य साम। यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति। हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति, विद्धीति होवाच ॥८॥

इस अल्प-ज्ञान के लिये धिक्कारे, तो लज्जा से तेरा सिर नीचा हो जाय। इस पर शिलक ने कहा, भगवन्! तो क्या आपसे मैं यह ज्ञान प्राप्त कर सकता हू? जैवलि ने कहा, अवश्य ॥८॥

प्रथम प्रपाठक—(नवां खंड)

अब शिलक ने जैवलि से पूछा, भगवन्! तो आप ही मुझे बताइये कि इस पृथिवी-लोक की स्थिति किस पर है? जैवलि ने उत्तर दिया, आकाश पर! ये सब भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं, आकाश मे ही अस्त हो जाते हैं, आकाश ही सब भूतो मे महान् है, आकाश ही परम-धाम है ॥१॥

('द्यु-लोक' तक दाल्भ्य पहुचा था। शिलक 'पृथिवी-लोक' तक पहुचा। इन दोनो के बीच के 'आकाश-लोक' का जैवलि ने उल्लेख किया।)

तम् ह—उस (को), **प्रवाहण जैवलि**—जीवल के पुत्र प्रवाहण ने, **उवाच**—कहा, **अन्तवद्**—अन्तवाला, निष्प्रयोजन-निष्फल, **वै किल**—निश्चय से, **ते**—तेरा, **शालावत्य**—हे शालावत्य, **साम**—साम-गान है, **य तु**—जो तो (कोई आकर), **एर्तीह**—इस समय मे, **ब्रूयात्**—कहे (पूछे), **मूर्धा**—मस्तक, **ते**—तेरा, **विपतिष्यति**—(लज्जा से) गिर जायगा—नीचा हो जायगा, **इति**—यह (सोचकर), **मूर्धा ते**—तेरा मस्तक, **विपतेद्**—झुक जाये (अपनी पराजय स्वीकार कर), **इति**—यह (प्रवाहण ने कहा), **हन्त**—तो, **अहम्**—मैं, **एतद्**—यह (बात), **भगवत**—आदरणीय आप से, **वेदानि**—जानू, जानना चाहता हू, **इति**—यह (शिलक ने कहा), **विद्धि**—जानो, पूछो, **इति ह उवाच**—यह (प्रवाहण ने) कहा ॥८॥

अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच।
सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाश
प्रत्यस्त यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाश परायणम् ॥१॥

अस्य लोकस्य—इस (पृथिवी) लोक का, **का गति**—कौन आश्रय, आधार है, **इति**—यह (शिलक ने पूछा), **आकाश**—आकाश, **इति उवाच**—यह प्रवाहण ने उत्तर दिया, **सर्वाणि**—सारे, **ह वै**—ही, **इमानि**—ये, **भूतानि**—पच महाभूत, प्राणी, **आकाशाद्**—आकाश मे, **एव**—ही, **समुत्पद्यन्ते**—उत्पन्न होते हैं, **आकाश प्रति**—आकाश की ओर (आकाश मे), **अस्तम् यन्ति**—अन्त हो जाते ह, **आकाश**—आकाश, **हि एव**—ही, **एभ्य**—इन (भूतो) से,

यह आकाश ब्रह्म का प्रतीक है, यह दूसरों से वरतम है, परोवरीयान् है, यही 'उद्गीथ' है जिसकी चर्चा के लिये तीनों बैठे हैं, यह अनन्त है। जो दूसरों से वरतम उद्गीथ के इस रूप को जानकर उसकी उपासना करता है उसका जीवन दूसरों से श्रेष्ठ हो जाता है, और वह सर्वश्रेष्ठ लोकों को जीत लेता है ॥२॥

अतिधन्वा शौनक ने उद्गीथ के सम्बन्ध में उक्त चर्चा को अपने शिष्य उदरशाण्डिल्य को सुनाया और कहा कि जब तक तेरे वंश में उद्गीथ का ज्ञान रहेगा तब तक इस लोक में उनका सर्वश्रेष्ठ जीवन रहेगा ॥३॥

ज्यायान्—बड़ा, ज्येष्ठ है, आकाश—आकाश, परायणम्—परम गति, परम आश्रय है ॥१॥

स एष परोवरीयानुद्गीथ स एषोऽनन्त परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति य एतदेव विद्वान्परोवरीयांसमुद्गीथमुपास्ते ॥२॥

स एष—वह यह (आकाश), **परोवरीयान्**—सब से बढ़कर वरण करने योग्य (श्रेष्ठ), **उद्गीथ**—उद्गीथ (रूप में उपास्य) है, **स एष**—वह यह (आकाशरूप उद्गीथ), **अनन्त**—अन्त-रहित, **परोवरीय**—सबसे बढ़कर श्रेष्ठ, **ह**—निश्चय से, **अस्य**—इस (उद्गीथ-उपासक) का, **भवति**—(जीवन) होता है, **परोवरीयस**—सर्वोत्तम, **ह**—निश्चय ही, **लोकान्**—लोकों को, स्थिति को, स्थान को, **जयति**—जीत लेता है, अधिगत कर लेता है, प्राप्त होता है, **य**—जो, **एतद्**—यह, **एवम्**—इस प्रकार, **विद्वान्**—जानता हुआ, **परोवरीयासम्**—सर्वोत्तम, सबसे बढ़ कर, **उद्गीथम्**—(आकाश-रूप) उद्गीथ को (की), **उपास्ते**—उपासना करता है ॥२॥

तँ हैतमतिधन्वा शौनक उदरशाण्डिल्यायोक्त्वोवाच। यावत्त एनं प्रजायामुद्गीथं वेदिष्यन्ते परोवरीयो हैभ्यस्तावदस्मिँल्लोके जीवनं भविष्यति ॥३॥

तम् ह एतम्—उस ही इस (उद्गीथ) को, **अतिधन्वा**—अतिधन्वा (नामी) ने, **शौनक**—शुनक के पुत्र, **उदरशाण्डिल्याय**—उदरशाण्डिल्य (नामवाले) को, **उक्त्वा**—उपदेश देकर, **उवाच**—कहा था, **यावत्**—जबतक, **ते**—वे या तेरे, **एनम्**—इस, **प्रजायाम्**—पुत्र-परम्परा में, **उद्गीथम्**—उद्गीथ को, **वेदिष्यन्ते**—जानेंगे, **परोवरीय**—सर्वोत्तम, **ह**—निश्चय ही, अवश्य, **एभ्य**—इन (श्रोताओं) में, **तावद्**—तो, तब तक, **अस्मिन् लोके**—इस (पृथिवी) लोक में, इस मनुष्य-जन्म में, **जीवनम्**—जीवन, **भविष्यति**—होगा ॥३॥

और उस लोक में भी सम्मान होगा। इस प्रकार 'उद्गीथ' का ज्ञान प्राप्त कर जो उसकी उपासना करता है उसका इस लोक मे सर्व-श्रेष्ठ जीवन होता है तथा उस लोक में सम्मान होता है, लोक में सम्मान होता है ॥४॥

(उद्गीथ के सिलसिले मे ५-६-७ खड मे साम-गान का वर्णन किया गया था, उसी प्रकरण को उठाकर ८म तथा ९म खड मे 'साम' की गति क्या है---साम का उद्भव-स्थान क्या है---इसका वर्णन करते हुए ऋषि सपूर्ण सृष्टि के उद्भव-स्थान उसी उद्गीथ पर पहुचे है, जिसका इस प्रपाठक मे मुख्य तौर पर वर्णन है, वही अनन्त है, वही परम-श्रेष्ठ है, वही उपासनीय है।)

प्रथम प्रपाठक---(दसवां खंड)

(उपस्ति चाक्रायण की कथा, १०-११ खड)

एक समय का कथानक है कि कुरु-देश में ओलो से सब-कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो गया। उस समय हाथीवानो के ग्राम में उषस्ति चाक्रायण निर्धन ऋषि आटिकी-नामक अपनी स्त्री के साथ जा बसा ॥१॥

तथामुष्मिँल्लोके लोक इति। स य एतदेव विद्वानुपास्ते परोवरीय एव हास्यास्मिँल्लोके जीवन भवति तथामुष्मिँल्लोके लोक इति लोके लोक इति ॥४॥

तथा---और, **अमुष्मिन् लोके**---उस (आदित्य) लोक मे, **लोक**---लोक, स्थिति, स्थान, **इति**---यह (शौनक ने कहा था), **स य**---वह जो (उपासक), **एतम्**---इस (उद्गीथ) को, **एवम् विद्वान्**---इस प्रकार जानकर, **उपास्ते**---उपासना करता है, **परोवरीय एव**---सबसे बढ कर ही, **ह**---निश्चय से, **अस्य**---इस (उपासक) का, **अस्मिन् लोके**---इस (पृथिवी) लोक मे, मनुष्य-जन्म मे, **जीवनम्**---जीवन, **भवति**---होता है, **तथा**---और, वैसे ही, **अमुष्मिन् लोके**---उस (आदित्य) लोक मे, **लोक**---स्थान (प्राप्त होता है), **इति**---यह, **लोके लोक**---आदित्य लोक मे स्थान मिलता है (वाक्य की द्विरुक्ति---दो वार पाठ आदर और जोर देने के लिए एव खण्ड-समाप्ति की सूचना के लिए है) ॥४॥

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्तिर्ह
चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास ॥१॥

मटची-हतेषु---बिजली या ओलो से मारे हुए, ईति-भीति से ग्रस्त, **कुरुषु**---कुरु देश में, **आटिक्या**---आटिकी (भ्रमणशील) नाम वाली, सह

वह भूख का इतना सताया हुआ था कि गले-सडे उडद खाते हुए एक हाथीवान से उसने भिक्षा मागी। वह बोला, मेरे पास जो ये उडद पडे हुए है इनसे अन्य मेरे पास नही है ॥२॥

ऋषि ने कहा, इन्ही में से दे दो। उसने दे दिये। हाथीवान ने कहा, जल भी लो। उषस्ति ने कहा, अगर मैं यह पानी पीऊगा तब तो तेरा जूठा पानी पीऊगा ॥३॥

हाथीवान ने कहा, तो क्या ये उडद जूठे नही है ? ऋषि ने कहा, अगर मै इन्हें नही खाऊगा तब तो भूख के मारे मैं जी ही नहीं सकूगा, परन्तु जल तो जहा चाहो मिल जाता है ॥४॥

जायया—पत्नी के साथ, उषस्ति—उषस्ति नामवाला, चाक्रायण—चक्र का पुत्र, इभ्य-ग्रामे—हस्तिपालको (महावतो) के ग्राम मे, प्रद्राणक—अत्यन्त निर्धन, अकिंचन, दीन-हीन, उवास—रहता था ॥१॥

स हेभ्य कुल्माषान्खादन्त विभिक्षे । त ँ होवाच ।
नेतोऽन्ये विद्यन्ते यच्च ये म इम उपनिहिता इति ॥२॥

स ह—उसने, इभ्यम्—हस्तिपाल को (से), कुल्माषान्—कुलथी (नामक उडद-जैसा तुच्छ अन्न) को, खादन्तम्—खाते हुए, विभिक्षे—भीख माँगी, तम् ह—उस (उषस्ति) को, उवाच—(इभ्य ने) कहा, न—नही, इत—इनसे, अन्ये—दूसरे (अधिक), विद्यन्ते—(मेरे पास) है, यत् च—जो, मे—मेरे (खाने के लिए), इमे—ये, उपनिहिता—पास मे रखे हैं, इति—यह (कहा) ॥२॥

एतेषा मे देहीति होवाच, तानस्मै प्रददौ,
हन्तानुपानमित्युच्छिष्ट वै मे पीत ँ स्यादिति होवाच ॥३॥

एतेषाम्—इनका (इनमे से), मे—मुझे, देहि—दो, इति ह—ऐसे, उवाच—(उषस्ति ने) कहा, तान्—उन (कुल्माषो) को, अस्मै—इस (उषस्ति) को, प्रददौ—(इभ्य ने) दे दिया, हन्त—और, अनुपानम्—(यह) बाद मे पीने के लिए जल है, इति—यह (भी इभ्य ने कहा), उच्छिष्टम्—जूठा, वै—ही, मे—मेरा, पीतम्—पानी पीना, स्यात्—होगा, इति ह उवाच—यह (उषस्ति ने) कहा (अत जूठा पानी न लिया) ॥३॥

न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति, न वा अजीविष्यमि-
मानखादन्निति होवाच, कामो म उदपानमिति ॥४॥

न स्विद्—क्या नहीं, एते—ये (कुल्माष), अपि—भी, उच्छिष्टा—जूठे है, इति—यह (इभ्य ने पूछा), न वै—नही ही, अजीविष्यम्—जी

ऋषि उन जूठे उड़दो को खाकर बचे हुओ को अपनी भार्या के लिये ले आया। वह पहले ही भिक्षा कर चुकी थी, उसने उन उड़दो को रख लिया ॥५॥



उषस्ति चाक्रायण हाथीवान से जूठे उडद ले रहे हैं

पाऊना, जिऊना, इमान्—इन (जूठे कुल्माषो) को, अखादन्—न खाता हुआ (न खाने पर), इति ह उवाच—यह (उषस्ति ने) कहा, काम—पर्याप्त, यथेच्छ, मे—मेरे (पास), उदपानम्—पीने का पानी है, इति—ऐसे ॥४॥

स ह खादित्वातिशेषाञ्जायाया आजहार, साग्र एव सुभिक्षा बभूव, तान्प्रतिगृह्य निदधौ ॥५॥

प्रात काल जागने पर ऋषि बोला, यदि कुछ भी अन्न मिल जाय, तो शरीर मे शक्ति आने पर कही से धन प्राप्त करू जिससे जीवन-निर्वाह हो । अमुक राजा यज्ञ करने वाला है, मै वहा पहुच जाऊ तो वह अपने सब ऋत्विजो मे से मुझे ही चुनेगा ॥६॥

उसे उसकी भार्या ने कहा, पतिदेव ! ये ही उड़द है । अस्तु, उन्हें खाकर ऋषि उस महान् यज्ञ को गया ॥७॥

वहा स्तोत्र-पाठ करने वाले उद्गाताओ के आस्ताव मे, अर्थात् यज्ञ-भूमि मे अन्यो के निकट जाकर बैठ गया और प्रस्तोता से कहने लगा ॥८॥

स ह—वह, खादित्वा—(स्वय) खा कर, अतिशेषान्—खाने से बचे हुए, जायायै—पत्नी के लिए, आजहार—ले आया, सा—वह पत्नी, अग्रे—पहले, एव—ही, सुभिक्षा बभूव—भिक्षा (अन्न) प्राप्त कर चुकी थी, खा चुकी थी, तान्—उन (कुल्मापो) को, प्रतिगृह्य—लेकर, निदधौ—सभाल कर रख दिया ॥५॥

स ह प्रात सजिहान उवाच, यद्वतान्नस्य लभेमहि लभेमहि
धनमात्राम्, राजासौ यक्ष्यते, स मा सर्वैरार्त्विज्यैर्वृणीतेति ॥६॥

स ह—वह (उपस्ति), प्रात—प्रात काल मे, सजिहान—जागने पर या घर छोडता हुआ, बाहर जाना चाहता हुआ, उवाच—बोला, यद् वत—अगर, अन्नस्य—अन्न की, लभेमहि—हमे प्राप्ति हो जाय (कुछ खाने को मिल जाय), (तो) लभेमहि—प्राप्त करे, धनमात्राम्—धन के अश को, कुछ धन, राजा—राजा, असौ—यह, यक्ष्यते—यज्ञ करेगा, स—वह, मा—मुझ को, सर्वै—सारे, आर्त्विज्यै—ऋत्विक्-कर्मो मे (के लिए), वृणीत—वरण करेगा, चुनेगा, इति—यह (उपस्ति ने कहा) ॥६॥

त जायोवाच, हन्त पत इम एव कुल्मापा
इति, तान्खादित्वाऽमु यज्ञ विततमेयाय ॥७॥

तम्—उसको, जाया—पत्नी ने, उवाच—कहा, हन्त—हे, पते—पति !, इमे—ये, एव—ही, कुल्मापा—कुलथी है, इति—यह, तान्—उनको, खादित्वा—खाकर, अमुम्—इस, यज्ञम्—यज्ञ को (मे), विततम्—विस्तृत, विशाल, एयाय—आ गया ॥७॥

तत्रोद्गातॄनास्तावे स्तोष्यमाणानुपोपविवेश, स ह प्रस्तोतारमुवाच ॥८॥

तत्र—वहा, उस (यज्ञ मे), उद्गातॄन्—उद्गाताओ को (के), आस्तावे—स्तुति करने के स्थान, प्रार्थना-भवन मे, स्तोष्यमाणान्—स्तुति करने के

हे प्रस्तोत ! जो देवता प्रस्ताव से सम्बन्ध रखता है अगर तुम उसे न जानते हुए प्रस्ताव का गान करोगे तो तुम्हारा सिर गिर जायगा, अर्थात् तुम्हें नीचा देखना पड़ेगा ॥९॥

फिर ऐसे ही उद्गाता को कहा, हे उद्गात ! जो देवता उद्गीथ से सम्बन्ध रखता है अगर तुम उसे न जानते हुए उद्गीथ गाओगे तो तुम्हारा भी सिर गिर जायगा, अर्थात् तुम्हे भी नीचा देखना पड़ेगा ॥१०॥

इसी प्रकार फिर प्रतिहर्ता को सम्बोधन करके कहा, हे प्रतिहर्त: ! जो देवता प्रतिहार से सम्बन्ध रखता है अगर तुम उसे न जानते हुए प्रतिहार गाओगे तो तुम्हारा भी सिर गिर जायगा, अर्थात् तुम्हें भी नीचा देखना पड़ेगा। यह सुनकर वे तीनो अपना-अपना काम छोड़कर चुप होकर बैठ गये ॥११॥

लिये उत्सुक (तत्पर), उप—पास मे, उपविवेश—बैठ गया, स ह—और वह, प्रस्तोतारम्—प्रस्तोता को, उवाच—बोला ॥८॥

प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता ता
चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥९॥

प्रस्तोत—हे प्रस्तोता !, या देवता—जो देवता, प्रस्तावम्—प्रस्ताव मे, गान के आरम्भ मे, अनु+आयत्ता—अनुगत है, सम्बद्ध है, ओत-प्रोत है, ताम्—उस (देवता) को, चेद्—अगर, अविद्वान्—न जानते हुए, प्रस्तोष्यसि—प्रस्ताव करेगा, मूर्धा—मस्तक, ते—तेरा, विपतिष्यति—(लज्जा से) गिर जायगा, इति—यह (कहा) ॥९॥

एवमेवोद्गातारमुवाचोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता
ता चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥१०॥

एवम् एव—इस प्रकार ही, उद्गातारम्—उद्गाता को, उवाच—कहा, उद्गात—हे उद्गाता !, या देवता—जो देवता, उद्गीथम्—उद्गीथ को (मे), अन्वायत्ता—सम्बद्ध है, रमी हुई है, ताम् चेद् अविद्वान्—उस (देवता) को अगर न जानते हुए, उद्गास्यसि—उद्गान करेगा, मूर्धा ते विपतिष्यति—(लज्जा से) मस्तक तेरा गिर (झुक) जायगा, इति—यह (कहा) ॥१०॥

एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच, प्रतिहर्तर्या देवता प्रति-
हारमन्वायत्ता ता चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते
विपतिष्यतीति, ते ह समारतास्तूष्णीमासाचक्रिरे ॥११॥

(इस खंड मे प्रस्तोता, उद्गाता तथा प्रतिहर्ता से कहा गया है कि अपने कार्य को करते हुए शब्दो के ही चक्कर मे न रहे, उस कार्य के देवता, उस कार्य के मुख्य अंग एवं लक्ष्य को समझते हुए प्रत्येक कार्य करे।)

प्रथम प्रपाठक—(ग्यारहवां खंड)

तब उसे यजमान ने कहा, मै आपको जानना चाहता हूं। ऋषि ने उत्तर दिया, मै उषस्ति चाक्रायण हू ॥१॥

यजमान बोला, मैने इन सब ऋत्विजो से आपको ढुंढवाया, जब आपका कुछ पता न चला तो मैने अन्य ऋत्विजो का वरण कर लिया ॥२॥

एवम् एव—उस ही प्रकार, **प्रतिहर्तारम्**—प्रतिहर्ता (गान का उतार करनेवाले) को, **उवाच**—कहा, **प्रतिहर्त**—हे प्रतिहर्त्ता, **या देवता**—जो देवता, **प्रतिहारम्**—प्रतिहार (साम-गान के उतार) को (मे), **अन्वायत्ता**—रमी हुई, ओतप्रोत है, **ताम् चेद् अविद्वान्**—उस देवता को अगर न जानते हुए, **प्रतिहरिष्यसि**—प्रतिहार (साम-गान का उतार, धीमापन) करेगा, **मूर्धा ते विपतिष्यति**—तेरा मस्तक गिर (झुक) जायगा, **इति**—यह (कहा), **ते ह**—वे सब ऋत्विज् ही, **समारता**—कार्य मे रुक गये, **तूष्णीम्**—चुपचाप, **आसाचक्रिरे**—बैठ गये ॥११॥

अथ हैनं यजमान उवाच, भगवन्तं वा अहं
विविदिषाणीत्युषस्तिरस्मि चाक्रायण इति होवाच ॥१॥

अथ ह—इसके बाद, **एनम्**—इस (उषस्ति) को, **यजमान**—यज्ञ करने वाले (राजा) ने, **उवाच**—कहा, **भगवन्तम्**—आदर-पात्र आपको, **वै**—अवश्य ही, **अहम्**—मै, **विविदिषाणि**—जानना चाहता हू, **इति**—यह (पूछा), **उषस्ति**—उषस्ति (नामवाला), **अस्मि**—मै हूँ, **चाक्रायण**—चक्र का पुत्र, **इति ह उवाच**—यह (उषस्ति ने) कहा ॥१॥

स होवाच, भगवन्तं वा अहमेभिः सर्वैरार्त्विज्यैः
पर्यैषिषं भगवतो वा अहमवित्त्वाऽन्यानवृषि ॥२॥

स ह—उस (राजा) ने, **उवाच**—कहा, **भगवन्तम्**—आदरणीय आपको, **एभि**—इन, **सर्व**—सारे, **आर्त्विज्यै**—ऋत्विक्-कर्मो के कारण मे, **पर्यैषिषम्**—ढूढा था, **भगवत वै**—आपको, **अहम्**—मैने, **अवित्त्वा**—न पाकर, **अन्यान्**—दूसरो को, **अवृषि**—वरण किया है, ऋत्विग् नियुक्त किया है ॥२॥

सब ऋत्विजो के साथ आप ही मेरे मुख्य ऋत्विज् बनकर यज्ञ कराये। उषस्ति ने कहा, बहुत अच्छा, परन्तु जिन ऋत्विजो का तुमने पहले वरण कर रखा है, वे ऋत्विक् ही प्रसन्ता-पूर्वक मेरी देख-रेख मे यज्ञ करायें और साथ ही जितना धन दक्षिणा मे आप इन्हे दे उतना ही मुझे दें, अधिक नही। यजमान ने कहा, तथास्तु ॥३॥

(अर्थात्, न तो मै इन्हे हटवाना ही चाहूगा, और न इनकी अपेक्षा अधिक दक्षिणा ही लूंगा जिससे ये अपने को अपमानित न समझने लगे।)

इसके अनन्तर 'प्रस्तोता'-नामक ऋत्विक् उषस्ति के निकट आकर विनय-भाव से बोला, भगवन्! आपने मुझे कहा था कि जो देवता प्रस्ताव से सम्बन्ध रखता है उसे न जानते हुए प्रस्ताव करोगे तो तुम्हारा सिर गिर पड़ेगा। हे भगवन्! वह देवता कौन-सा है?॥४॥

भगवाँस्त्वेव मे सर्वैरार्त्विज्यैरिति। तथेत्यथ तर्ह्येत
एव समतिसृष्टा स्तुवतां यावत्त्वेभ्यो धनं
दद्यास्तावन्मम दद्या इति, तथेति ह यजमान उवाच ॥३॥

भगवान् तु एव—(अब) आप ही तो, **मे**—मेरे, **सर्वे**—सारे, **आर्त्विज्यै**—ऋत्विक्-कर्मो के लिए है, **इति**—यह (राजा ने निवेदन किया), **तथा इति**—वैसा ही हो (मुझे स्वीकार है, यह उषस्ति ने कहा), **अथ**—अब, **तर्हि**—तो, **एते**—ये (ऋत्विक्), **एव**—ही, **समतिसृष्टा**—(मुझ से) अनुज्ञात, प्रेरित, **स्तुवताम्**—स्तुति-कर्म करे, **यावत्**—जितना, **तु**—तो, **एभ्य**—इनको, **धनम्**—धन (दक्षिणा), **दद्या**—देगा, **तावत्**—उतना ही, **मम**—मुझे, **दद्या**—देना, **इति**—यह (उषस्ति ने कहा), **तथा इति**—वैसे ही हो (मुझे स्वीकार है), **ह**—निश्चय से, **यजमान**—यजमान (राजा) ने, **उवाच**—कहा ॥३॥

अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद, प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वा-न्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति, मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥४॥

अथ ह—इसके बाद, **एनम्**—इसको (के), **प्रस्तोता**—प्रस्तोता, **उपससाद**—पास आकर बैठा, **प्रस्तोत**—हे प्रस्तोता!, **या देवता प्रस्तावम् अन्वायत्ता**—जो देवता प्रस्ताव (साम-गान के प्रारम्भ करने) मे ओत-प्रोत है, **ताम् चेद् अविद्वान् प्रस्तोष्यसि**—उसको अगर न जानते हुए (तू) प्रस्ताव करेगा, **मूर्धा ते विपतिष्यति**—मस्तक तेरा गिर (झुक) जायगा, **इति**—यह (बात),

उपस्ति ने उत्तर दिया, 'प्राण' ही वह देवता है। ये सब भूत, ये सब प्राणी उस महा-प्राण भगवान् में ही अन्तकाल में प्रवेश करते हैं, और उत्पत्ति-काल में उसी से उत्पन्न होते हैं। जब किसी शुभ-कर्म का प्रस्ताव हो, प्रारम्भ हो, तो इस प्राण-देवता को प्रस्ताव में अनुगत समझो। अगर तू यह न जानकर स्तुति करता, तो तेरा सिर गिर जाता—मेरे कथन का यही अभिप्राय था ॥५॥

अब 'उद्गाता'-नामक ऋत्विक् ने उपस्ति के निकट आकर विनय-भाव से पूछा, भगवन्! आपने मुझे कहा था कि जो देवता उद्गीथ में सम्बद्ध है उसे न जानते हुए गान करोगे तो तुम्हारा सिर गिर पड़ेगा। हे भगवन्! वह देवता कौन-सा है? ॥६॥

मा—मुझ को, भगवान्—आपने, अवोचत्—कही थी, कतमा—कौन सी, सा—वह, देवता—देवता है, इति—यह (प्रस्तोता ने पूछा) ॥४॥

प्राण इति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभि-
संविशन्ति, प्राणमभ्युज्जिहते, सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता,
तां चेदविद्वान्प्रास्तोष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ॥५॥

प्राण—(वह देवता) प्राण है, इति ह—ऐसे, उवाच—(उपस्ति ने) कहा, सर्वाणि—सारे, ह वै—ही, इमानि भूतानि—ये भूत, प्राणम्—प्राण को (में), एव—ही, अभिसंविशन्ति—(प्रलयकाल में) आराम (आश्रय) पाते हैं, प्राणम्—प्राण को (से), अभि+उत्—जिहते—(पुनः उत्पत्ति-काल में) उद्गत (उत्पन्न) होते हैं, सा एषा—वह यह, देवता—देवता, प्रस्तावम् अन्वायत्ता—प्रस्ताव (गान के आरम्भ) में अनुगत-सम्बद्ध-ओतप्रोत है, ताम् चेद् अविद्वान्—अगर उस (प्राण-देवता) को न जानता हुआ, प्रास्तोष्य—तू प्रस्तुत (आरम्भ) कर देता (तो), मूर्धा—मस्तक, ते—तेरा, व्यपतिष्यत्—गिर (झुक) जाता, तथा+उक्तस्य—वैसे कहे हुए, मया—मेरे द्वारा, (तथा+उक्तस्य मया—मेरे द्वारा ऐसा कहे जाने पर), इति—यह (उपस्ति ने कहा) ॥५॥

अथ हैनमुद्गातोपससादोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानु-
द्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति, मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥६॥

अथ ह—इसके बाद, एनम्—इसके, उद्गाता—उद्गाता (उच्च स्वर से गानेवाला), उपससाद—पास आकर बैठा, उद्गात—हे उद्गाता!, या देवता—जो देवता, उद्गीथम्—उद्गीथ को (में), अन्वायत्ता—सम्बद्ध है, ताम् चेद् अविद्वान्—उस (देवता) को अगर न जानते हुए, उद्गास्यसि—

उषस्ति ने उत्तर दिया, 'आदित्य' ही वह देवता है। ये सब भूत ऊपर चढते हुए सूर्य की महिमा का गान करते हैं। उद्‌गीथ के साथ आदित्य का सम्बन्ध है क्योंकि जैसा पहले कह चुके हैं भौतिक-जगत् में आदित्य उद्‌गीथ का प्रतीक है। अगर तू यह न जानकर स्तुति करता, तो तेरा सिर गिर जाता—मेरे कथन का यही अभिप्राय था ॥७॥

('अध्यात्म', अर्थात् शरीर—पिंड—में 'प्राण' तथा 'अधि-दैवत', अर्थात् सृष्टि—ब्रह्मांड—में 'आदित्य' को उद्‌गीथ का प्रतीक पहले भी कहा है। वही बात यहां कही गई है। पिंड में प्राण तथा ब्रह्मांड में आदित्य दोनों उद्‌गीथ के प्रतीक हैं।)

अब 'प्रतिहर्ता'-नामक ऋत्विक् ने उषस्ति के निकट आकर विनय-भाव से पूछा, भगवन्! आपने मुझे कहा था कि जो देवता प्रतिहार-कर्म से सम्बद्ध है उसे न जानते हुए अगर प्रतिहार-कर्म

तू उच्च स्वर से गान करेगा (तो), मूर्धा ते विपतिष्यति—तेरा सिर (मस्तक) गिर (झुक) जायगा, इति—यह (बात), मा—मुझको, भगवान्—आदर-णीय आपने, अवोचत्—कही थी, कतमा—कौन सी, सा देवता—वह देवता है, इति—यह (मुझे बताइये) ॥६॥

आदित्य इति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्या-
दित्यमुच्चैः सन्तं गायन्ति, सैषा देवतोद्‌गीथमन्वायत्ता तां
चेदविद्वानुदगास्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ॥७॥

आदित्य—आदित्य (वह देवता है), इति ह—ऐसे, उवाच—(उषस्ति ने) कहा, सर्वाणि ह वै इमानि भूतानि—सारे ही ये पंच महाभूत व प्राणी, आदित्यम्—सूर्य को (का), उच्चैः—ऊंचे, उच्च स्थान पर, सन्तम्—होने वाले, वर्तमान, गायन्ति—गान करते हैं, सा एषा—वह यह (आदित्य), देवता—देवता, उद्‌गीथम्—उच्च स्वर से किये साम-गान से, अन्वायत्ता—सबद्ध है, ताम् चेद् अविद्वान्—इस (आदित्य-देवता) को अगर न जानते हुए, उद्+अगास्य—तू उच्च स्वर से गान कर देता (तो), मूर्धा—मस्तक, ते—तेरा, व्यपतिष्यत्—गिर (झुक) जाता, तथा+उक्तस्य मया—मेरे द्वारा ऐसे कहे जाने पर, इति—यह (उषस्ति ने उत्तर दिया) ॥७॥

अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद, प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहार-
मन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते
विपतिष्यतीति, मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥८॥

अथ ह—इसके बाद, एनम्—इस (उषस्ति) के, प्रतिहर्ता—प्रतिहार

करोगे तो तुम्हारा सिर गिर पडेगा। हे भगवन्! वह देवता कौन-सा है? ॥८॥

उषस्ति ने उत्तर दिया, 'अन्न' ही वह देवता है। सब भूत अन्न का प्रतिहरण---ग्रहण करते हुए ही जीवित है। प्रतिहार का अनुगत देवता अन्न ही है। उसे न जानते हुए अगर तुम प्रतिहार-कर्म करते, तो तुम्हारा सिर गिर पडता---मेरे कथन का यही अभिप्राय था, मेरे कथन का यही अभिप्राय था ॥९॥

(यज्ञ मे तीन ऋत्विक् होते हैं--प्रस्तोता, उद्गाता, प्रतिहर्ता। ये तीनो शब्द-जाल में ही न फसे, भाव को मुख्य रखे, 'देवता' का ज्ञान रखते हुए कार्य करें। देवता शरीर---पिंड---की दृष्टि से 'प्राण' है, सृष्टि---ब्रह्मांड---की दृष्टि से 'आदित्य' है, परन्तु है ये

(गान का उतार) करनेवाला, **उपससाद**---पास आकर बैठा, **प्रतिहर्त**---हे प्रतिहर्ता (गान का उतार---धीमा---करनेवाले)!, **या देवता**---जो देवता, **प्रतिहारम्**---गान के उतराव (उपसहार) में, **अन्वायत्ता**---सम्बद्ध है, ओत-प्रोत है, **ताम् चेद् अविद्वान्**---उस (देवता) को अगर न जानता हुआ, **प्रति-हरिष्यसि**---तू गान का उपसहार करेगा (तो), **मूर्धा ते विपतिष्यति**---तेरा मस्तक गिर (झुक) जायगा, **इति**---यह (वचन), **मा भगवान् अवोचत्**---मुझको पूजनीय आपने कहा था, **कतमा सा देवत**---वह देवता कौन-सी है, **इति**---यह (मुझे बताइये) ॥८॥

अन्नमिति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यन्नमेव प्रतिहरमाणानि जीवन्ति, सैषा देवता प्रतिहारमन्वायत्ता ता चेदविद्वान्प्रत्यहरिष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति तथोक्तस्य मयेति ॥९॥

अन्नम्---(प्रतिहार मे अन्वायत्त वह देवता) अन्न (भोग) है, **इति ह उवाच**---यह (उपस्ति ने) कहा, **सर्वाणि ह वै इमानि भूतानि**---सारे ही ये चर-अचर प्राणी, **अन्नम् एव**---अन्न के ही, **प्रतिहरमाणानि**---प्रति झुकते (उतरते) हुए या ग्रहण करते हुए, **जीवन्ति**---जीवित रहते है, **सा एषा देवता**---वह यह (अन्न) देवता, **प्रतिहारम् अन्वायत्ता**---प्रतिहार मे सम्बद्ध (ओत-प्रोत) है, **ताम् चेद् अविद्वान्**---उस (प्रतिहार मे सम्बद्ध देवता) को अगर न जानता हुआ, **प्रत्यहरिष्य**---तू प्रतिहार (गान का उतराव) कर देता (तो), **मूर्धा ते व्यपतिष्यत्**---तेरा मस्तक गिर (झुक) जाता, **तथोक्तस्य मया**---मेरे वैसे कहे जाने पर, **इति**---यह (उपस्ति ने बताया) ॥९॥

दोनो 'उद्गीथ' के प्रतीक। अर्थात्, पिड मे प्राण तथा ब्रह्माड मे आदित्य के सहारे उद्गीथ की उपासना करे। परन्तु इस उपासना मे शरीर को न भूले, इसलिए ऋषि ने 'प्रस्तोता' तथा 'उद्गाता' को ओकारोपासना का प्रतिनिधि बताकर 'प्रतिहर्ता' को शरीर की रक्षा करने वाले अन्न का प्रतिनिधि बताया है। अन्न की महिमा ऋषि ने अपने जीवन से भी प्रकट कर दी है—जब कुछ भी न मिला तब उच्छिष्ट भी आपद्धर्म समझकर शरीर-रक्षार्थ खा लिया। पानी क्योकि हर जगह मिल जाता है अत जूठे उडद लेकर भी जूठा पानी लेने से इनकार कर दिया। इसका यही अर्थ है कि अगर कही जल न मिलता और उसके कारण प्राण सकट मे होते, तो जूठा जल भी पी लेना उषस्ति चाक्रायण की दृष्टि मे आपद्धर्म होता।)

प्रथम प्रपाठक—(बारहवां खंड)

ऋषि-मुनि जिस प्रकार 'उद्गीथ' की उपासना करते है उसका वर्णन कर चुकने पर छान्दोग्य-उपनिषद् के रचयिता कहते है कि मनुष्य क्या, पशु-जगत् भी उद्गीथ की उपासना कर रहा है। उदाहरण के तौर पर 'शौव-उद्गीथ' का वर्णन करते है—'श्वा', अर्थात् कुत्ता भी उद्गीथ का ही मानो गान कर रहा है। आख्यायिका के तौर पर कहते है कि एक बार बक दाल्भ्य या शायद मित्रा का पुत्र ग्लाव इन दोनो मे से कोई एक स्वाध्याय के लिए एकात-स्थान में गया ॥१॥

अथात शौव उद्गीथस्तद्ध बको दाल्भ्यो
ग्लावो वा मैत्रेय स्वाध्यायमुद्वव्राज ॥१॥

अथ अत—अब इसमे (आगे), शौव—श्वा (कुत्ता) सम्बन्धी, उद्गीथ—उद्गीथ (का वर्णन) है, तत्—तो, ह—एक बार, बक—बक-नामवाला, दाल्भ्य—दल्भ-गोत्री, ग्लाव—ग्लाव-नामी, वा—या, मैत्रेय—मित्रा का पुत्र, स्वाध्यायम्—स्वाध्याय को (के लिए), उद्वव्राज—(बस्ती से बाहर एकान्त स्थान मे) गया ॥१॥

वहा उसने क्या देखा कि एक सफेद कुत्ता उसके सामने आया। दूसरे कई कुत्ते, उस सफेद कुत्ते के समीप आकर उसे कहने लगे, हे भगवन्! ऐसा गाना गाओ जिससे हमें अन्न-प्राप्ति हो, क्योंकि हम भूखे है ॥२॥

सफेद कुत्ते ने उन्हे कहा, कल प्रातःकाल मेरे समीप आना। वक दाल्भ्य या शायद मित्रा का पुत्र ग्लाव यह-सब देख रहा था। वह भी वहीं पर अगले दिन की प्रतीक्षा करने लगा ॥३॥

उसने अगले दिन क्या देखा कि जैसे उद्गाता लोग वहिष्पवमान स्तोत्र से प्रभु का स्तुति-गान करते हुए इकट्ठे चलते हैं, वैसे ही वे सब कुत्ते इकट्ठे आकर बैठकर 'हिंकार' करने लगे—मानो ओंकारोपासना कर रहे हो, उद्गीथ-गान कर रहे हो ॥४॥

तस्मै श्वा श्वेत प्रादुर्बभूव, तमन्ये श्वान उपसमेत्योचुरन्न नो भगवानागायत्वशनायाम वा इति ॥२॥

तस्मै—उसके लिये (के सामने), **श्वा**—कुत्ता, **श्वेत**—श्वेत वर्ण का, **प्रादुर्बभूव**—प्रगट हुआ, सामने दीखा, **तम्**—उस (कुत्ते) को, **अन्ये**—दूसरे, **श्वान**—कुत्ते, **उपसमेत्य**—पास आकर, **ऊचु**—बोले, **अन्नम्**—अन्न (भोज्य-पदार्थ), **न**—हमारे लिए, **भगवान्**—आदरणीय आप, **आगायतु**—गान करें, प्रार्थना करें, प्राप्त कराये, **अशनायाम**—(हम) भूख से पीडित हैं, **वै**—निश्चय से, **इति**—यह (कुत्तो ने कहा) ॥२॥

तान्होवाचेहैव मा प्रातरुपसमीयातेति, तद्ध वको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेय प्रतिपालयाचकार ॥३॥

तान् ह—उन (कुत्तो) को, **उवाच**—(श्वेत कुत्ते ने) कहा, **इह**—यहा, इस स्थान पर, **एव**—ही, **मा**—मुझको, **प्रात**—प्रात काल मे, **उपसमीयात**—पास आकर मिलो, **इति**—यह (वचन कहा), **तद् ह**—उस (वचन या समय) को, **वक दाल्भ्य ग्लाव वा मैत्रेय**—दल्भ-गोत्री वक या मित्रा का पुत्र ग्लाव, **प्रतिपालयाञ्चकार**—प्रतीक्षा करने लगा, या पालन किया ॥३॥

ते ह यथैवेद वहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणा सँरब्धा सर्पन्तीत्येवमाससृपुस्ते ह समुपविश्य हिंचक्रु ॥४॥

ते ह—वे (कुत्ते), **यथा एव इदम्**—जैसे यह (उपमा, उदाहरण) है, **वहिष्पवमानेन**—वहिष्पवमान नामी स्तोत्र से, **स्तोष्यमाणा**—स्तुति करने की चाहना वाले, **सरब्धा**—एकत्र हुए (समूह रूप मे), **सर्पन्ति**—सरकते है, धीरे धीरे चलते हैं, **इति एवम्**—इस ही प्रकार, **आससृपु**—पास आ गये, **ते ह**—

कुत्तो से एक ध्वनि निकल रही थी---'ओम्' की कृपा से हम खाते हैं, 'ओम्' की कृपा से हम पीते हैं, देव, वरुण, प्रजापति, सविता हमारे लिये अन्न यहा लाते है। अन्न के स्वामिन् 'ओम्'! हमें अन्न दीजिये ॥५॥

प्रथम प्रपाठक---(तेरहवां खंड)

साम-गान में 'हाउ'---'हाइ'---'औ होहाई'---इत्यादि अक्षर मन्त्रपाठ के भीतर गाये जाते है। कुत्ते के हिंकार मे भी इसी प्रकार की ध्वनिया निकलती है। ऋषि-मुनियो तथा जीव-जन्तुओ की इन ध्वनियो को, उपासक, प्रभु के भिन्न-भिन्न रूपो के स्मरण के रूप में अनुभव करता है। 'हाउ' मानो इस पृथिवी-लोक की महिमा का गान है, 'हाइ' मानो प्रभु की देन वायु की महिमा का गान है, 'अथ' चन्द्रमा का, 'इह' आत्मा का, 'ई' अग्नि का स्मरण है ॥१॥

और वे, समुपविश्य---इकट्ठे बैठ कर, हिंचक्रु---हिंकार (उद्गीथ का एक भेद) करने लगे ॥४॥

ओ ३ मदा३ मो ३ पिबा ३ मो३ देवो वरुण प्रजापति
सविता३न्नमिहा २ऽऽहरदन्नपते ३ न्नमिहा२ऽऽहरा२ऽऽहरो३मिति ॥५॥

ओम्---हे परमेश्वर, अदाम---हम खाये, भोजन करे, ओम्---हे ईश्वर, पिवाम---हम जल पिये, ओम्---हे ईश्वर, देव---दिव्यगुणयुक्त, देदीप्यमान, वरुण---वरण करने योग्य या नियन्ता, प्रजापति---चर-प्राणियों का रक्षक, सविता---सब को उत्पन्न करने वाला और सब का प्रेरक (भगवान्), अन्नम्---अन्न को, इह---यहा (इस स्थान या काल में), आहरत्---प्राप्त कराये, प्रदान करे, अन्नपते---हे अन्न के पति (भण्डार), अन्नम्---अन्न, इह---यहा, आ हर---प्रदान कर, आ हर---प्राप्त करा, ओम्---हे ईश्वर, इति---इस प्रकार से (हिंकार करने लगे) ॥५॥

अय वा व लोको हाउकारो, वायुर्हाइकारश्चन्द्रमा
अयकार आत्मेहकारोऽग्निरीकार ॥१॥

अयम्---यह, वा व---ही, लोक---(पृथिवी) लोक, हाउकार---(उद्गीथ का) 'हाउ'-कार है। वायु---वायु, हाइकार---'हाइ'-कार है, चन्द्रमा---चन्द्रमा, अथकार---'अथ'-कार है, आत्मा---आत्मा (जीवात्मा), इहकार---'इह'-कार (है), अग्नि---अग्नि, ईकार---'ई'-कार है ॥१॥

'ऊ' आदित्य का, 'ए' आह्वान का, 'औहोई' विश्वदेव का, 'हिं' प्रजापति का, 'स्वर' प्राण का, 'विराट्' अन्न एव वाणी का मानो स्मरण है ॥२॥

उक्त बारह प्रकार के स्वरो का वर्णन करने के अनन्तर तेरहवें स्वर 'हुकार' के विषय में कहते हैं कि यह स्वर अनिर्वचनीय, सर्वसचारी परब्रह्म का स्मरण कराता है ॥३॥

वाणी के सार को जो समझ जाता है उसके लिये वाणी स्वय दूध झर देती है। न समझने वाले के लिये ऋषि-मुनियो तथा जीव-जन्तुओ के 'हिंकार' आदि निरर्थक शब्द हैं, परन्तु समझने वाले के लिये ये शब्द ही प्रभु की महिमा का वखान कर रहे हैं। जो इस प्रकार साम-गान की इस उपनिषद् को जानता है, हा, उपनिषद् को जानता है, वह अन्नवान् हो जाता है, अन्नाद हो जाता है ॥४॥

आदित्य ऊकारो निहव एकारो विश्वेदेवा औहोइकार
प्रजापतिर्हिंकार प्राण स्वरोऽन्न या वाग्विराट् ॥२॥

आदित्य—आदित्य (सूर्य), **ऊकार**—'ऊ'-कार है, **निहव**—आह्वान (पुकारना), **एकार**—'ए'-कार है, **विश्वेदेवा**—विश्वेदेव (समस्त देव), **औहोइकार**—'औहोइ'-कार है, **प्रजापति**—प्रजापति (जग-पालक), **हिंकार**—'हिं'-कार है, **प्राण**—प्राण, **स्वर**—'स्वर' है, **अन्नम्**—अन्न, **या**—'या'-कार है, **वाग्**—वाणी, **विराट्**—'विराट्' है ॥२॥

अनिरुक्तस्त्रयोदश स्तोभ सचरो हुकार ॥३॥

अनिरुक्त—अनिर्वचनीय, अनिर्दिष्ट (पर-ब्रह्म) ही, **त्रयोदश**—तेरहवा, **स्तोभ**—साम-गान मे लय के लिए प्रयुक्त 'हाई'-'ई' आदि शब्द, **संचर**—सञ्चरणशील, सर्वसञ्चारी (पिछले बारह स्तोभो मे भी प्रयुक्त होनेवाला), **हुकार**—'हु'-कार है ॥३॥

दुग्धेऽस्मै वाग्दोह यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य
एतामेवं साम्नामुपनिषद वेदोपनिषद वेद इति ॥४॥

दुग्धे—दोहती है, प्रदान करती है, प्रत्यक्ष कराती है, **अस्मै**—इस (उपासक) के लिए, **वाग्**—वाणी, सरस्वती, **दोहम्**—दूध को, सार (तत्त्व) को, **य**—जो, **वाच**—वाणी का, **दोह**—दूध, सार है, **अन्नवान्**—अन्न का पति, **अन्नाद**—अन्न का भोक्ता, **भवति**—हो जाता है, **य**—जो, **एताम्**—इस, **एवम्**—इस प्रकार, **साम्नाम्**—साम-गानो के, **उपनिषदम्**—रहस्य को, **वेद**—जानता है, **उपनिषदम् वेद**—रहस्य (विद्या) को जानता है (वचन की द्विरुक्ति आदरार्थ व प्रपाठक-समाप्ति-सूचनार्थ है) ॥४॥

द्वितीय प्रपाठक---(पहला खड)

(ससार मे मानो सर्वत्र पचविध या सप्तविध साम-गान हो रहा है, १ से १० खड)

प्रथम प्रपाठक मे साम के मुख्य-विषय 'उद्गीथोपासना' का वर्णन किया, अव सम्पूर्ण 'साम' के विषय में ऋषि अपने उद्गार प्रकट करते हैं। ऋषि कहते हैं---उद्गीथ की उपासना तो ठीक है ही, परन्तु समस्त साम की उपासना भी साधु है। ससार में जो 'साधु' अच्छी---वस्तु होती है उसे 'साम' कहते है, जो 'असाधु' वस्तु होती है उसे 'असाम' कहते है ॥१॥

'साम से ऋचा को इसने गाया' का अभिप्राय होता है, साधु प्रकार से गाया, 'असाम से गाया' का अर्थ होता है, असाधु प्रकार से गाया ॥२॥

लोक-व्यवहार में, जव कोई कार्य 'साधु' हुआ हो, तव कहते है कि यह 'साम' हुआ, जव कोई कार्य 'असाधु' हुआ हो, तव कहते है कि यह 'असाम' हुआ ॥३॥

ॐ समस्तस्य खलु साम्न उपासनं साधु। यत्खलु
साधु तत्सामेत्याचक्षते यदसाधु तदसामेति ॥१॥

ओम्---ईश्वर का मगल नाम स्मरण कर, समस्तस्य---सम्पूर्ण (सव प्रन्नाव आदि अग-प्रत्यगो से युक्त), खलु---निश्चय से, साम्न---साम-गान का, उपासनम्---उपासना, सेवन, अनुष्ठान, साधु---अच्छा (उचित होता है), यत्---जो, खलु---ही, साधु---अच्छा, उचित (होता है), तत्---उसको, साम इति---साम (इस विशेषण रूप मे), आचक्षते---कहते है, यद्---जो, असाधु---बुरा, अनुचित (होता है), तद्---उसको, असाम---असाम (विशेषण पूर्वक), इति---ऐसे (कहते हैं) ॥१॥

तदुताप्याहुः। साम्नैनमुपागादिति, साधुनैनमुपागादित्येव
तदाहुः, असाम्नैनमुपागादित्यसाधुनैनमुपागादित्येव तदाहुः ॥२॥

तद्---तो, उनको, उत---या, अपि---भी, आहुः---कहते है, साम्ना---साम से, एनम्---इसके, उपागात्---पास गया, इति---यह, साधुना---उचित (रीति)से, एनम् उपागात्---इसके पास गया, इति---इस (अर्थ में), एव---ही, तद्---उस (पूर्व वाक्य) को, आहुः---कहते है (प्रयुक्त करते है), असाम्ना---अनुचित रीति से, एनम् उपागाद्---इसके पास गया, इति---यह, असाधुना एनम् उपागात्---अनुचित रीति से इसके पास गया, इति एव---इस (अर्थ) मे ही, तद् आहुः---उस (पूर्व वाक्य) को कहते (प्रयुक्त करते) है ॥२॥

अथोताप्याहुः। साम नो बतेति यत्साधु भवति साधु बतेत्येव
तदाहुरसाम नो बतेति यदसाधु भवत्यसाधु बतेत्येव तदाहुः ॥३॥

जो साम-महिमा को जानता हुआ साम को 'साधु' समझ कर उसकी उपासना करता है उसे शीघ्र ही ससार का साधु-भाव प्राप्त होता है, मानो ससार उसके सामने झुक जाता है ॥४॥

द्वितीय प्रपाठक—(दूसरा खंड)

(यज्ञ मे साम को ५ हिस्सो मे बाटा गया है—१ हिकार, २ प्रस्ताव, ३ उद्गीथ, ४ प्रतिहार तथा ५ निधन। किसी वस्तु के प्रारभ का विचार 'हिकारावस्था' है, उसका प्रारम्भ कर देना 'प्रस्तावावस्था' है, उसे प्रारभ करने के बाद शिखर पर पहुच जाना 'उद्गीथावस्था' है, फिर नीचे उतरना 'प्रतिहारावस्था' है, उसका समाप्त हो जाना 'निधनावस्था' है। इस उपनिषद् मे क्योकि साम-गान को आधार बनाया गया है, अत गान के समय गले को 'हि' से जो साफ किया जाता है, वह 'हिकार' है, गाना प्रारभ करना 'प्रस्ताव' है, गाते हुए उच्च-स्वर मे पहुच जाना 'उद्गीथ' है, फिर धीमे स्वर मे आ जाना 'प्रतिहार' है, और गाना समाप्त हो जाना 'निधन' है। इसी रूप मे विश्व मे सब जगह साम की सगीत-लहरी को थिरकता हुआ अनुभव करे। ऐसा देखे जैसे सब जगह से साम-गान की ध्वनि उठ रही है, और वह उक्त पाचो क्रमो मे से गुजर रही है।)

अथ उत अपि आहु—और (लोक मे) ऐसा जो कहते है (कि), **साम**—'साम', **न**—हमारे लिए, **बत**—काफी, **इति**—यह (जो कहते है), **यत्**—जो, **साधु**—अच्छा, उचित, **भवति**—होता है, **साधु**—अच्छा, **बत**—पर्याप्त, **इति एव**—यह ही, इस रूप (अर्थ) मे ही, **तद्**—उस (पूर्व वाक्य) को, **आहु**—कहते है, **असाम न बत**—यह हमारे लिये 'असाम' है, **इति**—ऐसे (जो कहा जाता है), **यद्**—जो, **असाधु भवति**—अनुचित होता है, **असाधु बत**—बहुत अनुचित, **इति एव**—इस रूप (अर्थ) मे ही, **तद्**—उस (पूर्ववाक्य के 'असाम') को, **आहु**—कहते है (प्रयुक्त करते हैं) ॥३॥

स य एतदेव विद्वान्साधु सामेत्युपास्तेऽभ्याशो ह
यदेनं साधवो धर्मा आ च गच्छेयुरुप च नमेयु ॥४॥

स य—वह जो, **एतद्**—इसको, **एवम् विद्वान्**—इस प्रकार जानता हुआ, **साधु**—ठीक, उचित, सम्पूर्ण, **साम**—साम की, **इति**—इस प्रकार,

इन लोको को देखे, तो पच-विध साम की उपासना करे, यह अनु-भव करे मानो ये साम-मय होकर प्रभु की उपासना मे लीन है। पृथिवी मानो साम-गान का 'हिंकार' है, अग्नि मानो 'प्रस्ताव' है, अन्तरिक्ष मानो 'उद्गीथ' है, आदित्य मानो 'प्रतिहार' है, द्यौ मानो 'निधन' है। यह नीचे से ऊपर चढते हुए लोको की सामोपासना है ॥१॥

ऊपर से नीचे उतरते हुए लोको की सामोपासना इस प्रकार है—द्यौ. मानो 'हिंकार' है, आदित्य मानो 'प्रस्ताव' है, अन्तरिक्ष मानो 'उद्गीथ' है, अग्नि मानो 'प्रतिहार' है, पृथिवी मानो 'निधन' है ॥२॥

उपास्ते—उपासना करता है, **अभ्याश ह**—समीप ही है (निकट भविष्य मे), **यद्**—कि, **एनम्**—इस (उपासक) को, **साधव**—सज्जन पुरुष, **धर्मा**—धर्म की भावनाए, या **साधव धर्मा**—उचित (शास्त्र प्रतिपादित) धर्म (अभ्युदय-नि श्रेयस के साधन), **च**—और, **आगच्छेयु**—आवे, प्राप्त होवे, **च**—और, **उप नमेयु**—इसके प्रति झुके (उन्मुख हो—उनमे उपासक की प्रीति और वढे) ॥४॥

लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत। पृथिवी हिंकारोऽग्नि
प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्य प्रतिहारो द्यौर्निधनमित्यूर्ध्वेषु ॥१॥

लोकेषु—लोको (पृथिवी आदि) मे, **पञ्चविधम्**—पाच प्रकार के, **साम**—समस्त साम-गान की, **उपासीत**—उपासना करे (समझे, देखे, विचारे), **पृथिवी**—पृथिवी (लोक), **हिंकार**—'हिं'-कार है, **अग्नि**—अग्नि (तैजस लोक), **प्रस्ताव**—'प्रस्ताव' (है), **अन्तरिक्षम्**—अन्तरिक्ष (लोक), **उद्गीथ**—'उद्गीथ' है, **आदित्य प्रतिहार**—आदित्य (लोक) 'प्रतिहार' (साम) है, **द्यौ**—द्यु-लोक, **निधनम्**—'निधन'-साम (समाप्ति, अन्त) है, **इति**—यह (भावना), **ऊर्ध्वेषु**—(नीचे से) ऊपर (होने वाले) लोको मे (करे) ॥१॥

अथावृत्तेषु। द्यौर्हिंकार आदित्य प्रस्तावोऽन्तरिक्ष-
मुद्गीथोऽग्नि प्रतिहार पृथिवी निधनम् ॥२॥

अथ—और, **आवृत्तेषु**—(ऊपर से नीचे) लौटते लोको मे (इस प्रकार साम-भावना करे), **द्यौ हिंकार**—द्यु-लोक 'हिंकार' है, **आदित्य प्रस्ताव**—आदित्य लोक 'प्रस्ताव' है, **अन्तरिक्षम् उद्गीथ**—अन्तरिक्ष लोक 'उद्गीथ' है, **अग्नि प्रतिहार**—अग्नि (तैजस लोक) 'प्रतिहार' है, **पृथिवी निधनम्**—पृथिवी-लोक 'निधन' (मृत्यु, समाप्ति, अन्त) है ॥२॥

जो इस प्रकार सामोपासना को जानता हुआ लोको में पंच-विध साम की उपासना करता है, उसे ऊर्ध्वमुखी तथा अधोमुखी लोक उपभोग-सामग्री देते हैं ॥३॥

द्वितीय प्रपाठक---(तीसरा खंड)

वृष्टि को देखे, तो पच-विध साम की उपासना करे, यह अनुभव करे मानो यह साम-मयी होकर प्रभु की उपासना में लीन है। वर्षा से पहले चलने वाला शीतल पवन मानो साम-गान का 'हिंकार' है, मेघ का उत्पन्न हो जाना मानो 'प्रस्ताव' है, वर्षा पडना मानो 'उद्गीथ' है, चमकना और गरजना मानो 'प्रतिहार' है ॥१॥

पानी पडते हुए वन्द हो जाना मानो 'निधन' है। जो इस प्रकार जानता हुआ वृष्टि में पंच-विध साम की उपासना करता है, उसके

कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च य
एतदेव विद्वाल्लोकेषु पञ्चविधँ सामोपास्ते ॥३॥

कल्पन्ते—(फल-सिद्धि मे) समर्थ होते है (फलप्रद होते है), ह—अवश्य, अस्मै—इस (उपासक) के लिए, लोका—(ये) लोक, ऊर्ध्वा—नीचे से ऊपर की ओर गिने जाने वाले (प्रथम प्रकार मे), च—और, आवृत्ता—ऊपर से नीचे की ओर लौटने वाले (द्वितीय प्रकार मे), च—और, य—जो, एतद्—इस, एवम् विद्वान्—इस प्रकार जानता हुआ, लोकेषु—लोको मे (लोको के विषय मे), पञ्चविधम्—पाच प्रकार के, साम—साम (की), उपास्ते—उपासना करता है ॥३॥

वृष्टौ पञ्चविधँ सामोपासीत। पुरोवातो हिंकारो मेघो जायते
स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार ॥१॥

वृष्टौ—वर्षा मे, पञ्चविधम् साम उपासीत—पाँच प्रकार के साम की उपासना करे, पुरोवात—पूर्व दिशा की वायु, हिंकार—'हिं'-कार' है, मेघ—(जो) वादल, जायते—पैदा होता है (वन जाता है), स—वह, प्रस्ताव—'प्रस्ताव' है, वर्षति—(जब) वरसता है, स—वह, उद्गीथ—'उद्गीथ' है, विद्योतते—विजली चमकती है, स्तनयति—गरजता है, स—वह, प्रतिहार—'प्रतिहार' है ॥१॥

उद्गृह्णाति तन्निधन वर्षति हास्मै वर्षयति ह
य एतदेव विद्वान्वृष्टौ पञ्चविधँ सामोपास्ते ॥२॥

लिये चारो तरफ आनन्द की वर्षा होती है, और वह दूसरो के लिये आनन्द की वर्षा करता है ॥२॥

द्वितीय प्रपाठक--(चौथा खड)

जलो को देखे, तो पच-विध साम की उपासना करे, यह अनुभव करे मानो वे साम-मय होकर प्रभु की उपासना में लीन हैं। मेघ की घटा का उठना मानो साम-गान का 'हिंकार' है, बरसना मानो 'प्रस्ताव' है, जलो का पूर्व-दिशा में बहता हुआ प्रवाह मानो 'उद्गीथ' है, पश्चिम को बहने वाले जल मानो 'प्रतिहार' है, समुद्र मानो 'निधन' है ॥१॥

जो इस प्रकार जलो को प्रभु के गान में लीन--मानो वे साम-गान कर रहे हो--ऐसा समझता है, और जलो में पच-विध साम की उपासना करता है, उसे जल कोई हानि नही पहुचाते, वह जलो पर विजय पा लेता है ॥२॥

उद्गृह्णाति--उद्ग्रह (उकार लेना, समाप्ति) करता है, तत्--वह, निधनम्--'निधन' है। वर्षति--बरसता है, ह--निश्चय से, अस्मै--इसके लिए, वर्षयति--वर्षा करवाता है, ह--निश्चय से, य--जो, एतद्--इस, एवम् विद्वान्--इस प्रकार जानता हुआ, वृष्टौ--वर्षा मे, पञ्चविधम् साम उपास्ते--पाँच प्रकार के साम की उपासना (भावना) करता है ॥२॥

सर्वास्वप्सु पञ्चविधꣳ सामोपासीत। मेघो यत्सम्प्लवते
स हिंकारो यद्वर्षति स प्रस्तावो या प्राच्य स्यन्दन्ते स
उद्गीथो या प्रतीच्य स प्रतिहार समुद्रो निधनम् ॥१॥

सर्वासु--सब, अप्सु--जलो मे, पञ्चविधम् साम उपासीत--पाँच प्रकार के साम की उपासना (भावना) करे, मेघ--बादल, यत्--जो, सम्प्लवते--घना हो जाता है, स हिकार--वह 'हिंकार' है, यद् वर्षति--जो बरसता है, स प्रस्ताव--वह 'प्रस्ताव' है, या--जो (जल-धाराए), प्राच्य--पूर्व दिशा की ओर, स्यन्दन्ते--बहती है, स उद्गीथ--वह 'उद्गीथ' है, या--जो (जल-धारायें), प्रतीच्य--पश्चिम दिशा की ओर (बहती है), स प्रतिहार--वह 'प्रतिहार' है, समुद्र निधनम्--समुद्र 'निधन' है ॥१॥

न हाप्सु प्रैत्यप्सुमान्भवति य एतदेव
विद्वान्सर्वास्वप्सु पञ्चविधꣳ सामोपास्ते ॥२॥

न ह--नही ही, अप्सु--जलो मे, प्रैति--(डूब कर) मरता है, अप्सुमान्--जलो का स्वामी (अधिष्ठाता), भवति--हो जाता है, य--जो,

द्वितीय प्रपाठक––(पांचवां खंड)

ऋतुओ को देखे, तो पच-विध साम की उपासना करे, यह अनुभव करे मानो वे साम-मय होकर प्रभु की उपासना मे लीन है। वसत मानो 'हिकार' है, ग्रीष्म मानो 'प्रस्ताव' है, वर्षा मानो 'उद्-गीथ' है, शरत् मानो 'प्रतिहार' है, हेमन्त मानो 'निधन' है। यह समझे मानो ऋतुए हरि-कीर्तन कर रही है ॥१॥

जो इस प्रकार पांचो ऋतुओ को प्रभु की उपासना मे लीन देखता है और ऋतुओ में पच-विध साम की उपासना करता है उसे ऋतुओ के सब भोग प्राप्त होते है, वह ऋतुमान् हो जाता है ॥२॥

द्वितीय प्रपाठक––(छठा खंड)

पशुओ में पच-विध साम की उपासना करे, यह अनुभव करे कि मानो वे साम-मय होकर प्रभु की उपासना में लीन है। अजा मानो

एतद्—इस, एवम् विद्वान्—इस प्रकार जानता हुआ, सर्वासु अप्सु—सब प्रकार के जलो मे, पञ्चविधम् साम उपास्ते—पाँच प्रकार के साम की उपासना (भावना) करता है।२॥

ऋतुषु पञ्चविधँ सामोपासीत। वसन्तो हिंकारो ग्रीष्म
प्रस्तावो वर्षा उद्गीथ शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनम् ॥१॥

ऋतुषु—ऋतुओ (के विषय) मे, पञ्चविधम् साम उपासीत—पाँच प्रकार के साम की उपासना (भावना) करे, वसन्त हिंकार––वसन्त (ऋतु) 'हिंकार' है, ग्रीष्म प्रस्ताव––ग्रीष्म (ऋतु) 'प्रस्ताव' है, वर्षा––वर्षा (ऋतु), उद्गीय––'उद्गीथ' है, शरत् प्रतिहार––शरद् ऋतु 'प्रतिहार' है, हेमन्तः निधनम्—हेमन्त (ऋतु) 'निधन' है ॥१॥

कल्पन्ते हास्मा ऋतव ऋतुमान्भवति य
एतदेव विद्वानृतुषु पञ्चविधँ सामोपास्ते ॥२॥

कल्पन्ते—समर्थ होते है, फल-प्रद होते है, ह—अवश्य, अस्मै––इस (ऋतु-साम के उपासक) के लिए, ऋतव––ऋतुए, ऋतुमान्—ऋतुओ पर विजयी, भवति—होता है, य एतद् एवम् विद्वान्—जो इसको इस प्रकार जानता हुआ, पञ्चविधम् साम उपास्ते––पाँच प्रकार के साम की उपासना (भावना) करता है ॥२॥

पशुषु पञ्चविधँ सामोपासीताजा हिंकारोऽवय प्रस्तावो
गाव उद्गीथोऽश्वा प्रतिहार पुरुषो निधनम् ॥१॥

'हिंकार' है, अवि (भेड) मानो 'प्रस्ताव' है, गौए 'उद्गीथ' है, अश्व 'प्रतिहार' है, पुरुष 'निधन' है ॥१॥

जो इस प्रकार पशुओ को प्रभु की उपासना में लीन देखता है, और पशुओ में पच-विध साम की उपासना करता है, उसके लिये पशु सुख देने वाले हो जाते है, वह पशुमान् हो जाता है ॥२॥

द्वितीय प्रपाठक—(सातवां खड)

प्राणो में पच-विध साम की उपासना करे, यह अनुभव करे कि जैसे प्राण 'परोवरीय' है—एक-दूसरे की अपेक्षा बडे है—फिर भी वे साम-मय होकर प्रभु की उपासना में लीन है, वैसे उपासक के प्राण साम-रूप होकर प्रभु की भक्ति करें। प्राण मानो 'हिंकार' है, वाक् मानो 'प्रस्ताव' है, चक्षु 'उद्गीथ' है, श्रोत्र 'प्रतिहार' है, मन 'निधन' है—ये सभी एक-दूसरे की अपेक्षा बडे है ॥१॥

पशुषु—पशुओ मे, पञ्चविधम् साम उपासीत—पाँच प्रकार के साम की उपासना (भावना) करे, अजा—बकरिया, हिंकार—'हिंकार' है, अवय—भेडे, प्रस्ताव—'प्रस्ताव' है, गाव उद्गीथ—गौए 'उद्गीथ' है, अश्वा—घोडे, प्रतिहार—'प्रतिहार' है, पुरुष—मनुष्य, निधनम्—'निधन' है ॥१॥

भवन्ति हास्य पशव पशुमान्भवति य एतदेव
विद्वान्पशुषु पञ्चविधँ सामोपास्ते ॥२॥

भवन्ति—(प्राप्त) होते है, ह—अवश्य, अस्य—इस (उपासक) के, पशव—पशु-समूह, पशुमान्—पशुओं का स्वामी, भवति—होता है, य—जो, एतद्—इस, एवम् विद्वान्—इस प्रकार जानता हुआ, पशुषु—पशु-वर्ग मे, पञ्चविधम् साम उपास्ते—पाच प्रकार के साम की उपासना (भावना-विचार) करता है ॥२॥

प्राणेषु पञ्चविध परोवरीय सामोपासीत। प्राणो हिंकारो वाक्प्रस्ताव-
श्चक्षुरुद्गीथ श्रोत्र प्रतिहारो मनो निधन परोवरीयाँसि वैतानि ॥१॥

प्राणेषु—प्राणो (इन्द्रियो) मे, पञ्चविधम्—पाँच प्रकार के, परोवरीय—एक-दूसरे की अपेक्षा श्रेष्ठ, साम उपासीत—साम की उपासना (भावना-दृष्टि) करे, प्राण हिंकार—प्राण (घ्राण-नासिका) 'हिंकार' है, वाक् प्रस्ताव—वाणी 'प्रस्ताव' है, चक्षु उद्गीथ—आँख 'उद्गीथ' है, श्रोत्रम्—कर्ण-इन्द्रिय, प्रतिहार—'प्रतिहार' है, मन. निधनम्—मन (अन्त करण) 'निधन'

जो इस प्रकार प्राण, वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन को प्रभु की उपासना में लीन देखता है, और प्राणो मे पच-विध साम की उपासना करता है उसके लिये ससार में वडे-से-वडा भी उसका अपना हो जाता है, और वह वडे-से-वडे लोको को जीत लेता है ॥२॥

द्वितीय प्रपाठक—(आठवां खड)

पहले साम-गान को ५ भागो में बाटा गया, इस खंड में उसे ७ भागो में बाट दिया गया है। पहले ५ भागो के साथ 'आदि' तथा 'उपद्रव' ये दो भाग और जोड दिये गये है। इस दृष्टि से वाणी में सप्त-विध साम की उपासना करे, यह अनुभव करे कि वाणी मानो साम-मय होकर प्रभु की उपासना में लीन है। वाङमय में जहा कही 'हु' आता है वह मानो साम-गान का 'हिंकार' है, जहा 'प्र' आता है वह मानो साम-गान का 'प्रस्ताव' है, जहा 'आ' आता है वह 'आदि' है ॥१॥

है, परोवरीयासि—एक-दूसरे मे बढ कर (श्रेष्ठ), वा—या, एतानि—ये इन्द्रिया है ॥१॥

परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति य एतदेव विद्वान्प्राणेषु पञ्चविध परोवरीय सामोपास्त इति तु पञ्चविधस्य ॥२॥

परोवरीय—निरपेक्ष श्रेष्ठता, ह—अवश्य, अस्य—इस (उपासक) की, भवति—होती है, परोवरीयस—उत्तमोत्तम, ह—ही, लोकान्—लोको को, जयति—जीत लेता है, अधिकारी हो जाता है, य एतद् एवम् विद्वान्—जो इस (को) इस प्रकार जानता हुआ, प्राणेषु—प्राणो मे (इन्द्रियो मे), पञ्चविधम्—पाँच प्रकार के, परोवरीय—निरपेक्ष श्रेष्ठ, साम उपास्ते—साम की उपासना (दृष्टि) करता है, इति—यह (वर्णन), तु—तो, पञ्चविधस्य—पाँच प्रकार के साम की (दृष्टि से विचार करने का है) ॥२॥

अथ सप्तविधस्य । वाचि सप्तविधं सामोपासीत । यत्किञ्च वाचो हुमिति स हिंकारो यत्प्रेति स प्रस्तावो यदेति स आदि ॥१॥

अथ—अब (इसके आगे), सप्तविधस्य—सात प्रकार के (साम का वर्णन करते है), वाचि—वाणी मे, सप्तविधम्—सात प्रकार के, साम उपासीत—साम की उपासना करे, यत् किंच—जो कुछ, वाच—वाणी का, हुम् इति—'हुम्' यह (रूप) है, स हिंकार—वह हिंकार है, यत्—जो, प्र इति—'प्र'

जहा 'उत्' आता है, वह 'उद्गीथ' है, जहा 'प्रति' आता है, वह 'प्रतिहार' है, जहा 'उप' आता है, वह 'उपद्रव' है, जहा 'नि' आता है, वह 'निधन' है। इस प्रकार वाङ्मय में आये हुए 'हु'-'प्र'-'आ'-'उत्'-'प्रति'-'उप'-'नि' इन सात अक्षरो को साम-गान अनुभव करे ॥२॥

वाणी के सार को जो समझ जाता है उसके लिये वाणी स्वय दूध झर देती है। जो इस प्रकार वाणी में सप्त-विध साम की उपासना करता है, यह अनुभव करता है कि वाणी द्वारा गाया गया प्रत्येक अक्षर प्रभु की महिमा में गाया गया सुन्दर गान है, वह अन्नवान् हो जाता है, संसार में भोग्य बनने के स्थान में भोक्ता बन कर रहता है—'अन्नाद' हो जाता है ॥३॥

द्वितीय प्रपाठक—(नवां खंड)

सूर्य की सप्त-विध साम के रूप में उपासना करे, यह अनुभव करे कि सूर्य मानो प्रभु की स्तुति मे उठ रहा एक मूर्त-सगीत है।

यह (रूप) है, स प्रस्ताव—वह प्रस्ताव है, यद् आ इति—जो 'आ' यह (रूप) है, स—वह, आदि—'आदि' (साम-विधा) है ॥१॥

यदुदिति स उद्गीथो यत्प्रतीति स प्रतिहारो
यदुपेति स उपद्रवो यन्नीति तन्निधनम् ॥२॥

यत्—जो, उद् इति—(वाणी का) 'उद्' यह (रूप) है, स उद्गीथ—वह 'उद्गीथ' है, यत् प्रति इति—जो 'प्रति' यह (रूप) है, स प्रतिहार—वह 'प्रतिहार' है, यद् उप इति—(वाणी का) जो 'उप' यह (रूप) है, स उपद्रव—वह 'उपद्रव'-नामक (साम-विधा) है, यत् नि इति—जो 'नि' यह (रूप) है, तत् निधनम्—वह 'निधन' है ॥२॥

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति,
य एतदेव विद्वान्वाचि सप्तविधं सामोपास्ते ॥३॥

दुग्धे—दोहती है, देती है, अस्मै—इस (उपासक) को, वाग्—वाणी, दोहम्—दूध, सार (तत्त्व), य—जो, वाच—वाणी का, दोह—दूध (सार) है, अन्नवान् अन्नाद भवति—अन्न का स्वामी और अन्न का भोक्ता होता है, य एतद् एव विद्वान्—जो इस (को) इस प्रकार जानता हुआ, वाचि—वाणी में, सप्तविधम् साम उपास्ते—सात प्रकार के साम की उपासना करता है ॥३॥

अथ खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामोपासीत । सर्वदा
समस्तेन साम मा प्रति मा प्रतीति सर्वेण समस्तेन साम ॥१॥

सगीत मे जैसे सात स्वर है वैसे सूर्य की सात किरणें उसका मानो सगीत है। इसलिये सूर्य सदा साम-मय है, सगीतमय है। प्रत्येक पुरुष यह अनुभव करता है कि सूर्य मेरे लिये है, मेरे लिये है---अपने सब रूप से सूर्य साम के समान है, मानो एक मूर्त-सगीत है ॥१॥

ये सब भूत उसी पर निर्भर है---इसे खूब समझे। सूर्य के संगीत-मय रूप का उल्लेख करते हुए ऋषि कहते है कि उसका उदय से पहले जो रूप है, वह 'हिंकार' है। इस रूप पर पशु निर्भर रहते है। इसलिये पशु सूर्योदय से पूर्व 'हिंकार' प्रारम्भ कर देते है क्योकि सूर्य के साम-गान में 'हिंकार'-ध्वनि से पशु प्रभु के गुण-गान में सम्मिलित होते है ॥२॥

पहले-पहल उदय होते ही जो सूर्य का रूप है, वह 'प्रस्ताव' है। इस रूप पर मनुष्य निर्भर रहते है। सूर्योदय होते ही मनुष्य के हृदय

अथ खलु---तो अब, अमुम्---इस, आदित्यम्---सूर्य को, सप्तविधम् साम---सात प्रकार के साम (के रूप मे), उपासीत---उपासना (भावना, दृष्टि, विचार) करे, सर्वदा---हमेशा, सम ---(सब के लिए) समान है, तेन---उस कारण से, साम (यह आदित्य भी) साम है, माम् प्रति---(यह आदित्य) मेरे प्रति है, माम् प्रति---मेरे ही प्रति (ओर) है (ऐसा सब प्राणी समझते है), इति---इस (कारण) से, सर्वेण---सब के (साथ), सम ---समान (भाववाला) है, तेन---उस कारण से, साम---(यह आदित्य) साम है, (यत आदित्य सर्वदा सम सर्वेण सम तेन साम---सर्वकाल मे, सब प्राणियो के लिए समान-भाववाला है, अत साम है) ॥१॥

तस्मिन्निमानि सर्वाणि भूतान्यन्वायत्तानीति विद्यात्तस्य यत्पुरोदयात्स हिंकारस्तदस्य पशवोऽन्वायत्तास्तस्मात्ते हिंकुर्वन्ति हिंकारभाजिनो ह्येतस्य साम्न ॥२॥

तस्मिन्---उस (आदित्य) मे, इमानि सर्वाणि भूतानि---ये सारे भूत (पञ्च महाभूत या प्राणी), अन्वायत्तानि---अनुगत, सम्बद्ध है, इति---यह विद्यात्---(उपासक) जान लेवे, तस्य---उस (आदित्य) का, यत्---जो, पुरा +उदयात्---उदय होने से पहिले (रूप है), स हिंकार ---वह 'हिंकार' है, तद्---तो, अस्य---इस (आदित्य) के (रूप के साथ), पशव ---पशु, अन्वायत्ता ---अनुगामी, सम्बन्ध रखते है, तस्मात्---अतएव, ते---वे (पशु), हिंकुर्वन्ति---'हिंकार' करते हैं, हिंकारभाजिन ---(वे पशु भी) 'हिंकार' के भागी (हिस्सेदार) होते है, हि---ही, एतस्य---इस, साम्न ---साम-गान के ॥२॥

अथ यत्प्रथमोदिते स प्रस्तावस्तदस्य मनुष्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रस्तुतिकामा प्रशंसाकामा प्रस्तावभाजिनो ह्येतस्य साम्न ॥३॥

में प्रभु की स्तुति तथा प्रशंसा करने की कामना उत्पन्न होती है क्योंकि सूर्य के साम-गान में मनुष्य भी प्रभु-भक्ति में सम्मिलित होना चाहते हैं ॥३॥

इसके बाद सूर्य की संगव-वेला है, वह समय जब सूर्य से रश्मियां फूटती नजर आती हैं। साम-गान की भाषा में यह 'आदि' कहलाता है। इस रूप पर पक्षी निर्भर रहते हैं। तभी तो पक्षी उड़ने का आरम्भ सीखे बिना अपने को लेकर आकाश में उड़ते-फिरते हैं, मानो प्रभु-भक्ति करते हुए साम-गान के आदि-स्वर में भाग ले रहे हों ॥४॥

और, जो ठीक दोपहर के समय सूर्य का रूप है, वह साम-गान की भाषा में 'उद्‌गीथ' है। इस रूप पर देवता निर्भर रहते हैं। इसी-

---

अथ—और, यत्—जो, प्रथम+उदिते—पहले-पहल उदय होने पर (रूप है), स—वह (आदित्य का रूप), प्रस्ताव—'प्रस्ताव' है, तद् अस्य—तो (आदित्य के) इस (रूप के), मनुष्या—मनुष्य, अन्वायत्ता—अनुगत, सम्बद्ध हैं, तस्मात्—उस कारण से, ते—वे (मनुष्य), प्रस्तुतिकामा—प्रकृष्ट स्तुति की इच्छा वाले, प्रशंसाकामा—प्रशंसा करने के इच्छुक, प्रस्तावभाजिन—'प्रस्ताव' के भागी हैं, हि—ही, एतस्य साम्न—इस साम-गान के ॥३॥

अथ यत्संगववेलायां स आदिस्तदस्य वयांस्यन्वायत्तानि तस्मात्तान्यन्त-
रिक्षेऽनारम्भणान्यादायात्मानं परिपतन्त्यादिभाजीनि ह्येतस्य साम्न ॥४॥

अथ—और, यत्—जो, संगव-वेलायाम्—संगव (किरणों के फैलने या प्रातः गो-दोहन) के वेला (समय) में (इस सूर्य का रूप है), स—वह, आदि—'आदि' साम-गान है, तद् अस्य—तो (आदित्य के) इस (रूप के), वयांसि—पक्षि-गण, अन्वायत्तानि—अनुगत हैं, सम्बद्ध हैं, तस्मात्—उस कारण से, तानि—वे (पक्षी), अनारम्भणानि—निरालम्बन, निराधार (वे सहारे के), आदाय—लेकर, आत्मानम्—अपने आपको (स्वयम् को), परिपतन्ति—उड़ते हैं, (अतएव) आदि-भाजीनि—'आदि' (साम-गान-भेद) के भागी होते हैं, हि—ही, एतस्य साम्न—इस साम-गान के ॥४॥

अथ यत्सम्प्रति मध्यन्दिने स उद्‌गीथस्तदस्य देवा अन्वायत्तास्तस्मात्ते
सत्तमाः प्राजापत्यानामुद्‌गीथभाजिनो ह्येतस्य साम्न ॥५॥

अथ—और, यत्—(आदित्य का) जो (रूप), सम्प्रति—अब, मध्यन्दिने—दिन के मध्य में, भरी दोपहरी में (होता है), स उद्‌गीथ—वह 'उद्‌गीथ' है, तद् अस्य—तो इसके (इस रूप) के, देवा—देवगण, अन्वायत्ता—अनु-

लिये प्रजापति की देव तथा असुर इन दोनो प्रकार की सन्तानो मे से देव श्रेष्ठ माने जाते है, क्योंकि जिस प्रकार दोपहर के समय देव-गण साम-गान करते हुए उद्गीथ का उच्च-घोष करते है, इसी प्रकार सूर्य प्रभु का गुण गान करता हुआ दोपहर के समय मानो अपने पूर्ण बल से साम का उद्गीथ-गान करता है ॥५॥

दोपहर से पीछे और अपराह्ण से पूर्व सूर्य का जो रूप है, वह साम-गान की परिभाषा मे मानो 'प्रतिहार' है। सूर्य अगर अपने समस्त रूप से साम का गान है, तो सूर्य की यह वेला प्रतिहार-ध्वनि है। इस रूप पर गर्भ निर्भर रहते है। गर्भस्थ जीव इसीलिये मानो गिर नही पडते क्योंकि प्रभु-भक्ति में सूर्य के प्रतिहार-गान के साथ-साथ वे भी मानो साम-गान में भाग ले रहे होते है ॥६॥

अपराह्ण से पीछे और सूर्यास्त से पूर्व सूर्य का जो रूप है, वह साम की परिभाषा में मानो 'उपद्रव' है। इस रूप पर आरण्यक-पशु निर्भर रहते है, तभी तो किसी भी पुरुष को देखकर वे वन और बिल में दौड़

गत, सम्बद्ध है, तस्मात्—उस कारण से, ते—वे (देव-गण), सत्तमा—श्रेष्ठतम, प्राजापत्यानाम्—प्रजापति के पुत्रों मे (रचना मे), उद्गीथभाजिन—उद्गीथ के भागी है, हि—ही, एतस्य साम्न—इस साम-गान के ॥५॥

अथ यदूर्ध्वं मध्यदिनात्प्रागपराह्णात्स प्रतिहारस्तदस्य गर्भा अन्वायत्ता-स्तस्मात्ते प्रतिहृता नावपद्यन्ते प्रतिहारभाजिनो ह्येतस्य साम्न ॥६॥

अथ–और, यद्—जो (आदित्य का रूप), ऊर्ध्वम्—बाद मे, मध्यन्दिनात्—भरी दोपहरी से, प्राग्—पहले, अपराह्णात्—उतरते दिन से, स—वह (रूप), प्रतिहार—'प्रतिहार' है, तद् अस्य—तो इस (रूप) के, गर्भा—गर्भ, गर्भस्थ प्राणी, अन्वायत्ता—अनुगामी है, तस्मात्—उस कारण से, ते—वे (गर्भस्थ प्राणी), प्रतिहृता—(आदित्य द्वारा ऊपर को) उन्मुख हुए, न—नही, अवपद्यन्ते—गिरते है, प्रतिहारभाजिन—(वे गर्भ) प्रतिहार के भागी है, हि—ही, एतस्य साम्न—इस साम-गान के ॥६॥

अथ यदूर्ध्वमपराह्णात्प्रागस्तमयात्स उपद्रवस्तदस्यारण्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते पुरुष दृष्ट्वा कक्ष्ँ श्वभ्रमित्युपद्रवन्त्युपद्रवभाजिनो ह्येतस्य साम्न ॥७॥

अथ—और, यद्—जो (आदित्य का रूप), ऊर्ध्वम्—बाद मे, अपराह्णात्—उतरते दिन से, प्राग्—पहिले, अस्तमयात्—सूर्य के छिपने से, स—वह (रूप), उपद्रव—'उपद्रव'-नामक (साम-रूप) है, तद् अस्य—तो इस

जाते हैं। साम-गान का 'उपद्रव'-गीत, सूर्य का सूर्यास्त से पहले का रूप, और आरण्यक पशुओं का पुरुष को देखकर उपद्रवण—ये तीनों मानो प्रभु के सकीर्तन में, उसके साम-गान में भाग ले रहे हैं ॥७॥

अस्त होने से पहले-पहल सूर्य का जो रूप है, वह साम-गान की परिभाषा में 'निधन' है। इस रूप पर पितर निर्भर रहते हैं। प्रभु का कीर्तन करते हुए जब साम-गान का निधन, उसकी समाप्ति होने लगती है, उसके साथ-साथ मानो अस्त होता हुआ सूर्य भी दिन भर प्रभु का गुण-गान करता हुआ अस्त हो जाता है, पितर भी जीवन भर प्रभु की स्तुति में जीवन बिताकर ससार से विदा लेने की तय्यारी करते हैं—ये सब मानो साम-गान के 'निधन' में हिस्सा ले रहे होते हैं। इस प्रकार सूर्य को सम्मुख रखते हुए सप्त-विध साम की उपासना करे ॥८॥

(सूर्य के उदय-अस्त में, साम के प्रारम्भ-अवसान में, मनुष्य-पक्षियों के जीवन-मरण में—सर्वत्र प्रभु का सकीर्तन हो रहा है, इस भावना को इस खंड में विशद किया है।)

(रूप) के, आरण्या—जंगली जीव, अन्वायत्ता—अनुगत हैं, तस्मात्—उस कारण से, ते—वे (जंगली जीव), पुरुषम्—मनुष्य को, दृष्ट्वा—देख कर, कक्षम्—घने वन को, श्वभ्रम्—बिल को, इति—(भय शून्य हैं) यह (जान-कर), उपद्रवन्ति—भाग जाते हैं, उपद्रवभाजिन—उपद्रव-नामक (साम-भेद) के भागी (अधिकारी) हैं, हि—ही, एतस्य—इस, साम्न—साम-गान के ॥७॥

अथ यत्प्रथमास्तमिते तन्निधनं तदस्य पितरोऽन्वायत्तास्तस्मात्तान्निदधति निधनभाजिनो ह्येतस्य साम्न एवं खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामोपास्ते ॥८॥

अथ—और, यत्—जो (आदित्य का रूप), प्रथमास्तमिते—छिपने से कुछ पहिले, छिपते-छिपते, तत्—वह (रूप), निधनम्—'निधन' नामी (साम-रूप) है, तद्—सो, अस्य—(आदित्य के) इस (रूप) के, पितर—पितृ-गण, पूर्वपुरुष, अन्वायत्ता—सम्बद्ध हैं, तस्मात्—उस कारण से, तान्—उन (पितरों) को, निदधति—रखते हैं, कार्यमुक्त कर देते हैं, निधन-भाजिन—निधन-नामक (साम-भेद) के भागी (हिस्सेदार, अधिकारी) होते हैं, हि—ही, एतस्य साम्न—इस साम-गान के, एवम्—इस प्रकार, खलु—निश्चयपूर्वक, अमुम्—इस, आदित्यम्—आदित्य को, सप्तविधम् साम—सात प्रकार के साम-गान (के रूप में), उपास्ते—उपासना (भावना, विचार, दृष्टि) करते हैं (की जाती है) ॥८॥

द्वितीय प्रपाठक—(दसवा खंड)

मृत्यु से पार ले जाने वाले, आत्मा के लिये अभीष्ट, सप्त-विध साम की उपासना करे—साम के सातो अगो द्वारा प्रभु का सकीर्तन करे। सातो अगो में कुल मिलाकर २१ अक्षर बनते है। 'हि+का+र' में तीन अक्षर है, 'प्र+स्ता+व' में तीन अक्षर है—ये दोनो तीन-तीन अक्षर के होने से समान है ॥१॥

'आ+दि' में दो अक्षर है, 'प्र+ति+हा+र' में चार अक्षर है। 'प्रतिहार' का एक अक्षर 'आदि' में मिला देने से दोनो में तीन-तीन अक्षर हो जाते है—ये दोनो भी इस प्रकार तीन-तीन अक्षरो के होने के कारण समान बन जाते है ॥२॥

'उद्+गी+थ' में तीन अक्षर है, 'उ+प+द्र+व' में चार अक्षर है। तीन-तीन तो बराबर ही है, एक अक्षर बच रहता है—इस प्रकार तीन-तीन अक्षरो की इनमें भी समता है ॥३॥

अथ खल्वात्मसम्मितमतिमृत्यु सप्तविध साम्मोपासीत ।
हिंकार इति त्र्यक्षर प्रस्ताव इति त्र्यक्षर तत्समम् ॥१॥

अथ खलु—अब फिर, **आत्म-सम्मितम्**—अपने (अक्षर-रूप) स्वरूप से सम्मित (नपे हुए, एकतावाले) या (चिद् रूप से) ब्रह्म के तुल्य, **अतिमृत्यु**—नष्ट न होनेवाले (अमर), या मृत्यु से छुडानेवाले, **सप्तविधम्**—सात प्रकार के, **साम**—साम-गान की, **उपासीत**—उपासना करे, **हिंकार इति**—'हिंकार' यह (साम-भेद), **त्र्यक्षरम्** (त्रि+अक्षरम्)—तीन अक्षरो वाला है, **प्रस्ताव इति**—'प्रस्ताव' यह (साम-भेद), **त्र्यक्षरम्**—तीन अक्षरो वाला है, **तत्**—वह (अक्षर-सख्या), **समम्**—(दोनो की) समान है ॥१॥

आदिरिति द्व्यक्षर प्रतिहार इति चतुरक्षर तत इहैक तत्समम् ॥२॥

आदि इति—'आदि' यह (साम-भेद), **द्व्यक्षरम्** (द्वि+अक्षरम्)—दो अक्षर वाला है, **प्रतिहार इति**—'प्रतिहार' यह (साम-भेद), **चतुरक्षरम्**—चार अक्षर वाला है, **तत**—उस (प्रतिहार के चार अक्षरो मे), **इह**—इस (आदि) मे, **एकम्**—एक (अधिक अक्षर मिल गया तो), **तत्**—तो वह (आदि) भी, **समम्**—समान (तीन अक्षर वाला हो गया) ॥२॥

उद्गीथ इति त्र्यक्षरमुपद्रव इति चतुरक्षर त्रिभिस्त्रिभि
सम भवत्यक्षरमतिशिष्यते त्र्यक्षर तत्समम् ॥३॥

'नि+ध+न' में तीन अक्षर हैं—यह भी दूसरो के समान हो गया। इस प्रकार ये सात शब्द सब मिलकर २१ और 'उ+प+द्र+व' का बचा हुआ १, अर्थात् २२ अक्षर हो गये ॥४॥

साम-गान के २१ अक्षरो द्वारा तो उपासक आदित्य-लोक को, तेजोमय-धाम को प्राप्त कर लेता है—हिंकार, प्रस्ताव आदि द्वारा प्रभु-कीर्तन करने से अखंड-ज्योति को पा लेता है। आदित्य यहा से इक्कीसवा लोक है। साम-गान के बाईसवे अक्षर से आदित्य से भी परे रहने वाली परम-ज्योति को जीत लेता है। वही लोक दुःख-रहित और शोक-रहित है—सप्त-विध साम-गान द्वारा प्रभु-गुण-गान करने से उपासक प्रकाश-ही-प्रकाश में विचरने लगता है ॥५॥

उद्गीथ इति—'उद्गीथ' यह (साम-भेद), त्र्यक्षरम्—तीन अक्षर वाला है, उपद्रव इति—'उपद्रव' यह (साम-भेद), चतुरक्षरम्—चार अक्षर वाला है, त्रिभि त्रिभि —(दोनो उद्गीथ और उपद्रव के) तीन-तीन अक्षरो से, समम्—समान (अक्षरवाला), भवति—हो जाता है, अक्षरम्—एक अक्षर, अतिशिष्यते—बच रहता है, (परन्तु इसके बच रहने पर वे दोनो साम-भेद) त्र्यक्षरम्—तीन अक्षर वाले ही है, तत्—सो वह, समम्—समान अक्षर वाला ही हो जाता है ॥३॥

निधनमिति त्र्यक्षर तत्सममेव भवति तानि
ह वा एतानि द्वावि्ँशतिरक्षराणि ॥४॥

निधनम् इति—(सातवा) 'निधन' यह (साम-भेद), त्र्यक्षरम्—तीन अक्षरवाला ही है, तत् समम् एव भवति—वह (निधन तो) समान (तीन अक्षर वाला) ही है, तानि—वे (सातो साम-भेद के अक्षर), ह वै—निश्चय ही, एतानि—ये, द्वाविंशति—बाईस (२२), अक्षराणि—अक्षर होते हैं ॥४॥

एकवि्ँशत्यादित्यमाप्नोत्येकवि्ँशो वा इतोऽसावादित्यो
द्वावि्ँशेन परमादित्याज्जयति तन्नाक तद्विशोकम् ॥५॥

एकविंशत्या—(इन अक्षरो मे से) इक्कीस अक्षरो मे, आदित्यम्—आदित्य लोक को, आप्नोति—प्राप्त कर लेता है, एकविंश—इक्कीसवा, वै—ही इत—यहा से (पृथिवी-लोक से), असौ—यह, आदित्य—आदित्य लोक है, द्वाविंशेन—बाईसवे (अक्षर) से, परम्—(जो) परे है, आगे है, आदित्यात्—सूर्य से, (आदित्यात् परम्—आदित्य लोक से परे आगे जो लोक—ब्रह्म-लोक—है उसको), जयति—जीत लेता है, पा लेता ह, तत्—वह (लोक),

जो साम-गीत के इस उपासना-क्रम को जानता हुआ आत्मा के लिये हितकर, मृत्यु के पार ले जाने वाले सप्त-विध साम की उपासना करता है, सप्त-विध साम की उपासना करता है, वह इसी लोक मे रहता हुआ मानो सूर्य-लोक के विजय को प्राप्त कर लेता है—उसका विजय सूर्य-लोक के विजय से भी ऊंचा, महान् विजय होता है ॥६॥

द्वितीय प्रपाठक—(ग्यारहवां खंड)

(यज्ञ मे प्रयुक्त होने वाले भिन्न-भिन्न साम-गान, ११ से २० खड)

प्रथम-प्रपाठक मे उद्गीथ का वर्णन हुआ—यह 'साम-गान' का ही अग है। द्वितीय मे सम्पूर्ण साम का वर्णन प्रारम्भ हुआ, साम के वर्णन में पच-विध साम का वर्णन हुआ, फिर सप्त-विध साम का वर्णन हुआ। ऋषि ने कहा कि सम्पूर्ण-सृष्टि मानो उद्गीथ-गान मे, पच-विध वा सप्तविध साम-गान मे लीन है। अब यज्ञ मे प्रयुक्त होने वाले भिन्न-भिन्न साम-गानो का ११ से २० खड तक ऋषि उल्लेख

नाकम्—आनन्दमय है, तद्—वह (लोक), विशोकम्—शोक (दु ख-दैन्य) से रहित है ॥५॥

आप्नोतीहादित्यस्य जय परो हास्यादित्यजयाज्जयो भवति य एतदेव
विद्वानात्मसमितमतिमृत्यु सप्तविधँ सामोपास्ते सामोपास्ते ॥६॥

आप्नोति—प्राप्त करता है, पा लेता है, इह—यहाँ, इस जन्म मे, आदित्यस्य—आदित्य लोक (प्रकृति-सबधी), जयम्—जय को, पर—आगे, श्रेष्ठ, ह—निश्चय मे, अस्य—इस (उपासक) की, आदित्य-जयात्—आदित्य की जय (प्राप्ति-लाभ) मे, जय—(भगवान् ब्रह्म की) जय (प्राप्ति), भवति—होता है, य एतद् एवम् विद्वान्—जो इस (साम) को इस प्रकार जानता हुआ, आत्म-समितम्—अक्षर-रूप मे नपे हुए, या ब्रह्म के अनुरूप, अतिमृत्यु—मृत्यु से परे, अमर, सप्तविधम्—सात प्रकार के, साम उपास्ते—साम की उपासना करता है, साम उपास्ते—साम की उपासना (विचार, भावना) करता है (द्विरुक्ति, आदरार्थ, खण्ड समाप्ति द्योतक, व सप्तविध-साम-वर्णन की समाप्ति-सूचक है) ॥६॥

मनो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्र प्रतिहार
प्राणो निधनमेतद् गायत्र प्राणेषु प्रोतम् ॥१॥

करते हैं। इन साम-गानो के नाम हैं---गायत्र-साम, रथन्तर-साम, वामदेव्य-साम, वृहत्-साम, वैरूप-साम, वैराज-साम, शक्वरी-साम, रेवती-साम, यज्ञायज्ञीय-साम, राजन-साम। इन सब साम-गानो मे हिंकार, प्रस्ताव, उद्‌गीथ, प्रतिहार तथा निधन का क्रम आता है, ये पाचो सगीत की अवस्थाए (Stages) हैं। गायत्र-साम, रथन्तर-साम आदि जिन साम-गानो का अभी वर्णन किया उनमें से क्रमश एक-एक को लेकर उपनिषत्कार उनमें हिंकार, प्रस्ताव आदि पाचो को घटाते हैं:---

पहले गायत्र-साम को लेते हैं। 'मन' हिंकार है, 'वाक्' प्रस्ताव है, 'चक्षु' उद्‌गीथ है, 'श्रोत्र' प्रतिहार है, 'प्राण' निधन' है---इस प्रकार मानो गायत्र-साम मन-वाक्-चक्षु-श्रोत्र तथा प्राण में ओत प्रोत हैं। शरीर का यह पच-विध रूप मानो पच-विध 'गायत्र-साम' है ॥१॥

जो गायत्र-साम को प्राणो में पिरोया हुआ अनुभव करता है वह सबल-प्राण हो जाता है, पूर्ण आयु को पाता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा तथा पशुओ और कीर्ति से महान् होता है। सर्वदा महा-मना (मनस्वी, उच्च तथा गम्भीर विचारक) होवे---यह व्रत है ॥२॥

मन हिंकार---मन 'हिंकार' है, वाक् प्रस्ताव---वाणी 'प्रस्ताव' है, चक्षु उद्‌गीथ---नेत्र 'उद्‌गीथ' है, श्रोत्रम् प्रतिहार---कर्ण-इन्द्रिय 'प्रतिहार' है, प्राण निधनम्---प्राण 'निधन' है, एतद्---यह, गायत्रम्---(गायत्री छन्द मे उपनिबद्ध) गायत्र-नामक (साम-भाग), प्राणेषु---प्राणो मे, इन्द्रियो मे, प्रोतम्---गुथा हुआ है, इन्द्रियों मे सम्बद्ध है, ओत-प्रोत है ॥१॥

स य एवमेतद्‌गायत्र प्राणेषु प्रोत वेद प्राणी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जी-वति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या महामना स्यात्तद् व्रतम् ॥२॥

स य एवम्---वह जो इस प्रकार, **एतद्**---इस, **गायत्रम्**---गायत्र-नामी साम-भाग को, **प्राणेषु**---प्राणो (इन्द्रियो) मे, **प्रोतम्**---ओत-प्रोत, सम्बद्ध, **वेद**---जानता है, **प्राणी**---प्राणवाला, समर्थ इन्द्रियो वाला, **भवति**--- हो जाता है, **सर्वम् आयु**---सारी (पूर्ण १०० वर्ष की)) आयु को, **एति**---प्राप्त होता है, **ज्योक्**---सशक्त होकर, उज्ज्वलता से, प्रतिष्ठा से, चिरकाल तक, **महान्**---बड़ा, महिमाशाली, **प्रजया**---सन्तान---वश-परम्परा से, **पशुभि**---पशुओ से, **भवति**---होता है, **महान्**---महिमामय, **कीर्त्या**---कीर्ति-यश से, **महामना**---बड़े मन (चिन्तन) वाला, मनस्वी, विचार कर काम करने वाला, **स्यात्**---

द्वितीय प्रपाठक--(बारहवां खंड)

अब रथन्तर-साम को लेते हैं। अरणियों का 'मन्थन' हिंकार है, 'धूम्र' उत्पन्न होना प्रस्ताव है, 'अग्नि' का प्रज्वलित होना उद्गीथ है, 'अगार' उत्पन्न होना प्रतिहार है, अग्नि का 'उपशम' होना निधन है—इस प्रकार रथन्तर-साम मानो अग्नि में ओत-प्रोत है। अग्नि का यह पंच-विध रूप मानो पंच-विध 'रथन्तर-साम' है ॥१॥

जो रथन्तर-साम को अग्नि में पिरोया हुआ अनुभव करता है, वह ब्रह्म-वर्चसी हो जाता है, अन्न का भोक्ता हो जाता है, अन्न का भोग्य नहीं रहता, पूर्ण आयु को पाता है, उज्ज्वल-जीवन व्यतीत करता है, प्रजा, पशु तथा कीर्ति से महान् होता है। अग्नि के सम्मुख न आचमन करे, न थूके—यह व्रत है ॥२॥

होवे, तद्—वह ही, व्रतम्—मनुष्य का अनुष्ठेय संकल्प (दृढ निश्चय) होना चाहिये ॥२॥

अभिमन्थति स हिंकारो धूमो जायते स प्रस्तावो ज्वलति
स उद्गीथोऽङ्गारा भवन्ति स प्रतिहार उपशाम्यति
तन्निधनं संशाम्यति तन्निधनमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतम् ॥१॥

अभिमन्थति—(जो अग्नि के लिए अरणियों को) रगड़ता है, स—वह (अभिमन्थन), हिंकार—'हिंकार' है, धूम—(फिर जो) धूआ, जायते—उत्पन्न होता है, स प्रस्ताव—वह 'प्रस्ताव' है, ज्वलति—(जो अग्नि) प्रदीप्त होती है, स उद्गीथ—वह ही 'उद्गीथ' है, अंगारा—(जलने के बाद) अंगार (धधकते कोयले), भवन्ति—हो जाते है, स प्रतिहार—वह 'प्रतिहार' है, उपशाम्यति—(अग्नि जो) शान्त हो जाती है, बुझ जाती है, तत्—वह, निधनम्—'निधन' है, संशाम्यति—बिल्कुल बुझ जाती है, राख हो जाती है, तत् निधनम्—वह ही 'निधन' है, एतद्—यह, रथन्तरम्—रथन्तर-नामी साम-भाग, अग्नौ—अग्नि मे, प्रोतम्—ओत-प्रोत है, (अग्नौ प्रोतम्—इस रथन्तर-साम में अग्नि-विषयक उपासना या विचार है) ॥१॥

स य एवमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतं वेद ब्रह्मवर्चस्यन्नादो
भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति
महान्कीर्त्या न प्रत्यङ्ङग्निमाचामेन्न निष्ठीवेत्तद् व्रतम् ॥२॥

स य एवम्—वह जो इस प्रकार, एतद् रथन्तरम्—इस रथन्तर-नामक साम-भाग को, अग्नौ प्रोतम्—अग्नि मे ओत-प्रोत (सम्बद्ध), वेद—जानता है,

द्वितीय प्रपाठक—(तेरहवा खंड)

'निमन्त्रण' देना मानो हिंकार है, विवाह-सम्बन्धी प्रतिज्ञाओं को सबके सम्मुख 'घोषणा' करना मानो प्रस्ताव है, स्त्री-पुरुष का 'विवाह-धर्म' पालन करना मानो उद्गीथ है, स्त्री के प्रति 'प्रेम-व्यवहार' करना मानो प्रतिहार है, इस प्रकार प्रीति-पूर्वक 'समय का व्यतीत होना' या 'जीवन को पार कर जाना' मानो निधन है—इस प्रकार वामदेव्य-साम मानो स्त्री-पुरुष के जीवन में ओत-प्रोत है। स्त्री-पुरुष का यह पंच-विध रूप मानो पंच-विध 'वामदेव्य-साम' है ॥१॥

जो वामदेव्य-साम को मिथुन में—संसार के प्रत्येक जोड़े में—पिरोया हुआ अनुभव करता है, वह कभी अपने को इकला अनुभव

ब्रह्मवर्चसी—ब्रह्मतेज (ब्राह्मणत्व की योग्यता) से युक्त, अन्नाद—अन्न का भोक्ता, भवति—होता है, सर्वम् आयु: एति—पूर्ण आयु को प्राप्त करता है, ज्योक्—उज्ज्वल जीवन से, जीवति—जीता है, महान्—महिमामय, प्रजया—सन्तान से, पशुभि:—पशुओं से, भवति—होता है महान् कीर्त्या—कीर्ति से महान बना, महायशस्वी, न—नहीं, प्रत्यङ्—की ओर, अग्निम्—अग्नि को, (प्रत्यङ् अग्निम्—अग्नि की ओर मुख करके), आचामेत्—आचमन करे (भोजन करे), न—नहीं, निष्ठीवेत्—थूके, मल-त्याग करे, तद्—वह, व्रतम्—(मनुष्य का) अनुष्ठेय संकल्प (होना चाहिये) ॥२॥

उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञपयते स प्रस्ताव स्त्रिया सह शेते
स उद्गीथ प्रति स्त्रीं सह शेते स प्रतिहार काल गच्छति
तन्निधन पार गच्छति तन्निधनमेतद्वामदेव्य मिथुने प्रोतम् ॥१॥

उपमन्त्रयते—सलाह (विचार-विमर्श) करता है, स हिंकार—वह 'हिंकार' है, ज्ञपयते—विदित करता है, (अग्नि को साक्षी कर) प्रगट करता है, स प्रस्ताव—वह 'प्रस्ताव' है, स्त्रिया—स्त्री (पत्नी) के साथ, शेते—शयन करता है, स उद्गीथ—वह 'उद्गीथ' है, प्रति स्त्रीम्—पत्नी की ओर (मुख करके), सह शेते—साथ सोता है, स प्रतिहार—वह 'प्रतिहार' है, कालम् गच्छति—(इस प्रकार जो) समय को बिताना है, तत् निधनम्—वह 'निधन' है, पारम्—(रति की) पूर्णता को, गच्छति—पा लेता है, तत् निधनम् वह ही 'निधन' है, एतद्—यह, वामदेव्यम्—वामदेव्य-नामक साम-भाग, मिथुने—जोड़े में (स्त्री-पुरुष के गृहस्थ-जीवन में), प्रोतम्—सम्बन्धवाला है (वामदेव्य-साम-भाग का प्रतिपाद्य विषय गृहस्थ-धर्म है) ॥१॥

स य एवमेतद्वामदेव्य मिथुने प्रोत वेद मिथुनीभवति
मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया
पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न कांचन परिहरेत्तद् व्रतम् ॥२॥

नही करता, उसके एक-एक सगी-साथी से नये-नये संगी-साथी पैदा हो जाते है। वह पूर्ण आयु को पाता है, उज्ज्वल-जीवन व्यतीत करता है, प्रजा, पशु और कीर्ति से महान् होता है। स्त्री-पुरुष के विवाह-धर्म को ध्यान मे रखता हुआ किसी दूसरी स्त्री का परिहार---अपहरण---न करे, व्यभिचार न करे---यह व्रत कर ले, निश्चय कर ले ॥२॥

द्वितीय प्रपाठक---(चौदहवां खंड)

'उदीयमान-सूर्य' हिंकार है, 'उदय हुआ-हुआ' प्रस्ताव है, 'मध्याह्न समय का सूर्य' प्रस्ताव है, 'अपराह्ण' का प्रतिहार है, 'अस्त हुआ' निधन है---इस प्रकार बृहत्-साम मानो आदित्य मे ओत-प्रोत है। आदित्य का यह पच-विध रूप मानो पंच-विध 'बृहत्-साम' है ॥१॥

स य एवम्—वह जो इस प्रकार, एतद् वामदेव्यम्—इस वामदेव्य-नामक साम-भाग को, मिथुने प्रोतम्—जोडे मे (गृहस्थ-धर्म मे), प्रोतम्—सम्बद्ध, वेद—जानता है, मिथुनी भवति—(सदैव) जोडे-वाला (सपत्नीक) रहता है (वियोग, विच्छेद या विरह नही होता), मिथुनात् मिथुनात्—प्रत्येक सगम से, प्रजायते—प्रजावाला होता है (वीर्य-निक्षेप व्यर्थ नही जाता), सर्वम् आयु एति—पूर्ण आयु को प्राप्त करता है, ज्योग् जीवति—सशक्त एव प्रतिष्ठा प्राप्त कर चिरकाल तक जीता है, महान् प्रजया पशुभि भवति—प्रजा और पशुओ से महान् होता है, महान् कीर्त्या—महा यशस्वी होता है, न—नही, काचन—किसी भी स्त्री को, परिहरेत्—परिहार (अपहरण—व्यभिचार, उल्लघन) करे, तद् व्रतम्—यह उसका अनुष्ठेय धर्म है ॥२॥

उद्यन्हिंकार उदित प्रस्तावो मध्यन्दिन उद्गीथोऽपराह्ण
प्रतिहारोऽस्त यन्निधनमेतद् बृहदादित्ये प्रोतम् ॥१॥

उद्यन्–(उष काल मे) उगता हुआ (सूर्य), हिंकार—'हिंकार' है, उदित—उदय हुआ, प्रस्ताव—'प्रस्ताव' है, मध्यन्दिने—भरी दोपहरी मे (का) सूर्य, उद्गीथ—'उद्गीथ' है, अपराह्ण—दोपहर बाद का सूर्य, प्रतिहार—'प्रतिहार' है, अस्त यन्—छिपता हुआ सूर्य, निधनम्—'निधन' है, एतद्—यह, बृहत्—बृहत्-नामक साम-भाग, आदित्ये—सूर्य मे, प्रोतम्—सम्बद्ध है ॥१॥

जो बृहत्-साम को आदित्य में पिरोया हुआ अनुभव करता है, वह तेजस्वी, अन्नाद हो जाता है, पूर्ण आयु को पाता है, उज्ज्वल-जीवन व्यतीत करता है, प्रजा, पशु और कीर्ति से महान् होता है। सूर्य का काम तपना है, इसलिये किसी तप करते हुए की निन्दा न करे, यह व्रत कर ले, निश्चय कर ले ॥२॥

द्वितीय प्रपाठक--(पन्द्रहवां खंड)

अभ्र, अर्थात् 'धुंध' हिंकार है, 'मेघ' प्रस्ताव है, 'बरसना' उद्-गीथ है, 'विद्युत्' का चमकना-गरजना प्रतिहार है, 'बरसना बन्द हो जाना' निधन है---इस प्रकार वैरूप-साम मानो मेघ में ओत-प्रोत है। मेघ का यह पच-विध रूप मानो पच-विध 'वैरूप-साम' है ॥१॥

स य एवमेतद्बृहदादित्ये प्रोतं वेद, तेजस्व्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या तपन्तं न निन्देत्तद् व्रतम् ॥२॥

स य एवम्---वह जो इस प्रकार, बृहत्---बृहत्साम को, आदित्ये प्रोतम् वेद---आदित्य में सम्बन्ध वाला जानता है, तेजस्वी---तेजस्वी, अन्नाद भवति---अन्न का भोक्ता होता है, सर्वम् आयु एति---सारी (पूर्ण) आयु को प्राप्त करता है, ज्योग् जीवति---प्रतिष्ठा से जीवन बिताता है, महान् प्रजया पशुभि भवति---प्रजा और पशु-धन से महत्त्व प्राप्त करता है, महान् कीर्त्या---महान् यशस्वी होता है, तपन्तम्---तपते (चमकते हुए) सूर्य की या तप (साधना) करते हुए पुरुष की, न निन्देत्---निन्दा न करे, तद् व्रतम्---वह ही इसका अनुष्ठेय धर्म है ॥२॥

अभ्राणि सम्प्लवन्ते स हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार उद्गृह्णाति तन्निधनमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतम् ॥१॥

अभ्राणि---हल्के बादल, धुन्ध (कोहरा), सम्प्लवन्ते---तैरते-से हैं, उभरने लगते हैं, इधर-उधर बिखरे फिरते हैं, स---वह, हिंकार---'हिंकार' है, मेघ जायते---(जब) बरसाऊ बादल बन जाता है, स प्रस्ताव---वह 'प्रस्ताव' है, वर्षति---(जब वह) बरसता है, स उद्गीथ---वह 'उद्गीथ' है, विद्योतते स्तनयति---चमकता और गरजता है, स प्रतिहार---वह 'प्रतिहार' है, उद्-गृह्णाति---जब बरस चुकता है, तत् निधनम्---वह 'निधन' है, एतद्---यह, वैरूपम्---(विविध रूप वाला) वैरूप-नामक साम-भाग, पर्जन्ये---बादल में, प्रोतम्---सम्बद्ध है ॥१॥

जो वैरूप-साम को मेघ में पिरोया हुआ अनुभव करता है, वह कुरूप-सुरूप सभी प्रकार के पशुओ को पा लेता है, पूर्ण आयु को भोगता है, उज्ज्वल-जीवन व्यतीत करता है, प्रजा, पशु और कीर्ति से महान् होता है। मेघ का काम बरसना है—बरसते की निन्दा न करे, यह व्रत कर ले, प्रण कर ले ॥२॥

द्वितीय प्रपाठक—(सोलहवां खंड)

'वसन्त' हिंकार है, 'ग्रीष्म' प्रस्ताव है, 'वर्षा' उद्गीथ है, 'शरत्' प्रतिहार है, 'हेमन्त' निधन है—इस प्रकार वैराज-साम मानो ऋतुओ में ओत-प्रोत है। ऋतुओ का यह पच-विध रूप मानो पच-विध 'वैराज-साम' है ॥१॥

स य एवमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोत वेद विरूपाँश्च
सुरूपाँश्च पशूनवरुन्धे सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया
पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या वर्षन्त न निन्देत्तद् व्रतम् ॥२॥

स य एवम्—वह जो इस प्रकार, **एतद्**—इस, **वैरूपम्**—वैरूप-नामक साम-भाग को, **पर्जन्ये प्रोतम्**—बादल मे सम्बन्धवाला, **वेद**—जानता है, **विरूपान्**—कुरूप या विविध रूप वाले, **च**—और, **सुरूपान्**—सुन्दर रूप वाले, **च**—और, **पशून्**—पशुओ को, **अवरुन्धे**—बाड़े मे घेर लेता है (मालिक हो जाता है), **सर्वम् आयु एति**—सारी (पूर्ण) आयु को प्राप्त करता है, **ज्योग् जीवति**—प्रतिष्ठापूर्वक चिरकाल तक जीता है, **महान् प्रजया पशुभि भवति**—प्रजा और पशुओ मे महत्त्व प्राप्त करता है, **महान् कीर्त्या**—महा यशस्वी होता है, **वर्षन्तम्**—बरसते हुए (किसी पर कृपा करते हुए) को, **न निन्देत्**—निन्दा न करे, **तद् व्रतम्**—वह अनुष्ठेय धर्म है ॥२॥

वसन्तो हिंकारो ग्रीष्म प्रस्तावो वर्षा उद्गीथ
शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतम् ॥१॥

वसन्त हिंकार—वसन्त ऋतु 'हिंकार' है, **ग्रीष्म प्रस्ताव**—ग्रीष्म ऋतु 'प्रस्ताव' है, **वर्षा उद्गीथ**—वर्षा ऋतु 'उद्गीथ' है, **शरत् प्रतिहार**—शरद् ऋतु 'प्रतिहार' है, **हेमन्त निधनम्**—हेमन्त ऋतु 'निधन' है, **एतद्**—यह, **वैराजम्**—विराट्-छन्द मे उपनिबद्ध वैराज-नामक साम-भाग, **ऋतुषु प्रोतम्**—ऋतुओ मे ओत-प्रोत है ॥१॥

जो वैराज-साम को ऋतुओं में पिरोया हुआ अनुभव करता है, वह प्रजा, पशु तथा ब्रह्म-तेज से शोभायमान हो जाता है, पूर्ण आयु को भोगता है, उज्ज्वल-जीवन व्यतीत करता है, प्रजा, पशु और कीर्ति से महान् होता है। ऋतुओं की निन्दा न करे, यह व्रत कर ले, निश्चय कर ले ॥२॥

द्वितीय प्रपाठक—(सत्रहवां खंड)

'पृथिवी' हिंकार है, 'अन्तरिक्ष' प्रस्ताव है, 'द्यौ' उद्गीथ है, 'दिशाएं' प्रतिहार हैं, 'समुद्र' निधन है—इस प्रकार शक्वरी-साम लोकों में ओत-प्रोत है। लोकों का यह पञ्च-विध रूप मानो पञ्च-विध 'शक्वरी-साम' है ॥१॥

जो शक्वरी-साम को लोकों में पिरोया हुआ अनुभव करता है वह सब लोकों का स्वामी बन जाता है, पूर्ण आयु को भोगता है,

---

स य एवमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतं वेद विराजति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्यर्तून्न निन्देत्तद् व्रतम् ॥२॥

स य एवम्—वह जो इस प्रकार, एतद्—इस, वैराजम्—वैराज साम-भाग को, ऋतुषु प्रोतम्—ऋतुओं में ओतप्रोत, वेद—जानता है, विराजति—शोभित होता है, चमकता है, प्रसिद्ध होता है, प्रजया—वंश-परम्परा से, पशुभि—पशुओं से, ब्रह्मवर्चसेन—ब्रह्म-तेज से, सर्वम् आयु एति—पूर्ण आयु को पाता है (भोगता है), ज्योग् जीवति—प्रतिष्ठापूर्वक जीवन बिताता है, महान् प्रजया पशुभि भवति—प्रजा और पशुओं से महत्त्व पाता है, महान् कीर्त्या—बड़ा यशस्वी, ऋतून् न निन्देत्—(समय पर उपस्थित) ऋतुओं की निन्दा न करे (उपेक्षा न करे), तद् व्रतम्—वह मुख्य कर्तव्य-कर्म है ॥२॥

पृथिवी हिंकारोऽन्तरिक्ष प्रस्तावो द्यौरुद्गीथो दिश प्रतिहार समुद्रो निधनमेता शक्वर्यो लोकेषु प्रोता ॥१॥

पृथिवी हिंकार—पृथिवी 'हिंकार' है, अन्तरिक्षम् प्रस्ताव—अन्तरिक्ष 'प्रस्ताव' है, द्यौ+उद्गीथ—द्युलोक 'उद्गीथ' है, दिश प्रतिहार—दिशाएं 'प्रतिहार' हैं, समुद्र निधनम्—समुद्र 'निधन' है, एता—ये, शक्वर्य—शक्वरी छन्द (में उपनिबद्ध साम-भाग), लोकेषु—लोकों में, प्रोता—सम्बद्ध हैं ॥१॥

स य एवमेता शक्वर्यो लोकेषु प्रोता वेद लोकीभवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या लोकान्न निन्देत्तद् व्रतम् ॥२॥

उज्ज्वल-जीवन व्यतीत करता है, प्रजा, पशु और कीर्ति से महान् होता है। लोकों की निन्दा न करे, यह व्रत कर ले, निश्चय कर ले ॥२॥

द्वितीय प्रपाठक—(अठारहवां खंड)

'बकरियां' हिंकार है, 'भेड़ें' प्रस्ताव है, 'गौएं' उद्गीथ है, 'घोड़े' प्रतिहार हैं, 'पुरुष' निधन है—इस प्रकार रेवती-साम जीव-धारियों में ओत-प्रोत है। जीव-धारियों का यह पञ्च-विध रूप मानो पञ्च-विध 'रेवती-साम' है ॥१॥

जो रेवती-साम को प्राणियों में पिरोया हुआ अनुभव करता है, वह प्राण-धारियों का स्वामी हो जाता है, पूर्ण आयु को भोगता है, उज्ज्वल-जीवन व्यतीत करता है, प्रजा, पशु और कीर्ति से महान् होता है। पशुओं की निन्दा न करे, यह व्रत कर ले, निश्चय कर ले ॥२॥

स य एवम्—वह जो इस प्रकार, **एता**—इन, **शक्वर्य**—शक्वरी छन्दोबद्ध साम-भाग को, **लोकेषु प्रोता**—लोकों में सम्बद्ध, **वेद**—जानता है, **लोकीभवति**—लोक वाला (लोकों का स्वामी) हो जाता है, **सर्वम् आयु एति**—पूर्ण आयु पाता है, **ज्योग् जीवति**—प्रतिष्ठापूर्ण जीवन विताता है, **महान् प्रजया पशुभि भवति**—प्रजा (सतान) और पशुओं से बडप्पन पाता है, **महान् कीर्त्या**—अति यशस्वी होता है, **लोकान्**—लोकों की, **न निन्देत्**—निन्दा न करे, **तद् व्रतम्**—वह मनुष्य का दृढ कर्तव्य सकल्प होना चाहिये ॥२॥

अजा हिंकारोऽवय प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वा
प्रतिहार पुरुषो निधनमेता रेवत्य पशुषु प्रोता ॥१॥

अजा—बकरियां, **हिंकार**—'हिंकार' है, **अवय**—भेडे, **प्रस्ताव**—'प्रस्ताव' है **गाव उद्गीथ**—गौए 'उद्गीथ' है, **अश्वा प्रतिहार**—घोडे 'प्रतिहार' है, **पुरुष**—मनुष्य या आत्मा, **निधनम्**—'निधन' है, **एता**—ये, **रेवत्य**—रेवती छन्दवाला साम-भाग, **पशुषु**—पशुओं मे, **प्रोता**—ओत-प्रोत, सम्बद्ध है ॥१॥

स य एवमेता रेवत्य पशुषु प्रोता वेद पशुमान्भवति सर्वमायुरेति ज्योग्-जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या पशून्न निन्देत्तद् व्रतम् ॥२॥

स य एवम्—वह जो इस प्रकार, **एता**—इन, **रेवत्य**—रेवती (छन्दोबद्ध) साम-भाग को, **पशुषु प्रोता वेद**—पशुओं में सम्बद्ध (ओत-प्रोत) जानता है, **पशुमान्**—उत्कृष्ट पशुवाला, **भवति**—होता है, **सर्वम् आयु एति**—सारी आयु भोगता है, **ज्योग् जीवति**—उज्ज्वल-जीवन विताता है, **महान् प्रजया**

द्वितीय प्रपाठक--(उन्नीसवां खंड)

'लोम' हिकार है, 'त्वचा' प्रस्ताव है, 'मास' उद्गीथ है, 'अस्थि' प्रतिहार है, 'मज्जा' निधन है---इस प्रकार यज्ञायज्ञीय-साम अगो मे ओत-प्रोत है। अगो का यह पच-विध रूप मानो पच-विध 'यज्ञा-यज्ञीय-साम' है ॥१॥

जो यज्ञायज्ञीय-साम को अगो मे पिरोया हुआ अनुभव करता है, वह दृढांग हो जाता है, किसी अग से हीन नही होता, पूर्ण आयु को भोगता है, उज्ज्वल-जीवन व्यतीत करता है, प्रजा, पशु और कीर्ति से महान् होता है। अगर वह मास खाता हो, तो वर्ष भर मास न खाये, और जब इस व्रत से दृढता आ जाय, तो कभी मास न खाये, यही व्रत है, निश्चय है ॥२॥

पशुभि भवति—प्रजा (वश-परम्परा) और पशुओ से वडा वनता है, **महान् कीर्त्या**—वडा यशस्वी (वनता हे), **पशून्**—पशुओ की, **न निन्देत्**—निन्दा न करे (पालने मे प्रमाद न करे), **तद् व्रतम्**—वह ही मनुष्य का अवश्य कर्तव्य कर्म है ॥२॥

लोम हिंकारस्त्वक्प्रस्तावो मा꣡ꣳसमुद्गीथोऽस्थि प्रति-
हारो मज्जा निधनमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतम् ॥१॥

लोम—रोम (रुआ या वाल), **हिंकार**—'हिकार' है, **त्वक्**—त्वचा (चमडी), **प्रस्ताव**—'प्रस्ताव' है, **मासम्**—मास, **उद्गीथ**—'उद्गीथ' है, **अस्थि**—हड्डी, **प्रतिहार**—'प्रतिहार' है, **मज्जा**—मज्जा, **निधनम्**—'निधन' हे, **एतद्**—यह, **यज्ञायज्ञीयम्**—यज्ञायज्ञीय-नामक साम-भाग, **अगेषु**—(प्राणी के) अगो मे, **प्रोतम्**—गुथा हुआ, सम्वद्ध है ॥१॥

स य एवमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोत वेदाऽङ्गी भवति नाङ्गेन विहूर्च्छति
सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या
सवत्सर मज्ज्ञो नाश्नीयात्तद् व्रत मज्ज्ञो नाश्नीयादिति वा ॥२॥

स य एवम्—वह जो इस प्रकार, **एतद्**—इस, **यज्ञायज्ञीयम्**—यज्ञा-यज्ञीय-नामी साम-भाग को,, **अगेषु प्रोतम् वेद**—अगो से सम्बन्ध वाला जानता ह, **अङ्गी**—(सुन्दर-स्वस्थ) अगवाला, **भवति**—होता हे, **न**—नही, **अगेन**—(किसी भी) अग से, **विहूर्च्छति**—कुटिल, हीन, त्रुटिवाला होता हे, **सर्वम् आयु एति**—सारी आयु भोगता है, **ज्योग् जीवति**—उज्ज्वल-जीवन विताता हे, **महान् प्रजया पशुभि भवति**—सन्तान और पशुओ मे वडा होता हे, **महान्**

द्वितीय प्रपाठक—(बीसवां खंड)

'अग्नि' हिंकार है, 'वायु' प्रस्ताव है, 'आदित्य' उद्गीथ है, 'नक्षत्र' प्रतिहार है, 'चन्द्रमा' निधन है—इस प्रकार राजन-साम अग्नि आदि देवताओ मे ओत-प्रोत है। देवताओ का यह पच-विध रूप मानो पच-विध 'राजन-साम' है ॥१॥

जो राजन-साम को देवताओ में पिरोया हुआ अनुभव करता है, वह अग्नि आदि की 'सलोकता', अर्थात् समीपता को प्राप्त कर लेता है, 'सार्ष्टिता', अर्थात् समानता को प्राप्त कर लेता है, और 'सायुज्यता', अर्थात् उनके प्रयोग को जान जाता है, वह पूर्ण आयु को भोगता है, उज्ज्वल-जीवन व्यतीत करता है, प्रजा, पशु और कीर्ति से महान् होता है। ब्राह्मणो की निन्दा न करे, यह व्रत कर ले, निश्चय कर ले ॥२॥

कीर्त्या—बड़ा यशस्वी होता है, सवत्सरम्—वर्ष भर, मज्ज—मज्जाओ को (हड्डियो की पोल मे विद्यमान तरल अश को), न—नही, अश्नीयात्—खावे, तद् व्रतम्—वह ही कर्तव्य व्रत है, मज्ज न अश्नीयात्—मज्जाओ को (कभी भी) न खावे, इति वा—अथवा यह व्रत है (फलत माम-सेवन जीवन भर न करे, यह व्रत कर्त्तव्यतया धारण करना चाहिये) ॥२॥

अग्निर्हिंकारो वायु प्रस्ताव आदित्य उद्गीथो नक्षत्राणि
प्रतिहारश्चन्द्रमा निधनमेतद्राजन देवतासु प्रोतम् ॥१॥

अग्नि हिंकार—अग्नि (देवता) 'हिंकार' है, वायु प्रस्ताव—वायु 'प्रस्ताव' है, आदित्य उद्गीथ—आदित्य 'उद्गीथ' है, नक्षत्राणि प्रतिहार—नक्षत्र 'प्रतिहार' है, चन्द्रमा निधनम्—चन्द्रमा 'निधन' है, एतद्—यह, राजनम्—राजन-नामक साम-भाग, देवतासु प्रोतम्—देवताओ से सम्बद्ध है ॥१॥

स य एवमेतद्राजन देवतासु प्रोत वेदैतासामेव देवताना सलो-
कता सार्ष्टिता सायुज्य गच्छति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति
महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या ब्राह्मणान्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥२॥

स य एवम्—वह जो इस प्रकार, एतद्—इस, राजनम्—राजन-नामक साम-भाग को, देवतासु—देवताओ मे, प्रोतम्—सम्बन्धवाला, वेद—जानता है, एतासाम्—इन की, एव—ही, सलोकताम्—समान-लोक, सह-स्थान (इन लोको मे निवास) को, सार्ष्टिताम्—(लोको के) समान समृद्धि को, सायुज्यम्—(लोको के) सहयोग को या समान गुण वाले शरीर को,

(११ से २० खड तक विश्व मे हो रहे एक अखड सगीत का निर्देश किया गया है । प्रत्येक वस्तु को सगीत का रूप दिया गया है—-यही नही कि प्रत्येक वस्तु प्रभु का सकीर्तन कर रही है, परन्तु प्रत्येक वस्तु स्वय सगीत-मय है ।)

द्वितीय प्रपाठक—-(इक्कीसवां खंड)

ऋक्-यजु-साम—-ये तीनो (यह त्रिक) हिकार है, पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यु लोक—-ये तीनो (यह त्रिक) प्रस्ताव है, इन लोको के अग्नि-वायु-आदित्य—-ये तीनो (यह त्रिक) उद्गीथ है, नक्षत्र-पक्षी-किरणे—-ये तीनो (यह-त्रिक) प्रतिहार है, सर्प-गन्धर्व-पितर—-ये तीनो (यह त्रिक) निधन है—-इस प्रकार विश्व के अग-अग मे साम ओत-प्रोत है, सम्पूर्ण विश्व मानो एक साम-गान है ॥१॥

जो साम को, सगीत को प्रत्येक वस्तु मे इस प्रकार पिरोया हुआ अनुभव करता है, वह सब-कुछ हो जाता है ॥२॥

गच्छति—प्राप्त होता है, सर्वम् आयु एति—सारी (पूर्ण) आयु को पाता है, ज्योग् जीवति—प्रतिष्ठित जीवन होता है, महान् प्रजया पशुभि भवति—प्रजा और पशुओ से वडा वनता है, महान् कीर्त्या—अति यशस्वी होता है, ब्राह्मणान्—ब्राह्मणो की, ब्रह्मज्ञानियो की, न निन्देत्—निन्दा न करे, तद् व्रतम्—वह ही व्रत (धारण) करे ॥२॥

त्रयी विद्या हिकारस्त्रय इमे लोका स प्रस्तावोऽग्निर्वायुरा-
दित्य स उद्गीथो नक्षत्राणि वयाँसि मरीचय स प्रतिहार
सर्पा गन्धर्वा पितरस्तन्निधनमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतम् ॥१॥

त्रयी विद्या—तीनो प्रकार के वेद-मत्र या चारो वेद, **हिकार**—'हिकार' है, **त्रय**—तीन, **इमे**—ये, **लोका**—लोक (पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक), **स प्रस्ताव**—वह ही 'प्रस्ताव' है, **अग्नि वायु आदित्य**—(तीनो लोको के अधिष्ठाता देवता व तीनो विद्याओ के आदि ऋषि) अग्नि, वायु और आदित्य, **स उद्गीथ**—वह 'उद्गीथ' है, **नक्षत्राणि**—नक्षत्र, **वयांसि**—पक्षि-गण, **मरीचय**—किरणे, **स प्रतिहार**—वह प्रतिहार है, **सर्पा गन्धर्वा. पितर**—सर्प, गन्धर्व और पितृ-गण (जो है), **तत् निधनम्**—वह निधन है, **एतत्**—यह (सपूर्ण), **साम**—साम, **सर्वस्मिन्**—सव मे, **प्रोतम्**—सम्वद्ध है ॥१॥

स य एवमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोत वेद सर्वँ ह भवति ॥२॥

स य एवम्—वह जो इस प्रकार, **एतत्**—इस (सम्पूर्ण), **साम**—सामवेद को, **सर्वस्मिन्**—सव मे, **प्रोतम्**—सम्वद्ध, **वेद**—जानता है, **सर्वम्**—सव कुछ (को प्राप्त), **ह**—निश्चय से, **भवति**—हो जाता है (कर लेता है—उसे कुछ प्राप्य नही रहता) ॥२॥

किसी ने कहा भी है यह जो पाच प्रकार का त्रिक है, इससे बढकर और कुछ नही है ॥३॥

जो यह जानता है, वह सब-कुछ जानता है, चारो दिशाओ से लोग इसके लिये उपहार लाते है। ध्यान में बैठकर यह अनुभव करे कि मैं सब-कुछ हू—'सर्वम् अस्मि इति उपासीत'। ससार सगीत है, मैं भी सगीत ही हू—यही उसका व्रत है, यही व्रत है ॥४॥

द्वितीय प्रपाठक—(बाईसवां खड)

(साम-गान मे उच्चारण का विश्लेषण)

भिन्न-भिन्न ऋषियो ने भिन्न-भिन्न स्वरो में साम-गान किया है। अग्नि-ऋषि का साम-गान 'उद्गीथ' कहलाता है क्योकि वह उच्च-स्वर से गाया जाता है, प्रजापति का, 'अनिरुक्त' क्योकि वह उपमा-रहित है, सोम-ऋषि का 'निरुक्त' क्योंकि वह साफ-साफ सुनाई देता है, वायु-ऋषि का 'मृदु' और 'श्लक्ष्ण', अर्थात् कोमल, इन्द्र का 'बलवान्'

तदेष श्लोक। यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्याय परमन्यदस्ति ॥३॥

तद् एष श्लोक—तो (इस विषय मे) यह (प्रसिद्ध) श्लोक है, **यानि**—जो, **पञ्चधा**—पाँच प्रकार के, **त्रीणि-त्रीणि**—(इस खण्ड मे निर्दिष्ट) तीन-तीन (त्रिक वर्णित) है, **तेभ्य**—उनसे, **न**—नही, **ज्याय**—ज्येष्ठ, **परम्**—श्रेष्ठ, **अन्यत्**—अन्य कुछ, **अस्ति**—है ॥३॥

यस्तद्वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै
हरन्ति सर्वमस्मीत्युपासीत तद् व्रत तद् व्रतम् ॥४॥

य—जो, **तद्**—उसको, **वेद**—जानता है, **स**—वह, **वेद**—जान लेता है, **सर्वम्**—सब कुछ, **सर्वा दिश**—सारी दिशाए, सब ओर से, **बलिम्**—भोगो को, **अस्मै**—इस (भक्त मनुष्य) के लिये, **हरन्ति**—लाती है, उपस्थित करती है, **सर्वम् अस्मि**—मैं सब (मैं सब मे, सब मुझ मे) हूँ, मै ही मुख्य हूँ, **इति**—इस प्रकार, **उपासीत**—उपासना करे, व्यवहार करे, **तद् व्रतम्**—वह ही इसका प्राप्य ध्येय है, **तद् व्रतम्**—वह ही इसका अवश्य कर्तव्य कर्म है ॥४॥

विनर्दि साम्नो वृणे, पशव्यमित्यग्नेरुद्गीथोऽनिरुक्त प्रजापतेर्निरुक्त
सोमस्य, मृदु श्लक्ष्ण वायो, श्लक्ष्ण बलवदिन्द्रस्य, क्रौञ्च बृहस्पते-
रपध्वान्त वरुणस्य, तान्सर्वानेवोपसेवेत वारुण त्वेव वर्जयेत् ॥१॥

विनर्दि—विनर्द (विशेष गूज—ऋषभ की आवाज जैसी) वाला, **साम्न**—साम-गान के (स्वर को), **वृणे**—(मै उदगाता) वरण करता हूँ (अर्थात् सम्पूर्ण

और 'श्लक्ष्ण', बृहस्पति का साम-गान 'क्रौंच पक्षी के नाद के समान' तथा वरुण का 'अपध्वान्त' अर्थात् फूटे हुए कासे के बर्तन के समान। इन सब में नाद-युक्त साम-गान, जो पशुओ की उच्च-ध्वनि के समान है, वह ठीक है, एक वरुण का 'अपध्वान्त'-स्वर ठीक नही, उसे छोड दे ॥१॥

साम का उद्‌गाता अपने गायन द्वारा दिव्य-गुण-युक्त पुरुषो (ब्राह्मणो) के लिये 'अमरता' की कामना करे, वे दीर्घ-जीवी होकर ससार का भला करे, ससार का रक्षण करने वाले पितरो (क्षत्रियो) के लिये 'स्वधा' की कामना करे, वे अपने व्रत में दृढ रहें, देश-रक्षा के कार्य से कभी न डिगे, साधारण-मनुष्यो (वैश्यो) के लिये 'आशा' की कामना करे, उनका आशा पर ही जीवन निर्भर रहता है, उनकी आशाए पूर्ण हो; पशुओ के लिये 'तृण और जल' की कामना करे,

---

साम-गान विशेष प्रकार की गूज या ऋषभ स्वर मे गान करना चाहता हू), **पशव्यम्**—पशुओं का हितकर (पशुओं जैसा), **इति**—यह, **अग्ने**—अग्नि (देवता वाले या ऋषि वाले साम का), **उद्‌गीथ**—उच्च-स्वर से गान (अभीप्ट है), **अनिरुक्त**—अस्पप्ट, अनिर्वचनीय, **प्रजापते**—प्रजापति (देवता या ऋषि वाले साम) का, **निरुक्त**—स्पप्ट, **सोमस्य**—सोम (देवता या ऋषि वाले साम) का, **मृदु**—कोमल, **श्लक्ष्णम्**—चिकना, सपाट, रुकावट शून्य, **वायो**—वायु (देवता या ऋषि वाले साम) का, **श्लक्ष्णम्**—रुकावट से रहित, **बलवत्**—बल (प्रयत्न) सापेक्ष, **इन्द्रस्य**—इन्द्र (देवता वाले साम) का, **क्रौञ्चम्**—क्रौंच-पक्षी के शब्द के समान, **बृहस्पते**—बृहस्पति (देवता वाले साम) का, **अपध्वान्तम्**—बुरी ध्वनि, टूटे कासे की ध्वनि के समान ध्वनि, **वरुणस्य**—वरुण (देवता वाले साम) की, **तान्**—उन, **सर्वान्**—सब को, **एव**—ही, **उपसेवेत**—(उचित स्थान पर) प्रयुक्त करे, **वारुणम्**—वरुण-सम्बन्धी (अपध्वान्त) स्वर को, **तु एव**—तो ही, अवश्यमेव, **वर्जयेत्**—छोडे, सेवन न करे, प्रयुक्त न करे ॥१॥

अमृतत्वं देवेभ्य आगायानीत्यागायेत्स्वधा पितृभ्य आशा मनुष्येभ्यस्तृणोदक पशुभ्य स्वर्ग लोक यजमानायान्नमात्मन आगायानीति । एतानि मनसा ध्यायन्नप्रमत्त स्तुवीत ॥२॥

अमृतत्वम्—अमरता को, **देवेभ्य**—देवताओ, विद्वानो के लिये, **आगायानि**—मैं (साम द्वारा) गान करू, प्रार्थना करू, **इति**—यह (मन मे धारणा कर), **आगायेत्**—साम-गान करे, प्रार्थना करे, **स्वधाम्**—अन्न को, स्वय पालन को, **पितृभ्य**—पितरो के लिए, रक्षा-पालन करने वाले क्षत्रियो के लिए, वडे-बूढे

यजमान के लिये 'स्वर्ग-लोक' की कामना करे, अपने लिये किसी प्रकार की कामना न करे, जितने से उसका शरीर-मात्र बना रहे, उतने-मात्र 'अन्न' की ही कामना करे। ससार भर के लिये इस प्रकार मन द्वारा शुभ-सकल्प करता हुआ अप्रमत्त होकर भगवान् की स्तुति मे लीन हो जाय ॥२॥

'अ' से 'औ' तक के अक्षर 'स्वर' है, 'क' से 'म' तक के अक्षर 'स्पर्श' है, 'श-ष-स-ह' 'ऊष्म' है। स्वरो का आविष्कार महर्षि इन्द्र ने किया, इसलिये स्वर मानो इन्द्र के आत्मा है, स्पर्शों का आविष्कार महर्षि प्रजापति ने किया, इसलिये स्पर्श मानो प्रजापति के आत्मा है, ऊष्मो का आविष्कार महर्षि मृत्यु ने किया, इसलिये ऊष्म मानो मृत्यु के आत्मा है। साम-गान करता हुआ इन्ही में से किसी अक्षर का उद्गाता प्रयोग करता है। साम-गान करते हुए उपासक की अगर कोई स्वरो में अशुद्धि निकाले और कहे कि तुमने अमुक स्वर का ठीक उच्चारण नही किया, तो उसे कह दे कि मैं तो स्वरो के अधिष्ठाता इन्द्र की शरण में गया हुआ था, उसकी उपासना में लीन था,

---

स्वजनो के लिए, **आशाम्**—वाछित ध्येय (कार्य) की फलसिद्धि के लिए, **मनुष्येभ्य**—साधारण जनता के लिए, **तृणोदकम्** (तृण+उदकम्)—घास और पानी—चारा-पानी, **पशुभ्य**—पशुओ के लिए, **स्वर्गम् लोकम्**—स्वर्ग (सुख-प्रद) लोक (स्थिति-स्थान) को, **यजमानाय**—यजमान के लिये, **अन्नम्**—अन्न (धन—भोग्य सामग्री) को, **आत्मने**—अपने लिए, **आगायानि**—गान रूप मे प्रार्थना करता हू, **इति**—इस प्रकार, **एतानि**—इन (उपरि-वर्णित) को, **मनसा**—मन से, अन्त करण से, **ध्यायन्**—ध्यान करता हुआ, **अप्रमत्त**—(गान एव प्रार्थना मे किसी प्रकार का) प्रमाद न करते हुए, **स्तुवीत**—(भगवान् की साम-द्वारा उद्गाता) स्तुति करे ॥२॥

सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मान, सर्व ऊष्माण प्रजापतेरात्मान,
सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मान । त यदि स्वरेषूपालभेतेन्द्रं शरण
प्रपन्नोऽभूव स त्वा प्रति वक्ष्यतीत्येन ब्रूयात् ॥३॥

सर्वे—सारे, **स्वरा**—स्वर ('अ' से लेकर 'अ' तक) अक्षर, **इन्द्रस्य**—इन्द्र के, प्राण के, **आत्मान**—आत्मा (शरीर, स्वरूप) है, **सर्वे**—सारे, **ऊष्माण**—ऊष्म (श-ष-स-ह) अक्षर, **प्रजापते**—प्रजापति के, **आत्मान**—आत्मा (शरीर, स्वरूप) है, **सर्वे**—सारे, **स्पर्शा**—स्पर्श (पाचो वर्ग के या 'क'

शब्द की उलझन में न फसकर भाव में मग्न था। आपके प्रश्न का उत्तर मैं क्या, महर्षि इन्द्र ही देंगे ॥३॥

साम-गान करते हुए उपासक की अगर कोई ऊष्मो में अशुद्धि निकाले और कहे कि तुमने अमुक ऊष्म का ठीक उच्चारण नहीं किया, तो उसे कह दे कि मैं तो ऊष्मो के अधिष्ठाता प्रजापति की शरण में गया हुआ था, उसकी उपासना में लीन था, शब्द की उलझन में न फसकर भाव में लीन था। आपके प्रश्न का उत्तर मैं क्या, महर्षि प्रजापति देंगे। अगर कोई स्पर्शों में अशुद्धि निकाले तो उसे कह दे कि मैं स्पर्शों के अधिष्ठाता महर्षि मृत्यु की शरण में गया हुआ था। आपके प्रश्न का उत्तर मैं क्या, वे ही देकर तुम्हारे घमंड को भस्म करेंगे ॥४॥

से लेकर 'म' तक पच्चीस) अक्षर, मृत्यो—मृत्यु के, आत्मान—आत्मा (स्वरूप, शरीर) हैं, तम्—उस (उद्गाता) को, यदि—यदि (कोई), स्वरेषु—स्वर अक्षरों के उच्चारण के विषय में, उपालभेत—उलाहना दे, त्रुटि दिखावे (तो वह उद्गाता कहे कि), इन्द्रम्—(स्वर के अधिपति) इन्द्र को (की), शरणम्—शरण में, प्रपन्न—प्राप्त, पहुंचा हुआ, (शरणम् प्रपन्न—शरण में गया, उनके ध्यान-उपासना में लीन), अभूवम्—मैं था, स—वह (इन्द्र), त्वा—तुझ को, प्रतिवक्ष्यति—प्रत्युत्तर देगा, इति—इस प्रकार, एनम्—इस (उपालम्भ देने वाले) को, ब्रूयात्—कहे ॥३॥

अथ यद्येनमूष्मसूपालभेत प्रजापतिं शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा
प्रति पेक्ष्यतीत्येनं ब्रूयादथ यद्येनं स्पर्शेषूपालभेत मृत्युं
शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति धक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥४॥

अथ यदि—और यदि, एनम्—इस (उद्गाता) को, ऊष्मसु—ऊष्म (श-ष-स-ह) अक्षरों के उच्चारण में, उपालभेत—उलाहना दे, दोष दिखावे (तो), प्रजापतिम्—(ऊष्म-अक्षरों के अधिपति) प्रजापति को (की), शरणम् प्रपन्न—मैं शरण में गया हुआ, उसकी उपासना में लीन, अभूवम्—मैं था, स—वह (प्रजापति), त्वा—तुझ को, प्रतिपेक्ष्यति—(इसके) बदले में पीस डालेगा, इति—इस प्रकार, एनम्—इस (त्रुटि-निर्देशक) को, ब्रूयात्—कहे, उत्तर दे, अथ यदि—और अगर, एनम्—इस (उद्गाता) को, स्पर्शेषु—स्पर्श (क से लेकर म तक पच्चीस) अक्षरों के उच्चारण में, उपालभेत—त्रुटि दिखाये (तो), मृत्युम्—मृत्यु को (की), शरणम् प्रपन्न अभूवम्—शरण में मैं गया हुआ था, उसकी उपासना में लीन था, स—वह, त्वा—तुझ (त्रुटि-

साम-गान करते हुए 'स्वरों' का उच्चारण ऊंचे घोष से और बल से करना चाहिये। इस प्रकार स्वरों के आविष्कारक महर्षि इन्द्र को बल मिलता है। सारे 'ऊष्म' ऐसे बोलने चाहिये, जैसे एक-दूसरे वर्ण से ग्रस्त न हों, स्पष्ट हों, खुले हों। इस प्रकार ऊष्मों के आविष्कारक प्रजापति को उद्गाता आत्म-समर्पण कर देता है। सब स्पर्श लेश-मात्र भी एक-दूसरे में मिले-जुले न हों—इस प्रकार बोलने चाहियें। इस प्रकार महर्षि मृत्यु के क्रोध से उपासक अपने को बचा लेता है ॥५॥

द्वितीय प्रपाठक—(तेईसवां खंड)

(ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ—'भू, भुव, स्व' की व्याख्या)

धर्म-रूपी वृक्ष के तीन बड़े-बड़े डाल हैं। 'यज्ञ-अध्ययन-दान'—यह गृहस्थ-रूप एक डाल है। 'तप'—यह वानप्रस्थ-रूप दूसरी डाल है। 'ब्रह्मचारी' बनकर अपने को तपस्या से क्षीण करते हुए आचार्य-

---

निर्देशक) को, प्रति धक्ष्यति—(इसके) बदले में जला डालेगा, इति एनम् ब्रूयात्—ऐसा इस (दोष-दर्शी) को कहे (उत्तर दे) ॥४॥

सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्या इन्द्रे बलं ददानीति। सर्व ऊष्माणोऽग्रस्ता अनिरस्ता विवृता वक्तव्याः प्रजापतेरात्मानं परिददानीति। सर्वे स्पर्शा लेशेनानभिनिहिता वक्तव्या मृत्योरात्मानं परिहराणीति ॥५॥

सर्वे—सारे, स्वरा—स्वर अक्षर, घोषवन्त—घोष (प्रयत्न) वाले, बलवन्त—पूरे बल से युक्त, वक्तव्या—बोलने चाहियें, इन्द्रे—(स्वरों के अधिपति) इन्द्र में, बलम्—बल, ददानि—दूं, इति—यह (सोचकर), सर्वे—सारे, ऊष्माण—ऊष्म अक्षर, अग्रस्ता—बिना खाये (अन्य अक्षर से बिना दबे, पूरी तौर से), अनिरस्ता—निरास (बाहर की ओर फेंकना) न करते हुए, विवृता—विवार (प्रयत्न) वाले, वक्तव्या—बोलने चाहियें, प्रजापते—(ऊष्म-अक्षरों के अधिपति) प्रजापति को, आत्मानम्—आत्मा, स्वरूप, शरीर, परिददानि—पर्याप्त दूं, इति—यह (सोच कर), सर्वे—सब, स्पर्शा—स्पर्श अक्षर, लेशेन—तनिक भी, अनभिनिहिता—न मिले-जुले, वक्तव्या—बोलने चाहियें, मृत्यो—मृत्यु से, आत्मानम—अपने आपको, परिहराणि—दूर रख सकूं, इति—यह (सोच कर) ॥५॥

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति। प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्। सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति ॥१॥

कुल में रहना—यह ब्रह्मचर्य-रूप तीसरी डाल है। ये सब पुण्य को कमाने वाले लोक हैं, परन्तु एक लोक वह है जिसमें दान, तप आदि कोई कर्म नहीं किया जाता, ब्रह्म में ही स्थिति रहती है—यह 'ब्रह्म-संस्थ' सन्यासी का लोक है। उसे अमृतत्व प्राप्त होता है ॥१॥

कर्म-कांड तथा ज्ञान-काड के इन लोको को प्रजापति ने तपाया। किसी वस्तु को तपाने से जैसे उसका सार चू पडता है, वैसे इन लोको को तपाने से सार-भूत त्रयी विद्या चू पडी। त्रयी-विद्या को तपाया तो उसका सार 'भू -भुव -स्व' ये तीनो व्याहृतियां चू पडी ॥२॥

त्रय —(आगे बताये) तीन, **धर्मस्कन्धा** —धर्म के स्कन्ध (बडी शाखाए, आश्रय, भेद) हैं, **यज्ञ** —(नैत्यिक, सामयिक, व काम्य) यज्ञो का करना, **अध्ययनम्**—स्वाध्याय करना, **दानम्**—दान देना, **इति**—ये (तीन मिल कर), **प्रथम** —(धर्म का) पहला (स्कन्ध—गृहस्थ-जीवन) है, **तप** —(धर्म-कार्य मे) कष्ट सहना, सब व्रतो का पालन, **एव**—ही, **द्वितीय** —(धर्म का) दूसरा (स्कन्ध—वानप्रस्थ जीवन) है, **ब्रह्मचारी**—ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए, **आचार्य-कुलवासी**—आचार्य के कुल मे (घर पर) रहना, **तृतीय** —(धर्म का) तीसरा (स्कन्ध—ब्रह्मचर्य-जीवन) है (जिसमें), **अत्यन्तम्**—अत्यधिक, **आत्मानम्**—अपने आप को, **अवसादयन्**—दु ख पाते हुए (सब इच्छाओ को मारते हुए रहना होता है), **सर्वे**—सब ही, **एते**—ये (जीवन—तीनो आश्रम), **पुण्यलोका** —पुण्य कार्य करने के स्थान या पुण्य को उत्पन्न करनेवाले, **भवन्ति**—होते है, (परन्तु चौथे सन्यास-आश्रम मे जाकर) **ब्रह्मसस्थ** —ब्रह्म की आराधना करने वाला, ब्रह्म मे लीन (ही), **अमृतत्वम्**—अमर पद (मोक्ष) को, **एति**—प्राप्त होता है ॥१॥

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या सम्प्रास्रवत्। तामभ्यतपत्तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि सम्प्रास्रवन्त भू र्भुव स्वरिति ॥२॥

प्रजापति —प्रजापति ने, **लोकान्**—तीनो लोकों को, **अभ्यतपत्**—अभितप्त किया, तपाया (ध्यान-तप-चिन्तन किया), **तेभ्य** —उनसे, **अभितप्तेभ्य** —तपाये हुए, **त्रयी**—(ऋग्-यजु -साम रूप से) तीन, **विद्या**—ज्ञान, वेद, (**त्रयी विद्या**—चारो वेद), **सम्प्रास्रवत्**—चू पडी, प्रगट हुई, **ताम्**—उस (त्रयी विद्या) को, **अभ्यतपत्**—तपाया, **तस्या** —उस (त्रयी विद्या) से, **अभितप्ताया** —तपायी हुई, **एतानि**—ये, **अक्षराणि**—(अविनाशी) अक्षर, **सम्प्रास्रवन्त**—चू पडे, प्रगट हुए, **भू भुव स्व** —भू भुव स्व, **इति**—इस (रूप वाले) ॥२॥

('भू'-'भुव'-'स्व'—–इन तीन व्याहृतियो का क्या अर्थ है ? ससार मे सद्वस्तु के तीन रूप है—–'अस्ति'-'भाति'-'प्रीति'—–अर्थात् कोई वस्तु 'है', यह उसका पहला रूप है, परन्तु 'है'-से ही काम नही चलता, अगर उसे 'है'-की हालत मे बने रहना है, तो उमे 'होते रहना' होगा, नही तो वह नष्ट हो जायगी। 'है'-की पहली हालत को 'अस्ति' कहा जाता है, अग्रेजी मे इसे 'Being' कहते है। 'होते रहना' या 'बने रहना'—–इस दूसरी अवस्था को 'भाति' कहा जाता है, अग्रेजी मे इसे 'Becoming' कहते है। ससार का सारा विकास 'अस्ति' मे 'भाति' की तरफ, 'Being' से 'Becoming' की तरफ है—–जहा यह विकास की दिशा रुकी, वही मृत्यु है। बीज पौधा बन रहा है, पौधा पेड बन रहा है, बच्चा बालक बन रहा है, बालक मनुष्य बन रहा है—–बनने की यह अविरल-प्रक्रिया लगातार जारी रहती है। परन्तु यह 'बनना'—– यह 'भाति'—–यह 'Becoming'—–इसके विकास की दिशा क्या है ? भारतीय-विचारको का कहना था कि 'बनने' की—–सृष्टि के विकास की—–दिशा 'सुख' है। हर गति, हर प्रक्रिया सुख को ढूढ रही है—–इसी उद्देश्य को पाने मे हर-वस्तु की सार्थकता है। कोई दु ख को नही ढूढ रहा। प्रत्येक सत्ता, होने के लिये है, प्रत्येक होना, सुख के लिये है—–यह ससार में हो रहे विकास की तीसरी अवस्था है। इसी भाव को यो कहा है कि प्रत्येक 'अस्ति' का लक्ष्य 'भाति' है, प्रत्येक 'भाति' का लक्ष्य 'प्रीति' है। अग्रेजी के शब्दो मे इसी बात को यू कहेगे कि प्रत्येक 'Being' का लक्ष्य 'Becoming' है, और प्रत्येक 'Becoming' का लक्ष्य 'Bliss' है। 'अस्ति'—–'होना' 'Being' —–को 'भू' कहते है, 'भाति'—–'होते रहना'—–'बनते रहना'—–'Becoming'—–को 'भुव' कहते है, 'प्रीति—–'सुख'—– 'Bliss'—–को 'स्व' कहते है। अस्ति-भाति-प्रीति—–Being, Becoming, Bliss,—–भू-भुव-स्व—–इन तीनो त्रिको का क्रमश एक ही अर्थ है, और ये तीनो 'ओ' मे समा जाते है। ससार का विकास इसी प्रक्रिया से हो रहा है, भू का लक्ष्य भुव तथा भुव का लक्ष्य स्व है, इसलिये 'भू'-'भुव'-'स्व'—–इन व्याहृतियो को त्रयी विद्या

का सार कहा है, और इन तीन व्याहृतियों का सार 'ओंकार' है। इस व्याख्या को और अधिक समझने के लिये बृहदा० ४-१४ देखिये।)

व्याहृतियों को तपाया तो उनसे 'ओंकार' चू पड़ा। जैसे पत्ते की नाल से वृक्ष के सब पत्ते जुड़े रहते हैं—नाल सम्पूर्ण वृक्ष में और पत्ते-पत्ते में जाल की तरह फैली रहती है—इसी प्रकार ओंकार से सारी वाणी बंध रही है। इसलिये यह सब-कुछ ओंकार ही है, ओंकार ही है ॥३॥

द्वितीय प्रपाठक—(चौबीसवां खंड)

(यज्ञ करने वाले यजमान का लक्ष्य क्या होना चाहिये ?)

ब्रह्मवादी लोगों का कहना है कि जीवन एक यज्ञ है। जो जीवन के प्रभात में, जीवन के प्रारम्भ-काल में ब्रह्मचर्य-पूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं, वे 'वसु' कहलाते हैं, जो इस तपस्या को जीवन के मध्य-काल तक ले जाते हैं, वे 'रुद्र' कहलाते हैं; जो इस तपस्या को जीवन के तृतीय-काल तक ले जाते हैं, वे 'आदित्य' या 'विश्व-देव' कहलाते हैं ॥१॥

तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ॐकारः सम्प्रास्रवत्तद्यथा
शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोंकारेण सर्वा
वाक् संतृण्णोंकार एवेदं सर्वमोंकार एवेदं सर्वम् ॥३॥

तानि—उन (व्याहृति-अक्षरों) को, **अभ्यतपत्**—तपाया, **तेभ्यः अभितप्तेभ्यः**—तपाये हुए उन (अक्षर-व्याहृतियों) से, **ओंकारः**—'ओम्'-पद, **सम्प्रास्रवत्**—प्रगट हुआ, **तद्**—तो, **यथा**—जैसे, **शंकुना**—डण्ठल से, कील से (डाग), **सर्वाणि**—(तह बनाकर रखे) सारे, **पर्णानि**—पत्ते, **संतृण्णानि**—सलग्न रहते हैं, **एवम्**—इस ही प्रकार, **ओंकारेण**—'ओम्'-पद से, **सर्वा**—सारी, **वाक्**—वाणी (वाङ्मय), **संतृण्णा**—संलग्न, व्याप्त है, **ओंकारः**—'ओम्'-पद, **एव**—ही, **इदम्**—यह (सब दृश्यमान) है, **ओंकारः**—(और) ओंकार, **एव**—ही, **इदम् सर्वम्**—यह सब कुछ है ॥३॥

ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातःसवनं रुद्राणां माध्यन्दिनं
सवनमादित्यानां च विश्वेषां च देवानां तृतीयसवनम् ॥१॥

ब्रह्मवादिनः—ब्रह्म की (वेद की) चर्चा करने वाले, ब्रह्मज्ञानी, **वदन्ति**—कहते हैं, बताते हैं, **यद्**—कि, **वसूनाम्**—आठों वसुओं (देवताओं) या २४ वर्ष तक अखण्ड ब्रह्मचारियों का, **प्रातःसवनम्**—प्रातःसवन नामक यज्ञ है (उसके

'वसु'-'रुद्र'-'आदित्य' ने तो जीवन-यज्ञ कर लिया। वसु पृथिवी-लोक का, रुद्र अन्तरिक्ष-लोक का, और आदित्य द्यु-लोक का भी स्वामी हो गया। परन्तु जिसका यज्ञ अभी पूर्ण नहीं हुआ, जो जीवन को यज्ञ मानकर अभी प्रवृत्त हुआ है—जो 'यजमान' है—उसे क्या मिला? 'वसु'-'रुद्र'-'आदित्य' नामक तपस्वियों ने 'पृथिवी'-'अन्तरिक्ष'-'द्यु' लोकों पर आधिपत्य किया होता है, फिर 'यजमान' के लिये कौन-सा लोक रह जाता है? जिसे इसका ज्ञान नहीं, वह क्या करेगा? जानता हुआ ही तो कुछ करेगा ॥२॥

'वसु'-ब्रह्मचारी ने जिस प्रकार जीवन को यज्ञ मानकर, जीवन के प्रारम्भिक काल में साधना की, इसी प्रकार यज्ञ में प्रातरनुवाक मन्त्रों के गान करने से पूर्व, गार्हपत्याग्नि के पीछे, उत्तराभिमुख बैठ कर, वसु-ब्रह्मचारी के जीवन में जो साम-गान हो रहा है, यजमान

देवता वसु है, इसका लोक 'पृथिवी' है अतः वसु पृथिवी लोक के स्वामी—अधिवासी हैं), रुद्राणाम्—११ रुद्र (देवताओं) या ४४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करने वालों का, **माध्यन्दिनम् सवनम्**—माध्यन्दिन-नामक यज्ञ है (इसका लोक अन्तरिक्ष है अतः रुद्रों का लोक अन्तरिक्ष हुआ), **आदित्यानाम्**—१२ आदित्य (देवताओं) या ४८ वर्ष तक अखण्ड ब्रह्मचारियों का, **च**—और, **विश्वेषाम् च देवानाम्**—सब ही देवताओं का, **तृतीय-सवनम्**—तीसरा (सायं का) सवन (यज्ञ) है (इसका लोक द्यौ है फलतः आदित्य या विश्वदेवों को द्यु-लोक प्राप्त है) ॥१॥

क्व तर्हि यजमानस्य लोक इति। स यस्तं
न विद्यात्कथं कुर्यादथ विद्वान्कुर्यात् ॥२॥

क्व—कहाँ, **तर्हि**—(जब कि तीनों लोकों पर वसु-रुद्र-आदित्यों का आधिपत्य होगया) तो, **यजमानस्य**—यज्ञ-कर्ता का, **लोक**—लोक है, **इति**—यह (ब्रह्मज्ञानी वेदज्ञ पूछते हैं), **स यः**—वह जो, **तम्**—उस लोक को, **न**—नहीं, **विद्यात्**—जाने, जान पाये, **कथम्**—कैसे, **कुर्यात्**—(यज्ञ को) कर सकता है, **अथ**—किन्तु, **विद्वान्**—(प्राप्य लोक को) जानने वाला, **कुर्यात्**—(यज्ञानुष्ठान) कर सकेगा ॥२॥

पुरा प्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्जघनेन गार्हपत्यस्यो-
दङ्मुख उपविश्य स वासवं सामाभिगायति ॥३॥

पुरा—पहले, पूर्व, **प्रातः**—प्रातःकालीन, **अनुवाकस्य**—स्तुतिपरक-मन्त्र पाठ के, **उपाकरणात्**—आरम्भ करने से, **जघनेन**—पीछे, पश्चिम की ओर,

वैसा अपने जीवन द्वारा साम-गान करने का निश्चय करे। वसु-ब्रह्मचारी तो जीवन को यज्ञ मानकर २४ वर्ष तक साम-गान कर चुका है, 'यजमान'—जिसने जीवन-रूपी यज्ञ को प्रारम्भ ही किया है—जो यज्ञ के उपक्रम में अभी पड़ा है—उसे चाहिये कि यज्ञ प्रारम्भ करने से पूर्व ही वसु के जीवन के ढग पर अपने जीवन को डालने का प्रण करे ॥३॥

वह कहे कि वसु-ब्रह्मचारी जिस पृथिवी-लोक के स्वामी है, उस लोक का द्वार मेरे लिये भी खोल दो ताकि जैसे वसु पृथिवी-लोक का राज करते है, वैसे मै भी राज करू, अपने अन्दर किसी प्रकार की कमी का अनुभव न करू ॥४॥

इस कथन के बाद यजमान गार्हपत्य-अग्नि में आहुति दे, और कहे कि हे अग्नि ! आपका पृथिवी-लोक में वास है, आपको नमस्कार हो। हे अग्नि-रूप परमेश्वर ! जिस प्रकार आपकी आराधना कर वसु-ब्रह्मचारी को पृथिवी-लोक का आधिपत्य प्राप्त हुआ है, इसी प्रकार मुझ 'यजमान' को—जिसने जीवन को यज्ञ-रूप बनाने का निश्चय कर लिया है—पृथिवी-लोक का आधिपत्य प्राप्त हो, यही यजमान का लोक है, इसे मै प्राप्त करू ॥५॥

गार्हपत्यस्य—गार्हपत्य-अग्नि के, उदङ्मुख—उत्तराभिमुख, उपविश्य—बैठकर, स—वह (यजमान), वासवम्—वसु देवतावाले (जिन मत्रों का देवता वसु है), साम—साम को, अभिगायति—गान करता है ॥३॥

लो३कद्वारमपा वा३र्णू ३३ पश्येम त्वा वयं

रा ३ ३ ३ ३ ३ हु३ आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति ॥४॥

लोकद्वारम्—(हे अग्ने) पृथिवी-लोक के द्वार (प्रवेश-मार्ग) को, अपावृणु—खोल दे, पश्येम—दर्शन करें, त्वा—तुझ को (तेरा), वयम्—हम, राज्याय—राज्य प्राप्ति के लिए, इति—यह (मत्र जपे) ॥४॥

अथ जुहोति। नमोऽग्नये पृथिवीक्षिते लोकक्षिते लोकं मे

यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥५॥

अथ—तत्पश्चात्, जुहोति—आहुति देता है (अगला मत्र बोल कर), नम—नमस्कार हो, अग्नये—अग्नि देवता को, पृथिवीक्षिते—पृथिवी मे निवास करनेवाले, लोकक्षिते—लोक मे निवास करने वाले, लोकम्—लोक को, मे—मुझ, यजमानाय—यजमान के लिए, विन्द—प्राप्त करा, एष—यह

'इस आयु के बीत जाने पर अगले जन्म में भी मैं पृथिवी-लोक में आऊं तो जीवन को यज्ञ-रूप विताऊं'—इन शब्दों के साथ 'स्वाहा' कहकर कहे कि मेरे मार्ग में जो भी रुकावटें हों, हे भगवन्! उनका नाश कर दो, और फिर यजमान उठ खड़ा हो। उस समय वसु लोग उसे आशीर्वाद देते हैं, और 'प्रात सवन' का फल उसे प्रदान करते हैं। जीवन के प्रभात को यज्ञ-मय बनाने से जो लाभ होता है, वह उसे प्राप्त होता है ॥६॥

'रुद्र'-ब्रह्मचारी ने जिस प्रकार जीवन को यज्ञ मानकर जीवन के मध्यकाल तक साधना की, इसी प्रकार यज्ञ में माध्यन्दिन-सवन मन्त्रों के गान करने से पूर्व, दक्षिणाग्नि के पीछे, उत्तराभिमुख बैठकर, रुद्र-ब्रह्मचारी के जीवन में जो साम-गान हो रहा है, यजमान वैसा अपने जीवन द्वारा साम-गान करने का निश्चय करे। रुद्र-ब्रह्मचारी तो जीवन को यज्ञ मानकर ३६ वर्ष तक साम-गान कर चुका है, 'यजमान'—जिसने जीवन-रूपी यज्ञ को प्रारंभ किया है—उसे चाहिये कि यज्ञ के मध्यकाल से पूर्व ही रुद्र के जीवन के ढंग पर अपने जीवन को ढालने का प्रण करे ॥७॥

(मैं), वै—निश्चय ही (तेरी कृपा से), यजमानस्य—यजमान के, लोके—लोक में, एता—जानेवाला, अस्मि—हूँ, (एता अस्मि—लोक को पाऊंगा) ॥५॥

अथ यजमान परस्तादायुष स्वाहाऽपजहि परिघमित्युक्त्वो-
त्तिष्ठति तस्मै वसव प्रात सवनं सप्रयच्छन्ति ॥६॥

अथ—इस (आहुति) के बाद, यजमान—यज्ञकर्ता, परस्तात्—बाद में, आयुष—आयु के, परस्ताद् आयुष—मरणोपरान्त पुनर्जन्म में, स्वाहा—उचित कहा, उचित त्याग किया—आहुति कर, अपजहि—हटा, दूर कर, परिघम्—आगल को, रुकावट को, इति—ऐसे, उक्त्वा—कहकर, उत्तिष्ठति—उठ खड़ा होता है, तस्मै—उस (यजमान) को, वसव—वसु देवता या वसु-ब्रह्मचारी, प्रात सवनम्—प्रात सवन (के फल पृथिवी-लोक) को, सम्प्रयच्छन्ति—दे देते हैं (यजमान का पृथिवी-लोक पर अधिकार हो जाता है) ॥६॥

पुरा माध्यन्दिनस्य सवनस्योपाकरणाज्जघनेनाग्नीध्रीयस्यो-
दङ्मुख उपविश्य स रौद्रं सामाभिगायति ॥७॥

पुरा—पूर्व, माध्यन्दिनस्य—माध्यन्दिन सम्बन्धी, सवनस्य—यज्ञ-स्तुति के, उपाकरणात्—अनुष्ठान से, जघनेन—पीछे, पश्चिम की ओर, आग्नी-

वह कहे कि रुद्र-ब्रह्मचारी जिस अन्तरिक्ष-लोक के स्वामी है, उस लोक का द्वार मेरे लिये भी खोल दो ताकि जैसे रुद्र-ब्रह्मचारी 'वैराज्य', अर्थात् अन्तरिक्ष-लोक का राज करते है, वैसे मैं भी वहा का राज करू ॥८॥

इस कथन के बाद यजमान दक्षिणाग्नि मे आहुति दे, और कहे कि अन्तरिक्ष-लोक-स्थित वायु को नमस्कार हो। हे वायु-रूप परमेश्वर! जिस प्रकार आपकी आराधना कर रुद्र-ब्रह्मचारी को अन्तरिक्ष-लोक का आधिपत्य प्राप्त हुआ है, इसी प्रकार मुझ 'यजमान' को——जिसने जीवन को यज्ञ-रूप बनाने का निश्चय कर लिया है——अन्तरिक्ष-लोक का आधिपत्य प्राप्त हो, यही यजमान का लोक है, इसे मै प्राप्त करू ॥९॥

'इस आयु के बीत जाने पर अगले जन्म में मै रुद्र-ब्रह्मचारी के पग-चिह्नो पर चलू'——इन शब्दो के साथ 'स्वाहा' कहकर, और यह

धऱीयस्य—दक्षिणाग्नि के, उदङ्मुख—उत्तराभिमुख, उपविश्य—बैठ कर, स—वह (यजमान), रौद्रम्—रुद्र देवता के, साम—साम-मन्त्र को, अभिगायति—गान करता है ॥७॥

लो३कद्वारमपा वा३र्णू ३३ पश्येम त्वा वय वैरा ३३३३३
हु ३ आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति ॥८॥

लोकद्वारम्—(हे वायो) अन्तरिक्ष-लोक के द्वार को, अपावृणु—खोल दो, पश्येम त्वा वयम्—हम आपका दर्शन करे, वैराज्याय—विशिष्ट राज्य की (प्राप्ति के लिए), इति—इस (साम) का गान करता है ॥८॥

अथ जुहोति। नमो वायवेऽन्तरिक्षक्षिते लोकक्षिते लोक
मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥९॥

अथ—इसके बाद, जुहोति—हवन करता है, आहुति देता है (अगला मत्र बोलकर), नम—नमस्कार हो, वायवे—वायु देवता को, अन्तरिक्षक्षिते—अन्तरिक्ष मे निवास करनेवाले, लोकक्षिते—लोक मे निवास करने वाले, लोकम् मे यजमानाय विन्द—मुझ यजमान को लोक प्राप्त कराइये, एष—यह (मैं), वै—निश्चय ही (तेरी कृपा से), यजमानस्य लोके एता अस्मि—यजमान के लोक को प्राप्त होऊगा ॥९॥

अत्र यजमान परस्तादायुष स्वाहाऽपजहि परिघमित्युक्त्वो-
त्तिष्ठति तस्मै रुद्रा माध्यन्दिनꣳ सवनꣳ सप्रयच्छन्ति ॥१०॥

कहकर कि मेरे मार्ग में जो रुकावटें हों उनका नाश हो, यजमान उठ खड़ा हो। उस समय रुद्र लोग उसे आशीर्वाद देते हैं, माध्यन्दिन-सवन का फल उसे प्रदान करते हैं, जीवन के मध्य-काल को यज्ञ-रूप बनाने से जो लाभ होता है, वह उसे प्राप्त होता है ॥१०॥

'आदित्य'-ब्रह्मचारी ने जिस प्रकार जीवन को यज्ञ मानकर जीवन के तृतीय-काल में साधना की, इसी प्रकार यज्ञ में तृतीय-सवन मन्त्रों के गान करने से पूर्व, आहवनीय-अग्नि के पीछे, उत्तराभिमुख बैठकर, आदित्य-ब्रह्मचारी के जीवन में जो साम-गान हो रहा है, यजमान वैसा अपने जीवन द्वारा साम-गान करने का निश्चय करे। आदित्य-ब्रह्मचारी तो जीवन को यज्ञ मानकर ४८ वर्ष तक साम-गान कर चुका है, 'यजमान'—जिसने जीवन रूपी यज्ञ को प्रारम्भ किया है—उसे चाहिये कि यज्ञ के तृतीय-काल से पूर्व ही आदित्य अथवा विश्व-देव के जीवन के ढंग पर अपने जीवन को ढालने का प्रण करे ॥११॥

वह कहे कि जिस लोक के आप स्वामी हैं, उस लोक का द्वार

अत्र—यहां, इस लोक में, यजमान—यजमान, परस्तात् आयुष—मरणोपरान्त, पुनर्जन्म में, स्वाहा—आहुति देकर, अपजहि परिघम्—रुकावट को दूर कर दो, इति—ऐसे, उक्त्वा—कह कर, उत्तिष्ठति—उठ खड़ा होता है, तस्मै—उस (यजमान) को, रुद्रा—रुद्र देवता या रुद्र ब्रह्मचारी, माध्यन्दिनम्—माध्यन्दिन-सम्बन्धी, सवनम्—सवन (के फल) को, सम्प्रयच्छन्ति—प्रदान करते हैं (यजमान को भी अन्तरिक्ष-लोक में निवास मिल जाता है) ॥१०॥

पुरा तृतीयसवनस्योपाकरणाज्जघनेनाहवनीयस्योदङ्मुख
उपविश्य स आदित्यं स वैश्वदेवं सामाभिगायति ॥११॥

पुरा—पूर्व, पहले, तृतीयसवनस्य—तृतीय-सवन के, उपाकरणात्—अनुष्ठान प्रारम्भ करने से, जघनेन—पश्चिम की ओर, आहवनीयस्य—आहवनीय-अग्नि के, उदङ्मुख उपविश्य—उत्तराभिमुख बैठकर, स—वह (यजमान), आदित्यम्—आदित्य-देवता सम्बन्धी या आदित्य ब्रह्मचारी सम्बन्धी (या) स—वह (यजमान), वैश्वदेवम्—विश्वदेव (देवता) सम्बन्धी, साम अभिगायति—साम का गान करता है ॥११॥

लो३कद्वारमपा वा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयं स्वारा
३३३३३ हु ३ आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति ॥१२॥

मेरे लिये भी खोल दो ताकि आपकी तरह मैं भी स्वाराज्य का उपभोग करूं ॥१२॥

आदित्य-लोक का—वैश्व-देव-लोक का—द्वार मेरे लिये खोल दो ताकि भगवन् ! मैं तेरे रूप का दर्शन कर साम्राज्य का उपभोग करूं ॥१३॥

इसके बाद आहुति दे। आदित्य को नमस्कार हो, द्यु-लोक-वासी सब देवों को नमस्कार हो। आदित्य-ब्रह्मचारी को जैसे द्यु-लोक का तेज प्राप्त होता है, वैसे मुझे भी प्राप्त हो, इसे मैं प्राप्त करूं ॥१४॥

यही यजमान का लोक है, इसे मैं प्राप्त करूं। 'इस आयु के बीत जाने पर अगले जन्म में मैं आदित्य-ब्रह्मचारी के पग-चिह्नों पर

लोकद्वारम्—(हे आदित्य !) द्युलोक के द्वार को, अपावृणु—खोल दो, पश्येम त्वा वयम्—हम तेरा दर्शन कर सकें, स्वाराज्याय—स्वाराज्य (निष्कण्टक राज्य) की प्राप्ति के लिए, इति—ऐसे (गान करे) ॥१२॥

आदित्यमथ वैश्वदेव लो३कद्वारमपावा३र्णू ३३ पश्येम त्वा वयं
साम्रा ३३३३३ हु ३ आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति ॥१३॥

आदित्यम्—आदित्य देवता सम्बन्धी (पूर्व मन्त्र का गान कर), अथ—अब, वैश्वदेवम्—विश्वदेव-देवता वाले (आगे निर्दिष्ट साम का गान करे), लोकद्वारम् अपावृणु—(हे विश्वदेवो !) द्युलोक का द्वार खोल दो, पश्येम त्वा वयम्—हम आपका दर्शन करें, साम्राज्याय—साम्राज्य (चक्रवर्ती राज्य) की प्राप्ति के लिए, इति—इस (मन्त्र का गान करे) ॥१३॥

अथ जुहोति। नम आदित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्यो
दिविक्षिद्भ्यो लोकक्षिद्भ्यो लोकं मे यजमानाय विन्दत ॥१४॥

अथ—तत्पश्चात् (अगला मन्त्र बोल कर), जुहोति—हवन करता है, नम—नमस्कार हो, आदित्येभ्य—(द्युलोक-पति) आदित्यों को, च—और, विश्वेभ्य च देवेभ्य—विश्वदेवों को, दिविक्षिद्भ्य—द्युलोक में रहने वाले, लोकक्षिद्भ्य—लोक में निवास करने वाले, लोकम्—लोक को, मे—मुझ, यजमानाय—यजमान को, विन्दत—प्राप्त कराओ ॥१४॥

एष वै यजमानस्य लोक एताऽस्म्यत्र यजमान
परस्तादायुष स्वाहाऽपहत परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति ॥१५॥

एष वै—निश्चय ही (आप की कृपा से) यह (मैं), यजमानस्य—यजमान के, लोके—लोक में, एता अस्मि—पहुँच जाऊंगा, अत्र—यहां, इस जन्म में, यजमान—यजमान, परस्ताद् आयुष—मरणोपरान्त, पुनर्जन्म में,

चलूं'---इन शब्दों के साथ 'स्वाहा' कहकर, और यह कहकर कि मेरे मार्ग में जो रुकावटें हों उनका नाश हो, यजमान उठ खड़ा हो ॥१५॥

जो इस प्रकार आदित्य-ब्रह्मचारी को आदर्श मानकर उसके जीवन के अनुसार अपने जीवन को ढालता है, आदित्य-लोग उसे आशीर्वाद देते हैं, और तृतीय-सवन का फल उसे प्रदान करते हैं, जीवन के तृतीय-काल को यज्ञमय बनाने से जो लाभ होता है वह उसे प्राप्त होता है ॥१६॥

तृतीय प्रपाठक---(पहला खंड)

(आदित्य की 'देवमधु' कल्पना, १ से ५ खंड)

अध्यात्म, अर्थात् 'पिंड' की दृष्टि से आदित्य-ब्रह्मचारी का वर्णन करने के अनन्तर ऋषि आधिदैविक अर्थात्, 'ब्रह्मांड' की दृष्टि से आदित्य का वर्णन करते हैं। यह सूर्य मानो आदित्य-ब्रह्मचर्य का प्रतीक

स्वाहा---'स्वाहा' कह कर, **अपहत**---हटाओ, **परिघम्**---रुकावट को, **इति**---यह, **उक्त्वा**---बोल कर, **उत्तिष्ठति**---उठ खड़ा होता है ॥१५॥

तस्मा आदित्याश्च विश्वे च देवास्तृतीयं सवनं सम्प्रयच्छन्त्येष
ह वै यज्ञस्य मात्रां वेद य एवं वेद य एवं वेद ॥१६॥

तस्मै---उस (यजमान) को, **आदित्याः च विश्वे च देवाः**---बारहों आदित्य और विश्वदेव, **तृतीयम्**---तीसरे, **सवनम्**---सवन के (फल) को, **सम्प्रयच्छन्ति**---प्रदान करते है, **एष**---यह (यजमान), **ह वै**---ही, **यज्ञस्य**---यज्ञ की, **मात्राम्**---परिमाण को, स्वरूप को, यथार्थता को, फल को, **वेद**---जानता है, **य एवम् वेद**---जो इस प्रकार जानता है, **य एवम् वेद**---जो इस प्रकार जानता है (द्विरुक्ति आदरार्थ व प्रपाठक (अध्याय) की समाप्ति-सूचनार्थ है) ॥१६॥

ॐ असौ वा आदित्यो देवमधु। तस्य द्यौरेव
तिरश्चीनवंशोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः ॥१॥

ओम्---ओम्पद-वाच्य भगवान् का स्मरण कर, **असौ**---(उपरि दृश्यमान) यह, **वै**---निश्चय से, **आदित्यः**---सूर्य, **देव-मधु**---देवताओं का (आनन्दित करनेवाला) मधु (शहद-मार) है, **तस्य**---उस (देव-मधु) का, **द्यौ एव**---द्युलोक ही, **तिरश्चीन-वंश**---(छत्ते का आधार) तिरछा बांस (के समान) है, **अन्तरिक्षम्**---अन्तरिक्ष, **अपूप**---छत्ता है, **मरीचयः**---किरणें, **पुत्राः**---सन्तान (मधु-मक्खियां) हैं ॥१॥

है। आदित्य कठोरता के लिये प्रसिद्ध है, परन्तु ब्रह्मचर्य की उपमा में यह आदित्य मानो देवताओ का मधु है। जैसे मधु अत्यन्त मीठा होता है वैसे ही सूर्य की मधुरता है। सूर्य की मधुरता आदित्य-ब्रह्मचर्य की प्रतीक है। सूर्य-रूपी मधु अन्तरिक्ष-रूपी छत्ते में है, जो द्यु-रूपी तिरछे वांस पर लटक रहा है। सूर्य के चारो तरफ फैल रही किरणें मानो मधुमक्खियो के बच्चे है ॥१॥

आदित्य की पूर्व-दिशा की किरणें छत्ते की पूर्व-दिशा की मधु-नाडिया है, ऋचाए मधु-मक्खिया है, ऋग्वेद पुष्प है; मधु-मक्खियां पुष्प के जिस रस को चूसती है, वह रस ऋचाओ का अमृतमय रस है ॥२॥

जैसे पुष्पो को तपाने से उनका इत्र निकलता है, वैसे ऋचाओ द्वारा ऋग्वेद को जब तपाया गया, तो उसका रस—यश, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति तथा उपभोग्य पदार्थ—ये रस के रूप में उत्पन्न हुए ॥३॥

तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधुनाड्य ।
ऋच एव मधुकृत ऋग्वेद एव पुष्प, ता अमृता आप ॥२॥

तस्य—उस (देव-मधु सूर्य) की, **ये**—जो, **प्राञ्च**—पूर्व दिशा की ओर पडने वाली, **रश्मय**—किरणे हैं, **ता**—वे, **एव**—ही, **अस्य**—इस (देव-मधु) की, **प्राच्य**—पूर्व की ओर की, **मधुनाड्य**—मधु-भरी नाडिया (नालियाँ) है, **ऋच**—ऋचाए (पद्यबद्ध वेदमत्र), **एव**—ही, **मधुकृत**—मधु बनाने वाली (मक्खिया) हैं, **ऋग्वेद एव**—ऋग्वेद (प्रतिपादित कर्म व ज्ञान) ही, **पुष्पम्**—(रस का आधार) फूल है, **ता**—(फूल में वर्तमान) वे, **अमृता**—अमर, चिरस्थायी, **आप**—रस (कर्म) हैं ॥२॥

ता वा एता ऋच एतमृग्वेदमभ्यतपँ्स्तस्याभितप्तस्य
यशस्तेज इन्द्रिय वीर्यमन्नाद्यँ् रसोऽजायत ॥३॥

ता वै—उन ही, **एता**—इन, **ऋच**—ऋचाओ (मन्त्र या स्तुति) ने, **एतम्**—इस, **ऋग्वेदम्**—ऋग्वेद को (का), **अभ्यतपन्**—तपपूर्वक ध्यान विचार किया, तपाया, **तस्य अभितप्तस्य**—तपाये हुए (विचारे हुए), से उस (फूलरूपी ऋग्वेद) का, **यश**—यश (प्रसिद्धि), **तेज**—शरीर-कान्ति, **इन्द्रियम्**—(ज्ञान-कर्म मे समर्थ उभयविध) इन्द्रियाँ, **वीर्यम्**—रेत, उत्साह, **अन्नाद्यम्**—भोग-सामग्री, **रस**—रस, **अजायत**—उत्पन्न हुआ ॥३॥

वह रस झरा। झरकर उसने आदित्य का आश्रय लिया। आदित्य का जो लाल-लाल रूप है, वह इस रस का ही रूप है ॥४॥

(ब्रह्मचारी को अगर आदित्य-रूप मान लिया जाय, तो उसका आदित्य-रूप उग्र-रूप न होकर मधु-रूप है जिसकी रचना ऋग्वेद-रूपी पुष्प के मधुर रस से होती है। इस मधुर रस का स्वरूप यश, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति तथा अन्न है। जैसे आदित्य यश, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति तथा अन्न का प्रतीक है, वैसे आदित्य ब्रह्मचारी भी यश आदि से देदीप्यमान हो उठता है, यह इस मंत्र का आशय है।)

तृतीय प्रपाठक—(दूसरा खंड)

आदित्य की दक्षिण-दिशा की किरणें छत्ते की दक्षिण-दिशा की मधु-नाडियां हैं, यजुर्वेद के मन्त्र ही मधु-मक्खियां हैं, यजुर्वेद पुष्प हैं; मधु-मक्खियां पुष्प के जिस रस को चूसती हैं, वह रस यजुर्वेद के मन्त्रों का अमृतमय रस है ॥१॥

जैसे पुष्पों को तपाने से उनका इत्र निकलता है, वैसे यजुर्वेद के स्तोत्रों द्वारा यजुर्वेद को जब तपाया गया, तो उसका रस—यश, तेज,

---

तद् व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य रोहितꣳ रूपम् ॥४॥

तद्—तो, वह (रस), व्यक्षरत्—बिखर गया (फैल गया), तद्—वह (बिखरा रस), आदित्यम्—सूर्य के, अभित—चारों ओर, अश्रयत्—आश्रय लिया, ठहर गया, लग गया, तद्—वह (रस), वै—ही, यद्—जो, एतद्—यह, आदित्यस्य—सूर्य का, रोहितम्—लाल, रूपम्—रंग-रूप (है) ॥४॥

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्यो
यजूꣳष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥१॥

अथ—और, ये—जो, अस्य—इस (देव-मधु सूर्य) की, दक्षिणा—दक्षिण दिशा में फैली, रश्मय—किरणें हैं, ता. एव—वे ही, अस्य—इस (देव-मधु) की, दक्षिणा—दक्षिण की ओर की, मधुनाड्य—मधु की प्रणालियाँ हैं, यजूंषि—वेद के गद्यमय मन्त्र, एव—ही, मधुकृत—मधु की रचना करने-वाले, यजुर्वेद—यजुर्वेद, एव—ही, पुष्पम्—फूल, ता—वे, अमृता—अमर (अविनाशी), आप—(कर्मरूपी) जल हैं ॥१॥

तानि वा एतानि यजूꣳष्येतं यजुर्वेदमभ्यतपꣳस्तस्या-
भितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत ॥२॥

तानि—उन, वै—ही, एतानि—इन (मधुकृत्), यजूंषि—गद्यमय मंत्रों ने, एतम्—इस, यजुर्वेदम्—यजुर्वेद को, अभ्यतपन्—तपाया, ध्यान-तप

ऐश्वर्य, शक्ति तथा उपभोग्य पदार्थ—ये रस के रूप में उत्पन्न हुए ॥२॥

वह रस झरा। झरकर उसने आदित्य का आश्रय लिया। आदित्य का जो शुक्ल रूप है, वह इस रस का ही रूप है ॥३॥

(जैसे आदित्य की मधुरता यश, तेज, ऐश्वर्य आदि से प्रकट होती है, वैसे इन्हीं गुणों से आदित्य-ब्रह्मचारी की मधुरता प्रकट होनी है। इस मधुरता का उदय ऋग्वेद की ऋचाओं तथा यजुर्वेद के स्तोत्रों के अमृत रस-पान से होता है, यह इस सबका आशय है।)

तृतीय प्रपाठक—(तीसरा खंड)

आदित्य की पश्चिम-दिशा की किरणें छत्ते की पश्चिम-दिशा की मधु-नाड़ियां हैं, साम-मन्त्र ही भ्रमरियां हैं, सामवेद पुष्प है, भ्रमरियां पुष्प के जिस रस को चूसती हैं, वह रस साम की गीतिकाओं का अमृतमय रस है ॥१॥

पूर्वक विचार किया, तस्य अभितप्तस्य—तपाये (विचारे हुए) उस (यजुर्वेद) का, यश—यश (कीर्ति), तेज—शरीर-दीप्ति, इन्द्रियम्—समर्थ इन्द्रियां, वीर्यम्—वीर्य, उत्साह, अन्नाद्यम्—भोग-सामग्री, रस—रस, अजायत—उत्पन्न हुआ ॥२॥

तद् व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य शुक्लं रूपम् ॥३॥

तद्—वह (रस), व्यक्षरत्—बिखर गया, फैल गया, तद्—(बिखरा हुआ) वह, आदित्यम् अभित—सूर्य के चारों ओर, अश्रयत्—ठहर गया, आश्रित हुआ, तद् वै एतद्—वह ही यह (है), यद् एतद्—जो यह, आदित्यस्य—सूर्य का, शुक्लम्—शुभ्र, श्वेत, रूपम्—रंग-रूप है ॥३॥

अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्रतीच्यो मधुनाड्य
सामान्येव मधुकृत सामवेद एव पुष्प ता अमृता आप ॥१॥

अथ—और, ये—जो, अस्य—इस (देव-मधु आदित्य) की, प्रत्यञ्च—पश्चिम दिशा में फैली, रश्मय—किरणें हैं, ता एव—वे ही, अस्य—इस (देव-मधु) की, प्रतीच्य—पश्चिम ओर की, मधुनाड्य—शहद की नाड़ियां हैं, सामानि—गेय-मन्त्र, एव—ही, मधुकृत—मधु की रचना करने वाले (हैं), सामवेद एव पुष्पम्—सामवेद ही फूल है, ता—वे, अमृता—अमर, आप—जल (रस) है ॥१॥

जैसे पुष्पो को तपाने से उनका इत्र निकलता है, वैसे सामवेद के स्तोत्रो द्वारा सामवेद को जब तपाया गया, तो उसका रस---यश, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति तथा अन्न---ये रस के रूप में उत्पन्न हुए ।।२।।

वह रस झरा। झरकर उसने आदित्य का आश्रय लिया। आदित्य का जो कृष्ण रूप है, वह इस रस का ही रूप है ।।३।।

(आदित्य-ब्रह्मचारी मे सूर्य-सदृश यश, तेज, ऐश्वर्य आदि मधुर गुणो का उदय ऋग्वेद की ऋचाओ, यजुर्वेद के स्तोत्रो तथा सामवेद की गीतिकाओ के अमर रस-पान द्वारा होता है, यह इस सबका आशय है । आदित्य के कृष्ण रूप से अभिप्राय आदित्य का वह रूप है जिसमे आदित्य अपनी सब किरणो को समेटकर अन्धकार-ही-अन्धकार को जन्म दे देता है ।)

तृतीय प्रपाठक---(चौथा खंड)

आदित्य की उत्तर-दिशा की किरणें छत्ते की उत्तर-दिशा की मधु-नाड़िया है, अथर्वाङ्गिरस ही भ्रमरिया है; इतिहास-पुराण पुष्प

तानि वा एतानि सामान्येतँ्सामवेदमभ्यतपँ्स्तस्याभि-
तप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यँ् रसोऽजायत ।।२।।

तानि वै एतानि सामानि—उन ही इन गेय वेद-मत्रो ने, **एतम् सामवेदम्**—इस सामवेद को, **अभ्यतपन्**—तपाया, ध्यानपूर्वक विचारा, **तस्य अभितप्तस्य**—तपाये (ध्यानपूर्वक विचार किये) उस (सामवेद) का, **यश, तेज, इन्द्रियम्, वीर्यम्, अन्नाद्यम्**—कीर्ति, शरीर-कान्ति, समर्थ इन्द्रियाँ, वीर्य-उत्साह, भोग-सामग्री (रूपी), **रस**—रस (सार), **अजायत**—उत्पन्न हुआ ।।२।।

तद् व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य कृष्णँ् रूपम् ।।३।।

तद् व्यक्षरत्—वह (रस) बिखर गया, चू पडा, फैल गया, **तद्**—उसने, **आदित्यम् अभित**—सूर्य के चारो ओर, **अश्रयत्**—आश्रय लिया, ठहर गया, **तद् वै एतद्**—वह ही यह (है), **यद् एतद्**—जो यह, **आदित्यस्य**—सूर्य का, **कृष्णम्**—काला, **रूपम्**—रग-रूप (है) ।।३।।

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्योऽथर्वाङ्गिरस
एव मधुकृत इतिहासपुराणं पुष्पं ता अमृता आप ।।१।।

अथ—और, **ये**—जो, **अस्य**—इस (देव-मध आदित्य) की, **उदञ्च**—उत्तर दिशा मे फैली, **रश्मयः**—किरणे (है), **ता एव**—वे ही, **अस्य**—इस

है, भ्रमरिया पुष्प के जिस रस को चूसती है, वह रस इतिहास-पुराण का अमृतमय रस है ॥१॥

जैसे पुष्पों को तपाने से उनका इत्र निकलता है, वैसे अथर्वाङ्गिरस ने जब इतिहास-पुराण को तपाया, तो उसका रस—यश, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति तथा अन्न—ये रस के रूप में उत्पन्न हुए ॥२॥

वह रस झरा। झरकर उसने आदित्य का आश्रय लिया। आदित्य का जो परम कृष्ण रूप है, वह इस रस का ही रूप है ॥३॥

तृतीय प्रपाठक—(पांचवा खंड)

आदित्य की ऊपर की जो किरणें हैं, वे छत्ते की ऊपर की दिशा की मधु-नाडियां हैं, गुरु के गुह्य-आदेश ही भ्रमरिया हैं, ब्रह्म पुष्प

(देव-मधु) की, उदीच्य—उत्तर दिशा की, मधुनाड्य—शहद की प्रणालियाँ हैं, अथर्वाङ्गिरस—अथर्वाङ्गिरस् द्वारा दृष्ट वेद-मन्त्र (अथर्ववेद), एव—ही, मधुकृत—मधु की रचना करने वाले, इतिहास-पुराणम्—इति हास (पूर्व-भूत वृत्त) और पुराण (सृष्टि-रचना का क्रम) ही, पुष्पम्—फूल है, ता—वे, अमृता—अमर (अविनाशी), आप—जल (रस) हैं ॥१॥

ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यतपँ्स्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यँ् रसोऽजायत ॥२॥

ते वं एते अथर्वाङ्गिरस—उन ही इन अथर्वाङ्गिरस् (अथर्ववेद के मन्त्रों) ने, एतद्—इस, इतिहास-पुराणम्—इतिहास और पुराण नामक ब्राह्मण (वेद-व्याख्यान) भाग को, अभ्यतपन्—तपाया, विचारा, तस्य अभितप्तस्य—तपाये हुए (विचार किये हुए) उस (इतिहास-पुराण) का, यश तेज इन्द्रियम् वीर्यम् अन्नाद्यम्—प्रसिद्धि, शरीर-कान्ति, सशक्त इन्द्रियां, वीर्य-उत्साह, भोग-सामग्री (रूपी), रस अजायत—रस उत्पन्न हुआ ॥२॥

तद् व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य परं कृष्णँ् रूपम् ॥३॥

तद् व्यक्षरत्—वह (रस) बिखर गया, चू पड़ा, तद्—वह (रस), आदित्यम् अभित—सूर्य के चारों ओर, अश्रयत्—आश्रित हुआ, ठहर गया, तद् वं एतद्—वह ही यह (रस है), यद् एतद्—जो यह, आदित्यस्य—सूर्य का, परम्—अत्यधिक, कृष्णम्—काला, रूपम्—रंग-रूप (है) ॥३॥

अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा मधुनाड्यो गुह्या एवादेशा मधुकृतो ब्रह्मैव पुष्पं ता अमृता आपः ॥१॥

अथ—और, ये—जो, अस्य—इस (देव-मधु आदित्य) की, ऊर्ध्वा—ऊपर की ओर फैली, रश्मय—किरणें (हैं), ता—वे, एव—ही, अस्य—इस

है, भ्रमरियां पुष्प के जिस रस को चूसती हैं, वह रस ब्रह्म-ज्ञान का अमृतमय रस है ॥१॥

जैसे पुष्पों को तपाने से उनका इत्र निकलता है, वैसे गुह्य-आदेशों द्वारा जब ब्रह्म को तपाया गया, तो उसका रस—यश, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति तथा अन्न—ये रस के रूप में उत्पन्न हुए ॥२॥

वह रस झरा। झरकर उसने आदित्य का आश्रय लिया। आदित्य के मध्य में जो तेजोमय-चक्र चलायमान-सा दीखता है, वह इस रस का ही रूप है ॥३॥

वेद रस हैं, और क्योंकि यश, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति तथा अन्न वेदों के रस हैं, अतः ये रसों के रस हैं। वेद अमृत हैं, और क्योंकि

(देव-मधु) की, ऊर्ध्वा—ऊपर की, मधु-नाड्य—शहद की प्रणालियाँ हैं, गुह्या—गुप्त, रहस्यमय, एव—ही, आदेशा—(ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरु के) उपदेश, निर्देश, आज्ञाएँ, मधुकृत—मधु की रचना करनेवाले हैं, ब्रह्म—ब्रह्म (परमेश्वर), सम्पूर्ण (चारों) वेद, एव—ही, पुष्पम्—फूल है, ता—वे, अमृता—अमर, अविनाशी, आप—जल, कर्म ॥१॥

ते वा एते गुह्या आदेशा एतद् ब्रह्माभ्यतपँ्स्तस्याभि-
तप्तस्य यशस्तेज इन्द्रिय वीर्यमन्नाद्यँ् रसोऽजायत ॥२॥

ते वै एते—उन ही इन, गुह्या आदेशा—रहस्य-निर्देशों ने, एतद्—इस, ब्रह्म—वेद-ज्ञान को, अभ्यतपन्—तपाया, विचार किया, पुनः अनुशीलन किया, तस्य अभितप्तस्य—तपाये हुए (पूर्ण अनुशीलन करने पर) उस ब्रह्म (वेद-ज्ञान) का, यश तेज इन्द्रियम्, वीर्यम्, अन्नाद्यम्—कीर्ति, शरीर-कान्ति, सशक्त इन्द्रियाँ, वीर्य-उत्साह, भोग-सामग्री (रूपी), रस—सार, रस, अजायत—उत्पन्न हुआ ॥२॥

तद् व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य मध्ये क्षोभत इव ॥३॥

तद्—वह (सार-भूत) रस, व्यक्षरत्—बिखर गया, तद् आदित्यम् अभित अश्रयत्—वह सूर्य के चारों ओर एकत्र हुआ (ठहर गया), तद् वै एतद्—वह ही यह (है), यद् एतद्—जो यह, आदित्यस्य—सूर्य के, मध्ये—बीच (भाग) में, क्षोभते इव—चचल-सा (हिलता-डुलता-सा) है ॥३॥

ते वा एते रसानाँ् रसा वेदा हि रसास्तेषामेते रसास्तानि
वा एतान्यमृतानाममृतानि, वेदा ह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि ॥४॥

ते वै एते—वे ही ये (रस), रसानाम्—रसों के, रसा—रस हैं, वेदा रसा—वेद (चारों) ही तो रस (सार) हैं, तेषाम्—उन (वेदों)

यश, तेज आदि वेदों से झरे हुए अमृत हैं, अतः ये अमृतों के अमृत हैं ॥४॥

(यश तेज, ऐश्वर्य, शक्ति तथा अन्न का ब्रह्माण्ड में सूर्य तथा पिंड में आदित्य-ब्रह्मचारी प्रतीक है—ये ही रसों-के-रस हैं, अमृतों-के-अमृत हैं, अतः भौतिक-जगत् के सूर्य की तरह आदित्य-ब्रह्मचारी अपने जीवन को देदीप्यमान बनाये, परन्तु दीप्ति के साथ सूर्य के मधु-रूप को मुख्य समझकर उसकी आराधना करे, यह इस मन्त्रका आशय है।)

तृतीय प्रपाठक—(छठा खंड)
('ब्रह्मोपनिषद्'—आध्यात्मिक-विकास के क्रम, ६ से ११ खंड)

इन अमृतों में जो प्रथम अमृत है, उसका पान करते हुए 'अग्नि-मुख', अर्थात् अग्नि के समान देदीप्यमान मुख वाले 'वसु'-ब्रह्मचारी अपना जीवन यापन करते हैं। दिव्य-गुण-सम्पन्न ब्रह्मचारी लोग खाने-पीने में रत नहीं रहते, वे अमृत-रूप ब्रह्म के दर्शन से ही तृप्त रहते हैं ॥१॥

के, एते—ये (यश आदि), रसा —रस हैं, तानि वै एतानि—वे ही ये (रस), अमृतानाम् अमृतानि—अमृतों (अनश्वर) के अमृत हैं—उत्कृष्ट अमृत हैं, वेदा हि अमृता —क्योंकि वेद ही अमृत हैं, तेषाम्—उन (अमृतों) के, एतानि—ये (रस), अमृतानि—अमृत हैं ॥४॥

तद्यत्प्रथमममृत तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन
न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृत दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१॥

तद् यत्—तो जो, प्रथमम्—पहला, अमृतम्—अमृत (यश) है, तद्—उसको, वसव —आठों वसु या वसु ब्रह्मचारी, उपजीवन्ति—(के आधार पर) जीते हैं, जीवन के लिए उपयोग करते हैं (यश प्राप्ति ही उनका लक्ष्य होता है), अग्निना—अग्नि (द्वारा प्रोक्त ऋग्वेदरूपी), मुखेन—मुख से, साधन द्वारा, या (अग्निना मुखेन—अग्नि के समान देदीप्यमान मुख से युक्त), न वै—न तो, देवा —देवगण, अश्नन्ति—खाते हैं, न—नहीं, पिबन्ति—पीते है, एतद् एव अमृतम्—इस ही अमृत को, दृष्ट्वा—देखकर, तृप्यन्ति—तृप्त हो जाते हैं ॥१॥

वे उसी अमृतमय रूप में बसे रहते हैं, इसी के रूप से ही उनकी ऊर्ध्व-गति होती है ॥२॥

जो इस प्रकार अमृत के रूप को जानता है, वह वसुओ के साथ रल-मिलकर एक हो जाता है, अग्नि के समान ही देदीप्यमान मुख वाला हो जाता है, और अमृत के दर्शन में ही तृप्त रहता है। जो अमृत के इस रूप में वस जाता है, उसकी अमृत के इसी रूप से ऊर्ध्व-गति होती है ॥३॥

ऐसा व्यक्ति, जब तक सूर्य पूर्व से उदित और पश्चिम में अस्त होता रहेगा, तब तक वसुओ के आधिपत्य और स्वाराज्य में रहेगा ॥४॥

त एतदेव रूपमभिसविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥२॥

ते—वे वसु-गण, **एतद् एव**—इस ही, **रूपम्**—रूप को (का), **अभिसविशन्ति**—आश्रय लेते है, (इसमे ही) लीन हो जाते है, **एतस्मात्**—इस, **रूपाद्**—रूप से, **उद्यन्ति**—उद्गत होते है, ऊपर-ऊपर उठते है ॥२॥

स य एतदेवममृत वेद वसूनामेवैको भूत्वाऽग्निनैव मुखेनैतदेवामृत
दृष्ट्वा तृप्यति स य एतदेव रूपमभिसविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥३॥

स य एतद्—वह जो इस, **एवम्**—इस प्रकार के, **अमृतम्**—अमृत को, **वेद**—जानता है, **वसूनाम् एव एकः**—वसुओ मे ही एक, **भूत्वा**—होकर, **अग्निना एव मुखेन**—अग्नि रूप ही मुख से युक्त, **एतद् एव अमृतम् दृष्ट्वा**—इस ही अमृत को देखकर, **तृप्यति**—तृप्त हो जाता है, कामना-शून्य हो जाता है, **स य**—वह जो, **एतद् एव रूपम्**—इस ही रूप को (मे), **अभिसविशति**—आश्रय लेता हे, लीन होता है, **एतस्मात्**—इस, **रूपाद्**—रूप से, **उदेति**—(अधिक) उन्नत होता है ॥३॥

स यावदादित्य पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता
वसूनामेव तावदाधिपत्य स्वाराज्य पर्येता ॥४॥

स—वह, **यावत्**—जितना, जबतक, **आदित्य**—सूर्य, **पुरस्तात्**—पूर्व दिशा से, सामने से, **उदेता**—उदय होगा, **पश्चात्**—पश्चिम दिशा मे, पीछे की ओर, **अस्तम् एता**—अस्त होगा, **वसूनाम् एव**—वसुओ का ही, **तावत्**—तबतक, उतना, **आधिपत्यम्**—शासन, **स्वाराज्यम्**—अपना ही सब ओर राज्य, **परि+एता**—व्याप्त रहेगा, होगा ॥४॥

तृतीय प्रपाठक (सातवां खंड)

इन अमृतो में जो द्वितीय अमृत है, उसका पान करते हुए 'इन्द्र-मुख', अर्थात् इन्द्र के समान ऐश्वर्यवान् मुख वाले 'रुद्र'-ब्रह्मचारी अपना जीवन यापन करते हैं। दिव्य-गुण-सम्पन्न ब्रह्मचारी लोग खाने-पीने में रत नहीं रहते, वे अमृत-रूप ब्रह्म के दर्शन से ही तृप्त रहते हैं ॥१॥

वे उसी अमृतमय रूप में बसे रहते हैं, इसी के रूप से ही उन को ऊर्ध्व-गति होती है ॥२॥

जो इस प्रकार अमृत के रूप को जानता है, वह रुद्रो के साथ रल-मिलकर एक हो जाता है, इन्द्र के समान ही ऐश्वर्यवान् मुख वाला हो जाता है, और अमृत के दर्शन में ही तृप्त रहता है। जो अमृत के इस रूप में बस जाता है, उसकी अमृत के इसी रूप से ऊर्ध्व-गति होती है ॥३॥

अथ यद् द्वितीयममृत तद्रुद्रा उपजीवन्तीन्द्रेण मुखेन
न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृत दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१॥

अथ—और, **यद्**—जो, **द्वितीयम्**—दूसरा, **अमृतम्**—अमृत (तेज) है, **तद्**—उसको (का), **रुद्रा**—एकादश रुद्र या रुद्र-नामक ब्रह्मचारी, **उपजीवन्ति**—जीवन-धारण के लिए उपयोग करते हैं, **इन्द्रेण मुखेन**—इन्द्र के समान ऐश्वर्यमय मुख से युक्त, या इन्द्र रूप मुख से (साधन द्वारा), **न वै देवा अश्नन्ति**—न तो देव-गण (अन्न) खाते हैं, **न पिबन्ति**—न कुछ पीते हैं, **एतद् एव अमृतम् दृष्ट्वा तृप्यन्ति**—इस ही अमृत को देखकर तृप्त हो जाते हैं ॥१॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥२॥

ते—वे (रुद्र), **एतद् एव रूपम्**—इस ही रूप को (में), **अभिसंविशन्ति**—आश्रय लेते हैं, लीन हो जाते हैं, **एतस्माद् रूपात्**—इस ही रूप से, **उद्यन्ति**—उदित (उद्गत-उन्नत) होते हैं ॥२॥

स य एतदेवममृत वेद रुद्राणामेवैको भूत्वेन्द्रेणैव मुखेनैतदेवामृत
दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥३॥

स. य—वह जो, **एतद्**—इस, **एवम् अमृतम् वेद**—इस प्रकार के अमृत को जान लेता है, **रुद्राणाम् एव एक भूत्वा**—रुद्रो मे ही एक होकर, **इन्द्रेण एव मुखेन**—इन्द्र रूपी मुख से ही, **एतद् एव अमृतम् दृष्ट्वा**—इस ही अमृत को देखकर (जान कर), **तृप्यति**—तृप्त हो जाता है, **स**—वह (ज्ञाता), **एतद्**

सूर्य जब तक पूर्व से उदय और पश्चिम में अस्त होता रहेगा, अगर उससे दुगुने-काल तक वह दक्षिण से उदय और उत्तर में अस्त होता रहे, तो उतने समय तक ऐसा व्यक्ति रुद्रों के आधिपत्य और स्वाराज्य में रहेगा ॥४॥

तृतीय प्रपाठक—(आठवां खंड)

इन अमृतों में जो तृतीय अमृत है, उसका पान करते हुए 'वरुण-मुख', अर्थात् वरुण के समान आकर्षक मुख वाले 'आदित्य'-ब्रह्मचारी अपना जीवन यापन करते हैं। दिव्य-गुण-सम्पन्न ब्रह्मचारी लोग खाने-पीने में रत नहीं रहते, वे अमृत-रूप ब्रह्म के दर्शन से ही तृप्त रहते हैं ॥१॥

एव रूपम् अभिसंविशन्ति—इस रूप में ही लय हो जाता है, एतस्माद् रूपाद्—इस ही रूप से, उदेति—उद्गत (उन्नत) हो जाता है ॥३॥

स यावदादित्य पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता द्विस्तावद्दक्षिणत
उदेतोत्तरतोऽस्तमेता रुद्राणामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्य पर्येता ॥४॥

स—वह, यावद्—जबतक, जितना, आदित्य—सूर्य, पुरस्तात्—पूर्व की ओर से, उदेता—उदय होगा, पश्चाद्—पश्चिम की ओर, अस्तम् एता—अस्त होगा, द्वि—दुगना, तावत्—तबतक, उतना, (द्विस्तावत्—उससे दुगने काल तक), दक्षिणत उदेता—दक्षिण की ओर से उदय होगा, उत्तरत—उत्तर की ओर, अस्तम् एता—अस्त होगा, रुद्राणाम् एव—रुद्रों का ही, तावत्—उतना, उतने काल तक, आधिपत्यम्—शासन, स्वाराज्यम्—अपना ही सब ओर राज्य, परि+एता—प्राप्त रहेगा ॥४॥

अथ यत्तृतीयममृतं तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन
न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृत दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१॥

अथ यत् तृतीयम् अमृतम्—और जो तीसरा (इन्द्रिय—सशक्त ज्ञान और कर्म इन्द्रिय) अमृत है, तद्—उसको (का), आदित्या—१२ आदित्य या आदित्य-संज्ञक ब्रह्मचारी, उपजीवन्ति—जीवन के लिये उपयोग करते हैं, वरुणेन—वरुण (रूप), मुखेन—मुख से (साधन द्वारा), (वरुणेन मुखेन—वरुण—आकर्षक—मुख से युक्त होकर), न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति—न तो देव-गण (अन्न) खाते हैं न ही (कुछ) पीते हैं, एतद् एव अमृतम् दृष्ट्वा तृप्यन्ति—इस ही अमृत को देख कर (जान कर) तृप्त होते हैं ॥१॥

वे उसी अमृतमय-रूप में बसे रहते हैं, इसी के रूप से ही उनकी ऊर्ध्व-गति होती है ॥२॥

इस प्रकार जो अमृत के रूप को जानता है, वह आदित्यों के साथ रल-मिलकर एक हो जाता है, वरुण के समान ही आकर्षक मुख वाला हो जाता है और अमृत के दर्शन में ही तृप्त रहता है। जो अमृत के इस रूप में बस जाता है, उसकी अमृत के इसी रूप से ऊर्ध्व-गति होती है ॥३॥

पूर्व से पश्चिम में सूर्य जब तक उदय-अस्त होता रहेगा, अगर उससे दुगुने-काल तक वह दक्षिण से उदय होकर उत्तर में अस्त होता रहे, और अगर उससे भी दुगुने समय तक वह पश्चिम से उदय होकर पूर्व में अस्त होता रहे, तो उतने समय तक ऐसा व्यक्ति आदित्यों के आधिपत्य और स्वाराज्य में रहेगा ॥४॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥२॥

ते—वे (आदित्य), **एतद् एव रूपम् अभिसंविशन्ति**—इस ही रूप (अमृत) में लीन हो जाते हैं, **एतस्माद् रूपाद् उद्यन्ति**—इस ही रूप से पुन उदित (उन्नत) हो जाते हैं ॥२॥

स य एतदेवममृतं वेदादित्यानामेवैको भूत्वा वरुणेनैव मुखेनैतदेवा-
मृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥३॥

स य—वह जो, **एतत्**—इस, **एवम्**—इस प्रकार के, **अमृतम्**—अमृत को, **वेद**—जान लेता है, **आदित्यानाम् एव एक भूत्वा**—आदित्यों में ही एक होकर (उन जैसा होकर), **वरुणेन एव मुखेन**—वरुण रूप ही मुख से, **एतद् एव अमृतम् दृष्ट्वा तृप्यन्ति**—इस ही अमृत को देख कर (जान कर) तृप्त हो जाता है, **स एतद् एव रूपम् अभिसंविशति**—वह इस ही रूप में लीन (मग्न) हो जाता है, **एतस्माद् रूपाद् उदेति**—इस ही रूप से उदित (उन्नत) हो जाता है ॥३॥

स यावदादित्यो दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता द्विस्तावत्पश्चादुदेता
पुरस्तादस्तमेताऽऽदित्यानामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ॥४॥

स—वह, **यावत्**—जितना, जबतक, **आदित्य**—सूर्य, **दक्षिणत उदेता**—दक्षिण की ओर से उदय होगा, **उत्तरत अस्तम् एता**—उत्तर की ओर अस्त होगा, **द्वि तावत्**—उससे दुगना या दुगने काल तक, **पश्चाद् उदेता**—पश्चिम में उदय होगा, **पुरस्ताद् अस्तम् एता**—पूर्व की ओर अस्त होगा, **आदित्यानाम्**—आदित्यों का या आदित्य-संज्ञक ब्रह्मचारियों का, **एव**—ही,

तृतीय प्रपाठक--(नवां खंड)

इन अमृतो में जो चतुर्थ अमृत है, उसका पान करते हुए 'सोम-मुख', अर्थात् सोम के समान सौम्य-मूर्ति वाले 'मरुत्'--आजीवन-ब्रह्मचारी--अपना जीवन यापन करते हैं। देव-लोग खाने-पीने से नही, अमृत के दर्शन से तृप्त रहते हैं ॥१॥

वे उसी अमृतमय-रूप में बसे रहते हैं, इसी के रूप से ही उन की ऊर्ध्व-गति होती है ॥२॥

इस प्रकार जो अमृत के रूप को जानता है, वह मरुतो के साथ रल-मिलकर एक हो जाता है, सोम के समान ही सौम्य-मूर्ति हो जाता है और अमृत के दर्शन में ही तृप्त रहता है। जो अमृत के इस रूप में बस जाता है उसकी अमृत के इसी रूप से ऊर्ध्व-गति होती है ॥३॥

तावद्—उतना या उतने काल तक, आधिपत्यम् स्वाराज्यम्—शासन और अपना सब ओर राज्य, परि+एता—व्याप्त होगा, रहेगा ॥४॥

अथ यच्चतुर्थममृत तन्मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन
न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृत दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१॥

अथ--और, यत्—जो, चतुर्थम्—चौथा (वीर्य-उत्साह), अमृतम्—अमृत है, तत्—उसको (का), मरुत—मरुद्गण-देव, अखण्ड ब्रह्मचारी, नैष्ठिक ब्रह्मचारी, सामान्य जनता, उपजीवन्ति—जीवन के लिए उपयोग करते हैं, सोमेन मुखेन—सोमदेव के द्वारा या सोम्य मुख से युक्त, न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति—न तो देवता अन्न खाते है और न कुछ पीते हैं, एतद्—इस (वीर्य-रूप), एव—ही, अमृतम्—अमृत को, दृष्ट्वा—देखकर (जानकर), तृप्यन्ति—तृप्त हो जाते है ॥ १॥

त एतदेव रूपमभिसविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥२॥

ते एतद् एव रूपम् अभिसविशन्ति—वे (मरुत्) इस रूप मे ही लीन (मग्न) रहते हैं (और), एतस्माद् रूपात् उद्यन्ति—इस ही रूप से ही ऊपर उठते हैं, उन्नत होते हैं ॥२॥

स य एतदेवममृत वेद मरुतामेवैको भूत्वा सोमेनैव मुखेनैतदेवामृत
दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥३॥

स य—वह जो, एतद् एवम् अमृतम् वेद—इस प्रकार के इस अमृत को जान लेता है, मरुताम् एव एक भूत्वा—मरुद्-गण मे ही एक (समान) होकर,

सूर्य के पश्चिम से उदय होकर पूर्व में अस्त होने के समय की जितनी कल्पना अभी की गई, उससे अगर दुगुने समय तक वह उत्तर से उदय होकर दक्षिण में अस्त होता रहे, तो उतने काल तक ऐसा व्यक्ति मरुतों के आधिपत्य और स्वाराज्य में रहेगा ॥४॥

तृतीय प्रपाठक—(दसवां खंड)

इन अमृतों में जो पंचम अमृत है, उसका पान करते हुए 'ब्रह्म-मुख', अर्थात् ब्रह्म के समान विशाल मूर्ति वाले 'साध्य'—वह अवस्था जिसे सिद्ध करना, अपने जीवन में घटाना हमारा चरम-लक्ष्य है—अपना जीवन व्यतीत करते हैं। देव लोग खाने-पीने से नहीं, अमृत के दर्शन से तृप्त रहते हैं ॥१॥

सोमेन एव मुखेन—सोम (रूप) मुख से (युक्त), **एतद् एव अमृतम् दृष्ट्वा तृप्यति**—उस ही अमृत को देखकर तृप्त हो जाता है, **स एतद् एव रूपम् अभिसंविशति**—वह इस ही रूप में लीन (मग्न) रहता है, **एतस्माद् रूपाद्**—इस ही रूप से, **उदेति**—उदित (उन्नत) हो जाता है ॥३॥

स यावदादित्य पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेता द्विस्तावदुत्तरत उदेता
दक्षिणतोऽस्तमेता मरुतामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्य पर्येता ॥४॥

स—वह, **यावद्**—जितना, जबतक, **आदित्य**—सूर्य, **पश्चाद् उदेता**—पश्चिम दिशा से उदय होगा, **पुरस्ताद् अस्तम् एता**—पूर्व की ओर छिपेगा, **द्वि तावत्**—उससे दुगना या दुगने काल तक, **उत्तरत**—उत्तर दिशा से, **उदेता**—उगेगा, **दक्षिणत**—दक्षिण दिशा की ओर, **अस्तम् एता**—अस्त होगा, **मरुताम्**—मरुद्-देवताओं, या अखण्ड ब्रह्मचारियों का, **एव**—ही, **तावद्**—उतना या उतने काल तक, **आधिपत्यम् स्वारज्यम्**—शासन और अपना सब और राज्य, **परि+एता**—व्याप्त होगा, रहेगा ॥४॥

अथ यत्पञ्चमममृत तत्साध्या उपजीवन्ति ब्रह्मणा मुखेन
न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृत दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१॥

अथ—और, **यत्**—जो, **पञ्चमम्**—पांचवा (अन्नाद्य—भोज्य-सामग्री), **अमृतम्**—अमृत है, **तत्**—उसको (का), **साध्या**—साध्य-देव, साधना में आदर्शभूत ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय लोग (गुह्य आदेश देनेवाले), **उपजीवन्ति**—जीवन-रक्षा का आधार बनाते है, **ब्रह्मणा मुखेन**—वेद-ज्ञातृत्व से वृद्ध (शोभित) मुख से युक्त, **न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति**—न तो देवगण अन्न खाते है, न ही कुछ पीते हैं, **एतद् एव अमृतम् दृष्ट्वा तृप्यन्ति**—इस ही अमृत को देखकर तृप्त होते हैं ॥१॥

वे उसी अमृतमय-रूप में बसे रहते हैं, इसी के रूप से उनकी ऊर्ध्व-गति होती है ।।२।।

इस प्रकार जो अमृत के रूप को जानता है, वह साध्यों के साथ रल-मिलकर एक हो जाता है, ब्रह्म के समान ही विशाल-मूर्ति हो जाता है, और अमृत के दर्शन में ही तृप्त रहता है। जो अमृत के इस रूप में बस जाता है उसकी अमृत के इसी रूप से ऊर्ध्व-गति होती है ।।३।।

सूर्य के उत्तर से उदय होकर दक्षिण में अस्त होने के समय की जितनी कल्पना अभी की गई, उससे अगर दुगुने समय तक वह ऊपर से उदय होकर नीचे अस्त होता रहे, तो इतने काल तक ऐसा व्यक्ति साध्यों के आधिपत्य और स्वाराज्य में रहेगा ।।४।।

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ।।२।।

ते—वे साध्य देव, एतद् एव रूपम् अभिसंविशन्ति—इस ही (जनाद्य-अमृत) रूप में मग्न (लीन) रहते हैं, एतस्माद् रूपाद्—इस (जनाद्य) रूप से भी, उद्यन्ति—ऊपर उठ जाते हैं, उन्नत हो जाते हैं ।।२।।

स य एतदेवममृतं वेद साध्यानामेवैको भूत्वा ब्रह्मणैव मुखेनैत-
देवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ।।३।।

स य—वह जो, एतद् एवम् अमृतम्—इस इस प्रकार के अमृत को, वेद—जान लेता है, साध्यानाम् एव एक भूत्वा—साध्य-देवों (ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रियों) में ही एक (समान) होकर, ब्रह्मणा एव मुखेन—वेद-ज्योति से शोभित मुख से युक्त होकर, एतद् एव अमृतम् दृष्ट्वा तृप्यति—इस ही अमृत को देखकर तृप्त हो जाता है, स एतद् एव रूपम् अभिसंविशति—वह इस ही रूप में लीन (मग्न) हो जाता है, एतस्माद् रूपाद्—इस रूप से, उदेति—उदित (उन्नत) हो जाता है ।।३।।

स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता द्विस्तावदूर्ध्व
उदेतार्वाङस्तमेता साध्यानामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ।।४।।

स—वह, यावद्—जितना, जबतक, आदित्य—सूर्य, उत्तरत उदेता—उत्तर दिशा की ओर से उदय होगा, दक्षिणत—दक्षिण की ओर, अस्तम् एता—अस्त होगा, द्वि तावद्—उससे दुगना, ऊर्ध्व—ऊपर की ओर से, उदेता—उदय होगा, अर्वाङ्—नीचे की ओर, अस्तम् एता—अस्त होगा, साध्यानाम्—साध्य-देवों या आदर्श ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रियों का, तावत्—उतना, उतने काल तक, आधिपत्यम् स्वाराज्यम्—शासन और अपना सब ओर राज्य, परि+एता—व्याप्त रहेगा, होगा ।।४।।



वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् तथा साध्य ऋषि

(तृतीय प्रपाठक मे यह कहा गया है कि ऋक्, यजु, साम, अथर्व-वेदो के गुह्य आदेश---इन सबको तपाने से जो रस झरा, वह है--'यश', 'तेज', 'ऐश्वर्य', 'शक्ति' तथा 'अन्न'। जैसे पुष्पो से पुष्पो का रस---इत्र---उत्पन्न होता है, वैसे वेदो से ये रस निकले। ये 'अमृत' है। देव लोग खाने-पीने से नही तृप्त होते, इन पाच अमृतो का पान करते है। ब्रह्मोपनिषद् का कथन यह है कि इन पाच अमृतों का पान जो नही करते, वे तो किसी गणना मे ही नही है, परन्तु

जो करते है, वे देव कहलाते है, और उनके विकास के पाच क्रम है। जो प्रथम-अमृत, अर्थात् 'यश' का पान करते है, वे 'वसु' कहलाते है और 'अग्नि-मुख' होते है, द्वितीय-अमृत, अर्थात् 'तेज' का पान करने वाले 'रुद्र' कहलाते है और 'इन्द्र-मुख' होते है, तृतीय-अमृत, अर्थात् 'ऐश्वर्य' का पान करने वाले 'आदित्य' कहलाते है और 'वरुण-मुख' होते है, चतुर्थ-अमृत, अर्थात् 'शक्ति' का पान करने वाले 'मरुत्' कहलाते है और 'सोम-मुख' होते है, पचम-अमृत, अर्थात् 'अन्न' का पान करने वाले 'साध्य' कहलाते है और 'ब्रह्म-मुख' होते है। 'अग्नि' ससार के भौतिक-पदार्थो का प्रतिनिधि है, 'ब्रह्म' आध्यात्मिक-जगत् की अग्नि है और आध्यात्मिक-ससार का प्रतिनिधि है। 'अग्नि-मुख' वह है जिसका मुख, अर्थात् ध्यान ससार के भोग की तरफ है, 'ब्रह्म-मुख' वह है जिसका मुख, अर्थात् ध्यान ससार की तरफ नही, ब्रह्म की तरफ है। 'अग्नि-मुख' से देवो का जीवन प्रारम्भ होता है, 'ब्रह्म-मुख' पर जाकर समाप्त होता है। प्रवृत्ति से प्रारम्भ करे, निवृत्ति मे समाप्त करे—यही जीवन का ठीक मार्ग है। ससार को भोगने वाला 'अग्नि-मुख' है और उपनिषदो की परिभाषा मे 'वसु' कहलाता है, वह ससार मे 'वास' करता है अत 'वसु' है। ससार को भोग लेने के बाद त्याग देने वाला, ब्रह्म की तरफ मुख कर देने वाला 'ब्रह्म-मुख' है और उपनिषदो की परिभाषा मे 'साध्य' कहलाता है क्योकि हमारा साध्य, अर्थात् चरम-लक्ष्य ससार को भोगते रहना नही, परन्तु ससार की तरफ पीठ करके ब्रह्म की तरफ मुख कर लेना है। ससार के भोगने वाले को—'अग्नि-मुख' को—'यश' प्राप्त होता है, सब उसकी प्रशसा करते है। उपनिषत्कार का कथन है कि ससार को भोगना ही है, तो कम-से-कम ऐसा भोगो कि तुम्हारी लोग प्रशसा तो करे। अगर तुम ससार का ऐसा भोग कर रहे हो कि हर-एक तुम्हारी निन्दा करता है, तब वह भोग कैसा ? हम जो हर-एक का खून चूसकर मकान और दुकान खडी कर रहे है, जिनको हर-एक गालिया देता है—हमे ससार के भोग से यश प्राप्त नही हो रहा। अगर हमारे सामने कोई हमारी प्रशसा भी करता है, तो पीठ पीछे

निन्दा ही करता है। हमारी गणना उन लोगो मे नही है जिनका उपनिषद् मे वर्णन हो रहा है। विकसित होते-होते हम 'ब्रह्म-मुख' हो जाय—यही हमारा ध्येय है। यह अवस्था सिद्ध करना हमारा उद्देश्य है, अत इमे 'साध्य' कहा गया है। इस अवस्था मे हम 'अन्न'-रूपी पचम-अमृत का सेवन करते है। अन्न' का अर्थ है—'भोग्य'। उपनिषद् मे 'अन्न' तथा 'अन्नाद'—ये दो शब्द आते है। 'अन्न' हुआ 'भोग्य', 'अन्नाद' हुआ 'भोक्ता'। यथार्थ 'भोक्ता' तो 'ब्रह्म' है, उसके सम्मुख सारा ससार 'भोग्य' है, 'अन्न' है, वही इस सबका सेवन कर रहा है। हम भी विकसित होते-होते ऐसी अवस्था मे आ जाये, जिसमे सम्पूर्ण विश्व हमारे लिये 'अन्न' हो जाय, 'भोग्य' हो जाय। जिसके लिये सम्पूर्ण विश्व भोग्य हो जाता है, फिर वह भोगना ही छोड देता है—हम उसी वस्तु को पाने का प्रयत्न करते है जो हमारी नही होती, और तभी तक उसे पाने की व्याकुलता में रहते है जब तक उसे पा नही लेते। पा लेने के बाद उसे पाने का विचार ही जाता रहता है। 'ब्रह्म-मुख' अवस्था तक पहुचना, ससार-मात्र को 'अन्न' समझ लेना ही साध्य' अवस्था है। 'अग्नि-मुख' तथा 'ब्रह्म-मुख' अवस्थाओ के बीच की तीन अवस्थाए और है—'रुद्र', 'आदित्य' और 'मरुत्'। अस्ल मे ससार मे दो तत्त्व है—'उष्णता' तथा 'शीतलता'। ये दोनो भौतिक-ससार के तत्त्व है। मानसिक-ससार मे उष्णता को 'भय' तथा शीतलता को 'प्रेम' कहा जाता है। हमने देखा कि 'वसु' जो 'अग्नि-मुख' था, वह 'यश' का सेवन करता है, परन्तु यह जरूरी नही कि 'यश' के साथ 'तेज' भी हो। जिसमे 'तेज' होता है लोग उससे 'भय' खाते है, उससे डरते है। 'वसु' के बाद जब मनुष्य 'रुद्र' बनता है, तब वह 'इन्द्र-मुख' हो जाता है, केवल ससार को भोगता ही नही है, भोग के साथ त्यागना भी सीखता है, और इसी से उसमे 'यश' के साथ 'तेज' भी आ जाता है, परन्तु यह 'तेज' ऐसा होता है, जो 'भय' पर आश्रित होता है। विकसित होते-होते 'रुद्र' ही 'आदित्य' हो जाता है। उस समय उसका 'तेज' 'ऐश्वर्य' मे परिणत हो जाता है, और वह 'वरुण-

मुख' हो जाता है, लोग उसके ऐश्वर्य को देखकर उसे वरने लगते है। परन्तु रुद्र तथा आदित्य इन दोनो अवस्थाओ के 'यश' तथा 'तेज' 'प्रेम' पर नही, 'भय' पर आश्रित है। इनसे अगली अवस्था वह है जिसे 'मरुत्' कहा है। यह 'भय' की नही, 'प्रेम' की अवस्था है। अस्ल मे शक्ति वही है जो 'भय' की न हो, 'प्रेम' की हो, और इसीलिये इस अवस्था मे विकसित होने वाले व्यक्ति मरुत् को 'सोम-सुख'---'सोम', अर्थात् 'शान्ति' की तरफ मुख वाला, और 'शक्ति'-रूपी अमृत का सेवन करने वाला कहा है। देवो के विकास की ये पाच अवस्थाए है। इनके बाद 'सत्य-ब्रह्म' की अवस्था है।

उक्त प्रकरण मे कहा गया है कि 'वसु' का तब तक वसुओ मे आधिपत्य और स्वाराज्य रहेगा जब तक सूर्य पूर्व से उदित तथा पश्चिम मे अस्त होता रहेगा, 'रुद्र' उक्त काल से दुगुने समय तक, 'आदित्य' इस दुगुने से दुगुने समय तक, 'मरुत्' इस दुगुने से दुगुने से दुगुने समय तक और 'साध्य' इस दुगुने से दुगुने से दुगुने से दुगुने समय तक। 'दुगुने'-शब्द को इतनी बार दोहराने के स्थान मे उपनिपत्कार ने दिशाओ का क्रम बदल दिया है। पहले कहा 'सूर्य पूर्व से उदय तथा पश्चिम मे जब तक अस्त होता रहेगा'---इतने समय तक, फिर कहा---'पूर्व से उदय तथा पश्चिम मे अस्त होने के समय से दुगुने समय अगर वह दक्षिण से उदय और उत्तर मे अस्त होता रहे', फिर कहा---'अगर दक्षिण से उदय और उत्तर मे अस्त होने के दुगुने समय अगर वह पश्चिम से उदय और पूर्व मे अस्त होता रहे', फिर कहा---'अगर पश्चिम से उदय और पूर्व मे अस्त होने के दुगुने समय अगर वह उत्तर से उदय तथा दक्षिण मे अस्त होता रहे', फिर कहा---'अगर वह उत्तर से उदय तथा दक्षिण मे अस्त होने के दुगुने समय ऊपर से उदय और नीचे अस्त होता रहे'। 'दुगुने'-शब्द को बार-बार दोहराने के स्थान मे सिर्फ 'दुगुने'-शब्द को रखने के लिये उपनिपत्कार ने दिशाओ का क्रम बदल दिया है। सूर्य के इस प्रकार लगातार उदय-अस्त के क्रम को वर्णन का आधार बनाना सिर्फ अनन्त काल को दर्शाने के प्रयो-

जन से है। यह तो हमने स्पष्ट कर ही दिया है कि 'दुगुने'-शब्द को बहुत बार दोहराने के स्थान मे दिशाओ का क्रम बदल दिया गया है।)

तृतीय प्रपाठक—(ग्यारहवा खंड)

'वसु' (अग्नि-मुख), 'रुद्र' (इन्द्र-मुख), 'आदित्य' (वरुण-मुख), 'मरुत्' (सोम-मुख), 'साध्य' (ब्रह्म-मुख), इन पाचो से जो ऊपर उठ जाता है, वह उस लोक में पहुच जाता है जहा न उदय होता है, न अस्त होता है। जैसे सूर्य इकला आकाश के मध्य में स्थित है, वैसे वह व्यक्ति वसु आदि के बीच इकला, अप्रतिम दिखाई देता है। कहा भी है—॥१॥

न वहा कभी अस्त होता है, न उदय—वह 'सत्य-ब्रह्म' की अवस्था है। हे देवो! मुझे उस 'सत्य-ब्रह्म' से कभी दूर मत करो॥२॥

जो उपनिषद् के इस सत्य-ब्रह्म को जान जाता है, उसके लिये उदय-अस्त नही होता, उसके लिये तो एकदम प्रकाश-ही-प्रकाश हो जाता है॥३॥

अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता तदेष श्लोक ॥१॥

अथ—और, तत—उसके बाद, उपरोक्त साध्य-स्थिति के बाद, ऊर्ध्व—ऊचे ऊचे, उदेत्य—ऊपर उठ कर, उन्नत स्थिति को प्राप्त कर, न—नही, एव—ही, उदेता—उन्नत ही होगा, न अस्तम् एता—नही (कभी) छिपेगा, अवनत होगा, एकल—इकला, सब से निर्मुक्त, निर्द्वन्द्व, एव—ही, मध्ये—(सूर्य की तरह सब उपरोक्त ५ प्रकार के देव या ब्रह्मचारियो के) बीच मे, स्थाता—मुख्य स्थिति प्राप्त करेगा, तद् एष श्लोक—तो इसकी पुष्टि मे यह श्लोक भी है॥१॥

न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन।
देवास्तेनाहँ सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणेति ॥२॥

न वै—बिल्कुल भी नही, तत्र—वहाँ, उस स्थिति मे, न—न तो, निम्लोच—छिपता है, न—नहीं, उदियाय—उगता है, कदाचन—कभी भी, देवा—हे देवो! तेन—उस(से), अहम्—मैं, सत्येन—सत्य वचन से, सत्य रूप (अक्षर) से, मा—मत, नही, विराधिषि—असफल होऊँ, दूर होऊँ, ब्रह्मणा—ब्रह्म से, इति—यह (श्लोक) है॥२॥

न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृद्दिवा
हेवास्मै भवति य एतामेव ब्रह्मोपनिषद वेद ॥३॥

यह रहस्य ब्रह्मा ने प्रजापति को बतलाया, प्रजापति ने मनु को, मनु ने जन-साधारण को। इसी रहस्य को अरुण ने अपने ज्येष्ठ-पुत्र उद्दालक आरुणि को बतलाया ॥४॥

प्रत्येक पिता को चाहिये कि इस रहस्य को अपने ज्येष्ठ-पुत्र को बतलाए, अथवा अपने प्रणय-शील विनीत अन्तेवासी को—शिष्य को—इसका उपदेश करे ॥५॥

अन्य किसी व्यक्ति को, भले ही वह समुद्र से घिरी हुई इस पृथिवी को धन से भरकर दे दे, इस रहस्य को मत दे। यह रहस्य उससे भी बढ़कर मूल्यवान् है, बढ़कर मूल्यवान् है ॥६॥

न ह वै—निश्चय ही नहीं, अस्मै—इस ब्रह्मनिष्ठ के लिए, उदेति—(सूर्य काल-विभाग करने के लिए) उदय होता है, न—नहीं, निम्लोचति—छिपता है, सकृत्—लगातार, सर्वदा, दिवा—दिन (प्रकाश), ह एव—निश्चय ही, अस्मै—इस (ब्रह्मज्ञ) के लिए, भवति—होता है, य—जो, एताम्—इस, एवम्—इस प्रकार, ब्रह्म+उपनिषदम्—ब्रह्म-सम्बन्धी रहस्य-ज्ञान को, वेद—जान लेता है ॥३॥

तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनु प्रजाभ्य-
स्तद्धैतदुद्दालकायारुणये ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रोवाच ॥४॥

तद् ह एतत्—उस इस (ज्ञान) को, ब्रह्मा—ब्रह्मा ने, प्रजापतये—प्रजापति को, उवाच—बताया, उपदेश दिया, प्रजापति मनवे—प्रजापति ने मनु को, मनु प्रजाभ्य—मनु ने प्रजाओं (साधारण जन) को, तद् ह एतत्—उस इस ज्ञान को, उद्दालकाय—उद्दालक (नामी) को, आरुणये—अरुण के पुत्र, ज्येष्ठाय—(अपने) सब से बड़े, पुत्राय—पुत्र को, पिता—पिता (अरुण) ने, ब्रह्म—ब्रह्म को (का), प्रोवाच—उपदेश दिया ॥४॥

इद वा व तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात्प्रणाय्याय वाऽन्तेवासिने ॥५॥

इदम्—इस, वा व—ही, तत्—उस (ज्ञान) को, ज्येष्ठाय पुत्राय—बड़े पुत्र को, पिता—पिता, ब्रह्म—ब्रह्म (ब्रह्म-सम्बन्धी ज्ञान) को, प्रब्रूयात्—उपदेश करे, प्रणाय्याय—विनीत व आज्ञाकारी, वा—या, अन्तेवासिने—शिष्य को ॥५॥

नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमामद्भि परिगृहीता धनस्य
पूर्णां दद्यादेतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति ॥६॥

न—नहीं (उपदेश करे), अन्यस्मै—दूसरे, कस्मैचन—किसी को, यद्यपि—अगर, अस्मै—इस (ब्रह्मज्ञानी को), इमाम्—इस (पृथिवी) को,

तृतीय प्रपाठक--(बारहवां खड)

(गायत्री-महिमा)

यह सब-कुछ--यह सारा ससार--'गायत्री' का ही रूप है। गायत्री का वाणी से उच्चारण होता है। 'वाणी' का काम गाना तथा ससार की रक्षा करना है--'गायत्री' के उच्चारण से भी भगवान् का गुण गाया जाता है और यह उपासक की रक्षा करती है, अत. वाणी गायत्री का ही रूप है ॥१॥

वह जो गायत्री है, वह मानो यह पृथिवी ही है। जैसे पृथिवी में सारा जगत् प्रतिष्ठित है, वह सबकी रक्षा करती है, कोई इसे लाघ नही सकता, इसी प्रकार गायत्री मे उपासक की सब भावनाए निहित है, वह उपासक की रक्षा करती है, इसे कोई लाघ नही सकता ॥२॥

अद्भि--जलो (समुद्रो) मे, परिगृहीताम्--घिरी हुई (समुद्र-पर्यन्त), धनस्य--धन-दौलत की (से), पूर्णाम्--पूरी, भरी, दद्यात्--प्रदान करे, एतद्--यह (ब्रह्म-ज्ञान), एव--ही, तत--उस (पृथिवी) से, भूय--अधिक (बढकर) है, इति--यह (निर्देश है), एतद् एव तत भूय इति--यह ही उससे बढकर है (द्विरुक्ति आदरार्थ है) ॥६॥

गायत्री वा इदँ सर्वं भूत यदिद किच वाग्वै
गायत्री वाग्वा इदँ सर्वं भूत गायति च त्रायते च ॥१॥

गायत्री--गायत्री, वै--ही, इदम् सर्वम्--यह सब (जो), भूतम्--प्राणी या स्थावर भूत या (भूतकाल मे) हुआ था, यद्--जो, इदम्--यह (वर्त्तमान मे), किंच--कुछ (है), वाग् वै--वाणी (का नाम) ही, गायत्री--गायत्री (है), वाग् वै--वाणी ही, इदम् सर्वम् भूतम्--इस सब भूत (उत्पन्न) को, गायति च--गान करती (बताती) है, त्रायते च--और (इसकी) रक्षा करती है ॥१॥

या वै सा गायत्रीय वाव सा येय पृथिव्यस्याँ
हीदँ सर्व भूत प्रतिष्ठितमेतामेव नातिशीयते ॥२॥

या वै--जो ही, सा--वह, गायत्री--गायत्री है, इयम्--यह, वा च--ही, सा--वह (गायत्री), या इयम्--जो यह, पृथिवी--पृथिवी है, अस्याम् हि--इस पर ही, इदम् सर्वम् भूतम्--यह सब उत्पन्न, प्रतिष्ठितम्--स्थिति पा

ब्रह्माड में गायत्री का जो पृथिवी रूप है, वही इस पिंड में पुरुष का शरीर है—जैसे ब्रह्मांड में पृथिवी गायत्री का रूप है, वैसे पिंड में शरीर गायत्री का रूप है। जैसे शरीर में प्राण प्रतिष्ठित है, वे शरीर की रक्षा करते है, वैसे गायत्री में उपासक के प्राण प्रतिष्ठित रहते है, वह उपासक की प्राणो के सदृश रक्षा करती है, कोई इसे लांघ नहीं सकता ॥३॥

'पुरुष' में शरीर को गायत्री का रूप कहा गया है, 'अन्त -पुरुष' मे हृदय गायत्री का रूप है। हृदय के आधार पर ही तो प्राण ठहरे हुए है। जैसे प्राण हृदय को नही लाघते, उसकी रक्षा करते है, वैसे गायत्री उपासक की रक्षा करती है ॥४॥

यह गायत्री चार चरणो वाली और छ -छ अक्षरो वाली है। इस प्रकार गायत्री में २४ अक्षर होते है। ऋचा में कहा गया है—॥५॥

रहा है, आधार वाला है, एताम् एव—इस (पृथिवी) को ही, न—नही, अतिशीयते—कोई लाघ सकता, बढकर होता है ॥२॥

या वै सा पृथिवीय वाव सा यदिदमस्मिन्पुरुषे शरीर-
मस्मिन्हीमे प्राणा प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥३॥

या वै सा पृथिवी—जो ही वह पृथिवी है, इयम् वा व सा—यह ही वह है, यद् इदम्—जो यह, अस्मिन्—इस, पुरुषे—(आत्मा-युक्त जीवित) पुरुष मे, शरीरम्—शरीर है, अस्मिन् हि—इस (शरीर मे) ही, इमे—ये, प्राणा—प्राण, इन्द्रियाँ, प्रतिष्ठिता—स्थिति पाते ह, एतद् एव—इस (शरीर) को ही, न—नही, अतिशीयन्ते—लाघ पाते ह, इससे बढकर होते ह ॥३॥

यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिद वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्त पुरुषे
हृदयमस्मिन्हीमे प्राणा प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥४॥

यद् वै—जो ही, तत्—वह, पुरुषे—प्राणधारी पुरुष मे (का), शरीरम्—शरीर है, इदम्—यह, वा व—ही, तद्—वह (है), यद् इदम्—जो यह, अस्मिन्—इस, अन्त—अन्दर, पुरुषे—पुरुष मे (आत्मा के आधार पर), हृदयम्—हृदय (है), अस्मिन्—इस (हृदय) मे, हि—ही, इमे—ये, प्राणा—प्राण, इन्द्रियाँ, प्रतिष्ठिता—स्थित है, एतद्—इस (हृदय) को, एव—ही, न—नही, अतिशीयन्ते—लाँघ पाते है, बिना रह सकते है ॥४॥

सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाभ्यनूक्तम् ॥५॥

सा एषा—वह यह, चतुष्पदा—चार पाद (चरण) वाली या चार (वाणी, पृथिवी, शरीर और हृदय रूपी) पाद (आधार—नीव) वाली, षड्विधा—छह

गायत्री अपने चारो चरणो से उस परम-पुरुष के गौरव का वर्णन करती है, परन्तु उसका पूरा वर्णन नही कर पाती, वह पुरुष इससे बहुत बडा है । ससार का सब ऐश्वर्य मिलकर उसके एक चरण का गौरव प्रकट करता है, गायत्री-रूप भगवान् के अमृतमय तीन चरण तो इस ससार से परे द्यु-लोक में है ॥६॥

गायत्री जिस ब्रह्म का प्रतिपादन करती है, यह वही है जो पुरुष के वाहर आकाश है । जो पुरुष के वाहर आकाश है, जिस आकाश को हम शून्य समझे हुए है, वहा सर्वत्र ब्रह्म-ही-ब्रह्म है—इसी का गायत्री गान करती है ॥७॥ (७-८-९ मन्त्र आपस मे गुथे हुए है ।)

यही वाहर का आकाश पुरुष के भीतर—हृदयाकाश—के रूप में वर्तमान है । जैसे पुरुष के वाहर, वैसे ही उसके भीतर, हृदया-

---

(भुरिग् आदि) प्रकार (भेद) वाली या छ छ अक्षरो के चरण वाली, चौवीस अक्षरो वाली, **गायत्री**—गायत्री है, **तद् एतद्**—वह यह (तत्व), **ऋचा**—ऋग्वेद के मन्त्र ने, **अभि+उक्तम्**—कहा है, पुष्ट किया है ॥५॥

तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुष ।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृत दिवीति ॥६॥

तावान्—उतना (दृश्यमान लोक-त्रयी), **अस्य**—इस पुरुष (ब्रह्म) का, **महिमा**—वडापन, महत्व (है), **तत**—उमसे, **ज्यायान्**—वडा, वढकर है, **च**—और, **पुरुष**—पुरुष (ब्रह्म), **पाद**—पाद (चौथाई भाग), **अस्य**—इस (ब्रह्म) का (है जो), **सर्वा**—सारे, **भूतानि**—(चर-अचर) भूत, **त्रिपाद्**—तीन पाद (तीन भाग—शेष अश तो), **अस्य**—इसका, **अमृतम्**—अमर (अनश्वर), **दिवि**—द्युलोक मे और उसमे परे (हे), **इति**—यह (ऋचा ने कहा है) ॥६॥

यद्वै तद् ब्रह्मेतीद वाव तद्योऽय वहिर्धा पुरुषा-
दाकाशो यो वै स वहिर्धा पुरुषादाकाश ॥७॥

यद् वै—जो ही, **तद्**—वह (ऊपर निर्दिष्ट), **ब्रह्म इति**—ब्रह्म इस नाम वाला है, **इदम्**—यह, **वा व**—ही, **तद्**—वह (ब्रह्म) है, **य अयम्**—जो यह, **वहिर्धा**—बाहर की ओर, **पुरुषाद्**—पुरुष (शरीरधारी जीवात्मा) से, **आकाश**—आकाश (ब्रह्म, ज्योति-शून्य स्थान), (और) **य वै स**—जो ही वह, **वहिर्धा पुरुषात् आकाश**—(जीव-धारी) पुरुष मे वाहर की ओर आकाश है ॥७॥

अय वाव स योऽयमन्त पुरुष आकाशो यो वै सोऽन्त पुरुष आकाश ॥८॥

अयम्—यह, **वा व**—ही, **स**—वह (वाहर की ओर का आकाश) है, **य अयम्**—जो यह, **अन्त पुरुषे**—पुरुष के अन्दर, **आकाश**—आकाश है, **य**

काश में गायत्री द्वारा गाया जाने वाला ब्रह्म प्रकाशित हो रहा है ॥८॥

पुरुष के हृदय-प्रदेश में जो आकाश है, वह वही है, जो वाहर है। जैसे वाहर का आकाश शून्यवत् होता हुआ भी ब्रह्म से पूर्ण है, वैसे हृदयाकाश भी शून्यवत् होता हुआ भी ब्रह्म से पूर्ण है। गायत्री इसी ब्रह्म का गान करती है। यह आकाश शून्य नहीं, पूर्ण है—ब्रह्म से परिपूर्ण है, एक-रस है। जो उपासक ऐसा जानता है, वह पूर्ण तथा परिवर्तन-रहित श्री को प्राप्त करता है ॥९॥

तृतीय प्रपाठक—(तेरहवा खंड)

(शरीर मे ब्रह्म के दर्शन)

अभी जिस हृदय-रूपी मन्दिर का वर्णन किया, जिसमें ब्रह्म-देव विराजते है, उस मन्दिर के पाच देव-द्वार है। इस शरीर-रूपी पिंड में पूर्व का द्वार 'प्राण' है, चक्षु है, ब्रह्माड में पूर्व का द्वार 'आदित्य' है। चक्षु मानो शरीर के हृदय-मन्दिर में वैठी हुई ब्रह्म-शक्ति है,

---

वै स—जो ही वह, अन्त पुरुषे आकाश—(शरीरधारी) पुरुष के अन्दर आकाश है ॥८॥

अय वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशस्तदेतत्पूर्णमप्रवर्ति
पूर्णामप्रवर्तिनीं श्रियं लभते य एव वेद ॥९॥

अयम् वाव स—यह ही वह (अन्त पुरुष मे आकाश) है, य अयम्—जो यह, अन्त हृदये—हृदय के अन्दर, आकाश (ब्रह्म) है, तद् एतद्—वह यह (ब्रह्म), पूर्णम्—न्यूनता से रहित, या हृदयाकाश मे भरा (व्याप्त), अप्रवर्ति——अपरिणामी, अनश्वर, क्रिया-शून्य (शान्त) है, पूर्णाम्—पूरी (पालन करने वाली), अप्रवर्त्तिनीम्—न सरकने (जाने) वाली (स्थिर), श्रियम्—लक्ष्मी का, ब्रह्मकान्ति को, शोभा को, लभते—(वह) प्राप्त कर लेता है, य एवम् वेद—जो इस प्रकार (ब्रह्म को) जान लेता है ॥९॥

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देव-सुषय स योऽस्य
प्राङ् सुषि स प्राणस्तच्चक्षु स आदित्यस्तदेतत्तेजो-
ऽन्नाद्यमित्युपासीत तेजस्व्यन्नादो भवति य एव वेद ॥१॥

तस्य—उस, ह वै—निश्चयपूर्वक, एतस्य—इस, हृदयस्य—(ब्रह्म के अधिष्ठान) हृदय के, पञ्च—पाँच, देव-सुषय—देवो के द्वार (छिद्र) है,

जो पूर्व के द्वार से बाहर को झाक रही है, आदित्य मानो ब्रह्मांड के विशाल मन्दिर में बैठी हुई ब्रह्म-शक्ति है, जो पूर्व के द्वार से बाहर झांक रही है। ब्रह्म के 'तेज' तथा 'भोक्ता' रूप की उपासना करे। जो ऐसा जानकर ब्रह्म की उपासना करता है, वह तेजस्वी तथा भोक्ता हो जाता है ॥१॥

इस शरीर-रूपी पिंड में दक्षिण का द्वार 'व्यान' है, श्रोत्र है, ब्रह्मांड में दक्षिण का द्वार 'चन्द्रमा' है। श्रोत्र मानो शरीर के हृदय-मन्दिर में बैठी हुई ब्रह्म-शक्ति है, जो दक्षिण के द्वार से बाहर की तरफ मानो कान लगाये बैठी है, चन्द्र मानो ब्रह्मांड के विशाल मन्दिर में बैठी हुई ब्रह्म-शक्ति है, जो दक्षिण-द्वार से विश्व में चांदनी छिटका रही है। ब्रह्म के 'श्री' तथा 'यश' रूप की उपासना करे। जो ऐसा जानकर ब्रह्म की उपासना करता है, वह श्रीमान् और यशस्वी हो जाता है ॥२॥

इस शरीर-रूपी पिंड में पश्चिम का द्वार 'अपान' है, वाक् है,

स य अस्य—वह जो इसका, प्राङ—पूर्व की ओर का, सुषि—छिद्र (द्वार) है, स—वह, प्राण—प्राण है, तत् चक्षु—वह (पिण्ड में) आँख है, स आदित्य—वह (ब्रह्माण्ड में) सूर्य है, तत्—उस (प्राण-द्वार) को, तेज—तेज (अग्नि, प्रकाश), अन्नाद्यम्—भोग्य-अन्न, इति—इस (रूप में, ऐसा जानकर), उपासीत—उपासना करे, वर्ते, समझे, तेजस्वी—तेज शाली, अन्नाद—अन्न का भोक्ता (भोगने में समर्थ), भवति—हो जाता है, य एवम् वेद—जो इस प्रकार जानता है ॥१॥

अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रं स चन्द्रमास्त-
देतच्छ्रीश्च यशश्चेत्युपासीत श्रीमान्यशस्वी भवति य एवं वेद ॥२॥

अथ—और, य—जो, अस्य—इस (हृदय) का, दक्षिण—दाहिना, सुषि—छिद्र, द्वार, स—वह, व्यान—व्यान है, तत्—वह, श्रोत्रम्—(पिण्ड में) कान है, स—वह, चन्द्रमा—(ब्रह्माण्ड में) चन्द्रमा है, तद् एतत—उस इस (व्यान-द्वार) को, श्री च—लक्ष्मी, कान्ति, शोभा, यश च—और यश, इति—इस (रूप में), ऐसा (जान कर), उपासीत—उपासना करे, समझे, वर्ते, सेवन करे, श्रीमान्—लक्ष्मी (धन-दौलत) वाला, यशस्वी—कीर्तिवाला, भवति—होता है, य एवम् वेद—जो इस प्रकार जानता है ॥२॥

अथ योऽस्य प्रत्यङ् सुषिः सोऽपानः सा वाक् सोऽग्निस्तदेतद् ब्रह्मवर्चस-
मन्नाद्यमित्युपासीत ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥३॥

ब्रह्माड में पश्चिम का द्वार 'अग्नि' है। वाणी मानो शरीर के हृदय-मन्दिर में बैठी हुई ब्रह्म-शक्ति है, जो पश्चिम के द्वार से अपनी सत्ता को बखान रही है; अग्नि मानो ब्रह्माड के विशाल मन्दिर में बैठी हुई ब्रह्म-शक्ति है, जो पश्चिम के द्वार से अपने तेज को प्रकट कर रही है। ब्रह्म के 'ब्रह्मवर्चस' तथा 'भोक्तृ'-रूप की उपासना करे। जो ऐसा जानकर ब्रह्म की उपासना करता है, वह ब्रह्मवर्चसी और अन्नाद हो जाता है ॥३॥

इस शरीर-रूपी पिंड में उत्तर का द्वार 'समान' है, मन है; ब्रह्माड में उत्तर का द्वार पर्जन्य है, 'मेघ' है। मन मानो शरीर के हृदय-मन्दिर में बैठी हुई ब्रह्म-शक्ति है, जो उत्तर के द्वार से बाह्य-जगत् का चिन्तन कर रही है, पर्जन्य मानो ब्रह्माड के विशाल-मन्दिर में बैठी हुई ब्रह्म-शक्ति है, जो उत्तर के द्वार से संसार में जल-सेचन कर रही है। ब्रह्म की 'कीर्ति' तथा 'कान्ति' की उपासना करे। जो ऐसा जानकर ब्रह्म की उपासना करता है, वह कीर्तिमान् और कान्तिमान् हो जाता है ॥४॥

अथ—और, य—जो, अस्य—इस (हृदय) का, प्रत्यङ्—पश्चिम की ओर का, सुषि—द्वार, छिद्र, स—वह, अपान—अपान है, सा—वह, वाक्—(पिण्ड में) वाणी है, स—वह, अग्नि—(ब्रह्माण्ड में) अग्नि है, तद् एतत्—उस इस (अपान-द्वार) को, ब्रह्मवर्चसम्—ब्रह्म-तेज, अन्नाद्यम्—भोग्य-अन्न, इति—इस (रूप में), ऐसा (जान कर), उपासीत—उपासना करे, ब्रह्मवर्चसी—ब्रह्म-तेज से युक्त, अन्नाद—अन्न-भोग में समर्थ, भवति—होता है, य एवम् वेद—जो इस प्रकार जानता है ॥३॥

अथ योऽस्योदङ् सुषि स समानस्तन्मनः स पर्जन्यस्तदेतत्कीर्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत कीर्तिमान्व्युष्टिमान्भवति य एवं वेद ॥४॥

अथ—और, य—जो, अस्य—इसका, उदङ्—उत्तर दिशा का, सुषि—द्वार, छिद्र (है), स—वह, समान—समान है, तत्—वह, मनः—(पिण्ड में) मन है, स—वह, पर्जन्य—(ब्रह्माण्ड में) मेघ है, तद् एतत्—उस इस (समान-द्वार) को, कीर्ति च—यश, व्युष्टि च—और कान्ति (शरीर-लावण्य), इति—इस (रूप में), ऐसा (जान कर), उपासीत—उपासना करे, वर्ते, कीर्तिमान्—कीर्तिशाली, व्युष्टिमान्—शरीर-लावण्य से युक्त, भवति—होता है, य एवम् वेद—जो इस प्रकार जानता है ॥४॥

इस शरीर-रूपी पिड में ऊपर का द्वार 'उदान' है, वायु है, ब्रह्माड मे ऊपर का द्वार 'आकाश' है। वायु मानो शरीर के हृदय-मन्दिर में बैठी हुई ब्रह्म-शक्ति है, जो ऊपर के द्वार से बाह्य-जगत् से प्राण खीचती है, आकाश मानो ब्रह्मांड के विशाल-मन्दिर मे बैठी हुई ब्रह्म-शक्ति है, जो ऊपर के द्वार से विश्व मे जीवन सचार कर रही है। ब्रह्म की 'ओज' तथा 'मह' रूप में उपासना करे। जो ऐसा जानकर ब्रह्म की उपासना करता है, वह ओजस्वी तथा महिमामय अर्थात् महान् हो जाता है ॥५॥

पिड तथा ब्रह्माड मे ब्रह्म-पुरुष की ये पाच झाकिया है—ये पाच हृदय-रूपी स्वर्ग-लोक के मानो द्वारपाल है। जो स्वर्ग-लोक के द्वार-पाल इन पांच ब्रह्म-पुरुषो को उक्त प्रकार से जानता है, उसके कुल में वीर सन्तान उत्पन्न होती है। वह स्वर्ग-लोक को पा जाता है, जो स्वर्ग-लोक के द्वारपाल इन पांच ब्रह्म-पुरुषो को इस प्रकार जानता है ॥६॥

अथ योऽस्योर्ध्वं सुषि स उदान स वायु स आकाशस्तदेत-
दोजश्च महश्चेत्युपासीत ओजस्वी महस्वान्भवति य एवं वेद ॥५॥

अथ—और, य—जो, अस्य—इस (हृदय) का, ऊर्ध्व—ऊपर का, सुषि—द्वार, छिद्र (है), स—वह, उदान—उदान है, स—वह, वायु—(पिण्ड मे) वायु (वात) है, स—वह, आकाश—(ब्रह्माण्ड मे) आकाश है, तद् एतद्—उस इस (उदान-द्वार) को, ओज—शरीर-बल, च—और, मह—महिमा, च—और, इति—इस (रूप मे जान कर), उपासीत—उपासना करे, ओजस्वी—शरीर-बल से युक्त, महस्वान्—महिमामय, महान्, भवति—हो जाता है, य एवम् वेद—जो इस प्रकार जान लेता है ॥५॥

ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषा स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपा स
य एतानेव पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वे-
दास्य कुले वीरो जायते प्रतिपद्यते स्वर्गं लोकं य
एतानेव पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेद ॥६॥

ते—वे, वै—ही, एते—ये (प्राण-आदि, चक्षु-आदि, आदित्य-आदि), पञ्च—पाँचों, ब्रह्मपुरुषा—ब्रह्म-सेवक पुरुष, स्वर्गस्य लोकस्य—स्वर्ग (स्वर्ग—आनन्दमय को पहुचाने वाले) लोक के, द्वारपा—द्वारपाल है, स य—वह जो, एतान्—इन, एवम्—इस प्रकार, पञ्च—पाँच, ब्रह्मपुरुषान्—

इस पिंड और द्यु-लोकरूपी ब्रह्मांड से परे ब्रह्म-ज्योति प्रदीप्त हो रही है जो संसार की सब वस्तुओं की पृष्ठ पर चारों तरफ चमक रही है—जो सबसे ऊंचे लोकों में और जिनसे परे कोई ऊंचा नहीं है उन लोकों में भी प्रदीप्त हो रही है। वही ज्योति पुरुष के भीतर उसके हृदयाकाश में प्रकाश दे रही है। उसे प्रत्यक्ष देखना हो तो—॥७॥

देखो अपने शरीर में। उसी ज्योति की उष्णता स्पर्श से अनुभव होती है। किसी को छूने से जो जीवन की उष्णता अनुभव होती है वह उसी ब्रह्म-ज्योति के कारण है जो ब्रह्मांड तथा पिंड दोनों को

ब्रह्म-निर्देशक पुरुषों को, **स्वर्गस्य लोकस्य**—स्वर्ग लोक के, **द्वारपान्**—द्वारपाल, **वेद**—जान लेता है, **अस्य**—इस (ज्ञाता) के, **कुले**—कुल में, **वीर**—वीर (सन्तान), **जायते**—उत्पन्न होता है, **प्रतिपद्यते**—(स्वयम्) प्राप्त करता है **स्वर्गम् लोकम्**—स्वर्ग लोक को, **य**—जो, **एतान्**—इन, **एवम्**—इस प्रकार, **पञ्च**—पाँचों, **ब्रह्म-पुरुषान्**—ब्रह्म-पुरुषों (सेवकों) को, **स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्**—स्वर्ग लोक के द्वारपाल, **वेद**—जानता है ॥६॥

अथ यदत परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वत पृष्ठेषु सर्वत पृष्ठेष्वनुत्त-मेषूत्तमेषु लोकेष्विद वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्त पुरुषे ज्योतिस्तस्यैषा दृष्टि ॥७॥

अथ—और, **यद्**—जो, **अत**—यहाँ से, **पर**—परे, आगे, **दिव**—द्युलोक से, **ज्योति**—प्रकाश, लौ, **दीप्यते**—प्रदीप्त हो रही है, चमक रही है, **विश्वत**—विश्व भर के, **पृष्ठेषु**—धरातलों पर, छतों पर, ऊँचाइयों पर, **सर्वत पृष्ठेषु**—सब ओर (चारों ओर से) धरातलों पर, शिखरों पर, **उत्तमेषु**—श्रेष्ठ, बहुत ऊँचे, **अनुत्तमेषु**—जिनसे और कोई उत्तम (उन्नत, श्रेष्ठ) नहीं अर्थात् अति श्रेष्ठ या जो उत्तम (श्रेष्ठ, उन्नत) नहीं अर्थात् निकृष्ट, निम्न कोटि के, **लोकेषु**—लोकों पर, **इदम् वाव तद्**—यह ही वह (है), **यद् इदम्**—जो यह, **अस्मिन्**—इस, **अन्त पुरुषे**—(शरीरधारी) जीव-पुरुष के अन्दर, **ज्योति**—ज्योति है, **तस्य**—उस (ज्योति) की, **एषा**—यह, **दृष्टि**—देखना (प्रत्यक्ष-दर्शन) है ॥७॥

यत्रैतदस्मिञ्छरीरे सँस्पर्शेनोष्णिमान विजानाति तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैत-त्कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति तदे-तद् दृष्ट च श्रुत चेत्युपासीत चक्षुष्य श्रुतो भवति य एव वेद य एव वेद ॥८॥

यत्र—जिस समय में, **एतद्**—इसको, **अस्मिन्**—इस, **शरीरे**—शरीर में, **सस्पर्शेन**—छूने में, **उष्णिमानम्**—उष्णता (गर्मी) को, **विजानाति**—

आलोकित कर रही है। उसे सुनना हो तो सुनो कान बन्द करके—बादल की गर्ज की भांति, वृषभ के नाद की भांति, जलती हुई अग्नि की सरसराहट की भांति, यह क्या सुनाई देता है ? यह उसी की अनहद ध्वनि है। मत समझो ब्रह्म दिखाई नहीं देता, सुनाई नहीं देता। वह दीखता है, सुनाई देता है—यही समझ कर उसकी उपासना करे। वह दीखता है, सुनाई देता है—जो यह जानता है, जो यह जानता है, वह सबके लिये दर्शनीय हो जाता है और सब जगह उसकी कीर्ति सुनी जाती है ॥८॥

तृतीय प्रपाठक—(चौदहवां खंड)

(शाण्डिल्य-विद्या)

जिस ब्रह्म-ज्योति का अभी वर्णन किया, यह सब 'ब्रह्म' है। ब्रह्म की 'ज' + 'ल' + 'अन्' इस रूप में उपासना करे। 'ज' का अर्थ यह समझे कि विश्व उसी में जन्म लेता है, 'ल' से यह समझे कि यह उसी में लीन हो जाता है, 'अन्' से यह समझे कि यह उसी से अनुप्राणित

जानना है, (और) तस्य—उस (ज्योति) का, एषा—यह, श्रुति—सुनना, प्रत्यक्ष-श्रवण है, यत्र—जिस काल में, एतद्—यह, कर्णौ—कानों को, अपिगृह्य—बन्द करके, निनदम्—शोर (घोर) को (से), इव—समान, नदथु इव—(वृषभ के) नाद के समान, अग्ने इव ज्वलत (ज्वलत अग्ने इव)—प्रज्वलित अग्नि (के शोर) की तरह, उपश्रृणोति—(शब्द—अनाहत-नाद) को सुनता है, तद् एतद्—उस इस (ब्रह्म) को, दृष्टम्—चक्षु का विषय, च—और, श्रुतम् च—श्रोत्र का विषय, इति—ऐसा (मानकर), उपासीत—उपासना करे, चक्षुष्य—दर्शनीय, सशक्त आंख वाला, दूर-सूक्ष्म का द्रष्टा, श्रुत—प्रसिद्ध या श्रोत-इन्द्रिय के विषय का मर्मज्ञ, भवति—हो जाता है, य एवम् वेद—जो इस प्रकार जान लेता है, य एवम् वेद—जो इस प्रकार जानता है (द्विरुक्ति आदरार्थ तथा खण्ड समाप्ति द्योतक है) ॥८॥

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः
पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत ॥१॥

सर्वम्—सब, खलु—निश्चय से, इदम्—यह (दृश्यमान चर-अचर), ब्रह्म—ब्रह्म है, तत्—उस (ब्रह्म) को, जलान् (ज+ल+अन्)—उत्पन्न करनेवाला, स्रष्टा (ज), सबका लय (संहार) करनेवाला, संहर्ता (ल), सबका पालन-पोषण करने वाला धर्ता (अन्), इति—इस रूप में, शान्त—

हो रहा है। परन्तु 'उपासना' तक ही अपने को सीमित न रखे, 'कर्म' करे—क्योंकि पुरुष 'क्रतुमय' है—'कर्ममय' है। जिस प्रकार का इस लोक में कर्म करता है, वैसा ही यहां से चलकर वह आगे होता है। कर्म अवश्य करे ॥१॥

वह ब्रह्म-ज्योति मनोमय है, विज्ञानमय (Consciousness) है, प्राण उसका शरीर है; प्रकाश उसका रूप है; सत्य उसका संकल्प है, आकाश की व्यापकता उसका आत्मा है या वह हृदयाकाश में व्याप्त है। वह सर्व-कर्म-समर्थ है, पूर्ण-काम है, उसमें सब गन्ध है, सब रस है, यहां जो-कुछ है उस सबमें वह ज्योति पहुंची हुई है, वह वाणी-रहित है, मानापमान के भाव से रहित है ॥२॥

वही ज्योति मेरा आत्मा है, वह मेरे हृदय के अन्तराल में अन्न

शान्त-चित्त से, **उपासीत**—उपासना करे, ध्याये, **अथ खलु**—और, **क्रतुमय**—कर्ममय, कर्मशील, **पुरुष**—जीवात्मा (होता है), **यथाक्रतु**—जैसे कर्म करने-वाला, **अस्मिन्**—इस (मर्त्य-पृथिवी), **लोके**—लोक में (जीवन में), **पुरुष** (शरीररूप-पुरी में व्यापक) जीवात्मा, **भवति**—होता है, **तथा**—वैसा (उन कर्मों के अनुसार) ही, **इत**—यहाँ से, इस लोक से, **प्रेत्य**—जाकर, मरकर, **भवति**—होता है (अत), **स**—वह (जीव), **क्रतुम्**—(शुभ) कर्म को, **कुर्वीत**—करे ॥१॥

मनोमय प्राणशरीरो भारूप सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा
सर्वकाम सर्वगन्ध सर्वरस सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर. ॥२॥

मनोमय—मन (मनन-शक्ति) वाला, **प्राण-शरीर**—प्राणरूप शरीर वाला, **भा-रूप**—ज्योति स्वरूप, **सत्यसंकल्प**—सच्चे (उत्तम) संकल्प वाला, **आकाशात्मा** (आकाश+आत्मा)—हृदयाकाश में व्याप्त, या आकाश (ब्रह्म) जिसमें व्यापक रूप में विद्यमान है, **सर्वकर्मा**—सब कर्मों का अनुष्ठाता, **सर्वकाम**—सब प्रकार की कामनाओं का करनेवाला, **सर्वगन्ध**—सब पदार्थों की गन्ध लेनेवाला (आघ्राता), **सर्वरस**—सब पदार्थों का रस लेनेवाला, **सर्वम् इदम्**—इस सारे (शरीर) में, **अभि+आत्त**—चारों ओर (सब ओर) व्याप्त, **अवाकी**—वर्णनातीत, जो वाक् (वाणी) का विषय नहीं, **अनादर**—भौतिक-पदार्थों का आदर (आसक्ति, लगाव) न करनेवाला, अनासक्त ॥२॥

एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामा-
काद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या
ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्य ॥३॥

के दाने से, जौ से, सरसो से, श्यामाक से, श्यामाक के चावल से भी अणु है, और हृदय के अन्तराल में वर्तमान वही मेरी आत्म-ज्योति पृथिवी से भी विशाल है, अन्तरिक्ष से भी बड़ी है, द्यु-लोक से भी बडी है, इन सब लोको से भी बड़ी है । विश्व-भर का अन्धकारमय विशाल जड-जगत् उस चैतन्य-स्वरूप आत्म-सत्ता की एक किरण के भी सम्मुख नही टिक सकता ॥३॥

वह विश्वात्मा सर्व-कर्मा है, सर्व-काम है, सर्व-गन्ध है, सर्व-रस है, सब जगह पहुचा हुआ है, वाणी-रहित है, आदर से ऊपर है, उस पर आदर-अनादर का कोई असर नही । वही आत्मा मेरे हृदय के अन्तराल में है, वह ब्रह्म है, यहा से छूट कर मैं उसी को प्राप्त हूगा—ऐसी जिसे श्रद्धा है उसके ब्रह्म तक पहुचने में कोई सन्देह नहीं रहता—यह शाण्डिल्य ने कहा है, शाण्डिल्य ने कहा है ॥४॥

एष—यह, **मे**—मेरे, **आत्मा**—जीव आत्मा, **अन्त हृदये**—हृदय के बीच में (विद्यमान है), **अणीयान्**—अति सूक्ष्म, **व्रीहे**—चावल से, **वा**—भी, **यवाद् वा**—या जौ से, **सर्षपाद् वा**—या सरसो के बीज से, **श्यामाकाद् वा**—या सवाई अन्न से, **श्यामाक-तण्डुलाद् वा**—या सवाई के चावल से, **एष**—यह, **मे**—मेरे, **आत्मा**—व्यापक ब्रह्म, **अन्त हृदये**—हृदयाकाश मे, **ज्यायान्**—अधिक बडा (श्रेष्ठ), **पृथिव्या**—पृथिवी से, **ज्यायान्**—अधिक बडा, **अन्तरिक्षात्**—अन्तरिक्ष से, **ज्यायान्**—अधिक बडा, **दिव**—द्युलोक से, **ज्यायान्**—अधिक बडा, **एभ्य**—इन, **लोकेभ्य**—लोको से (मिलकर भी ये तीनों लोक मेरे आत्मा में व्यापक आत्मा (ब्रह्म) से छोटे है, क्योकि ये ससीम एव जड है, वह असीम एव चित् (चेतन) और आनन्दस्वरूप है) ॥३॥

सर्वकर्मा सर्वकाम सर्वगन्ध सर्वरस सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष म आत्माऽन्तर्हृदय एतद्ब्रह्मैतमित प्रेत्याभिसभवितास्मीति । यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्तीति ह स्माह शाण्डिल्य शाण्डिल्य ॥४॥

सर्वकर्मा—(वह ब्रह्म भी) सब (सृष्टि की रचना आदि) कर्म करने वाला, **सर्वकाम**—पूर्णकाम, **सर्वगन्ध**—सब गन्ध उसमे ही है, **सर्वरस**—सम्पूर्णतया रस (आनन्द) मय, पूर्णानन्द, **सर्वम् इदम्**—इस सब (चराचर जगत् व जीवात्मा) को (मे), **अभ्यात्त**—सब ओर से प्राप्त, व्यापक, **अवाकी**—वाणी की पहुच से परे, वर्णनातीत, **अनादर**—आदर (पक्षपात या आसक्ति) से रहित, निष्पक्ष, एव निरासक्त, **एष आत्मा**—यह परमात्मा ही, **मे**—मेरे, **अन्त हृदये**—

तृतीय प्रपाठक—(पन्द्रहवा खंड)
(प्राणों का संयम ही अक्षय-कोश है)

एक अक्षय-कोश है, मानो खजाने की एक पिटारी है, जिसका अन्तरिक्ष उदर, अर्थात् पेट है, भूमि पैर है। यह पिटारी कभी जीर्ण नहीं होती, पुरानी नही होती। वह इतना बडा कोश है कि चारो दिशाए उसके चार कोने हैं, द्यु-लोक उसका ऊपर का छिद्र है, यह कोश सब धनो का आधान-स्थान है। इस विशाल-कोश में यह विश्व, अर्थात् यह चराचर-जगत्, श्री, अर्थात् धन के रूप से पडा हुआ है ॥१॥

इस विश्व-पिटारी की पूर्व-दिशा यज्ञ-यागादि हैं, दक्षिण-दिशा

हृदय (मे स्थित मुझ आत्मा) के अन्दर (विराजमान) है, एतद्—यह, ब्रह्म—सब से बडा, परमात्मा है, एतम्—इस ब्रह्म रूप आत्मा (परमात्मा) को, इत—यहाँ से, प्रेत्य—मरकर, परलोक मे, अभिसम्भवितास्मि—पा लूगा, उसमे मग्न हो जाऊँगा, इति—यह (विचार), यस्य—जिस (उपासक का), स्याद्—होवे, अद्धा—यथार्थ, वस्तुत, (और) न—नही, विचिकित्सा—सन्देह, अस्ति—है, इति—यह, ह स्म आह—कहता है, कहा है, शाण्डिल्य—शाण्डिल्य (ऋषि) ने ॥१४॥

अन्तरिक्षोदर कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति दिशो ह्यस्य स्रक्तयो द्यौ-
रस्योत्तर बिलं स एष कोशो वसुधानस्तस्मिन्विश्वमिदं श्रितम् ॥१॥

अन्तरिक्ष+उदर—अन्तरिक्ष रूप उदर (मध्य भाग) वाला (विशाल), कोश—(ससार-रूप, ब्रह्माण्ड-रूप) कोश (खजाना, पिटारी, सन्दूक) है, भूमिबुध्न—पृथिवी (जिसका) मूल (पाद) है, आधार (सन्दूक का निचला हिस्सा) है, न—नही, जीर्यति—(अनादि प्रवाह से) क्षीण होता है, कम पडता है, उतना ही रहता है, दिश हि—दिशाये ही, अस्य—इस कोश (पिटारी) की, स्रक्तय—कोण (अर्थात् चारो ओर के आवरण-भाग) है, द्यौ—द्युलोक, अस्य—इसका, उत्तरम्—ऊपर का, बिलम्—छेद (जिससे कुछ निकाला जा सके), स एष कोश—वह यह कोश (पिटारा), वसुधान—वसुओ-धनो का धारण करनेवाला या वसुओं-आठो वसु आदि निवास-स्थानो को अपने अन्दर धारण करनेवाला, तस्मिन्—उस कोश (ब्रह्माण्ड) मे ही, विश्वम्—सकल-जगत्, इदम्—यह, श्रितम्—आश्रित है, स्थित है ॥१॥

तस्य प्राची दिग्जुहूर्नाम सहमाना नाम दक्षिणा राज्ञी नाम प्रतीची
सुभूता नामोदीची तासा वायुर्वत्स स य एतमेव वायु दिशा वत्स वेद
न पुत्ररोदं रोदिति। सोऽहमेतमेव वायु दिशा वत्स वेद मा पुत्ररोदं रुदम् ॥२॥

द्वन्द्वो का सहन है, पश्चिम-दिशा राज्य-पराक्रम आदि है, उत्तर-दिशा शोभा-सुन्दरता है। इन दिशाओ का पुत्र वायु है—प्राण है, अर्थात् इस अक्षय-कोश की सब से अमूल्य-निधि प्राण-शक्ति है। जो इस प्रकार दिशाओ के पुत्र वायु को—प्राण को—जानता है, वह पुत्र-वियोग होने पर भी आसू नही बहाता। सो, मै दिशाओ के वत्स 'वायु' को—प्राण को—जानता हू, इसलिये मै पुत्र-वियोग के शोक से आँसू नही बहाता ॥२॥

(इस विश्व-कोश की सब निधियो से अमूल्य-निधि पुत्र है, परन्तु पुत्र से भी अमूल्य-निधि प्राण है, सयम है, प्राण पर काबू पा जाना है। मैने वह पा लिया है अत मेरे पास निधियो की निधि, कोशो का कोश है—अक्षय-कोश या खजाने की पिटारी पा जाने का यही आशय है।)

मै इस साधन से, इस साधन से और इस साधन से—सब साधनो से—'अक्षय-कोश' को प्राप्त करू, सब साधनो से 'प्राण' को

तस्य—उस (ब्रह्माण्ड-कोष) की, **प्राची**—पूर्व, **दिग्**—दिशा, पार्श्व, **जुहू**—यज्ञ-हवन (कर्म-काण्ड), **नाम**—नामवाली है (यज्ञ-हवन आदि उस कोश के पूर्वी-पार्श्व है), **सहमाना**—सहन-शीलता, तप, **नाम**—नामवाली, **दक्षिणा**—दक्षिण-दिशा (पार्श्व) है, **राज्ञी**—ईश्वरभाव, नियन्त्रण, **नाम**—नामवाली, **प्रतीची**—पश्चिम (दिशा-पार्श्व) है, **सुभूता**—सुन्दरता, साधुतया रचना, **नाम**—नामवाली, **उदीची**—उत्तर (दिशा-पार्श्व) है, **तासाम्**—उन दिशाओ का, **वायु**—वायु (प्राण, जीवात्मा), **वत्स**—प्रिय बछडा (दोग्धा-भोक्ता) है, **स य**—वह जो, **एतम्**—इस, **एवम्**—इस प्रकार (के), **वायुम्**—वायु (प्राण) को, **दिशाम्**—(जहू आदि) दिशाओ का, **वत्सम्**—प्रिय-बछडा, **वेद**—जान जाता है, **न**—नही, **पुत्ररोदम्**—पुत्र (के अभाव, या दुर्विनीत होने) का रोना, **रोदिति**—रोता है, दुख मनाता है (उसे योग्य पुत्र का अभाव कभी नही होता), **स अहम्**—(उपदेष्टा ऋषि कहता है) उस मैने, **एतम् एवम् दिशाम् वत्सम्**—इस, इस प्रकार के दिशाओ के वत्स को, **वेद**—जान लिया है (इसलिये मैने), **मा**—मत, नही, **पुत्ररोदम्**—योग्य पुत्र के अभाव का रोना, **रुदम्**—रोया (दुखी हुआ) ॥२॥

अरिष्ट कोश प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। प्राण प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। भू प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। भुव प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। स्व प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना ॥३॥

प्राप्त करू, सब साधनो से 'भू' को प्राप्त करूं, सब साधनो से 'भुव' को प्राप्त करू, सब साधनो से 'स्व.' को प्राप्त करू ॥३॥

मैंने जो यह कहा कि 'प्राण' को प्राप्त करू, यह इसलिये कहा क्योकि ये सब वस्तु-जात प्राण ही है—इसलिये विश्व के अक्षय-कोश में जो कुछ है, वह सब मै प्राप्त करूं ॥४॥

मैंने जो यह कहा कि 'भू' को प्राप्त करू, इसका यह अभिप्राय है कि मै विश्व-कोश में श्री-रूप से पड़े हुए पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यु-लोक को प्राप्त करू ॥५॥

अरिष्टम्—न नश्वर, विना अपना अपघात किये, कोशम्—इस जगती-कोश को, प्रपद्ये—प्राप्त होऊँ, अमुना-अमुना-अमुना—इस-इस-इस (साधन) से, प्रत्येक उपाय से, प्राणम्—प्राण-शक्ति (जीवन-शक्ति) को, प्रपद्ये—प्राप्त करू, अमुना-अमुना-अमुना—प्रत्येक सम्भव 'अरिष्ट' उपाय से, भू—'भू' (आगे निर्दिष्ट) को, प्रपद्ये—प्राप्त होऊ, अमुना-अमुना-अमुना—प्रत्येक सभव 'अरिष्ट' साधन से, भुव—'भुव' (आगे व्याख्यात) को, प्रपद्ये—प्राप्त करू, अमुना-अमुना-अमुना—प्रत्येक सभव 'अरिष्ट' साधन से, स्व—'स्व' (आगे व्याख्यात) को, प्रपद्ये—प्राप्त होऊ, अमुना-अमुना-अमुना—प्रत्येक सभव अरिष्ट उपाय से ॥३॥

स यदवोच प्राण प्रपद्य इति, प्राणो वा इदँ
सर्वं भूत, यदिद किंच तमेव तत्प्रापत्सि ॥४॥

स—वह, उस (मैंने), यत्—जो, अवोचम्—कहा, प्राणम् प्रपद्ये—जीवन-शक्ति को प्राप्त होऊ, इति—यह, (उसका तात्पर्य यह है कि) प्राण वै—प्राण ही, इदम् सर्वम् भूतम् यद् इदम् किंच—यह सब उत्पन्न चर-अचर भूत है और भी यह जो कुछ है, तम् एव—उस (प्राण) को ही, तत्—उस (निर्दिष्ट रूप वाले) को, प्रापत्सि—प्राप्त हुआ हू–प्राप्त करूँ (यह मेरा उस वाक्य से अभिप्राय था) ॥४॥

अथ यदवोच भू प्रपद्य इति, पृथिवीं प्रपद्ये-
ऽन्तरिक्ष प्रपद्ये दिव प्रपद्य इत्येव तदवोचम् ॥५॥

अथ—और, यद् अवोचम्—जो मैने कहा था, भू प्रपद्ये—'भू' को प्राप्त करूँ, इति—यह (वाक्य), पृथिवीम् प्रपद्ये, अन्तरिक्षम् प्रपद्ये, दिवम् प्रपद्ये—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु (इन तीनो) लोको को प्राप्त करूँ, इति एव—उस (अभिप्राय मे–अर्थ मे) ही, तद्—वह (वाक्य), अवोचम्—कहा था ॥५॥

मैंने जो यह कहा कि 'भुव' को प्राप्त करू, इसका यह अभिप्राय है कि मैं विश्व-कोश मे श्री-रूप से पड़े हुए अग्नि, वायु तथा आदित्य को प्राप्त करू ॥६॥

मैंने जो यह कहा कि 'स्व.' को प्राप्त करू, इसका यह अभिप्राय है कि मैं विश्व-कोश मे श्री-रूप से पड़े हुए ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद को प्राप्त करू ॥७॥

तृतीय प्रपाठक---(सोलहवां खंड)

(जीवन की यज्ञ-रूप कल्पना द्वारा आमरण-ब्रह्मचर्य का विचार, १६-१७ खड)

सोम-याग के तीन समय होते हैं, प्रात -मध्य-तृतीय । एक-एक समय को 'सवन' कहते है, 'प्रात -सवन'—'माध्यन्दिन-सवन'—'तृतीत-सवन' । प्रातः सवन में २४ अक्षरो का 'गायत्री', माध्यन्दिन सवन मे ४४ अक्षरो का 'त्रिष्टुप्' और तृतीय-सवन में ४८ अक्षरो का 'जगती' छन्द प्रयुक्त होता है । इन तीनो सवनो के देवता क्रमश 'वसु'-'रुद्र'-'आदित्य' है ।

इस खंड मे सोम-याग के इस रूप को जीवन पर घटाया गया

अथ यदवोच भुव प्रपद्य इत्यग्नि प्रपद्ये वायु
प्रपद्य आदित्य प्रपद्य इत्येव तदवोचम् ॥६॥

अथ—और, यद् अवोचम्—जो मैंने कहा था (कि), भुव प्रपद्ये—'भुव' को प्राप्त करूँ, इति—यह (वाक्य), अग्निम् प्रपद्ये, वायुम् प्रपद्ये, आदित्यम् प्रपद्ये—(पूर्वोक्त लोको के अधिपति) अग्नि-वायु-आदित्य को प्राप्त होऊँ, इति एव—इस (अर्थ मे) ही, तद् अवोचम्—वह (वचन) कहा था ॥६॥

अथ यदवोच स्व. प्रपद्य इति । ऋग्वेद प्रपद्ये यजुर्वेद
प्रपद्ये सामवेद प्रपद्य इत्येव तदवोच तदवोचम् ॥७॥

अथ—और, यद् अवोचम्—जो मैंने कहा था (कि), स्व प्रपद्ये—'स्व' को प्राप्त होऊँ, इति—यह (वाक्य), ऋग्वेदम् प्रपद्ये, यजुर्वेदम् प्रपद्ये, सामवेदम् प्रपद्ये—(पूर्वोक्त अग्नि आदि देवर्षियो द्वारा प्राप्त) ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेद (त्रयी विद्या रूप चारो वेदो) को प्राप्त करूँ—जान जाऊँ, इति एव—इस (अर्थ में) ही, तद् अवोचम्—वह (वचन) कहा था, तद् अवोचम्—वह (वचन) कहा था (द्विरुक्ति खण्ड-समाप्ति द्योतक है)॥७॥

है। यह जीवन मानो सोम-याग है। 'वसु-ब्रह्मचर्य' प्रातः-सवन, है, जीवन के प्रथम २४ वर्ष मानो सोम-याग में पढ़ी जाने वाली गायत्री के २४ अक्षर हैं। 'रुद्र-ब्रह्मचर्य' माध्यन्दिन-सवन है; जीवन के ४४ वर्ष मानो सोम-याग में पढ़े जाने वाले त्रिष्टुप् के ४४ अक्षर हैं। 'आदित्य-ब्रह्मचर्य' तृतीय-सवन है, जीवन के ४८ वर्ष मानो सोम-याग में पढ़ी जाने वाली जगती के ४८ अक्षर हैं। बाह्य यज्ञ-यागादि में लिप्त मानव-समाज को सम्बोधन करते हुए ऋषि कहते हैं —

यह पुरुष ही मानो एक यज्ञ हो रहा है। इसके जीवन के जो प्रथम २४ वर्ष हैं, वे मानो यज्ञ का प्रातः-सवन है। यज्ञ तथा मनुष्य-जीवन की तुलना करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार गायत्री के २४ अक्षर हैं, यज्ञ में गायत्री छन्द का सवन प्रातःकाल होता है, इस सवन का देवता वसु है, इसी प्रकार पुरुष के जीवन-रूपी यज्ञ के भी जो पहले २४ वर्ष हैं, वे मानो गायत्री के २४ अक्षर हैं, पुरुष के जीवन का प्रथम-भाग, अर्थात् उसके पहले २४ वर्षों का ब्रह्मचर्य का काल गायत्री का प्रातःकाल होने वाला सवन है, जैसे गायत्री के प्रातःसवन का देवता वसु है वैसे इस २४ वर्ष के ब्रह्मचर्य का अधिष्ठाता वसु-ब्रह्मचारी है। वसु और प्राण एक ही बात है, वसु ब्रह्मचारी प्राणों का नियमन करता है। प्राण को वसु इसलिये कहते हैं क्योंकि प्राणों के कारण ही तो सब जीव-धारियों का वास है ॥१॥

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनं चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवो-ऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदं सर्वं वासयन्ति ॥१॥

पुरुषः—पुरुष (मनुष्य-जीवन), वाव—भी, यज्ञः—(एक प्रकार का) यज्ञ (सोम-याग) है, तस्य—उस (सोम-यागरूपी-मनुष्य-जीवन) के, यानि—जो, चतुर्विंशति—(पहले के) चौबीस, वर्षाणि—वर्ष हैं, तत्—वह, प्रातःसवनम् (सोम-याग का) प्रातःकाल का सवन है, चतुर्विंशति+अक्षरा—चौबीस अक्षरों वाली, गायत्री—गायत्री (नामक) छन्द है, गायत्रम्—गायत्री-छन्द में उपनिबद्ध—मन्त्र-प्रधान, प्रातःसवनम्—प्रातःसवन है, तद् अस्य—सो इस (प्रातःसवन रूप जीवन-यज्ञ) के (में), वसवः—वसु-देवता या वसुसंज्ञक ब्रह्मचारी, अन्वायत्ताः—सम्बन्ध रखते हैं, प्राणाः वाव—प्राण (प्राणों का

अगर २४ वर्ष के ब्रह्मचर्य की अवस्था में, इसके ब्रह्मचर्य में कोई बाधा उपस्थित करे, तो वह ब्रह्मचारी अपने प्राणों तथा वसु-रूप अपने ब्रह्मचर्य के सकल्प को सम्बोधन करके कहे, हे प्राणो! हे वसुओ! मैंने वसु-ब्रह्मचर्य धारण करने का निश्चय किया था, किन्तु यह तो मेरा प्रात -सवन था, आप मुझे इस योग्य बनायें कि मैं माध्यन्दिन-सवन तक अपने सकल्प का विस्तार कर सकूं, रुद्र-ब्रह्मचारी बन सकूं, मेरा यह जीवन-यज्ञ प्राणरूप वसु-ब्रह्मचर्य तक पहुचकर ही लोप न हो जाय। इस प्रकार के सकल्प से वह ऊपर उठ जाता है, मानसिक विकार से छूट जाता है ॥२॥

पुरुष के जो ४४ वर्ष हैं, वे मानो यज्ञ का माध्यन्दिन-सवन हैं। यज्ञ में त्रिष्टुप् के ४४ अक्षर होते हैं, त्रिष्टुप् छन्द का सवन मध्य-

---

पर्याय) ही, वसव —वसु हैं, हि—क्योंकि, एते—ये (प्राण), इदम् सर्वम्—इन सब को, वासयन्ति—बसाते हैं, निवास देते हैं ॥१॥

त चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा वसव इद
मे प्रात सवन माध्यन्दिन्ँ सवनमनुसतनुतेति माऽह प्राणाना
वसूना मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥२॥

तम्—उस (पुरुष या वसु-सज्ञक ब्रह्मचारी) को, चेत्—अगर, एतस्मिन्—इस, वयसि—आयु में, किंचिद्—कुछ भी, कोई भी, उपतपेत्—सतावे, विघ्न डाले, स —वह (पुरुष या ब्रह्मचारी), ब्रूयात्—कहे, प्राणा वसव —प्राणरूपी वसु, इदम्—इस, मे—मेरे, प्रात सवनम्—प्रात सवन को, चौबीस वर्षों को, माध्यमन्दिनम् सवनम्—माध्यन्दिन-सवन तक (मे), अनुसन्तनुत—अनुस्यूत (बद्ध) कर दे, मिला दे, इति—यह (कहे), मा—नहीं, अहम्—मैं, प्राणानाम् वसूनाम्—प्राण-सज्ञक वसुओं के, मध्ये—बीच में, यज्ञ —जीवन-यज्ञ (को), विलोप्सीय—लुप्त करूँ, नष्ट करूँ, इति—ऐसा (कहकर), उद्—उन्नत, ह एव—निश्चय ही, तत —उस (उपताप, विघ्न-बाधा) से, एति—प्राप्त करता है, (उद् एति—उस ताप से ऊपर उठ जाता है, सकट-मुक्त हो जाता है), अगद —नीरोग, बाधा-रहित, ह—अवश्यमेव, भवति—हो जाता है ॥२॥

अथ यानि चतुश्चत्वारिँशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिन्ँ सवन
चतुश्चत्वारिँशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभ माध्यन्दिन्ँ सवन
तदस्य रुद्रा अन्वायत्ता प्राणा वाव रुद्रा एते हीद्ँ सर्व्ँ रोदयन्ति ॥३॥

अथ—और, यानि—जो, चतुश्चत्वारिंशद्—चवालीस, वर्षाणि—

दिन में होता है, इस सवन का देवता रुद्र है। पुरुष के ४४ वर्ष त्रिष्टुप् के ४४ अक्षर हैं, आयु के द्वितीय-काल का ब्रह्मचर्य त्रिष्टुप् का मध्य-दिन का सवन है, जैसे त्रिष्टुप् के माध्यन्दिन-सवन का देवता रुद्र है, वैसे पुरुष की आयु के द्वितीय-भाग के इस ४४ वर्ष के ब्रह्मचर्य का अधिष्ठाता रुद्र-ब्रह्मचारी है। रुद्र और प्राण एक ही बात है, रुद्र-ब्रह्मचारी प्राणो को इतना वश में करता है मानो उन्हें रुला देता है। प्राण को रुद्र इसलिये कहते है क्योकि ये ही जब चल देते है, तब सब रोने लगते है ॥३॥

अगर ४४ वर्ष के ब्रह्मचर्य की अवस्था में इसके ब्रह्मचर्य में कोई बाधा उपस्थित करे, तो वह ब्रह्मचारी अपने प्राणो तथा रुद्र-रूप अपने ब्रह्मचर्य के सकल्प को सम्बोधन करके कहे, हे प्राणो! हे रुद्रो! मैने रुद्र-ब्रह्मचर्य धारण करने का निश्चय किया था, किन्तु यह तो मेरा माध्यन्दिन-सवन था, आप मुझे इस योग्य बनायें कि मै तृतीय-सवन तक अपने सकल्प का विस्तार कर सकू, आदित्य-ब्रह्मचारी बन सकू, मेरा यह जीवन-यज्ञ प्राण-रूप रुद्र-ब्रह्मचर्य तक पहुच कर ही लोप न हो

(जीवन के) वर्ष है, तत्—वह, माध्यन्दिनम् सवनम्—(इस जीवन-यज्ञ—पुरुष-आयु का) दिन के मध्य मे होने वाला सोम-याग के सवन के समान है, चतुश्चत्वारिंशद्+अक्षरा—चवालीस अक्षरो वाला, त्रिष्टुभ्—त्रिष्टुभ्-छन्द है, त्रैष्टुभम्—त्रिष्टुभ्-छन्द वाले मन्त्रों से युक्त, माध्यन्दिनम् सवनम्—माध्यन्दिन सवन (होता है), तद्—सो, अस्य—उस (माध्यन्दिन सवन रूप जीवन-यज्ञ) के (मे), रुद्रा—ग्यारह रुद्र देवता या रुद्र-सज्ञक ब्रह्मचारी, अन्वायत्ता—सम्बन्धित है, प्राणा वाव रुद्रा—प्राणो का नाम ही रुद्र है (रुद्र शब्द का अर्थ प्राण है), हि—क्योंकि, एते—ये (प्राण) ही, इदम् सर्वम्—इस सब (प्राणि-जगत्) को, रोदयन्ति—(शरीर से निकलते समय) रुलाते है ॥३॥

त चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा रुद्रा इद मे माध्यन्दिनँ सवन तृतीयसवनमनुसतनुतेति माऽह प्राणाना रुद्राणा मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥४॥

तम्—उस (पुरुष या रुद्र-सज्ञक ब्रह्मचारी) को, चेत्—अगर, एतस्मिन् वयसि—इस आयु (के भाग) मे, किंचित्—कुछ, कोई, उपतपेत्—पीड़ा देवे, विघ्न डाले, स ब्रूयात्—वह कहे, प्राणा रुद्रा—रुद्र-नामी प्राण, इदम् मे माध्यन्दिनम् सवनम्—इस मेरे माध्यन्दिन-सवन को, चवालीस वर्षो को, तृतीय-

जाय। इस प्रकार के सकल्प से वह ऊपर उठ जाता है, मानसिक-विकार से छूट जाता है ॥४॥

पुरुष के जो ४८ वर्ष है, वे मानो यज्ञ का तृतीय-सवन है। यज्ञ में जगती-छन्द के ४८ अक्षर होते है, जगती-छन्द का सवन तृतीय-काल में होता है, इस तृतीय-काल के सवन का देवता आदित्य है। पुरुष के ४८ वर्ष जगती के ४८ अक्षर है, आयु के तृतीय भाग का ब्रह्मचर्य जगती का सवन है, जैसे जगती-छन्द के तृतीय-सवन का देवता आदित्य है, वैसे पुरुष की आयु के तृतीय-भाग के इस ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्य का अधिष्ठाता आदित्य ब्रह्मचारी है। आदित्य और प्राण एक ही बात है, आदित्य-ब्रह्मचारी के प्राण सूर्य की भाति शुद्ध तथा नियमित होते है। प्राण को आदित्य इसलिये कहते है क्योकि जैसे आदित्य सब को लिये हुए है, पकडे हुए है, वैसे प्राण भी शरीर की सब इन्द्रियो को लिये हुए है ॥५॥

सवनम्—तृतीय-सवन तक, अनुसतनुत—अनुस्यूत (सवद्ध) कर दे, पहुचा दे (ये प्राण मेरा साथ न छोडें), इति—यह (कहे), मा—नही, अहम्—मैं, प्राणानाम् रुद्राणाम्—रुद्र नामी प्राणो के (होते हुए), मध्ये—बीच मे ही, यज्ञ विलोप्सीय—अपने जीवन-यज्ञ को नष्ट करूँ, इति—ऐसा (कहने पर), ह एव—निश्चय ही, तत—उस (विघ्न-बाधा) से, उद् एति—ऊपर उठ जाता है, सकट-मुक्त हो जाता है, अगद ह भवति—अवश्यमेव नीरोग व बाधा-रहित हो जाता है ॥४॥

अथ यान्यष्टाचत्वारिँ शद्वर्षाणि तत्तृतीयसवनमष्टा-
चत्वारिँ शदक्षरा जगती जागत तृतीयसवन तदस्यादित्या
अन्वायत्ता प्राणा वावाऽऽदित्या एते हीद ँ सर्वमाददते ॥५॥

अथ—और, यानि—जो, अष्टाचत्वारिंशद्—अडतालीस, वर्षाणि—(जीवन, पुरुष-आयु के) वर्ष है, तत्—वह, तृतीय-सवनम्—तृतीय-सवन के समान है, अष्टाचत्वारिंशद्+अक्षरा—अडतालीस अक्षरो वाला, जगती—जगती-छन्द है, जागतम्—जगती-छन्द के मत्रों से युक्त, तृतीय-सवनम्—तृतीय-सवन है, तद्—तो, अस्य—इस (तृतीय-सवन रूपी जीवन-यज्ञ–पुरुष-आयु) के (मे), आदित्या—बारह आदित्य या आदित्य-सज्ञक ब्रह्मचारी, अन्वायत्ता—सम्बद्ध है, प्राणा वा व आदित्या—प्राण ही आदित्य है, प्राणो का नाम ही आदित्य है, हि—क्योकि, एते—ये (आदित्य-नामी प्राण), इदम् सर्वम्—इस सारे (प्राणि-जगत्) को, आददते—ले लेते है, आश्रय देते है, अपनाते है ॥५॥

अगर ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्य की अवस्था में इसके ब्रह्मचर्य में कोई बाधा उपस्थित करे, तो वह ब्रह्मचारी अपने प्राणो तथा आदित्य-रूप अपने ब्रह्मचर्य के सकल्प को सम्बोधित करके कहे, हे प्राणो! हे आदित्यो! मैने आदित्य-ब्रह्मचर्य धारण करने का निश्चय किया था, किन्तु यह तो मेरा तृतीय-सवन था, आप मुझे इस योग्य बनायें कि मै आयु पर्यन्त इस सकल्प का विस्तार कर सकू, आमरण ब्रह्मचारी रह सकू, मेरा यह जीवन-यज्ञ प्राण-रूप आदित्य-ब्रह्मचर्य तक पहुच कर ही लोप न हो जाय। इस प्रकार के सकल्प से वह ऊपर उठ जाता है, मानसिक-विकार से छूट जाता है ॥६॥

यह कथानक चला आ रहा है कि इतरा के पुत्र महिदास ने यह सब जानते हुए कहा था—ऐ मेरे ब्रह्मचर्य में उपस्थित होने वाले विघ्न! तू मुझे क्यो सता रहा है? मै तेरी चोट से हर्गिज नहीं डिगूगा।

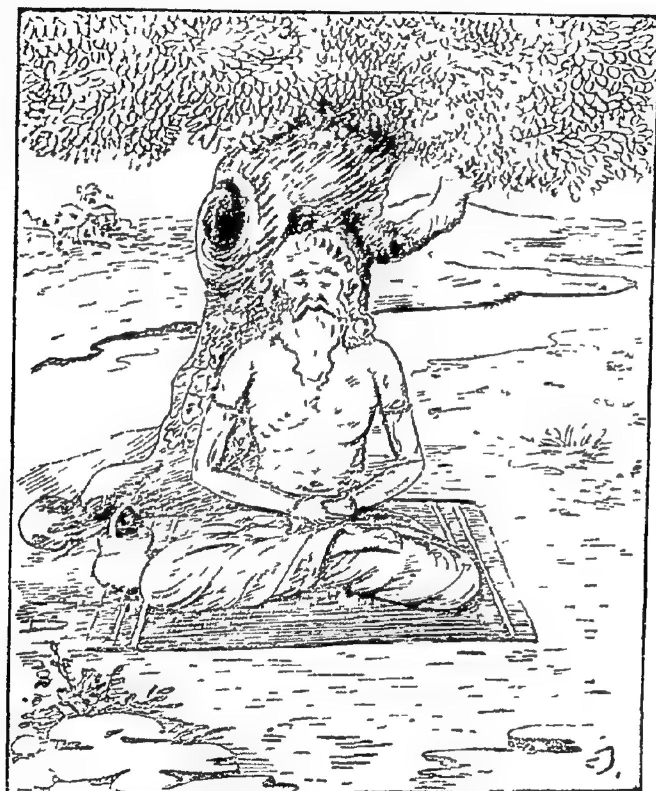
त चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा आदित्या
इद मे तृतीयसवनमायुरनुसतनुतेति माऽह प्राणानामादित्याना
मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति ॥६॥

तम्—उस (पुरुष या आदित्य-सज्ञक ब्रह्मचारी) को, चेद्—अगर, एतस्मिन् वयसि—इस (अड़तालीस वर्ष की) आयु मे, किंचिद्—कोई भी, कुछ भी, उपतपेत्—पीड़ा देवे, विघ्न डाले, स ब्रूयात्—वह कहे, प्राणा आदित्या—आदित्य नामी प्राण, इदम्—इस, मे—मेरे, तृतीयसवनम्—तृतीय-सवन को, अड़तालीस वर्षों को, आयु—(मनुष्य की पूर्ण) आयु तक, अनुसतनुत—सम्बद्ध करे, इति—यह (कहे), मा अहम्—नहीं मै, प्राणानाम् आदित्यानाम्—आदित्य-नामी प्राणो के (होते हुए), मध्ये—बीच मे ही, यज्ञ—जीवन-रूप यज्ञ को, विलोप्सीय—नष्ट करूँ, इति—ऐसा (कहने पर), ह एव—निश्चय ही, तत—उस (विघ्न-बाधा) से, उद् एति—ऊपर उठ जाता है, सकट-मुक्त हो जाता है, अगद ह एव भवति—निश्चय ही नीरोग व बाधा-रहित हो जाता है ॥६॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेय स किं म
एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति। स ह षोडश
वर्षशतमजीवत्प्र ह षोडश वर्षशत जीवति य एव वेद ॥७॥

एतत्—इस (को), ह स्म वै—पुरा काल मे, तद्—उस (पुरुष-यज्ञ) को, विद्वान्—जाननेवाले, आह—कहा था, महिदास—महिदास ने, ऐतरेय—इतरा के पुत्र, स—वह, किम्—क्यो, मे—मुझे, एतद्—यह, ऐसे, उपतपसि—

कहते हैं कि इस संकल्प से ही महिदास २४+४४+४८=११६ वर्ष तक जीवित रहा। जो इस रहस्य को जानता है वह ११६ वर्ष तक जीता है ॥७॥



११६ वर्ष के आदित्य-ब्रह्मचारी इतरा के पुत्र महिदास ऋषि

पीड़ा देता है, विघ्न डालता है, **य अहम्**—जो मैं, **अनेन**—इस (उपताप) में, **न**—नहीं, **प्रेष्यामि**—मरूँगा, **इति**—ऐसा (कह कर), **स**—वह, **ह**—निश्चयपूर्वक, **षोडशम् वर्षशतम्**—(२४+४४+४८=११६) एक सौ सोलह वर्ष तक, **अजीवत्**—जिया था, आयु पाई थी, **ह**—निश्चय ही, **षोडशम् वर्षशतम्**—एक सौ सोलह वर्ष तक, **प्र जीवति**—उत्तमता से जीवन (आयु) पाता है, **य एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है ॥७॥

तृतीय प्रपाठक—(सत्रहवां खंड)

इस खंड में भी मनुष्य-जीवन को यज्ञ-मय बताया गया है। यज्ञ के पाच अग होते है—दीक्षा, उपसद, स्तुत-शस्त्र, दक्षिणा तथा अव-भृथ। मनुष्य-जीवन भी पाच प्रकार का है, एक-एक प्रकार के जीवन की यज्ञ के एक-एक अग के साथ तुलना करते हुए ऋषि कहते हैं —

जो व्यक्ति खाता है, पीता है, परन्तु इनमें रम नहीं जाता, उसका जीवन मानो 'दीक्षा' का जीवन है ॥१॥

जो व्यक्ति खाता है, पीता है और उसमें रमा रहता है, उसका जीवन मानो 'उपसद' का जीवन है ॥२॥

जो व्यक्ति खूब हसता है, खूब खाता है और मैथुन करता है, उसका जीवन मानो 'स्तुत-शस्त्र' का, आम जनता द्वारा प्रशसित उपकरणो का जीवन है ॥३॥

जो व्यक्ति तप, दान, ऋजुता, अहिंसा और सत्य-वचन में जीवन व्यतीत करता है, उसका जीवन मानो 'दक्षिणा' का जीवन है ॥४॥

स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षा ॥१॥

स—वह (पुरुष-यज्ञ का कर्ता), यत्—जो, अशिशिषति—खाना तो चाहता है, यत्—जो, पिपासति—पीना चाहता है (पर), यत्—जो, न—नही, रमते—(अशनाया-पिपासा मे) रम नही लेता, फँसता नही अथवा (न रमते—रति-क्रिया नही करता), ता—वे ही, अस्य—इस (यजमान) की, दीक्षा—दीक्षा (यज्ञ-स्वीकृति या यज्ञ-निमित्त व्रत) है ॥१॥

अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते तदुपसदैरेति ॥२॥

अथ—और, यद्—जो, अश्नाति—खाता है, यत्—जो, पिबति—पीता है, यद्—जो, रमते—इनमे रम लेता है, फँसता है, अथवा रति-कर्म करता है, तद्—वह, उपसदैः एति—उपसदो के समान होता है (पाठान्तर-उपसदा+एव+इति—वह उपसदा ही है) ॥२॥

अथ यद्धसति यज्जक्षति यन्मैथुन चरति स्तुतशस्त्रैरेव तदेति ॥३॥

अथ—और, यद्—जो, हसति—हँसता है, यत्—जो, जक्षति—खाता है, यत्—जो, मैथुनम् चरति—रति-क्रिया करता है, (वह) स्तुत-शस्त्रै—स्तुत-शस्त्रो मे (आम जनता जिन शस्त्रो, उपकरणो की स्तुति करती है उनसे), एव—ही, तद्—वह (जीवन), एति—(समानता को) पाता है ॥३॥

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा ॥४॥

जब सोम-याग में सोम-रस को निचोडने लगते हैं, तब 'सोष्यति' शब्द का प्रयोग होता है, अर्थात् वह सोम-रस को निचोड़ेगा, जब निचोड़ चुकते हैं, तब 'असोष्ट' शब्द का प्रयोग होता है, अर्थात् वह सोम-रस को निचोड चुका। 'सू' धातु 'रस निचोडने' और 'जन्म देने'—दोनो अर्थो में प्रयुक्त होती है, अत 'सोष्यति' तथा 'असोष्ट' का जहां यज्ञ में 'रस निचोडेगा' और 'रस निचोडा'—ये दो अर्थ होते है, वहा मनुष्य के सम्बन्ध में 'सोष्यति' का अर्थ होगा 'जन्म देगा' और 'असोष्ट' का अर्थ होगा 'जन्म दिया'। जीवन-रूपी यज्ञ में व्यक्ति का मनुष्य-रूप में पुनर्जन्म ही 'सोष्यति' तथा 'असोष्ट' है, अर्थात् मनुष्य का दुर्लभ जन्म लेना मानो सोम-रस का चू-पडना है, और 'सोष्यति' तथा 'असोष्ट' के अतिरिक्त मनुष्य का मर जाना मानो 'अवभृथ' है ॥५॥

जीवन को यज्ञमय समझने के इस रहस्य को घोर आगिरस ने देवकी के पुत्र कृष्ण को बताया और उसकी सब जिज्ञासा मिट गई। घोर ऋषि ने कृष्ण से कहा कि उपासक जीवन का अन्तकाल आ

अथ—और, यत्—जो, तप—तप (द्वन्द्व-सहन), दानम्—दान, आर्जवम्—सरलता, अहिंसा—हिंसा न करना, सत्यवचनम्—सच बोलना (पाँचो यमो का पालन करना), इति—ये, ता अस्य दक्षिणा—वे इस (यजमान की) दक्षिणा (दान-द्रव्य) है ॥४॥

तस्मादाहु सोष्यत्यसोष्टेति पुनरुत्पादनमेवास्य तन्मरणमेवास्यावभृथ ॥५॥

तस्माद्—उस कारण से, **आहु**—(जब) कहते हैं कि, **सोष्यति**—सोम-वल्ली का रस निकालेगा या सन्तान उत्पन्न करेगा, **असोष्ट**—रस निकाला या सन्तान उत्पन्न की, **इति**—ऐसा, **पुन**—फिर, **उत्पादनम्**—(पुत्र रूप मे) उत्पन्न होना, **एव**—ही, **अस्य**—इस (यजमान) का, **तत्**—वह (सवन) है, **मरणम्**—(अन्त मे) शरीर-त्याग, **एव**—ही, **अवभृथ**—यज्ञोपरान्त विहित स्नान (है) ॥५॥

तद्धैतद् घोर आंगिरस कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचा-पिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत्त्रय प्रतिपद्येताक्षितमस्य-च्युतमसि प्राणसंशितमसीति। तत्रैते द्वे ऋचौ भवत ॥६॥

तद् ह एतत्—उस इस (पुरुष-यज्ञ के ज्ञान) को, **घोर**—घोर-नामी, **आंगिरस**—अंगिरा के पुत्र ने, **कृष्णाय**—कृष्ण (को), **देवकीपुत्राय**—देवकी

जाने पर इन तीन वाक्यों का उच्चारण करे—'अक्षितम् असि'—हे भगवन् ! आप अविनाशी है, 'अच्युतम् असि'—हे भगवन् ! आप सदा एक-रस है, 'प्राण-संशितम् असि'—हे भगवन् ! आप प्राण से भी तीक्ष्ण है, सूक्ष्म है। इस पर दो ऋचाएं है—॥६॥

द्यु-लोक से भी परे जो ज्योति प्रदीप्त हो रही है, जो प्राचीन से भी प्राचीन वस्तु का कारण है, उपासक लोग, सदा दिन रहने वाली उस अखंड ज्योति का दर्शन करते है ॥७॥

अन्धकार से परे जो ज्योति दीख पड़ती है, उसे देखते हुए हम ऊपर-ही-ऊपर उठें। उस सुख-स्वरूप ज्योति को देखते हुए देवो-में-देव सूर्य की उत्कृष्टतर ज्योति को प्राप्त हो, और उसके अनन्तर सब ज्योतियो-में-उत्तम, सब ज्योतियो-में-उत्तम ब्रह्म-ज्योति को प्राप्त हो ॥८॥

के पुत्र, उक्त्वा—उपदेश कर, उवाच—(अपने विषय में) कहा था कि, अपिपास—प्यास से (कामना से) रहित, एव—ही, स—वह (घोर), बभूव—हो गया था, स—वह पुरुष (जीवन-यज्ञ कर्ता) अन्तवेलायाम्—अन्त में (मृत्यु के) समय आने पर, एतत्—इस, त्रयम्—तीन को, प्रतिपद्येत—करे, कहे, सोचे, अक्षितम्—अविनाशी, अक्षय, असि—तू है, अच्युतम्—च्युत न होनेवाला, एक-रस, असि—तू है, प्राण-संशितम्—प्राण से भी बढ़कर तीक्ष्ण (सूक्ष्म), असि—तू है, इति—यह (तीनो वाक्यो को प्राप्त हो), तत्र—उस विषय में, द्वे—दो ऋचौ—ऋचाएँ, भवत—है ॥६॥

आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिष्पश्यन्ति वासरम्। परो यदिध्यते दिवा ॥७॥

आत्—अवश्य, इत्—ही, प्रत्नस्य—पुराने, पूर्ण, रेतस—वीर्य के, बीज के, ज्योति—ज्योति को, पश्यन्ति—देखते है, वासरम्—दिनभर, पर—परे, आगे, यद्—जो, इध्यते—प्रदीप्त हो रहा है दिवा—दिन में ॥७॥

उद्वयं तमसस्परि ज्योति पश्यन्त उत्तरं स्वः पश्यन्त उत्तरं
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तममिति ज्योतिरुत्तममिति ॥८॥

उद्—ऊपर वयम्—हम, तमस—अन्धकार से परि—सब ओर, ज्योति—प्रकाश को, पश्यन्त—देखते हुए, उत्तरम्—(पहले से भी) अधिक ऊपर, स्व—स्वर्गलोक, आनन्दमय स्थिति को, पश्यन्त—देखते हुए, उत्तरम्—अधिक ऊपर, देवम्—देव, देवत्रा—देवताओ में या देवो के भी रक्षक, सूर्यम्—जगत् के स्रष्टा, जगत के प्रेरक, अगन्म—प्राप्त हो गये जान लिया,

तृतीय प्रपाठक—(अठारहवां खंड)

(पिंड के वाणी, प्राण, नेत्र, श्रोत्र का ब्रह्मांड के अग्नि, वायु, आदित्य, दिक् से समन्वय)

'अध्यात्म' उपासना, अर्थात् इस शरीर-रूपी 'पिंड' में ब्रह्मोपासना करते हुए 'मन' को ब्रह्म का प्रतीक मान कर उपासना करे, 'अधिदैवत' उपासना, अर्थात् विश्व-रूपी 'ब्रह्मांड' में ब्रह्मोपासना करते हुए 'आकाश' को ब्रह्म का प्रतीक मानकर उपासना करे। ये दोनों अध्यात्म तथा अधिदैवत उपासनाएं ऋषियों ने कही हैं ॥१॥

यह ब्रह्म चार चरणों वाला है। मन-ब्रह्म का वाणी चरण है, प्राण चरण है, नेत्र चरण है, श्रोत्र चरण है। यह अध्यात्म हुआ। आकाश-ब्रह्म का अग्नि चरण है, वायु चरण है, आदित्य चरण है, दिशाएं चरण हैं। यह अधिदैवत हुआ। ये दोनों अध्यात्म (पिंड-सम्बन्धी) तथा अधिदैवत (ब्रह्मांड-सम्बन्धी) उपासनाएं ऋषियों ने कही हैं ॥२॥

ज्योति—ज्योति स्वरूप, उत्तमम् इति—सब से ऊपर, सर्वोत्तम, ज्योति उत्तमम्—सर्वोत्तम ज्योति को, इति—ये ऋचा है ॥८॥

मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो
ब्रह्मेत्युभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च ॥१॥

मन—मन की, ब्रह्म—ब्रह्म (सब से बड़ा, महत्वपूर्ण), इति—ऐसे, उपासीत—उपासना करे, इति—यह, अध्यात्मम्—आत्मा (पिण्ड) सम्बन्धी (कथन है), अथ—अब, अधिदैवतम्—देवता (ब्रह्माण्ड) विषयक (कथन है कि), आकाश—आकाश ही, ब्रह्म—ब्रह्म है, इति—इस प्रकार, उभयम्—दोनों ही, आदिष्टम्—निर्दिष्ट, उपदिष्ट, भवति—होते हैं, अध्यात्मम् च अधिदैवतम् च—अध्यात्म और अधिदैवत (कथन) ॥१॥

तदेतच्चतुष्पाद् ब्रह्म। वाक्पादः प्राणः पादश्चक्षुः पादः श्रोत्रं पादः
इत्यध्यात्ममथाधिदैवतमग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो
दिशः पादः इत्युभयमेवादिष्टं भवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च ॥२॥

तद्—सो, एतद्—यह (मनरूपी), चतुष्पाद्—चार पाद वाला, (चार आधार वाला), ब्रह्म—ब्रह्म है, वाक् पाद—वाणी (पहला) पाद है, प्राण पाद—प्राण या घ्राण (दूसरा) पाद है, चक्षु पाद—नेत्र (तीसरा) पाद

पिंड मे वाणी, 'मन-ब्रह्म' का चार चरणो में से एक चरण है, यह ब्रह्माड के 'आकाश-ब्रह्म' के चरण अग्नि-ज्योति से प्रकाशमान तथा प्रदीप्त हो रही है। जो उपासक ऐसा जानता है वह कीर्ति से, यश से तथा ब्रह्म-तेज से प्रकाशमान तथा प्रदीप्त रहता है ॥३॥

पिंड में प्राण, 'मन-ब्रह्म' का चार चरणो में से एक चरण है, यह ब्रह्माड के 'आकाश-ब्रह्म' के चरण वायु-ज्योति से प्रकाशमान तथा प्रदीप्त हो रहा है। जो उपासक ऐसा जानता है वह कीर्ति से, यश से, तथा ब्रह्म-तेज से प्रकाशमान तथा प्रदीप्त रहता है ॥४॥

है, **श्रोत्रम् पाद**—कान (चौथा) पाद है, **इति**—यह, **अध्यात्मम्**—मनो-ब्रह्म का निरूपण है, **अथ**—आगे, **अधिदैवतम्**—आकाश-ब्रह्म का (निरूपण यह है कि), **अग्नि. पाद**—(देवता आकाश-ब्रह्म का) अग्नि (पहला) पाद है, **वायु पाद**—वायु (दूसरा) पाद है, **आदित्य पाद**—सूर्य (तीसरा) पाद है, **दिश पाद**—दिशाएँ (चौथा) पाद है, **इति**—इस प्रकार, **उभयम् एव आदिष्टम् भवति अध्यात्मम् च अधिदैवतम् च**—इस प्रकार अध्यात्म और अधिदैवत दोनो का निरूपण हो जाता है ॥२॥

वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थ पाद सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च
भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एव वेद ॥३॥

वाग् एव—वाणी ही, **ब्रह्मण**—मनो-ब्रह्म का, **चतुर्थ**—चार-पाद मे से एक, **पाद**—पाद है, **स**—वह (वाक्पाद), **अग्निना**—(अधिदैवत आकाश-ब्रह्म के पाद) अग्नि मे (की), **ज्योतिषा**—प्रकाश मे (शक्ति मे), **भाति**—चमकती है, **च**—और, **तपति च**—ताप देती है, (**भाति च तपति च**—अपने काय मे समर्थ होती है), **भाति च तपति च**—चमकता है और तपता है, अन्य पर प्रभाव डालता है, **कीर्त्या, यशसा, ब्रह्मवर्चसेन**—कीर्ति (गुण-गान), यश (ख्याति) और ब्रह्म-तेज से, **य एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है ॥३॥

प्राण. एव ब्रह्मणश्चतुर्थ पाद स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च
भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एव वेद ॥४॥

प्राण एव—प्राण ही, **ब्रह्मण**—(मन-रूप) ब्रह्म का, **चतुर्थ**—चारो मे से एक, **पाद**—पाद है, **स**—वह (प्राण), **वायुना**—(आकाश-ब्रह्म के पाद) वायु मे (के), **ज्योतिषा**—प्रकाश मे (शक्ति मे), **भाति च तपति च**—अपने कार्य मे समर्थ होता है, **भाति च तपति च**—चमकता है और तपता है, **कीर्त्या, यशसा, ब्रह्मवर्चसेन**—कीर्ति, यश और ब्रह्म-तेज मे, **य एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है ॥४॥

पिंड मे चक्षु, 'मन-ब्रह्म' का चार चरणो मे से एक चरण है, यह ब्रह्मांड के 'आकाश-ब्रह्म' के चरण आदित्य-ज्योति से प्रकाशमान तथा प्रदीप्त हो रहा है। जो उपासक ऐसा जानता है वह कीर्ति से, यश से तथा ब्रह्म-तेज से प्रकाशमान तथा प्रदीप्त रहता है ॥५॥

पिंड मे श्रोत्र, 'मन-ब्रह्म' का चार चरणो में से एक चरण है, यह ब्रह्मांड के 'आकाश-ब्रह्म' के चरण दिग्-ज्योति से प्रकाशमान तथा प्रदीप्त हो रहा है। जो उपासक ऐसा जानता है वह कीर्ति से, यश से तथा तेज से प्रकाशमान तथा प्रदीप्त रहता है ॥६॥

तृतीय प्रपाठक--(उन्नीसवां खंड)

'आदित्य ब्रह्म है'--यह महर्षियो का आदेश है। इस आदेश की व्याख्या करते हैं--यह ससार पहले 'असत्' ही था, अव्यक्त था।

चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थ पाद स आदित्येन ज्योतिषा भाति च तपति च
भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एव वेद ॥५॥

चक्षु एव ब्रह्मण चतुर्थ पाद—आँख ही (मन-रूप) ब्रह्म का चौथा (चारो मे से एक) पाद हे, **स**—वह (नेत्ररूपी) पाद, **आदित्येन**—(आकाश-ब्रह्म के पाद) सूर्य से (के), **ज्योतिषा**—प्रकाश से (शक्ति से), **भाति च तपति च**—अपने कार्य मे समर्थ होता है, **भाति च तपति च**—चमकता हे और तपता हे, **कीर्त्या, यशसा, ब्रह्मवर्चसेन**—कीर्ति, यश और ब्रह्म-तेज से, **य एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता हे ॥५॥

श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थ पाद स दिग्भिर्ज्योतिषा भाति च तपति च
भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एव वेद य एव वेद ॥६॥

श्रोत्रम् एव—कान ही, **ब्रह्मण**—(मन-रूपी) ब्रह्म का, **चतुर्थ**—चारो मे से एक (चौथा), **पाद**—पाद है, **स**—वह (श्रोत्र), **दिग्भि**—दिशाओं से (के), **ज्योतिषा**—प्रकाश से, शक्ति से, **भाति च तपति च**—अपने कार्य मे समर्थ होता हे, **भाति च तपति च**—चमकता है ओर तपता है (औरो पर प्रभाव डालता है), **कीर्त्या, यशसा, ब्रह्मवर्चसेन**—कीर्ति से, यश से, और ब्रह्म-तेज से, **य एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता हे ॥६॥

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानमसदेवेदमग्र आसीत्।
तत्सदासीत्तत्समभवत्तदाण्ड निरवर्तत तत्सवत्सरस्य मात्रामशयत
तन्निरभिद्यत ते आण्डकपाले रजत च सुवर्ण चाभवताम् ॥१॥

आदित्य—सूर्य ही, **ब्रह्म**—(सब से बढकर) ब्रह्म हे, **इति**—यह, **आदेश**—

वह ब्रह्म ही उस समय 'सत्' था, व्यक्त था। ब्रह्म ने अपनी सत्ता को प्रकट किया, और अण्डाकार प्रकृति-रूप पिंड का आवर्तन शुरू किया। संवत्सर तक उस अण्डे को सेया। उसके दो टुकड़े हो गये, अण्डे के दो कपाल हो गये—एक रजत के वर्ण का, दूसरा सुवर्ण के वर्ण का ॥१॥

इस अण्डे का जो चांदी के वर्ण का टुकडा था, वह तो यह पृथिवी है, जो सोने के वर्ण का टुकड़ा था, वह द्युलोक है। अण्डे में जो जेर थी, वह पर्वत है, जो झिल्ली थी, वह मेघ और नीहार है, जो धमनियां थी, वे नदियां हैं, जो वस्ति का जल था—मूत्र—वह समुद्र है ॥२॥

(ब्रह्मज्ञानियों का) निर्देश या उपदेश है (कथन है), तस्य—उस (आदित्य-ब्रह्म) का, उपव्याख्यानम्—पुनः व्याख्या है, असत्—(कार्य रूप में अविद्यमान), एव—ही, इदम्—यह (आदित्य-ब्रह्म), अग्रे—(सृष्टि-रचना से) पहले, आसीत्—था, तत्—वह (वास्तव में), सद्—(कारण रूप में) विद्यमान था, तत्—वह (आदित्य-ब्रह्म), समभवत्—उत्पन्न हुआ, प्रकट हुआ, तद्—वह, आण्डम्—अण्डे के समान (हिरण्यगर्भ रूप में), निरवर्तत—उत्पन्न हुआ, तत्—वह अण्डा, संवत्सरस्य—एक वर्ष के, मात्राम्—परिमाण (काल) तक, अशयत—सोया (उसी रूप में पड़ा रहा) या उसे सेया, तद्—वह, निरभिद्यत—(दो टुकड़ों में) टूट गया, ते—वे, आण्डकपाले—(उस हिरण्यगर्भ) अण्डे के दोनों टुकड़े (खोल), रजतम्—चाँदी, च—और, सुवर्णम्—सोना, च—और, अभवताम्—हो गये ॥१॥

तद्यद्रजतँ सेयं पृथिवी यत्सुवर्णँ सा द्यौर्यज्जरायु ते पर्वता यदुल्बँ स मेघो नीहारो या धमनयस्ता नद्यो यद् वास्तेयमुदकँ स समुद्रः ॥२॥

तद्—वह, यद्—जो, रजतम्—चाँदी रूप में (अण्डे का टुकड़ा) ही, सा इयम्—वह यह, पृथिवी—पृथिवी है, यत्—जो (टुकड़ा), सुवर्णम्—सोना (हो गया) था, सा द्यौ—वह द्युलोक है, यत्—जो (उस अण्डे में), जरायु—जेर (थी), ते पर्वता—वे पर्वत हैं, यद् उल्बम्—जो गर्भ-बन्धन (नाड़ी) था, स—वह, मेघ—बादल, (समेघ—मेघों के सहित), नीहार—(एवं) कोहरा (हुए), या—जो, धमनय—शिराएं, नसें थीं, ता—वे, नद्य—नदियाँ (बनीं), यद्—जो, वास्तेयम्—वस्ति (पेट, मध्य) का, उदकम्—पानी (मूत्र) था, स—वह ही, समुद्र—समुद्र (बन गया) ॥२॥

इस अण्डे में से जो जीव उत्पन्न हुआ, यही वह आदित्य है। जब सूर्य उत्पन्न हो रहा था, तब 'उलूलव' अर्थात् उरुरव, उच्च-घोष होने लगे, सब प्राणी उठे, और उनकी कामनाएं उठ खड़ी हुई। इसी कारण सूर्य के उदय तथा अस्त होने पर पशु-पक्षियो की आवाजे आने लगती हैं, सब प्राणी उठ खड़े होते हैं, उनकी कामनाएं जाग जाती है ॥३॥

इस प्रकार आदित्य को ब्रह्म का प्रतीक मानकर जो उसकी उपासना करता है, उसे शीघ्र ही साधु-घोष आ पहुचते है, और उसे हर्षित करते है, हर्षित करते है ॥४॥

अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यस्तं जायमानं घोषा उलूलवोऽनूदतिष्ठन्त्सर्वाणि च भूतानि च सर्वे च कामास्तस्मात्तस्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रति घोषा उलूलवोऽनूत्तिष्ठन्ति सर्वाणि च भूतानि सर्वे चैव कामा. ॥३॥

अथ—और, यत् तद्—जो वह, अजायत—(उन अण्डे मे) उत्पन्न हुआ, स—वह, असौ—यह, आदित्य—सूर्य (ब्रह्म) है, तम् जायमानम्—उसके उत्पन्न होने पर, घोषा—जोर के शब्द, जय-जयकार, उलूलव (उरुरव)—बहुत शब्द वाले, अनु+उदतिष्ठन्—बाद मे (पीछे) उठे (हुए), सर्वाणि च—और सारे, भूतानि—चर-अचर भूत, सर्वे च—और सारे, कामा—काम्य (वस्त्र-अन्न आदि अभीष्ट) भोग, तस्मात्—उस कारण से (आजकल भी), तस्य—उस (आदित्य) के, उदयम् प्रति—उदय होने के साथ, प्रत्यायनम् प्रति—अस्त होने के साथ, घोषा—शब्द, उलूलव—अनेक शब्द वाले, अनु+उत्तिष्ठन्ति—बाद मे होने लगते है, सर्वाणि च भूतानि—और सारे प्राणी (उठ-जाग जाते है, कर्म-रत होते है), सर्वे च कामा—और सारे अभीष्ट भोग (भोगे जाते है) ॥३॥

स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनँ साधवो घोषा आ च गच्छेयुरुप च निम्रेडेरन्निम्रेडेरन् ॥४॥

स य—वह जो, एतम्—इसको, एवम्—इस प्रकार के, आदित्यम् ब्रह्म—सूर्यरूप ही ब्रह्म है, इति—ऐसे, उपास्ते—उपासना करता है, अभ्याश ह—समीप ही है, जल्दी ही, निकट भविष्य मे, यत्—कि, एनम्—इस (उपासक) को, साधव—अच्छे, भले, घोषा—शब्द, घोषणाये, च—और, आ गच्छेयु—आवे, प्राप्त हो, च—और, उप निम्रेडेरन्—वे (घोष) आनन्दित करे, सुख के कारण हो, निम्रेडेरन्—सुखी करे (द्विरुक्ति आदरार्थ व अध्याय-समाप्ति द्योतक है) ॥४॥

(जैसे अडे के फूटने से प्राणी उत्पन्न होते है वैसे सृष्टि-रूप अडे के फूटने से यह जगत् उत्पन्न हुआ—यह वर्णन इस उपनिषद् में पाया जाता है । वर्तमान वैज्ञानिक सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे दो सिद्धातो का प्रतिपादन करते है । एक सिद्धात है—'Big Bang Theory' और दूसरा सिद्धात है—'Steady State Theory' । बिग बैंग थियोरी का अर्थ यह है कि सृष्टि के प्रारम्भ में—लग-भग एक अरब वर्ष पूर्व—भौतिक-तत्त्व (प्रकृति—Matter) घनी-भूत अवस्था मे था । इस घनीभूत अवस्था मे विस्फोट हुआ, इसी विस्फोट को वैज्ञानिक बिग बैंग या एक्सप्लोजन कहते है । इस विस्फोट से घनीभूत भौतिक-तत्त्व इस विशाल नभोमडल मे बिखर कर सूर्य, चन्द्र, तारे, आकाश-गगा आदि का रूप धारण कर गया । वैज्ञानिको की अधिक सख्या इसी सिद्धान्त को मान्य समझती है । उपनिषद् का वर्णन भी 'घनीभूत भौतिक-तत्त्व' (Matter in a concentrated state) का अडे के रूप मे उल्लेख करता है, और जैसे आजकल के वैज्ञानिक घनीभूत भौतिक-तत्त्व के विस्फोट मे सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन करते है वैसे उपनिषद् के ऋषि सृष्टि-रूप अडे के विस्फोट से इस जगत् की उत्पत्ति का वर्णन करते है । अडा घनीभूत भौतिक-तत्त्व के सिवा क्या हो सकता है—इसी को उपनिषद् मे 'ब्रह्माड' कहा है ।)

चतुर्थ प्रपाठक—(पहला खंड)

(गाडीवान रैक्व ऋषि की 'सवर्ग-विद्या', १ से ३ खड)

प्राचीन-काल में जानश्रुति नामक एक राजा था जिसके पिता, पितामह तथा प्रपितामह तीनो जीवित थे, इसलिये वह 'पौत्रायण', अर्थात् पुत्र-पौत्रो वाला भी कहलाता था । वह श्रद्धा से दान देता था, थोडा नही बहुत दान देता था, उसके यहा खूब अन्न पकता था ।

ॐ जानश्रुतिर्ह पौत्रायण श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस ।
स ह सर्वत आवसथान्मापयाचक्रे सर्वत एव मेऽत्स्यन्तीति ॥१॥

ओम्—ईश्वर का स्मरण कर, जानश्रुति—जनश्रुत का पुत्र, ह—पहले कभी, पौत्रायण—जीवित प्रपितामह-पितामह-पिता वाला, श्रद्धादेय—श्रद्धा-

उसने जगह-जगह धर्मशालाएं बनवा दी थी ताकि भिन्न-भिन्न स्थानो से आकर अतिथि लोग उसके यहा भोजन किया करें ॥१॥

एक बार रात्रि को कुछ हस––अर्थात् परमहस महात्मा लोग––उसके यहां आ टिके। उनमे से एक ने दूसरे से कहा––ऐ भद्र-नयन! जानश्रुति पौत्रायण राजा का यश द्यु-लोक के समान फैल रहा है। उससे टक्कर न ले बैठना, कही वह तुझे अपने तेज से भस्म न कर डाले ॥२॥

उसे दूसरे महात्मा ने उत्तर दिया––अरे, तुमने इस साधारण-से राजा को ऐसे कैसे कहा जैसे मानो वह गाडीवाला रैक्व ऋषि हो। पहले महात्मा ने पूछा, यह गाडीवान रैक्व ऋषि कैसा है?॥३॥

पूर्वक दान करनेवाला, बहुदायी––प्रभूत दान करनेवाला, बहुपाक्य––(भिक्षुओ के लिए) बहुत-सा अन्न का पाक करवानेवाला, आस––था, स ह––उसने, सर्वत––चारों ओर, आसवथान्––(धर्मशाला आदि) मकान, मापयाञ्चक्रे––बनवाये थे, सर्वत––सब ओर, सब जगह, एव––ही, मे––मेरा, अत्स्यन्ति––(अन्न) खायेंगे, इति––यह (प्रसिद्धि है) ॥१॥

अथ ह हꣳसा निशायामतिपेतुस्तद्धैवꣳ हꣳसो हꣳसमभ्युवाद
हो होऽयि भल्लाक्ष भल्लाक्ष जानश्रुते पौत्रायणस्य सम
दिवा ज्योतिराततं तन्मा प्रसाङ्क्षीस्तत्त्वा मा प्रधाक्षीदिति ॥२॥

अथ ह––इसके बाद कभी, हसा––परमहस मुनि या हस पक्षी, निशायाम्––रात्रि मे, अतिपेतु––उडे, वहा आये, तद् ह––तो, तब, एवम्––इस प्रकार, हस––(एक) हस ने, हसम्––(दूसरे) हस को, अभ्युवाद––कहा, हो-हो––हे-हे, अयि––अरे, भल्लाक्ष! भल्लाक्ष!––भल्लाक्ष भल्लाक्ष!, जानश्रुते पौत्रायणस्य––जीवित परदादा-दादा-पितावाले जानश्रुति का, समम् दिवा––दिन के समान, ज्योति––तेज, आततम्––चारो ओर फैल रहा है, तत्––तो उस (तेज) को, मा––मत, प्रसाङ्क्षी––छूना, सम्पर्क में जाना, तत्––वह (तेज), त्वा––तुझ को, मा––नही, प्रधाक्षीद्––जला देवे, इति––यह (कहा) ॥२॥

तमु ह परः प्रत्युवाच कम्वर एनमेतत्सन्तꣳ सयुग्वानमिव
रैक्वमात्थेति। यो नु कथꣳ सयुग्वा रैक्व इति ॥३॥

तम् उ––उस (हस) को, पर––दूसरे (भल्लाक्ष) ने, प्रत्युवाच––जवाब दिया, कम्+उ+अरे (कम्वरे)––किसको अरे, एनम्––इस (जानश्रुति) को, एतत्-सन्तम्––ऐसा होनेवाले को, सयुग्वानम्––गाडी के साथ, गाडी की

दूसरे महात्मा ने उत्तर दिया, जैसे जूए के खेल में सब से मुख्य पासा 'कृत' कहलाता है, नीचे के पासे 'अय' कहलाते है, और 'कृत' के आ पड़ने पर उससे निचले सब 'अय' उसी में आ जाते हैं, इसी प्रकार यह ऋषि 'कृत' के समान है, लोग जो-कुछ भलाई करते हैं उसका फल रैक्व को मिल जाता है। जो व्यक्ति उस रहस्य को जानता है जिसे रैक्व जानता है, वही कुछ जानता है, ऐसा मैंने अन्य महात्माओं से भी कहा है ॥४॥

महात्माओं का यह संवाद जानश्रुति पौत्रायण ने सुन लिया। उसने प्रातःकाल उठते ही अपने सारथि से कहा—ऐ प्यारे! तू क्या मेरी प्रशंसा गाड़ीवान रैक्व ऋषि की प्रशंसा की तरह करता है? सारथि ने पूछा—वह गाड़ीवान रैक्व ऋषि कैसा है? ॥५॥

नवाड़ी वाले, इव—समान, रैक्वम्—रैक्व को (की), आत्थ—तू कहता है (रैक्व के समान होने वाला किसको बता रहा है, रैक्व ही सर्वश्रेष्ठ ज्योतिष्मान् है) इति—यह (पहले ने कहा), (पहले ने पूछा कि) य नु—जो (तू यह रैक्व बता रहा है), कथम्—किस प्रकार का, सयुग्वा—गाड़ीवान, रैक्व—रैक्व है इति—यह (पूछा) ॥३॥

यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनं सर्वं तदभिसमेति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति। यस्तद्वेद यत्स वेद। स मयैतदुक्त इति ॥४॥

यथा—जैसे, कृताय—कृत—जूए का पासा, अथवा सफल-मनोरथ, विजिताय—जय-प्राप्त पुरुष के, अधरेया—नीचे के (निचले पासे या निचले कर्मचारी गण जन), संयन्ति—मगन हो जाते हैं, उसमें स्वयं मिल जाते हैं, एवम्—इस ही प्रकार, एनम्—उस (रैक्व) को, सर्वम् तद्—सब कुछ वह, अभिसमेति—मिल जाता है, एकत्र हो जाते हैं, यत् किंच—जो कुछ, प्रजा—प्रजाएं, साधु—पुण्य कर्म, कुर्वन्ति—करती है, य—जो (रैक्व) भी, तद्—उस को, वेद—जानता है, यत्—जिसको, स—वह जानश्रुति, वेद—जानता है, स—वह (उसके विषय में), मया—मैंने, एतत्—यह, ऐसे, उक्त—कहा है, इति—यह (कहा) ॥४॥

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायण उपशुश्राव। स ह संजिहान एव क्षत्तारमुवाच अङ्गारे ह सयुग्वानमिव रैक्वमात्थेति। यो नु कथं सयुग्वा रैक्व इति ॥५॥

तद् उ ह—उस (कथोपकथन) को, जानश्रुति पौत्रायण—पौत्रायण जानश्रुति ने, उपशुश्राव—सुना, स ह—और उसने, संजिहान—शय्या छोड़ते हुए, एव—ही, क्षत्तारम्—(अपने) सारथि को, उवाच—(उसके शब्दों में

राजा ने उत्तर दिया, रात को मैंने दो महात्माओं को यह कहते सुना है—"जैसे जूए में 'कृत' (आजकल का ताश के खेल मे इक्का) पासे के आ पडने पर उससे निचले सब 'अय' (आजकल के ताश के खेल मे बादशाह, बेगम, गुलाम आदि) उसी मे आ जाते है, इसी प्रकार यह ऋषि 'कृत' के समान है, लोग जो-कुछ भी भलाई करते हैं उसका फल रैक्व को मिल जाता है। जो व्यक्ति उस रहस्य को जानता है जिसे रैक्व जानता है—वही कुछ जानता है, ऐसा मैंने अन्य महात्माओ से भी कहा है।"—इसलिये हे सारथि ! यह पता लगाओ कि यह रैक्व ऋषि कौन है ? ॥६॥

('कृत' का अर्थ 'किया हुआ'—'सफल' भी किया जा सकता है। इस अर्थ मे 'कृताय' का अर्थ हुआ—'सफल-मनोरथ'। जैसे विजिताय=विजय प्राप्त, कृताय=सफल मनोरथ व्यक्ति के लिए 'अधरेय' अर्थात् नीचे वाले व्यक्ति उसके साथ सहयोग देते है वैसे प्रजा की सब भलाई का फल रैक्व को मिलता है—यह भी उक्त पद का अर्थ हो सकता है।)

सारथि ने खोज की, और लौट कर राजा से बोला, कुछ पता

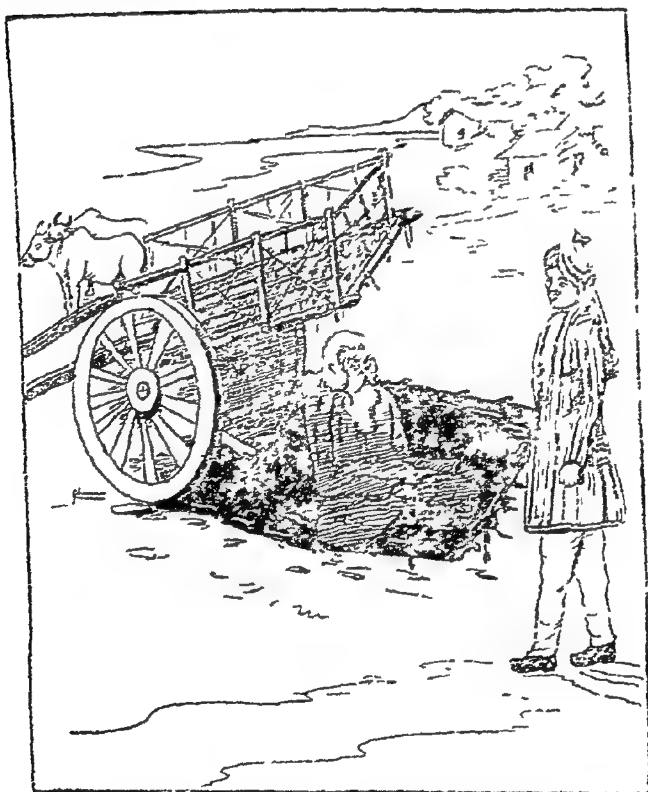
सारा वृत्तान्त) कहा, अङ्ग—हे प्रियवयस्य, अरे—अरे, ह—ही, सयुग्वानम् इव रैक्वम् आत्थ इति—सयुग्वा रैक्व के समान तू बताता है तो, य नु—जो (यह है वह), कथम्—किस प्रकार का, सयुग्वा रैक्व—गाडीवान रैक्व है ?, इति—यह ॥५॥

यथा कृताय विजितायाधरेया सयन्त्येवमेनँ सर्वं तदभिसमेति यत्किच प्रजा साधु कुर्वन्ति। यस्तद्वेद यत्स वेद। स मयैतदुक्त इति ॥६॥

यथा—जैसे, कृताय—सफल, विजिताय—विजेता के लिए, अधरेया—नीचे के (सामान्य जन), सयन्ति—एकत्र हो जाते हैं, उसमे मिल जाते है, एवम् इस प्रकार, एनम्—इस (रैक्व) को, सर्वम् तद्—सब कुछ वह, अभिसमेति—पास आ जाता है, यत् किच—जो कुछ, प्रजा—प्रजाएँ, साधु—पुण्य कर्म, कुर्वन्ति—करती हैं, य तद् वेद—जो (रैक्व) उसको जानता है, यत्—जिसको, स—वह (जानश्रुति), वेद—जानता है, स—वह (उसके विषय मे), मया एतद् उक्त—मैंने यह बात कही है (यह हंसो का वार्त्तालाप दोहराया) ॥६॥

स ह क्षत्ताऽन्विष्य नाविदमिति प्रत्येयाय।
तँ होवाच यत्रारे ब्राह्मणस्यान्वेषणा तदेनमर्च्छेति ॥७॥

नहीं चला। राजा ने कहा, अरे! उस ऋषि का वहां अन्वेषण करो जहां ब्रह्म-ज्ञानियों को ढूंढा जाना चाहिये, महलों में नहीं, झोंपड़ों में उसकी खोज करो ॥७॥



बैलगाड़ी की छाया के नीचे बैठे रैक्व ऋषि

स ह क्षत्ता—वह सारथि, अन्विष्य—ढूंढ कर, न—नहीं, अविदम्—जाना, पाया, इति—ऐसे (सोच कर), प्रत्येयाय—(राजा के) पास लौट आया, तम् ह—(इस पर) उस (सारथि) को, उवाच—(जानश्रुति ने) कहा, यत्र—जिस स्थान पर, अरे—अरे, ब्राह्मणस्य—ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) को,

सारथि फिर निकला। एक गाडी की छाया के नीचे दाद को खुजलाते हुए एक व्यक्ति को देखकर वह उसके निकट बैठ गया। उससे पूछा—भगवन्! क्या आप ही गाडीवान रैक्व ऋषि हैं? उसने उत्तर दिया—अरे हां! मैं ही रैक्व हूं। सारथि ने लौट कर राजा से कहा—मैंने रैक्व का पता लगा लिया ॥८॥

चतुर्थ प्रपाठक—(दूसरा खंड)

तब जानश्रुति पौत्रायण छ: सौ गौए, एक रत्नमाला और खच्चरों का रथ लेकर चल पडे और ऋषि के पास पहुंच कर बोले—॥१॥

हे रैक्व! ये छ सौ गौए हैं, यह रत्नमाला है, यह खच्चरों का रथ है। हे भगवन्! जिस देवता की आप उपासना करते हैं उसका मुझे उपदेश दीजिए ॥२॥

अन्वेषणा—खोज (की जाती है), तद्—उस (स्थान मे), एनम्—इस (रैक्व) को, अच्छं—खोज, ढूंढ, इति—यह (कहा) ॥७॥

सोऽधस्ताच्छकटस्य पामान कषमाणमुपोपविवेश तँ हाभ्युवाद त्व नु भगव सयुग्वा रैक्व इत्यहँ ह्यरा३ इति ह प्रतिजज्ञे। स ह क्षत्ताऽविदमिति प्रत्येयाय ॥८॥

स—उस (सारथि) ने, अधस्तात्—नीचे, शकटस्य—गाडी के, पामानम्—खाज (खुजली) को, कषमाणम्—खुजाते हुए, (पामानम् कषमाणम्—शरीर खुजलाते हुए), उप+उपविवेश—पास बैठ गया, तम् ह—और उस (रैक्व) को, अभ्युवाद—बात की, कहा, त्वम् नु—तुम ही, भगव—हे भगवन्, सयुग्वा रैक्व—सयुग्वा (गाडीवान) रैक्व (हो), इति—यह (बात की), अहम् हि अरे—अरे मैं ही रैक्व हूं, इति ह—प्रतिजज्ञे—प्रतिज्ञा की, विश्वास दिलाया, स ह क्षत्ता—वह सारथि, अविदम्—(मैंने) जान लिया, पा लिया, इति—यह (सोच कर), प्रत्येयाय—लौट आया ॥८॥

तदु ह जानश्रुति पौत्रायण षट् शतानि गवा
निष्कमश्वतरीरथ तदादाय प्रतिचक्रमे। तँ हाभ्युवाद ॥१॥

तद् उ ह—तो (उसके बाद), जानश्रुति पौत्रायण—पौत्रायण जानश्रुति, षट्—छ, शतानि—सौ, गवाम्—गौओं के, (षट् शतानि गवाम्—छ सौ गौएँ), निष्कम्—सुवर्ण, अश्वतरीरथम्—खच्चरी जुते रथ को, तद्—उस (स्थान) को, प्रतिचक्रमे—चल पडा, तम् ह अभ्युवाद—(और) उस (रैक्व) को कहा ॥१॥

रैक्वेमानि षट् शतानि गवामय निष्कोऽयमश्वतरीरथो नु
म एता भगवो देवतँ शाधि या देवतामुपास्स इति ॥२॥

ऋषि बोले—अरे शूद्र ! यह हार और ये गौए तू अपने पास रख। जानश्रुति पौत्रायण फिर एक सहस्र गौए, रत्नमाला, खच्चरो का रथ और निज कन्या को लेकर ऋषि के पास पहुचा ॥३॥

बोला, हे रैक्व ! ये एक सहस्र गौए हैं, यह रत्नो की माला है, यह खच्चरो का रथ है, यह मेरी कन्या है जिसे मैं आपको देने को तैयार हूं, यह ग्राम जिसमें आप विराजते हैं—यह भी आपकी भेंट है। हे भगवन् ! मुझे आप उपदेश दीजिये ॥४॥

रैक्व—हे रैक्व !, इमानि—ये, षट् शतानि गवाम्—छ सौ गौएँ, अयम्—यह, निष्क—सुवर्ण (सिक्का), अयम्—यह, अश्वतरीरथ—खच्चरी-जुता रथ है, नु—अवश्य, मे—मुझे, एताम्—इस, भगव—हे भगवन् !, देवताम्—देवता को (का), शाधि—उपदेश करें, याम्—जिस, देवताम्—देवता को (की), उपास्से—तू उपासना करता है, इति—यह (निवेदन किया) ॥२॥

तमु ह पर प्रत्युवाचाह हारे त्वा शूद्र तवैव सह
गोभिरस्त्विति । तदु ह पुनरेव जानश्रुति पौत्रायण
सहस्र गवा निष्कमश्वतरीरथ दुहितरं तदादाय प्रतिचक्रमे ॥३॥

तम् उ ह—उस (जानश्रुति) को, पर—दूसरे (रैक्व) ने, प्रत्युवाच——उत्तर दिया, अह ह अरे—अहो अरे, त्वा—तुझको (उपदेश करूँ), शूद्र—शूद्र, तव—तेरा, एव—ही, सह—साथ, गोभि—गौओ से (के), अस्तु—(यह सामान) हो, रहे, इति—यह (उत्तर दिया), तद् उ ह—तो, पुन एव—फिर भी, जानश्रुति पौत्रायण—पौत्रायण जानश्रुति, सहस्रम् गवाम्—हजार गौओ को, निष्कम्—सुवर्ण को, अश्वतरीरथम्—खच्चरी-जुते रथ को, दुहितरम्—(अपनी) पुत्री को, तद्—उस (स्थान) को, आदाय—लेकर, प्रतिचक्रमे—चल पडा ॥३॥

तं हाभ्युवाद रैक्वेदं सहस्र गवामय निष्कोऽयमश्वतरीरथ
इय जायाऽय ग्रामो यस्मिन्नास्सेऽन्वेव मा भगव शाधीति ॥४॥

तम् ह अभ्युवाद—और उस (रैक्व) को कहा, रैक्व—हे रैक्व !, इदम् सहस्रम् गवाम्—यह हजार गौएँ, अयम् निष्क—यह सुवर्ण, अयम् अश्वतरीरथ—यह खच्चरीजुता रथ, इयम्—यह (मेरी पुत्री), जाया—(अब तेरी) पत्नी, अयम् ग्राम—यह ग्राम, यस्मिन्—जिसमे, आस्से—तू बैठा है, अनु एव—इसके पश्चात् (यह स्वीकार कर), मा—मुझे, भगव—हे भगवन् !, शाधि—उपदेश कीजिये, इति—यह (कहा) ॥४॥

ऋषि ने कन्या के मुख को ऊंचे उठाकर कहा—ऐ शूद्र! तुम ये गौए तो लाये हो, परन्तु मैं कुछ न बोलता, इस कन्या के मुख की लाज रखने के लिए बोलने को बाधित होना पड़ेगा। जहां रैक्व ऋषि ने निवास किया उस स्थान का नाम रैक्व-पर्ण प्रसिद्ध रहा—यह स्थान महावृष नामक उपवनो मे से एक था। राजा को ऋषि ने निम्न उपदेश दिया—॥५॥

(ऋषि ने राजा को शूद्र इसलिए कहा क्योंकि वह भोला समझता था कि ऐसे प्रलोभनो से ऋषि के मन को वश में किया जा सकेगा। इन वस्तुओ मे से तो रैक्व ने कुछ भी नही लिया, परन्तु राजा का उत्साह देखकर उसे उपदेश दे दिया।)

चतुर्थ प्रपाठक—(तीसरा खंड)

हे राजन्! 'अधिदैवत', अर्थात् 'ब्रह्माड (Macroscopic point of view) की दृष्टि से वायु ही 'संवर्ग' है, सब को अपने भीतर समा लेने वाली है। जब आग बुझती है तो वायु मे ही लौट जाती है,

---

तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्नुवाच। आजहारेमा शूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथा इति। ते हैते रैक्वपर्णा नाम महावृषेषु यत्रास्मा उवास तस्मै होवाच॥५॥

तस्या ह—उस (पुत्री) के, **मुखम्**—मुख को, **उप+उद्गृह्णन्**—अपने समीप कर ऊपर उठाते हुए, **उवाच**—बोला, **आ जहार**—ले आया, **इमा**—इन (गौ आदि) को, **शूद्र!**—अरे शूद्र!, **अनेन**—(पुत्री के) इस, **एव**—ही, **मुखेन**—मुख से (प्रेरित कर), **आलापयिष्यथा**—मुझसे उपदेश करायेगा, उपदेश करने को बाधित कर रहा है, **इति**—यह (कहा), **ते ह एते**—वे ही ये (राजा के दान मे दिये), **रैक्वपर्णा**—रैक्वपर्ण, **नाम**—नामवाले (ग्राम है), **महावृषेषु**—महावृष-नामक देश या वन मे, **यत्र**—जहाँ (राजा ने), **अस्मै**—इस (रैक्व से उपदेश लेने) के लिए, **उवास**—निवास किया था, **तस्मै ह**—उस (राजा) को, **उवाच**—(रैक्व ने) कहा (उपदेश दिया)॥५॥

वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति
यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति॥१॥

वायु—वायु, **वा व**—ही, **संवर्ग**—सब को अपने मे लय करनेवाला, समाहर्त्ता है, **यदा वै**—जब ही, **अग्नि**—अग्नि, **उद्वायति**—बुझ जाती है, **वायुम् एव**—वायु मे ही, **अपि+एति**—लीन हो जाती है, **यदा**—जब, **सूर्य**—

जब सूर्य अस्त होता है तो वायु में ही लौट जाता है, जब चन्द्र अस्त होता है तो वह भी वायु में ही लौट जाता है ॥१॥

जब पानी सूखते है तो वायु में ही लौट जाते है, वायु ही इन सब का सवरण करता है, इन सब को ढाप लेता है। यह अधिदैवत, अर्थात् ब्रह्मांड की दृष्टि मे वर्णन हुआ ॥२॥

अब 'अध्यात्म', अर्थात् 'पिंड' (Microscopic point of view) की दृष्टि से सुनो। पिंड, अर्थात् शरीर की दृष्टि से प्राण ही 'सवर्ग' है, सब इन्द्रियों को अपने भीतर समा लेने वाला है। जब मनुष्य सोता है तो वाणी प्राण को ही लौट जाती है, प्राण को ही चक्षु, प्राण को ही श्रोत्र, प्राण को ही मन लौट जाता है, प्राण ही इन सब का सवरण करता है, इन सब को ढापता है ॥३॥

इसलिये 'सवर्ग' अर्थात् लय-स्थान दो ही हैं—ब्रह्माड के देवो में 'वायु' तथा पिंड की इन्द्रियो में 'प्राण' ॥४॥

सूर्य, अस्तम् एति—छिपता है, वायुम् एव अप्येति—वायु मे ही लीन हो जाता है, यदा चन्द्र अस्तम् एति—जब चन्द्रमा छिपता है (तो), वायुम् एव अप्येति—वायु मे ही लीन होता है ॥१॥

यदाप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्ति वायुर्ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इत्यधिदैवतम् ॥२॥

यदा—जब, आप—जल, उत्+शुष्यन्ति—सूखते है, वायुम् एव अपि यन्ति—वायु मे ही लीन हो जाते है, वायु हि एव—वायु ही, एतान्—इन, सर्वान्—सब को, सवृङ्क्ते—(अपने मे) लीन कर लेना है, इति—यह, अधिदैवतम्—देवता (ब्रह्माण्ड) सम्बन्धी (वर्णन है) ॥२॥

अथाध्यात्मम्। प्राणो वाव सवर्ग स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति
प्राण चक्षु प्राण श्रोत्र प्राण मन प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इति ॥३॥

अथ—अब, अध्यात्मम्—आत्मा (शरीर-पिण्ड) सम्बन्धी (वर्णन करते हैं), प्राण—प्राण (श्वास-प्रश्वास), वा व—ही, सवर्ग—अपने मे लीन करनेवाला (समाहर्ता) है, स—वह (देही), यदा—जब, स्वपिति—सोता है (तब), प्राणम् एव—प्राण को (मे) ही, वाग्—वाणी, अप्येति—लीन हो जाती है, प्राणम् चक्षु—प्राण मे ही आँख, प्राणम् श्रोत्रम्—प्राण मे ही कान, प्राणम् मन—प्राण मे ही मन (लीन हो जाता है), प्राण हि एव—क्योकि प्राण ही, एतान् सर्वान्—इन सब (इन्द्रियो) को, सवृङ्क्ते—(अपने मे) लीन कर लेना है, इति—यह (अध्यात्म वर्णन हुआ) ॥३॥

तौ वा एतौ द्वौ सवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राण प्राणेषु ॥४॥

राजन् ! एक बार की बात है कि शौनक कापेय तथा अभिप्रतारि काक्षसेनि को जब भोजन परोसा जा रहा था, तब उनसे एक ब्रह्मचारी ने आकर भिक्षा मांगी। उसे उन्होंने भिक्षा न दी ॥५॥

ब्रह्मचारी ने कहा—अग्नि, सूर्य, चन्द्र और जल—ये चार, एवं वाणी, चक्षु, श्रोत्र तथा मन—ये चार, मानो महात्मा है, इन चारों के मुकाबिले में एक देव है—अधिदैवत (ब्रह्माण्ड की) दृष्टि से 'वायु' तथा अध्यात्म (पिंड की) दृष्टि से 'प्राण'। वह कैसा है ? वह ऐसा है जो इकला होता हुआ इन चारों को खा जाता है, परन्तु फिर भी हे कापेय ! हे अभिप्रतारिन् ! वह भुवनों की रक्षा करता है, अनेक रूपों में वह बस रहा है, फिर भी उसे लोग देखते नहीं। यह अन्न उसी प्राण के लिये तो है, मैं उस प्राण के लिये ही तो भिक्षा मांगता था, परन्तु जिसके लिये अन्न है उसी को तुमने नहीं दिया, तुमने मुझे नहीं, प्राण-ब्रह्म को अन्न देने में इन्कार कर दिया ॥६॥

तौ वै—वे दोनों ही, एतौ द्वौ—ये दो, संवर्गौ—समाहर्ता (प्रलयकर्ता) हैं, वायु एव—वायु ही, देवेषु—(ब्रह्माण्ड के) देवों में, प्राण—प्राण (श्वास-प्रश्वास), प्राणेषु—(पिण्ड की) इन्द्रियों में ॥४॥

अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं
परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे तस्मा उ ह न ददतुः ॥५॥

अथ ह—एक बार ऐसा हुआ कि, शौनकम्—शुनक के पुत्र शौनक को, च—और, कापेयम्—कपि गोत्रवाले, अभिप्रतारिणम्—अभिप्रतरिन-नामक, च—और, काक्षसेनिम्—कक्षसेन के पुत्र, परिविष्यमाणौ—जिन्हें (रसोइयों द्वारा) भोजन परोसा जा रहा था, उन दोनों को (से), ब्रह्मचारी—(किसी-ब्रह्मज्ञानाभिलाषी) ब्रह्मचारी ने, बिभिक्षे—अन्न-भिक्षा माँगी, तस्मै उ ह—उस ब्रह्मचारी को, न—नहीं, ददतुः—(भिक्षा) दी ॥५॥

स होवाच। महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य
गोपास्तं कापेय नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्रतारिन्बहुधा
वसन्तं यस्मै वा एतदन्नं तस्मा एतन्न दत्तमिति ॥६॥

स ह—वह (ब्रह्मचारी), उवाच—बोला, महात्मनः—महान् आत्मा (गतिशीलता, व्यापकत्व) वाले, चतुरः—चारों (अग्नि-सूर्य-चन्द्र-जल तथा वाणी-चक्षु-श्रोत्र-मन) को, देवः—देव, एकः—एक, कः—कौन-सा है या 'क'-(सुख रूप) देवता-प्रजापति देवता, सः—वह, जगार—निगल जाता है, लीन

शौनक कापेय ने ब्रह्मचारी के कथन पर मनन किया और उसे कहा—निस्सदेह ब्रह्माड में 'वायु' उन चारो देवो का तथा पिंड में 'प्राण' चारो इन्द्रियो का आत्मा है, ये चारो 'वायु' तथा 'प्राण' को क्रमश प्रजाए हैं। 'वायु' तथा 'प्राण' इन चारो को खा भी जाते हैं, और जाग्रत् में इन्हें प्रकट भी कर देते हैं। 'वायु' तथा 'प्राण' सोने के दांत वाले हैं, खा जाते हैं—सब-कुछ अपने भीतर समा लेते हैं, मानो जीवित हो। इनकी महिमा महान् है क्योकि स्वय न खाये जाते हुए ही जो खाया नही जा सकता उसे भी खा जाते हैं। हे ब्रह्म-चारिन्! हम भी ब्रह्माड में 'वायु-ब्रह्म' तथा पिंड में 'प्राण-ब्रह्म' की उपासना करते हैं। यह कहकर उसने परोसने वाले को कहा कि ब्रह्मचारी को भिक्षा दे दो ॥७॥

कर लेता है, **भुवनस्य**—सम्पूर्ण उत्पन्न 'भू' आदि लोको का, **गोपा**—रक्षा, पालन करने वाला, **तम्**—उस (रक्षक और भक्षक—विधर्ता और महर्ता 'क'—प्रजापतिरूप ईश्वर) को, **कापेय**—हे कापेय!, **न**—नही, **अभिपश्यन्ति**—सर्वत्र विद्यमान देखते हैं, **मर्त्या**—मरण-धर्मा मनुष्य, **अभिप्रतारिन्**—हे अभिप्रतारिन्, **बहुधा**—बहुत प्रकार से (नाना रूपो में—सब मे), **वसन्तम्**—निवास करनेवाले, विद्यमान, **यस्मै**—जिस के लिए, **वै**—ही, **एतद्**—यह, **अन्नम्**—अन्न है, **तस्मै**—उसको, **एतद् अन्नम्**—यह अन्न, **न दत्तम्**—नही दिया, **इति**—यह (कहा) ॥६॥

तदु ह शौनक कापेय प्रतिमन्वान प्रत्येयायाऽऽत्मा देवाना जनिता प्रजाना हिरण्यदंष्ट्रो बभसोऽनसूरिर्महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानो यदनन्नमत्तीति वै वय ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे दत्तास्मै भिक्षामिति ॥७॥

तद्—उस (कथन) को, **उ ह**—ही, **शौनक कापेय**—कापेय शौनक, **प्रतिमन्वान**—मनन कर स्वीकार करता हुआ, **प्रत्येयाय**—(उस ब्रह्मचारी की) ओर आया (और कहा), **आत्मा**—व्यापक, आधार, **देवानाम्**—(ऊपर कहे पिण्ड और ब्रह्माण्ड के) देवताओं का, **जनिता**—उत्पन्न करनेवाला, **प्रजानाम्**—प्रजाओं का (सब चर-जगत् का), **हिरण्यदंष्ट्र**—सोने की (अमृत) दाढो वाला (प्रलय करने में सर्वदा समर्थ), **बभस**—(सब का) भक्षण करने वाला, **अन+सूरि**—सर्व-प्राणदाता एव सर्व-प्रेरक, **महान्तम्**—बडी, **अस्य**—इस 'क'-प्रजापति की, **महिमानम्**—महत्ता को, **आहु**—कहते हैं, वर्णन करते हैं, **अनद्य-मान**—स्वय न खाये जाने वाला, अविनाशी, **यत्**—जो, **अनन्नम्**—अभोज्य (काय प्रकृति) को, **अत्ति**—खा जाता है, अपने में लीन कर लेता है, **इति**

उन्होंने ब्रह्मचारी को भिक्षा दे दी। 'वायु' तथा 'प्राण' के सम्बन्ध में यह कथानक सुनाने के बाद रैक्व ने फिर कहा—राजन्! 'ब्रह्माण्ड' के ४ देवता (अग्नि, सूर्य, चन्द्र, जल) तथा 'वायु' मिलकर पांच होते हैं, इसी प्रकार 'पिंड' की इन्द्रियां (वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन) तथा 'प्राण' मिलकर पांच होते हैं। ये सब दस हैं, और ये दसों मानो 'कृत' हैं, संसार का जूआ खेलने के पासे हैं, इन्हीं से यह विश्व का प्रपंच खेल रहा है। जैसे 'वायु' अग्नि-सूर्य-चन्द्र-जल इन चारों का भक्षण कर जाती है, इन्हें अपना 'अन्न' बना लेती है, जैसे 'प्राण' वाणी-चक्षु-श्रोत्र-मन इन चारों को समेट लेता है, इन्हें अपना 'अन्न' बना लेता है, वैसे विश्व की यह 'विराट्'-शक्ति सबको 'अन्न' बनाकर उसका भक्षण कर रही है, सबकी 'अन्नाद' है, सबको जुए में लगाए बैठी है, सबकी 'भोक्ता' है, और 'द्रष्टा' रूप में वर्तमान है। जो यह जानता है, जो यह जानता है, वह 'द्रष्टा' रूप होकर विचरता है, संसार में 'भोक्ता' होकर रहता है ॥८॥

वै—ऐसे (स्वरूपवाले के) ही, वयम्—हम (ज्ञानी), ब्रह्मचारिन्—हे ब्रह्मचारिन्, आ—सब ओर, पुर्गनया इदम्—इस (ब्रह्म) को, उपास्महे—उपासना करते हैं, दत्त—(हे नृपकुमारो!) दो, अस्मै—इस (ब्रह्मचारी) को, भिक्षाम्—अन्न-भिक्षा, इति—यह (कापेय ने कहा) ॥७॥

तस्मा उ ह ददुस्ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतं
तस्मात्सर्वासु दिक्ष्वन्नमेव दश कृतं्ँ सैषा विराडन्नादी तयेदं्ँ सर्वं
दृष्टं्ँ सर्वमस्येदं दृष्टं भवत्यन्नादो भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥८॥

तस्मै—उस ब्रह्मचारी को, उ ह—निश्चय से, ददु—दे दी, ते—वे, वै—ही, एते—ये, पञ्च—पाँच (अग्नि, सूर्य, चन्द्र, जल तथा वायु), अन्ये—दूसरे, पञ्च—पाँच (वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन तथा प्राण), अन्ये—दूसरे, दश—दस, सन्त—होते हैं, तत्—तो (ये दस), कृतम्—पासे हैं या सफल मनोरथ हैं, तस्मात्—इस कारण, सर्वासु—सब, दिक्षु—दिशाओं में, अन्नम् एव—अन्न ही, दशकृतम्—दस तरह के पासे, या दसों प्रकार के मनोरथ, सा—वह, एषा—यह, विराट्—विश्व की विराट्-शक्ति, अन्नादी—सब को अन्न बना कर उसका भक्षण कर रही है, तया—उस विराट्-शक्ति द्वारा, इदम्—यह, सर्वम्—सब, दृष्टम्—देखा जाता है, सर्वम्—सब, अस्य—इसका, इदम्—यह, दृष्टम्—देखा गया, भवति—होता है, अन्नाद—अन्न का भोक्ता,

('सवर्ग'-विद्या का अभिप्राय यह है कि 'वायु' तथा 'प्राण' की तरह 'भोक्ता' बनकर रहे, 'भोग्य' बनकर नही, ससार को अपने अन्दर समेटे, दूसरो मे सिमिटता न फिरे, जूए के 'कृत' पासे की तरह ऐसा पासा फेके कि अन्य सब पासे इसी मे आ जाय, सबको हरा दे, सबको 'अन्न' बना दे, 'भोग्य' बना दे। स्वय ससार का भोक्ता, ससार का राजा बनकर रहे---यह गाडीवान रैक्व ऋषि की 'सवर्ग'-विद्या है।

'कृत' का अर्थ हमने जो कृतकृत्य हो गया है, सफल मनोरथ हो गया है---यह भी किया है। इस अर्थ मे उक्त सन्दर्भ का यह अर्थ है कि जैसे सफल-मनोरथ व्यक्ति के साथ दूसरे सब व्यक्ति आ मिलते है वैसे वायु मे ब्रह्माड के शेष चारो देव तथा प्राण मे पिड की सब इन्द्रिया आ सिमिटती है। इनका इस प्रकार वायु तथा प्राण मे आ सिमिटना ही रैक्व ऋषि की सवर्ग-विद्या है।)

चतुर्थ प्रपाठक---(चौथा खंड)

(ब्रह्मज्ञानी सत्यकाम की कथा, ४ से ९ खड)

कहते है कि एक बार जबाला के पुत्र सत्यकाम ने अपनी माता से पूछा, हे भवति! मेरी इच्छा ब्रह्मचर्य धारण करने की है, मुझे यह तो बताओ, मेरा क्या गोत्र है? ॥१॥

भवति---होता है, य---जो, एवम्---इस प्रकार, वेद---जानता है, य---जो, एवम्---इस प्रकार, वेद---जानता है ॥८॥

सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयाचक्रे
ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि किंगोत्रो न्वहमस्मीति ॥१॥

सत्यकाम---सत्यकाम-नामक, ह---पहले किसी समय मे, जाबाल---जबाला का पुत्र, **जबालाम्**---जबाला-नामक, **मातरम**---(अपनी) माता को (से), **आमन्त्रयाचक्रे**---आग्रहपूर्वक बोला, **ब्रह्मचर्यम्**---ब्रह्मचर्य (आश्रम), **भवति**---हे पूजनीय माता!, **विवत्स्यामि**---धारण करूँगा, **किं-गोत्र**---किस गोत्रवाला, **नु**---तो, **अहम्**---मैं, **अस्मि**---हूँ, **इति**---(मेरा गोत्र क्या है?) यह (पूछा) ॥१॥

माता ने पुत्र से कहा, बेटा ! मैं नही जानती तू किस गोत्र का है। मैं युवावस्था में अनेक व्यक्तियो की सेवा किया करती थी, उसी समय मैंने तुझे पाया, इसलिये मुझे नही मालूम तेरा क्या गोत्र है। बस, जवाला मेरा नाम है, सत्यकाम तेरा नाम है। सो गुरु के पूछने पर कह देना कि तू जावाल सत्यकाम है ॥२॥

सत्यकाम गौतम-गोत्री हारिद्रुमत मुनि के पास जाकर बोला, हे भगवन् ! मैं आपके पास ब्रह्मचर्य-वास करूगा, इस कारण मैं आपके चरणो में उपस्थित हुआ हू ॥३॥

सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि । बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे । साऽहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि । जवाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि । स सत्यकाम एव जावालो ब्रुवीथा इति ॥२॥

सा ह—वह, एनम्—इस (सत्यकाम) को, उवाच—बोली, न अहम् एतद् वेद—नही मै यह जानती हू, तात—हे प्रिय पुत्र !, यद्-गोत्र—जिस गोत्रवाला, त्वम् असि—तू है, बहु—अत्यधिक, अहम्—मै, चरन्ती—गृह-कर्म करती हुई, कार्यो मे व्यस्त, परिचारिणी—(पति की) सेवा मे रत (मैंने), यौवने—जवानी मे, त्वाम्—तुझ को, अलभे—प्राप्त किया था, सा अहम्—वह (पहले कार्य-सेवा मे व्यस्त और अब पति-विहीन) मैं, एतद् न वेद—यह नही जानती हू, यद्-गोत्र—जिस-गोत्रवाला, त्वम् असि—तू है, जवाला तु नाम—जवाला नामवाली तो, अहम् अस्मि—मैं हू, सत्यकाम नाम त्वम् असि—सत्यकाम नामवाला तू है, स—वह तू, सत्यकाम एव जावाल—जवाला का पुत्र सत्यकाम (मैं हू यह) ही, ब्रुवीथा—कह देना, इति—यह (माता ने कहा) ॥२॥

स ह हारिद्रुमत गौतममेत्योवाच ब्रह्मचर्यं
भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति ॥३॥

स ह—और वह, हारिद्रुमतम्—हरिद्रुमत् के पुत्र, गौतमम्—गोतम गोत्री (के पास), एत्य—जाकर, उवाच—बोला, ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्मचर्य-व्रत, भगवति—माननीय आप (की सेवा) मे, वत्स्यामि—धारण करूगा, उपेयाम्—उपस्थित हुआ हू, भगवन्तम्—माननीय (आपके पास), इति—यह (कहा) ॥३॥

मुनि ने पूछा सोम्य ! तेरा गोत्र क्या है ? उसने उत्तर दिया, हे भगवन् ! मैं नहीं जानता, मेरा क्या गोत्र है। मैंने मातृ-श्री से पूछा था, उन्होंने मुझे उत्तर दिया कि युवावस्था में वे अनेक व्यक्तियों की सेवा किया करती थीं, उसी समय मेरा जन्म हुआ, इसलिये उन्हें नहीं मालूम कि मेरा क्या गोत्र है। माता ने कहा कि जबाला उनका नाम है, सत्यकाम मेरा नाम है। सो भगवन् ! मैं जाबाल सत्यकाम हूं ॥४॥

मुनि कहने लगे, जो ब्राह्मण न हो वह तो ऐसी बात कह नहीं सकता। हे सोम्य ! समिधा ले आ, मैं तुझे उपनयन की दीक्षा दूंगा।

तँ होवाच किंगोत्रो नु सोम्यासीति। स होवाच नाहमेतद्वेद भो यद्गोत्रोऽहमस्म्यपृच्छं मातरँ सा मा प्रत्यब्रवीद् बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। साऽहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसीति। सोऽहँ सत्यकामो जाबालोऽस्मि भो इति ॥४॥

तम् ह उवाच—उसको (गौतम ने) कहा, किंगोत्र—किस गोत्र वाला, नु—तो, सोम्य—हे सुशील ! असि—तू है, इति—ऐसे, स ह उवाच—उस (सत्यकाम) ने कहा, न अहम् एतद् वेद—नहीं मैं यह जानता हूं, भो—हे (आदरणीय) ! यद्-गोत्र अहम् अस्मि—जिस गोत्रवाला मैं हूं, अपृच्छम्—(मैंने) पूछा था, मातरम्—(अपनी) माता को (मैंने), सा—उसने, मा—मुझको, प्रति+अब्रवीत्—उत्तर में बताया (कहा), बहु अहं चरन्ती—मैंने बहुत अधिक गृह-कर्म करते हुए, परिचारिणी—पति-सेवा में तत्पर, यौवने त्वाम् अलभे—जवानी में तुझे पाया था, सा अहम् एतद् न वेद यद्-गोत्र त्वम् असि—वह मैं यह नहीं जानती हूं कि जिस-गोत्र वाला तू है, जबाला तु नाम अहम् अस्मि—जबाला नामवाली तो मैं हूं, सत्यकाम नाम त्वम् असि—सत्यकाम नामवाला तू है, इति—यह (माता ने कहा था), स अहम्—वह मैं, सत्यकाम जाबाल अस्मि—सत्यकाम जबाला का पुत्र हूं, भो—हे भगवन्, इति—यह (सत्यकाम ने कहा) ॥४॥

तँ होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति। समिधँ सोम्याऽऽहरोप त्वा नेष्ये। न सत्यादगा इति। तमुपनीय कृशानामबलानां चतुःशता गा निराकृत्योवाचेमाः सोम्यानुसंव्रजेति। ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच नासहस्रेणावर्तयेति। स ह वर्षगणं प्रोवास। ता यदा सहस्रँ सम्पेदुः ॥५॥

तम् ह—उस (सत्यकाम) को, उवाच—(गुरु गौतम ने) कहा, न—नहीं, एतद्—यह (बात), अब्राह्मण—ब्राह्मण से भिन्न, विवक्तुम्—स्पष्ट-

तू सत्य से नहीं डिगा। उसका उपनयन करके मुनि ने कृश तथा निर्बल ४०० गौएं छांटकर उसे कहा, हे सोम्य! इनके पीछे जाओ, इनकी सेवा करो। गौओं को हांकते समय सत्यकाम ने गुरु से कहा, जब तक ये बछड़े-बछड़ी बढ़कर १,००० नहीं हो जाएंगे, मैं नहीं लौटूंगा। वह वर्षों तक प्रवास में रहा। वे जब सहस्र हो गये ॥५॥



सत्यकाम ४०० गौओं को लेकर उन्हें चराता रहा

तथा कहने के लिए, अर्हति—योग्य (समर्थ) होता है, (विवक्तुम् अर्हति—स्पष्टतया कह सकता है—अतः तू ब्राह्मण ही है), समिधम्—समिधा को, सोम्य!—हे सुशील वत्स, आहर—ले आ, उप त्वा नेष्ये (त्वा उपनेष्ये)—तेरा

चतुर्थ प्रपाठक—(पांचवां खंड)

तब उन गाय-बैलों में से एक बैल ने सत्यकाम को पुकारा— सत्यकाम! सत्यकाम ने यह सुनकर उत्तर दिया, भगवन्! क्या आज्ञा है? बैल ने कहा, हे सोम्य! हम हजार हो गये हैं, हमें आचार्य-कुल में पहुंचा दो ॥१॥

तुमने इतने साल हमारी सेवा की है इसलिये तुझे 'ब्रह्म' के एक पाद का रहस्य समझा दूं। सत्यकाम ने कहा, भगवन्! समझाइये।

उपनयन करूंगा (अपना ब्रह्मचारी शिष्य बनाऊंगा), न—नहीं, सत्यात्—सत्य (कथन) से, अगा—गया, डिगा, इति—यह (कहकर), तम्—उसको (का), उपनीय—उपनयन (यज्ञोपवीत-संस्कार) करके, कृशानाम्—अति कृश, अबलानाम्—निर्बल (गौओं में से), चतुःशता—चार सौ, गा—गौओं को, निराकृत्य—(गो-व्रज में) छांट कर, उवाच—बोला, इमा—इनको, सोम्य—हे सुशील! अनुसंव्रज—पीछे-पीछे चलकर घेर (रखवाली कर), इति—यह (कहा), ता—उनको, अभिप्रस्थापयन्—वन की ओर भेजते हुए, उवाच—बोला, न—नहीं, असहस्रेण—बिना (इनके) हजार हुए, आवर्त्तय—लौटा कर लाना (जब ये हजार हो जांय तब ही यहां लाना), इति—यह (आदेश गुरु ने दिया), (पाठान्तर आवर्तेय—लौटा कर लाऊंगा, इति—यह सत्यकाम ने कहा), स. ह—वह (सत्यकाम), वर्षगणम्—कई वर्ष तक, प्रोवास—परदेश में रहा, ता—वे (गौएं), यदा—जब, सहस्रम्—एक हजार, सपेदु—हो गईं ॥५॥

अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद, सत्यकाम ३ इति, भगव इति ह प्रतिशुश्राव। प्राप्ताः सोम्य सहस्रं स्मः प्रापय न आचार्यकुलम् ॥१॥

अथ ह—तो, इसके बाद, एनम्—इस (सत्यकाम) को, ऋषभ—गो-पति वृषभ (बैल) ने, अभ्युवाद—पुकारा, कहने लगा, सत्यकाम—हे सत्यकाम, इति—इस (प्रकार), भगव—हे भगवन् (भाग्यशालिन्)!, इति ह—इस प्रकार, प्रतिशुश्राव—(सत्यकाम ने) उत्तर में कहा, (ऋषभ ने कहा) प्राप्ता—हो गये, सोम्य—हे सुशील!, सहस्रम्—हजार, स्म—हैं, (सहस्रम् प्राप्ता स्म—हम हजार हो गये हैं), प्रापय—पहुँचा, न—हमको, आचार्य-कुलम्—आचार्य (गौतम) के घर ॥१॥

ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति। ब्रवीतु मे भगवानिति। तस्मै होवाच। प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम ॥२॥

तब उसे बैल ने कहा, हे सोम्य ! ब्रह्म के चार पाद हैं, चार चरण हैं, जिनमें से एक का नाम 'प्रकाशवान्' है। इस 'प्रकाशवान्'-चरण की चार कलाएं हैं—प्राची-दिक्-कला, प्रतीची-दिक्-कला, दक्षिण-दिक्-कला, उदीची-दिक्-कला ॥२॥

जो व्यक्ति 'ब्रह्म' के चार कलाओं वाले 'प्रकाशवान्-चरण' के रहस्य को जानता हुआ उसकी उपासना करता है वह इस लोक में स्वयं 'प्रकाशवान्' हो जाता है, और जो इस प्रकार ब्रह्म के 'चतुष्कल-प्रकाशवान्-चरण' के रहस्य को जानता हुआ उसकी उपासना करता है वह दूसरे 'प्रकाशवान्' लोकों को भी जीत लेता है ॥३॥

(इस प्रकरण का यह अभिप्राय है कि क्योंकि सत्यकाम गौओं के साथ बैल को लेकर चारों दिशाओं में फिरता रहा इसलिए इस

ब्रह्मण च—और ब्रह्म का, **ते**—तुझे, **पादम्**—पाद (चरण), **ब्रवाणि**—उपदेश करूं, **इति**—ऐसे, **ब्रवीतु**—उपदेश करें, **मे**—मुझे, **भगवान्**—आदरणीय आप, **इति**—यह (सत्यकाम ने प्रार्थना की), **तस्मै ह**—उस (सत्यकाम) को, **उवाच**—(ऋषभ ने) कहा, **प्राची दिक्**—पूर्व दिशा, **कला**—(एक) अंश (है), **प्रतीची दिक्**—पश्चिम दिशा, **कला**—(दूसरा) अंश है, **दक्षिणा दिक्**—दक्षिण दिशा, **कला**—(तीसरा) अंश है, **उदीची दिक्**—उत्तर दिशा, **कला**—(चौथा) अंश है, **एष वै**—यह ही, **सोम्य**—हे प्रिय !, **चतुष्कल**—चार कला (अंश) वाला, **पाद**—पाद, **ब्रह्मण**—ब्रह्म का, **प्रकाशवान् नाम**—(जिसमें प्रकाश की आधार दिशाएं हैं और स्वयं ज्योति स्वरूप है) 'प्रकाशवान्' नामवाला (प्रथम पाद है) ॥२॥

स य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते
प्रकाशवानस्मिँल्लोके भवति प्रकाशवतो ह लोकाञ्जयति
य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते ॥३॥

स य—वह जो, **एतम्**—इसको, **एवं विद्वान्**—इस प्रकार जानता हुआ, **चतुष्कलम्**—चार अंशोंवाले, **पादम्**—पाद को, **ब्रह्मण**—ब्रह्म के, **प्रकाशवान् इति**—'प्रकाशवान्' इस नाम-रूप से, **उपास्ते**—उपासना करता है, विचार करता है, **प्रकाशवान्**—प्रकाशित, प्रसिद्ध, **अस्मिन् लोके**—इस लोक (जन्म) में, **भवति**—हो जाता है, **प्रकाशवत**—प्रकाशयुक्त, ज्योतिष्मान्, **ह**—अवश्य, **लोकान्**—लोकों को, **जयति**—जीत लेता है, अधिकारी होता है, **य एतम् उपास्ते**—जो इस उपासना करता है (द्विरुक्ति आदरार्थ, खण्ड-समाप्ति द्योतनार्थ) है ॥३॥

साधना से उसे मानो बैल के द्वारा यह ज्ञान हो गया कि इन चारों दिशाओं में जिनमें मैं फिरता रहा, ब्रह्म का ही प्रकाश फैल रहा है।)

चतुर्थ प्रपाठक--(छठा खंड)

बैल ने फिर कहा--तुझे ब्रह्म के दूसरे चरण का ज्ञान अग्नि देगा। सत्यकाम ने अगले दिन आचार्य-कुल चलने के लिये प्रस्थान कर दिया, और गौओं को हांक दिया। उन्हें चलते हुए जहां सन्ध्या हुई वहां आग जलाकर, गौओं को रोककर, समिधा का आधान करके, अग्नि के पीछे पूर्वाभिमुख बैठ गया ॥१॥

उस समय उसके सामने अग्नि-देवता प्रकट हुआ और पुकारा--सत्यकाम! सत्यकाम ने यह सुनकर उत्तर दिया, भगवन्! क्या आज्ञा है? ॥२॥

अग्निष्टे पादं वक्तेति। स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार। ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय, गा उपरुध्य, समिधमाधाय, पश्चादग्नेः प्राङ्पोपविवेश ॥१॥

अग्निः—अग्नि, ते—तुझे, पादम्—(दूसरा) पाद, वक्ता—उपदेश करेगा, इति—यह (ऋषभ ने स्वयं उपदेश कर सूचनार्थ कहा), स ह—उस (सत्यकाम) ने, श्वः भूते—(आनेवाला) कल होने पर (अगले दिन), गाः—गौओं को, अभिप्रस्थापयांचकार—घर की ओर हाँका, ताः—वे (गौएँ), यत्र—जहां, जिस स्थान पर, अभिसायम्—सायंकाल की ओर, बभूवुः—हुई (उन्हें जब सायंकाल हो गया), तत्र—उस स्थान में, अग्निम्—अग्नि को, उप समाधाय—स्थापित कर (प्रदीप्त कर), गाः—गौओं को, उपरुध्य—रोक कर, घेर कर, समिधम्—समिधा को, आधाय—(अग्नि में) रख कर, पश्चात्—पश्चिम की ओर, अग्नेः—अग्नि के, प्राङ्—पूर्वाभिमुख, उप+उपविवेश—पास में बैठ गया ॥१॥

तमग्निरभ्युवाद, सत्यकाम ३ इति, भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥२॥

तम्—उसको, अग्निः—अग्नि ने, अभ्युवाद—आवाज़ दी, सत्यकाम ३!—हे सत्यकाम, इति—ऐसे, भगव—हे भगवन्, इति ह—ऐसे, प्रतिशुश्राव—(सत्यकाम ने) प्रत्युत्तर दिया ॥२॥

अग्नि-देव ने कहा, हे सोम्य ! 'ब्रह्म' के दूसरे पाद का रहस्य मैं तुझे समझा दूं । सत्यकाम ने कहा, भगवन् ! समझाइये । अग्नि-देव बोले, हे सोम्य ! ब्रह्म के चार पाद हैं जिनमें से एक का नाम 'अनन्तवान्' है । इस 'अनन्तवान्'-चरण की चार कलाएं हैं—पृथिवी-कला, अन्तरिक्ष-कला, द्यौ-कला, समुद्र-कला ॥३॥

जो व्यक्ति 'ब्रह्म' के चार कलाओं वाले 'अनन्तवान्-चरण' के रहस्य को जानता हुआ उसकी उपासना करता है वह इस लोक में 'अनन्तवान्' हो जाता है, और जो इस प्रकार ब्रह्म के 'चतुष्कल-अनन्तवान्-चरण' के रहस्य को जानता हुआ उसकी उपासना करता है वह दूसरे 'अनन्तवान्' लोकों को भी जीत लेता है ॥४॥

ब्रह्मण सोम्य ते पाद ब्रवाणीति । ब्रवीतु मे भगवानिति ।
तस्मै होवाच । पृथिवी कलाऽन्तरिक्ष कला द्यौ कला समुद्र
कलैष वै सोम्य चतुष्कल पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम ॥३॥

ब्रह्मण—ब्रह्म का, **सोम्य**—हे सुशील, **ते**—तुझे, **पादम्**—(दूसरा) चरण, **ब्रवाणि**—उपदेश दूं, **इति**—यह, **ब्रवीतु**—कहे, उपदेश करे, **मे**—मुझे, **भगवान्**—आदरणीय आप, **इति**—यह (सत्यकाम ने कहा), **तस्मै ह**—उस (सत्यकाम) को, **उवाच**—(अग्निदेव ने) उपदेश दिया, **पृथिवी**—पृथ्वी, **कला**—(एक) अंश है, **अन्तरिक्षम् कला**—अन्तरिक्ष (दूसरा) अंश है, **द्यौ कला**—द्युलोक (तीसरा) अंश है, **समुद्र कला**—समुद्र (चौथा) अंश है, **एष वै**—यह ही, **सोम्य**—हे सुशील शिष्य, **चतुष्कल**—चार कलाओं (अंशों) वाला, **पाद**—(दूसरा) पाद, **ब्रह्मण**—ब्रह्म का, **अनन्तवान्**—(जिसमें ये अनन्त लोक हैं और जिसका अन्त नहीं) अनन्तवान्, **नाम**—नामवाला है ॥३॥

स य एतमेव विद्वांश्चतुष्कल पाद ब्रह्मणोऽनन्तवानित्यु-
पास्तेऽनन्तवानस्मिल्लोके भवत्यनन्तवतो ह लोकाञ्जयति
य एतमेव विद्वांश्चतुष्कल पाद ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्ते ॥४॥

स य एतम् एवम् विद्वान् चतुष्कलम् पादम् ब्रह्मण अनन्तवान् इति उपास्ते—वह जो (उपासक) ब्रह्म के इस चार अंशों वाले पाद को इस प्रकार जानता हुआ ब्रह्म की 'अनन्तवान्' इस रूप में उपासना करता है, **अनन्तवान् अस्मिन् लोके भवति**—अनन्तवाला (निसीम) इस लोक (जन्म) में होता है, **अनन्तवत ह लोकान् जयति**—और (पर-जन्म में) अनन्तवान् लोकों का अधिकारी हो जाता है, **य एतम् उपास्ते**—जो इस उपासना करता है ॥४॥

(गौ चराते हुए सत्यकाम का एक साथी बैल था जिसने पहला उपदेश दिया। दूसरा साथी अग्नि थी—वह दिन को उससे भोजन बनाता, और रात को उसे तापता था। अग्नि ने इसे भौतिक-प्रकाश तो दिया ही, परन्तु साथ ही यह आध्यात्मिक-प्रकाश भी दिया कि पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु, समुद्र कितने विशाल हैं, मानो अनन्त हैं, इसी प्रकार ब्रह्म भी अनन्त है।)

चतुर्थ प्रपाठक—(सातवां खंड)

अग्नि ने फिर कहा—तुझे ब्रह्म के तीसरे चरण का ज्ञान हंस, अर्थात् सूर्य देगा। सत्यकाम ने अगले दिन आचार्य-कुल चलने के लिये प्रस्थान कर दिया, और गौओं को हाक दिया। उन्हें चलते हुए जहां सन्ध्या हुई वहां आग जलाकर, गौओं को रोककर, समिधा का आधान करके, अग्नि के पीछे पूर्वाभिमुख बैठ गया ॥१॥

उस समय उसके सामने सूर्य-देव प्रकट हुआ और पुकारा—सत्यकाम! सत्यकाम ने यह सुनकर उत्तर दिया, भगवन्! क्या आज्ञा है? ॥२॥

हंसस्ते पादं वक्तेति। स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाचकार। ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय, गा उपरुध्य, समिधमाधाय, पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥१॥

हंस—हंस-पक्षी या सूर्य, आत्मा, ते—तुझे, पादम्—(तीसरे) पाद को, वक्ता—कहेगा, उपदेश करेगा, इति—यह (अग्नि ने कहा), स ह—और उसने, श्व भूते—आनेवाला कल होने पर, अगले दिन, गा—गौओं को, अभिप्रस्थापयाचकार—(घर की) ओर हांका, ता—वे गौएँ, यत्र—जिस स्थान पर, अभिसायम्—सायंकाल की ओर, बभूवु—हुई (जहाँ सायंकाल हुआ) तत्र—उस स्थान में, अग्निम्—अग्नि को, उपसमाधाय—स्थापित कर, प्रज्वलित कर, गा—गौओं को, उपरुध्य—रोक-घेर कर, समिधम् आधाय—समिदाधान कर, पश्चाद्—पश्चिम की ओर, अग्ने—उस-अग्नि के, प्राङ्—ओर पूर्वाभिमुख, उप-उपविवेश—पास बैठ गया ॥१॥

तं हंस उपनिपत्याभ्युवाद, सत्यकाम ३ इति, भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥२॥

तम्—उस (सत्यकाम) को, हंस—हंस ने, उपनिपत्य—(उसके) पास नीचे आकर, अभ्युवाद—आवाज़ दी, सत्यकाम ३—हे सत्यकाम ३!,

सूर्य-देव ने कहा, हे सोम्य ! 'ब्रह्म' के तीसरे पाद का रूप मैं तुझे समझा दूं। सत्यकाम ने कहा, भगवन् ! समझाइये। सूर्य-देव बोले, हे सोम्य ! ब्रह्म के चार पाद हैं जिनमें से एक का नाम 'ज्योतिष्मान्' है। इस 'ज्योतिष्मान्'-चरण की चार कलाएं हैं—अग्नि-कला, सूर्य-कला, चन्द्र-कला, विद्युत्-कला ॥३॥

जो व्यक्ति 'ब्रह्म' के चार कलाओं वाले 'ज्योतिष्मान्-चरण' के रहस्य को जानता हुआ उसकी उपासना करता है वह इस लोक में 'ज्योतिष्मान्' हो जाता है, और जो इस प्रकार ब्रह्म के 'चतुष्कल-ज्योतिष्मान्-चरण' के रहस्य को जानता हुआ उसकी उपासना करता है वह दूसरे 'ज्योतिष्मान्' लोकों को भी जीत लेता है ॥४॥

इति—ऐसे (कहकर), भगव—हे भगवन् !, इति ह—यह (कहकर), प्रतिशुश्राव—(सत्यकाम ने) प्रत्युत्तर में कहा ॥२॥

ब्रह्मण सोम्य ते पाद ब्रवाणीति। ब्रवीतु मे भगवानिति।
तस्मै होवाचाग्नि कला सूर्य कला चन्द्र कला विद्यु-
त्कलैष वै सोम्य चतुष्कल पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नाम ॥३॥

ब्रह्मण—ब्रह्म का, सोम्य !—हे सुशील वत्स !, ते—तुझे, पादम्—पाद (प्राप्ति का साधन), ब्रवाणि—कहूँ, इति—यह (हंस ने कहा), ब्रवीतु—कहें, उपदेश करें, मे—मुझे, भगवान्—आदरणीय आप, इति—यह (सत्यकाम ने प्रार्थना की), तस्मै ह—उस (सत्यकाम) को, उवाच—(हंस ने) कहा, अग्नि कला—अग्नि (एक) अंश है, सूर्य कला—सूर्य (इस पाद का दूसरा) अंश है, चन्द्र कला—चन्द्रमा (तृतीय) अंश है, विद्युत् कला—बिजली (चौथा) अंश है, एष वै—यह ही सोम्य—सुशील !, चतुष्कल—चार अंश वाला, पाद—(तीसरा) पाद, ब्रह्मण—ब्रह्म का, ज्योतिष्मान्—ज्योतिष्मान् (ज्योति स्वरूप), नाम—नामवाला है ॥३॥

स य एतमेव विद्वांश्चतुष्कल पाद ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते
ज्योतिष्मानस्मिंल्लोके भवति ज्योतिष्मतो ह लोकाञ्जयति
य एतमेव विद्वांश्चतुष्कल पाद ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ॥४॥

स य—वह जो, एतम्—इस, एवम् विद्वान्—इस प्रकार जानता हुआ, चतुष्कलम्—चार कला (अंश) वाले, पादम्—चरण को, ब्रह्मण—ब्रह्म के, ज्योतिष्मान्—ज्योति स्वरूप, इति—इस रूप में (नाम से), उपास्ते—उपासना करता है, ज्योतिष्मान्—ज्योति से दीप्त, अस्मिन्—इस, लोके—लोक (जन्म) में, भवति—हो जाता है, ज्योतिष्मत ह—और ज्योति-युक्त,

(वन-वन में भ्रमण करने वाले सत्यकाम का बैल तथा अग्नि के अतिरिक्त तीसरा साथी सूर्य था। सूर्य ने भी उसे यही शिक्षा दी कि अग्नि, सूर्य, चन्द्र, विद्युत्—सबमें ब्रह्म की ही ज्योति छिटक रही है। उसी की ज्योति से सब ज्योतिष्मान् है।)

चतुर्थ प्रपाठक—(आठवां खंड)

सूर्य ने फिर कहा—तुझे ब्रह्म के चौथे चरण का ज्ञान मद्गु, अर्थात् वायु देगा। सत्यकाम ने अगले दिन आचार्य-कुल चलने के लिये प्रस्थान कर दिया, और गौओं को हांक दिया। उन्हें चलते हुए जहां सन्ध्या हुई वहां आग जलाकर, गौओं को रोककर, समिधा का आधान करके, अग्नि के पीछे पूर्वाभिमुख बैठ गया ॥१॥

उस समय उसके सामने वायु-देव प्रकट हुआ और पुकारा—सत्यकाम! सत्यकाम ने यह सुनकर उत्तर दिया, भगवन्! क्या आज्ञा है? ॥२॥

लोकान्—लोकों को, जयति—जीत लेता, अधिकारी हो जाता है, यः—जो एनम्—इस, एवम् विद्वान्—इस प्रकार जानता हुआ, चतुष्कलम्—चार कला वाले, पादम्—पाद (प्राप्ति-साधन) को, ब्रह्मणः—ब्रह्म के, ज्योतिष्मान्—'ज्योतिष्मान्', इति—इस (नाम से), उपास्ते—उपासना करता है ॥४॥

मद्गुष्टे पादं वक्तेति। स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयां-
चकार। ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय, गा
उपरुध्य, समिधमाधाय, पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥१॥

मद्गुः—मद्गु-नामी (जल का जीव), प्राण-वायु, ते—तुझे, पादम्—(ब्रह्म के चौथे) पाद को (का) वक्ता—उपदेश करेगा, इति—यह (हंस ने उपदेश देने के बाद कहा), सः ह—उसने श्वः भूते—कल होने पर, अगले दिन, गाः—गौओं को, अभिप्रस्थापयांचकार—चल दी और हांका, ताः—वे गौएं, यत्र—जिस स्थान पर, अभिसायम्—सायंकाल के अभिमुख, बभूवुः—हुईं, तत्र—उस स्थान पर, अग्निम् उपसमाधाय—अग्नि की स्थापना कर, गाः उपरुध्य—गौओं को रोक-रोककर, समिधम् आधाय—समिदाधान कर, पश्चात्—पश्चिम की ओर, अग्नेः—अग्नि के, प्राङ्—(स्वयं) पूर्वाभिमुख, उप+उपविवेश—पास बैठ गया ॥१॥

तं मद्गुरुपनिपत्याभ्युवाद, सत्यकाम ३ इति, भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥२॥

तम्—उसको, मद्गुः—जल का जीव मद्गु या प्राण-वायु ने, उप निपत्य

वायु-देव ने कहा, हे सोम्य! 'ब्रह्म' के चतुर्थ-पाद का रूप मैं तुझे समझा दूं। सत्यकाम ने कहा, भगवन्! समझाइये। वायु-देव बोले, हे सोम्य! ब्रह्म के चार पाद हैं जिनमें से एक का नाम 'आयतनवान्' है। इस 'आयतनवान्'-चरण की चार कलाएं हैं—प्राण-कला, चक्षु-कला, श्रोत्र-कला, मन-कला ॥३॥

जो व्यक्ति ब्रह्म के चार कलाओं वाले 'आयतनवान्-चरण' के रहस्य को जानता हुआ उसकी उपासना करता है वह इस लोक में 'आयतनवान्'—अर्थात् विस्तारवान्—हो जाता है, और जो इस प्रकार ब्रह्म के 'चतुष्कल-आयतनवान्-चरण' के रहस्य को जानता हुआ उसकी उपासना करता है वह दूसरे 'आयतनवान्'-लोकों को भी जीत लेता है ॥४॥

—नीचे पास आकर, अन्युवाद—आवाज दी, सत्यकाम ३! इति—हे सत्यकाम ३! (इस रूप में), भगव—हे भगवन्, इति—ऐसे, तम्—उस (मद्गु) को, प्रतिशुश्राव—प्रतिवचन दिया ॥२॥

ब्रह्मण सोम्य ते पाद ब्रवाणीति। ब्रवीतु मे भगवानिति।
तस्मै होवाच। प्राण कला चक्षु कला श्रोत्र कला मन
कलैष वै सोम्य चतुष्कल पादो ब्रह्मण आयतनवान्नाम ॥३॥

ब्रह्मण—ब्रह्म का, सोम्य!—हे सुशील वत्स!, ते—तुझे, पादम्—(चौथा) पाद (प्राप्ति-साधन), ब्रवाणि—कहूं, उपदेश दूं, इति—यह (कहा), ब्रवीतु—कहें उपदेश करें, मे—मेरे प्रति, भगवान्—आदरणीय आप, इति—यह (शिष्य ने प्रार्थना की), तस्मै ह—उसको, उवाच—(मद्गु ने) उपदेश किया प्राण कला—प्राण (एक) अंग है, चक्षु कला—नेत्र (दूसरा) अंग है, श्रोत्रम् कला—कर्ण (तृतीय) अंग है, मन कला—मन (चौथा) अंग है, एष—यह वै—ही, सोम्य!—प्रिय वत्स!, चतुष्कल—चार अंगों वाला, पाद—(चौथा) पाद (प्राप्ति-साधन), ब्रह्मण—ब्रह्म का, आयतनवान्—'आयतनवान्' (सब को आश्रयदाता), नाम—नाम वाला है ॥३॥

स य एतमेव विद्वाँश्चतुष्कल पाद ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्त
आयतनवानस्मिँल्लोके भवत्यायतनवतो ह लोकाञ्जयति य
एतमेव विद्वाँश्चतुष्कलं पाद ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते ॥४॥

स य—वह जो, एतम्—इस, एवम् विद्वान्—इस प्रकार जानता हुआ, चतुष्कलम् पादम्—चार अंगों वाले चरण को, ब्रह्मण—ब्रह्म के, आयतनवान्—'आयतनवान्' (सर्वाधार), इति—इस रूप में, इस नाम से, उपास्ते—उपा-

(गौ, अग्नि तथा सूर्य के अतिरिक्त सत्यकाम का चौथा साथी जंगल में वायु था। इसने भी उसे यही शिक्षा दी कि 'ब्रह्मांड' का वायु 'पिंड' का प्राण है, और जैसे शरीर के प्राण पर आंख, कान और मन का अवलम्ब है, वैसे ब्रह्मांड के वायु पर जो ब्रह्मांड का प्राण है, संसार का अवलम्ब—आयतन—है। शरीर की प्राण-शक्ति ब्रह्मांड की वायु-शक्ति है, और वायु-शक्ति ही ब्रह्म-शक्ति है। इस प्रकार सत्यकाम को १६ कलाओं वाले ब्रह्म का ज्ञान हो गया। बैल, अग्नि सूर्य तथा वायु ने चार-चार कलाओं का उपदेश दिया, इसने ब्रह्म की सोलहों कलाओं का वर्णन हो गया।)

चतुर्थ प्रपाठक—(नौवां खंड)

इस प्रकार ब्रह्म-ज्ञानी बनकर सत्यकाम आचार्य-कुल में लौट आया। आचार्य ने कहा—सत्यकाम! यह सुनकर सत्यकाम ने उत्तर दिया, कहिये भगवन्! ॥१॥

आचार्य बोले, सोम्य! ऐसा भासता है कि तुम तो ब्रह्म-ज्ञानी हो गये हो। तुझे किस ने उपदेश दिया? सत्यकाम ने उत्तर दिया,

---

सना करता है, आयतनवान्—सब को आश्रय देनेवाला, अस्मिन्—इस, लोके—लोक (जन्म) में, भवति—हो जाता है, आयतनवत ह—आश्रयप्रदाता, लोकान्—लोकों को (का), जयति—जीत लेता है, अविकारी हो जाता है, य—जो, एतम्—इसको, एवम् विद्वान्—इस प्रकार जानता हुआ, चतुष्कलम् पादम्—चार अंगों वाले चरण को, ब्रह्मण—ब्रह्म के, आयतनवान्—आयतनवान् (आश्रय-प्रदाता), इति—इस नाम से, उपास्ते—ध्यान-उपासना करता है ॥८॥

प्राप हाऽऽचार्यकुलम्। तमाचार्योऽभ्युवाद
सत्यकाम ३ इति। भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥१॥

प्राप ह—पहुंच गया, आचार्यकुलम्—आचार्य (गौतम) के घर को, तम्—उस (सत्यकाम) को, आचार्य—आचार्य ने, अभ्युवाद—आवाज दी, सत्यकाम ३!—हे सत्यकाम ३!, इति—ऐसे, भगव इति ह प्रतिशुश्राव—'हां, भगवन्!' ऐसे उसने प्रत्युत्तर में कहा ॥१॥

ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि, को नु त्वाऽनुशशासेत्यन्ये
मनुष्येभ्य इति ह प्रतिजज्ञे, भगवाँस्त्वेव मे कामं ब्रूयात् ॥२॥

ब्रह्मविद्—ब्रह्म-ज्ञानी, इव—के समान, वै—निश्चय ही, सोम्य—

भगवन् ! मुझे यह ज्ञान किसी मनुष्य से तो प्राप्त हुआ नहीं, परन्तु गुरु तो मैं आपको ही मानता हूं—आप मुझे उपदेश दें ॥२॥

मैंने आप-जैसे गुरुओं से सुना है कि आचार्य से सीखी हुई विद्या ही सब से उत्तम होती है। यह सुनकर आचार्य ने उसे कहा, जो-कुछ तूने सीख लिया है इसमें कुछ शेष नहीं रहा, कुछ शेष नहीं रहा ॥३॥

(प्रकृति में आंख खोलकर फिरते हुए जैसे सत्यकाम को बैल, अग्नि, सूर्य तथा वायु से ब्रह्म-ज्ञान हो गया, वैसे जो भी आंखें खोलकर देखेगा उसे ब्रह्म-ज्ञान हुए बिना नहीं रहेगा—यही इसका आशय है।)

चतुर्थ प्रपाठक—(दसवां खंड)

(उपकोसल को अग्नियों द्वारा 'आत्म-विद्या' का उपदेश, १० से १५ खंड)

(सत्यकाम जाबाल अपने गुरु से उपदेश पाकर स्वयं आचार्य बन गये और उनके आश्रम में भी अनेक ब्रह्मचारी दीक्षा पाने लगे। इस खंड में उनकी शिक्षा-दीक्षा की विधि का वर्णन है।)

हे प्रिय वत्स !, भासि—चमकता है, प्रतीत होता है, क नु—किसने, त्वा—तुझको, अनुशशास—उपदेश दिया है, इति—यह (आचार्य ने पूछा), अन्ये—दूसरों ने, भिन्न, मनुष्येभ्य—मनुष्यों में, इति ह—इस रूप में, प्रतिजज्ञे—प्रत्युत्तर में जताया, भगवान्—आदरणीय आप, तु एव—तो ही, मे—मुझे, कामम्—पर्याप्त, यथेच्छ, (पाठान्तर—कामे—कामना के आधार पर, मेरी चाहना समझकर), ब्रूयात्—उपदेश करें ॥२॥

श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठ
प्रापयतीति तस्मै हैतदेवोवाचात्र ह न किंचन वीयायेति वीयायेति ॥३॥

श्रुतम्—सुना हुआ है, हि—क्योंकि, एव—ही, मे—मेरा, भगवद्-दृशेभ्य—आपके सदृश (पुरुषों) में, आचार्यात्—आचार्य से, हि एव—ही, विद्या—ज्ञान, विदिता—ज्ञात, साधिष्ठम्—अत्यधिक कल्याण को, सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म को, प्रापयति—प्राप्त कराता है, इति—यह (सुना है), तस्मै ह—उस (शिष्य) को, एतद् एव—यह ही, उवाच—(आचार्य ने) कहा, अत्र ह—इस (विषय) में, न—नहीं, किंचन—कुछ भी, वीयाय—शेष रहा है, इति—यह (कहा), वीयाय इति—अवशिष्ट रहा है (द्विरुक्ति बल देने के लिए है) ॥३॥

कमल नामक ऋषि का वंशज उपकोसल, सत्यकाम जाबाल के आश्रम में ब्रह्मचारी था। वह आचार्य की अग्नियों की १२ वर्ष तक परिचर्या करता रहा। आचार्य अन्य अन्तेवासियों का समावर्तन करता रहा, उसने उपकोसल का समावर्तन कर उसे घर नहीं भेजा ॥१॥

सत्यकाम की पत्नी ने उसे कहा—ब्रह्मचारी ने पर्याप्त तपस्या कर ली है, गृह की अग्नियों की भी बहुत सेवा की है—भोजन के लिये आग जलाता रहा है, अग्निहोत्र के लिये समिधाओं का चयन करता रहा है, घर की सदा दीप्त रहने वाली अग्नि की भी देख-रेख करता रहा है। कहीं ऐसा न हो, अग्नियां क्रुद्ध होकर तुम्हें शाप दे दें, इसलिये इसे जो कुछ शिक्षा देनी हो दे दो। यह सब-कुछ सुनने पर भी आचार्य बिना कुछ कहे ही प्रवास में चले गये ॥२॥

उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास।
तस्य ह द्वादशवर्षाण्यग्नीन्परिचचार। स ह स्मान्या-
नन्तेवासिनः समावर्तयंस्तं ह स्मैव न समावर्तयति ॥१॥

उपकोसल—उपकोसल-नामक, ह वै—ही, कामलायन—कमल का वंशज, सत्यकामे जाबाले—जबाला के पुत्र सत्यकाम के पास में, ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्मचर्य को, उवास—निवास किया, (ब्रह्मचर्यम् उवास—ब्रह्मचर्य धारण किया), तस्य ह—उस (आचार्य) की, द्वादश वर्षाणि—बारह वर्ष तक, अग्नीन् (आहवनीय आदि) अग्नियों को (की), परिचचार—सेवा की, सम्पादन किया, स ह—वह (आचार्य) तो, स्म—था, अन्यान्—दूसरे, अन्तेवासिन—शिष्यों का, समावर्तयन्—समावर्तन (दीक्षान्त-संस्कार) कराता हुआ, तम् ह—उसको, स्म—था, एव—ही, न—नहीं, समावर्तयति—दीक्षा समाप्त कराता है ॥१॥

तं जायोवाच तप्तो ब्रह्मचारी कुशलमग्नीन्परिचचारीन्मा त्वाऽग्नयः
परिप्रवोचन्प्रब्रूह्यस्मा इति। तस्मै हाप्रोच्यैव प्रवासांचक्रे ॥२॥

तम्—उस (आचार्य) को, जाया—(आचार्य की) पत्नी ने, उवाच—कहा, तप्त—तप (पूर्ण) कर चुका है, ब्रह्मचारी—ब्रह्मचारी (उपकोसल), कुशलम्—कुशलता से, भली प्रकार, अग्नीन्—अग्नियों की, परिचचारीत्—सेवा की है, मा—मत, त्वा—तुम (आचार्य) को, अग्नय—(सेवा की हुई) अग्नियाँ, परिप्रवोचन्—धिक्कार दें, शाप दें, अनिष्ट करें, प्रब्रूहि—उपदेश कर, अस्मै—इस (उपकोसल) को, इति—यह (जाया ने कहा), तस्मै ह—

उपकोसल को यह देखकर बड़ा कष्ट हुआ। उसने खाना छोड़ दिया। उसे आचार्य-पत्नी ने कहा, हे ब्रह्मचारी! खाना खा, तू खाता क्यो नही? ब्रह्मचारी ने उत्तर दिया, मुझ अभागे पुरुष में ये अनेक मार्गों में दौडने वाली कामनाएं भरी पडी हैं, मैं व्याधि से, कष्ट से परिपूर्ण हू, मैं खाना नही खाऊंगा ॥३॥

घर की अग्नियो ने उसकी व्याकुल अवस्था देखकर आपस में कहा, यह ब्रह्मचारी तप कर चुका है, इसने हमारी भली प्रकार सेवा की है, इसलिये चलो, हम ही इसे उपदेश दे दें। उसे उन्होने कहा—॥४॥

उम (उपकोसल) को, अप्रोच्य—उपदेश न करके, एव—ही, प्रवासाचक्रे——प्रवास (परदेश-गमन) किया ॥२॥

स ह व्याधिनाऽनशितुं दध्रे। तमाचार्यजायोवाच ब्रह्मचारिन्नशान किं नु नाश्नासीति। स होवाच बहव इमेऽस्मिन्पुरुषे कामा नानात्यया व्याधिभि प्रतिपूर्णोस्मि नाशिष्यामीति ॥३॥

स ह—उस (शिष्य) ने, वि+आधिना—विशेष (अत्यधिक) मानसिक अशान्ति (दुःख) के कारण, अनशितुम्—न खाना, अनशन, दध्रे—धारण किया (भोजन छोड दिया), तम्—उसको, आचार्य-जाया—गुरु-पत्नी ने, उवाच—कहा, ब्रह्मचारिन्—हे ब्रह्मचारी!, अशान—भोजन कर, किम् नु—क्यो तो, न—नही, अश्नासि—भोजन करता है, इति—यह (कहा), स ह—उस (शिष्य) ने, उवाच—कहा, बहव—बहुत से, इमे—ये, अस्मिन्—इस, पुरुषे—आत्मा मे, मनुष्य मे, कामा—एषणाए, नाना+अत्यया—अनेक प्रकार के विघ्न करनेवाली है, अनेक निकलने के मार्गवाली (बहिर्मुख करनेवाली), वि+आधिभि—(मै इन) विशेष मानसिक-दुःखो से, प्रतिपूर्ण—भरा हुआ, ग्रस्त, अस्मि—हू, न—नही, अशिष्यामि—भोजन करुगा, इति—यह (उत्तर दिया) ॥३॥

अथ हाग्नय समूदिरे। तप्तो ब्रह्मचारी कुशलं न पर्यचारीद्धन्तास्मै प्रब्रवामेति। तस्मै होचु ॥४॥

अथ ह—इसके बाद, अग्नय—(परिसेवित) अग्नियो ने, समूदिरे—(परस्पर) संवाद किया, विचार-विमर्श किया, तप्त ब्रह्मचारी—ब्रह्मचारी ने तप (पूर्ण) किया है, कुशलम् न पर्यचारीद्—भली प्रकार हमारी परिचर्या (सेवा) की है, हन्त—तो खुशी से, अस्मै—इसको, प्रब्रवाम—उपदेश करें, इति—ऐसा (सोच कर), तस्मै ह—उसको, ऊचु—उपदेश दिया ॥४॥

(असल मे इतनी तपस्या के बाद जैसे सत्यकाम के हृदय में गौ-अग्नि-सूर्य-वायु को देखकर अपने-आप ब्रह्म-ज्ञान का उदय हुआ था, वैसे उसके शिष्य के हृदय मे भी अग्नियो को देखकर अपने-आप यह ज्ञान-ज्योति जगी जिसका यहा आख्यायिका के रूप में वर्णन है।)

हे ब्रह्मचारी! 'प्राण' ब्रह्म है, 'क' ब्रह्म है, 'ख' ब्रह्म है। ब्रह्मचारी ने कहा, यह तो मैं जानता हूं कि 'प्राण' ब्रह्म है, 'क' और 'ख' को मैं नहीं जानता। अग्नि-देवो ने उत्तर दिया, जो 'क' है, वही 'ख' है, और जो 'ख' है, वही 'क' है—इस प्रकार 'क' और 'ख' दोनो एक ही है। इस प्रकार ब्रह्म का वर्णन करते हुए पिंड के 'प्राण' का तथा 'क' और 'ख' द्वारा ब्रह्मांड के आकाश का वर्णन किया। (जब ये दोनो एक ही है तब 'क' और 'ख' का एक ही अर्थ हुआ। 'ख' का अर्थ है, 'आकाश'! इस प्रकार अग्नि-देवो के उपदेश का यह अर्थ हुआ कि पिंड मे 'प्राण' तथा ब्रह्मांड मे (क+ख) 'आकाश' ये दोनो ब्रह्म के ही भिन्न-भिन्न रूप है। परन्तु फिर ब्रह्मांड की ब्रह्म-सत्ता के लिये 'क' और 'ख' इन दो अक्षरो का प्रयोग क्यो किया? इन दो अक्षरो का प्रयोग ब्रह्म के दो पहलुओ का वर्णन करने के लिये किया गया है। 'क' का अर्थ है 'सुख-स्वरूप', 'ख' का अर्थ है 'आकाश'। 'ख', अर्थात् आकाश, 'मात्रा' (Quantity) को अभिव्यक्त करता है, 'क', अर्थात् सुख, 'गुण' (Quality) को अभिव्यक्त करता है। 'मात्रा' मे आकाश से बडी कोई वस्तु नही, 'गुण' मे सुख से बढकर कुछ अभिप्रेत नही। ब्रह्म मात्रा में आकाश के समान है, ब्रह्म गुण मे सुख के समान है। पिंड मे (Subjectively) 'प्राण' को ब्रह्म कहा, ब्रह्मांड मे (Objectively) गुण (Quality) की दृष्टि से 'क', अर्थात् सुख को ब्रह्म

प्राणो ब्रह्म। कं ब्रह्म। खं ब्रह्मेति। स होवाच। विजानाम्यहं
यत्प्राणो ब्रह्म, कं च तु खं च न विजानामीति। ते होचुर्यद्वाव कं
तदेव खं यदेव खं तदेव कमिति। प्राणं च हास्मै तदाकाशं चोचुः ॥५॥

प्राण:—प्राण (श्वास-प्रश्वास, सब का पालनकर्ता), ब्रह्म—ब्रह्म है, कम्—सुखस्वरूप प्रजापति, ब्रह्म—ब्रह्म है, खम्—आकाशवत् सर्वव्यापक, ब्रह्म—ब्रह्म है, इति—यह (उपदेश दिया), स ह—उन (शिष्य) ने, उवाच

कहा, मात्रा (Quantity) की दृष्टि से 'ख', अर्थात् आकाश को ब्रह्म कहा, किन्तु 'आकाश'-शब्द मे 'क' और 'ख' दोनो को सम्मिलित कर लिया) ॥५॥

चतुर्थ प्रपाठक—(ग्यारहवां खंड)

जब अग्नियां उपकोसल को साझा उपदेश दे चुकी, तब एक-एक अग्नि ने अलग-अलग उपदेश दिया। 'गार्हपत्याग्नि' ने, उस अग्नि ने जो सदा घर में स्थिर बनी रहती है, कभी बुझती नही, चार शब्दो का उच्चारण किया—पृथिवी, अग्नि, अन्न, आदित्य। उसने कहा कि ये चारो तुम्हें पृथक्-पृथक् तत्त्व दीख पडते है, परन्तु इन सब में एकात्मकता है। आदित्य में जो पुरुष दिखाई देता है वह मै हू, मै वही हू। अर्थात्, गार्हपत्याग्नि भी उसी 'आदित्य-पुरुष' पर-ब्रह्म का एक रूप है ॥१॥

—कहा, विजानामि—जानता हू, अहम्—मैं, यत्—कि, प्राण ब्रह्म—प्राण ब्रह्म है, कम् च—और 'क'-ब्रह्म को, तु—तो, खम् च—'ख'-ब्रह्म को, न विजानामि—नही जानता हू, इति—यह (शिष्य ने कहा), ते ह—उन अग्नियो ने, ऊचु—कहा, यद्—जो, वा व—ही, कम्—'क' है, तद् एव—वह ही, खम्—'ख' है, यद् एव—जो ही, खम्—'ख' है, तद् एव—वह ही, कम्—'क' है, इति—यह (बताकर), प्राणम् च—और प्राण को, ह—निश्चय से, अस्मै—इस (शिष्य) को, तद्+आकाशम्—उस आकाश को, च—और, ऊचु—(तीनो अग्नियो ने सम्मिलित) उपदेश किया (प्राण और आकाश को ब्रह्म रूप मे बताया) ॥५॥

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास। पृथिव्यग्निरन्नमादित्य इति।
य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥१॥

अथ ह—इसके बाद, एनम्—इस (उपकोसल) को, गार्हपत्य—गार्हपत्य (अग्नि) ने, अनुशशास—(पृथक्) उपदेश दिया, पृथिवी, अग्नि, अन्नम्, आदित्य—पृथ्वी, अग्नि, अन्न और आदित्य, इति—ये (प्रतीक कहे), य एष—जो यह, आदित्ये—आदित्य (सूर्य) मे, पुरुष—पुरुष (ब्रह्म), दृश्यते—दिखाई देता है, स—वह (पुरुष), अहम्—मैं (गार्हपत्य-अग्नि) हूँ, स एव—वह ही, अहम्—मै, अस्मि—हूँ, इति—यह (उपदेश दिया) ॥१॥

जो आदित्य में पुरुष के समान दीख रहे ब्रह्म को पृथिवी, अग्नि, अन्न तथा आदित्य में सब जगह गया हुआ जान कर, और यह जान कर कि गार्हपत्याग्नि उसी ब्रह्म का रूप है उसकी उपासना करता है, वह समस्त पाप-कृत्यों को नष्ट कर डालता है, लोकों का स्वामी हो जाता है, पूर्ण आयु को भोगता है, ज्योतिर्मय जीवन व्यतीत करता है, उसके वंश के पुरुषों में कोई क्षीण नहीं होता। हम उस व्यक्ति की इस तथा उस लोक में रक्षा करती हैं—जो 'आदित्य-पुरुष' को इस प्रकार जान कर उसकी उपासना करता है ॥२॥

चतुर्थ प्रपाठक—(बारहवां खंड)

इसके बाद 'अन्वाहार्यपचनाग्नि' ने, उस अग्नि ने जो गार्हपत्याग्नि से आंच ग्रहण करके भोजन बनाने के काम में लाई जाती है चार शब्दों का उच्चारण किया—जल, दिशाएं, नक्षत्र, चन्द्रमा।

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति
सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं
भुञ्जामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥२॥

स यः—वह जो एतम्—इस (आदित्यगत पुरुष) को, एवम्—इस प्रकार (इस रूप में) विद्वान्—जानता हुआ, उपास्ते—ध्यान करता है अपहते—नष्ट कर देता है पाप-कृत्याम्—पाप-आचरण को, लोकी भवति—लोकाधिपति हो जाता है, सर्वम् आयुः एति—सारी (पूर्ण) आयु को प्राप्त करता (भोगता) है, ज्योक् जीवति—उज्ज्वल (प्रतिष्ठित) जीवन बिताता है न—नहीं अस्य—इस (उपासक) के अवर-पुरुषाः—(उसकी) सन्तति के पुरुष क्षीयन्ते—नष्ट (पतित) होते हैं, इधर-उधर भटकते हैं वयम्—हम (अग्नियां) तम्—उसको (की) उपभुञ्जाम—रक्षा करती हैं अस्मिन् च लोके—इस लोक (जन्म) में अमुष्मिन् च—और उस (पर-जन्म) में यः एतम्—जो इस (पुरुष) को एवम् विद्वान्—इस प्रकार जानता हुआ उपास्ते—उपासना करता है ॥२॥

अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुशशासापो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इति।
य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥१॥

अथ ह—इसके बाद, एनम्—इस (उपकोसल) को, अन्वाहार्यपचन—अन्वाहार्यपचन-अग्नि ने, अनुशशास—उपदेश दिया आपः, दिशः, नक्षत्राणि,

उसने कहा कि ये चारो तुम्हें पृथक्-पृथक् तत्त्व दीख पडते हैं, परन्तु इन सब में एकात्मता है। चन्द्रमा में जो पुरुष दिखाई देता है वह मैं हू, मैं वही हू। अर्थात्, अन्वाहार्यपचनाग्नि भी उसी 'चन्द्र-पुरुष' पर-ब्रह्म का एक रूप है ॥१॥

जो चन्द्र में पुरुष के समान दीख रहे ब्रह्म को जल, दिशाए, नक्षत्र तथा चन्द्र में सब जगह गया हुआ जानकर, और यह जान कर कि अन्वाहार्यपचनाग्नि भी उसी ब्रह्म का रूप है उसकी उपासना करता है, वह समस्त पाप-कृत्यो को नष्ट कर डालता है, लोको का स्वामी हो जाता है, पूर्ण आयु को भोगता है, ज्योतिर्मय जीवन व्यतीत करता है, उसके वश के पुरुषो में कोई क्षीण नही होता। हम उस व्यक्ति की इस तथा उस लोक में रक्षा करती है—जो 'चन्द्र-पुरुष' को इस प्रकार जान कर उसकी उपासना करता है ॥२॥

चतुर्थ प्रपाठक—(तेरहवां खंड)

इसके बाद 'आहवनीयाग्नि' ने, उस अग्नि ने जो गार्हपत्य से आच ग्रहण करके अग्निहोत्र के काम आती है, चार शब्दो का उच्चारण किया—प्राण, आकाश, द्यौ, विद्युत्। उसने कहा कि ये चारो तुम्हें पृथक्-पृथक् तत्त्व दीख पडते हैं, परन्तु इन सब मे एकात्मता है।

चन्द्रमा—जल, दिशाये, नक्षत्र, और चन्द्रमा, इति—ये (प्रतीक कहे), य एष—जो यह, चन्द्रमसि—चन्द्रमा मे, पुरुष—पुरुष (ब्रह्म), दृश्यते—दिखलाई पडता है, स अहम् अस्मि—वह मैं हू (अन्वाहार्यपचन-अग्नि) हू, स एव अहम् अस्मि—वह ही मैं हू, इति—यह (उपदेश किया) ॥१॥

स य एतमेव विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्या लोकी भवति
सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषा क्षीयन्त उप वय
त भुञ्जामोऽस्मिश्च लोकेऽमुष्मिश्च य एतमेव विद्वानुपास्ते ॥२॥

स य उपास्ते—वह जो उपासना करता है (पूर्ववत्) ॥२॥

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास। प्राण आकाशो द्यौर्विद्युदिति।
य एष विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥१॥

अथ ह एनम्—इसके बाद इस (उपकोसल) को, आहवनीय—आहवनीय (अग्नि) ने, अनुशशास—उपदेश किया, प्राण, आकाश, द्यौ, विद्युत्—प्राण, आकाश, द्युलोक और विद्युत्, इति—ये (प्रतीक बताये), य. एष—जो

विद्युत् में जो पुरुष दिखाई देता है वह मैं हूं, मैं वही हूं। अर्थात्, आहवनीयाग्नि भी उसी 'विद्युत्-पुरुष' पर-ब्रह्म का एक रूप है ॥१॥

जो विद्युत् में पुरुष के समान दीख रहे ब्रह्म को प्राण, आकाश, द्यौ तथा विद्युत् में सब जगह गया हुआ जान कर, और यह जान कर कि आहवनीयाग्नि भी उसी ब्रह्म का रूप है उसकी उपासना करता है, वह समस्त पाप-कृत्यों को नष्ट कर डालता है, लोकों का स्वामी हो जाता है, पूर्ण आयु को भोगता है, ज्योतिर्मय जीवन व्यतीत करता है, उसके वंश के पुरुषों में कोई क्षीण नहीं होता। हम उस व्यक्ति की इस तथा उस लोक में रक्षा करती हैं—जो 'विद्युत्-पुरुष' को इस प्रकार जानकर उसकी उपासना करता है ॥२॥

चतुर्थ प्रपाठक—(चौदहवां खंड)

इसके बाद तीनों अग्नियां एक-स्वर में बोलीं—हे उपकोसल! हे सोम्य! हमारे सम्बन्ध में जो विद्या—'अग्नि-विद्या'—और 'आत्म-विद्या' थी उसका हमने तुझे उपदेश दे दिया। (पिंड का प्राण ब्रह्म

यह, विद्युति—विद्युत् में, पुरुष—पुरुष, दृश्यते—दिखाई पड़ता है, स अहम् अस्मि—वह मैं (आहवनीय-अग्नि) हूँ, स एव अहम् अस्मि—वह ही मैं हूँ, इति—यह (उपदेश दिया) ॥१॥

स य एतमेव विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च य एतमेव विद्वानुपास्ते ॥२॥

स य एतम् उपास्ते—(इसका अर्थ पूर्ववत् है) ॥२॥

ते होचुरुपकोसलैषा सोम्य तेऽस्मद्विद्यात्मविद्या चाचार्यस्तु ते गतिं वक्तेत्याजगाम हास्याचार्यस्तमाचार्योऽभ्युवादोपकोसल ३ इति ॥१॥

ते ह—(फिर) वे (तीनों अग्नियां), ऊचु—बोलीं, उपकोसल—हे उपकोसल, एषा—यह (ज्ञान तो), सोम्य—हे सुशील वत्स!, ते—तेरे प्रति, अस्मद्-विद्या—हमारी (हमसे सम्बन्ध रखनेवाली, हमारे विषय में) विद्या (अग्नि-विद्या), आत्म-विद्या च—और आत्मा-सम्बंधी विद्या (आत्म-ज्ञान) है, आचार्य—आचार्य (सत्यकाम), तु—तो, ते—तुझे, गतिम्—गति (हमारी पहुंच) को, अथवा (ते गतिम्—तुझे गति—तत्त्वज्ञान तक पहुंचानेवाली स्थिति—ब्रह्म विद्या, परम पुरुषार्थ—को), वक्ता—उपदेश करेंगे, इति—यह (अग्नियों ने कहा), आजगाम ह—(उसी समय) आ पहुंचे, अस्य—इसके,

हैं, यह 'आत्म-विद्या' का उपदेश था, और ब्रह्माड की अग्निया भी ब्रह्म के रूप हैं, यह 'अग्नि-विद्या' का उपदेश था।) इन दोनो विद्याओ की गति कहां तक है—यह तुम्हें आचार्य बतलाएगे। इतने में आचार्य आ पहुचे, और उन्होने उपकोसल को पुकारा—हे उपकोसल! ॥१॥



जाबाल सत्यकाम के शिष्य उपकोसल को घर की अग्निया शिक्षा दे रही हैं

आचार्य—आचार्य (सत्यकाम), तम् आचार्य अभ्युवाद—उसको आचार्य ने पुकारा, उपकोसल ३—हे उपकोसल ३!, इति—इस (रूप में) ॥१॥

उपकोसल ने उत्तर दिया, भगवन्! क्या आज्ञा है? आचार्य ने कहा, सोम्य! तेरा मुख ब्रह्म-ज्ञानियों की तरह चमक रहा है, तुझे किस ने ब्रह्म-ज्ञान दिया? शिष्य ने मानो सारी घटना को छिपाते हुए उत्तर दिया, मुझे कौन शिक्षा देता? फिर अग्नियों की तरफ संकेत करके उसने कहा, मुझे उपदेश देने वाले इन अग्नियों-जैसे थे, परन्तु बिल्कुल इन-जैसे भी नहीं थे, मानो इन अग्नियों ने ही दैवी रूप धारण कर लिया था। आचार्य ने पूछा, उन्होंने तुझे क्या उपदेश दिया? ॥२॥

उपकोसल को जो उपदेश मिला था, वह उसने सुना दिया। आचार्य ने कहा, सोम्य! अग्नियों ने तुझे 'लोकों के सम्बन्ध में ही ज्ञान दिया, यही ज्ञान दिया कि आदित्य-चन्द्र-विद्युत् आदि लोकों में जो तत्त्व है वह ब्रह्म है, मैं तुझे वह ज्ञान दूंगा जिसके जानने से कमल-

---

भगव इति ह प्रतिशुश्राव। ब्रह्मविद इव सोम्य ते मुखं भाति को नु त्वाऽनुशशासेति। को नु माऽनुशिष्याद् भो इतीहापेव निह्नुत इमे नूनमीदृशा अन्यादृशा इतीहाग्नीनभ्यूदे। किं नु सोम्य किल तेऽवोचन्निति ॥२॥

भगव इति ह उपशुश्राव—हां, भगवन् इस रूप में (उसने) उत्तर दिया, ब्रह्मविद—ब्रह्म-ज्ञानी के, इव—समान, सोम्य ते मुखम् भाति—हे वत्स! तेरा मुख चमक रहा है, क नु—किसने, त्वा—तुझको, अनुशशास—उपदेश दिया है, इति—यह (आचार्य ने पूछा), क नु—कौन, मा—मुझको, अनुशिष्यात्—उपदेश देता, भो—(हे आचार्य)!, इति—इस प्रकार, इह—इस (विषय) में, अप इव निह्नुते (अप निह्नुते इव)—कुछ छिपाने-सा लगा, (फिर) इमे—इन (अग्नियों) ने, नूनम्—निश्चय ही, ईदृशा—इन जैसों ने, अन्यादृशा—अन्य-जैसों ने, इति—इस प्रकार, इह—इस (विषय) में, अग्नीन्—अग्नियों को (की), अभ्यूदे—ओर (संकेत कर) बताया, किम् नु—क्या-क्या तो, सोम्य—सुशील वत्स!, किल—ठीक-ठीक, ते—वे, उन्होंने, अवोचन्—उपदेश किया, इति—यह (आचार्य ने पूछा) ॥२॥

इदमिति ह प्रतिजज्ञे। लोकान्वाव किल सोम्य तेऽवोचन्नहं तु ते तद्वक्ष्यामि यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति। ब्रवीतु मे भगवानिति। तस्मै होवाच ॥३॥

इदम्—यह (उपदेश दिया), इति ह—ऐसे, प्रतिजज्ञे—बता दिया, लोकान्—लोकों को (के विषय में), वाव किल—निश्चय से, सोम्य—हे सुशील शिष्य!, ते—उन्होंने, अवोचन्—उपदेश किया है, अहम् तु—मैं तो, ते—

पत्र जैसे पानी में रहता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता, वैसे मनुष्य पाप-कर्म से लिप्त नहीं होता। उपकोसल ने कहा, भगवन्! मुझे उस विद्या का उपदेश दीजिये। गुरु ने कहना प्रारम्भ किया—॥३॥

चतुर्थ प्रपाठक—(पन्द्रहवां खंड)

(सत्यकाम द्वारा उपकोसल को आत्मा के ज्योतिर्मय रूप का उपदेश)

गुरु ने कहा, यह जो आंख में पुरुष दिखाई देता है, यह 'आत्मा' है, यह अमृत है, अभय है—यह 'ब्रह्म' है। जैसे आंख में घी या जल छोड़ने से वे आंख में न रह कर किनारों से निकल जाते हैं, ऐसे ही यह आत्मा आंख में रहता हुआ भी उससे अलग रहता है ॥१॥

इस आत्मा को 'सयद्-वाम' कहा जाता है क्योंकि सब 'वाम'—शोभा—इसी में 'संयत्'—सिमिट—जाती है। उससे, अर्थात्

तुझे, तद्—वह (ज्ञान), वक्ष्यामि—कहूंगा, उपदेश करूंगा, यथा—जैसे, पुष्कर-पलाशे—कमल-पत्र पर, आप—जल, न—नहीं, श्लिष्यन्ते—चिपकते हैं (कोई प्रभाव डालते हैं), एवम्—इस तरह ही, एवम् विदि—इस प्रकार (मेरे उपदेश के) जाननेवाले पर, पापम् कर्म—पापमय कर्म, न—नहीं, श्लिष्यते—चिपकता है (प्रभाव डालता है), इति—यह (आचार्य ने कहा), ब्रवीतु मे भगवान्—उपदेश करें (बतायें) मुझे आदरणीय आप, इति—यह (उपकोसल ने प्रार्थना की), तस्मै ह—उसको, उवाच—(आचार्य ने) उपदेश किया ॥३॥

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति।
तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति ॥१॥

य एष—जो यह, अक्षिणि—आंख में (द्रष्टा आत्मा में), पुरुष—पुरुष का प्रतिबिम्ब (ब्रह्म), दृश्यते—दिखाई देता (विद्यमान) है, एष—यह ही, आत्मा—आत्मा (पर-ब्रह्म) है, इति ह उवाच—यह ही उपदेश दिया, एतद्—यह ही, अमृतम्—अमर (जन्म-मरण से मुक्त), अभयम्—स्वयं भय-शून्य तथा जीवों के भय दूर करनेवाला है, एतद्—यह ही, ब्रह्म—ब्रह्म है, इति—यह (जान), तत्—तो, यद्यपि—अगर, अस्मिन्—इस (आँख में), सर्पि वा—या तो घृत, उदकम् वा—या पानी, सिञ्चति—(कोई) डालता है (तो वह), वर्त्मनी—(आँख की) कोरों को, गच्छति—चला जाता है (परिणाम में आँख से बाहर हो जाता है) ॥१॥

एतं संयद्वाम इत्याचक्षत एतं हि सर्वाणि वामान्य-
भिसंयन्ति। सर्वाण्येनं वामान्यभिसंयन्ति य एवं वेद ॥२॥

'आत्मा' के स्व-रूप से बढकर कोई दिव्य आभा नहीं है । जो ऐसा जानता है, उसके चरणो पर सृष्टि के सभी सौन्दर्य लोट-पोट हो जाते है ॥२॥

आत्मा को 'वाम-नी' भी कहते है, क्योंकि सृष्टि के सभी सौन्दर्यों का यह आत्मा नेता है, अग्रणी है, रूपवानो की जहा पंक्ति बंधे, वहा आत्मा के ज्ञानवाला सब से अधिक रूपवान् होने से सब मे आगे रहता है । 'वाम' का अर्थ है रूप या शोभा । जो ऐसा जानता है वह सब सौन्दर्यों का नेता, अग्रणी हो जाता है ॥३॥

इसे 'भाम-नी' भी कहते है, क्योकि यही—आत्मा ही—सब लोकों में अपनी आभा से प्रकाशमान हो रहा है । जो ऐसा जानता है वह लोको में प्रकाशमान हो जाता है ॥४॥

एतम्—इस (पुरुष) को ही, संयद्वाम—सयद्वाम, इति—इस (नाम से), आचक्षते—कहते हैं, एतम्—इस (आत्मा—पुरुष) को, हि—क्योंकि, सर्वाणि—सारे, वामानि—शुभ कर्म, शोभाए, अच्छाइयाँ, अभिसयन्ति—ओर चलती हैं, इकट्ठी हो जाती है, सर्वाणि—सारे, वामानि—शुभकर्म, शोभाए, एतम्—इस (ज्ञाता) के पास, अभिसयन्ति—इकट्ठी हो जाती है, य एवम् वेद—जो इस प्रकार जान जाता है ॥२॥

एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि
नयति । सर्वाणि वामानि नयति य एवं वेद ॥३॥

एष उ एव—यह ही, वामनी—वामनी-नामक है, एष हि—यह ही, सर्वाणि—सारे, वामानि—शोभाओ, अच्छाइयो को, नयति—प्राप्त कराता है, सर्वाणि वामानि नयति—सब शोभाओ को प्राप्त कराता है, य एवम् वेद—जो इस प्रकार जानता है ॥३॥

एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु
भाति । सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद ॥४॥

एष उ एव—यह ही, भामनी—भामनी (कहलाता) है, एष हि—यह ही, सर्वेषु लोकेषु—सारे लोको मे, भाति—प्रकाशमान है, सर्वेषु लोकेषु—सब लोको मे, भाति—प्रकाशमान होता है, य एवम् वेद—जो इस प्रकार जानता है ॥४॥

ऐसा ब्रह्मवित् जब मर जाता है, तब उसका दाह-संस्कार चाहे किया जाय चाहे न किया जाय, वह ज्योति को ही प्राप्त होता है। दाह करने की अवस्था में तो अग्नि-रूप ज्योति में उसे डाल ही दिया जाता है, न करने की अवस्था में भी उसका अग्नि-सदृश ज्योतिर्मय रूप हो जाता है। पहले-पहल यह रूप 'अर्चि'—किरण—के सदृश होता है, किरण से बढ़ता हुआ 'दिन' के समान इसका ज्योतिर्मय रूप हो जाता है, उससे बढ़ कर 'पूर्णमासी' के पखवाड़े में, इन पन्द्रह दिनो में जितना प्रकाश है उतने प्रकाश से वह ज्योतिर्मय हो जाता है, उससे बढ कर 'छ मासो', मासो से बढ कर 'संवत्सर', और संवत्सर से बढ कर 'आदित्य' की महान् ज्योति के सदृश उसका रूप तेज से भरपूर हो जाता है। 'आदित्य-ज्योति' से वह चन्द्र-ज्योति, और 'चन्द्र-ज्योति' से 'विद्युत्-ज्योति' को प्राप्त होता है। इस प्रकार विकसित होते हुए पुरुष का 'मानव' से यह 'अमानव' रूप प्रकट होता है ॥५॥

अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवा-
भिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्ष-
डुदङेति मासाँस्तान्मासेभ्यः संवत्सरँ संवत्सरादादित्य-
मादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः ॥५॥

अथ—और, यद् उ च—अगर, अस्मिन्—(मरने पर) इसमें, शव्यम्—शव-कर्म दाह आदि, कुर्वन्ति—करते हैं, यदि च न—और चाहे न करें, अर्चिषम्—ज्योति को, किरण को, एव—ही, अभिसंभवन्ति—(दोनो अवस्थाओ मे) प्राप्त होते हैं, अर्चिष—किरण से, अह—दिन को, अह्न—दिन से, आपूर्यमाणपक्षम्—शुक्ल पक्ष को, आपूर्यमाणपक्षात्—शुक्लपक्ष मे, यान्—जिन, षड्—छ, उदङ—उत्तर की ओर, एति—जाता है, (उदङ एति—उत्तरायण होना है), मासान्—महीनो को, तान्—उनको, मासेभ्य—(इन उत्तरायण) मासो मे, संवत्सरम्—वर्ष को, संवत्सराद्—संवत्सर से, आदित्यम्—सूर्य को, आदित्यात्—सूर्य से, चन्द्रमसम्—चन्द्रमा को, चन्द्रमस—चन्द्रमा से, विद्युतम्—बिजली को, तत्—तो, वह (उस अवस्था को प्राप्त), पुरुष—पुरुष (आत्मा), अमानव—मानव (मनुसृष्टि का) नहीं रहता (मुक्त हो जाता है) ॥५॥

वही अमानव-ब्रह्म भक्तों को ब्रह्म-मार्ग का प्रदर्शन करता है, यही 'देव-पथ' कहलाता है, 'ब्रह्म-पथ' कहलाता है। इस मार्ग पर चलने-वाले मानव इस आवर्त में—आवागमन के संसार में—लौटकर नहीं आते, लौट कर नहीं आते (देखो मुण्डक १-२, छान्दोग्य ५-१०)॥६॥

चतुर्थ प्रपाठक—(सोलहवां खंड)

(सृष्टि-यज्ञ तथा आत्म-यज्ञ)

(सृष्टि-यज्ञ का ब्रह्मा आत्म-यज्ञ का 'मन' है, अध्वर्यु आदि 'वाणी' है)

सृष्टि में यह जो-कुछ पावन-कार्य हो रहा है, यह मानो 'यज्ञ' हो रहा है। यह पावन-कार्य 'गति' द्वारा हो रहा है, गति ही संसार में पवित्रता उत्पन्न करती है, इसलिये यह गति ही यज्ञ है। जैसे यज्ञ के दो मार्ग हैं, वैसे संसार में 'गति' द्वारा शुद्धि के भी दो मार्ग हैं—'वाणी' तथा 'मन' ॥१॥

स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रति-
पद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते ॥६॥

स—वह (अमानव, मुक्त पुरुष), एनान्—इनको, ब्रह्म—ब्रह्म को (का), गमयति—ज्ञान कराता है, एष—यह, देव-पथ—देवताओं का मार्ग, ब्रह्म-पथ—ब्रह्म (प्राप्ति) का मार्ग है, एतेन—इस (मार्ग) से, प्रतिपद्य-माना—ब्रह्म को प्राप्त करनेवाले (मुक्त), इमम्—इस, मानवम्—मनु-सृष्टि के, जगत्-सबंधी, आवर्तम्—घुम्मरघेरी (आवागमन चक्र) में, न—नहीं, आवर्तन्ते—लौटते हैं, न आवर्तन्ते—नहीं लौटते हैं॥६॥

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवत एष ह यन्निदँ सर्वं पुनाति। यदेष
यन्निदँ सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक्च वर्तनी ॥१॥

एष—यह, ह वै—प्रसिद्ध है, यज्ञ—यज्ञ है, य—जो, अयम्—यह, पवते—पवित्र करता है, एष—यह (वायु), ह—ही, यन्—चलता हुआ, इदम् सर्वम्—इस सब को, पुनाति—पवित्र करता है, यद्—जो, एष—यह, यन्—गति करता हुआ, इदम् सर्वम् पुनाति—इस सब को पवित्र (स्वच्छ, निर्मल) करता है, तस्मात्—इस कारण से, एष—यह (वायु), एव—ही, यज्ञ—(पवित्र करनेवाला) यज्ञ है, तस्य—उस (यज्ञ) के, मन च—मन, वाक् च—और वाणी, वर्त्तनी—(यज्ञ-प्रवर्त्तक) मार्ग है॥१॥

यज्ञ के दो मार्ग कौन-से है ? यज्ञ में ब्रह्मा वाणी का प्रयोग नही करता, 'मन' द्वारा यज्ञ के मार्ग का सस्कार करता है, होता-अध्वर्यु-उद्गाता मन का प्रयोग नही करते, 'वाणी' द्वारा ऋचाओ का पाठ करते है । ठीक ऐसे सृष्टि-यज्ञ का, अर्थात् सृष्टि में हो रहे गति-रूप यज्ञ का कुछ लोग 'मन' के मार्ग द्वारा, और कुछ लोग 'वाणी' के मार्ग द्वारा अनुष्ठान करते है । जहा यज्ञ के प्रारभ होने के बाद, और समाप्त होने से पूर्व, ब्रह्मा बोल पडता है—॥२॥

वहा वह अपने मार्ग को छोडकर दूसरे ही मार्ग पर चल देता है, उसका अपना काम रह जाता है । सो, यह ऐसे ही है जैसे कोई व्यक्ति एक पाव से चलने लगे, या कोई रथ एक पहिये पर घूमने लगे । ऐसा करने वाला हानि उठाता है, ठीक ऐसे ही यज्ञ में ब्रह्मा

तयोरन्यतरा मनसा सँस्करोति ब्रह्मा । वाचा होताऽध्वर्युरुद्गाताऽन्य-
तराँ स यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदति ॥२॥

तयो —उन दोनो (मार्गों) मे (से), अन्यतराम्—किसी को भी, मनसा—मन (चिन्तन) के द्वारा, सस्करोति—सस्कार (शुद्धि) करता है, ब्रह्मा—ब्रह्मा-नामक ऋत्विग् (और), वाचा—वाणी के द्वारा (स्पष्ट कह कर), होता, अध्वर्यु, उद्गाता—(त्रिवेदज्ञ) होता, अध्वर्यु, उद्गाता नामक तीनो ऋत्विक्, अन्यतराम्—किसी को भी, स —वह, यत्र—जहा (जिस समय), उपाकृते—प्रारम्भ करने पर, प्रातरनुवाके—प्रातरनुवाक नामी स्तुति-पाठ के, पुरा—पहिले, परिधानीयाया —(समाप्तिसूचक) परिधानीया (ऋचाओ) से, ब्रह्मा—ब्रह्मा (ऋत्विक्), व्यववदति—बोल पडता है (मौन तोड देता है, मनन छोड देता है) ॥२॥

अन्यतरामेव वर्तनीँ सँस्करोति हीयतेऽन्यतरा । यथैकपाद्
व्रजन् रथो वैकेन चक्रेण वर्तमानो रिष्यत्येवमस्य यज्ञो रिष्यति ।
यज्ञँ रिष्यन्त यजमानोऽनुरिष्यति । स इष्ट्वा पापीयान्भवति ॥३॥

(उस बोलने से) अन्यतराम् एव—किसी एक ही, वर्त्तनीम्—मार्ग को, सस्करोति—सस्कृत कर देता है, हीयते—न्यून (त्रुटिपूर्ण) हो जाती है, अन्य-तरा—कोई दूसरी, स —वह, यथा—जैसे, एकपाद्—एक पॉव वाला (लगडा), व्रजन्—चलता हुआ, रथ —रथ, वा—या, अथवा, एकेन—एक, चक्रेण—पहिये से, वर्तमान —चक्कर काटता हुआ, युक्त, रिष्यति—(लगडा) दु ख पाता है, (रथ) आगे नही बढ पाता, एवम्—इस प्रकार, अस्य—इस

का 'मन' में सब बातो पर देख-रेख रखने के बजाय बोलने लगना हानि-कारक है। सृष्टि में हो रहे गति-रूप यज्ञ को भी मन से—ज्ञान से—चलाना जगत् के ब्रह्मा लोगो का काम है। वे ज्ञान के जगत् में विचरते हुए, सृष्टि की गति का सचालन करने के स्थान में, अगर बहुत वाग्विलास में पडेंगे, तो सृष्टि का रथ दो पहियो से एक पहिये पर घूमने लगेगा। ऐसा यज्ञ नष्ट हो जायगा, यज्ञ के नष्ट होने पर यजमान भी नष्ट हो ही जायगा, और यज्ञ करना भी एक पाप का ही साधन बनेगा ॥३॥

जहा यज्ञ के प्रारभ होने के पीछे, और समाप्त होने के पूर्व, ब्रह्मा कुछ नही बोलता, वहा 'मन' का कार्य ब्रह्मा करता रहता है, 'वाणी' का कार्य अध्वर्यु-होता-उद्गाता—ये तीन करते है, और इस प्रकार 'मन' तथा 'वाणी' ये दोनो मार्ग अपना-अपना कार्य करते है, किसी मार्ग को हानि नहीं पहुचती ॥४॥

यह ऐसे ही है जैसे कोई व्यक्ति एक पाव के स्थान में दोनो से चले, या कोई रथ एक पहिये पर घूमने के बजाय दोनो पर

(यजमान) का, यज्ञ—यज्ञ, रिष्यति—नष्ट (फल-शून्य) हो जाता है, यज्ञम्—यज्ञ (के), रिष्यन्तम्—विनष्ट हो जाने पर, यजमान—यजकर्ता, अनु रिष्यति—(पीछे-पीछे) फल-शून्य हो जाता है, स—वह, इष्ट्वा—(दोषपूर्ण) यज्ञ करके, पापीयान्—और अधिक पाप-भागी, भवति—हो जाता है ॥३॥

अथ यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके न पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा
व्यववदत्युभे एव वर्तनी स॑स्कुर्वन्ति न हीयतेऽन्यतरा ॥४॥

अथ—और, यत्र—जिस (यज्ञ) मे, उपाकृते प्रातरनुवाके—प्रातरनुवाक के आरम्भ हो जाने पर, न—नही, पुरा—पहले, परिधानीयाया—(अन्त में बोले जाने वाली) परिधानीया (ऋचाओ) मे, ब्रह्मा—ब्रह्मा, व्यववदति—बोलना है, मौन तोडता है, मनन छोडता है, उभे—दोनो, एव—ही, वर्तनी—मार्गो (मन और वाणी) को, सस्कुर्वन्ति—(चारो ऋत्विग्) सस्कृत करते है, (तत्र) न—नही, हीयते—क्षीण होता है, अन्यतरा—कोई भी मार्ग ॥४॥

स यथोभयपाद् व्रजन् रथो वोभाभ्या चक्राभ्या वर्तमान
प्रतितिष्ठत्येवमस्य यज्ञ प्रतितिष्ठति। यज्ञ प्रतितिष्ठन्त
यजमानो ऽनुप्रतितिष्ठति। स इष्ट्वा श्रेयान्भवति ॥५॥

घूमे। जैसे ये प्रतिष्ठित होते हैं, स्थिर होते हैं, वैसे जिस यज्ञ में 'मन' तथा 'वाणी' का ठीक-ठीक प्रयोग होता है, वह यज्ञ डगमगाता नहीं, और यजमान यज्ञ करके श्रेष्ठतर हो जाता है। सृष्टि में हो रहे गति-यज्ञ को स्थिर रखने के लिये 'मन' तथा 'वाणी' दोनो के प्रयोग की आवश्यकता है ॥५॥

('मन' मे सकल्प करके उसे 'वाणी' द्वारा प्रकट करना ही यज्ञ है। 'मन' मे विचार स्पष्ट न हो, और 'वाणी' द्वारा यू ही बोलते जाना, यही हम-सब करते है, यह अयज्ञीय बात है। ऋषि ने यज्ञ के दृष्टात मे दिखलाया कि जैसे यज्ञ मे 'मन' तथा 'वाणी' दोनो के प्रयोग से यज्ञ बनता है, ऐसे ही जीवन-रूपी यज्ञ मे इन दोनो का समन्वय होना चाहिये। 'मन' तथा 'वाणी' के दो पहियो पर जीवन की गाडी ठीक चलती है—दोनो को साथ-साथ एक-दूसरे का सहायक बनकर चलना चाहिए, ऐसा न हो कि मन अलग चले, वाणी अलग चले। उपनिषदो मे जो बाहर हो रहा है उसे भीतर दिखाने का प्रयत्न किया है। बाहर का यज्ञ भीतर हो रहे यज्ञ का प्रतीक है। बाहर के यज्ञ मे ब्रह्मा यज्ञ कराता है, परन्तु वाणी से बोलता नही, अध्वर्यु वाणी से बोलते है, भीतर के प्राण-यज्ञ मे ब्रह्मा का काम मन करता है, जो बोलता नहीं परन्तु काम वही चलाता है, अध्वर्यु-होता-उद्गाता का काम वाणी करती है। बाहर का यज्ञ तो भीतर के प्राण-यज्ञ का प्रतीक है—इस बात को इस उपनिषद् मे स्पष्ट किया है।)

स—वह, **यथा**—जैसे, **उभयपाद्**—दोनो पाव वाला, **व्रजन्**—चलता हुआ, **रथ वा**—या रथ, **उभाभ्याम्**—दोनो, **चक्राभ्याम्**—पहियो से, **वर्त्तमान**—युक्त, चक्कर काटता हुआ, **प्रतितिष्ठति**—प्रतिष्ठित होता है, सफल होता है, **एवम्**—इस ही प्रकार, **अस्य**—इस (यजमान) का, **यज्ञ**—यज्ञ, **प्रतितिष्ठति**—सफल (पूर्ण) होता है, **यज्ञम् प्रतितिष्ठन्तम्**—यज्ञ के पूर्ण होने पर, **यजमान**—यजमान भी, **अनुप्रतितिष्ठति**—सफलता प्राप्त करता है, प्रतिष्ठा पाता है, **स**—वह (यजमान), **इष्ट्वा**—यज्ञ करके, **श्रेयान्**—अधिक श्रेष्ठ, **भवति**—हो जाता है ॥५॥

चतुर्थ प्रपाठक—(सत्रहवां खंड)

प्रजापति ने पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ —इन लोको को तपाया। जब वे तपे, तो उनके रस निचोडे—पृथिवी से 'अग्नि', अन्तरिक्ष से 'वायु' और द्यौ से 'आदित्य'—ये तीन देवता, अर्थात् ये तीन ऋषि ही रस हैं ॥१॥

इन तीनो देवताओ, अर्थात् इन तीनो ऋषियो को तपाया, जब वे तपे, तो उनके रस को निचोडा—अग्नि से 'ऋक्', वायु से 'यजु' और आदित्य से 'साम' हुआ ॥२॥

उसने ऋक्-यजु-साम नाम की त्रयी-विद्या को तपाया। वह तपी, तो उसका रस निचोड़ा—ऋक् से 'भू', यजु से 'भुव' और साम से 'स्व'—ये तीन व्याहृतियां उत्पन्न हुईं ॥३॥

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेषां तप्यमानानां रसान्प्रा-
वृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षादादित्यं दिव ॥१॥

प्रजापति—प्रजापति ने, लोकान्—लोको को, अभ्यतपत्—तपाया, तेषाम्—उन, तप्यमानानाम्—तपाये हुए (लोको) के, रसान्—रसों को, सार को, प्रावृहत्—खींच लिया, निकाला, अग्निम्—अग्नि को, पृथिव्या—पृथिवी से, वायुम्—वायु को, अन्तरिक्षात्—अन्तरिक्ष से, आदित्यम्—सूर्य को, दिव—द्युलोक से ॥१॥

स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्तासां तप्यमानानां
रसान्प्रावृहदग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात् ॥२॥

स—उन (प्रजापति) ने, एता—इन, तिस्र—तीनों, देवता—देवताओ को, अभ्यतपत्—तपाया, तासाम् तप्यमानानाम्—तपाई गई उन (देवताओ) के, रसान्—रसों को, सार को, प्रावृहत्—खींचा, निकाला, अग्ने—अग्नि (देवता) से, ऋच—ऋचाओं को, वायो—वायु से, यजूंषि—यजुर् मन्त्रो को, सामानि—साम-मन्त्रो को, आदित्यात्—आदित्य (सूर्य) से ॥२॥

स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्तस्यास्तप्यमानाया रसान्प्रावृहद्
भूरित्यृग्भ्यो भुवरिति यजुर्भ्य स्वरिति सामभ्य ॥३॥

स—उन (प्रजापति) ने, एताम्—इन, त्रयीं विद्याम्—'ऋग्-यजु-साम' रूप त्रयी विद्या को, अभ्यतपत्—तपाया, तस्या तप्यमानाया—तपाई हुई उस (त्रयी विद्या) के, रसान्—रसों को, सार को, प्रावृहत्—निकाला, भू इति—'भू' इसको, ऋग्भ्य—ऋचाओ से, भुव इति—'भुव' इसको, यजुर्भ्य—यजु मन्त्रों से, स्व इति—'स्व' इसको, सामभ्य—साम-मन्त्रो से ॥३॥

यदि ऋचा-पाठ में होता से अशुद्धि हो जाय, तो गार्हपत्याग्नि में 'भू स्वाहा'—कहकर आहुति दे दे। 'भू' व्याहृति ऋग्वेद का ही तो रस है, इस प्रकार ऋचा के ही रस से, ऋचा के वीर्य से ऋचा-पाठ के घाव की मानो पूर्ति हो जाती है ॥४॥

यदि यजु-पाठ में अध्वर्यु से अशुद्धि हो जाय, तो दक्षिणाग्नि (अन्वाहार्यपचनाग्नि) में 'भुव: स्वाहा'—कहकर आहुति दे दे। 'भुव:' व्याहृति यजु का ही तो रस है, इस प्रकार यजु के ही रस से, यजु के वीर्य से यजु-पाठ के घाव की मानो पूर्ति हो जाती है ॥५॥

यदि साम-पाठ में उद्गाता से अशुद्धि हो जाय, तो आहवनीयाग्नि में 'स्वः स्वाहा'—कहकर आहुति देदे। 'स्व' व्याहृति साम

तद्यद्यृक्तो रिष्येद् भू स्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयादृचामेव
तद्रसेनर्चां वीर्येणर्चां यज्ञस्य विरिष्टँ सदधाति ॥४॥

तद्—तो, यदि—अगर, ऋक्त—ऋचा से (ऋचा सम्बन्धी), रिष्येत्—त्रुटि हो, भू स्वाहा इति—'भू स्वाहा' इस मत्र से, गार्हपत्ये—गार्हपत्य अग्नि मे, जुहुयात्—हवन करे, ऋचाम्—ऋचाओ के, एव—ही, तद्—उन, रसेन—सार मे, ऋचाम्—ऋचाओ के, वीर्येण—ओज-वल से, ऋचाम्—ऋचाओ की, यज्ञस्य—यज्ञ की, विरिष्टम्—क्षति, त्रुटि को, सदधाति—जोडता है, पूरी करता है ॥४॥

अथ यदि यजुष्टो रिष्येद् भुव स्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयाद्य-
जुषामेव तद्रसेन यजुषा वीर्येण यजुषा यज्ञस्य विरिष्टँ सदधाति ॥५॥

अथ—और, यदि—अगर, यजुष्ट:—यजु से (यजु सम्बन्धी), रिष्येत्—त्रुटि हो, भुव स्वाहा इति—'भुव स्वाहा' इस मत्र से, दक्षिणाग्नौ—दक्षिणाग्नि मे, जुहुयात्—हवन करे, यजुषाम्—यजु मत्रो के, एव—ही, तद्—उस, रसेन—रस (सार) से, यजुषाम् वीर्येण—यजु मत्रो के वल-ओज से, यजुषाम्—यजु मत्रो की, यज्ञस्य विरिष्टम्—यज्ञ की त्रुटि को, सदधाति—जोडता है, पूरी करता है ॥५॥

अथ यदि सामतो रिष्येत्स्व: स्वाहेत्याहवनीये जुहुयात्साम्नामेव
तद्रसेन साम्ना वीर्येण साम्ना यज्ञस्य विरिष्टँ सदधाति ॥६॥

अथ यदि—और अगर, सामत—साम-मत्रो से (साम-सवधी), रिष्येत्—त्रुटि हो, स्व स्वाहा इति—'स्व स्वाहा' इस मत्र से, आहवनीये—आहवनीय-अग्नि मे, जुहुयात्—हवन करे, साम्नाम् एव—साम-मत्रो के ही, तद्—उस, रसेन—रस (सार) से, साम्नाम् वीर्येण—साम-मत्रो के वल-वीर्य से, साम्नाम्—

का ही तो रस है, इस प्रकार साम के ही रस से, साम के वीर्य से साम-पाठ के घाव की मानो पूर्ति हो जाती है ॥६॥

सो, जिस प्रकार कोई लवण के द्वारा—टक के द्वारा—सोने को सोने से जोड दे, चादी को चादी से, कलई को कलई से, सीसे को सीसे से, लोहे को लोहे से और लकडी को चमड़े से जोड दे ॥७॥

इसी प्रकार, लोको के रस देवता, देवताओ के रस त्रयी-विद्या, और त्रयी-विद्या के रस 'भूर्भुव स्व' से यज्ञ के घाव को—उसकी त्रुटि को—पूरा जाता है। जहा इस बात को जानने वाला ब्रह्मा होता है, वहां मानो यज्ञ का औषध पहले से मौजूद है ॥८॥

जहा इस बात को जानने वाला ब्रह्मा होता है, वहां यज्ञ 'उत्तरा-भिगामी', अर्थात् उत्तरोत्तर फल-प्रद होता है। इस प्रकार के ब्रह्मा

साम-मत्रो की, यज्ञस्य—यज्ञ की, विरिष्टम्—त्रुटि को, संदधाति—जोडता है, पूरी करता है ॥६॥

तद्यथा लवणेन सुवर्णं संदध्यात्सुवर्णेन रजतं रजतेन
त्रपु त्रपुणा सीसं सीसेन लोहम् लोहेन दारु दारु चर्मणा ॥७॥

तद्—सो, यथा—जैसे, लवणेन—रासायनिक नमक से, टाँका आदि से, सुवर्णम्—सोने को, संदध्यात्—जोड देते है, सुवर्णेन—सोने से, रजतम्—चाँदी को, रजतेन—चाँदी से, त्रपु—राँगा को, त्रपुणा—राँग से, सीसम्—सीसे को, सीसेन—सीसे से, लोहम्—लोहे को, लोहेन—लोहे से, दारु—लकडी को, दारु—लकडी को (दो लकडियो को), चर्मणा—चमडे से ॥७॥

एवमेषा लोकानामासा देवतानामस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्येण यज्ञस्य
विरिष्टं संदधाति। भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति ॥८॥

एवम्—इस ही प्रकार, एषाम्—इन (पृथिवी आदि), लोकानाम्—लोको के, आसाम्—इन (अग्नि आदि), देवतानाम्—देवताओ के, अस्या—इस (ऋग् आदि), त्रय्या विद्याया—त्रयी विद्या (वेदो) के, वीर्येण—वीर्य (सार) से, यज्ञस्य—यज्ञ की, विरिष्टम्—त्रुटि (टूट-फूट) को, संदधाति—जोड देता है, ठीक कर देता है, भेषजकृत—भेषज (उचित औषध, विधि-विधान, उपाय, उपचार) से किया हुआ, ह वै—निश्चय से, एष—ही, यज्ञ—यज्ञ (होता है), यत्र—जिस (यज्ञ) मे, एवंविद्—इस प्रकार जाननेवाला, ब्रह्मा—ब्रह्मा (ऋत्विक्), भवति—होता है ॥८॥

एष ह वा उदक्प्रवणो यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवत्येवंविदं ह
वा एषा ब्रह्माणमनुगाथा यतो यत आवर्तते तत्तद्गच्छति ॥९॥

के लिये ही यह गाथा प्रसिद्ध है कि जहां-जहां से कोई लौटने लगता है वहा-वहां ही वह सहायता के लिये जा पहुचता है ॥९॥

जैसे कुरु लोगो की उस इकले वीर ने घोड़ो से रक्षा की थी, वैसे मनन-शील ब्रह्मा यद्यपि अकेला ऋत्विक् होता है, तो भी वह यज्ञ की, यजमान की, और अन्य सभी ऋत्विजो की रक्षा करता है। इसलिये ऐसा जानने वाले को ही ब्रह्मा निर्वाचित करे, ऐसा न जानने वाले को नही, ऐसा न जानने वाले को नही ॥१०॥

एष —यह, ह वै—ही, उदक्—उत्तर (उन्नति, उद्गति, उन्नत अवस्था), प्रवण—झुका हुआ, रुझानवाला, उदक्-प्रवण —उत्तर (उच्च-से-उच्च स्थिति) की ओर रुखवाला (पहुचानेवाला), यज्ञ —यज्ञ है, यत्र एवविद् ब्रह्मा भवति— जिस (यज्ञ) मे इस प्रकार जाननेवाला ब्रह्मा होता है, एवविदम्—इस प्रकार जाननेवाले, ह वै— ही, एषा—यह, ब्रह्माणम् अनु—ब्रह्मा को लक्ष्य कर, ब्रह्मा के विषय मे, गाथा—कथा, लोकोक्ति है, यत यत —जहाँ-जहाँ से, आवर्त्तते—(यज्ञ) लौट आता है (त्रुटि के कारण आगे नही बढ पाता), त्रुटिपूर्ण हो जाता है, तत्-तत्—उस-उस (त्रुटि के) स्थान को (पूर्ण करने के लिए), गच्छति—(ब्रह्मा ऋत्विक्) पहुचता है (त्रुटि दूर कर देता है) ॥९॥

मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विक्कुरूनश्वाभिरक्षत्येवविद्ध
वै ब्रह्मा यज्ञ यजमान सर्वाश्चर्त्विजोऽभिरक्षति।
तस्मादेवविदमेव ब्रह्माण कुर्वीत नानेवविद नानेवविदम् ॥१०॥

मानव —मनन-शील, ब्रह्मा—ब्रह्मा, एव—ही, इकला, ऋत्विक्— ऋत्विक् (याजयिता), कुरून्—(यज्ञ मे) कर्मशील—यजमान-होता-अध्वर्यु-उद्गाता आदि की, (जैसे) कुरून्—कुरु देश के योद्धाओं की, अश्वा—(नवागी की) घोडी, अभिरक्षति—चारो ओर से रक्षा करती है, (ऐसे ही) एव विद्—इस प्रकार जाननेवाला, ह वै—निश्चय से, ब्रह्मा—ब्रह्मा, यज्ञम्—(सम्पूर्ण) यज्ञ को, यजमानम्—यज्ञ-कर्त्ता को, सर्वान् च—और सारे, ऋत्विज — ऋत्विजों को (की), अभिरक्षति—सर्वत्र रक्षा करता है (त्रुटि-क्षति नही होने देता), तस्माद्—उस कारण से, एव विदम् एव—इस प्रकार जाननेवाले ही, ब्रह्माणम्—ब्रह्मा को, कुर्वीत—(यज्ञ मे वरण) करे, न—नही, अनेवविदम् —इससे अनभिज्ञ को, न अनेवविदम्—जो ऐसे नही जानता उसको ब्रह्मा न वर ' क र (द्विरुक्ति आदरार्थ, अध्याय-प्रपाठक-समाप्त्यर्थ है) ॥१०॥

पंचम प्रपाठक—(पहला खंड)

(प्राण तथा इन्द्रियों का विवाद—प्राण की तरह महान् बनने की प्रेरणा, १-२ खंड)

'प्राण' सब इन्द्रियों में 'ज्येष्ठ', अर्थात् सब से बड़ा, और 'श्रेष्ठ', अर्थात् सब से उत्तम है—जो ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ को जानता है, वह स्वयं भी ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है ॥१॥

'वाणी' 'वसिष्ठ' है—सब-कुछ ढाप लेती है। चतुर-वाणी वाले की सब बातें ढक जाती है। जो वसिष्ठ को जानता है, वह अपनों में वसिष्ठ हो जाता है ॥२॥

'चक्षु' 'प्रतिष्ठा' है—आंखों से देखकर ही ऊंच-नीच से मनुष्य डावाडोल नहीं होता। जो प्रतिष्ठा को जानता है, वह इस तथा उस लोक में प्रतिष्ठित हो जाता है ॥३॥

ॐ। यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै
श्रेष्ठश्च भवति। प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥१॥

ओ३म्—प्रभु ईश्वर का ओम्-नाम स्मरण कर, **य**—जो, **ह वै**—ही, **ज्येष्ठम् च**—ज्येष्ठ (आयु मे वृद्ध—बडा) को, **श्रेष्ठम् च**—और श्रेष्ठ (गुणो मे प्रशस्यतम) को, **वेद**—जानता है, **ज्येष्ठ च**—ज्येष्ठ भी, **श्रेष्ठ च**—और श्रेष्ठ भी, **भवति**—हो जाता है, **प्राण**—प्राण (श्वास-प्रश्वास), **वा व**—ही, **ज्येष्ठ च**—ज्येष्ठ, **श्रेष्ठ च**—और श्रेष्ठ (है) ॥१॥

यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति वाग्वाव वसिष्ठः ॥२॥

य ह वै—जो ही, **वसिष्ठम्**—वसिष्ठ (वसानेवाले, श्रेष्ठ वसु) को, **वेद**—जानता है, **वसिष्ठ**—वसानेवाला, निवास देनेवाला, **स्वानाम्**—अपने (सम्बन्धी आदियों) का, **भवति**—होता है, **वाग्**—वाणी, **वा व**—ही, **वसिष्ठ**—वसिष्ठ है ॥२॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिँश्च
लोकेऽमुष्मिँश्च चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा ॥३॥

य ह वै—जो ही, **प्रतिष्ठाम्**—प्रतिष्ठा (स्थिति) देनेवाली को, **वेद**—जानता है, **ह**—अवश्य, **प्रतितिष्ठति**—प्रतिष्ठा (आदर) पाता है, स्थान पाता है, **अस्मिन् च लोके**—इस लोक (पृथिवी लोक या इस जन्म) मे, **अमुष्मिन् च लोके**—उस लोक (परलोक, पर-जन्म) मे, **चक्षु**—नेत्र, **वा व**—ही, **प्रतिष्ठा**—प्रतिष्ठा है ॥३॥

'श्रोत्र' 'सपद्' है—सुनने वाला ही कुछ कर सकता है। जो सपद् को जानता है, उसकी दैवी तथा मानुषी कामनाए सम्पन्न होती है ॥४॥

'मन' 'आयतन' है—मन में सब इन्द्रिया ठहरी रहती है। जो आयतन को जानता है, वह अपनो का आयतन बन जाता है ॥५॥

एक बार प्राणो में, अर्थात् प्राण तथा इन्द्रियो में, विवाद उठ खड़ा हुआ कि उनमे सर्व-श्रेष्ठ कौन है ? हर-एक कहने लगा, 'अह श्रेयान्', 'अह श्रेयान्'—मै बडा हू, मै बडा हू ॥६॥

वे प्राणि-जगत् के पिता 'प्रजापति' के पास गये और बोले, भगवन् ! हम में कौन श्रेष्ठ है ? प्रजापति ने उत्तर दिया, तुम में से

यो ह वै सपद वेद सं हास्मै कामा पद्यन्ते
दैवाश्च मानुषाश्च श्रोत्र वाव सपत् ॥४॥

य ह वै—जो तो, सपदम्—सपदा (समृद्धि) को, वेद—जानता है, ह—निश्चय ही, अस्मै—उसके लिए, कामा—कामनाएँ, भोग, सपद्यन्ते—सम्पन्न होते है, पूरे होते है, दैवा च—देवताओ (अग्नि आदि, विद्वान्) सम्बन्धी, मानुषा च—और मनुष्यो के (भोग), श्रोत्रम्—कान (इन्द्रिय), वा व—ही, सपद्—सपद् है ॥४॥

यो ह वै आयतन वेदायतनं ह स्वाना भवति। मनो ह वा आयतनम् ॥५॥

य ह वै—जो तो, आयतनम्—आश्रय, आधार को, वेद—जानता है, आतयनम् ह—निश्चय ही आश्रय-(दाता), स्वानाम्—अपनो का, भवति—होता है, मन—मन, ह वै—ही, आयतनम्—आश्रय (आधार)-दाता (है) ॥५॥

अथ ह प्राणा अहं श्रेयसि व्यूदिरेऽहं श्रेयानस्म्यहं श्रेयानस्मीति ॥६॥

अथ ह—इसके बाद, प्राणा—(सामान्य) प्राण (इन्द्रिया-वाणी आदि), अहम् श्रेयसि—अह श्रेयम् (अपने बडप्पन) के विषय मे, व्यूदिरे (वि+ऊदिरे)—विवाद करने लगे (कि), अहम्—मै, श्रेयान्—सर्व-श्रेष्ठ, अस्मि—हू, अहम् श्रेयान् अस्मि—मै बडा हू, इति—इस (रूप मे) ॥६॥

ते ह प्राणा प्रजापति पितरमेत्योचुर्भगवन्को न श्रेष्ठ इति। तान्होवाच यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीर पापिष्ठतरमिव दृश्येत स व श्रेष्ठ इति ॥७॥

ते ह—वे, प्राणा—प्राण (मिलकर), प्रजापतिम् पितरम्—(अपने) पिता प्रजापति को, एत्य—पास जाकर, ऊचु—बोले, भगवन्—हे आदरणीय पिता, क—कौन, न—हमारा (हममे से), श्रेष्ठ—सर्वश्रेष्ठ है, इति—यह (निवेदन किया), तान्—उनको, ह उवाच—(प्रजापति ने) कहा, यस्मिन् व

जिसके निकल जाने पर शरीर अत्यन्त घृणित दीख पड़े, वही तुम म से श्रेष्ठ है ॥७॥

पहले वाणी बाहर निकल गई। साल भर बाहर रहकर लौटी और अन्य इन्द्रियों से बोली, मेरे बिना कैसे जीवन-निर्वाह हुआ ? उन्होंने उत्तर दिया, जैसे गूंगे बिना बोले, प्राण द्वारा प्राण लेते, चक्षु द्वारा देखते, श्रोत्र से सुनते और मन से विचार करते हैं, ऐसे ही हम भी रहे। वाणी अपनी यथार्थता समझ गई, और शरीर में प्रविष्ट हो गई ॥८॥

फिर चक्षु बाहर निकल गये। साल भर बाहर रहकर लौटे, तो अन्य इन्द्रियों से बोले, हमारे बिना कैसे बीती ? उन्होंने उत्तर दिया,

---

उत्क्रान्ते (व यस्मिन् उत्क्रान्ते)—तुम में से जिसके निकल जाने पर, शरीरम् (तुम्हारा आधार) शरीर, पापिष्ठतरम्—अधिक पापी (बुरा, हीन), इव—(की) तरह, दृश्येत—दिखलाई पड़े, स—वह, व—तुम्हारा (तुम में), श्रेष्ठ—श्रेष्ठ है, इति—यह (निर्णय किया) ॥७॥

सा ह वागुच्चक्राम। सा संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति। यथाऽकला अवदन्तः प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति। प्रविवेश ह वाक् ॥८॥

सा ह—वह, वाग्—वाणी, उच्चक्राम—(शरीर से) बाहर हो गई, निकल गई, सा—वह (वाणी), संवत्सरम्—वर्षभर, प्रोष्य—प्रवास करके (बाहर रहकर), पर्येत्य (परि+एत्य)—लौट कर आकर, उवाच—बोली, कथम्—कैसे, अशकत—तुम, समर्थ हुए, ऋते—बिना, मत्—मुझसे, जीवितुम्—जीने के लिए, (कथम् मद् ऋते जीवितुम् अशकत—मेरे बिना कैसे जी सके (जीवित रहे), इति—यह (वाणी ने पूछा), यथा—जैसे, अकला—गूंगे, अवदन्तः—न बोलते हुए (वाणी के व्यापार से रहित), प्राणन्तः—सांस लेते हुए, प्राणेन—प्राण (श्वास-प्रश्वास) द्वारा, पश्यन्तः—देखते हुए, चक्षुषा—नेत्र से, शृण्वन्तः—सुनते हुए, श्रोत्रेण—कान द्वारा, ध्यायन्तः—ध्यान (चिन्तन-मनन) करते हुए, मनसा—मन (अन्तःकरण) से (जीते हैं), एवम्—इस ही प्रकार (जीवित रहे), इति—यह (प्राणों ने बताया), प्रविवेश ह—(शरीर में) प्रविष्ट हो गई, वाक्—वाणी ॥८॥

चक्षुर्होच्चक्राम। तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति। यथाऽन्धा अपश्यन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति। प्रविवेश ह चक्षुः ॥९॥

जैसे अन्धे बिना देखे, प्राण द्वारा प्राण लेते, वाणी द्वारा बोलते, कानों द्वारा सुनते और मन द्वारा विचार करते हैं, ऐसे ही हम भी रहे। चक्षु अपनी यथार्थता समझ गये, और शरीर में प्रविष्ट हो गये ॥९॥

फिर श्रोत्र बाहर निकल गये। साल भर बाहर रहकर लौटे, तो अन्य इन्द्रियों से बोले, हमारे बिना कैसे जीवित रहे ? उन्होंने उत्तर दिया, जैसे बहरे बिना सुने, प्राण द्वारा प्राण लेते, वाणी से बोलते, आंख से देखते और मन से विचार करते हैं, ऐसे ही हम भी रहे। श्रोत्र अपनी यथार्थता समझ गये, और शरीर में प्रविष्ट हो गये ॥१०॥

चक्षु ह—नेत्र भी, उच्चक्राम—निकला, तत् संवत्सरम् प्रोष्य परिएत्य उवाच—वह (नेत्र) वर्ष भर बाहर रह कर, फिर लौट आकर बोला, कथम् मद् ऋते जीवितुम् अशकत—मेरे बिना कैसे जीवित रह सके, इति—यह (आँख ने पूछा), यथा—जैसे, अन्धा—अन्धे, अपश्यन्त—न देखते हुए (दृष्टि-हीन), प्राणेन प्राणन्त—प्राण से साँस लेते हुए, वाचा—वाणी से, वदन्त—बोलते हुए, श्रोत्रेण शृण्वन्त—कान से सुनते हुए, मनसा ध्यायन्त—मन से मनन-चिन्तन करते हुए (जीते है), एवम्—ऐसे (हम जीवित रहे), इति—यह (अन्य इन्द्रियों ने) कहा, प्रविवेश ह चक्षु—आँख फिर (शरीर में) प्रविष्ट हो गई ॥९॥

श्रोत्रं होच्चक्राम। तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति। यथा बधिरा अशृण्वन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा ध्यायन्तो मनसैवमिति। प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥१०॥

श्रोत्रम् ह—कान भी, उच्चक्राम—बाहर निकल गया, तत् संवत्सरम् प्रोष्य परि+एत्य उवाच—वह (श्रोत्र) वर्षभर बाहर रह कर लौट कर बोला, मद् ऋते कथम् जीवितुम् अशकत—मेरे बिना कैसे जीवित रह सके, इति—यह (कान ने पूछा), बधिरा—बहरे, अशृण्वन्त—न सुनते हुए, प्राणेन प्राणन्त—प्राण से सांस लेते हुए, वाचा वदन्त—वाणी से बोलते हुए, चक्षुषा पश्यन्त—आँख से देखते हुए, मनसा ध्यायन्त—मन (अन्तःकरण) से मनन-चिन्तन-ध्यान करते हुए (जीते है), एवम्—इस प्रकार (हम जीवित रहे), इति—यह (अन्य इन्द्रियों ने कहा), प्रविवेश ह श्रोत्रम्—कान भी (शरीर में) प्रविष्ट हो गया ॥१०॥

फिर मन बाहर निकल गया। साल भर बाहर रह कर लौटा, तो अन्य इन्द्रियों से बोला, मेरे बिना कैसे बने रहे ? उन्होंने उत्तर दिया, जैसे बालक सोचते-विचारते नहीं, परन्तु प्राण से प्राण लेते, वाणी से बोलते, नेत्र से देखते और श्रोत्र से सुनते हैं, वैसे ही हम भी रहे। मन भी अपनी हैसियत समझ गया, और शरीर में प्रविष्ट हो गया ॥११॥

अब जब प्राण निकलने को उद्यत हुआ, तब उसने दूसरे प्राणों, अर्थात् इन्द्रियों को इस तरह उखाड़ दिया जैसे खूंटे से बंधा हुआ एक उत्तम घोड़ा दौड़ने लगे, तो खूंटों को उखाड़ फेंके। यह देख कर इन्द्रियां प्राण के निकट आकर बोलीं, भगवन् ! तुम फूलो-फलो, तुम्हीं हम सब में श्रेष्ठ हो, तुम यहां से मत जाओ ॥१२॥

मनो होच्चक्राम। तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति। यथा बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेणैवमिति। प्रविवेश ह मनः ॥११॥

मनः ह—मन भी, उच्चक्राम—(शरीर से) बाहर निकल गया, तत् संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्य उवाच—वह (मन) वर्ष भर बाहर रहकर लौट आकर बोला, मद् ऋते कथम् जीवितुम् अशकत—मेरे बिना कैसे जी सके ?, इति—यह (पूछा), यथा—जैसे, बाला—बच्चे, अमनसः—मनन-शक्ति से रहित, प्राणेन प्राणन्तः—प्राण से सांस लेते हुए, वाचा वदन्तः—वाणी से बोलते हुए, चक्षुषा पश्यन्तः—आंख से देखते हुए, श्रोत्रेण शृण्वन्तः—कान से सुनते हुए (जीते हैं), एवम्—इस प्रकार (हम जीवित रह सके), इति—यह (अन्य इन्द्रियों ने उत्तर दिया), प्रविवेश ह मनः—(फिर) मन भी (शरीर में) प्रविष्ट हो गया ॥११॥

अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन्स यथा सुहयः पड्वीश-
शङ्कून्संखिदेदेवमितरान्प्राणान्समखिदत्तं हाभिसमे-
त्योचुर्भगवन्नेधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति ॥१२॥

अथ ह—उसके बाद, प्राणः—प्राण ने भी, उच्चिक्रमिषन्—बाहर निकलना चाहा, सः—उस (प्राण) ने, यथा—जैसे, सुहयः—अच्छा (मज़बूत) घोड़ा, पड्वीश-शङ्कून्—पाद-बन्धन (पिछाड़ी) के खूंटों को, संखिदेत्—उखाड़ फेंके (उखाड़ डालता है), एवम्—इस प्रकार, इतरान्—(अपने से) भिन्न (अपान आदि), प्राणान्—प्राणों को या इन्द्रियों को, समखिदत्—उखाड़ दिया, हिला दिया, तम् ह—और उसको, अभिसमेत्य—और पास आकर, ऊचुः—

तब वाणी कहने लगी, मैं क्या वसिष्ठ हू, तुम्हीं वसिष्ठ हो; चक्षु ने कहा, मैं क्या प्रतिष्ठा हू, तुम्हीं प्रतिष्ठा हो ॥१३॥

श्रोत्र ने कहा, मैं क्या संपदा हू, तुम्ही सपदा हो, मन ने कहा, मैं क्या आयतन हू, तुम्ही आयतन हो ॥१४॥

इसीलिये इन्द्रियो को वाणी-नाम से नही पुकारते, चक्षु-नाम से, श्रोत्र-नाम से, मन-नाम से भी नहीं पुकारते, तभी इन सब इन्द्रियो को 'प्राण' ही नाम से पुकारते हैं क्योकि वही ज्येष्ठ है, श्रेष्ठ है, वसिष्ठ है, सपदा है, आयतन है ॥१५॥

(वे प्राण) बोले, भगवन्—हे भगवन् (प्राण)!, एधि—(यहा ही) रहो (मत निकलो), त्वम् न श्रेष्ठ असि—तू ही हममें श्रेष्ठ है, मा—मत, उत्क्रमी—बाहर निकल, इति—यह (प्राणो ने कहा) ॥१२॥

अथ हैन वागुवाच यदह वसिष्ठोऽस्मि त्व तद्वसिष्ठोऽसीत्यथ
हैन चक्षुरुवाच यदह प्रतिष्ठास्मि त्व तत्प्रतिष्ठाऽसीति ॥१३॥

अथ ह—इसके बाद, एनम्—इस (प्राण) को, वाग् उवाच—वाणी बोली, यद् अहम्—जो मैं, वसिष्ठ—श्रेष्ठ वसु या वसानेवाली, अस्मि—हू (तो), त्वम्—तू, तद्-वसिष्ठ—उस (वाणी) को भी वसानेवाला, असि—है, इति—यह (वाणी ने कहा), अथ ह एनम् चक्षु उवाच—इसके बाद इस (प्राण) को नेत्र ने कहा, यद् अहम्—जो मैं (वाणी), प्रतिष्ठा अस्मि—प्रतिष्ठा हू (तो), त्वम्—तू, तत्-प्रतिष्ठा असि—उस (मुझ वाणी) को भी प्रतिष्ठित करनेवाला है ॥१३॥

अथ हैन श्रोत्रमुवाच यदहँ सपदस्मि त्व तत्सपदसीत्यथ
हैन मन उवाच यदहमायतनमस्मि त्व तदायतनमसीति ॥१४॥

अथ ह एनम् श्रोत्रम् उवाच—इसके बाद इस (प्राण) को कान ने कहा, यद् अहम् सपद् अस्मि—जो मैं (कान) सपद् हू (तो), त्वम्—तू, तत्-सपद्—उस (कान) की भी सपद्, असि—है, इति—यह (कान ने कहा), अथ ह एनम् मन उवाच—इसके बाद इस (प्राण) को मन बोला, यद् अहम् आयतनम् अस्मि—जो मैं आयतन हू (तो), त्वम्—तू, तद्-आयतनम्—उस (मन) का भी आयतन (आधार), असि—है, इति—यह (मन ने कहा) ॥१४॥

न वै वाचो न चक्षूँषि न श्रोत्राणि न मनाँसीत्याचक्षते।
प्राणा इत्येवाचक्षते। प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति ॥१५॥

न वै—न तो (इन्हे क्रम से) वाच—वाणिया, न चक्षूंषि—न नेत्र, न श्रोत्राणि—न कान, न मनांसि—न मन, इति—इन (नामो से), आचक्षते—

(यह कथा बृहदारण्यक ६ठ अध्याय १म ब्राह्मण मे भी लग-भग इन्ही शब्दो मे पाई जाती है ।)

पचम प्रपाठक—(दूसरा खड)

(मथ-रहस्य)

प्राण ने इन्द्रियो से कहा, मेरा अन्न क्या होगा ? इन्द्रियो ने उत्तर दिया, कुत्ते से लेकर पक्षियो तक सब का जो अन्न है, वही तेरा अन्न होगा । 'अन' शब्द से ही 'अन्न' बना है—'अन' का अर्थ है 'प्राण' । जो 'अन', अर्थात् प्राण-शक्ति देता है, वह 'अन्न' है । 'अन' से 'अन्न' बनता है, यह तो प्रत्यक्ष है । जो यह जानता है उसके लिये कोई वस्तु 'अनन्न' नहीं होती, 'अनन्न', अर्थात् 'अन्न' न होना, उसके लिये सब जगह अन्न-ही-अन्न, अर्थात् जीवन-ही-जीवन हो जाता है ॥१॥

फिर प्राणो ने इन्द्रियो से कहा, मेरा वस्त्र—ओढना—क्या होगा ? इन्द्रियो ने उत्तर दिया, जल । तभी खाना खाने से पहले

कहते है, प्राणा—प्राण, इति एव—इस (नाम से) ही, आचक्षते—कहते हैं, प्राण—प्राण, हि एव—ही, एतानि—ये, सर्वाणि—सब (इन्द्रिया), भवति—हो जाता है ॥१५॥

स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति । यत्किंचिदिदमाश्वभ्य आशकुनिभ्य इति होचुस्तद्वा एतदनस्यान्नमनो ह वै नाम प्रत्यक्ष, न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवतीति ॥१॥

स ह—उस (प्राण) ने, उवाच—कहा, किम्—क्या, मे—मेरा, अन्नम्—भक्ष्य अन्न, भविष्यति—होगा, इति—यह (कहा), यत्—जो, किंचिद्—कुछ, इदम्—यह (अन्न), आ श्वभ्य—कुत्तो तक के लिए, आ शकुनिभ्य—पक्षियो तक के लिए (अर्थात् जो छोटे-बडे प्राणियो के लिए अन्न है), इति ह—यह, ऊचु—(उन इन्द्रियो ने) कहा, तद् वै—वह ही, एतद्—यह, अनस्य—प्राण का, अन्नम्—अन्न है, अन—'अन', ह वै—ही, नाम—नाम, प्रत्यक्षम्—स्पष्ट विदित है, न ह वै—नही ही, एव विदि—इस प्रकार जाननेवाले मे (के लिए), किंचन—कुछ भी, तनिक भी, अनन्नम्—अन्न का अभाव (कमी), भवति—होना है, इति—यह (निश्चित है) ॥१॥

स होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुस्तस्माद्वा एतदशिष्यन्त पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भि परिदधति । लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति ॥२॥

और पीछे जल-पान करते हैं। यह जल-पान मानो प्राण को वस्त्र पहनाना है। जो ऐसा करता है वह वस्त्र-लाभ करता है और कभी नग्न नहीं होता ॥२॥

(इस प्रकार प्राण-रक्षा के लिये अन्न तथा जल दोनों आवश्यक हैं।)

यह रहस्य सत्यकाम जाबाल ने व्याघ्रपद के वंशज गोश्रुति को देकर कहा, यदि यह उपदेश सूखे पेड़ को भी दिया जाय, तो उसमें भी शाखाएं निकल आयें, और पत्ते फूट निकलें। (इस प्राण-विद्या के ज्ञान से श्रद्धा-हीन व्यक्ति के जीवन में भी प्रभु-भक्ति की सरसता फूट पड़ती है—यही अभिप्राय है।) ॥३॥

(नीचे जो स्थल है यह कुछ विस्तार से बृहदारण्यक ६ अध्याय, ३य ब्राह्मण में भी आता है।)

स ह—उस (प्राण) ने, उवाच—कहा, किम्—क्या, मे—मेरा, वास—आच्छादक, वस्त्र, भविष्यति—होगा, इति—यह (कहा), आप—जल, इति ह—(वस्त्र होगा) यह बात, ऊचु—(इन्द्रियों ने) कही, तस्माद् वै—उस कारण से ही, एतद्—इस (अन्न) को, अशिष्यन्त—खाना आरम्भ करते हुए, पुरस्तात्—(भोजन से) पहले, उपरिष्टात् च—और (भोजन के) बाद, अद्भि—जलों से, परिदधति—ढक देते हैं, आच्छादित कर देते हैं (तब वह प्राण), लम्भुक—प्राप्तकर्ता, ह—ही, वास—कपड़े को (का), भवति—हो जाता है, अनग्न—न नंगा (कपड़े पहिने), भवति—हो जाता है ॥२॥

तद्धैतत्सत्यकामो जाबालो गोश्रुतये वैयाघ्रपद्यायोक्त्वोवाच यद्यप्येनच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्जायेरन्नेवास्मिञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥३॥

तद् ह—उस, एतत्—इस (ज्ञान, विद्या) को, सत्यकाम—सत्यकाम ने, जाबाल—जबाला के पुत्र, गोश्रुतये—गोश्रुति-नामक को, वैयाघ्रपद्याय—व्याघ्रपद के पुत्र, उक्त्वा—कहकर, उपदेश कर, उवाच—कहा था, यदि अपि—अगर, एनत्—इस (विज्ञान) को, शुष्काय—सूखे, स्थाणवे—ठूंठ को, ब्रूयात्—कहा जाये (तो), जायेरन्—पैदा हो जायें, एव—ही, अस्मिन्—इस में, शाखा—शाखायें, प्ररोहेयु—जम आवें, निकल आयें, पलाशानि—पत्ते, इति—यह (वचन कहा था) ॥३॥

यदि कोई 'महत्त्व' को पाना चाहे, तो अमावस्या की रात मे जब और कुछ दिखाई न दे—अपना सकल्प-ही-सकल्प दिखाई दे—दीक्षा ग्रहण करे। फिर उसी मास की पूर्णमासी को, उस समय जब वह संकल्प मानो घोर-अन्धकार मे पूर्ण-प्रकाश में विकसित हो उठे, सब ओषधियों (सर्वौषध) के रस को दधि तथा मधु के साथ मथ ले, और उसे एक तरफ रख दे। इसी को 'मन्थ' कहते हैं, मथा हुआ होने के कारण 'मन्थ'। फिर प्राण की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने वाले—'ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा'—इस वाक्य का उच्चारण करके अग्नि में आज्य (घृत) की आहुति दे, और 'सर्वौषध रस'–'दधि'–'मधु' का जो मन्थ' रखा था, उसमें स्रुवे से चू रहा घृत टपका दे ॥४॥

फिर, 'वसिष्ठाय स्वाहा'—'प्रतिष्ठायै स्वाहा'—'सपदे स्वाहा'—'आयतनाय स्वाहा'—प्राण की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने वाले वाक्यों का उच्चारण करके आज्य की आहुति दे, और उसी 'मन्थ' में स्रुवे से चू-रहा घृत टपका दे ॥५॥

अथ यदि महज्जिगमिषेदमावास्यायां दीक्षित्वा पौर्णमास्यां रात्रौ सर्वौषधस्य मन्थं दधिमधुनोरुपमथ्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् ॥४॥

अथ यदि—और अगर, महत्—बड़प्पन को, जिगमिषेत्—जाना चाहे, प्राप्त करना चाहे, अमावस्यायाम्—अमावस्या के दिन, दीक्षित्वा—दीक्षित होकर, दीक्षा लेकर, पौर्णमास्याम् रात्रौ—पौर्णमासी रात्रि मे, सर्व-औषधस्य—सब ओषधियों के, मन्थम्—पिसी हुई लुगदी को, दधि-मधुनो—दही और शहद मे, उपमथ्य—भली प्रकार मथ कर, ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा—'ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा', इति—इस मत्र से (बोलकर), अग्नौ—अग्नि मे, आज्यस्य—घी की, हुत्वा—आहुति देकर, मन्थे—उपरोक्त मन्थ मे, सपातम्—गिरती बूद को, अवनयेत्—नीचे गिरा दे, टपका दे ॥४॥

वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सपातमवनयेत्प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सपातमवनयेत्सपदे स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सपातमवनयेद् आयतनाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सपातमवनयेत् ॥५॥

वसिष्ठाय स्वाहा—'वसिष्ठाय स्वाहा', इति—इस मत्र से, अग्नौ आज्यस्य हुत्वा मन्थे सपातम् अवनयेत्—अग्नि मे घी की आहुति देकर मन्थ मे गिरती

इसके बाद अग्नि के समीप सरक कर 'मन्थ' को अंजलि में लेकर जप करे—हे प्राण ! तेरा नाम 'अम' है—यह जो-कुछ है, वह तेरी 'अमा' है—'अम' की शक्ति 'अमा' हुई—'अ-मा', अर्थात् जिसे मापा नहीं जा सकता, अपरिमेय ! हे प्राण, आप ज्येष्ठ हो, श्रेष्ठ हो, राजा हो, अधिपति हो—आप मुझे ज्येष्ठता, श्रेष्ठता, राज्य तथा आधिपत्य प्राप्त करायें—मैं यह सब-कुछ हो जाऊं, ज्येष्ठ हो जाऊं, श्रेष्ठ हो जाऊं, राजा और अधिपति हो जाऊं ॥६॥

इसके बाद इस ऋचा से क्रमपूर्वक मन्थ का आचमन करे—'तत्सवितुर्वृणीमहे'—'हम उस प्राण-रूप सविता के गुणों को वरते हैं'—यह बोल कर आचमन करे। फिर, 'वयं देवस्य भोजनम्'—

बूंद को टपका दे, प्रतिष्ठायै स्वाहा इति —प्रतिष्ठायै स्वाहा, इस मंत्र से , संपदे स्वाहा इति —'संपदे स्वाहा' यह मंत्र बोल कर , आयतनाय स्वाहा इति —'आयतनाय स्वाहा' इस मंत्र से ॥५॥

अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ मन्थमाधाय जपत्यमो नामास्यमा हि
ते सर्वमिदं स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाऽधिपतिः स मा
ज्यैष्ठ्यं श्रैष्ठ्यं राज्यमाधिपत्यं गमयत्वहमेवेदं सर्वमसानीति ॥६॥

अथ—इसके बाद, प्रतिसृप्य—(अग्नि के समीप) सरक कर, अञ्जलौ—अंजलि में, मन्थम्—मन्थ को, आधाय—रखकर, लेकर, जपति—(अगले मंत्र से) जप करता है, उच्चारण करता है, अमः—अम (निर्मर्यादि, निःसीम, मंत्र के समीप, सर्वव्यापक), नाम—नामवाला, असि—तू है, अमा—समीप, हि—ही, ते—तेरे, सर्वम् इदम्—यह सब कुछ, स हि—वह (तू), ज्येष्ठः—आयु में सब से बड़ा, श्रेष्ठः—सर्वश्रेष्ठ, राजा+अधिपतिः—राजा और शासक है, सः—वह (तू), मा—मुझ को, ज्यैष्ठ्यम्—ज्येष्ठता (आयु की वृद्धि), श्रैष्ठ्यम्—श्रेष्ठता (गुणों में वृद्धि), राज्यम्—राज्य, आधिपत्यम्—शासन, गमयतु—प्राप्त करा, प्रदान कर, अहम् एव—मैं भी, इदम् सर्वम्—यह सब कुछ, असानि—हो जाऊं (इन गुणों—विशेषताओं से युक्त हो जाऊं), इति—इस (मंत्र का जप करे) ॥६॥

अथ खल्वेतयर्चा पच्छ आचामति, तत्सवितुर्वृणीमह
इत्याचामति, वयं देवस्य भोजनमित्याचामति, श्रेष्ठं
सर्वधातममित्याचामति, तुरं भगस्य धीमहीति सर्वं पिबति ॥७॥

अथ खलु—तत्पश्चात्, एतया—इस, ऋचा—ऋचा से, पच्छः—एक-एक पाद से क्रमपूर्वक, आचामति—आचमन करता है, खाता है, तत्—उस

'हम उस प्राण-देव के भोजन का वरण करते हैं'—यह कह कर आचमन करे। फिर, 'श्रेष्ठ सर्वधातमम्'—'श्रेष्ठ और सबको धारण करने वाले संकल्प का धारण करते हैं'—यह कह कर आचमन करे। फिर, 'तुरं भगस्य धीमहि'—'हम भगवान् के तेजोमय रूप का ध्यान करते हैं'—यह कह कर सारा मन्थ पी जाय ॥७॥

(इस सम्पूर्ण स्थल का अभिप्राय यह है कि 'ज्येष्ठ'-'श्रेष्ठ'-'वसिष्ठ'-प्रतिष्ठा'-'सम्पद्'-'आयतन' बनने के संकल्प-रूपी बीज को निराशा-रूप अमावस की घोर निशा में बो दे। अर्थात्, ऐसे समय में इनका बीज मन में बोये, जब इनकी कोई आशा ही न दिखाई देती हो। इस प्रकार 'ज्येष्ठ' आदि होने के बीज को अङ्कुरित करके खिला दे, ऐसे जैसे पूर्णमासी की चांदनी छिटकती है। फिर स्थावर (ओषध), जंगम (दधि), तथा विहगम (मधु) के सार-तत्त्व को लेकर उनमें प्राण की भावना करे, यह सोचे कि स्थावर-जगत् मुझे महानता की तरफ ले जा रहा है, जंगम-जगत् मुझे महानता की तरफ ले जा रहा है, विहगम-जगत् मुझे महानता की तरफ ले जा रहा है। ये भावनाएं ओषध-दधि-मधु में करता हुआ इन सबका 'मन्थ' बनाकर मन्त्रों का जाप करके उसे पी जाय, इस प्रकार ऊंची भावनाओं से भावित किये हुए मन्थ का पान करने में संकल्प दृढ़ होता है, और महान् बनने की इच्छा वाला स्वयं महान् हो जाता है।)

इसके पश्चात् कंस-पात्र और चमस को धोकर रख दे, और

(तेज) को, **सवितु**—जगत्प्रेरक, जगद्रचयिता के, **वृणीमहे**—वरण करते हैं, अपने अन्दर धारण करते हैं, **इति**—ऐसा (बोलकर), **आचामति**—पीता है, खा लेता है, **वयम्**—हम, **देवस्य**—दिव्य-गुण वाले, सर्वप्रकाशक के, **भोजनम्**—भोज्य-पदार्थ को, **इति**—ऐसा (बोलकर), **आचामति**—पी लेता है, खाता है, **श्रेष्ठम्**—सर्वथा प्रशंसनीय, सर्वोत्तम, **सर्वधातमम्**—सब को धारण करने वालों में श्रेष्ठ को, **इति**—ऐसा बोल कर, **आचामति**—खा-पी लेता है, **तुरम्**—गति देनेवाले तेज को, **भगस्य**—सब ऐश्वर्यों के स्वामी के, **धीमहि**—हम ध्यान करें, हम धारण करें, **इति**—ऐसे बोल कर, **सर्वम्**—सारे को, **पिबति**—पी जाता है ॥७॥

निर्णिज्य कंसं चमसं वा पश्चादग्नेः संविशति चर्मणि वा स्थण्डिले वा वाचंयमोऽप्रमाहः स यदि स्त्रियं पश्येत्समृद्धं कर्मेति विद्यात् ॥८॥

अग्नि-कुण्ड के पीछे चर्म पर या भूमि पर बैठ जाय। वाणी का संयम करके, काम-क्रोधादि पर विजय पा कर सो जाय, और यदि स्वप्न में स्त्री के दर्शन करे—स्त्री-रूपा मातृ-शक्ति के दर्शन करे—तो समझे कि काम सफल हुआ ॥८॥

इस विषय में एक श्लोक भी है—'जब अभीष्ट कार्यों के समय स्वप्न में स्त्री को—स्त्री-रूपा मातृ-शक्ति को—देखे, तो समझ ले कि मातृ-शक्ति का आशीर्वाद मिला, समृद्धि होगी, ऐसा स्वप्न देखने पर, ऐसा स्वप्न देखने पर ॥९॥

पंचम प्रपाठक—(तीसरा खंड)

(श्वेतकेतु तथा राजा जैवलि प्रवाहण के पांच प्रश्न, ३ से १० खंड)

एक समय आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु पञ्चाल-देश के क्षत्रियों की समिति में आया। उसे जैवलि प्रवाहण (छा० १-८-१ में भी इन

निर्णिज्य—साफ करके, कंसम्—कांस्य पात्र को, चमसम् वा—और चमचे को पश्चात्—पश्चिम की ओर, अग्नेः—अग्नि के, संविशति—शयन करता है चर्मणि वा—चर्म (मृग-चर्म) पर, स्थण्डिले वा—या मट्टी के चबूतरे पर, वाचंयम—वाणी का संयमी, चुप, अप्रमाद—राग-द्वेष से अनभिभूत, उद्वेग से शून्य, सोत्साह, स—वह, यदि—अगर, स्त्रियम्—स्त्री को, पश्येत्—(स्वप्न में) देखे (तो), समृद्धम्—भली प्रकार सम्पन्न, सफल, समृद्धि-प्रद हुआ है, कर्म—यज्ञ-क्रिया, इति—ऐसे, विद्यात्—जाने, समझे ॥८॥

तदेष श्लोकः। यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति।
समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने इति ॥९॥

तद्—सो, एष—(इस विषय में) यह, श्लोक—पद्यमय उक्ति है, यदा—जब, कर्मसु—कर्मों में, काम्येषु—कामना की सिद्धि के लिए किये गये, स्त्रियम्—स्त्री को, स्वप्नेषु—सपनों में, पश्यति—देखता है, समृद्धिम्—समृद्धि को, सफलता को, ऐश्वर्य को, तत्र—उस (कर्म) में, जानीयात्—जाने, तस्मिन्—उस स्वप्न-निदर्शने—स्वप्न के दीखने पर, तस्मिन् स्वप्न-निदर्शने—उस स्वप्न के दीखने पर ॥९॥

श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानां समितिमेयाय। तं ह प्रवाहणो
जैवलिरुवाच, कुमारानु त्वाऽशिषत्पितेत्यनु हि भगव इति ॥१॥

श्वेतकेतु ह—श्वेतकेतु-नामी, आरुणेय—अरुणवंशी, पञ्चालानाम्

राजा का वर्णन है) ने पूछा, कुमार! क्या तुम अपने पिता से शिक्षा पा चुके? श्वेतकेतु ने उत्तर दिया, हां, भगवन्! ॥१॥

जैवलि ने पूछा, (१) क्या तुम्हें मालूम है कि मर कर मनुष्य यहां से कहां जाता है? कुमार ने उत्तर दिया, भगवन्! मैं नहीं जानता। (२) क्या तुम्हें मालूम है कि लौटकर कैसे आते हैं? उसने उत्तर दिया, भगवन्! मैं नहीं जानता। (३) क्या तुम्हें मालूम है कि 'देवयान' और 'पितृयाण' के मार्ग कहां अलग-अलग होते हैं? उसने उत्तर दिया, भगवन्! मैं नहीं जानता ॥२॥

राजा ने आगे पूछा, (४) क्या तुम्हें मालूम है कि इतने प्राणियों के मरते रहने पर भी वह लोक भर क्यों नहीं जाता?

—पंचाल देश की, समितिम्—सभा को (में), एयाय—आया, उपस्थित हुआ, तम् ह—उसको, प्रवाहण—प्रवाहण (नामी) ने, जैवलि—जीवल के पुत्र, उवाच—कहा (पूछा), कुमार—हे कुमार!, त्वा—तुझको, अनु+अशिषत्—शिक्षित किया है, शिक्षा दी है, पिता—(तेरे) पिता ने, इति—यह (बात पूछी), अनु (अशिषत्)—शिक्षा दी है, हि—हां, भगव—हे भगवन्, इति—यह (श्वेतकेतु ने बताया) ॥१॥

वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्तीति। न भगव इति। वेत्थ यथा पुनरावर्तन्त ३ इति। न भगव इति। वेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना ३ इति। न भगव इति ॥२॥

वेत्थ—(क्या तू) जानता है, यद्—जो, जैसे, इत—यहां से इस लोक से, अधि—ऊपर की ओर, परलोक में, प्रजा—प्रजाएं (प्राणी), प्रयन्ति—जाती हैं, इति—यह (प्रथम बात), न भगव—नहीं भगवन्!, इति—यह (उत्तर में कहा), वेत्थ—(क्या तू) जानता है, यथा—जैसे, पुन—फिर, आवर्तन्ते—लौट आती हैं, इति—(यह दूसरी बात तू क्या जानता है), न भगव—हे भगवन् नहीं (मैं जानता), इति—ऐसे (कहा), वेत्थ—(क्या तू) जानता है, पथो—मार्गों के, देवयानस्य—देवयान के, पितृयाणस्य च—और पितृयाण के, व्यावर्तना—फटना, अलग होना, अन्तर, इति—यह (तीसरी बात), न भगव इति—हे भगवन् नहीं (जानता), यह (कहा) ॥२॥

वेत्थ यथासौ लोको न संपूर्यत ३ इति। न भगव इति। वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति। नैव भगव इति ॥३॥

वेत्थ—जानता है, यथा—जैसे, असौ—यह, लोक—ऊर्ध्व-लोक, परलोक, न—नहीं, संपूर्यते—(जीवात्माओं से) भर जाता है, इति—यह (चौथी

उसने उत्तर दिया, भगवन् ! मैं नहीं जानता । (५) क्या तुम्हें मालूम है कि 'जल' पांचवी आहुति में जाकर किस प्रकार 'पुरुष' बनकर बोलने लगते हैं ? उसने उत्तर दिया, भगवन् मैं नहीं जानता ॥३॥

तब राजा ने कहा, तो तूने कैसे कह दिया था कि तू शिक्षा ग्रहण कर चुका ? जो इन बातों को नहीं जानता वह कैसे कह सकता है कि उसने शिक्षा ग्रहण कर ली ? श्वेतकेतु ने अपने को परास्त अनुभव किया, वह पिता के घर लौट आया, और उसे कहा—आपने मुझे बिना पूरी शिक्षा दिये ही कह दिया कि तुझे सब सिखा दिया ॥४॥

उस 'क्षत्रिय-बन्धु', अर्थात् कुक्षत्रिय ने मुझ से पांच प्रश्न पूछे,

---

बात), न भगव—हे भगवन् नहीं (मैं जानता), इति—यह कहा, वेत्थ—(क्या तू) जानता है, यथा—जैसे, पञ्चम्याम्—पाँचवी, आहुतौ—आहुति दिये जाने पर, आप—जल, पुरुषवचस—पुरुष की वाणी वाले अर्थात् सशरीरी जीव, भवन्ति—हो जाते हैं, इति—यह (पांचवी बात), न एव—नहीं ही, भगव—हे भगवन्, इति—यह (उत्तर दिया) ॥३॥

अथानु किमनुशिष्टोऽवोचथा, यो हीमानि न विद्यात्कथं सोऽनुशिष्टो ब्रुवीतेति । स हाऽऽयस्त पितुरर्धमेयाय तं होवाचाऽननुशिष्य वाव किल मा भगवानब्रवीदनु त्वाऽशिषमिति ॥४॥

अथ—तो फिर, किम्—किस आधार पर, कैसे, क्यों, अनुशिष्ट—(मैं पिता द्वारा) शिक्षित हूं, अवोचथा—तूने कहा था, य हि—जो, इमानि—इन (पाँच बातों) को, न विद्यात्—न जाने, कथम्—कैसे, क्योंकर, स—वह, अनुशिष्ट—(अपने को) शिक्षित, ब्रुवीत—कहे, इति—यह (सुन कर), स ह—वह, आयस्त—दुःखी हुआ, पितु—(अपने) पिता के, अर्धम्—पास, एयाय—आया, पहुंचा, तम् ह—उस (पिता) को, उवाच—बोला, अननुशिष्य—शिक्षा (उपदेश) न देकर, वाव किल—ही, मा—मुझको, भगवान्—पूजनीय आपने, अब्रवीत्—कह दिया (कि), त्वा—तुझको, अनु+अशिषम्—मैंने उपदेश (शिक्षा) दिया, इति—ऐसे ॥४॥

पञ्च मा राजन्यबन्धु प्रश्नानप्राक्षीत्तेषां नैकंचनाशकं विवक्तुमिति । स होवाच यथा मा त्वं तदैतानवदो यथाऽहमेषां नैकंचन वेद । यद्यहमिमानवेदिष्यं कथं ते नावक्ष्यमिति ॥५॥

मैं उनमें से एक का भी तो उत्तर न दे सका। पिता ने पूछा, वे प्रश्न क्या थे? प्रश्नों को सुनकर उसने कहा कि जैसे ये प्रश्न तूने मुझे सुनाये हैं, मैं भी इनमें से किसी का उत्तर नहीं जानता। अगर मैं इनका उत्तर जानता होता, तो तुझे क्यों न बतलाता? ॥५॥

श्वेतकेतु का पिता गौतम स्वयं राजा के पास पहुंचा। राजा ने उसकी पूजा की। प्रातःकाल जब राजा सभा में गया, तो गौतम भी वहां पहुंचा। राजा ने कहा, भगवन्! गौतम! कोई मानुष-धन

पञ्च—पांच, मा—मुझको (मे), राजन्यबन्धु—(कु)क्षत्रिय-पुत्र ने, प्रश्नान्—प्रश्नों को, अप्राक्षीत्—पूछा, तेषाम्—उनमें के, न—नहीं, एकंचन—एक को भी, अशकम्—समर्थ हुआ, विवक्तुम्—विवेचन करना, उत्तर देना, (विवक्तुम् न अशकम्—उत्तर न दे सका), इति—यह (श्वेतकेतु ने कहा), स ह—उस (पिता आरुणि) ने, उवाच—कहा, यथा—जैसा, मा—मुझको, त्वम्—तूने, तद्+एतान्—उन-इन (प्रश्नों) को, अवद—बताया है, वर्णन किया है, यथा—जैसे, अहम्—मैं (स्वयम्), एषाम्—इनमें के, न—नहीं, एकञ्चन—किसी एक को भी, वेद—जानता हूं, यदि—अगर, अहम्—मैं, इमान्—इन (प्रश्नों के उत्तर) को, अवेदिष्यम्—जानता होता, कथम्—कैसे, क्यों, ते—तुझे, न—नहीं, अवक्ष्यम्—कहता, उपदेश देता, इति—यह (आरुणि ने कहा) ॥५॥

स ह गौतमो राज्ञोऽर्धमेयाय। तस्मै ह प्राप्तायार्हां चकार। स ह प्रातः सभाग उदेयाय। तं होवाच मानुषस्य भगवन्गौतम वित्तस्य वरं वृणीथा इति। स होवाच तवैव राजन्मानुषं वित्तम्। यामेव कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तामेव मे ब्रूहीति। स ह कृच्छ्री बभूव ॥६॥

स ह गौतम—वह गौतम गोत्री (आरुणि), राज्ञ—राजा के, अर्धम्—पास, घर, एयाय—आया, पहुंचा, तस्मै ह—उसके लिए (का), प्राप्ताय—आये हुए, अर्हांचकार—(राजा ने) स्वागत-सत्कार किया, स ह—और वह (राजा), प्रातः—(अगले दिन) प्रातःकाल में, सभाग—सभा में गया हुआ (उपस्थित), उदेयाय—(गौतम के लिए आदरार्थ) उठ खड़ा हुआ, तम् ह—उस (गौतम) को, उवाच—बोला, मानुषस्य—मनुष्य-सम्बन्धी, भगवन् गौतम—आदरणीय गौतम!, वित्तस्य—धन का, वरम्—वर, वृणीथा—वरण कर, मांग, इति—यह (कहा), सह—उस (गौतम) ने, उवाच—कहा, तव एव—तेरा ही, राजन्—हे राजा!, मानुषम्+वित्तम्—मनुष्यों का धन (रहे, हो), याम् एव—जिस ही, कुमारस्य—कुमार (श्वेतकेतु) के, अन्ते—पास में

माग लो ! गौतम ने उत्तर दिया, राजन् ! मानुष-धन तो आप अपने पास रखो, मेरे पुत्र कुमार श्वेतकेतु से जो प्रश्न आपने किये थे, मुझे तो उन्हीं का उत्तर दीजिये ॥६॥



श्वेतकेतु का पिता गौतम राजा जैवलि प्रवाहण के पास ब्रह्म-विद्या के लिये पहुचा

(सामने), वाचम्—वाणी को, अभाषथा—कहा था (प्रश्न किये थे), ताम् एव—उस ही (वाणी) को, मे—मुझे, ब्रूहि—कह, बता, इति—यह (निवेदन किया), स ह—(यह सुन कर) वह (राजा), कृच्छ्री बभूव—दुखी हुआ, असमजस मे पड गया ॥६॥

यह सुनकर राजा असमंजस में पड़ गया। सोच-विचार कर उसने आज्ञा दी कि कुछ काल तक यहीं मेरे पास रहो। फिर, राजा ने गौतम को कहा, देख गौतम! तूने मुझसे इन प्रश्नों का उत्तर पूछा तो है, परन्तु यह स्मरण रख कि तुझसे पहले यह विद्या किसी ब्राह्मण को नहीं मिली। इसीलिये सब देशों में क्षत्रियों का ही शासन रहा है। फिर उसे राजा ने उपदेश देना प्रारम्भ किया ॥७॥

पंचम प्रपाठक—(चौथा खंड)

पहले राजा पांचवें प्रश्न का उत्तर देते हैं कि 'जल' किस प्रकार पांचवीं आहुति में 'पुरुष' बनकर बोलने लगते हैं—

हे गौतम! वह देखो 'द्यु-लोक' यज्ञ की अग्नि है। उस अग्नि में सूर्य समिधा है, किरणें धुआं है, दिन ज्वाला है, चन्द्र अंगार हैं, नक्षत्र चिनगारियां हैं ॥१॥

तं ँ ह चिरं वसेत्याज्ञापयाञ्चकार। तं ँ होवाच। यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान्गच्छति। तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति। तस्मै होवाच ॥७॥

तम् ह—उस (गौतम) को, चिरम्—देर तक, कुछ समय तक, वस—(यहाँ ही) निवास कर, इति—यह, आज्ञापयाञ्चकार—आज्ञा दी, तम् ह उवाच—और उसको (राजा ने) कहा, यथा—जैसे, मा—मुझको, त्वम्—तूने, अवदः—(उपदेश के लिए) कहा है, यथा—जैसे, इयम्—यह, न—नहीं, प्राक्—पहले, त्वत्तः—तुझ से, पुरा—पूर्व समय में, विद्या—विद्या, ब्राह्मणान्—ब्राह्मणों को, गच्छति—(वंश-परम्परा से) जाती रही है, प्राप्त हुई है, तस्माद् उ—उस कारण से ही, सर्वेषु लोकेषु—सब लोकों में, क्षत्रस्य—क्षत्रिय का, एव—ही, प्रशासनम्—हुकूमत, अभूद्—रही, या (पुरा क्षत्रस्य प्रशासनम् अभूत्—आज से पहिले इस विद्या का क्षत्रिय द्वारा ही उपदेश—प्रशासनम्—हुआ करता था), इति—यह (कहकर), तस्मै ह—उस (गौतम) को, उवाच—कहा, उपदेश देने लगा ॥७॥

असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गा ॥१॥

असौ—यह, वाव—ही, लोक—लोक (द्यु लोक), गौतम—हे गौतम, अग्नि—(यज्ञाग्नि के समान) अग्नि है, तस्य—उस (अग्नि) का, आदित्य—सूर्य, एव—ही, समिद्—समिधा (रूप) है, रश्मय—(सूर्य की) किरणें,

इस द्यु-रूप यज्ञाग्नि में देव-गण श्रद्धा की, अर्थात् जल की आहुति देते हैं, और उस आहुति से राजा सोम, अर्थात् 'वाष्प' उत्पन्न होते हैं। सृष्टि में हो रहे द्यु-यज्ञ में जल की यह पहली आहुति है ॥२॥

पंचम प्रपाठक—(पांचवां खंड)

फिर देखो वह पर्जन्य! यह पर्जन्य यज्ञ की दूसरी अग्नि है। उस अग्नि में वायु समिधा है, अभ्र धुआ है, विद्युत् ज्वाला है, वज्र अगारे हैं, गर्जन चिनगारिया हैं ॥१॥

इस पर्जन्य-रूप यज्ञाग्नि मे देव-गण सोम-राजा, अर्थात् जलीय-वाष्प की आहुति देते हैं और उस आहुति से 'वर्षा' होती है। सृष्टि में हो रहे 'पर्जन्य-यज्ञ' में जल का दूसरी आहुति में यह रूप हो जाता है ॥२॥

धूम—धूम (रूप) ह, **अह**—दिन, **अर्चि**—लपट, ली, **चन्द्रमा**—चन्द्रमा, **अङ्गारा**—अगार (रूप) है, **नक्षत्राणि**—नक्षत्र, **विस्फुलिंगा**—अग्नि-कण चिनगारी (रूप) है ॥१॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा श्रद्धा जुह्वति तस्या आहुते सोमो राजा सभवति ॥२॥

तस्मिन्—उस, **एतस्मिन्**—इस, **अग्नौ**—आदित्य-अग्नि मे, **देवा**—दिव्य प्राकृतिक शक्तियाँ, **श्रद्धाम्**—जल को, **जुह्वति**—होमते ह, **तस्या**—उस, **आहुते**—(जल रूप) आहुति से, **सोम राजा**—वाष्प रूप सोम राजा, **सभवति**—उत्पन्न होता हे ॥२॥

पर्जन्यो वा व गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्र
धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्लादुनयो विस्फुलिंगा ॥१॥

पर्जन्य—मेघ, **वा व**—ही, **गौतम**—हे गौतम, **अग्नि**—(यज्ञ की) अग्नि (के रूप मे हे), **तस्य**—उस (अग्नि का), **वायु एव**—वायु ही, **समिद्**—समिधा (रूप मे, उद्दीपक) हे, **अभ्रम्**—धुध-कोहरा आदि, **धूम**—धूम (हे), **विद्युत्**—बिजली, **अर्चि**—लपट (है), **अशनि**—पृथिवी पर गिरती बिजली, **अङ्गारा**—अगार (रूप) हे, **ह्लादुनय**—बादल की गरज, तड़क, **विस्फुलिङ्गा**—चिनगारियाँ (है) ॥१॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा सोमं राजान
जुह्वति तस्या आहुतेर्वर्षं सभवति ॥२॥

तस्मिन् एतस्मिन्—उस इस, **अग्नौ**—(पर्जन्य) अग्नि मे, **देवा**—देव-गण, **सोमम् राजानम्**—दीप्यमान वाष्प (सोम) को, **जुह्वति**—होमते हे,

पंचम प्रपाठक—(छठा खंड)

फिर देखो यह पृथिवी ! यह पृथिवी यज्ञ की तीसरी अग्नि है। इस अग्नि में सवत्सर समिधा है, आकाश धुआ है, रात्रि ज्वाला है, दिशाए अगारे है, अवान्तर-दिशाए चिनगारिया है ॥१॥

इस पृथिवी-रूप यज्ञाग्नि में देव-गण वर्षा की आहुति देते है, और उस आहुति से 'अन्न' उत्पन्न होता है। सृष्टि में हो रहे 'पृथिवी-यज्ञ' में जल का तीसरी आहुति में यह रूप हो जाता है ॥२॥

पंचम प्रपाठक—(सातवा खंड)

फिर देखो यह पुरुष ! यह पुरुष यज्ञ की चतुर्थ अग्नि है। इस अग्नि में वाणी समिधा है, प्राण धुआ है, जिह्वा ज्वाला है, आंख अगारे है, कान चिनगारिया है ॥१॥

तस्या आहुते—उस (सोम-वाष्प रूप) आहुति से, वर्षम्—वर्षा, सभवति—उत्पन्न होती है ॥२॥

पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्या सवत्सर एव समिदाकाशो
धूमो रात्रिरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिगा ॥१॥

पथिवी—पृथ्वी, वा व—ही, गौतम—हे गौतम !, अग्नि—(यज्ञ की) अग्नि (के रूप मे है), तस्या—उस (पृथिवी) का, सवत्सर—पूरा साल, एव—ही, समिद्—समिधा-(रूप) है), आकाश—आकाश, धूम—धूम (धुआ) है, रात्रि—रात, अर्चि—लपट, दिश—दिशाए, अङ्गारा—अगार, अवान्तरदिश—दिशाओ के कोण, ऊर्ध्व और अधर आदि, विस्फुलिगा—चिनगारियाँ है ॥१॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति तस्या आहुतेरन्नं सभवति ॥२॥

तस्मिन् एतस्मिन्—उस-इस, अग्नौ—(पृथिवी रूप) अग्नि मे, देवा—देवगण, वर्षम्—वर्षा को, जुह्वति—होमते है, तस्या. आहुते—उस (वर्षा-रूप) आहुति से, अन्नम्—अन्न, सभवति—उत्पन्न होता है ॥२॥

पुरुषो वा व गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो
धूमो जिह्वार्चिश्चक्षुरङ्गारा श्रोत्र विस्फुलिगा ॥१॥

पुरुष—(जीवधारी) मनुष्य, वा व—ही, गौतम—हे गौतम, अग्नि—(यज्ञ की) अग्नि है, तस्य—उस (पुरुष) अग्नि की, वाग् एव—वाणी ही, समिद्—समिधा (रूप) है, प्राण—श्वास-प्रश्वास, धूम—धुआ, जिह्वा—

इस पुरुष-रूप यज्ञाग्नि में देव-गण अन्न की आहुति देते हैं, और उस आहुति से 'रेतस्'—'वीर्य'—उत्पन्न होता है। सृष्टि में हो रहे 'पुरुष-यज्ञ' में जल का चतुर्थ आहुति में यह रूप हो जाता है ॥२॥

पंचम प्रपाठक—(आठवां खंड)

फिर देखो यह स्त्री! यह स्त्री यज्ञ की पचम अग्नि है ॥१॥

इस स्त्री-रूप यज्ञाग्नि में देव-गण रेतस् की आहुति देते हैं, और उस आहुति से गर्भ होता है। सृष्टि में हो रहे 'स्त्री-यज्ञ' में जल का पंचम आहुति में यह रूप, अर्थात् गर्भ-रूप हो जाता है ॥२॥

(हवनकुड मे समिधा-सामग्री-घृत से अग्निहोत्र होता है—इससे आहुति ऊपर 'द्यु' को जाती है। द्यु-लोक को यज्ञ माना जाय, तो वहा हो रहे यज्ञ के बाद आहुति 'पर्जन्य' अर्थात् बादल मे जाती है, क्योकि आहुति के द्यु मे जाने के बाद ही 'पर्जन्य' अर्थात्

जीभ, अर्चि—लपट, चक्षु—आँख, अङ्गारा—अगारे, श्रोत्रम्—कान, विस्फुलिगा—चिनगारियाँ है ॥१॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्न जुह्वति तस्या आहुते रेत सभवति ॥२॥

तस्मिन् एतस्मिन्—उस-इस, अग्नौ—(पुरुष रूप) अग्नि मे, देवा—देव-गण, अन्नम्—अन्न को, जुह्वति—होमते है, तस्या आहुते—उस (अन्न रूप) आहुति मे, रेत—वीर्य, सभवति—उत्पन्न होता है ॥२॥

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिदुपमन्त्रयते स
धूमो योनिरर्चिर्यदन्त करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिगा ॥१॥

योषा—नारी, स्त्री, वा व—ही, गौतम—हे गौतम! अग्नि—(यज्ञ की) अग्नि (के रूप मे है), तस्या—उस (नारी) का, उपस्थ—प्रजननेन्द्रिय, एव—ही, समिद्—समिधा (रूप) है, यद्—जो, उपमन्त्रयते—सकेत द्वारा सम्पर्क स्थापित करती है, स—वह, धूम—धुआ, योनि—योनि, अर्चि—लपट, यद्—जो, अन्त करोति—लिङ्ग को (उसके) अन्दर करता है, ते—वे, अङ्गारा—अगार है, अभिनन्दा—रति-सुख, विस्फुलिङ्गा—चिनगारियाँ है ॥१॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भ सभवति ॥२॥

तस्मिन् एतस्मिन्—उस-इस, अग्नौ—(नारी-रूप) अग्नि मे, देवा—देवगण, रेत—वीर्य को, जुह्वति—होमते है, तस्या आहुते—उस (वीर्य-रूप) आहुति मे, गर्भ—गर्भ, सभवति—उत्पन्न हो जाता है ॥२॥

बादल बनता है। 'पर्जन्य' को यज्ञ माना जाय, तो वहा हो रहे यज्ञ के बाद आहुति 'अन्न' मे जाती है। क्योकि 'पर्जन्य' से ही 'अन्न' उत्पन्न होता है। 'अन्न' को यज्ञ माना जाय, तो उसमे हो रहे यज्ञ के बाद आहुति 'वीर्य' मे जाती है, क्योकि 'अन्न' से 'वीर्य' बनता है। 'वीर्य' को यज्ञ माना जाय, तो उसमे हो रहे यज्ञ के बाद आहुति 'गर्भ' मे जाती है, क्योकि 'वीर्य' से 'गर्भ' उत्पन्न होता है। इस प्रकार हवन-कुड मे हो रहे यज्ञ से सूत्र उठाकर जहा-जहा आहुति पहुचती है, जिस-जिस क्रम से पहुचती है, वहा-वहा यज्ञ की कल्पना की गई है और गर्भाधान को भी एक पवित्र यज्ञ कहा गया है। आहुति-द्यु-पर्जन्य-अन्न-वीर्य---इस प्रकार पाचवी आहुति, अर्थात् वीर्य के पडने पर पर्जन्य का जल पुरुष-रूप हो उठता है, और बोलने लगता है।)

पंचम प्रपाठक---(नौवां खंड)

इस प्रकार पाचवीं आहुति में जल पुरुष की तरह बोलने लगते है। वह उल्व में लिपटा हुआ गर्भ दस वा नौ मास तक, या जिस समय तक भी हो, माता के अन्दर शयन कर उत्पन्न होता है ॥१॥

वह उत्पन्न होकर जितनी भी आयु हो, तब तक जीता है। मर जाने के बाद उसे यहा से अग्नियां ही निर्दिष्ट स्थान को ले जाती

इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति स उल्बावृतो गर्भो दश वा नव वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथ जायते ॥१॥

इति तु---इस रूप मे तो, पञ्चम्याम्---पाँचवी, आहुती---(वीर्य-रूप) आहुति होने पर, आपः---(श्रद्धा-नामी प्रथम आहुति रूप) जल, पुरुष-वचस---पुरुषो के समान वाणीवाले या देह-रूप, भवन्ति---हो जाते है, स---वह, उल्व+आवृत---जरायु (झिल्ली) से लिपटा हुआ, गर्भ---गर्भ, दश वा---या तो दस, नव वा---या नौ, मासान्---महीनो तक, अन्तः---अन्दर (माँ के पेट मे), शयित्वा---सो कर (रहकर), यावद् वा---या जितना भी समय (भिन्न-भिन्न योनियो के कारण), अथ---इसके बाद, जायते---उत्पन्न हो जाता है ॥१॥

स जातो यावदायुषं जीवति तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति यत एवेतो यतः सम्भूतो भवति ॥२॥

स---वह, जात---उत्पन्न हुआ (होकर), यावद्+आयुषम्---जितना

है। जहां से यहा आया था, यहा से जहां जायगा—यह-सब अग्नि ही करती है ॥२॥

पंचम प्रपाठक—(दसवां खंड)

(मृत्यु के वाद आत्मा की गति—देवयान-पितृयाण एव उत्तरायण-दक्षिणायन मार्गों का वर्णन)

हे गौतम! जो लोग उत्पत्ति के इस क्रम को जानते हैं, और जो 'निष्काम-कर्मी' अरण्य में श्रद्धा और तप से उपासना में लीन रहते हैं, वे मृत्यु के वाद ज्योतिर्मय रूप की क्रमिक शृंखला में से गुजरते हैं। पहले-पहल उनका रूप 'अर्चि'—किरण—के सदृश प्रकाशमान होता है, किरण से वढता हुआ 'दिन' के समान (जिसमें असख्य किरणें होती हैं) इनका ज्योतिर्मय रूप हो जाता है, उससे वढकर 'पूर्णमासी' के पखवाड़े में, इन पन्द्रह दिनो में जितना प्रकाश है उतने प्रकाश से वे ज्योतिर्मय हो जाते हैं, उससे वढ़कर 'उत्तरायण' के छ मासो में ॥१॥

आयु का भोग है उतने काल तक, जीवति—जीवित रहता है (वाद मे), तम्—उस, प्रेतम्—मृत-शरीर छोडने वाले को, दिष्टम्—(कर्म-भोग से) निर्दिष्ट लोक (योनि) को, इत—यहाँ से (इस जन्म या शरीर से), अग्नय—(श्मशान की) अग्नियाँ, एव—ही, हरन्ति—ले जाती हैं, यत—जहाँ से (जिस अग्नि—द्युलोक-अग्नि से), एव—ही, इत—आया था, यत—जिससे (नारी-रूप अग्नि से), सभूत—उत्पन्न, भवति—होता है ॥२॥

तद्य इत्थं विदु। ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासा्ँस्तान् ॥१॥

तद्—जो, ये—जो (वाल-सन्यासी, ऊर्ध्वरेता पुरुष), इत्थम्—इस प्रकार के (आवागमन-चक्र को), विदु—जानते हैं, ये च—और जो, इमे—ये (ज्ञानी मुमुक्षु), अरण्ये—वन मे (वानप्रस्थ मे), श्रद्धा—श्रद्धा, तप—तप (इन्द्रिय जय) को, इति—ऐसे, उपासते—सेवन (अनुष्ठान) करते हैं, ते—वे, अर्चिषम्—ज्योति की, अभिसभवन्ति—ओर उन्मुख होते हैं, अर्चिष—ज्योति मे, अह—दिन को, अह्न—दिन से, आपूर्यमाणपक्षम्—शुक्ल-पक्ष को, आपूर्यमाणपक्षात्—शुक्ल-पक्ष से, यान्—जिन, षट्—छ, उदङ—उत्तर की ओर, एति—(सूर्य) हो जाता है, मासान्—मासो तक, तान्—उन (मासों) को ॥१॥

छ मासो से—उत्तरायण से—बढकर 'संवत्सर,' और संवत्सर से बढकर 'आदित्य' की महान् ज्योति के सदृश वे तेज से भरपूर हो जाते है। 'आदित्य-ज्योति' से वे चन्द्र-ज्योति, और 'चन्द्र-ज्योति' से 'विद्युत्-ज्योति' को प्राप्त होते है। इस प्रकार उत्तरोत्तर, प्रकाश से प्रकाश में विकसित होते हुए पुरुष का 'मानव' से यह 'अमानव'-रूप प्रकट होता है, फिर वही 'अमानव' अन्य ब्रह्म-भक्तो को 'ब्रह्म-मार्ग' का प्रदर्शन करता है, यही 'देवयान-मार्ग' कहलाता है ॥२॥

इसके विपरीत, जो 'सकाम-कर्मी', ग्राम में रहकर, कुएं-बावड़ी बनवा कर, शुभ-कार्यों में दान देकर भगवान् की उपासना करते है, वे मृत्यु के बाद मन्द-ज्योति की क्रमिक-शृंखला में से गुजरते है। पहले-पहल उनका रूप 'धूम' सदृश होता है, धूम से बढता हुआ 'रात्रि' के समान इनकी मन्द-ज्योति होती है, उससे बढकर 'अमावास्या' की रात्रि के समान वे ज्योतिर्विहीन हो जाते है, उससे बढकर

मासेभ्य संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो
विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति ॥२॥

मासेभ्य —(उत्तरायण) मासो से, संवत्सरम्—वर्ष को, संवत्सराद्—वर्ष से, आदित्यम्—सूर्य को, आदित्यात्—सूर्य से, चन्द्रमसम्—चन्द्र-लोक को, चन्द्रमस —चन्द्र-लोक से, विद्युतम्—विद्युत् (बिजली या विशेष दीप्तिवाले लोक को), तत्पुरुष —वह (ऊर्ध्व-गति को प्राप्त) आत्मा, अमानव —मानव-रूप (जीवात्मा) से ऊपर, स —वह (मुक्त अमानव), एनान्—इन (अन्य मुमुक्षुओ) को, ब्रह्म—ब्रह्म तक, गमयति—पहुँचा देता है, एष —यह, देवयान —देव (ब्रह्म को) प्राप्त करानेवाला (देवयान-नामक), पन्था —मार्ग है, इति—(यह भी बताया) ॥२॥

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते
धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षा-
द्यान्षड् दक्षिणैति मासांस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ॥३॥

अथ—और, ये—जो, इमे—ये (मनुष्य), ग्रामे—गाँव-बस्ती में, इष्ट+आपूर्ते—इष्ट (यज्ञ करने) और आपूर्त (लोकोपकारक कार्य—धर्मार्थ कुआ आदि का निर्माण), दत्तम्—दान देना, इति—इस रूप मे, उपासते—लीन रहते हैं, ते—वे, धूमम्—धुए की (मन्द-ज्योति की), अभिसंभवन्ति—ओर उन्मुख हो जाते हैं, धूमाद्—धूम से, रात्रिम्—रात्रि को, रात्रे—रात से,

छ मासो में, अर्थात् छ' मास तक की ज्योतिर्विहीनता में---'दक्षिणा-यन' में पहुचते है---परन्तु ये सकाम-भावना से काम करने वाले 'संवत्सर' को, अर्थात् उससे भी बढे हुए साल भर के अन्धकारमय लोक को नहीं जाते ॥३॥

तो, ये सकाम-कर्मी कहा जाते है ? 'दक्षिणायन' से वे 'पितृ-लोक' को पहुचते है, पितृ-लोक से 'आकाश' को, आकाश से 'चन्द्रमा' को, अर्थात् 'चन्द्र-लोक' मे जा पहुंचते है। 'चन्द्र-लोक' सोम राजा का लोक है---'सोम-लोक' है। जो सकाम-कर्मी लोग है, जिन्होने फल की आशा से कुएं-बावडी बनवाये, दान दिये---उनके कर्मों का यह भोग है, इसे वे सोम-लोक मे जा भोगते है ॥४॥

चन्द्र-लोक मे वे तव तक रहते है, जब तक उनके कर्म क्षीण नही हो जाते। उसके बाद वे जिस मार्ग से गये थे उसी को लौट आते है, अर्थात् चन्द्र-लोक से आकाश को लौट आते है। आकाशीय दशा से वायवीय दशा को, वायु से धूम-सदृश दशा को, धूम से अभ्र-सदृश दशा को ॥५॥

अपरपक्षम्---कृष्ण-पक्ष को, अपरपक्षात्---कृष्ण-पक्ष से, यान् षड्---जिन छ, दक्षिणा---दक्षिण की ओर, एति---जाता है, (दक्षिणा एति---दक्षिणायन होता है), मासान्---मासो पर, तान्---उन (मासो) को, न एते---(उसके बाद-ब्रह्मनिष्ठो की तरह) नही ये, सवत्सरम्---वर्ष को, अभिप्राप्नुवन्ति---प्राप्त होते हैं ॥३॥

मासेभ्य पितृलोक पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्र-
मसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्न त देवा भक्षयन्ति ॥४॥

(किन्तु) मासेभ्य---मासो से (दक्षिणायन से), पितृलोकम्---पितृ-लोक को, पितृलोकाद्---पितृलोक से, आकाशम्---आकाश को, आकाशात्---आकाश से, चन्द्रमसम्---चन्द्रमा को, एष---यह (चन्द्रमा), सोम राजा---सोम (अमृत) राजा है, तद्---वह (सोम), देवानाम्---देव-गण का, अन्नम्---भोज्य है, तम्---उसको, देवा---देव-गण, भक्षयन्ति---खाते ह ॥४॥

तस्मिन्यावत्सपातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वान पुनर्निवर्तन्ते। यथेतमा-
काशमाकाशाद्वायु वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्र भवति ॥५॥

तस्मिन्---उस (चन्द्र-लोक मे), यावत्---जबतक, सपातम्---(कर्म-क्षय जन्य) नीचे गिरना (च्युत होना), (यावत् सपातम्---कर्म-क्षय होने तक),

अभ्र से मेघ को, मेघ में आकर वे बरस पड़ते हैं, बरसकर धान, जौ, ओषधि, वनस्पति, तिल, माष—किसी में भी जा पैदा होते हैं। बस, इनमें से निकलना कठिन हो जाता है। जो-जो भी अन्न खाता है, उसके वीर्य से उस-जैसी ही सन्तान उत्पन्न होती है। पशु पशु को उत्पन्न करता है, मनुष्य मनुष्य को। निकलना इसलिए कठिन हो जाता है कि मनुष्य-योनि में आने के लिये यह आवश्यक है कि जीव जिस अन्न में है वह अन्न किसी मनुष्य के अन्दर जाय, पशु के अन्दर नहीं, यही कठिनता है ॥६॥

ये 'चन्द्र-लोक' से जो लौटते हैं, अगर यहां से जाते समय उनका आचरण यहां अच्छा रहा था, तो शीघ्र ही वे अच्छी योनि में आ

उषित्वा—रह कर, बाद में, एतम् एव—इस ही (जिसमें ऊपर चढ़े थे), अध्वानम्—मार्ग को, पुन—फिर, निवर्तन्ते—लौट पड़ते हैं, यथा+इतम्—यथा-प्राप्त (जिसमें चन्द्रलोक को आये थे उस), आकाशम्—आकाश को, आकाशाद्—आकाश से, वायुम्—वायु को, वायु—वायु, भूत्वा—होकर, धूम—धुआं, भवति—होता है, धूम भूत्वा—धुआं होकर, अभ्रम्—पानी धारण करनेवाला कोहरा-धुंध आदि, भवति—हो जाता है ॥५॥

अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति। त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति ॥६॥

अभ्र भूत्वा—अभ्र होकर, मेघ भवति—मेघ बन जाता है, मेघ भूत्वा—मेघ बन कर, प्रवर्षति—खूब बरसता है, ते—वे, इह—यहां, इस अवस्था में, व्रीहि-यवा—धान और जौ, ओषधि-वनस्पतय—ओषधियां और वनस्पतियाँ, तिल-माषा—तिल और उड़द, इति—इस रूप में, जायन्ते—उत्पन्न होते हैं, अत—इस (मेघ से उत्पन्न अन्न की स्थिति) से, वै खलु—निश्चय से, दु+निष्प्रपतरम्—निकलना महा कठिन है, य य—जो-जो, अन्नम्—भोज्य अन्न को, अत्ति—खाता है, य—जो, रेत—वीर्य, सिंचति—(योषा-अग्नि) में डालता है, होमता है, तद्—वह, भूय—फिर, और अधिक (अधिकाधिक, बार-बार), एव—ही, भवति—(उत्पन्न) होता है ॥६॥

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा ॥७॥

तद्—तो, ये—जो (मनुष्य), रमणीयचरणा—सुन्दर (पुण्य) आच-

पहुंचते है, ब्राह्मण-योनि में, क्षत्रिय योनि मे, वैश्य-योनि मे, जिनका आचरण यहा बुरा रहा था, वे शीघ्र ही बुरी योनि मे पहुच जाते है, कुत्ते की योनि मे, सुअर की योनि में, चाण्डाल की योनि मे (देखो भगवद्गीता, ८-६---'य य वापि स्मरन् भाव त्यजत्यन्ते कलेवरम्') ॥७॥

(इस राजा ने जीव के भौतिक-आधार---Materialistic basis of life---ढूढने मे कमाल कर दिया है। राजा का कथन है कि निष्काम-कर्मी तो उत्तरायण से, देवयान-मार्ग से जाते है, और मुक्त हो जाते है, सकाम-कर्मी दक्षिणायन से, पितृयाण-मार्ग से जाते है, और अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न जन्म लेते है। जन्म लेने से पूर्व वे वर्षा द्वारा वरसते है, और भिन्न-भिन्न अन्नो मे जा पडते है। पशु उस अन्न को खा ले, तो वे पशु के वीर्य द्वारा पशु जन्म लेते है, मनुष्य उस अन्न को खा ले, तो वे मनुष्य के वीर्य द्वारा मनुष्य-जन्म लेते है। अन्न का दाना-दाना कर्मो के अनुसार ही पशु अथवा मनुष्य द्वारा खाया जाता है,* और जिसने मनुष्य-जन्म लेना है वह जीव जिस अन्न मे आ पडा है उसे मनुष्य ही खाता है, जिसने पशु-जन्म लेना है वह जीव जिस अन्न मे है उसे पशु ही खाता है। जव तक कोई नही खाता तव तक जीव अन्न मे वधा पडा रहता है---यह इस ऋषि की काल्पनिक उडान है।

पहला प्रश्न यह था कि मर कर मनुष्य यहा से कहा जाता है ? उसका उत्तर दे दिया---निष्काम-उपासक उत्तरायण मे देव-

---

रण (कर्म) वाले (होते ह), **अभ्याश. ह**---शीघ्र ही (आशा की जा सकती है), **यत्**---कि, **ते**---वे, **रमणीयाम्**---सुन्दर, सुखमय, **योनिम्**---जाति को, **आपद्येरन्**---प्राप्त होवे, **ब्राह्मणयोनिम् वा**---ब्राह्मण-जाति को, **क्षत्रिययोनिम् वा**---या क्षत्रिय-जाति को, **वैश्ययोनिम् वा**---या वैश्य योनि को, **अथ**---और, **ये**---जो, **इह**---यहा, इस जन्म मे, **कपूयचरणा**---निन्दित (पाप) आचरण (कर्म) वाले है, **अभ्याश ह**---निकट भविष्य मे, शीघ्र ही (आशा की जाती ह), **यत्**---कि, **ते**---वे (दुराचारी), **कपूयाम्**---गर्हित, वुरी, **योनिम्**---जन्म-जाति को, **आपद्येरन्**---प्राप्त होवे, **श्व-योनिम् वा**---या तो कुत्ते की जाति को, **सूकर-योनिम् वा**---या सुअर की योनि को, **चाण्डालयोनिम् वा**---या चाण्डाल-(निकृष्ट कर्म करनेवाले) की जाति को ॥७॥

यान से 'ब्रह्मलोक' को जाता है, जो 'शुक्ल-गति' या 'सौरी-गति' है, सकाम-उपासक दक्षिणायन में पितृयाण से 'चन्द्रलोक' को जाता है, जो 'कृष्ण-गति' या 'चान्द्रमसी-गति' है। गीता के ८म अध्याय में भी यही बात निम्न श्लोकों में कही है —

यत्र काले त्वनावृत्तिम् आवृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिम् अन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥२६॥

दूसरा प्रश्न यह था कि तुम्हें मालूम है कि लौटकर कैसे आते हैं? उसका उत्तर भी दे दिया—कुछ निष्काम-कर्मी ब्रह्म को पहुंचकर 'आदित्य-लोक' को चले जाते हैं, आदित्य की ज्योति के समान ज्योतिर्मय हो जाते हैं, सकाम-कर्मी 'चन्द्र-लोक' को जाकर फिर आकाश, धूम, अभ्र, मेघ, अन्न, वीर्य आदि मार्गों से लौट आते हैं, और अपने पूर्व सञ्चित कर्मों के अनुसार शुभाशुभ जन्म ग्रहण करते हैं। तीसरा प्रश्न यह था कि 'देवयान' और 'पितृयाण' के मार्ग कहां अलग-अलग होते हैं? उसका उत्तर भी दे दिया। देवयान के मार्ग से जाने वाले 'अयन' (आधे वर्ष) से 'संवत्सर' (वर्ष) को चले जाते हैं, पितृयाण के मार्ग से जाने वाले 'अयन' से संवत्सर को न जाकर, पितृ-लोक को चले जाते हैं। अब चौथा प्रश्न रह गया—इतने प्राणियों के मरते रहने पर भी वह लोक भर क्यों नहीं जाता? इस प्रश्न का राजा उत्तर देते हैं —)

देवयान और पितृयाण—इन दोनों में से जो किसी एक से भी नहीं जाते, वे छोटे-छोटे जन्तु, कीट-पतंग की तरह—बार-बार जन्म

अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते तस्माज्जुगुप्सेत तदेष श्लोकः ॥८॥

लेने वाले बनते हैं—उनका 'जायस्व-म्रियस्व'—'जन्म-मरण'—यह तीसरा मार्ग है। इसलिये वह लोक भर नही जाता। अपने को पाप से बचाना चाहिये ताकि इन कीट-पतगो की तरह जन्मते-मरते न रहें, आवागमन के चक्कर में ही बराबर न पडे रहें। किसी ने कहा है—॥८॥

सोने का चुराने वाला, शराब पीने वाला, गुरु-तल्प-गामी, ब्रह्म-ज्ञानी को मारने वाला—ये चारो पतित हो जाते है, और पांचवा वह जो इनके साथ किसी प्रकार का भी सम्बन्ध रखता है ॥९॥

अथ—और जो, **एतयो**—इन (देवयान तथा पितृयाण या पुण्य और पाप) दोनो, **पथो**—मार्गो मे, **न**—नहीं, **कतरेणचन**—किसी से (भी जाते हैं—कर्म-योनि में न होकर भोग-योनि के होते ह), **तानि इमानि**—वे ये, **क्षुद्राणि**—क्षुद्र (तुच्छ, छोटे-छोटे), **असकृद्**—बार-बार, **आवर्तीनि**—(जन्म मे) लौटनेवाले (जन्म लेनेवाले), **भूतानि**—प्राणी, **भवन्ति**—होते ह, **जायस्व**—पैदा हो, **म्रियस्व**—मर जाओ, (**जायस्व म्रियस्व**—जीना-मरना, मरना-जीना), **इति एतत्**—इस रूप मे यह, **तृतीयम्**—तीसरा, **स्थानम्**—स्थिति, अवस्था है, **तेन**—उस (तीसरी स्थिति) के कारण, **असौ**—यह (ऊपर का), **लोक**—लोक (पर-लोक), **न**—नही, **सपूर्यते**—भरता है (भर कर खाली होता रहता हे), **तस्मात्**—उस कारण से, उस (आवागमन के चक्र) से, **जुगुप्सेत**—घृणा करे, बचने का उपाय सोचे, उसमे न फसे, **तद्**—तो, **एष**—यह, **श्लोक**—पुराना स्मृति-वाक्य भी है ॥८॥

स्तेनो हिरण्यस्य सुरा पिबँश्च गुरुतल्पमावसन्ब्रह्महा
च। एते पतन्ति चत्वार पञ्चमश्चाचरँस्तैरिति॥९॥

स्तेन—चोर, **हिरण्यस्य**—सुवर्ण का, हित-रमणीय (उपादेय) वस्तु का, **सुराम्**—शराब को, **पिबन्**—पीने वाला (सुरापायी, मद्यप), **गुरु**—गुरु के, **तल्पम्**—आसन (शय्या) को (पर), **आवसन्**—बैठनेवाला (गुरु का आदर न करनेवाला, गुरु-निन्दक), **ब्रह्महा**—ब्राह्मणघाती, वेद-निन्दक, **च**—और, **एते**—ये, **पतन्ति**—गिरते है, अधोगति (अवनति) या निकृष्ट योनि को प्राप्त होते हे, **चत्वार**—चार, **पञ्चम**—पाँचवा, **च**—और, **आचरन्**—व्यवहार करनेवाला, सम्पर्क रखनेवाला, **तै**—उन (चार पापियो से), **इति**—यह (स्मार्त-वचन है) ॥९॥

जिन यज्ञ-रूप पांच अग्नियो का इस ग्रन्थ में उल्लेख किया गया है, उन्हें जो ठीक-ठीक जानता है, वह इन लोगो के सम्पर्क में आता हुआ भी पाप से लिप्त नहीं होता। जो इस रहस्य को जानता है वह शुद्ध, पवित्र रहता तथा पुण्य-लोको को प्राप्त करता है ॥१०॥

(ऐसा वर्णन मुडक १-२, छादोग्य ४-१५, ८-६-५, बृहदा० ५-१० मे भी है। कई विद्वान् जो ज्योति शास्त्र के ज्ञाता है, कहते है कि देवयान तथा पितृयाण-मार्ग भूगोल-सम्बन्धी असली मार्ग है। पृथ्वी से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त ब्रह्म-पथ है, जो एकदम प्रकाश-मय है। पृथ्वी से सूर्यलोक तक का मार्ग प्रकाशमय है ही। उसके आगे चन्द्र-नामक नक्षत्र का प्रकाश मिलता है। यह चन्द्र वह चन्द्र नही है, जो पृथ्वी का उपग्रह है। ज्योति शास्त्र मे सूर्य के आगे ऐसे तारा माने गये है, जिनका प्रकाश चन्द्रमा की तरह घटता-बढता है। सूर्यलोक के बाद वही चन्द्र-लोक मिलता है। उसके बाद विद्युत्-लोक है। विद्युत्-लोक के बाद ब्रह्म-लोक है। उत्तरायण मे सूर्य पृथ्वी से उत्तर की तरफ रहता है, पृथ्वी से उत्तर की तरफ ही ब्रह्मलोक है, अत उत्तरायण मे पृथ्वी से ब्रह्मलोक तक एकदम सीधा प्रकाश का मार्ग रहता है, और उपासक मरकर इस देवयान-मार्ग से एकदम सीधा ब्रह्म-लोक मे पहुच जाता है। कैसे पहुचता है ? मरकर उसका लिंग-शरीर प्रकाशमय हो जाता है, ज्योतिर्मय हो जाता है, इसी को 'अर्चि' कहा है। प्रकाश का सजातीय होने

अथ ह य एतानेव पञ्चाग्नीन्वेद न स ह तैरप्याचरन्पाप्मना लिप्यते शुद्ध पूत पुण्यलोको भवति य एव वेद य एव वेद ॥१०॥

अथ ह य—और जो, एतान्—इन, एवम्—इस प्रकार, पञ्च अग्नीन्—पांच (द्यु-लोक आदि) अग्नियो को (पचाग्नि-विद्या को), वेद—जानता है, न—नही, स ह—वह तो, तै—उन (चार पापियो से), अपि—भी, आचरन्—आचरण (व्यवहार, सम्पर्क) करता हुआ (किन्तु पहले चार पाप न करता हुआ), पाप्मना—पाप-कर्म से, लिप्यते—लिप्त होता है (पाप-भागी होता है), शुद्ध—शुद्ध, पूत—पवित्र, पुण्यलोक—पुण्यफलभागी, भवति—होता है, य. एवम् वेद—जो इस प्रकार (पचाग्नि-विद्या को) जानता है, य एवम् वेद—जो इस प्रकार जानता है (द्विरुक्ति बल देने और खण्ड समाप्तिद्योतक है) ॥१०॥

से यह प्रकाशमय-शरीर प्रकाश के मार्ग के द्वारा सूर्यलोक, फिर चन्द्रलोक, फिर विद्युत्-लोक और फिर ब्रह्मलोक मे पहुच जाता है। सूर्य के दक्षिणायन होने पर सूर्य पृथ्वी के दक्षिण मे चला जाता है। ऐसी हालत मे जो उपासक मरेगा वह पहले प्रकाशमय--'अर्चिमय'--शरीर से सूर्यलोक की तरफ ही जायगा, क्योकि बिना सूर्यलोक गये ब्रह्मलोक को जा नही सकता। इसलिये मार्ग तो यह भी देवयान ही कहलायगा, परन्तु आत्मा पहले सूर्य की तरफ दक्षिण को गया, फिर ब्रह्मलोक की तरफ, जो पृथ्वी से सदा उत्तर को ही रहता है, उत्तर को गया--इससे यह मार्ग कुछ टेढा हो गया--इसलिए यह तिर्यग्-देवयान कहलाता है। पितृयाण का मार्ग तिर्यग्-देवयान की तरह दक्षिणायन का ही मार्ग है। इसमे भी सूर्य पृथ्वी के दक्षिण मे ही होता है, परन्तु इसमे आत्मा ज्योति-रूप नही होता, अन्धकार-रूप होता है। निष्काम-कर्मियो का लिंग-शरीर प्रकाशमय होता है, अत वह प्रकाश के सहारे चलता है, सकाम-कर्मियो का लिंग-शरीर अन्धकारमय होता है, अत वह रात्रि-कृष्णपक्ष आदि के सहारे चलता हुआ पृथ्वी के उपग्रह चन्द्रलोक मे पहुचकर कर्मो का आनन्दमय फल भोगता है। ये दो गतिया उपासको की है, दोनो उत्तम है। एक देव-गति, दूसरी पितर-गति है, तीसरी--सीधी आवागमन की--मनुष्य-गति है।

अर्चि, अह, पक्ष, अयन, सवत्सर आदि के विषय मे कई लोग, जैसा हमने अभी कहा, यह अर्थ करते है कि आत्मा इन लोको मे--पहले सूर्यलोक, फिर विद्युत्-लोक और अन्त मे ब्रह्मलोक मे जाता है, और कई यह अर्थ करते है कि ये शब्द उसकी आध्यात्मिक दशा को सूचित करते है। 'अर्चि' का अर्थ है, किरण-की-सी उज्ज्वल आत्मिक-दशा, 'अह' का अर्थ है, दिन-की-सी उज्ज्वल आत्मिक दशा। मरने के बाद जीव की आर्चिषी, आह्निकी, पाक्षिकी, वार्षिकी, सौरी, चान्द्रमसी, वैद्युती, ब्राह्मी--ये उजेले-की-सी आत्मानुभव की दशाए होती है। इसी प्रकार आकाशीय, वायवीय, धूम्रीय, अभ्रीय भी आत्मा की अनुभव की धीमी-धीमी प्रकाशमय दशाए ही है।

इस राजा ने अपने विचार के अनुसार यहा जीवात्मा की तीन गति बतलाई है---एक निष्काम-कर्मियो की, इसे 'मोक्ष' कहते है, दूसरी सकाम-कर्मियो की, इसे 'स्वर्ग' कहते है, तीसरी मरने-जीने वालो की, इसे 'आवागमन' कहते है । इस तीसरी अवस्था की तुलना बृहदारण्यक (४-४-३) मे तृणजलायुका---सुडी---से की है, और कहा है कि जैसे सुडी तिनके के अन्त पर पहुचकर, दूसरा कोई सहारा पकडकर, अपने को खीच लेती है, वैसे आत्मा इस शरीर के अन्त पर पहुचकर, दूसरे मनुष्य, पशु, पक्षी आदि शरीर का सहारा लेकर अपने को खीच लेता है---यही पुनर्जन्म है ।)

पंचम प्रपाठक---(ग्यारहवां खंड)

(अश्वपति का 'वैश्वानर-ब्रह्म' क्या है, इस सम्बन्ध मे उपदेश, ११ से २४ खड)

उपमन्यु का वशज प्राचीनशाल, पुलुष का वशज सत्ययज्ञ, भल्लव का वशज इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्ष का वशज जन, अश्वतराश्व का वशज बुडिल---ये पाचो बडी-बडी अट्टालिकाओ के स्वामी थे, वेदो के महान् पडित भी थे। एक बार ये इकट्ठे हुए और विचार करने लगे कि 'आत्मा' क्या है, 'ब्रह्म' क्या है ? ॥१॥

वे इस निश्चय पर पहुचे कि अरुण का वशज उद्दालक आजकल

प्राचीनशाल औपमन्यव सत्ययज्ञ पौलुषिरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जन शार्कराक्ष्यो बुडिल आश्वतराश्विस्ते हैते महाशाला महाश्रोत्रिया समेत्य मीमा्ँसाचक्रु को नु आत्मा किं ब्रह्मेति ॥१॥

प्राचीनशाल—प्राचीनशाल नामी, औपमन्यव—उपमन्यु का पुत्र, सत्ययज्ञ—सत्ययज्ञ-नामी, पौलुषि—पुलुष का पुत्र, इन्द्रद्युम्न—इन्द्रद्युम्न-नामी, भाल्लवेय—भल्लववशी, जन—जन-नामक, शार्कराक्ष्य—शर्कराक्ष का पुत्र, बुडिल—बुडिल-नामी, आश्वतराश्वि—अश्वतराश्व का पुत्र, ते ह एते—ये ये, महाशाला—बडे गृहस्थ, अत्यधिक योग्य, महाश्रोत्रिया—बडे वेद-वक्ता एव कर्मकाण्डी, समेत्य—इकट्ठे होकर, मीमासाचक्रु—विचार करने लगे, क नु—कौन तो, आत्मा—आत्मा-(पद-वाच्य), किम्—कौन, ब्रह्म—ब्रह्म-(पद-वाच्य) है, इति—ऐसे ॥१॥

ते ह सपादयाचक्रुरुद्दालको वै भगवन्तोऽयमारुणि सम्प्रतीममात्मान वैश्वानरमध्येति त्ँ हन्ताभ्यागच्छामेति त्ँ हाभ्याजग्मु ॥२॥

'वैश्वानर-आत्मा' की खोज में लगा हुआ है, चलो उसके पास चलें। वे उसके पास पहुचे ॥२॥

उन्हे आया देखकर उद्दालक ने सोचा, ये महाशाल, महा-श्रोत्रिय मुझ से ब्रह्म-ज्ञान-विषयक प्रश्न करेंगे, मै उनकी सब बातो का उत्तर न दे सकूगा, चलो, किसी अन्य गुरु के पास उन्हें ब्रह्म-ज्ञान के लिये भेज दू ॥३॥

फिर उनसे कहा, हे महानुभाव! केकैय देश का राजा अश्वपति आजकल 'वैश्वानर-आत्मा' की खोज में लगा हुआ है, चलो, हम सब मिलकर उसी के पास चलें। तब वे सब उसके पास चल दिये ॥४॥

ते ह—और उन्होंने, सपादयाञ्चक्रु—निर्णय किया, उद्दालक वै—उद्दालक ही, भगवन्त—हे माननीयो!, अयम्—यह, आरुणि—अरुण का पुत्र, सम्प्रति—अब (आजकल), इमम्—इस, आत्मानम्—आत्म-पद-वाच्य को, वैश्वानरम्—वैश्वानर (विश्व-प्रेरक, सर्वप्राणियो मे विद्यमान), अध्येति—अध्ययन (मनन) कर रहा है, तम्—उसको, हन्त—प्रसन्न होकर, अभ्यागच्छाम—पास जावे, उपस्थित हो, इति—यह (निर्णय कर), तम् ह—उसको (के), अभ्याजग्मु—पास गये ॥२॥

स ह सपादयाचकार प्रक्ष्यन्ति मामिमे महाशाला महाश्रोत्रि-
यास्तेभ्यो न सर्वमिव प्रतिपत्स्ये हन्ताहमन्यमभ्यनुशासानीति ॥३॥

स ह—और उसने, सम्पादयाचकार—निर्णय किया, विचारा, प्रक्ष्यन्ति—पूछेगे, माम्—मुझ को (मे), इमे—ये, महाशाला महाश्रोत्रिया—बडे भारी गृहस्थ और बडे वेदज्ञ कर्मकाडी, तेभ्य—उनको, न—नही, सर्वम् इव—पूरी तरह, प्रतिपत्स्ये—(विषय का) प्रतिपादन कर सकूगा, हन्त—तो, अहम्—मैं, अन्यम्—दूसरे को, अभि+अनुशासानि—बताऊ, नाम लू, इति—यह (सोचा) ॥३॥

तान्होवाचाश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैकेय सप्रतीममात्मान
वैश्वानरमध्येति तꣳ हन्ताभ्यागच्छामेति तꣳ हाभ्याजग्मु ॥४॥

तान् ह उवाच—उन (पाचो) को (उद्दालक ने) कहा, अश्वपति—अश्वपति-नामक, वै—ही, भगवन्त—हे माननीयो!, अयम्—यह, कैकेय—केकैय देश का राजा, सम्प्रति—अब, आजकल, इमम् आत्मानम् वैश्वानरम्—इस वैश्वानर आत्मा को, अध्येति—अध्ययन (मनन) कर रहा है, तम् हन्त अभ्यागच्छाम—तो उसके पास चले, इति—ऐसे (निर्णय कर), तम् ह अभ्याजग्मु—उसके पास पहुचे ॥४॥

जब वे उसके पास पहुचे, तो राजा ने उनकी अलग-अलग सेवा करने की आज्ञा दी, और अगले दिन प्रात काल उठकर उनके पास पहुचा और बोला—मेरे जनपद में कोई चोर नहीं है, कोई कृपण नहीं है, कोई मद्यप नहीं है, कोई अनाहिताग्नि नहीं है, कोई अविद्वान् नहीं है, व्यभिचारी नहीं है—फिर व्यभिचारिणी तो हो ही कैसे सकती है ? हे महानुभाव ! मैं हाल में ही एक यज्ञ करने वाला हू, जितना-जितना एक-एक ऋत्विक् को धन दूगा उतना-उतना आपको भी दूगा। आप मेरे यहा ही निवास करें ॥५॥

उन्होने कहा, मनुष्य जिस प्रयोजन मे घूम रहा हो, जिस बात की खोज में हो, उसे वही कहना चाहिये। सुना है, आप आजकल

तेभ्यो ह प्राप्तेभ्य पृथगर्हाणि कारयाचकार। स ह प्रात सजिहान उवाच न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान स्वैरी स्वैरिणी कुतो यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धन दास्यामि तावद्भगवद्भ्यो दास्यामि वसन्तु भगवन्त इति ॥५॥

तेभ्य ह—उन, प्राप्तेभ्य—आये हुओं (अभ्यागतो) के लिए, पृथक्—अलग-अलग, अर्हाणि—पूजा-सत्कार, सेवा, कारयाचकार—करवाई, स ह—वह, प्रात—प्रात काल में, सजिहान—शय्या छोडकर या घर से बाहर जाता हुआ, उवाच—बोला, न—नहीं है, मे—मेरे, स्तेन—चोर, जनपदे—देश, क्षेत्र में, न कदर्य—न कायर या कजूस, न मद्यप—न शराबी, न+अनाहिताग्नि—न नित्य अग्निहोत्र न करने वाला, न अविद्वान्—न अज्ञानी (मूर्ख), न स्वैरी—न व्यभिचारी (तो), स्वैरिणी—व्यभिचारिणी स्त्री, कुत—कहाँ से (हो सकती है), यक्ष्यमाण—(निकट भविष्य मे) यज्ञानुष्ठान करनेवाला, वै—ही, भगवन्त—हे पूजनीयो!, अहम्—मैं, अस्मि—हूँ, यावद्—जितना, एकैकस्मै—एक-एक (प्रत्येक), ऋत्विजे—ऋत्विक् को, धनम्—धन, दास्यामि—दूगा, तावद्—उतना ही, भगवद्भ्य—आप को, दास्यामि—दूगा, वसन्तु—रहें, निवास करें, भगवन्त—आप सब, इति—यह (वचन कहा) ॥५॥

ते होचुर्येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत्त्ँ हैव वदेदात्मान-
मेवेम वैश्वानरँ सम्प्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति ॥६॥

ते ह—और उन्होंने, ऊचु—कहा, येन ह एव—जिस ही, अर्थेन—प्रयोजन से, पुरुष—मनुष्य, चरेत्—घूमे, स्वय आचरण करे, पास आवे, तम् ह एव—उसको ही, वदेत्—कहे, बतावे, आत्मानम् एव इमम् वैश्वानरम्—इस वैश्वानर आत्मा को ही, सम्प्रति—आजकल, अध्येषि—अध्ययन (मनन)

'वैश्वानर-आत्मा' का विशेष अध्ययन कर रहे हैं, आप हमें इसी का उपदेश दें ॥६॥

राजा ने कहा, प्रातःकाल में इस बात का उत्तर दूंगा। अगले दिन प्रातःकाल हाथ में समिधा लेकर वे राजा के पास पहुंचे। वैसे



वैश्वानर-आत्मा की खोज में जिज्ञासु अश्वपति कैकेय के पास पहुंचे

कर रहे हो, तम् एव—उसको ही, न—हमें, ब्रूहि—कहो, बताओ, उपदेश दें, इति—यह (मुनियों ने कहा) ॥६॥

तान्होवाच प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति । ते ह समित्पाणयः
पूर्वाह्णे प्रति चक्रमिरे । तान्हानुपनीयैवैतदुवाच ॥७॥

तो, शिष्य का उपनयन करके उसे दीक्षा दी जाती थी, परन्तु राजा इन महात्माओं के विनय-भाव को देखकर इतना प्रसन्न हुआ कि उनका बिना उपनयन किये ही उन्हें उपदेश देने लगा ॥७॥

पंचम प्रपाठक—(बारहवां खंड)

राजा ने पहले उपमन्यु के वंशज प्राचीनशाल से पूछा, तू किसे 'आत्मा' समझकर उसकी उपासना करता है ? उसने उत्तर दिया, हे राजन् ! मैं तो 'द्यु-लोक' को—इस तारों से जगमगाते आसमान को—आत्मा मानकर उसकी उपासना करता हूं। राजा ने कहा, ठीक है, 'वैश्वानर-आत्मा' का यह रूप तो है ही, परन्तु पूर्ण-रूप यह नहीं है। उसके विशाल रूपों में जो तेजोमय-रूप है, तू उसकी उपासना करता है। तेजोमय-रूप को राजा ने 'सुतेजा' कहा। 'सुतेजा' के आदि दो अक्षर 'सु त' को लेकर राजा कहता है, क्योंकि तू वैश्वानर के सुतेजा रूप की आराधना करता है, इसीलिये तेरे घर में 'सुत'-'प्रसुत'-आसुत' है, अर्थात् तेरे घर में सोम-रस की धाराएं 'सुत', अर्थात् बह रही हैं ॥१॥

तान् ह—उन (मुनियों) को, उवाच—(राजा ने) कहा, प्रातः—(कल) प्रातःकाल, वः—तुम्हें, प्रतिवक्तास्मि—प्रतिवचन (उत्तर) दूंगा, उपदेश दूंगा, इति—यह (कहा), ते ह—और वे (मुनि), समित्पाणयः—समिधायें हाथ में लिये हुए, पूर्वाह्णे—प्रातःकाल के बाद, प्रति चक्रमिरे—(राजा के) पास पहुंच गये, तान् ह—उन (मुनियों) को, अनुपनीय—बिना उपनयन विधि किये, उपनयन-विधि न करके, एव—ही, एतद्—यह, उवाच—कहा ॥७॥

औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति। दिवमेव भगवो राजन्निति होवाच। एष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से। तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते ॥१॥

औपमन्यव—हे उपमन्यु के पुत्र (प्राचीनशाल), कम्—किस, त्वम्—तू, आत्मानम्—आत्मा को (की), उपास्से—उपासना (चिन्तन-मनन) करता है, इति—(यह पूछा), दिवम्—द्यु-लोक को, एव—ही, भगवः—आदरणीय, राजन्—हे राजन्, इति ह—यह ही, उवाच—(औपमन्यव ने) कहा, एष वै—यह तो, सुतेजा—सुतेजा-(अत्यधिक अच्छे तेज वाला) नामक, आत्मा—आत्मा, वैश्वानर—वैश्वानर (है), यम्—जिस, त्वम्—

तभी परमेश्वर के आशीर्वाद से तुझे भरपेट खाना मिलता है, प्रिय-वस्तु दृष्टिगोचर होती है। जो इस प्रकार 'वैश्वानर-आत्मा' के तेजोमय-रूप की उपासना करता है, उसे परमेश्वर के आशीर्वाद से भरपेट भोजन मिलता है, प्रिय-वस्तुए देखने को मिलती है, उसके कुल में ब्रह्म-तेज दीख पडता है। यह तेजोमय द्यु-लोक, 'वैश्वानर-आत्मा' का, जिसे तू खोज रहा है, 'मूर्धा' है, एक अश है। तेरा मूर्धा गिर जाता, अगर तू ब्रह्म के पूर्ण-रूप के जानने के लिये मेरे पास न आता ॥२॥

पंचम प्रपाठक—(तेरहवां खंड)

फिर पुलुष के वशज सत्ययज्ञ को सम्बोधित करके राजा ने पूछा, ऐ प्राचीनयोग्य ! बुजुर्गो में लायक, तू किसे 'आत्मा' समझकर उसकी

तू, आत्मानम् उपास्से—आत्मा की उपासना करता है, तस्मात्—उस कारण से, अतएव, तव—तेरे, सुतम्—सोम का सवन, प्रसुतम्—विशेष सवन, आसुतम्—सब ओर सवन ही सवन, कुले—कुल मे, दृश्यते—दिखाई देता है ॥१॥

अत्स्यन्न पश्यसि प्रियमत्त्यन्न पश्यति प्रिय भवत्यस्य ब्रह्मवर्चस
कुले य एतमेवमात्मान वैश्वानरमुपास्ते । मूर्धा त्वेष
आत्मन इति होवाच। मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मा नागमिष्य इति ॥२॥

अत्सि—खाता है, भोगता है, अन्नम्—अन्न को, पश्यसि—देखता है, प्रियम्—प्रिय लगनेवाले (पुत्र-आदि) को, अत्ति—खाता है, अन्नम्—अन्न को, पश्यति—देखता है, प्रियम्—प्रिय को, भवति—होता है, अस्य—इसके, ब्रह्मवर्चसम्—ब्रह्म-तेज, कुले—कुल मे, य—जो, एतम्—इस (द्यु-लोक) को, एवम्—इस प्रकार, आत्मानम् वैश्वानरम्—वैश्वानर-आत्मा को, उपास्ते—उपासना करता है, मूर्धा—मस्तक, सिर, तु—तो, एष—यह (द्यु-लोक) है, आत्मन—आत्मा का, इति ह—यह (वचन), उवाच—कहा, मूर्धा—सिर, ते—तेरा, व्यपतिष्यत्—गिर जाता, नीचा हो जाता, यत्—जो, माम्—मुझको (मेरे पास), न—नही, आगमिष्य—आता ॥२॥

अथ होवाच सत्ययज्ञ पौलुषि प्राचीनयोग्य क त्वमात्मानमुपास्स इति ।
आदित्यमेव भगवो राजन्निति होवाच। एष वै विश्वरूप आत्मा
वैश्वानरो य त्वमात्मानमुपास्से । तस्मात्तव बहु विश्वरूप कुले दृश्यते ॥१॥

अथ ह—इसके बाद, उवाच—(राजा ने) कहा, सत्ययज्ञम् पौलुषिम्—पुलुष के पुत्र सत्ययज्ञ को, प्राचीनयोग्य—हे प्राचीनयोग्य, प्राचीनो (बुजुर्गो)

उपासना करता है ? उसने उत्तर दिया, हे राजन् ! मै तो 'आदित्य' को—इस सूर्य को—आत्मा मानकर उसकी उपासना करता हूं। राजा ने कहा, ठीक है, 'वैश्वानर-आत्मा' का यह रूप तो है ही, परन्तु पूर्ण-रूप यह नहीं है। उसके अनेक-रूपों में जो विश्व-रूप—विश्व का प्रकाशक रूप है—उसकी तू उपासना करता है। 'वैश्वानर-आत्मा' के विश्व-रूप—विश्व के प्रकाशक रूप—की तू उपासना करता है। इसलिये तेरे कुल में विश्व रूप दिखाई देते है ॥१॥

परमेश्वर के आशीर्वाद से तेरे यहा रथ चलते हैं, दासियां है, हार है, भरपेट भोजन है, सुहावने दृश्य हैं—यही सब तो विश्वरूप है। जो इस प्रकार 'वैश्वानर-आत्मा' के विश्व-रूप की उपासना करता है, उसे परमेश्वर के आशीर्वाद से भरपेट भोजन मिलता है, प्रिय वस्तुए देखने को मिलती है, उसके कुल में ब्रह्म-तेज दीख पडता है। यह विश्व-रूप-आदित्य 'वैश्वानर-आत्मा' का, जिसे तू खोज रहा है, 'चक्षु' है, एक अंग है। तू अन्धा हो जाता अगर तू ब्रह्म के पूर्ण-रूप के जानने के लिये मेरे पास न आता ॥२॥

मे भी योग्य, कम् त्वम् आत्मानम् उपास्से—तू किस आत्मा की उपासना करता है, इति—यह (कहा), आदित्यम्—आदित्य (सूर्य) को, एव—ही, भगव. राजन्—हे आदरणीय राजन्, इति ह उवाच—यह कहा, एष —यह (आदित्य), वै—तो, विश्वरूप —विविध रूप वाला, सब को रूप देनेवाला, सर्वप्रकाशक, आत्मा वैश्वानर —वैश्वानर आत्मा है, यम् त्वम् आत्मानम् उपास्से—तू जिस आत्मा की उपासना करता है, तस्मात्—अतएव, तव—तेरे, बहु—बहुत से, विश्वरूपम्—अनेक रूप (विशेषताए, विचित्रताए), कुले—कुल मे, दृश्यते—दिखाई पडती है ॥१॥

प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो दासी निष्कोऽत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति
प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते।
चक्षुष्ट्वेतदात्मन इति होवाचान्धोऽभविष्यो यन्मां नागमिष्य इति ॥२॥

प्रवृत्त —चलने को तय्यार (कसा-कसाया, जुता हुआ), अश्वतरीरथ —खच्चरी-जुता रथ, दासी, निष्क —दासिया और सुवर्ण, अत्सि अन्नम्—अन्न खाता है, पश्यसि प्रियम्—प्रिय वस्तु देखता है, अत्ति अन्नम्—अन्न खाता है, पश्यति प्रियम्—प्रिय वस्तु देखता है, भवति अस्य ब्रह्मवर्चसम् कुले—इसके कुल मे ब्रह्म-तेज रहता है, य —जो, एतम्—इस (आदित्य) को, एवम्—इस

पंचम प्रपाठक—(चौदहवां खंड)

फिर, भल्लव के वशज इन्द्रद्युम्न को सम्बोधित करके राजा ने पूछा, वैयाघ्रपद्य ! तू किसे 'आत्मा' समझकर उसकी उपासना करता है ? उसने उत्तर दिया, राजन् ! मै तो 'वायु' को आत्मा मानकर उसकी उपासना करता हू । राजा ने कहा, ठीक है, 'वैश्वानर-आत्मा' का यह रूप तो है ही, परन्तु पूर्ण-रूप यह नही है । इसके अनेक रूपो में जो 'पृथग्-वर्त्मा—भिन्न-भिन्न मार्गो में वायु की तरह वहने वाला उसका रूप है—तू उसकी उपासना करता है । उसी के अनुग्रह से तेरे पास नाना भेंटें आती है, और नाना-रथ-श्रेणिया तेरे पीछे चलती है ॥१॥

प्रकार, आत्मानम् वैश्वानरम्—वैश्वानर-आत्मा को (की), उपास्ते—उपासना करता है, चक्षु + तु + एतद्—आख तो यह (आदित्य) है, आत्मन—वैश्वानर-आत्मा का, इति ह उवाच—यह कहा, अन्ध —अन्वा, अभविष्यत्—हो जाता, यत्—जो, माम् न आगमिष्य—मेरे पास न आता, इति—यह (राजा ने सत्ययज्ञ को) कहा ॥२॥

अथ होवाचेन्द्रद्युम्न भाल्लवेय वैयाघ्रपद्य क त्वमात्मानमुपास्स इति । वायुमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै पृथग्वर्त्माऽऽत्मा वैश्वानरो य त्वमात्मानमुपास्से । तस्मात्त्वा पृथग्वलय आयन्ति पृथग्रथश्रेणयोऽनुयन्ति ॥१॥

अथ ह—इसके वाद, उवाच—(राजा ने) कहा (पूछा), इन्द्रद्युम्नम्—इन्द्रद्युम्न को, भाल्लवेयम्—भल्लव-वशी, वैयाघ्रपद्य—हे व्याघ्रपद के पुत्र, कम् त्वम् आत्मानम् उपास्से—तू किस आत्मा की उपासना करता है, इति—यह (पूछा), वायुम्—वायु को, एव—ही, भगव राजन्—हे आदरणीय राजन्, इति ह उवाच—यह कहा, एष वै—यह तो, पृथग्वर्त्मा—पृथग्वर्त्मा (भिन्न-भिन्न मार्ग या गति-प्रवाह-वाला) नामक, आत्मा वैश्वानर—वैश्वानर आत्मा है, यम् त्वम् आत्मानम् उपास्से—जिस आत्मा की तू उपासना करता है, तस्माद्—उस (उपासना) से, त्वाम्—तुझ को, पृथक्—अलग-अलग, भिन्न-भिन्न प्रकार की, भिन्न दिशाओ से, वलय—भोग्य (अन्न-वस्त्र) आदि भेंटे, आयन्ति—आती है, पृथक्—अनेक, रथश्रेणय—रथो की पक्तियाँ, अनुयन्ति—(चलते समय) अनुगमन करती हैं ॥१॥

उसी के अनुग्रह से तू अन्न को खाता है, प्रिय-जनों को देखता है। जो इस प्रकार 'वैश्वानर-आत्मा' के नाना मार्गों में गये हुए रूपों की उपासना करता है, उसे प्रभु के आशीर्वाद से भरपेट भोजन मिलता है, प्रिय-वस्तुएं देखने को मिलती हैं, उसके कुल में ब्रह्म-तेज दीख पडता है। यह पृथक्-पृथक् मार्गों में बहने वाला वायु, 'वैश्वानर-आत्मा' का, जिसे तू खोज रहा है, 'प्राण' है। तेरा प्राण निकल जाता अगर तू ब्रह्म के पूर्ण-रूप के जानने के लिये मेरे पास न आता ॥२॥

पंचम प्रपाठक—(पन्द्रहवां खंड)

फिर, शर्कराक्ष के वंशज जन को सम्बोधित करके राजा ने पूछा, तू किसे 'आत्मा' समझकर उसकी उपासना करता है? उसने उत्तर दिया, हे राजन्! मैं तो 'आकाश' को आत्मा मानकर उसकी उपासना करता हूं। राजा ने कहा, ठीक है, 'वैश्वानर-आत्मा' का यह रूप तो है ही, परन्तु पूर्ण-रूप यह नहीं है। इसके अनेक रूपों में जो

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं
कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते । प्राणस्त्वेष
आत्मन इति होवाच । प्राणस्त उदक्रमिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥२॥

अत्सि अन्नम्—तू अन्न खाता है, पश्यसि प्रियम्—प्रिय वस्तु को देखता है, अत्ति अन्नम् पश्यति प्रियम्—(वह भी) अन्न खाता और प्रिय वस्तु के दर्शन करता है, भवति अस्य ब्रह्मवर्चसम् कुले—इसके कुल में ब्रह्म-तेज होता है, य—जो, एतम् एवम् आत्मानम् वैश्वानरम् उपास्ते—इस प्रकार (रूप) के इस वैश्वानर-आत्मा की उपासना करता है, प्राण—प्राण (श्वास-प्रश्वास), तु—तो, एष—यह (वायु), आत्मन—आत्मा का, इति ह उवाच—यह (राजा ने) बताया, प्राण—प्राण, ते—तेरा, उदक्रमिष्यत्—निकल जाता, यत्—जो, माम् न आगमिष्य—मेरे पास न आता, इति—यह (भी कहा) ॥२॥

अथ होवाच जनं शार्कराक्ष्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्याकाशमेव
भगवो राजन्निति होवाचैष वै बहुल आत्मा वैश्वानरो यं
त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं बहुलोऽसि प्रजया च धनेन च ॥१॥

अथ ह उवाच—इसके बाद (राजा ने) कहा, जनम्—जन-नामी (मुनि) को, शार्कराक्ष्य—हे शर्कराक्ष के पुत्र!, कम् त्वम् आत्मानम् उपास्से—तू किस आत्मा की उपासना करता है, इति—यह (पूछा), आकाशम् एव—आकाश को ही, भगव राजन्—हे आदरणीय राजन्!, इति ह उवाच—यह कहा, एष—

'वहुल'—वहुत, अनन्त-रूप है, उसकी तू उपासना करता है। इसी कारण तेरे पास वहुल प्रजा तथा धन है ॥१॥

उसी के अनुग्रह से तू अन्न को खाता है, प्रिय-जनों को देखता है। जो इस प्रकार 'वैश्वानर-आत्मा' के वहुल-रूप की उपासना करता है, उसे प्रभु के प्रसाद से भरपेट भोजन मिलता है, प्रिय वस्तुएं देखने को मिलती हैं, उसके कुल में ब्रह्म-तेज दीख पड़ता है। यह अनन्त आकाश, 'वैश्वानर-आत्मा' का, जिसे तू खोज रहा है, मध्य-भाग है, धड़ है। तेरा धड़ नष्ट हो जाता अगर तू ब्रह्म के पूर्ण-रूप के जानने के लिये मेरे पास न आता ॥२॥

पंचम प्रपाठक—(सोलहवां खंड)

फिर, अश्वतराश्व के वंशज वुडिल को सम्बोधित करके राजा ने पूछा, वैयाघ्रपद्य ! तू किसे 'आत्मा' समझकर उसकी उपासना

यह (आकाश), वै—तो, वहुल—विशाल, असीम, 'वहु'—सब को अपने अन्दर 'ल'—लीन करने (समाने) वाला, आत्मा वैश्वानर—वैश्वानर-आत्मा है, यम् त्वम् आत्मानम् उपास्से—जिस आत्मा की तू उपासना करता है, तस्मात्—उस (उपासना) से ही, त्वम्—तू भी, वहुल—वहुतायत (अधिकता) वाला, असि—है, प्रजया च—प्रजा (सन्तान) से, धनेन च—और धन से ॥१॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं
कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते। सदेहस्त्वेष आत्मन
इति होवाच। संदेहस्ते व्यशीर्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥२॥

अत्सि अन्नम् पश्यसि प्रियम्—तू अन्न खाता है, प्रियों का दर्शन करता है, अत्ति अन्नम् पश्यति प्रियम् भवति अस्य ब्रह्मवर्चसम् कुले—(वह भी) अन्न खाता, प्रियों का दर्शन करता है और उसके कुल में ब्रह्म-तेज बना रहता है, य—जो, एतम् एवम् आत्मानम् वैश्वानरम् उपास्ते—इस इस प्रकार के (वहुल रूपवाले) वैश्वानर-आत्मा की उपासना करता है, संदेह—(शरीर-स्तम्भक) धड़ (शरीर का मध्यभाग), तु—तो, एष—यह (वहुल आकाश), आत्मन—आत्मा का, इति ह उवाच—यह कहा, संदेह—धड़, ते—तेरा, व्यशीर्यद्—टूट जाता, विखर जाता, यत् माम् न आगमिष्य—जो तू मेरे पास न आता ॥२॥

अथ होवाच वुडिलमाश्वतराश्विं वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स
इत्यप एव भगवो राजन्निति होवाचैष वै रयिरात्मा वैश्वानरो
यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं रयिमान्पुष्टिमानसि ॥१॥

करता है ? उसने उत्तर दिया, हे राजन् ! मैं तो 'जल' को आत्मा मानकर उसकी उपासना करता हूं। राजा ने कहा, ठीक है, 'वैश्वानर-आत्मा' का यह रूप तो है ही, परन्तु पूर्ण-रूप यह नहीं है। इसके अनेक रूपों में जो 'रयि'—सम्पत्ति, ऐश्वर्य—रूप है, उसकी तू उपासना करता है। इसी कारण तू रयिमान् अर्थात् सम्पत्तिमान् तथा पुष्टिमान् है ॥१॥

उसी के अनुग्रह से तू अन्न खाता है, प्रिय देखता है। जो इस प्रकार 'वैश्वानर-आत्मा' के रयि-रूप की उपासना करता है, उसे प्रभु के प्रसाद से अन्न मिलता है, वह प्रिय-दर्शन होता है, उसके कुल में ब्रह्म-वर्चस दीख पड़ता है। यह रयि-रूप जल, 'वैश्वानर-आत्मा' का, जिसे तू खोज रहा है, वस्ति-प्रदेश—मूत्राशय—है। तेरा वस्ति-प्रदेश नष्ट हो जाता, अगर तू ब्रह्म के पूर्ण-रूप के जानने के लिये मेरे पास न आता ॥२॥

अथ ह उवाच—और (राजा ने) कहा, बुडिलम् आश्वतराश्विम्—अश्वतराश्व के पुत्र बुडिल को, वैयाघ्रपद्य !—हे व्याघ्रपद के पुत्र ! कम् त्वम् आत्मानम् उपास्से—तू किस आत्मा की उपासना करता है, इति—यह (कहा), अप—जलों को, एव—ही, भगवः राजन्—आदरणीय राजन् ! इति ह उवाच—यह कहा, एष—यह (जल), वै—तो, रयि—धन-सम्पत्ति (दाता), आत्मा वैश्वानर—वैश्वानर-आत्मा है, यम् त्वम् आत्मानम् उपास्से—तू जिस आत्मा की उपासना करता है, तस्मात्—उस (उपासना) से ही, त्वम्—तू, रयिमान्—धनैश्वर्य-सम्पन्न (और), पुष्टिमान्—अत्यधिक पुष्ट या पोषक पदार्थों से सम्पन्न, असि—है ॥१॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं
कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते। वस्तिस्त्वेष आत्मन
इति होवाच। वस्तिस्ते व्यभेत्स्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥२॥

अत्सि अन्नम् उपास्ते—अर्थ पूर्ववत् है, वस्ति—मूत्राशय, तु—तो, एष—यह (जल) है, आत्मनः—आत्मा का, इति ह उवाच—यह कहा (बताया), वस्ति—मूत्राशय, ते—तेरा, व्यभेत्स्यत्—फट जाता, यत् माम् न आगमिष्य—जो मेरे पास न आता ॥२॥

पंचम प्रपाठक--(सत्रहवां खंड)

फिर, अरुण के वंशज उद्दालक को सम्बोधित करके राजा ने पूछा, हे गौतम ! तू किसे 'आत्मा' समझकर उसकी उपासना करता है? उसने उत्तर दिया, हे राजन् ! मैं तो 'पृथिवी' को आत्मा मानकर उसकी उपासना करता हूं। राजा ने कहा, ठीक है, 'वैश्वानर-आत्मा' का यह रूप तो है ही, परन्तु पूर्ण-रूप यह नहीं है। इसके अनेक रूपों में जो 'प्रतिष्ठा'—सबको सम्भालने वाला—रूप है, उसकी तू उपासना करता है। इसी कारण तू प्रजा और पशुओं से प्रतिष्ठित हो रहा है ॥१॥

उसी के अनुग्रह से तू अन्न खाता है, प्रिय देखता है। जो इस प्रकार 'वैश्वानर-आत्मा' के प्रतिष्ठा, अर्थात् स्थिरता के रूप की उपासना करता है, उसे प्रभु-प्रसाद से अन्न मिलता है, वह प्रिय-दर्शन होता है, उसके कुल में ब्रह्म-वर्चस दीख पड़ता है। यह पृथिवी का प्रतिष्ठा रूप, 'वैश्वानर-आत्मा' के, जिसे तू खोज रहा है, पांव हैं। तेरे पांव सूख जाते, अगर तू ब्रह्म के पूर्ण-रूप के जानने के लिये मेरे पास न आता ॥२॥

अथ होवाचोद्दालकमारुणिं गौतम कं त्वमात्मानमुपास्स इति ।
पृथिवीमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै प्रतिष्ठात्मा वैश्वानरो
य त्वमात्मानमुपास्से । तस्मात्त्वं प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्च ॥१॥

अथ ह उवाच—इनके बाद (राजा) बोला, उद्दालकम् आरुणिम्—अरुण के पुत्र उद्दालक को, गौतम—हे गौतम-कुलोत्पन्न, कम् त्वम् आत्मानम् उपास्से—तू किस आत्मा की उपासना करता है, पृथिवीम्—पृथ्वी को, एव—ही, भगव राजन् !—हे आदरणीय राजन् !, एष—यह (पथिवी), वै—तो, प्रतिष्ठा (सब का) आधार-आश्रय, आत्मा वैश्वानर —वैश्वानर-आत्मा है, तस्मात्—उस (उपासना) से ही, त्वम्—तू, प्रतिष्ठित —प्रतिष्ठायुक्त, असि—है, प्रजया च—प्रजा (वंश-परम्परा) से, पशुभि च—और गौ-आदि पशुओं से ॥१॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं
कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते । पादौ त्वेतावात्मन
इति होवाच । पादौ ते व्यम्लास्येतां यन्मां नागमिष्य इति ॥२॥

अत्सि अन्नम् . उपास्ते—(अर्थ पूर्ववत्), पादौ—पाँव, तु—तो, एतौ—ये दोनो, आत्मन —आत्मा के, इति ह उवाच—यह कहा, पादौ—

पचम प्रपाठक—(अठारहवा खंड)

इतना कह चुकने के बाद अश्वपति कैकेय ने उन सब उपासको को सम्बोधित करके कहा, आप लोग 'वैश्वानर-आत्मा' को भिन्न-भिन्न तौर से जानते रहे, उसके पृथक्-पृथक् रूप की उपासना करते रहे, और अन्न खाकर जैसी तृप्ति होती है वैसी तृप्ति का जीवन व्यतीत करते रहे। जो इस प्रादेश-मात्र 'वैश्वानर-आत्मा' को—उस आत्मा को जिसकी आप लोग एक-एक 'प्रदेश' में, एक-एक अश में उपासना करते रहे हैं—यह समझकर उपासना करता है मानो वह एक प्रदेश में ही नहीं है, अपितु सर्वत्र विद्यमान है, वह सब लोको में, सब भूतो में, सब आत्माओ में, अन्न खाकर मनुष्य को जैसी तृप्ति होती है वैसी तृप्ति का अनुभव करता है ॥१॥

दोनो पाव, ते—तेरे, व्यम्लास्येताम्—मुरझा जाते, सूख जाते, यत् माम् न आगमिष्य—जो मेरे पास न आता ॥२॥

तान्होवाच ते वै खलु यूय पृथगिवेममात्मान वैश्वानर विद्वा ँसोऽन्नमत्थ । यस्त्वेतमेव प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मान वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति ॥१॥

तान् ह—उन सब को, **उवाच**—(राजा ने) कहा, **ते**—वे, **वै खलु**—निश्चय से, **यूयम्**—तुम सब, **पृथक् इव**—अलग-अलग रूप में, **इमम्**—इस, **आत्मानम् वैश्वानरम्**—वैश्वानर-आत्मा को, **विद्वास**—जानने वाले, **अन्नम्**—अन्न को, **अत्थ**—खाते हो, **य तु**—जो तो, **एतम्**—इस (आत्मा) को, **एवम्**—इस (आगे बताये) रूप मे, **प्रादेशमात्रम्**—प्रत्येक देश मे (सर्वत्र) व्यापक, द्युलोक (प्रथम रूप) से पृथिवी (छठे रूप) तक के परिमाण वाले (सर्वव्यापक) या अगुष्ठमात्र, **अभिविमानम्**—सब को ही (दु ख आदि मे) प्रतीत होने वाले या सब का विशेष रूप मे ज्ञान (मान) करनेवाले (सर्वज्ञ), **आत्मानम्**—आत्मा को, **वैश्वानरम्**—सब के प्रेरक, सर्वरूप, सब को सर्वदा प्राप्त (ब्रह्म को), **उपास्ते**—उपासना (ध्यान-मनन-चिन्तन) करता है, **स**—वह, **सर्वेषु**—सब, **लोकेषु**—लोको मे (स्थिति-अवस्थाओ) मे, **सर्वेषु भूतेषु**—सब चराचर जगत् मे, **सर्वेषु**—सब, **आत्मसु**—आत्मयुक्त शरीरो में (सब योनियो मे), **अन्नम् अत्ति**—अन्न-भोक्ता होता है (उसे कभी कमी नही होती—पूर्ण-काम हो जाता है) ॥१॥

उस सर्वत्र विद्यमान 'वैश्वानर-आत्मा' का विराट् रूप देखो । तेजोमय-द्यु-लोक उसका मूर्धा है, विश्वरूप-आदित्य उसका चक्षु है, पृथग्वर्त्मा-वायु उसका प्राण है, अनन्त-आकाश उसका धड है, ऐश्वर्य-रूप-जल उसका वस्ति-प्रदेश है, पृथिवी उसके पांव है, यज्ञ की वेदी उसकी छाती है, यज्ञ की कुशा उसके रोम है, गार्हपत्याग्नि उसका हृदय है, अन्वाहार्यपचनाग्नि उसका मन है, आहवनीयाग्नि उसका मुख है ॥२॥

(इस प्रकार 'विश्व' मे 'नर'——Cosmic man——रूप की कल्पना करके राजा ने 'वैश्वानर' का वर्णन कर दिया ।)

पंचम प्रपाठक——(उन्नीसवां खंड)

(विश्व एक 'विराट्-नर' है——'वैश्वानर' है । उसका और इस नर-देह का, अर्थात् ब्रह्माड का और पिड का आपस मे सम्बन्ध है । इसके अतिरिक्त ससार मे सब जगह यज्ञ हो रहा है——ब्रह्माड मे भी, पिड मे भी । पिड, अर्थात् 'नर' मे हो रहे यज्ञ को, ब्रह्माड, अर्थात् 'वैश्वानर' के यज्ञ से जोडते हुए अश्वपति कहने लगे——)

उपासक के पास जो भोजन पहले-पहल आये, उसे यज्ञ की आहुति के समान समझे । भोजन करते हुए मुख में जो पहला ग्रास डाले, उसे

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूप प्राण पृथग्वर्त्मात्मा सदेहो बहुलो वस्तिरेव रयि पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदय गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीय ॥२॥

तस्य ह वै एतस्य—उस-इस ही, **आत्मन वैश्वानरस्य**—वैश्वानर-आत्मा का, **मूर्धा**—सिर, मस्तक, **सुतेजा**—द्युलोक हे, **चक्षु**—आँख, **विश्वरूप**—आदित्य (सूर्य) है, **प्राण**—श्वास-प्रश्वास, **पृथग्वर्त्मा+आत्मा**—वायु है, **सदेह**—धड, **बहुल**—आकाश है, **वस्ति**—मूत्राशय, **रयि**—जल है, **पृथिवी एव**—पृथिवी ही, **पादौ**—पॉव है, **उर**—छाती, **एव**—ही, **वेदि**—यज्ञ-वेदी, **लोमानि**—छाती के बाल, **बर्हि**—कुशा, **हृदयम्**—हृदय, **गार्हपत्य**—गार्हपत्य-अग्नि, **मन**—मन (अन्त करण), **अन्वाहार्यपचन**—अन्वाहार्यपचन-अग्नि, **आस्यम्**—मुख, **आहवनीय**—आहवनीय-अग्नि हे ॥२॥

तद्यद्भक्त प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयँ स या प्रथमामाहुर्ति जुहुयात्ता जुहुयात्प्राणाय स्वाहेति प्राणस्तृप्यति ॥१॥

तद्—तो, **यद्**—जो, **भक्तम्**—भात (अन्न), **प्रथमम्**—सब से पहले,

यज्ञ में डाली हुई प्रथम आहुति समझे, और बोले—'प्राणाय स्वाहा'—'यह आहुति मैं नर-देह के प्राण-देवता को देता हूं'। इस प्रकार नर-देह का प्राण तृप्त होता है ॥१॥

प्राण के तृप्त होने से चक्षु तृप्त होती है। यह नर-देह उस वैश्वानर के तत्त्वों से बना है, पिंड ब्रह्माड का ही अंग है, अत पिंड में चक्षु के तृप्त होने पर ब्रह्माड में सूर्य तृप्त होता है, सूर्य के तृप्त होने पर द्यौ तृप्त होता है, द्यौ के तृप्त होने पर सूर्य तथा द्यौ पर जो भी आश्रित हैं, वे तृप्त होते हैं। इस प्रकार उपासक तृप्ति-भावना को जब पिंड से ब्रह्माड तक फैला देता है, नर से वैश्वानर तक तृप्ति-ही-तृप्ति का विस्तार कर देता है, तब स्वयं प्रजा, पशु, भोग-सामग्री, तेज और ब्रह्मवर्चस से तृप्त हो जाता है ॥२॥

आगच्छेत्—प्राप्त हो, तद्—वह (भोजन), होमीयम्—होम के लिये है, आहुति-सामग्री के तुल्य है, स—वह, याम्—जिस, प्रथमाम्—पहली, आहुतिम्—आहुति को (अन्न के ग्रास को), जुहुयात्—हवन करे, ग्रहण करे, मुह में डाले, ताम्—उसको, जुहुयात्—(मंत्र बोल कर) हवन करे, प्राणाय स्वाहा—'प्राणाय स्वाहा' (देह के प्राण के लिए सुहुत हो), इति—इस (मंत्र को बोलकर, प्राण—प्राण, तृप्यति—तृप्त (पुष्ट) होता है ॥१॥

प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति चक्षुषि तृप्यत्यादित्यस्तृप्यत्यादित्ये तृप्यति द्यौस्तृप्यति दिवि तृप्यन्त्या यत्किच द्यौश्चादित्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥

प्राणे तृप्यति—प्राण के तृप्त हो जाने पर, चक्षु तृप्यति—नेत्र तृप्त हो जाता है, चक्षुषि तृप्यति—नेत्र के तृप्त हो जाने पर, आदित्य तृप्यति—सूर्य तृप्त हो जाता है, आदित्ये तृप्यति—सूर्य के तृप्त होने पर, द्यौ तृप्यति—द्युलोक तृप्त हो जाता है, दिवि तृप्यन्त्याम्—द्यु-लोक के तृप्त होने पर, यत् किंच—जो कुछ भी, द्यौ च—द्युलोक, आदित्य च—और सूर्य, अधितिष्ठत—अपने में रखते (धारण करते) हैं, तत्—वह सब, तृप्यति—तृप्त हो जाता है, तस्य—उस सब की, अनुतृप्तिम् (तृप्तिम् अनु)—तृप्ति के पीछे, तृप्यति—(यह अन्न का होता) तृप्त होता है, प्रजया—सन्तान से, पशुभि—पशुओं से, अन्नाद्येन—खाद्य (भोज्य) अन्न से, तेजसा—शरीर की कान्ति से, ब्रह्मवर्चसेन—(स्वाध्याय-मनन आदि मानसिक) ब्रह्म-तेज से, इति—यह (बताया) ॥२॥

पचम प्रपाठक (बीसवां खंड)

भोजन के समय मुख में जो दूसरा ग्रास डाले, उसे यज्ञ मे डाली हुई द्वितीय आहुति समझे, और बोले—'व्यानाय स्वाहा'—'यह आहुति मैं नर-देह के व्यान-देवता को देता हू।' इस प्रकार नर-देह का व्यान तृप्त होता है ॥१॥

व्यान के तृप्त होने से श्रोत्र तृप्त होता है। पिड में श्रोत्र के तृप्त होने पर ब्रह्माड में चन्द्रमा तृप्त होता है, चन्द्रमा के तृप्त होने पर दिशाए तृप्त होती है, दिशाओ के तृप्त होने पर दिशाओ तथा चन्द्रमा पर जो भी आश्रित है, वे तृप्त होते है। इस प्रकार उपासक तृप्ति-भावना को जब पिड से ब्रह्माड तक, नर से वैश्वानर तक तृप्ति-ही-तृप्ति फैला देता है, तब स्वय प्रजा, पशु, भोग्य-सामग्री, तेज और ब्रह्म-वर्चस से तृप्त हो जाता है ॥२॥

अथ या द्वितीया जुहुयात्ता जुहुयाद् व्यानाय स्वाहेति व्यानस्तृप्यति ॥१॥

अथ—इसके बाद, याम् द्वितीयाम्—जिस दूसरी (अन्न आहुति) को, जुहुयात्—हवन करे, ताम्—उसको, जुहुयात्—हवन करे, व्यानाय स्वाहा—(व्यान-प्राण की तृप्ति के लिए) 'व्यानाय स्वाहा', इति—यह (मत्र बोलकर), व्यान तृप्यति—(शरीर की) व्यान-वायु तृप्त हो जाती है ॥१॥

व्याने तृप्यति श्रोत्र तृप्यति श्रोत्रे तृप्यति चन्द्रमास्तृप्यति चन्द्रमसि तृप्यति दिशस्तृप्यन्ति दिक्षु तृप्यन्तीषु यत्किच दिशश्च चन्द्रमाश्चाधितिष्ठन्ति तत्तृप्यति तस्यानु तृप्ति तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥

व्याने तृप्यति—व्यान के तृप्त हो जाने पर, श्रोत्रम् तृप्यति—कान तृप्त हो जाता है, श्रोत्रे तृप्यति—कान के तृप्त होने पर, चन्द्रमा तृप्यति—चन्द्रमा तृप्त हो जाता है, चन्द्रमसि तृप्यति—चन्द्रमा के तृप्त हो जाने पर, दिश तृप्यन्ति—दिशाए तृप्त हो जाती है, दिक्षु तृप्यन्तीषु—दिशाओ के तृप्त हो जाने पर, यत् किच—जो कुछ भी, दिश च—दिशाए, चन्द्रमा च—और चन्द्रमा, अधितिष्ठन्ति—अपने अन्दर धारण करते हैं, तत् तृप्यति—वह तृप्त हो जाता है, तस्य—उस (सब) की, तृप्तिम् अनु—तृप्ति के पीछे (कारण से), तृप्यति—(वह अन्न का होता भी) तृप्त हो जाता है, प्रजया इति—(अर्थ पूर्ववत्) ॥२॥

पंचम प्रपाठक----(इक्कीसवां खंड)

भोजन के समय मुख में जो तीसरा ग्रास डाले, उसे यज्ञ में डाली हुई तृतीय आहुति समझे, और बोले—'अपानाय स्वाहा'—'यह आहुति मैं नर-देह के अपान-देवता को देता हूं।' इस प्रकार नर-देह का अपान तृप्त होता है ॥१॥

अपान के तृप्त होने से वाणी तृप्त होती है। पिंड में वाणी के तृप्त होने पर ब्रह्मांड में अग्नि तृप्त होती है, अग्नि के तृप्त होने पर पृथिवी तृप्त होती है, पृथिवी के तृप्त होने पर जो पृथिवी और अग्नि पर आश्रित हैं, वे तृप्त होते हैं। इस प्रकार उपासक तृप्ति-भावना को जब पिंड से ब्रह्मांड तक, नर से वैश्वानर तक फैला देता है, तब स्वयं प्रजा, पशु, भोग्य-सामग्री, तेज और ब्रह्म-वर्चस से तृप्त हो जाता है ॥२॥

अथ या तृतीया जुहुयात्ता जुहुयादपानाय स्वाहेत्यपानस्तृप्यति ॥१॥

अथ—और, **याम् तृतीया जुहुयात्**—जो तीसरी (अन्न-आहुति) का होम करे, **ताम् जुहुयात्**—उसका होम करे, **अपानाय स्वाहा**—'अपानाय स्वाहा', **इति**—इस मन्त्र से, **अपान**—अपान (वायु), **तृप्यति**—तृप्त हो जाता है ॥१॥

अपाने तृप्यति वाक्तृप्यति वाचि तृप्यन्त्यामग्निस्तृप्यत्यग्नौ तृप्यति पृथिवी तृप्यति पृथिव्यां तृप्यन्त्यां यत्किंच पृथिवी चाग्निश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥

अपाने तृप्यति—अपान-वायु के तृप्त हो जाने पर, **वाक् तृप्यति**—वाणी तृप्त हो जाती है, **वाचि तृप्यन्त्याम्**—वाणी के तृप्त हो जाने पर, **अग्नि तृप्यति**—अग्नि तृप्त हो जाता है, **अग्नौ तृप्यति**—अग्नि के तृप्त हो जाने पर, **पृथिवी तृप्यति**—पृथिवी तृप्त हो जाती है, **पृथिव्याम् तृप्यन्त्याम्**—पृथ्वी के तृप्त हो जाने पर, **यत् किं च**—जो कुछ भी, **पृथिवी च**—पृथिवी, **अग्नि च**—और अग्नि, **अधितिष्ठत**—अपने में धारण करते—रखते हैं, **तत् तृप्यति**—वह तृप्त हो जाता है, **तस्य**—उस (सब) की, **तृप्तिम् अनु**—तृप्ति के पीछे (कारण से), **तृप्यति**—(यह अन्न का होना भी) तृप्त हो जाता है, **प्रजया इति**—(अर्थ पूर्ववत्) ॥२॥

पंचम प्रपाठक––(बाईसवां खंड)

भोजन के समय मुख मे जो चौथा ग्रास डाले, उसे यज्ञ में डाली चतुर्थ आहुति समझे, और बोले––'समानाय स्वाहा'––'यह आहुति मैं नर-देह के समान-देवता को देता हूं।' इस प्रकार नर-देह का समान तृप्त होता है ॥१॥

समान के तृप्त होने पर मन तृप्त होता है। पिंड में मन के तृप्त होने पर ब्रह्मांड में मेघ तृप्त होता है, मेघ के तृप्त होने पर विद्युत् तृप्त होती है, विद्युत् के तृप्त होने पर जो विद्युत् और मेघ पर आश्रित है, वे तृप्त होते है। इस प्रकार उपासक तृप्ति-भावना को जब पिंड से ब्रह्मांड तक, नर से वैश्वानर तक फैला देता है, तब स्वय प्रजा, पशु, भोग्य-सामग्री, तेज और ब्रह्म-वर्चस से तृप्त हो जाता है ॥२॥

पंचम प्रपाठक––(तेईसवां खंड)

भोजन के समय मुख में जो पांचवां ग्रास डाले, उसे यज्ञ में डाली हुई पंचम आहुति समझे और बोले––'उदानाय स्वाहा'––'यह आहुति

अथ या चतुर्थी जुहुयात्ता जुहुयात्समानाय स्वाहेति समानस्तृप्यति ॥१॥

अथ––इसके बाद, याम् चतुर्थीम् जुहुयात्––जिस चौथी (अन्न-आहुति) का होम करे, ताम् जुहुयात्––उसका होम करे, समानाय स्वाहा––'समानाय स्वाहा', इति––इस (मंत्र को बोलकर), समान––समान नामी शरीर-गत वायु, तृप्यति––तृप्त हो जाती है॥ १॥

समाने तृप्यति मनस्तृप्यति मनसि तृप्यति पर्जन्यस्तृप्यति पर्जन्ये तृप्यति विद्युत्तृप्यति विद्युति तृप्यन्त्या यत्किंच विद्युच्च पर्जन्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥

समाने तृप्यति––समान के तृप्त हो जाने पर, मन तृप्यति––मन तृप्त हो जाता है, मनसि तृप्यति––मन के तृप्त हो जाने पर, पर्जन्य––मेघ, तृप्यति––तृप्त हो जाता है, पर्जन्ये तृप्यति––मेघ के तृप्त होने पर, विद्युत् तृप्यति––बिजली तृप्त हो जाती है, विद्युति तृप्यन्त्याम्––बिजली के तृप्त हो जाने पर, यत् किंच––जो कुछ भी, विद्युत् च––बिजली, पर्जन्य च––और मेघ, अधितिष्ठत––अपने अन्दर धारण करते है, तत् तृप्यति––वह तृप्त हो जाता है, तस्य इति––(अर्थ पूर्ववत्) ॥२॥

अथ यां पञ्चमीं जुहुयात्ता जुहुयादुदानाय स्वाहेत्युदानस्तृप्यति ॥१॥

में नर-देह के उदान-देवता को देता हूं।' इस प्रकार नर-देह का उदान तृप्त होता है ॥१॥

उदान के तृप्त होने पर वायु तृप्त होता है। पिंड में वायु के तृप्त होने पर ब्रह्मांड में आकाश तृप्त होता है, आकाश के तृप्त होने पर जो वायु तथा आकाश पर आश्रित है, वे तृप्त होते हैं। इस प्रकार उपासक तृप्ति भावना को जब पिंड से ब्रह्मांड तक, नर से वैश्वानर तक फैला देता है, तब स्वयं प्रजा, पशु, भोग्य-सामग्री, तेज और ब्रह्म-वर्चस से तृप्त हो जाता है ॥२॥

पंचम प्रपाठक—(चौबीसवां खंड)

जो कोई इस रहस्य को न जानता हुआ अग्निहोत्र करता है, वह ऐसा हवन करता है जैसे कोई अंगारों को हटाकर राख में हवन करे ॥१॥

अथ—और, याम्—जिस, पञ्चमीम्—पांचवीं आहुति (अन्न ग्रास) को, जुहुयात्—होम करे (ग्रहण करे), ताम्—उसको, जुहुयात्—होम करे (ग्रहण करे), उदानाय स्वाहा—'उदानाय स्वाहा', इति—यह (मंत्र बोलकर), उदान—उदान नामी (शरीर-गत) वायु, तृप्यति—तृप्त हो जाती है ॥१॥

उदाने तृप्यति त्वक् तृप्यति त्वचि तृप्यन्त्यां वायुस्तृप्यति वायौ तृप्यन्त्या-
माकाशस्तृप्यत्याकाशे तृप्यति यत्किंच वायुश्चाकाशश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति
तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥

उदाने तृप्यति—उदान के तृप्त होने पर, त्वक्—त्वचा, तृप्यति—तृप्त हो जाती है, त्वचि तृप्यन्त्याम्—त्वचा के तृप्त हो जाने पर वायु तृप्यति—वायु तृप्त हो जाती है, वायौ तृप्यति—वायु के तृप्त हो जाने पर, आकाश तृप्यति—आकाश तृप्त हो जाता है, आकाशे तृप्यति—आकाश के तृप्त हो जाने पर, यत् किंच—जो कुछ भी, वायु च—वायु, आकाश च—और आकाश, अधितिष्ठत—अपने अन्दर धारण करते-रखते हैं, तत् तृप्यति—वह सब तृप्त हो जाता है, तस्य अनु इति—(अर्थ पूर्ववत्) ॥२॥

स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथाऽङ्गारा-
नपोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृक्तत्स्यात् ॥१॥

स य—वह जो, इदम्—इस (रहस्य) को, अविद्वान्—न जानने वाला, अग्निहोत्रम्—इस (जठराग्नि-हवन) अग्निहोत्र को, जुहोति—होमता है,

जो कोई इस रहस्य को जानकर अग्निहोत्र करता है, उसका सब लोकों में, सब प्राणियों में, सब आत्माओं में हवन-ही-हवन हुआ करता है ॥२॥

जो कोई इस रहस्य को जानता हुआ अग्निहोत्र करता है, उसके सारे पाप ऐसे जल जाते हैं जैसे सरकंडे के ऊपर की रुई अग्नि में डाली हुई सर्र से राख हो जाती है ॥३॥

इसीलिये इस रहस्य को जानने वाला स्वयं जो भोजन करता है, उसे तो यज्ञ समझना ही है, अगर चाण्डाल को भी भोजन देता है, भले ही उच्छिष्ट भोजन दे, उसे भी 'वैश्वानर-आत्मा' में किया गया होम ही समझता है, इस पर यह श्लोक भी है—॥४॥

करता है, यथा—जैसे, मानो, अङ्गारान्—अंगारा (जलती अग्नि) को, अपोह्य—अलग हटाकर, भस्मनि—राख में, जुहुयात्—हवन करे, तादृक—वैसा, उसके समान ही, तत्—यह, स्यात्—होता है ॥१॥

अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु
लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति ॥२॥

अथ—और, य—जो, एतद्—इस (रहस्य) को, एवम्—इस प्रकार, इस रूप में, विद्वान्—जानता हुआ, अग्निहोत्रम् जुहोति—इस अग्निहोत्र को करता है, तस्य—उस (होता) का, सर्वेषु लोकेषु—सब लोकों में, सर्वेषु भूतेषु—सब प्राणियों में, सर्वेषु आत्मसु—सब आत्माओं में, हुतम्—हवन (अन्न-ग्रहण), भवति—होता है ॥२॥

तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः
प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति ॥३॥

तद्—तो, यथा—जैसे, ईषीका-तूलम्—सरकंडे की रुई, अग्नौ—अग्नि में, प्रोतम्—डाली हुई, प्रदूयेत—अच्छी तरह तत्काल नष्ट हो जाती है, एवम् ह—इस प्रकार ही, अस्य—इस (होता) के, सर्वे—सारे, पाप्मान—पाप, पाप-कर्म, शरीर की अस्वस्थता, प्रदूयन्ते—नष्ट हो जाते हैं, य—जो, एतत्—इस, एवम्—इस प्रकार, विद्वान्—जानता हुआ, अग्निहोत्रम्—अग्निहोत्र को, जुहोति—करता है ॥३॥

तस्मादु हैवंविद्यद्यपि चाण्डालायोच्छिष्टं प्रयच्छेदात्मनि
हैवास्य तद्वैश्वानरे हुतं स्यादिति। तदेष श्लोकः ॥४॥

तस्माद् उ ह—अतएव, एवंविद्—इस प्रकार (वैश्वानर-यज्ञ को) जानने वाला, यद्यपि—अगर, चाण्डालाय—चाण्डाल को, उच्छिष्टम्—बचा भोजन

जैसे भूख से व्याकुल बालक माता के आस-पास बैठ जाते हैं, ऐसे ही सब प्राणी अग्निहोत्र की उपासना करते हैं, अग्निहोत्र की उपासना करते हैं—जीवन में हर जगह यज्ञ को ही देखते हैं ॥५॥

(मनुष्य अपने जीवन को एक यज्ञ समझे। यज्ञ में जैसे आहुतियां दी जाती हैं, वैसे मुख में डाले एक-एक ग्रास को आहुति समझकर डाले। आहुति यज्ञ-कुंड में पड़ी नहीं रहती, वह अग्नि द्वारा सूक्ष्म होकर सृष्टि में फैल जाती है। हम मुख में पहला ग्रास डालते हुए कहें—'प्राणाय स्वाहा'—यह ग्रास एक आहुति है, जो हम प्राण की अग्नि में डालते हैं। प्राण इस आहुति से 'नर-देह' की आंख की ज्योति उत्पन्न करे, परन्तु वहीं तक रुक न जाय। यह ग्रास हमारे 'नर-देह' की 'आंख' में लेकर विश्व के 'विराट्-देह'—'वैश्वानर-आत्मा'—के 'आदित्य' तक सबके कल्याण के लिए अपने को फैला दे। जैसे भोजन करने से, अन्न खाने से हमें वैयक्तिक-तृप्ति होती है, वैसे मुख में डाली हुई पहली आहुति का यह फल हो कि आदित्य तक सब जड़-चेतन-रूप समष्टि-जगत् की अखंड तृप्ति के हम कारण बनें। 'नर' (Individual being) का आत्मा ही तृप्त न हो, 'वैश्वानर' (Social being) का आत्मा भी तृप्त हो। इसी प्रकार दूसरे ग्रास को भी एक आहुति समझकर मुंह में

या जूठा भोजन, प्रयच्छेत्—दे देवे, आत्मनि—अपने, आत्मा में, ह एव—ही, तद्—वह (उच्छिष्ट भोजन), वैश्वानरे—वैश्वानर आत्मा (अग्नि) में, हुतम्—हवन किया, दिया हुआ, स्यात्—होता है, इति—ऐसे, तद् एष श्लोक—तो (इसकी पुष्टि में) यह श्लोक भी है ॥४॥

यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते। एवं सर्वाणि
भूतान्यग्निहोत्रमुपासत इत्यग्निहोत्रमुपासत इति ॥५॥

यथा—जैसे, इह—यहां, इस संसार में, क्षुधिता—भूखे, बाला—बालक मातरम्—माता को (के) परि+उपासते—चारों ओर (घेर कर) बैठ जाते हैं, एवम्—इस ही प्रकार, सर्वाणि—सारे, भूतानि—प्राणी, अग्निहोत्रम्—उस (वैश्वानर-जाठराग्नि रूप) अग्निहोत्र (अन्न-ग्रहण) को, उपासते—सेवन करते हैं, इति—यह (श्लोक है), अग्निहोत्रम् उपासते—अग्निहोत्र करते हैं, इति—ऐसे (द्विरुक्ति आदरार्थ व प्रपाठक-समाप्ति की द्योतक है)॥५॥

डाले और कहे---'व्यानाय स्वाहा'--यह ग्रास दूसरी आहुति है, जो हम व्यान की अग्नि मे डालते है। व्यान इस आहुति से 'नर-देह' मे श्रोत्र-शक्ति उत्पन्न करे, और वही न रुककर विश्व के 'विराट्-देह' मे चन्द्र तक सबका कल्याण करे, और सब प्राणियो मे वैसी अखड-तृप्ति दिखाई दे जैसी मनुष्य को भोजन करने के बाद प्राप्त होती है। तीसरा ग्रास तीसरी आहुति है। इसे मुख मे डालता हुआ--'अपानाय स्वाहा' कहे। इस आहुति से 'नर-देह' मे वाणी तथा 'विराट्-देह' मे अग्नि तक सब जगह तृप्ति-ही-तृप्ति का राज्य हो--'व्यष्टि' तथा 'समष्टि' मे कही अतृप्ति न रहे। 'समानाय स्वाहा' कहकर चौथा ग्रास खाये, जो चौथी आहुति है। यह ग्रास शरीर मे मन को और विश्व मे मेघ तक तृप्ति फैला दे। पाचवा प्राण उदान है, अत पाचवा ग्रास खाता हुआ कहे--'उदानाय स्वाहा'। उदान-रूपी-अग्नि मे पडी हुई पाचवी आहुति शरीर के वायु तथा विश्व के 'विराट्-देह' के आकाश मे तृप्ति का स्रोत बहा दे। इस प्रकार 'वैश्वानर-आत्मा' की साधना का अभिप्राय यह है कि मनुष्य अपनी तृप्ति से ही सन्तुष्ट न हो, विश्व की तृप्ति को अपना ध्येय बनाये, और एक-एक ग्रास इसी उद्देश्य से मुह मे डाले। परन्तु प्रश्न होता है कि अगर 'नर-देह' (पिड) की तरह 'विराट्-देह' (ब्रह्माड) की तृप्ति आवश्यक है, तो जैसे 'नर-देह' का 'आत्मा' है, वैसे 'विराट्-देह' का कौन-सा आत्मा है? इसी 'विराट्-देह' के आत्मा को उपनिषद् मे 'वैश्वानर-आत्मा' कहा है। इस 'वैश्वानर-आत्मा' की खोज मे प्राचीनशाल, सत्य-यज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन, बुडिल तथा उद्दालक निकले थे और अश्वपति के पास गये थे। इन लोगो मे से कोई द्यु को, कोई आदित्य को, कोई वायु को, कोई आकाश को, कोई जल को, और कोई पृथिवी को सब-कुछ मानकर उसकी उपासना मे लीन था। हम भी तो आजकल पाच भूतो को ही सब-कुछ माने बैठे है। उपनिषत्कार का कथन है कि ये भूत 'वैश्वानर-आत्मा' के देह है, और देह के भी भिन्न-भिन्न अग है। जैसे मनुष्य की आख, नाक, कान आदि अलग-अलग मनुष्य का शरीर नही है, वैसे द्यु-आदित्य-वायु-पृथिवी-

आकाश-जल आदि 'विराट्-पुरुष' के मूर्धा, चक्षु, प्राण, पाव, धड तथा वस्ति-प्रदेश हैं, उसके भिन्न-भिन्न अग हैं। इन अगो से मिल-कर ही 'वैश्वानर' का देह बनता है, और उस 'वैश्वानर' का आधार-भूत तत्त्व ही 'वैश्वानर-आत्मा' है। द्यु-लोक को वैश्वानर मत समझो यह तो उसका तेजोमय एक रूप है, मूर्धा है, आदित्य को ही वैश्वानर मत समझो, यह तो उसका विश्व-रूप है, चक्षु है, वायु उसका पृथग्वर्त्मा-रूप है, प्राण है, आकाश उसका बहुल-रूप है, धड है, जल उसका रयि-रूप है, वस्ति-प्रदेश है, पृथिवी उसका प्रतिष्ठा-रूप है, पाव हैं। इस प्रकार उसके एक-देश—प्रादेश—की उपासना मत करो, उसके पूर्ण-रूप की उपासना करो, और उसी की उपासना 'वैश्वानर-आत्मा' की उपासना है। एक-एक नर को नही, 'वैश्वानर-आत्मा' को इन ऋषियो की तरह खोजो, और एक-एक नर की तृप्ति न ही, 'वैश्वानर-आत्मा' की तृप्ति—जड-चेतन सम्पूर्ण जगत् की तृप्ति—का उपाय करो, यही राजा अश्व-पति कैकेय का वैश्वानर—Cosmic soul—सम्बन्धी उपदेश है।)

षष्ठ प्रपाठक—(पहला खंड)

(श्वेतकेतु को उसके पिता का 'सदेवेदमग्र आसीत्' का उपदेश, १ से ७ खड)

प्राचीन-काल में अरुण का वशज श्वेतकेतु था। उसे उसके पिता ने कहा, हे श्वेतकेतु! जाओ, किसी आश्रम में ब्रह्मचर्य धारण करके रहो। हे सोम्य! हमारे कुल में ऐसा कोई नहीं हुआ जो वेदो का अध्ययन किये बिना 'ब्रह्म-बन्धु' होकर ही रह गया हो, अर्थात् उसकी

ॐ श्वेतकेतुर्हाऽऽरुणेय आस। तँ ह पितोवाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यम्। न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ॥१॥

ओम्—ओम्-वाच्य प्रभु (आदिगुरु) का स्मरण कर, **श्वेतकेतु**—श्वेत-केतु, **ह**—पहले कभी, **आरुणेय**—अरुण का पौत्र, **आस**—था, **तम् ह**—उस (श्वेतकेतु) को, **पिता**—उसके पिता (आरुणि) ने, **उवाच**—कहा (कि), **श्वेतकेतो**—हे श्वेतकेतु, **वस**—वास कर, धारण कर, **ब्रह्मचर्यम्**—ब्रह्मचर्य-व्रत को, (**वस ब्रह्मचर्यम्**—ब्रह्मचर्य—वेद-विद्या-आत्मविद्या की प्राप्ति के लिए

योग्यता केवल इतनी हो कि ब्राह्मण उसके बन्धु हैं, सम्बन्धी हैं, स्वय वह कुछ नही जानता ॥१॥

वह १२ वर्ष की आयु मे आचार्य के पास गया और २४ वर्ष की आयु मे सब वेदो को पढकर, बडा मनस्वी, अपने को वेदज्ञ मानने वाला और गर्व से फूला हुआ लौटकर आया।

उसे पिता ने कहा, बेटा श्वेतकेतु ! तू जो अपने को बडा मनस्वी, वेदो का ज्ञाता मानकर लौटा है और बड़ी अकड में फिरता है, यह

आचार्य कुल मे निवास कर), न वै—नही तो, नही ही, सोम्य—हे सुशील, अस्मत्कुलीन—हमारे कुल मे उत्पन्न, अननूच्य—न अध्ययन (स्वाध्याय) करके, अशिक्षित, ब्रह्मबन्धु—ब्राह्मण जिसके बन्धु है, स्वय ब्राह्मण अर्थात् वेदज्ञ या शिक्षित नही (ऐसे), इव—के समान, भवति—होता है, इति—यह (कहा) ॥१॥

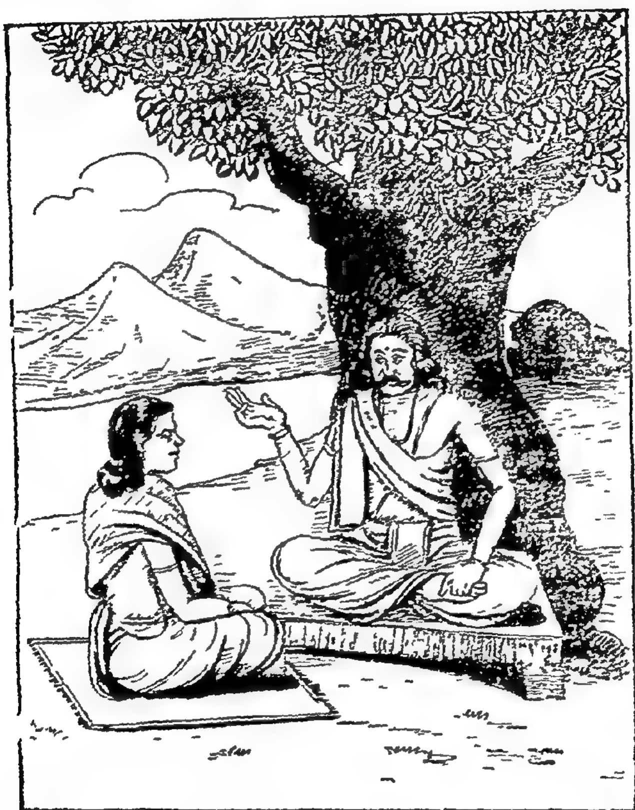
स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विँशतिवर्ष सर्वान्वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय। तँ ह पितोवाच श्वेतकेतो यन्नु सोम्येद महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्य ॥२॥

स ह—वह, द्वादशवर्ष—बारह वर्ष की आयु का, उपेत्य—(आचार्य-कुल मे) पहुच कर, चतुर्विंशति-वर्ष—चौबीस वर्ष का (तक), सर्वान्—सारे, वेदान्—वेदो को, अधीत्य—पढ कर, महामना—अत्यधिक मनस्वी, अपने को बडा (विद्वान्) समझने वाला, अनूचानमानी—शिक्षित होने के अभिमान वाला, स्तब्ध—अकडवाला, उद्दण्ड, अविनीत, एयाय—(घर वापिस) आया, तम् ह पिता उवाच—(घर आये) उसको पिता ने कहा, श्वेतकेतो—अरे श्वेतकेतु, यत् नु—जो तू, सोम्य—सुशील पुत्र !, इदम्—ऐसे, महा-मना—बडा मनस्वी (विचारक), अनूचानमानी—पडिताभिमानी, स्तब्ध—अभिमान मे फूला, असि—हो रहा है, उत—क्या, तम्—उस, आदेशम्—गुरु के रहस्य-निर्देश को, अप्राक्ष्य—तूने पूछा था (जाना था) ॥२॥

येनाश्रुतँ श्रुत भवत्यमत मतमविज्ञात विज्ञातमिति।
कथ नु भगव स आदेशो भवतीति ॥३॥

येन—जिस रहस्य-निर्देश से, अश्रुतम्—(शास्त्र द्वारा) न सुना (जाना) हुआ (भी), श्रुतम्—सुना (जाना) हुआ, भवति—हो जाता है, अमतम्—न (स्वय) मनन किया हुआ, मतम्—मनन किया हुआ, अविज्ञातम्—गहराई से

तो बतला कि तूने अपने गुरु से कभी वह 'आदेश' भी पूछा जिससे अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है, अविज्ञात विज्ञात हो जाता है ॥२-३॥



श्वेतकेतु को उनके पिता 'सदेवेदमग्र आसीत्' तथा 'तत्त्वमसि' का उपदेश दे रहे हैं

न जाना (अनिदिध्यासित), विज्ञातम्—गहराई से जाना हुआ (होता है), इति—यह (कहा), कथम् नु—कैसा, किस प्रकार का, भगव—हे आदरणीय पिता !, स आदेश—वह रहस्य-निर्देश, भवति—होता है, इति—(यह श्वेतकेतु ने पूछा) ॥३॥

श्वेतकेतु ने पिता से पूछा, हे भगवन् ! वह 'आदेश' किस प्रकार का है ? पिता ने उत्तर दिया, हे सोम्य ! जिस प्रकार मिट्टी के एक ढेले के जानने से संसार के सभी मिट्टी से बने पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, वे सब पदार्थ मिट्टी के विकार हैं, वाणी से कहने मात्र की वस्तु हैं, नाम उनका अलग है, वास्तव में मिट्टी ही सत्य-वस्तु है ॥४॥

हे सोम्य ! जैसे लोहमणि, अर्थात् लोह-चुम्बक के जानने से ससार के सभी लोहे से बने पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, वे सब पदार्थ लोहे के विकार हैं, वाणी से कहने मात्र की वस्तु हैं, नाम उनका अलग है, वास्तव में लोहा ही सत्य-वस्तु है ॥५॥

हे सोम्य ! जैसे एक नुहरने के जानने से ससार के सब सीसे से बने पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, वे सब पदार्थ सीसे के विकार

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मय विज्ञातं्
स्याद्वाचारम्भण विकारो नामधेय मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥४॥

यथा—जैसे, सोम्य !—हे सुशील !, एकेन—एक ही, मृत्-पिण्डेन—मट्टी के डले से, सर्वम्—सारा ही, मृन्मयम्—मिट्टी से बना, विज्ञातम्—जाना हुआ, स्यात्—हो जाता है, वाचारम्भणम्—वाणी का प्रसार या आलम्बन (वाणी का विषय, वाग्विलास), विकार —(मूल वस्तु से अन्य रूप मे) परिवर्तित वस्तु, नामधेयम्—कहलाने वाला है (वास्तव मे उसकी अलग सत्ता नहीं, वह मूल उपादान से भिन्न वस्तु नहीं), मृत्तिका—मट्टी, इति एव—यह ही, सत्यम् —सत्तावाली (वस्तु) है ॥४॥

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमय विज्ञातं्
स्याद्वाचारम्भण विकारो नामधेय लोहमित्येव सत्यम् ॥५॥

यथा—जैसे, सोम्य—हे सुशील कुमार, एकेन—एक ही, लोहमणिना—लोह-चुम्बक से, सर्वम्—सब, लोहमयम्—लोहे से बना पदार्थ, विज्ञातम् स्यात्—ज्ञात हो जाता है, वाचारम्भणम् विकार नामधेयम्—लोहे का विकार (चक्कू-दराती-कील) आदि कहलाने वाला तो वाणी का विलास मात्र ही है, लोहम्—लोहा, इति एव—यह ही, सत्यम्—सत्ता वाला है ॥५॥

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायस विज्ञातं् स्याद्वाचारम्भण
विकारो नामधेय कृष्णायसमित्येव सत्यमेवं् सोम्य स आदेशो भवतीति ॥६॥

यथा—जैसे, सोम्य—हे सुशील ! एकेन—एक, नख-निकृन्तनेन—

है, वाणी से कहने मात्र की वस्तु है, नाम उनका अलग है, वास्तव में सीसा ही सत्य-वस्तु है। हे सोम्य! इस प्रकार का वह 'आदेश' है ॥६॥

श्वेतकेतु ने उत्तर दिया, मेरे गुरु इस 'आदेश' को नही जानते होगे, क्योकि अगर जानते होते, तो मुझे क्यो न बतलाते? तो पिताजी, आप ही मुझे बतायें! पिता ने कहा, तथास्तु ॥७॥

षष्ठ प्रपाठक—(दूसरा खंड)

हे सोम्य! सृष्टि के प्रारम्भ में 'सत्' ही था—एक, अद्वितीय। कई आचार्यो का यह कहना है कि सृष्टि के प्रारम्भ में 'असत्' ही था—एक, अद्वितीय। अगर यह बात मान लें कि सृष्टि के प्रारम्भ में 'असत्' था, तो यह मानना पडता है कि उस 'असत्' से 'सत्' हुआ ॥१॥

नख द्वारा कुरेदने से, सर्वम्—सब, कार्ष्णायसम्—कृष्णायस (सीसा) से बना पदार्थ, विज्ञातम् स्यात्—ज्ञात हो जाता है, वाचारम्भणम् विकार नामधेयम्—सीसे का विकार (बने पदार्थ) तो वाणी का विलासमात्र ही है, कृष्णायसम्—सीसा, इति एव—यह (मूल तत्त्व) ही, सत्यम्—सत्ता वाला है, एवम्—इस ही प्रकार का, सोम्य—हे सुशील, स—वह, आदेश—(गुरु का) रहस्य-निर्देश, भवति—होता है, इति—यह (पिता ने उत्तर दिया) ॥६॥

न वै नून भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्धेतदवेदिष्यन् कथ मे नावक्ष्यन्निति।
भगवा स्त्वेव मे तद् ब्रवीत्विति। तथा सोम्येति होवाच ॥७॥

न वै—नही ही, नूनम्—निश्चय से, भगवन्त—आदरणीय, ते—वे (मेरे गुरु-आचार्य), एतत्—इसको, अवेदिषु—जानते थे, यद्—जो, हि—क्योकि, एतत्—इसको, अवेदिष्यन्—जानते होते, कथम्—क्यो, मे—मुझे, न—नही, अवक्ष्यन्—कहते, उपदेश देते, बताते, इति—यह (सत्य है), भगवान्—आदरणीय आप, तु—तो, एव—ही, मे—मुझे, तद्—उसको, ब्रवीतु—बतावे, इति—यह (श्वेतकेतु ने निवेदन किया), तथा—वैसे, बहुत अच्छा, इति ह उवाच—यह (पिता ने) कहा ॥७॥

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तद्धैक आहु-
रसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीय तस्मादसत सज्जायत ॥१॥

सद्—सत्तावाला, एव—ही, सोम्य—हे सुशील पुत्र, इदम्—यह, अग्रे (जगद्-रचना से) पहले, आसीत्—(सत्ता वाला) था, एकम्—इकला

परन्तु हे सोम्य ! यह कैसे हो सकता है ? 'असत्' से 'सत्' कैसे हो सकता है ? इसलिये यही मानना ठीक है कि प्रारम्भ मे 'सत्' ही था---एक, अद्वितीय ॥२॥

(एक अद्वितीय---इसका अर्थ अद्वैती तो यह करते है कि वह एक है, अद्वितीय है, परन्तु द्वैती यह अर्थ करते हैं कि वह एक, अद्वितीय है---अर्थात् उसके समान दूसरा कोई नही। अस्ल मे देखा जाय तो इस प्रकरण का प्रारम्भ करते हुए कहा गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ मे 'सत्' था, 'असत्' नही था। एक, अद्वितीय का यह अर्थ ज्यादा सगत प्रतीत होता है कि वह एक था, अर्थात् 'सत्' था---इससे अधिक द्वैत-अद्वैत के झगडे मे पडने का आचार्य का अभिप्राय नही मालूम पडता।)

उस 'सत्'-रूप चेतन-शक्ति ने इच्छा की कि मै बहुत हो जाऊं, पैदा हो जाऊ ! उसने 'तेज' को रचा। तेज ने इच्छा की कि मै बहुत

ही, **अद्वितीयम्**—जिसके समान दूसरा न हो, अनुपम, **तत्**—तो, **ह**—निश्चय से, **एके**—कई (विचारक), **आहु**—कहते है, **असद् एव इदम् अग्रे आसीत्**—असत् (अभाव) ही यह (जगद्-रचना से) पहिले था, **एकम् एव अद्वितीयम्**—इकला ही अनुपम, **तस्मात्**—उस (पूर्व विद्यमान), **असत**—अभाव से ही, **सद्**—यह सत् (दृश्यमान जगत्), **जायत** (**अजायत**)—उत्पन्न हुआ ॥१॥

कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच। कथमसत सज्जायेतेति। सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥२॥

कुत—कहा से, कैसे, **तु**—तो, **खलु**—निश्चय ही, **सोम्य**—हे सुशील पुत्र, **एवम्**—इस प्रकार, **स्यात्**—हो सकता ह, **इति ह उवाच**—यह (पिता ने) कहा, **कथम्**—कैसे, **असत**—अभाव से, **सत्**—भावमय वस्तु, **जायेत**—पैदा हो सकती ह, **इति**—यह, **सत् तु एव**—सत् (भाव) ही तो, **सोम्य इदम् अग्रे आसीत् एकम् एव अद्वितीयम्**—हे सुशील पुत्र जगद्-रचना से पहले एक और असदृश (अनुपम) सत् (सत्तावाला) ही था ॥२॥

तदैक्षत बहु स्या प्रजायेयेति। तत्तेजोऽसृजत। तत्तेज ऐक्षत बहु स्या प्रजायेयेति। तदपोऽसृजत। तस्माद्यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते ॥३॥

तद्—उस (सत्) ने, **ऐक्षत**—इच्छा की, देखा, **बहु**—बहुत, एक से अनेक, **स्याम्**—हो जाऊ, **प्रजायेय**—प्रजा वाला बनू, अपना वश चलाऊ, **इति**

हो जाऊ, पैदा हो जाऊ। उसने 'जल' को रचा। इसीलिये गर्म होने पर पसीना आ जाता है, ये जल तेज से ही पैदा हो जाते है ॥३॥

जलो ने इच्छा की कि हम बहुत हो जाए, उन्होने 'अन्न' को रचा, इसीलिये जहा कही वरसता है, वही प्रभूत अन्न होता है—जल से ही अन्न उत्पन्न होता है ॥४॥

षष्ठ प्रपाठक—(तीसरा खड)

अपने भाव को और अधिक विशद करते हुए पिता ने कहा, तेज-जल-अन्न—इन तीन भूतो से तीन ही बीज बनते है—अण्डज, जीवज, उद्‌भिज्ज। 'अण्डज', अडे से होने वाले, 'जीवज', जरायु मे होने वाले, 'उद्‌भिज्ज', पृथ्वी भेदकर होने वाले ॥१॥

—यह, तत्—उसने, तेज—तेज को, असृजत—बनाया, उत्पन्न किया, तत् तेज ऐक्षत—उस तेज ने देखा (इच्छा की), बहु स्याम् प्रजायेय—एक से अनेक हो जाऊ और बहुत बढ जाऊ, इति—यह, तद्—उसने, अप—जलो को, असृजत—उत्पन्न किया, तस्माद्—उस कारण से, यत्र क्व च—जहा कही, शोचति—(शरीर) गर्म होता है, स्वेदते वा—तो पसीना आ जाता है, पुरुष पुरुष (प्राणी-मनुष्य), तेजस—तेज से, एव—ही, तद्—वह (उस रूप मे), आप—जल, अधिजायन्ते—उत्पन्न होते है ॥३॥

ता आप ऐक्षन्त बह्व्य स्याम प्रजायेमहीति। ता अन्नमसृजन्त। तस्माद्यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्न भवत्यद्भ्य एव तदध्यन्नाद्य जायते ॥४॥

ता—उन, आप—जलो ने, ऐक्षन्त—देखा, चाहा, विचारा, बह्व्य—एक से अनेक, स्याम—हो जाये, प्र जायेमहि—प्रजावाले हो, इति—यह, ता—उन्होने, अन्नम्—अन्न को (पृथिवी को), असृजन्त—पैदा किया, तस्मात्—उस कारण से, यत्र क्व च—जहा कही भी, वर्षति—वर्षा होती है, भूयिष्ठम्—अत्यधिक, अन्नम्—अन्न, भवति—होता है, अद्भ्य—जलो से, एव—ही, तत्—वह, अन्नाद्यम्—खाद्य अन्न, अनाज, अधिजायते—उत्पन्न होता है ॥४॥

तेषा खल्वेषा भूताना त्रीण्येव बीजानि भवन्त्यण्डज जीवजमुद्भिज्जमिति ॥१॥

तेषाम्—उन, खलु—अवश्य, एषाम्—इन, भूतानाम्—प्राणियो के, त्रीणि—तीन, एव—ही, बीजानि—बीज, भवन्ति—होते है, अण्डजम्—अण्डज, अण्डा, जीवजम्—जरायुज, उद्भिज्जम्—जमीन फोड कर उत्पन्न होने वाला (वृक्ष-आदि), इति—ये (तीन) ॥१॥

फिर, उस 'सत्'-रूप चेतन-शक्ति ने सोचा, 'तेज'-'जल'-'अन्न'—इन तीन देवताओ से बने 'अण्डज'-'जीवज'-उद्भिज्ज'—इन तीन बीजो में जीवात्मा के साथ प्रवेश करके ससार मे 'नाम' और 'रूप' का विस्तार कर दू ॥२॥

ससार के पदार्थों को तीन सख्या से आवृत कर दू, तीन सख्या से आवृत कर दू। बस, उस 'सत्'-रूप चेतन-शक्ति ने तेज-जल-अन्न—इन तीन देवताओ से बने अण्डज-जीवज-उद्भिज्ज—इन तीनो बीजो में जीवात्मा के साथ प्रवेश करके नाम और रूप वाले जगत् का विस्तार कर दिया ॥३॥

इस ससार के विस्तार में उसने पदार्थों को तीन बार आवृत—तीन बार आवृत कर दिया। हे सोम्य ! अग्नि-जल-अन्न तथा अन्य

सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन
जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति ॥२॥

सा—वह, उस, इयम्—इस, देवता—सद्-रूप चेतन-शक्ति (निमित्त कारण) ने, ऐक्षत—सोचा, हन्त—तो, अहम्—मैं, इमा—इन, तिस्र—तीन (तेज, अप्, अन्न—पृथिवी), देवता—दिव्य पदार्थों को, अनेन—इस, जीवेन आत्मना—जीवात्मा के द्वारा, अनुप्रविश्य—(आत्मा मे विद्यमान होने से) अनु (साथ-साथ) प्रवेश करके, नामरूपे—सज्ञा और सज्ञी, वाच्य और वाचक रूप में (दृश्य-जगत्) को, व्याकरवाणि—स्पष्ट कर दू, विस्तार कर दू, इति—यह ॥२॥

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति। सेयं देवतेमास्तिस्रो
देवता अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ॥३॥

तासाम्—उन देवताओ के, त्रिवृतम्—तीन सख्या से युक्त, तिकडी को, त्रिवृतम्—तिकडी को, एक+एकाम्—एक-एक (तीनो की एक-एक पदार्थ मे स्थिति), करवाणि—कर दू, सा इयम् देवता—वह यह 'सद्'-देवता, इमा तिस्र देवता—इन तीनो (तेज-जल-अन्न) देवताओ को (में), अनेन एव जीवेन आत्मना अनु प्रविश्य—इस ही जीवात्मा के द्वारा (अन्तर्यामी होने से) साथ-साथ प्रवेश करके, नाम-रूपे—नाम (सज्ञा) और रूप (आकृति) को (इनसे युक्त दृश्य-जगत् को), व्याकरोत्—विस्तृत कर दिया, स्पष्ट कर दिया ॥३॥

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोद्यथा नु खलु सोम्येमा-
स्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥४॥

पदार्थों को इन तीनो देवताओं से तीन बार आवृत कैसे किया यह मुझसे समझ ॥४॥

षष्ठ प्रपाठक—(चौथा खंड)

इस सामने जलती हुई अग्नि का जो रक्त-वर्ण है वह 'तेज' का रूप है, जो शुक्ल-वर्ण है वह 'जल' का रूप है, जो कृष्ण-वर्ण है वह 'अन्न' का रूप है। अग्नि के इन तीनो आवरणो को अलग-अलग कर दिया जाय, तो अग्नि कहा रहती है ? अग्नि तो केवल वाणी का व्यवहार करने के लिये तेज-जल-अन्न के विकार का नाम है । सत्य तो वे तीन रूप ही है ॥१॥

इस सूर्य को देखो । इसका जो रक्त-वर्ण है वह 'तेज' का रूप है, जो शुक्ल-वर्ण है वह 'जल' का रूप है, जो कृष्ण-वर्ण है वह 'अन्न'

तासाम्—उन देवताओं के, त्रिवृतम् त्रिवृतम्—तीन सख्या मे अलग-अलग विद्यमानो को, एकैकाम्—एक-एक मे ही स्थिति (विद्यमानता), अकरोत्—कर दी, यथा नु खलु—और जैसे, इमा तिस्र देवता —ये तीनो देवता, त्रिवृत् त्रिवृत्—तीन की सख्या मे अलग-अलग विद्यमान, एकैका—प्रत्येक पदार्थ मे रहकर एक स्थान में विद्यमान, भवति—होती है, तत्—वह बात, मे—मुझ मे, विजानीहि—जान, इति—यह (पिता ने कहा) ॥४॥

यदग्ने रोहितं रूप तेजसस्तद्रूप यच्छुक्ल तदपा यत्कृष्ण तदन्नस्य। अपागादग्नेरग्नित्व वाचारम्भण विकारो नामधेय त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥१॥

यद्—जो, अग्ने—अग्नि का, रोहितम्—लाल, रूपम्—रूप-रग है, तेजस—तेज (देवता) का, तत्—वह, रूपम्—रूप है, यत्—जो, शुक्लम्—श्वेत (रूप है), तद्—वह, अपाम्—जलो का (रूप है), यत्—जो, कृष्णम्—काला (रूप है), तद्—वह, अन्नस्य—अन्न (पृथिवी) का (रूप है), अपागात्—दूर हो जाय, हट जाय, अग्ने—अग्नि मे, अग्नित्वम्—अग्निपना, वाचारम्भणम् विकार नामधेयम्—(अग्नि में अग्नित्व-रूप) विकार तो वाग्विलासमात्र ही है (नाम को ही है), त्रीणि रूपाणि—(अग्नित्व को बनाने वाले) ये तीनो रूप, इति+एव—इस रूप मे ही, सत्यम्—वास्तविक सत्ता वाले है (अग्नित्व) नहीं ॥१॥

यदादित्यस्य रोहितं रूप तेजसस्तद्रूप यच्छुक्ल तदपा
यत्कृष्ण तदन्नस्य। अपागादादित्यादादित्यत्व वाचारम्भण
विकारो नामधेय त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥२॥

का रूप है। सूर्य के इन तीनों आवरणों को अलग-अलग कर दिया जाय, तो सूर्य कहां रहता है? सूर्य तो केवल वाणी का व्यवहार करने के लिये तेज-जल-अन्न के विकार का नाम है। सत्य तो वे तीन रूप ही हैं ॥२॥

चन्द्रमा क्या है? चन्द्र का रक्त-वर्ण 'तेज' का, शुक्ल-वर्ण 'जल' का, और कृष्ण-वर्ण 'अन्न' का रूप है। इन तीनों आवरणों को अलग-अलग कर दिया जाय, तो चन्द्रमा कहां रहता है? चन्द्रमा तो केवल वाणी का व्यवहार करने के लिये तेज-जल-अन्न के विकार का नाम है। सत्य तो वे तीन रूप ही हैं ॥३॥

विद्युत् का भी रक्त-वर्ण 'तेज' का, शुक्ल-वर्ण 'जल' का, कृष्ण-वर्ण 'अन्न' का रूप है। इन तीनों आवरणों के बिना विद्युत् क्या है?

यद् आदित्यस्य—जो आदित्य (सूर्य) का, रोहितम् रूपम्—लाल रूप-रंग है, तेजस तद् रूपम्—वह तेज का रूप है, यत् शुक्लम् तद् अपाम्—जो श्वेत (रूप है) वह जलों का (रूप है), यत् कृष्णम् तद् अन्नस्य—जो काला (रूप) है वह अन्न (पृथ्वी) का (रूप है), अपागात्—दूर हो गया, आदित्यात्—सूर्य से, आदित्यत्वम्—सूर्यत्व, वाचारम्भणम् विकार नामधेयम्—(आदित्य में आदित्य-रूप) विकार तो वाणी का विस्तार-मात्र है (नाम को ही है), त्रीणि-रूपाणि इत्येव सत्यम्—ये तीन रूप ही वास्तव में सत्य (सत्तावान्) हैं ॥२॥

यच्चन्द्रमसो रोहितँ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां
यत्कृष्णं तदन्नस्य। अपागाच्चन्द्राच्चन्द्रत्वं वाचारम्भणं
विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥३॥

यत् चन्द्रमस—जो चन्द्रमा का, रोहितम् रूपम्—लाल रूप-रंग है, तेजस तद् रूपम्—तेज (तत्त्व) का वह रूप है, यत् शुक्लम् तद् अपाम्—जो शुक्ल रूप है वह जलों का रूप है, यत् कृष्णम्—जो काला रूप है, तद् अन्नस्य—वह रूप अन्न (पृथ्वी) का है, अपागात्—दूर हो जाता है, चन्द्रात्—चन्द्रमा से, चन्द्रत्वम्—चन्द्र रूप (पना), वाचारम्भण सत्यम्—अर्थ पूर्ववत् ॥३॥

यद्विद्युतो रोहितँ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां
यत्कृष्णं तदन्नस्य। अपागाद्विद्युतो विद्युत्त्वं वाचारम्भणं
विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥४॥

यद् विद्युत रोहितम् रूपम्—जो बिजली का लाल रूप है, तेजस तद् रूपम्—वह तेज का रूप-रंग है, यत् शुक्लम् तद् अपाम्—जो श्वेत रूप है वह रूप

यह तो वाणी के व्यवहार का एक नाम-मात्र है, सत्य तो वे तीन रूप ही हैं ॥४॥

इस रहस्य को जानते हुए ही प्राचीन-काल के महाशाल, महा-श्रोत्रिय कहा करते थे, आज से कोई मत कहना कि हमारे लिये संसार में कुछ भी अश्रुत या अविज्ञात है। संसार के सभी पदार्थ इन तीन के मिलने ही से तो बने हैं, इन तीन को जान लिया, तो सब जान लिया ॥५॥

जो रक्त-वर्ण-सा दिखाई दिया, यह समझ लिया कि वह 'तेज' का रूप है, जो शुक्ल-सा दीखा, समझ लिया कि वह 'जल' का रूप है, जो कृष्ण-सा दीखा, समझ लिया कि वह 'अन्न' का रूप है ॥६॥

जलों का है, **यत् कृष्णम्**—जो काला रूप है, **तद् अन्नस्य**—वह रूप अन्न का है, **अपागात्**—दूर हो जाता है, **विद्युत**—बिजली में, **विद्युत्-त्वम्**—बिजली (पना), **वाचारम्भणम्** **सत्यम्**—अर्थ पूर्ववत् ॥४॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुः पूर्वे महाशाला महाश्रोत्रिया न नोऽद्य कश्चनाश्रुतममतमविज्ञातमुदाहरिष्यतीति । ह्येभ्यो विदाचक्रुः ॥५॥

एतद् ह वै तद्—इस उस (विज्ञान) को, **विद्वांस**—जानने वाले, **आहुः स्म**—कहते थे, **पूर्वे**—पहले, प्राचीन, **महाशाला**—बड़े गृहस्थ, **महाश्रोत्रिया**—प्रकाण्ड वेदज्ञ एवं कर्मकाण्डी, **न**—नहीं, **न**—हमारे लिए, हममें से, **अद्य**—आज, **कश्चन**—कोई भी व्यक्ति, **अश्रुतम्**—शास्त्र में न जाना हुआ, **अमतम्**—मनन-चिन्तन न किया हुआ, **अविज्ञातम्**—भली प्रकार न जाना हुआ (तत्त्व है, ऐसे), **उदाहरिष्यति**—कहेगा, उदाहरण के तौर पर कहेगा, **हि**—क्योंकि, **एभ्य**—इन (रूपों से), **विदाचक्रु**—(उन्होंने) जान लिया था ॥५॥

यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपमिति तद्विदा-
चक्रुर्यदु शुक्लमिवाभूदित्यपां रूपमिति तद्विदा-
चक्रुर्यदु कृष्णमिवाभूदित्यन्नस्य रूपमिति तद्विदाचक्रुः ॥६॥

यत् उ—जो भी, **रोहितम् इव**—लाल-सा, **अभूत्**—हुआ, **इति**—ऐसे, तो, **तेजस तद् रूपम्**—तेज का वह रूप है, **इति**—ऐसे, **तद्**—उसको, **विदाचक्रु**—जान लिया, समझ लिया, **यद् उ शुक्लम् इव अभूत्**—जो तो सफेद-सा हुआ, **इति**—ऐसे, **अपाम् रूपम् इति तद् विदाचक्रु**—यह जलों का रूप है ऐसे उसको जान लिया, **यद् उ**—जो तो, **कृष्णम् इव अभूत्**—काला-सा हुआ, **इति**—ऐसे को, **अन्नस्य रूपम् इति तद् विदाचक्रु**—अन्न (पृथ्वी) का रूप है, ऐसे उसको जान लिया ॥६॥

जो अविज्ञात-सा प्रतीत हुआ वह इन तीन देवताओ का ही समास होगा—यह उन्होने जान लिया। हे श्वेतकेतु, जैसे मैने तुझे 'ब्रह्माड' मे बताया, ऐसे अब मै तुझे यह बताऊंगा कि पुरुष के शरीर, अर्थात् 'पिड' में आकर किस प्रकार प्रत्येक पदार्थ तीन आवरणो, अर्थात् 'अन्न'-'जल'-'तेज' के मेल से बना है ॥७॥

षष्ठ प्रपाठक—(पांचवां खंड)

पहले 'अन्न' को लो। खाने के बाद अन्न तीन भागो में बंट जाता है। उसका स्थूल-तत्त्व विष्ठा बन जाता है, मध्यम-तत्त्व मांस, और सूक्ष्म-तत्त्व 'मन' बन जाता है ॥१॥

यद्वविज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवताना् समास
इति तद्विदाचकुर्यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवता पुरुषं
प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥७॥

यद् उ—और जो, अविज्ञातम् इव—अज्ञात-सा, अस्पष्ट-सा, अभूत् —हुआ, इति—ऐसे (तो), एतासाम्—इन, देवतानाम्—देवताओ का, एव—ही, समास —सम्मिश्रण, सम्मिलित (रूप है), इति—ऐसे, तद्—उसको, विदाचक्रु —जान लेते थे, यथा नु खलु—जैसे तो, सोम्य—हे प्रियदर्शन पुत्र, इमा —ये, तिस्र —तीनो (तेज, अप्, अन्न—पृथिवी), देवता —(ब्रह्माड मे) देवताए, पुरुषम्—पुरुष शरीर को, प्राप्य—पाकर, पहुच कर, (पुरुषम् प्राप्य—पुरुष-शरीर में), त्रिवृत्-त्रिवृत्—तीन-तीन रूप धारण करने वाली, एकैका—एक-एक, भवति—हो जाती है, तत्—वह, मे—मेरा (मुझ से), विजानीहि—जान ले, इति—ऐसे (पिता ने कहा) ॥७॥

अन्नमशित त्रेधा विधीयते तस्य य स्थविष्ठो धातु-
स्तत्पुरीष भवति यो मध्यमस्तन्मा्स योऽणिष्ठस्तन्मन ॥१॥

अन्नम्—अन्न, अशितम्—खाया हुआ, त्रेधा—तीन प्रकार का, तीन रूप में, विधीयते—किया जाता है (हो जाता है), तस्य—उसका, य —जो, स्थविष्ठ —अधिक स्थूल, धातु —भाग, अश है, तत्—वह, पुरीषम्—मल, य —जो, मध्यम —बीच का (न स्थूल न सूक्ष्म), तत्—वह, मासम्—मास (बनता है), य —जो, अणिष्ठ —अत्यधिक सूक्ष्म होता है, तत्—वह, मन —मन (बन जाता है) ॥१॥

'जल' भी पीने पर तीन भागों में बट जाते हैं। उनका स्थूल-तत्त्व मूत्र बन जाता है, मध्यम-तत्त्व रुधिर, और सूक्ष्म-तत्त्व 'प्राण' बन जाता है ॥२॥

'तैजस'-पदार्थ घी-मक्खन आदि खाने पर तीन भागों में बट जाते हैं। उनका स्थूल-तत्त्व अस्थि बन जाता है, मध्यम-तत्त्व मज्जा और सूक्ष्म-तत्त्व 'वाणी' बन जाती है ॥३॥

इसीलिये हे सोम्य! 'मन' अन्न से बनता है, 'प्राण' जल से, और 'वाणी' तेज से बनती है। श्वेतकेतु ने कहा, पिताजी, जरा इस बात को फिर से समझाइये। पिता ने कहा, बहुत अच्छा ॥४॥

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं
भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः ॥२॥

आपः—जल, पीताः—पान किये हुए, त्रेधा विधीयन्ते—तीन रूप में हो जाते हैं, तासाम्—उन (जलों) का, यः स्थविष्ठः धातुः—जो अति स्थूल भाग है, तत्—वह, मूत्रम्—पेशाब, भवति—होता है, यः मध्यमः—जो बीच का मध्यम (भाग है), तत्—वह, लोहितम्—रुधिर (बन जाता) है, यः—जो, अणिष्ठः—अति सूक्ष्म है, सः प्राणः—वह श्वास-प्रश्वास है ॥२॥

तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि
भवति यो मध्यमः स मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक् ॥३॥

तेजः—तेज, अशितम्—खाया हुआ, त्रेधा विधीयते— तीन रूप में किया जाता (हो जाता) है, तस्य यः स्थविष्ठः धातुः—उसका जो अति स्थूल धातु (अन्न-भाग) है, तद्—वह, अस्थि—हड्डी, भवति—होता (बनता) है, यः मध्यमः—जो बीच का (मध्यम) भाग है, सः—वह, मज्जा—मज्जा (बनता) है, यः अणिष्ठः—जो अति सूक्ष्म है, सा—वह, वाक्—वाणी (बन जाती है) ॥३॥

अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति
भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥४॥

अन्नमयम्—अन्न से बना, अन्न पर आश्रित, हि—ही, सोम्य—हे प्रिय!, मनः—मन है, आपोमयः—जल-निर्मित, जल पर आश्रित, प्राणः—श्वास-प्रश्वास (जीवन) है, तेजोमयी—तेज-निर्मित, तेज पर आश्रित, वाग्—वाणी है, इति—यह (बनाया), भूयः एव—फिर और अधिक, मा—मुझ को, भगवान्—आप, विज्ञापयतु—समझावे, इति—यह (श्वेतकेतु ने कहा), तथा—वैसे, अच्छा!, सोम्य—प्रिय सुशील, इति ह उवाच—ऐसे (पिता ने) कहा ॥४॥

षष्ठ प्रपाठक—(छठा खंड)

हे सोम्य ! जब दही मथा जाता है, तब उसका जो सूक्ष्म अंश ऊपर उठ आता है, वह मक्खन बनता है ॥१॥

ठीक इसी तरह, हे सोम्य ! जब अन्न खाया जाता है, तब उसका जो सूक्ष्म अंश ऊपर को उठ आता है, वह 'मन' बनता है ॥२॥

और, ठीक इसी तरह, हे सोम्य ! जब जल पीया जाता है, तब उसका जो सूक्ष्म अंश ऊपर को उठ आता है, वह 'प्राण' बनता है ॥३॥

और, ठीक इसी तरह, हे सोम्य ! जब तेजोमय पदार्थ घी-मक्खन आदि खाये जाते है, तब उनका जो सूक्ष्म अंश ऊपर को उठ आता है, वह 'वाणी' बन जाती है ॥४॥

दध्न सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वं समुदीषति तत्सर्पिर्भवति ॥१॥

दध्न—दही की, सोम्य—हे प्रिय, मथ्यमानस्य—विलोयी जाती हुई की, यः—जो, अणिमा—सूक्ष्मता (सूक्ष्म अंश) है, स—वह, ऊर्ध्वं—ऊंचा, ऊपर, समुदीषति—उठ जाता है, ऊपर पहुंच जाता है, तत्—वह, सर्पि—घी, भवति—होता है ॥१॥

एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा
स ऊर्ध्वं समुदीषति तन्मनो भवति ॥२॥

एवम् एव खलु—इस प्रकार ही, सोम्य—हे सुपुत्र श्वेतकेतु, अन्नस्य—अन्न की, अश्यमानस्य—खाये जाते हुए, भुक्त, य अणिमा—जो सूक्ष्मता (सूक्ष्म भाग) है, स ऊर्ध्वं समुदीषति—वह ऊपर उठ जाता है, तत्—वह, मन—मन, भवति—हो जाता है ॥२॥

अपां सोम्य पीयमानाना योऽणिमा स ऊर्ध्वं समुदीषति स प्राणो भवति ॥३॥

अपाम्—जलों का, सोम्य—हे सुशील !, पीयमानानाम्—पिये हुए, य अणिमा—जो सूक्ष्म भाग है, स ऊर्ध्वं समुदीषति—वह ऊपर उठ जाता है, स प्राण भवति—वह प्राण होता है ॥३॥

तेजस सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वं समुदीषति सा वाग्भवति ॥४॥

तेजस—तेज का, सोम्य—हे सुशील पुत्र, अश्यमानस्य—खाये हुए, य अणिमा—जो सूक्ष्म तत्त्व है, स ऊर्ध्वं समुदीषति—वह ऊपर उठ आता है, सा वाग् भवति—वह वाणी होती है ॥४॥

इसीलिये हे सोम्य ! मन 'अन्नमय' है, प्राण 'आपोमय' है, और वाक् 'तेजोमयी' है। श्वेतकेतु ने कहा, पिताजी, अभी इसे और अधिक स्पष्ट करके समझाइये। पिता ने कहा, तथास्तु ॥५॥

षष्ठ प्रपाठक—(सातवा खड)

हे सोम्य ! यह पुरुष सोलह कलाओ वाला है। अगर तुम पन्द्रह दिन तक खाना न खाओ, किन्तु भरपेट जल पीते रहो, तो जल पीते रहने के कारण प्राण नहीं टूटेगा—प्राण जलमय जो है ॥१॥

श्वेतकेतु ने पन्द्रह दिन तक खाना नहीं खाया। फिर पिता के पास आकर बोला, पिताजी, कहिये, अब क्या करू ? पिता ने कहा,

---

अन्नमयँ हि सोम्य मन आपोमय प्राणस्तेजोमयी वागिति ।
भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥५॥

अन्नमयम्—अन्न से बना, अन्न पर आश्रित, हि—ही, सोम्य—हे सोम्य, मन —मन (होता है), आपोमय —जल से बना, जल पर आश्रित, प्राण —प्राण (होता है), तेजोमयी—तेज से बनी, तेज पर आश्रित, वाग्—वाणी (होती है), इति—यह (पिता ने बताया), भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु—फिर और इससे भी अधिक आप मुझको समझावे, इति—यह (पुत्र ने कहा), तथा—बहुत अच्छा, सोम्य—हे पुत्र, इति ह उवाच—ऐसे (आगे का) उपदेश दिया ॥५॥

षोडशकल. सोम्य पुरुष पञ्चदशाहानि माऽशी काम-
मप पिबापोमय प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत इति ॥१॥

षोडशकल —(प्राण आदि) सोलह कलाओ (अगो, अशो) वाला, सोम्य —हे सोम्य !, पुरुष —शरीरी जीवात्मा (होता है), पञ्चदश—पन्द्रह, अहानि—दिन तक, मा—मत, अशी —भोजन कर, कामम्—यथेच्छ, अप —जल, पिब—पी, आपोमय —जल-निर्मित, प्राण —प्राण, पिबत —(पानी) पीने वाले का, न विच्छेत्स्यते—नही वियुक्त होगा (शरीर छोडेगा), इति—यह, ऐसे ॥१॥

स ह पञ्चदशाहानि नाऽऽशाथ हैनमुपससाद । किं ब्रवीमि भो इत्यृच
सोम्य यजूँषि सामानीति स होवाच । न वै मा प्रतिभाति भो इति ॥२॥

स ह—इस (श्वेतकेतु) ने, पञ्चदश अहानि—पन्द्रह दिन तक, न—नही, आश—भोजन किया, अथ ह—और इसके बाद, एनम्—इस (अपने पिता) के, उपससाद—पास आकर बैठ गया, पास आया, किम्—

ऋक्-यजु-साम के मन्त्र मुझे सुनाओ। श्वेतकेतु ने कहा, पिताजी, वे तो मुझे सूझते ही नही, स्मरण ही नही आ रहे ॥२॥

पिता ने कहा, हे सोम्य ! जैसे बहुत बडी प्रज्वलित अग्नि का जुगनू—जितना एक अगारा बच रहे, तो वह अपने मे अधिक को, एक ढेर को, नहीं जला सकता, इसी तरह हे सोम्य ! तेरी सोलह कलाओ में से केवल एक कला बच रही है, इसलिये तू वेदो का स्मरण नही कर सक रहा। अच्छा, अब खाकर आओ ॥३॥

मैंने जो तुझे उपदेश दिया उसे तू अब समझेगा। श्वेतकेतु ने भोजन किया। पिता के पास आया। अब पिता ने जो-कुछ पूछा उस सबका उसने उत्तर दिया। तब पिता ने कहा—॥४॥

क्या, ब्रवीमि—बोलूं, भो—हे (पिता), इति—ऐसे (कहा), ऋच—ऋचाओ को, सोम्य—हे सोम्य, यजूंषि—यजुर्वेद के मन्त्रो को, सामानि—साम-मन्त्रों को, इति—ऐसे, स ह उवाच—उसने कहा, न वै—नही तो, मा—मुझको, प्रतिभाति—सूझते है, प्रतीत होते हैं, भो—हे पिता, इति—ऐसे (कहा) ॥२॥

तँ᳐ होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः
परिशिष्टः स्यात्तेन ततोऽपि न बहु दहेदेवँ᳐ सोम्य ते षोडशानां
कलानामेका कलाऽतिशिष्टा स्यात्तयैतर्हि वेदान्नानुभवस्यशान ॥३॥

तम् ह उवाच—उस (पुत्र) को (पिता ने) कहा, यथा—जैसे, सोम्य—हे सोम्य, महत—बडी, अभ्याहितस्य—प्रज्वलित (अग्नि) का, एक—एक, अङ्गार—अगारा, खद्योतमात्र—जुगनू के (प्रकाश के) बराबर, परिशिष्ट—बचा हुआ, स्यात्—हो, तेन—उस (अगारे) से, तत—उससे, अपि—भी (तनिक बडे), बहु—बहुत को, बडे को, न—नहीं, दहेत्—जला सकता, एवम्—इस ही प्रकार, सोम्य—हे सोम्य, ते—तेरी, षोडशानाम्—(प्राण आदि) सोलहो, कलानाम्—कलाओ (अशो) मे, एका कला—एक अश, अतिशिष्टा—बाकी बची, स्यात्—होवे, तया—उससे, एतर्हि—इस समय, वेदान्—वेदो को, न—नही, अनुभवसि—अनुभव कर रहा है, जान सक रहा है, अशान—तू भोजन कर ॥३॥

अथ मे विज्ञास्यसीति स हाशाथ हैनमुपससाद।
तँ᳐ ह यत्किंच पप्रच्छ सर्वँ᳐ ह प्रतिपेदे ॥४॥

अथ—और अब, मे—मेरे (वचन को), विज्ञास्यसि—जान जायगा, इति—यह (कहा), स ह—और उसने, आश—भोजन किया, अथ—तत्पश्चात्, ह एनम् उपससाद—इस (अपने पिता) के पास आ बैठा, तम् ह—

हे सोम्य ! जैसे बहुत बड़ी प्रज्वलित अग्नि का जुगनू-जितना एक अंगारा बच रहे, और उसे तिनको से फिर मे प्रज्वलित कर दिया जाय, तो वह अपने से अधिक को, एक भारी ढेर को भी जला देता है ॥५॥

इसी प्रकार, हे सोम्य ! तेरी सोलह कलाओ में से एक कला बच रही थी। वह अन्न से सुलगाई गई, और फिर चमक उठी, और इससे अब फिर तुम्हें वेद स्मरण हो आये। इसलिये, हे सोम्य ! मन 'अन्नमय' है, प्राण 'जलमय' है, और वाणी 'तेजोमयी' है। श्वेतकेतु यह सुनकर पिता की बात को समझ गया, समझ गया ॥६॥

इस (श्वेतकेतु) ने, यत् किंच—जो कुछ भी, पप्रच्छ—पूछा, सर्वम् ह—(उस) सारे को, प्रतिपेदे—प्रतिपादन किया, उत्तर दिया ॥४॥

तं᳖ होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकमगारं खद्योतमात्रं परिशिष्टं तं तृणैरुपसमाधाय प्राज्वलयेत्तेन ततोऽपि बहु दहेत् ॥५॥

तम् ह उवाच—इस (पुत्र) को (पिता ने) कहा, यथा—जैसे, सोम्य—हे प्रियवत्स !, महत—बड़े, अभ्याहितस्य—प्रज्वलित (अग्नि) का, एकम्—एक, अङ्गारम्—अंगारा, खद्योतमात्रम्—जुगनू के बराबर, परिशिष्टम्—बचे हुए, तम्—उसको, तृणै—तिनको द्वारा, उपसमाधाय—सुलगा कर, प्राज्वलयेत्—प्रज्वलित करे, तेन—उससे, तत—उस ढेर मे, अपि—भी, बहु—अधिक को, दहेत्—जला देवे ॥५॥

एवं᳖ सोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलाऽतिशिष्टाभूत्साऽन्नेनोपसमाहिता प्राज्वालीत्तयैतर्हि वेदाननुभवस्यन्नमयं᳖ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति ॥६॥

एवम्—इस प्रकार, सोम्य—हे सोम्य !, ते षोडशानाम् कलानाम् एका कला अतिशिष्टा अभूत्—तेरी सोलह कलाओ (अंशो) मे से एक अंश बच रहा था, सा—वह (कला), अन्नेन—अन्न से, उपसमाहिता—सुलगाई हुई, प्रदीप्त, प्राज्वालीत्—प्रदीप्त हो गई, तया—उस (कला) से, एतर्हि—इस समय, वेदान् अनुभवसि—वेदो को जान सक रहा है, अन्नमयम् हि सोम्य मन—हे सोम्य मन अन्नमय है, आपोमय प्राण—प्राण जलमय है, तेजोमयी वाग्—वाणी तेजोमयी है, इति—ऐसे, तद् ह—उस (कथन या उपदेश) को, अस्य—इस (पिता) के, विजज्ञौ—(श्वेतकेतु ने) जान लिया, समझ गया, इति—यह, विजज्ञौ इति—इसको समझ गया, (द्विरुक्ति आदरार्थ, और खण्ड-समाप्ति सूचक है) ॥६॥

षष्ठ प्रपाठक—(आठवां खंड)

(श्वेतकेतु को उसके पिता का 'तत्त्वमसि' उपदेश, ८ से १६ खड)

उद्दालक आरुणि ने 'सदेवेदमग्र आसीत्' का उपदेश देने के बाद अपने पुत्र श्वेतकेतु को फिर कहा, हे सोम्य! मुझ से स्वप्न के अन्त, अर्थात् सुषुप्ति को भी समझ ले। जब हम पुरुष के विषय मे 'स्वपिति'—गाढ निद्रा में सोता है—यह कहते है, तब वह 'सत्', अर्थात् ब्रह्म के साथ मिल गया होता है, 'स्व' को—अपने वास्तविक 'स्व'-रूप को—पहुचा होता है। 'स्वपिति' इसीलिये कहते है, क्योकि उस समय वह 'स्व' में, अर्थात् अपनेपन में गया होता है ॥१॥

जैसे डोर में बधी हुई चिडिया दिशा-दिशा में उड-उडकर जाती है, कहीं ठिकाना न पाकर जहा बधी होती है वही आकर आश्रय पाती है, हे सोम्य! इसी प्रकार मन दिशा-दिशा में उडकर जाता

उद्दालको हाऽऽरुणि श्वेतकेतु पुत्रमुवाच स्वप्नान्त मे सोम्य विजानीहीति। यत्रैतत्पुरुष स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सपन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति ॥१॥

उद्दालक ह आरुणि—अरुण के पुत्र उद्दालक ने, **श्वेतकेतुम् पुत्रम् उवाच**—(अपने) पुत्र श्वेतकेतु को कहा, **स्वप्नान्तम्**—स्वप्न के अन्त (परिणाम) सुषुप्ति अवस्था को, **मे**—मुझ से, **सोम्य**—हे विनीत पुत्र, **विजानीहि**—जान ले, समझ ले, **इति**—यह (कहा), **यत्र**—जहा, जिस अवस्था मे, **एतत्+पुरुष**—यह सशरीर-आत्मा, **स्वपिति नाम**—सोता है, **सता**—सद् (ब्रह्म) मे, **सोम्य**—हे प्रिय, **तदा**—तब, **सपन्न**—युक्त (मग्न-लीन), **भवति**—होता है, **स्वम्**—(ब्रह्म से युक्त) अपने (स्वरूप) मे, **अपीत** (अपि+इत)—लीन, प्राप्त, **भवति**—होता है, **तस्मात्**—उस कारण से, **एनम्**—इस जीवात्मा को, **स्वपिति**—'स्वपिति', **इति**—ऐसे, **आचक्षते**—कहते है, **स्वम् हि**—क्योकि अपने (स्वरूप) को, **अपि+इत**—प्राप्त, लीन, **भवति**—होता है ॥१॥

स यथा शकुनि सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनं हि सोम्य मन इति ॥२॥

स—वह, **यथा**—जैसे, **शकुनि**—पक्षी, **सूत्रेण**—सूत से, डोर मे, **प्रबद्ध**—बधा हुआ, **दिशम् दिशम्**—प्रत्येक दिशा मे, **पतित्वा**—उड कर,

है, कहीं ठिकाना न पाकर सुषुप्तावस्था में प्राण का ही आकर सहारा लेता है—क्योंकि प्राण ही मन को बांधने वाला खूंटा है। यह प्राण ही उसका 'सत्'-रूप या 'स्व'-रूप है जिसमें जीव सुषुप्तावस्था के समय पहुंच जाता है ॥२॥

फिर पिता ने कहा, हे सोम्य! भूख-प्यास का तत्त्व मुझ से समझ ले। भूख-प्यास में से पहले 'भूख' पर ऋषि कहते हैं—हे सोम्य! जब हम किसी पुरुष के विषय में कहते हैं कि वह भूखा है, तब उसका यही अभिप्राय होता है कि उसके खाये हुए अन्न को जल ले जा रहे हैं। खाया हुआ पदार्थ द्रव-रूप में, अर्थात् जल-रूप में होकर ही शरीर में पहुंचता है। क्योंकि अन्न को शरीर में सब स्थानों में पहुंचाने का काम जल का है, इसलिये जल को 'अशनाय' कहते हैं। 'अश' का अर्थ है भोजन, 'नाय' का अर्थ है, ले जाने वाला। ठीक इसी तरह जैसे ग्वाले को 'गो-नाय', साईस को 'अश्व-नाय', सेनापति को 'पुरुष-नाय' कहते हैं। जब जल, अन्न को शरीर में सब जगह पहुंचा देता

अन्यत्र—दूसरी जगह, **आयतनम्**—आश्रय, आधार को, **अलब्ध्वा**—न पाकर, **बन्धनम्**—बांधने के स्थान खूंटे का, **उपश्रयते**—आश्रय लेता है (उस पर बैठ जाता है), **एवम् एव खलु**—इस ही प्रकार, **सोम्य**—हे विनीत पुत्र! , **तत् मन**—वह मन, **दिशम् दिशम्**—प्रत्येक दिशा में, **पतित्वा**—उड़कर, **अन्यत्र आयतनम् अलब्ध्वा**—अन्यत्र सहारा न पाकर, **प्राणम् एव**—प्राण (आत्मा) का ही, **उपश्रयते**—सहारा लेता है (यह ही उसका शयन-स्वप्न है), **प्राण-बन्धनम्**—प्राण (आत्मा) रूपी बन्धन वाला, **हि**—ही, **सोम्य**—हे प्रिय पुत्र, **मन**—मन है, **इति**—यह (विज्ञान दिया) ॥२॥

अशनापिपासे मे सोम्य विजानीहीति। यत्रैतत्पुरुषोऽशिशिषति नामाप एव तदशितं नयन्ते। तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तदप आचक्षतेऽशनायेति। तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितं सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति ॥३॥

अशना-पिपासे—अशना (भूख) और पिपासा (प्यास) इन दोनों को, **मे**—मुझ से, **सोम्य**—हे सोम्य, **विजानीहि**—जान ले, **इति**—यह (भी कहा), **यत्र**—जहां, जिस अवस्था में, **एतत् + पुरुष**—यह पुरुष (सशरीर आत्मा), **अशिशिषति नाम**—खाना चाहता है, भूखा होता है, **आप**—जल, **एव**—ही, **तद्**—उस **अशितम्**—खाये अन्न को, **नयन्ते**—(अन्न के रस रूप होने पर शरीर में) ले जाते हैं, **तद् यथा**—तो जैसे, **गो-नाय**—गाय को ले जाने वाला

है, तब उसी अन्न से शरीर-रूपी अकुर उत्पन्न होता है। हे सोम्य, अब सोचने की बात यह है कि क्या अन्न से उत्पन्न होने वाला यह शरीर-रूपी अकुर बिना मूल के, बिना जड के है ? ॥३॥

तो, शरीर का मूल अन्न के बिना कहा हो सकता है ? जैसे शरीर को अकुर माना जाय, तो उसका मूल अन्न है, वैसे अन्न को अकुर माना जाय, तो उसका मूल क्या है ? अन्न का मूल जल है। जैसे अन्न का मूल जल है, वैसे जल को अकुर माना जाय, तो उसका मूल क्या है ? जल का मूल तेज है। (तभी तो जल के प्रपात मे से बिजली निकल पडती है)। जैसे जल का मूल तेज है, वैसे तेज को अकुर माना जाय, तो उसका मूल क्या है ? तेज का मूल, हे सोम्य ! 'सत्' है। हे सोम्य, इस सम्पूर्ण प्राणि-जगत् का मूल 'सत्' है, इसका आयतन 'सत्' है, इसकी प्रतिष्ठा 'सत्' है ॥४॥

न्वाला, **अश्व-नाय**—घोडे को ले जाने वाला, सारथि, **पुरुषनाय**—पुरुष को ले जानेवाला, सेना-नायक, **इति**—इन (शब्दो का प्रयोग होता है), **एवम्**—इस ही प्रकार, **तद्+अप**—उन जलो को, **आचक्षते**—कहते है, **अश+नाया**—अश (भोजन) को नाया (ले जाने वाली 'आप'), **इति**—ऐसे (इस नाम से), **तत्र**—उस स्थिति मे, **एतत्**—इस (शरीर रूपी), **शुङ्गम्**—अकुर को, **उत्पतितम्**—ऊपर उठे हुए, प्रगट हुए, **सोम्य**—हे सोम्य, **विजानीहि**—जान, समझ कि, **न**—नहीं, **इदम्**—यह (शरीर रूपी) अकुर, **अमूलम्**—बिना जड का, निराधार, **भविष्यति**—होगा, **इति**—यह (समझ ले) ॥३॥

तस्य क्व मूलं स्यादन्यत्रान्नादेवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भि सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ। तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ। सन्मूला सोम्येमा सर्वा प्रजा सदायतना सत्प्रतिष्ठा ॥४॥

तस्य—उस (शरीररूपी अकुर) का, **क्व**—कहा, **मूलम्**—जड, आधार (उत्पत्ति-स्थान), **स्यात्**—हो सकता है, **अन्यत्र**—दूसरी जगह, अतिरिक्त, **अन्नात्**—अन्न से, (**अन्नाद् अन्यत्र**—अन्न के अतिरिक्त), **एवम् एव खलु**—इस ही प्रकार, **सोम्य**—हे सोम्य, **अन्नेन शुङ्गेन**—अन्नरूपी अकुर से, **आप**—जल को, **मूलम्**—(अन्न के) आधार, **अन्विच्छ**—अन्वेषण कर, ढूढ, **अद्भि**—जलरूपी, **सोम्य**—हे सोम्य, **शुङ्गेन**—अकुर से, **तेज**—तेज को, **मूलम्** (जल का) आश्रय, **अन्विच्छ**—ढूढ, समझ, **तेजसा**—तेज रूपी, सोम्य—हे

भूख से 'सत्' तक पहुंचकर अब 'प्यास' पर ऋषि कहते हैं--हे सोम्य ! जब हम किसी पुरुष के विषय में कहते हैं कि वह प्यासा है, तब उसका यही अभिप्राय होता है कि उसके पीये हुए जल को तेज ले जा रहा है, अग्नि सुखा रही है। क्योंकि जल को सुखाने का काम तेज का है, इसलिये तेज को 'उदन्या' कहते हैं, 'उदन्या' का अर्थ है 'प्यास'--'उदन्' (उदक) का अर्थ है, जल,'नय' का अर्थ है, ले जाने वाला। ठीक इसी तरह जैसे ग्वाले को 'गो-नाय', साईस को 'अश्व-नाय', सेनापति को 'पुरुष-नाय' कहते हैं, वैसे 'उदन्या', अर्थात् 'उदन्-नाय' प्यास को कहते हैं। जब तेज जल को शरीर में से सोख लेता है, तब फिर जल की आवश्यकता होती है, उसी जल से शरीर-रूपी अंकुर उत्पन्न होता है। हे सोम्य, अब सोचने की बात यह है कि क्या जल से उत्पन्न होने वाला यह शरीर-रूपी अंकुर बिना मूल के, बिना जड़ के है ? ॥५॥

सोम्य, शुङ्गेन--अंकुर से, सत्--सद् (ब्रह्म-शक्ति को जिससे यह जगत् उत्पन्न हुआ है) को, मूलम्--(तेज का) मूल (उत्पत्ति-स्थान), अन्विच्छ--समझ, जान ले, सन्मूला--'सत्' से ही उत्पन्न, इमा--ये, सर्वा--सारी, प्रजा--उत्पन्न वस्तुएं हैं, सद्+आयतना--'सत्' ही इनका आयतन (आश्रय-स्थान) है, सत्+प्रतिष्ठा--'सत्' में ही ये प्रतिष्ठित हैं ॥४॥

अथ यत्रैतत्पुरुष पिपासति नाम तेज एव तत्पीतं नयते। तद्यथा गोनायोऽश्वनाय पुरुषनाय इत्येवं तत्तेज आचष्ट उदन्येति। तत्रैतदेव शुङ्गमुत्पतितं सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति ॥५॥

अथ--और, यत्र--जिस (अवस्था) में, एतत्+पुरुष--यह (सशरीर) आत्मा, पिपासति नाम--पिपासा (प्यास) अनुभव करता है, तेज एव--तेज ही, तत्--उस, पीतम्--पिये जल को, नयते--ले जाता है (सुखा देता है), तद्यथा गोनाय अश्वनाय पुरुषनाय इति--तो जैसे गो-नाय, अश्व-नाय, और पुरुष-नाय ये (विशेषण होते हैं), एवम्--इस ही प्रकार, तत्--उस (ले जाने वाले, सुखाने वाले), तेज--तेज को, आचष्टे--कहता है, पुकारता है, उदन्या--उदन्या (जल को ले जाने वाला), इति--इस (नाम से), तत्र--वहां, एतद् एव--यह (तेज) ही, शुङ्गम्--अंकुर (जिज्ञासा का विषय) को, उत्पतितम्--उत्पन्न हुए, उभर आये, सोम्य--हे सोम्य, विजानीहि--जान (कि), न--नहीं, इदम्--यह (तेज), अमूलम्--बिना जड़ (उत्पत्ति स्थान) का, भविष्यति--होगा, इति--यह (जान, समझ) ॥५॥

तो, शरीर का मूल जल के बिना कहां हो सकता है ? जैसे शरीर को अकुर माना जाय, तो उसका मूल जल है, वैसे जल को अकुर माना जाय, तो उसका मूल क्या है ? जल का मूल तेज है। जैसे जल का मूल तेज है, वैसे तेज को अकुर माना जाय, तो उसका मूल क्या है ? 'तेज' का मूल, हे सोम्य ! 'सत्' है। हे सोम्य, इस सम्पूर्ण प्राणि-जगत् का मूल 'सत्' है, इसका आयतन 'सत्' है, इसकी प्रतिष्ठा 'सत्' है। इस प्रकार 'भूख' तथा 'प्यास' इन दोनो डोरी को पकडकर हम 'सत्' के पास ही पहुचते है। हे सोम्य ! जैसा पहले कहा जा चुका है, 'सत्' से प्रारम्भ होकर अन्न-जल-तेज——ये तीन देवता ही विकसित होकर पुरुष की रचना करते है, मरते समय क्रम उलट जाता है——वाणी मन में लीन हो जाती है (वह बोलना वन्द कर देता है), मन प्राण में (वह कुछ समझ नही सकता), प्राण तेज में (वह ठडा होने लगता है), और तेज उस परम देवता 'सत्' में लीन हो जाता है ॥६॥

तस्य क्व मूलं स्यादन्यत्राद्भ्योऽद्भि सोम्य शुङ्गेन तेजोमलमन्विच्छ। तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ। सन्मूला सोम्येमा सर्वा प्रजा सदायतना सत्प्रतिष्ठा। यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवता पुरुष प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तदुक्त पुरस्तादेव भवत्यस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङमनसि सपद्यते मन प्राणे प्राणस्तेजसि तेज परस्या देवतायाम् ॥६॥

तस्य क्व मूलम् स्यात्——उसका कहा मूल (उत्पत्ति-स्थान) हो सकता है, **अन्यत्र अद्भ्य**——जलो के अतिरिक्त, **अद्भि सोम्य शुङ्गेन तेज मूलम् अन्विच्छ**——हे सोम्य ! जलरूपी अकुर (सहारे) से तेज को (जलो का) मूल (उत्पत्ति-स्थान) जान, **तेजसा सोम्य शुङ्गेन सत् मूलम् अन्विच्छ**——हे सोम्य ! तेजरूपी अकुर (सहारे) से, सत् (ब्रह्म-शक्ति) को (तेज का) मूल (उत्पत्ति-स्थान) जान, **सन्मूला सत्-प्रतिष्ठा**——अर्थ पूर्ववत्, **यथा नु खलु**——जैसे तो, **इमा**——ये, **तिस्र**——(अन्न-जल-तेज) तीनो, **देवता**——देवता, **पुरुषम्**——सशरीर आत्मा को, **प्राप्य**——पाकर (पिण्ड शरीर में आकर), **त्रिवृत्-त्रिवृत्**——तीन-सख्या वाली अलग-अलग विद्यमान, **एकैका**——प्रत्येक पदार्थ मे एक-एक, **भवति**——हो जाती है, **तद्**——वह, **उक्तम्**——कह दिया, वता दिया है, **पुरस्ताद्**——पहले, **एव**——ही, **भवति**——हो जाता है, **अस्य**——इस, **सोम्य**——हे सोम्य !, **पुरुषस्य**——(सशरीर) आत्मा का, **प्रयत**——मरते हुए की, **वाग्**——वाणी,

वह परम-देवता 'सत्' क्या है ? वह स्थूल नहीं, 'अणिमा' है—सूक्ष्म-तम है, यह सब स्थूल-शरीर उसी सूक्ष्म का शरीर है, यह स्थूल-शरीर सत्य नहीं, वही सत्य है, वह आत्मा है, हे श्वेत-केतु, 'तत्त्वमसि'—तू, अर्थात् तेरा आत्मा 'तत्त्व' है, अर्थात् 'सत्' है, तेरा शरीर 'तत्त्व-वस्तु' नहीं। अथवा, 'तत्त्वमसि'—'तू वह है' —तू भी उसकी तरह 'सत्' है, 'असत्' नहीं है। श्वेतकेतु ने कहा, भगवन् ! इस रहस्य को मुझे फिर समझाइये। पिता ने कहा, तथास्तु ॥७॥

(ऋषि का कहना है कि भूख-प्यास तो ऐसी चीजें हैं जो हर-एक को लगती हैं। इन पर ही विचार किया जाय तब भी इनकी डोर पकड़ कर मनुष्य इसी परिणाम पर पहुंचता है कि इनका कारण भी वह 'सत्' ही है। भूख-प्यास 'सत्' नहीं, इनके पीछे जो है, जो इनका कारण है, वही 'सत्' है।)

मनसि—मन में, **सम्पद्यते**—युक्त (लीन) हो जाती है, **मन**—मन, **प्राणे**—प्राण में (लीन हो जाता है), **प्राण**—प्राण, **तेजसि**—तेज में (लीन हो जाता है), **तेज**—तेज, **परस्याम्**—परम, **देवतायाम्**—(सत्-रूप) देवता में (लीन हो जाता है) ॥६॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच ॥७॥

स य—वह जो, **एष**—यह, **अणिमा**—अणु, सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, **ऐतदात्म्यम्**—इस आत्मावाला, **इदम्**—यह दृश्यमान जड़ जगत्, **सर्वम्**—सारा ही, (**ऐतदात्म्यम् इदम् सर्वम्**—इस दृश्यमान जड़ जगत् में यह अणिमा—सूक्ष्मातिसूक्ष्म परम-आत्मा व्यापक है), **तत्**—वह (अणिमा) ही, **सत्यम्**—सत् है, **स**—वह (अणिमा व सत् ही), **आत्मा**—परम-आत्मा है, **तत्**—वह (ऐतदात्म्य—इस आत्मा वाला), **त्वम्**—तू (आत्मा) भी, **असि**—है, (**तत् त्वम् असि**—वह परमात्मा ब्रह्म तेरे अन्दर भी व्यापक है या **तत्त्वम् असि**—तत्त्व स्वरूप तू है या तू भी सत् है), **श्वेतकेतो**—हे श्वेतकेतु, **इति**—यह (पिता ने) बताया, **भूय** ... **होवाच**—अर्थ पूर्ववत् ॥७॥

षष्ठ प्रपाठक—(नौवां खंड)

हे सोम्य ! जैसे मधु-मक्खियां मधु को बनाती है, नाना-प्रकार के फलो के वृक्षो के रसो को लेकर अनेक रसो का एक रस बना देती है ॥१॥

वे रस शहद के छत्ते में पहुचकर यह विवेक नही कर सकते कि मैं इस वृक्ष का रस हूं या उस वृक्ष का रस हू, इसी प्रकार, हे सोम्य, ये सब प्राणी 'सत्' में पहुच कर नही जानते कि हम 'सत्' में आ पहुचे है ॥२॥

वे यहा व्याघ्र, सिह, भेडिया, भालू, कीट, पतग, दश, मशक, जो होते है वही रहते है—जैसे भिन्न-भिन्न वृक्षो का रस शहद में

यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति, नानात्ययाना
वृक्षाणाॅं रसान्समवहारमेकताॅं रस गमयन्ति ॥१॥

यथा—जैसे, सोम्य—हे प्रिय पुत्र, मधु—शहद को, मधुकृत—मधु-मक्खियां, निस्तिष्ठन्ति—तत्परता से सचित करती है, नानात्ययानाम्—अनेक अत्यय (दूरी या दिशा) वाले (भिन्न-भिन्न प्रकार के), वृक्षाणाम्—वृक्षो के, रसान्—रसो को, समवहारम्—सचय करके, लाकर, एकताम्—एक-रूप, समान रूपवाले, रसम्—रस को, गमयन्ति—प्राप्त कराती है (बना देती है) ॥१॥

ते यथा तत्र न विवेक लभन्तेऽमुष्याह वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याह
वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमा सर्वा प्रजा
सति सपद्य न विदु सति सपद्यामह इति ॥२॥

ते—वे (रस), यथा—जैसे, तत्र—उस (सचय) मे, न—नही, विवेकम्—ज्ञान, भेद, लभन्ते—प्राप्त करते है, (विवेकम् न लभन्ते—भेद नही करते), अमुष्य—अमुक, अहम्—मैं, वृक्षस्य—वृक्ष का, रस—रस, अस्मि—हू, अमुष्य अहम् वृक्षस्य रस अस्मि—अमुक वृक्ष का मैं रस हू, इति—ऐसे, एवम् एव—इस प्रकार ही, खलु—तो, सोम्य—हे प्रिय वत्स, इमा सर्वा प्रजा—ये सारी प्रजाए (जीव-प्राणी), सति—सत् (जगदादिकारण सत्स्वरूप ब्रह्म) मे, सपद्य—प्राप्त होकर, न विदु—नही जानती है (कि), सति—सत् मे, सपद्यामहे—हम सब प्राप्त है, उसमे लीन है, इति—ऐसे ॥२॥

त इह व्याघ्रो वा सिॅंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा
पतङ्गो वा दॅंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति ॥३॥

ते—वे, जीव-प्राणी, इह—यहा, इस लोक मे, व्याघ्र वा—बघेला, सिह वा—या शेर, वृक वा—या भेडिया, वराह वा—या सूअर, कीट वा—

अपने रूप को खो देता है, वैसे ये जीव सत् में पहुंच कर अपने रूप को नहीं खो देते—और फिर भिन्न-भिन्न रूपों में पैदा होते हैं। क्या ही अच्छा हो कि शहद में रस की तरह वे जीव 'सत्' में अपने को खो दें, अपने भिन्न-भिन्न रूपों को अपना समझने के स्थान में अपने 'सत्'-रूप को अपना समझें ॥३॥

वह जो 'अणिमा' है, सूक्ष्म-तत्त्व है, यह सब स्थूल-जगत् उसी का शरीर है, यह शरीर सत्य नहीं, वही सत्य है, वह 'सत्' ही आत्मा है, हे श्वेतकेतु, 'तत्त्वमसि'—तू, अर्थात् तेरा आत्मा 'तत्त्व' है, अर्थात् 'सत्' है, तेरा शरीर 'तत्त्व-वस्तु' नहीं। अथवा, 'तत्त्व-मसि'—'तू वह है'—तू भी उसकी तरह 'सत्' है, 'असत्' नहीं है। श्वेतकेतु ने कहा, भगवन्! इस रहस्य को मुझे फिर समझाइये। पिता ने कहा, तथास्तु ॥४॥

षष्ठ प्रपाठक—(दसवां खंड)

हे सोम्य! जैसे पूर्व की नदियां पूर्व को बहती हैं, पश्चिम की पश्चिम को—परन्तु तत्त्वतः समुद्र से वाष्प द्वारा जो पानी उठा,

---

या कीट-मकौड़ा, पतङ्ग वा—या पतंगा अथवा पक्षी, दंश वा—या डांस मक्खी, मशक वा—या मच्छर, यद्-यद्—जो-जो (जिस-जिस योनि के), भवन्ति—होते हैं, तद्—वह ही, आभवन्ति—जन्म लेते हैं (पुनः जन्म-मरण चक्र में सद्-ब्रह्म को न जानने के कारण पड़ते हैं) ॥३॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच ॥४॥

स य एष अणिमा—वह जो यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म (सत्—जगदादिकारण ब्रह्म है), ऐतदात्म्यम् इदम् सर्वम्—इस सब (दृश्य-जगत्) का यह ही सूक्ष्म आत्मा (ब्रह्म) इसमें व्यापक है, तत्—वह (सद् ब्रह्म), सत्यम्—त्रिकालाबाधित है, स आत्मा—वह (अणिमा) ही परम-आत्मा है, तत्—वह (एतदात्मना—परम-आत्मावाला), त्वम्—तू (आत्मा) है (तेरे आत्मा में भी वह परमात्मा व्यापक है), श्वेतकेतो—हे श्वेतकेतु!, इति—ऐसे, भूय एव उवाच—अर्थ पूर्ववत् ॥४॥

इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चात्प्रतीच्यस्ताः
समुद्रात्समुद्रमेवापियन्ति, समुद्र एव भवन्ति, ता
यथा तत्र न विदुरियमहमस्मीयमहमस्मीति ॥१॥

वही समुद्र मे जा पहुचा, समुद्र बन गया, और वहां पहुच कर उसे यह ज्ञान नही रहता कि मै अमुक हू, मै अमुक हू ॥१॥

हे सोम्य ! इसी प्रकार ससार के प्राणि-मात्र 'सत्' से आते है, परन्तु यह नही जानते कि वे 'सत्' से आये है। वे यहा व्याघ्र, सिह, भेडिया, भालू, कीट, पतग, दश, मशक जो-कुछ होते है, वही रहते है—जैसे भिन्न-भिन्न नदिया समुद्र में अपने रूप को खो देती है, वैसे ये जीव सत् में पहुचकर अपने रूप को नही खो देते, और फिर भिन्न-भिन्न रूपो मे पैदा होते है। क्या ही अच्छा हो कि समुद्र में नदी की तरह वे जीव 'सत्' में अपने को खो दें ॥२॥

वह जो 'अणिमा' है, सूक्ष्म-तत्त्व है, यह सब स्थूल-जगत् उसी का शरीर है, वही सत्य है, वह 'सत्' ही आत्मा है, हे श्वेतकेतु, 'तत्त्वमसि'—तू, अर्थात् तेरा आत्मा 'तत्त्व' है, अर्थात् 'सत्' है, तेरा शरीर 'तत्त्व-वस्तु' नही। अथवा, 'तत्त्वमसि'—'तू वह है'—तू भी

इमा—ये, सोम्य—हे सुशील, नद्य—नदिया, पुरस्तात्—पूर्व दिशा से, प्राच्य—पूर्व दिशा की ओर,, स्यन्दन्ते—बहती ह, पश्चात्—पश्चिम से, प्रतीच्य—पश्चिम की ओर, ता—वे, समुद्रात्—समुद्र (पहिले समुद्र से उत्पन्न वाष्प से निर्मित बादल से) से, समुद्रम्—(मूल कारण) समुद्र मे, अपियन्ति—लीन हो जाती हे, समुद्र—समुद्र, एव—ही, भवति—हो जाता है, ता—वे (नदिया), यथा—जैसे, न विदु—नही जानती है, इयम् अहम् अस्मि—(इस समुद्र मे) यह मै हू, इति—इस प्रकार, इयम् अहम् अस्मि इति—यह मै हू इस प्रकार॥१॥

एवमेव खलु सोम्येमा सर्वा प्रजा सत आगम्य न विदु सत आगच्छामह इति। त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति ॥२॥

एवम् एव—इस प्रकार ही, खलु—तो, सोम्य—हे सुशील पुत्र, इमा सर्वा प्रजा—ये सारी प्रजाए (जीव-प्राणी), सत—सत् (ब्रह्म) से, आगम्य—आकर, न विदु—नही जानती है, सत—सत् (ब्रह्म से), आगच्छामहे—आये है, इति—ऐसे, ते इह व्याघ्र ... तदा भवन्ति—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

स य एष ... ह उवाच—अर्थ पूर्ववत् ॥३॥

उसकी तरह 'सत्' है, 'असत्' नहीं है। श्वेतकेतु ने कहा, भगवन्! इस रहस्य को मुझे फिर समझाइये। पिता ने कहा, तथास्तु ॥३॥

षष्ठ प्रपाठक—(ग्यारहवां खंड)

हे सोम्य! अगर किसी महान् वृक्ष के मूल में प्रहार करें, तो रस बह पड़ता है, परन्तु वृक्ष जीवित रहता है, मध्य में प्रहार करें तब भी रस बह निकलता है, परन्तु वृक्ष जीवित रहता है, चोटी पर प्रहार करें तब भी रस बहता रहता है, परन्तु वृक्ष जीवित रहता है—वृक्ष में जीवन प्रभूत-मात्रा में है इसलिये वह पृथिवी में रस-पान करता हुआ हरा-भरा खड़ा रहता है ॥१॥

जीव जब इस वृक्ष की एक शाखा को छोड़ देता है तो वह सूख जाती है, दूसरी को छोड़ देता है तो वह सूख जाती है, तीसरी को

अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेद्योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेत्स एष जीवेनात्मनानुप्रभूत पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति ॥१॥

अस्य—इस, सोम्य—हे सुशील, महत—बड़े, वृक्षस्य—वृक्ष के, य—जो, मूले—जड़ में, अभि+आ+हन्यात्—चोट करे (काटे), जीवन्—जीता हुआ, स्रवेत्—(उसमें) पानी निकलता है, य—जो कोई, मध्ये—बीच में, अभ्याहन्यात्—चोट मारे, काटे (तो), जीवन् स्रवेत्—जीते हुए ही पानी चूता है, य—जो कोई, अग्रे—आगे, ऊपर के भाग में, अभ्याहन्यात्—चोट करे, काटे (तो), जीवन्—जीता हुआ ही, स्रवेत्—पानी छोड़ता है (स्वयं नहीं मरता), स एष—वह यह (वृक्ष), जीवेन आत्मना—जीव-आत्मा से, अनु प्रभूत—अनु (उस आत्मा की शक्ति से) प्रभूत (जीवन-शक्ति-सम्पन्न), पेपीयमान—(पृथ्वी से रसों को) खूब पीता हुआ, मोदमान—हर्ष-सम्पन्न, तिष्ठति—ठहरता है—खड़ा रहता है ॥१॥

अस्य यदेकां शाखा जीवो जहात्यथ सा शुष्यति, द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति, तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति, सर्वं जहाति सर्वः शुष्यत्येवमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच ॥२॥

अस्य—इस (वृक्ष) की, यत्—जो (यदि), एकाम्—एक, शाखाम्—शाखा (टहनी) को, जीव—जीव, जहाति—छोड़ देता है, अथ—तो, सा—वह, शुष्यति—सूख जाती है, द्वितीयाम्—दूसरी को, जहाति—छोड़ता है, अथ—तो, सा शुष्यति—वह सूख जाती है, तृतीयाम्—तीसरी (शाखा)

छोड देता है तो वह सूख जाती है, सारे को छोड देता है तो सम्पूर्ण वृक्ष सूख जाता है। हे सोम्य! ऐसे ही मनुष्य-शरीर को भी समझ लो। (इससे प्रतीत होता है कि ऋषि वृक्ष मे जीव मानते हैं।) ॥२॥

जब जीव शरीर से अलग हो जाता है तब शरीर ही मरता है, जीव नही मरता। वह जो 'अणिमा' है, सूक्ष्म-तत्त्व है, यह सब स्थूल-जगत् उसी का शरीर है, वही सत्य है, वह 'सत्' ही आत्मा है, हे श्वेतकेतु, 'तत्त्वमसि'—तू, अर्थात् तेरा आत्मा 'तत्त्व' है, अर्थात् 'सत्' है, तेरा शरीर 'तत्त्व-वस्तु' नही। अथवा, 'तत्त्वमसि'—'तू वह है'—तू भी उसकी तरह 'सत्' है, 'असत्' नही है। श्वेतकेतु ने कहा, भगवन्! इस रहस्य को मुझे फिर समझाइये। पिता ने कहा, तथास्तु ॥३॥

षष्ठ प्रपाठक—(बारहवां खंड)

पिता ने कहा, वट-वृक्ष का फल लाओ। श्वेतकेतु ने कहा, पिताजी, ले आया। तोडो इसे। तोड दिया। इसमें क्या देखते हो? भगवन्!

को, जहाति—छोडता है, अथ सा शुष्यति—तो वह सूख जाती है, सर्वम्—सारे (वृक्ष) को, जहाति—छोड देता है (तो), सर्वं शुष्यति—सारा (वृक्ष) सूख जाता है, एवम् एव—इस प्रकार ही, खलु—निश्चयपूर्वक, सोम्य—हे सुशील पुत्र, विद्धि—(जीवन-मरण के रहस्य को) जान, इति ह उवाच—यह (पिता ने) कहा ॥२॥

जीवापेत वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति। स य एषो
ऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति।
भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

जीव+अपेतम्—जीव ने छोडा हुआ, जीव-शून्य, वा व किल—निश्चय ही इदम्—यह (शरीर), म्रियते—मर जाता है, न—नही, जीव—जीव (आत्मा), म्रियते—मरता है, इति—यह (पिता ने बताया), स य एष—इति ह उवाच—अर्थ पूर्ववत् ॥३॥

न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति। भिन्धीति। भिन्नं भगव इति।
किमत्र पश्यसीत्यण्व्य इवेमा धाना भगव इत्यासामङ्गैकां भिन्धीति।
भिन्ना भगव इति। किमत्र पश्यसीति। न किंचन भगव इति ॥१॥

न्यग्रोध-फलम्—बड का फल, अत—यहा (वाटिका) से, आहर—ला, इति—यह (आज्ञा दी), इदम्—यह (फल) है, भगव—हे भगवन्,

इसमें वहुत से छोटे-छोटे दाने हैं। प्यारे, इन दानों में से एक को तोड़ो। पिताजी, तोड़ दिया। इसमें क्या देखते हो? पिताजी, इसमें तो कुछ भी नहीं दीखता ॥१॥

पिता ने कहा, हे सोम्य! जिसे तू 'कुछ नहीं' कह रहा है जिस अणु-रूप को तू नहीं देख पा रहा, हे सोम्य! इस अणु-रूप में से ही यह महान् वट-वृक्ष खड़ा हो जाता है। इस बात पर श्रद्धा कर ॥२॥

वह जो 'अणिमा' है, सूक्ष्म-तत्त्व है, यह सब स्थूल-जगत्—उसी का शरीर है, वही सत्य है, वह 'सत्' ही आत्मा है; हे श्वेत-

---

इति—यह (श्वेतकेतु ने कहा), भिन्धि—(इसे) तोड़, इति—ऐसे (आज्ञा दी), भिन्नम्—(इसे) तोड़ दिया, भगव—हे भगवन्!, इति—यह (कहा), किम्—क्या, अत्र—यहां, इसमें, पश्यसि—देखता है, इति—यह (पिता ने पूछा), अण्व्य इव—बहुत छोटे-छोटे से, इमा—ये, धाना—दाने के-से बीज, दाने, भगवन्—हे भगवन्!, इति—ऐसे (कहा), आसाम्—इनमें से, अङ्ग—हे प्रिय!, एकाम्—एक (दाने) को, भिन्धि—तोड़, इति—यह (पिता ने आज्ञा दी), भिन्ना—तोड़ दी, भगव—हे भगवन्, इति—यह (कहा) किम् अत्र पश्यसि—इसमें क्या देख रहा है, इति—यह (पूछा), न किंचन भगव—हे भगवन् कुछ भी तो नहीं (देख रहा हूं), इति—यह (श्वेतकेतु ने उत्तर दिया) ॥१॥

तँ होवाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान् न्यग्रोधस्तिष्ठति। श्रद्धत्स्व सोम्येति ॥२॥

तम् ह उवाच—उस (श्वेतकेतु) को (पिता ने) कहा, यम् वै—जिस ही, सोम्य—हे प्रिय, एतम्—इस, अणिमानम्—सूक्ष्मता को, सूक्ष्म वस्तु को, न—नहीं, निभालयसे—देख पा रहा है ढूंढ पा रहा है, एतस्य वै—इस ही, सोम्य—हे सोम्य!, एष—यह, अणिम्न—सूक्ष्म वस्तु का (से), एवम्—इस प्रकार का, महान्—बड़ा, न्यग्रोध—बड़ का वृक्ष, तिष्ठति—(तेरे सामने) खड़ा है (ऐसे ही अणिमा (सत्) से यह विशाल-जगत् बन कर दिखाई दे रहा है), श्रद्धत्स्व—विश्वास कर, श्रद्धा रख, सच मान, सोम्य—प्रिय पुत्र, इति—यह (कहा) ॥२॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

स य एष ... ह उवाच—अर्थ पूर्ववत् ॥३॥

केतु ! 'तत्त्वमसि'—तू, अर्थात् तेरा आत्मा 'तत्त्व' है, अर्थात् 'सत्' है, तेरा शरीर 'तत्त्व-वस्तु' नही । अथवा, 'तत्त्वमसि'—'तू वह है' —तू भी उसकी तरह 'सत्' है, 'असत्' नही । श्वेतकेतु ने कहा, भगवन् ! इस रहस्य को मुझे फिर समझाइये । पिता ने कहा, तथास्तु ॥३॥

षष्ठ प्रपाठक—(तेरहवां खंड)

पिता ने कहा, यह लवण पानी में डाल कर प्रात काल मेरे पास आना । श्वेतकेतु ने वैसा ही किया । पिता ने अगले दिन कहा, प्यारे ! रात्रि को जो लवण पानी में रखा था, उसे ले आ । श्वेतकेतु पानी में रखे लवण को खोजने लगा, पर वह कही न मिला ॥१॥

पिता ने कहा, प्यारे ! लवण पानी में लीन हो गया है । इसे ऊपर से आचमन कर, कैसा है ? लवण है । मध्य से आचमन कर, कैसा है ? लवण है । नीचे से आचमन कर, कैसा है ? लवण है ।

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति । स ह तथा चकार । तं होवाच यद्दोषा लवणमुदकेऽवाधा अङ्ग तदाहरेति । तद्धावमृश्य न विवेद ॥१॥

लवणम्—नमक को, एतद्—इस, उदके—पानी मे, अवधाय—डालकर, अथ—और, मा—मुझे (मेरे पास), प्रात—प्रात काल मे, उपसीदथा—उपस्थित हो, इति—यह (कहा), स ह—और उसने, तथा—वैसे ही, चकार—किया, तम् ह उवाच—उसको (पिता ने) कहा, यद्—जिस, दोषा—रात्रि मे, लवणम्—नमक को, उदके—जल मे, अव+आधा—डाला था, अङ्ग—हे प्रिय, तद्—उसको, आहर—ले आ, तद्—उस (जल को), ह—ही, अवमृश्य—भली प्रकार देख-भाल कर भी, न—नहीं, विवेद—(नमक को) जाना, पाया ॥१॥

यथा विलीनमेवाङ्गास्यान्तादाचामेति । कथमिति । लवणमिति । मध्यादाचामेति । कथमिति । लवणमित्यन्तादाचामेति । कथमिति । लवणमित्यभिप्रास्यैनदथ मोपसीदथा इति । तद्ध तथा चकार । तच्छश्वत्संवर्तते । तं होवाचात्र वाव किल तत्सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति ॥२॥

यथा—जैसे, विलीनम्—घुल गया है, एव—ही, अङ्ग—हे प्रिय, अस्य—इस (नमक-घुले पानी) के, अन्ताद्—अन्त (निचले भाग) से, आचाम इति—आचमन कर, कथम् इति—(यह) कैसा है, लवणम् इति—नमक वाला है, मध्यात्—(पानी के) बीच से, आचाम इति—आचमन कर (पी),

फिर पिता ने कहा, इसे चखकर मेरे पास आ। श्वेतकेतु ने वैसा ही किया और पिता से आकर कहा, लवण तो वैसे-का-वैसा ही है, नष्ट नही हुआ। पिता ने कहा, हे सोम्य! वह 'सत्' जिससे सृष्टि बनी है, वह भी यहीं है, वह दीख नहीं रहा, परन्तु निश्चय से वह है यहीं ॥२॥

वह जो 'अणिमा' है, सूक्ष्म-तत्त्व है, यह सब स्थूल-जगत्—उसी का शरीर है, वही सत्य है; वह 'सत्' ही आत्मा है; हे श्वेत-केतु, 'तत्त्वमसि'—तू, अर्थात् तेरा आत्मा 'तत्त्व' है, 'सत्' है, तेरा शरीर 'तत्त्व-वस्तु' नहीं। अथवा, 'तत्त्वमसि'—'तू वह है'—तू भी उसकी तरह 'सत्' है, 'असत्' नहीं है। श्वेतकेतु ने कहा, भगवन्! इस रहस्य को मुझे फिर समझाइये। पिता ने कहा, तथास्तु ॥३॥

षष्ठ प्रपाठक—(चौदहवां खंड)

हे सोम्य! जैसे कोई गंधार देश के किसी व्यक्ति को आखें बांध कर निर्जन स्थान में लाकर छोड़ दे, वह जैसे सब दिशाओं को

कथम् इति—(यह) कैसा है?, लवणम् इति—नमक-मिला है, अन्तात्—(उपरले) अन्त (भाग) से, आचाम इति—पी, कथम् इति—यह कैसा है, लवणम् इति—(यह भी) नमक वाला है, अभिप्राश्य—सब ओर से खाकर-चखकर, (पाठान्तर—अभिप्रास्य—छोड कर, वहा ही रख कर), एतद्—इस (पानी) को, अथ मा उपसीदथा इति—बाद में मेरे पास उपस्थित हो, तद् ह—इस (कार्य) को, तथा—वैसे, चकार—किया (छोड कर या खाकर पास आ गया), तद्—वह (लवण), शश्वत्—नित्य, लगातार, सवर्तते—(जल मे) विद्यमान है, तम् ह उवाच—उसको कहा, अत्र वा व किल—इस (दृश्य जड-जगत्) मे निश्चय ही, सद्—(सूक्ष्म-अणु) सद्-ब्रह्म को, सोम्य—हे सुशील!, न निभालयसे—तू नही देख पा रहा है, अत्र एव किल इति—यहा (इस जगत् मे) ही निश्चय से (वह सूक्ष्म अणु सद्-ब्रह्म) है ॥२॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

स य एष ... ह उवाच—अर्थ पूर्ववत् ॥३॥

यथा सोम्य पुरुष गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ्वोदङ्वाऽधराङ्वा प्रत्यङ्वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्ट ॥१॥

शोर मचा कर गुंजा देता है, और चिल्लाता है कि आंखें बांध कर मुझे पकड़ लाये, आखें बांधे ही छोड़ दिया ॥१॥

जैसे कोई उसके बन्धन को खोल कर उसे कहे, अमुक दिशा में गंधार देश है, उधर चला जा, वह बुद्धिमान् गाव-गाव पूछता हुआ गधार देश को पहुंच जाता है, ठीक इसी तरह, आचार्य को, गुरु को पाकर यह भटकता हुआ पुरुष अपने 'सत्' रूप को पाने के लिये चल देता है। इस संसार में बंधे रहने की अवधि तो उतनी ही है जितनी देर तक कोई रास्ते पर डालने वाला गुरु आंखो पर बंधी पट्टी खोल नही देता। उसके बाद तो 'सत्' की प्राप्ति हो ही जाती है ॥२॥

यथा—जैसे, **सोम्य**—हे पुत्र!, **पुरुषम्**—(किसी) पुरुष को, **गन्धारेभ्य**—गन्धार देश से, **अभिनद्ध+अक्षम्**—(कपड़े से) बंधी आंख वाले, **आनीय**—लाकर, **तम्**—उसको, **तत**—तदनन्तर, **अतिजने**—निर्जन स्थान में, **विसृजेत्**—छोड़ दिया जाय, **स**—वह, **यथा**—जैसे, **तत्र**—वहा, उस (वन) मे, **प्राङ् वा**—या तो पूर्व की ओर, **उदङ् वा**—या उत्तर की ओर, **अधराङ् वा**—या दक्षिण की ओर, **प्रत्यङ् वा**—या पश्चिम की ओर (चलता है, मार्ग न पाने से), **प्रध्मायीत**—जोर-जोर से चिल्लावे, रोवे, **अभिनद्धाक्ष**—बंधी आख वाला, **आनीत**—लाया गया था, **अभिनद्धाक्ष**—बंधी आख वाला, **विसृष्ट**—(वन मे) छोड़ दिया गया ॥१॥

तस्य यथाभिनहन प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति। स ग्रामाद् ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसपद्येतैवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद। तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सपत्स्य इति ॥२॥

तस्य—उसके, **यथा**—जैसे, ज्यो ही, **अभिनहनम्**—(आख के) बन्धन (पट्टी) को, **प्रमुच्य**—छोड कर, अलग कर, **प्रब्रूयात्**—कहा जाय, **एताम् दिशम्**—इस दिशा की ओर, **गन्धारा**—गन्धार देश है, **एताम् दिशम्**—इस ओर, **व्रज**—चला जा, **इति**—ऐसे (कहे), **स**—वह, **ग्रामात्**—(एक) गाव से, **ग्रामम्**—(दूसरे) गाव को, **पृच्छन्**—पूछता हुआ, **पण्डित**—सुशिक्षित, **मेधावी**—बुद्धिमान्, **गन्धारान्**—गन्धार देश, **एव**—ही, **उपसपद्येत**—पहुच जाय, **एवम् एव**—इस प्रकार ही, **इह**—इस विषय मे सद् के रहस्य को, **आचार्यवान्**—श्रेष्ठ आचार्य का शिष्य, **पुरुष**—पुरुष (आत्मा), **वेद**—जान लेता है, **तस्य**—उस (ब्रह्मज्ञ) का, **तावत् एव**— तब तक ही, **चिरम्**—(मोक्ष में) देर है, **यावत्**—जबतक, **न**—नही, **विमोक्ष्ये**—(अज्ञान को)

वह 'सत्' ही 'अणिमा' है, सूक्ष्म-तत्त्व है; यह सब स्थूल-जगत् उसी का शरीर है, वही सत्य है; वह 'सत्' ही आत्मा है; हे श्वेत-केतु, 'तत्त्वमसि'—तू, अर्थात् तेरा आत्मा 'तत्त्व' है, 'सत्' है, अर्थात् तेरा शरीर 'तत्त्व-वस्तु' नही। अथवा, 'तत्त्वमसि'—'तू वह है'—तू भी उसकी तरह 'सत्' है, 'असत्' नहीं है। श्वेतकेतु ने कहा, भगवन्! इस रहस्य को मुझे फिर समझाइये। पिता ने कहा, तथास्तु ॥३॥

षष्ठ प्रपाठक—(पन्द्रहवां खंड)

हे सोम्य! रोगी पुरुष को चारों तरफ से उसके बन्धु-बान्धव घेर लेते हैं और पूछते हैं, मुझे पहचानते हो, मुझे पहचानते हो? जब तक उसकी वाणी मन में, मन प्राण में, प्राण तेज में, और तेज परम-देवता में लीन नहीं हो जाता तब तक वह पहचानता जाता है ॥१॥

छोड़ेगा या (शरीर को) छोड़ेगा, अथ—इसके बाद, सपत्स्ये—(उस सद्-ब्रह्म को) लीन हो जायगा, पा लेगा (मुक्त हो जायगा) ॥२॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

स य एष . . ह उवाच—अर्थ पूर्ववत् ॥३॥

पुरुषँ सोम्योपतापिनं ज्ञातयः पर्युपासते जानासि मां जानासि मामिति। तस्य यावन्न वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां तावज्जानाति ॥१॥

पुरुषम्—मनुष्य को, सोम्य—हे प्रिय पुत्र!, उपतापिनम्—रोग-ग्रस्त (ज्वर-ग्रस्त) को, ज्ञातय—सम्बन्धी (कुटुम्बी) जन, पर्युपासते—चारों ओर घेर कर बैठते हैं (और पूछते हैं), जानासि—(क्या तू) जानता है, पहचानता है, माम्—मुझको, जानासि माम्—मुझको पहचानता है, इति—ऐसे, तस्य—उस (रोगी) की, यावत्—जबतक, न—नहीं, वाक्—वाणी, मनसि—मन में, सपद्यते—लीन होती है, मन—मन, प्राणे—प्राण में, प्राण—प्राण, तेजसि—तेज में, तेज—तेज, परस्याम् देवतायाम्—परम-देवता (सद्-ब्रह्म) में, तावत्—तबतक, जानाति—(सब को) जानता-पहचानता है ॥१॥

जब उसकी वाणी मन में, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज उस परम-देवता में लीन हो जाता है, तब वह किसी को नही पहचानता ॥२॥

यह परम-देवता जिसमें वह लीन हो जाता है—यही 'अणिमा' है, 'सूक्ष्म-तत्त्व' है; यह सब स्थूल-जगत् उसी का शरीर है, वही सत्य है; वह 'सत्' ही आत्मा है, हे श्वेतकेतु, 'तत्त्वमसि'। श्वेत-केतु ने कहा, भगवन्! इस रहस्य को मुझे फिर समझाइये। पिता ने कहा—तथास्तु ॥३॥

षष्ठ प्रपाठक—(सोलहवां खंड)

हे सोम्य! किसी पुरुष को पकड कर लाया गया और उस पर यह दोष लगा कर कि इसने चोरी की है, उसके लिये परशु गरम किया गया। अगर उसने वास्तव में चोरी की है, तो तपे हुए परशु की बात सुनकर ही उसका चेहरा झूठ प्रकट कर देता है। झूठ से

अथ यदास्य वाङ्‌ मनसि सपद्यते मन प्राणे
प्राणस्तेजसि तेज परस्या देवतायामथ न जानाति ॥२॥

अथ—और, यदा—जब, अस्य—इस रोगी की, वाग् मनसि सपद्यते—वाणी मन मे लीन हो जाती है, मन प्राणे—मन प्राण मे, प्राण' तेजसि—प्राण तेज मे, तेज परस्याम् देवतायाम्—तेज परम-देवता (सद्-ब्रह्म) मे, अथ—तो, न जानाति—नही जानता-पहचानता ॥२॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

स य एष ह उवाच—अर्थ पूर्ववत् ॥३॥

पुरुषꣳ सोम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्यपाहार्षीत्स्तेयमकार्षीत्परशुमस्मै तप-तेति। स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवानृतमात्मान कुरुते। सोऽनृता-भिसन्धोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय परशु तप्त प्रतिगृह्णाति स दह्यतेऽथ हन्यते ॥१॥

पुरुषम्—(किसी) मनुष्य को, सोम्य—हे प्रिय, उत—और, या, हस्तगृहीतम्—हाथ से पकडे हुए को, आनयन्ति—(न्याय के लिए) लाते है, अपाहार्षीत्—(इसने) अपहरण (विना पूछे चीज उठाना) किया है, स्तेयम्—चोरी, अकार्षीत्—की हे, परशुम्—फरसा (से), अस्मै—इसके लिये (को), तपत—दाग दो, इति—यह (निवेदन किया), स—वह (अपराधी), यदि—अगर, तस्य—उस (चोरी) का, कर्त्ता—करनेवाला, भवति—होता है,

अपने को ढककर, झूठ का सहारा लेकर, वह तपे हुए परशु को पकड़ लेता है, और जल जाता है, मारा जाता है ॥१॥

अगर उसने चोरी नहीं की होती, तो उसके चेहरे से ही सत्य टपक पड़ता है। सत्य से अपने को ढक कर, सत्य का सहारा लेकर, वह तपे हुए परशु को पकड़ लेता है, वह जलता नहीं, छूट जाता है ॥२॥

जैसे सत्य का सहारा लेने वाला जलता नहीं, वैसे उस 'सत्' का सहारा लेने वाला, 'सत्' से अपने को ढक लेने वाला संसार के ताप से परितप्त नहीं होता। यह संसार उसी का आत्म-रूप है, वह सत्य है, वह 'सत्' ही आत्मा है, हे श्वेतकेतु, 'तत्त्वमसि'।

तत—उससे, तब से, एव—ही, अनृतम्—झूठ को, आत्मानम्—अपना, आवरण, कुरुते—करना है, आत्मानम् कुरुते—अपना लेता है, (झूठ को) आवरण (सहारा) बना लेता है, स—वह, अनृताभिसन्ध—असत्य का सहारा लेने वाला, अनृतेन—झूठ से, आत्मानम्—अपने आप को, अन्तर्धाय—छिपा कर, ढक कर, परशुम्—फरसे को, तप्तम्—तपे हुए, लाल हुए, प्रतिगृह्णाति—पकड़ लेता है, स—वह, दह्यते—जल जाता है, अथ—और, हन्यते—मारा जाता है ॥१॥

अथ यदि तस्याकर्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते। स सत्याभिसन्धः
सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स न दह्यतेऽथ मुच्यते ॥२॥

अथ यदि—और अगर, तस्य अकर्ता—उस (चोरी) का न करनेवाला, भवति—होता है, ततः एव—उस (कारण) से ही, तब से ही, सत्यम्—सत्य को (सद्-ब्रह्म को), आत्मानम् कुरुते—अपना लेता है, स—वह, सत्याभिसन्ध—सत्याश्रयी, सत्येन—सत्य से, आत्मानम्—अपने आप को, अन्तर्धाय—छिपा कर, ढक कर, परशुम् तप्तम्—तपे (लाल) परशु को, प्रतिगृह्णाति—पकड़ लेता है, स न दह्यते—वह नहीं जलता, अथ—और, मुच्यते—छुटकारा पा लेता है ॥२॥

स यथा तत्र नादाह्येतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा
तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति ॥३॥

स—वह, उसको, यथा—जैसे, तत्र—वहां (न्यायालय में परशु ने), न—नहीं, अदाहि—जलाया, ऐतदात्म्यम् इदम् सर्वम्—वह अणिमा (सद् ब्रह्म) ही इस सब का आत्मा (सब में व्यापक) है, तत् सत्यम्—वह सूक्ष्म (सद्-ब्रह्म) ही सत्य है, स—वह ही, आत्मा—परम-आत्मा है, तत्—वह (ऐतदात्म्य—उस आत्मा

यह सुन कर श्वेतकेतु अपने पिता के उपदेश को समझ गया, समझ गया ॥३॥

('तत्त्वमसि' वाक्य पर द्वैत-अद्वैत-सम्बन्धी वहुत विवाद रहता है। 'तत्त्वमसि' का एक अर्थ तो 'तत्'-'त्वम्'-'असि'––'तू वह है'–– 'वह', अर्थात् 'ब्रह्म'––यह किया जाता है, इसका दूसरा अर्थ 'तत्त्वम्'-'असि'––'तू तत्त्व है'––'तत्त्व', अर्थात् 'सत्' है––'सार है' यह भी होता है। इस उपनिपद् मे यह दर्शाया जा रहा है कि जैसे नमक के पानी मे घुल जाने पर भी नमक नष्ट नही होता, 'सत्' रहता है, जैसे वट-वृक्ष के वीज मे पेड के न दीखने पर भी उसी मे वृक्ष 'सत्'-रूप मे मौजूद है, इसी प्रकार हे श्वेतकेतु! ससार मे परमात्मा के और शरीर मे जीवात्मा के न दीखने पर भी ब्रह्माड मे वह 'सत्' है, और उस 'सत्' की तरह, पिड मे तू––अर्थात् आत्मा––'सत्' है। पिड तथा ब्रह्माड का 'तत्त्व' यह पिड तथा ब्रह्माड नही, परन्तु इनमे वर्तमान 'सत्' है, जिससे ये अनुप्राणित हो रहे है। उपनिपदो का प्रतिपाद्य विपय द्वैत-अद्वैत के झमेले मे पडना नही, उपनिपदो का उद्देश्य शरीर मे से खीच कर मनुष्य को आत्मा की तरफ ले जाना, और प्रकृति मे से खीच कर ब्रह्म की तरफ ले जाना है। उनका कथन है कि हम शरीर मे रमे रहते है––यह ठीक नही है, हम प्रकृति मे रमे रहते है––यह भी ठीक नही है। पिड मे यथार्थ-सत्ता शरीर की नही, 'आत्मा' की है, ब्रह्माड मे यथार्थ-सत्ता प्रकृति की नही, 'ब्रह्म' की है। पिड मे 'आत्मा' को लक्ष्य वनाओ, ब्रह्माड मे 'ब्रह्म' को लक्ष्य वनाओ––वास्तविक 'तत्त्व' यही है, वास्तविक 'सत्' यही है।)

इस प्रकरण मे यह भी कहा है कि मृत्यु के समय वाणी मन मे, मन प्राण मे, प्राण तेज मे और तेज उस परम देवता मे

से युक्त) ही, **त्वम् असि**––तू (जीवात्मा) हे, **श्वेतकेतो**––हे श्वेतकेतु, **इति**––ऐसे (उपदेश दिया), **तद्**––उस (आदेश-रहस्य) को, **ह**––निश्चयपूर्वक, **अस्य**––इस (पिता) के, **विजज्ञौ**––(श्वेतकेतु) ने जान लिया, **इति**––ऐसे, **विजज्ञौ इति**––ऐसे जान लिया (द्विरुक्ति आदरार्थ, और अध्याय-समाप्ति सूचक है) ॥३॥

लीन हो जाता है। इसका क्या अर्थ है ? जब तक मनुष्य जीवित रहता है तब तक उसकी वाणी काम करती रहती है। मृत्यु के समय पहले वाणी बन्द हो जाती है, परन्तु मन में वह विचार करता रहता है, मन भी जब काम करना बन्द कर देता है तब भी प्राण चलता रहता है, जब प्राण भी चलता प्रतीत नहीं होता और शरीर में गर्मी रहती है तब तक उसे हम मरा नहीं समझते। जब तेज--गर्मी--भी चली जाती है तब हम कहते हैं कि यह परम धाम में--मृत्यु में--चला गया। इसी प्रक्रिया का वर्णन करने के लिये वाणी, मन, प्राण, तेज, परम-धाम का क्रम दिया है।)

सप्तम प्रपाठक--(पहला खंड)

(नारद और सनत्कुमार, १ से २६ खड)

(षष्ठ प्रपाठक मे 'सत्' को अन्तिम सत्ता कहा गया है। इस प्रपाठक मे उसी 'सत्' को 'भूमा' कहा गया है, परन्तु उस तक पहुचने के लिये सब अवान्तर सीढियो का इसमे उल्लेख है।)

कहते है कि एक बार सनत्कुमार, अर्थात् सदा कुमार-रूप रहने वाले ऋषि के पास नारद मुनि पहुचे और उनसे कहा, भगवन्! मुझे ज्ञान दीजिये। ऋषि ने कहा, जो-कुछ तुम पहले जानते हो वह बतलाओ, तब मै उससे आगे तुम्हें शिक्षा दूगा ॥१॥

ॐ। अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमार नारदस्तँ होवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति स होवाच ॥१॥

ओम्—सर्वरक्षक आदि गुरु भगवान् का स्मरण कर, **अधीहि**—शिक्षा दीजिये, **भगव**—हे भगवन्, **इति ह**—यह (कह कर), **उपससाद**—पास आया, उपस्थित हुआ, **सनत्कुमारम्**—सनत्कुमार (देवर्षि) को, **नारद**—नारद मुनि, **तम् ह उवाच**—उसको (सनत्कुमार ने) कहा, **यद्**—जो (कुछ), **वेत्थ**—जान लिया (चुका) है, **तेन**—उससे, **मा**—मुझ को, **उपसीद**—पास आ, (तेन मा उपसीद—वह पहिले मुझे बता), **तत**—उससे, उसके बाद, **ते**—तुझे, **ऊर्ध्वम्**—ऊपर, आगे, **वक्ष्यामि**—उपदेश करूगा, **इति**—यह (कहा) ॥१॥

नारद ने कहा, भगवन् ! मैंने ऋग्वेद पढा है, और यजुर्वेद, सामवेद, चौथा आथर्वण, पाचवा इतिहास-पुराण, वेदो के वेद (अर्थात्, जिससे वेद स्पष्ट हो जाते है), पित्र्य (शुश्रूषा-विज्ञान), राशि (गणित), दैव-विद्या (उत्पात-विज्ञान), निधि-शास्त्र (अर्थ-शास्त्र), वाकोवाक्य (तर्क-शास्त्र या कानून), एकायन (नीति-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र), देव-विद्या (निरुक्त), ब्रह्म-विद्या (ब्रह्म का ज्ञान), भूत-विद्या (भौतिकी, रसायन तथा प्राणि-शास्त्र), क्षत्र-विद्या (धनुर्विद्या), नक्षत्र-विद्या (ज्यौतिष), सर्प-विद्या (विष-ज्ञान), देव-जन-विद्या (ललित-कला)—इनको भी पढा है ॥२॥

भगवन् ! यह सब-कुछ पढकर मै 'मन्त्रवित्' हुआ हू, 'आत्म-वित्' नही हुआ—मुझे शब्द-ज्ञान तो हो गया है, आत्म-ज्ञान नही

ऋग्वेद भगवोऽध्येमि यजुर्वेदँ सामवेदमाथर्वण चतुर्थ-
मितिहासपुराण पञ्चम वेदाना वेद पित्र्यँ राशि दैव
निधि वाकोवाक्यमेकायन देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या
क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्याँ सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि ॥२॥

स ह उवाच—उस (नारद) ने कहा, ऋग्वेदम्—ऋग्वेद को, भगव—हे भगवन्, अध्येमि—पढता हू, पढ चुका हू, यजुर्वेदम्—यजुर्वेद को, सामवेदम्—सामवेद को, आथर्वणम्—अथर्ववेद को, चतुर्थम्—चौथे, इतिहास-पुराणम्—इतिहास-पुराण को, पञ्चमम्—पाचवें, वेदानाम्—वेदो के, वेदम्—वेद (ज्ञान कराने वाले, ज्ञापक) को, (वेदानाम् वेदम्—वेदो के ज्ञान-साधन व्याकरण आदि वेदागो को), पित्र्यम्—पितृ-कर्म (पितृ-शुश्रूषा शास्त्र या गृह-विज्ञान) को, राशिम्—गणित-शास्त्र को, दैवम्—(दैविक) उत्पात-विज्ञान को, निधिम्—अर्थशास्त्र को, वाकोवाक्यम्—तर्कशास्त्र या विधान-(कानून) विज्ञान को, एकायनम्—नीति-शास्त्र (धर्म-शास्त्र) को, देव-विद्याम्—निरुक्त-शास्त्र को, ब्रह्म-विद्याम्—ब्रह्म-विद्या (तत्सम्बन्धी शास्त्रीय चर्चा) को, भूत-विद्याम्—प्राणि-शास्त्र, या भौतिकी-शास्त्र को, क्षत्र-विद्याम्—धनुर्वेद (सैनिक-प्रशिक्षण) को, नक्षत्र-विद्याम्—ज्योतिश्शास्त्र को, सर्प-देवजन विद्याम्—सर्प-विद्या (सर्प-चिकित्सा) और देवजन-विद्या (ललित-कला) को, एतद्—इस (सब) को, भगव—हे भगवन्, अध्येमि—शिक्षा पा रहा हू (पा चुका हू) ॥२॥

सोऽह भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतँ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य-
स्तरति शोकमात्मविदिति । सोऽह भगव शोचामि त मा भगवाञ्छोकस्य
पार तारयत्विति । तँ होवाच यद्वै किंचैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत् ॥३॥

हुआ। हे भगवन्! मैंने आप-सरीखे महात्माओं से सुना है—'तरति शोकम् आत्मवित्', जो आत्मा को जान जाता है वह दुःख-सागर को तर जाता है। भगवन्! मैं शोक-सागर में डूबा जा रहा हूं, आप मुझे इससे पार उतारिये। यह सुनकर सनत्कुमार ने नारद से कहा, तूने अब तक जो सीखा है, वह नाम-मात्र है ॥३॥

ये ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, आर्थवण आदि जो-कुछ तुमने पढ़ा है, ये 'नाम'-ज्ञान है। आत्मवित् बनने के लिये नाम-ज्ञान तो सीढ़ी का पहला पाया है। तू नाम की उपासना कर—नाम से, अर्थात् शब्द-ज्ञान से शुरू कर, परन्तु यहीं तक रुक मत जा ॥४॥

स अहम्—वह मैं, भगवः—हे भगवन्, मन्त्रविद्—(मूल पाठमात्र) मन्त्रों का ज्ञाता, एव—ही, अस्मि—हूं, न—नहीं, आत्मविद्—जीवात्मा (अपने स्वरूप) और परमात्मा (ब्रह्म) का साक्षात्कर्ता, श्रुतम्—सुना है (जाना है), हि—ही, क्योंकि, एव—ही, मे—मेरा (मैंने), भगवद्दृशेभ्य—आप जैसे माननीयों से, तरति—पार कर जाता है, शोकम्—दुःख-सागर को, आत्मविद्—आत्मज्ञानी, ब्रह्मज्ञानी, इति—यह (सुना है), स अहम्—वह मैं, भगवः—हे भगवन्, शोचामि—शोक-मग्न हूं, तम्—उस, मा—मुझको, भगवान्—माननीय आप, शोकस्य—दुःख-सागर के, पारम्—पार, तारयतु—तार दो, (पारम् तारयतु—पार कर दो), इति—यह (प्रार्थना की), तम् ह उवाच—उस (नारद) को (देवर्षि ने) कहा, यद् वै किंच एतद्—जो भी कुछ यह, अध्यगीष्ठा—तूने अध्ययन किया है, नाम—शब्द-अर्थ का ज्ञानमात्र, एव—ही, एतत्—यह है ॥३॥

> नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहास-
> पुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः पित्र्यो राशिर्दैवो निधिर्वाको-
> वाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या
> नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्या नामैवैतन्नामोपास्स्वेति ॥४॥

नाम वै—शब्द-ज्ञान मात्र ही है, ऋग्वेद . देवजन विद्या—अर्थ पूर्ववत्, नाम+एव+एतत्—यह शब्द-मात्र का ही ज्ञान है, नाम—(इस) शब्दार्थ सम्बन्ध की, उपास्स्व—उपासना कर, ज्ञान प्राप्त कर (यह ही आत्मज्ञान का आधार है), इति—यह (कहा) ॥४॥

जो 'नाम' को ब्रह्म जानकर उसकी उपासना करता है, वह जहा तक नाम की गति है, वही तक निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारद ने पूछा, तो क्या भगवन्! नाम से बढकर भी कुछ है? ऋषि ने



नारद ने सनत्कुमार को कहा—'मैं मन्त्रवित् हू, आत्मवित् नहीं हू'

स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गत तत्रास्य यथाकाम-
चारो भवति यो नाम ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो नाम्नो भूय
इति नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥५॥

स य—वह जो, नाम—शब्दार्थ ज्ञान को, ब्रह्म—बडा, श्रेष्ठ है, इति—यह (समझ कर), उपास्ते—उपासना करता है, यावत्—जितनी, जहातक,

उत्तर दिया, हां, है ! नारद ने कहा, तो भगवन् ! आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ।।५।।

सप्तम प्रपाठक—(दूसरा खंड)

ऋषि ने कहा, 'वाणी' नाम से बडी है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, आथर्वण आदि सभी विद्याओ को, जिन्हें तुमने पढा है, वाणी जतलाती है, परन्तु इनसे अधिक बातो को भी वाणी ही जतलाती है। उदाहरणार्थ, द्यु, पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति, हिंस्र-जन्तु, कीट, पतंग, चींटी—इन सबका ज्ञान भी वाणी द्वारा ही होता है। इनके अतिरिक्त. धर्म-अधर्म, सत्य-अनृत, साधु-असाधु, सहृदय-असहृदय—इन सबका ज्ञान भी वाणी ही देती है। यदि वाणी न होती, तो न धर्म-अधर्म का ज्ञान होता, न

नाम्न—शब्दार्थ ज्ञान की, गतम्—गति (पहुंच) है, तत्र—वहां, उसमे, यथाकामचार—यथेष्ट विचरण करनेवाला, निर्विघ्न प्रवेश वाला, भवति—हो जाता है, य नाम ब्रह्म इति उपास्ते—जो नाम को ब्रह्म (श्रेष्ठ) जानकर उपासना (ज्ञान-सम्पादन) करता है, अस्ति—(क्या) है, भगव—हे भगवन्, नाम्न—नाम से, भूय—अधिक, बढकर, इति—यह (नारद ने पूछा), नाम्न वा व—नाम से भी, भूय—बढकर, अस्ति—है, इति—यह (देवर्षि ने कहा), तत्—उसको, मे—मुझे, भगवान्—आप, ब्रवीतु—कहें, बतावें, इति—यह (नारद ने प्रार्थना की) ।।५।।

वाग्वाव नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेद विज्ञापयति यजुर्वेदं साम-वेदमाथर्वण चतुर्थमितिहासपुराण पञ्चम वेदाना वेद पित्र्यं राशिं दैव निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्या दिव च पृथिवीं च वायु चाकाशं चापश्च तेजश्च देवांश्च मनुष्यांश्च पशूंश्च वयांसि च तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं धर्मं चाधर्मं च सत्य चानृत च साधु चासाधु च हृदयज्ञ चाहृदयज्ञ च । यद्वै वाङ्ना-भविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्य नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति ।।१।।

वाग्—वाणी, वा व—तो, ही, नाम्न—नाम से, भूयसी—बडी, बढकर है, वाग् वै—वाणी ही, ऋग्वेदम्—ऋग्वेद को, विज्ञापयति—प्रगट करती है, ज्ञान कराती है, यजुर्वेदम् सर्पदेवजनविद्याम्—अर्थ पूर्ववत्,

सत्य-असत्य का ज्ञान होता, न अच्छे-बुरे का ज्ञान होता, न हृदयानुकूल-प्रतिकूल का ज्ञान होता। वाणी ही इन सबका ज्ञान कराती है। 'नाम' से बढ़कर 'वाणी' है, 'नाम' का ज्ञान अपने तक रहता है, 'वाणी' द्वारा ज्ञान दूसरे तक पहुंचता है। इसलिये, हे नारद ! 'वाणी' की उपासना कर ॥१॥

परन्तु जो 'वाणी' को ब्रह्म जानकर उसकी उपासना करता है, वह जहा तक वाणी की गति है, वही तक निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारद ने पूछा, तो क्या भगवन् ! वाणी से बढ़कर भी कुछ है ? ऋषि ने उत्तर दिया, हा है ! नारद ने कहा, तो भगवन् ! आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ॥२॥

दिवम् च—और द्युलोक को, **पृथिवीम् च**—ओर पृथिवी को, **वायुम् च**—और वायु को, **आकाशम् च**—और आकाश को, **आप च**—और जलो को, **तेज** **च**—और तेज (अग्नि) को, **देवान् च**—और देवो को, **मनुष्यान् च**—और मनुष्यो को, **पशून् च**—और पशुओ को, **वयासि च**—और पक्षियो को, **तृण-वनस्पतीन्**—घास और वृक्षो को, जडी-बूटियो को, **श्वापदानि**—हिंसक जीवो को, **आकीट-पतङ्ग-पिपीलकम्**—कीडे, पतङ्गे (भुनगे) और चीटियो तक को, **धर्मम् च**—और धर्म को, **अधर्मम् च**—और अधर्म को, **सत्यम् च**—सत्य को, **अनृतम् च**—झूठ, असत्य को, **साधु च असाधु च**—अच्छे (उचित) और बुरे (अनुचित) को, **हृदयज्ञम् च**—हृदय (दिल की बात) को जानने वाले को (कृतज्ञ को), **अहृदयज्ञम् च**—और हृदय को न जानने वाले (अकृतज्ञ) को, **यद् वै**—जो, **वाग्**—वाणी, **न अभविष्यत्**—न होती, **न**—न तो, **धर्म**—धर्म, **न अधर्म**—न ही अधर्म, **व्यज्ञापयिष्यत्**—विदित कराया (बताया) जा सकता, **न सत्यम्** ... **अहृदयज्ञ**—अर्थ पूर्ववत्, **वाग् एव**—वाणी ही, **एतत् सर्वम्**—इस सब को (का), **विज्ञापयति**—ज्ञान कराती है, (अत) **वाचम् उपास्स्व**—वाणी की ही उपासना कर (सदुपयोग कर), **इति**—यह (देवर्षि ने कहा) ॥१॥

स यो वाच ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो गत तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो वाच ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो वाचो भूय इति वाचो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥२॥

स य—वह जो, **वाचम् ब्रह्म इति उपास्ते**—वाणी को ब्रह्म (बडा) जानकर उपासना करता है, **यावद् वाच गतम्**—जहा तक वाणी की पहुच (विस्तार) है, **तत्र अस्य**—उस (क्षेत्र) मे इसका, **यथाकामचार**—अभीष्ट विचरण, अबाध गति, **भवति**—होती है, **य वाचम् ब्रह्म इति उपास्ते**—जो

सप्तम प्रपाठक—(तीसरा खंड)

ऋषि ने कहा, 'मन' (Knowing) वाणी से बड़ा है। जैसे दो आंवले, दो बेर, या दो बहेड़े बन्द मुट्ठी में अनुभव किये जा सकते हैं, ऐसे ही 'नाम' तथा 'वाणी' ये दोनों ही मन में अनुभव किये जाते हैं। यह मनुष्य पहले मन में ही सोचता है कि 'मन्त्र' पढ़ूं या 'कर्म' करूं—जब मन में सोचता है, तब मन्त्र पढ़ने लगता है, कर्म करने लगता है। 'पुत्र'-'पशु' की मन में इच्छा करता है, तो इन्हें पा लेता है, 'इस-लोक' तथा 'उस-लोक' की इच्छा करता है, तो उन्हें पा लेता है। इसलिये मन ही मानो आत्मा है, मन ही मानो लोक है, मन ही मानो ब्रह्म है। 'मन' की प्रेरणा से ही 'वाणी' 'नाम' का—शब्द का—उच्चारण करती है, अतः 'मन', हे नारद! 'नाम' तथा 'वाणी'—इन दोनों से बड़ा है। तू 'मन' की उपासना कर ॥१॥

वाणी को ब्रह्म (अधिक श्रेष्ठ) जान कर उसका सदुपयोग करता है, अस्ति भगव वाचः भूयः—भगवन् क्या वाणी से भी बढ़ कर (कुछ) है, इति—यह (नारद ने पूछा), वाचः—वाणी से, वाव—भी, भूयः अस्ति—बढ़ कर (श्रेष्ठ) है, इति—यह (देवर्षि ने कहा), तत् मे भगवान् ब्रवीतु—उसको मुझे आप बतावें, इति—यह (नारद ने प्रार्थना की) ॥२॥

मनो वाव वाचो भूयो यथा वै द्वे वामलके द्वे वा कोले द्वौ वाक्षौ मुष्टिरनुभवत्येवं वाचं च नाम च मनोऽनुभवति। स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रानधीयीयेत्यथाधीते कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कुरुते पुत्रांश्च पशूंश्चेच्छेयेत्यथेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छेयेत्यथेच्छते मनो ह्यात्मा मनो हि लोको मनो हि ब्रह्म मन उपास्स्वेति ॥१॥

मनः वाव—मन तो, वाचः भूयः—वाणी से बढ़ कर है, यथा वै—जैसे, द्वे—दो, वा—या, आमलके—आंवलों को, द्वे वा—या दो, कोले—बेरों को, द्वौ वा—या दो, अक्षौ—बहेड़ों को मुष्टिः—मुट्ठी, अनुभवति—अनुभव करती है, एवम्—इस ही प्रकार वाचम् च नाम च—वाणी को और नाम को, मनः—मन, अनुभवति—जानता है, सः—वह (मनुष्य), यदा—जब, मनसा—मन से, मनस्यति—मनन (विचार) करता है, मन्त्रान्—मन्त्रों को, अधीयीय—पढ़ूं, इति—ऐसे, अथ—तो, अधीते—पढ़ता है, कर्माणि—कर्मों को, कुर्वीय—करूं, इति—ऐसे (सोचता) है, अथ—तो, कुरुते—कर्म करता है, पुत्रान् च—और पुत्रों को, पशून् च—और पशुओं को, इच्छेय—चाहूं,

परन्तु जो 'मन' को ब्रह्म जानकर उसकी उपासना करता है, वह जहां तक मन की गति है, वही तक निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारद ने पूछा, तो क्या भगवन्! मन से बढकर भी कुछ है? ऋषि ने उत्तर दिया, हां है! नारद ने कहा, तो भगवन्! आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ॥२॥

सप्तम प्रपाठक--(चौथा खंड)

ऋषि ने कहा, 'संकल्प' (Willing) मन से बड़ा है। मनुष्य जब संकल्प करता है, विचार का बीज मन में डालता है, तब मन उस संकल्प का बार-बार मनन करता है, मनन के बाद वह वाणी को प्रेरणा देता है, वाणी प्रेरणा पाकर नाम, अर्थात् शब्द का उच्चारण करती है। 'नाम' सम्पूर्ण कर्म-काड की इकाई है, क्योंकि नाम में मन्त्र समा जाते है, शब्दो के समूह को ही तो मन्त्र कहते है, और मन्त्र में कर्म-काड समा जाता है ॥१॥

इति—ऐसे (सोचता है), अथ—तत्पश्चात्, इच्छते—(उनकी) चाहना करता है, इमम् च—और इम (पृथिवी), लोकम्—लोक को, अमुम् च—और उस (द्युलोक) को, इच्छेय—चाहू, पहुचू, अथ इच्छते—तो ही चाहता है, पहुच जाता है, मन हि—मन ही, आत्मा—सतत गति (ज्ञान) करनेवाला है, मन हि—मन ही, लोक—लोक (आधार, प्रतिष्ठा) है, मन हि—मन ही, ब्रह्म—ब्रह्म (बडा, श्रेष्ठ) है, मन उपास्स्व—मन की उपासना कर (शुभ मनन-चिन्तन कर), इति—यह (बताया) ॥१॥

स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गत तत्रास्य यथा-
कामचारो भवति यो मनो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो मनसो
भूय इति मनसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥२॥

स य उपास्ते—अर्थ पूर्ववत्, अस्ति भगव मनस भूय—हे भगवन्! मनसे भी बडा कुछ है, इति—यह (पूछा), मनस वा व भूय अस्ति—मन से भी बडा (बढ कर) है, इति—यह (देवर्षि ने कहा), तत् मे भगवान् ब्रवीतु इति—उसे मुझे आप बताइये यह (नारद ने प्रार्थना की) ॥२॥

सकल्पो वाव मनसो भूयान्यदा वै सकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीर-
यति। ताम् नाम्नीरयति। नाम्नि मन्त्रा एक भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥१॥

संकल्प—विचार, कर्तव्याकर्तव्य का विवेचन, वा व—ही, मनस भूयान्—मन से बढ कर है, यदा वै—जब, सकल्पयते—विवेचन, विचार

मन से लेकर नाम तक सबका एकमात्र आधार 'सकल्प' है, सकल्प ही इनका आत्मा है, सकल्प में ही ये निवास करते हैं। ब्रह्माड तथा पिंड में सकल्प-ही-सकल्प दिखाई देता है, द्यु तथा पृथिवी में एक ही सकल्प दिखाई दे रहा है, देखो ये दोनो कैसे एक-दूसरे पर आश्रित है, आकाश तथा वायु में एक ही संकल्प काम कर रहा है, पानी और तेज में भी मानो सकल्प चल रहा है, उस सकल्प से मानो वर्षा होती है, वर्षा में जो सकल्प काम कर रहा है, उससे मानो अन्न होता है, अन्न में जो सकल्प चल रहा है उससे मानो प्राण होता है, प्राण के सकल्प से मन्त्र, मन्त्र के सकल्प से कर्म, कर्म के संकल्प से लोक, लोक के सकल्प से सब-कुछ चल रहा है। हे नारद! विश्व में सब जगह सकल्प-ही-सकल्प है, इसलिये तू 'सकल्प' की उपासना कर ॥२॥

करता है, अथ—तत्पश्चात्, मनस्यति—मनन करता है, अथ—तब ही, वाचम्—वाणी को, ईरयति—(बोलने के लिए) प्रेरित करता है, ताम् उ—उस (वाणी) को ही, नाम्नि—नाम (शब्द-सज्ञा) मे, ईरयति—प्रेरित करता है, नाम्नि—नाम मे, मन्त्रा —(कर्म-निर्देशक) वेद-मन्त्र, एकम् भवन्ति—एक हो जाते है, समा जाते है, मन्त्रेषु—वेद-मन्त्रो मे, कर्माणि—कर्म (समा जाते है) ॥१॥

तानि ह वा एतानि सकल्पैकायनानि संकल्पात्मकानि सकल्पे प्रतिष्ठितानि समक्लृपता द्यावापृथिवी समकल्पेता वायुश्चाकाश च समकल्पन्तापश्च तेजश्च। तेषा सक्लृप्त्यै वर्ष सकल्पते वर्षस्य सक्लृप्त्या अन्न सकल्पतेऽन्नस्य संक्लृप्त्यै प्राणा सकल्पन्ते प्राणाना सक्लृप्त्यै मन्त्रा सकल्पन्ते मन्त्राणा सक्लृप्त्यै कर्माणि सकल्पन्ते कर्मणा सक्लृप्त्यै लोक सकल्पते लोकस्य सक्लृप्त्यै सर्व सकल्पते। स एष सकल्प सकल्पमुपास्स्वेति ॥२॥

तानि—वे (नाम मे लेकर मन तक), ह वै—निश्चय ही, एतानि—ये, सकल्प + एकायनानि—सकल्प के एकमात्र आधार वाले है (एकमात्र सकल्प ही इनका आधार या निवास-स्थान है), सकल्पात्मकानि—वस्तुत सकल्परूप ही है, सकल्पे—सकल्प मे ही, प्रतिष्ठितानि—प्रतिष्ठा (स्थिति) वाले, स्थिर है, समक्लृपताम्—सकल्प (सा) किया हुआ है (सकल्प पर आश्रित), द्यावा-पृथिवी—द्युलोक और पृथिवी लोक, समकल्पेताम्—सकल्प वाले (सकल्पाश्रित) है, वायु च आकाशम् च—वायु और आकाश, समकल्पन्त—सकल्पमय

जो संकल्प को ब्रह्म मान कर उसकी उपासना करता है, वह ध्रुव, प्रतिष्ठित तथा संताप-रहित होकर, संकल्प के ध्रुव, प्रतिष्ठित तथा संताप-रहित लोक की मानो सिद्धि प्राप्त कर लेता है, परन्तु संकल्प की जहां तक गति है, वहीं तक वह निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारद ने पूछा, तो क्या भगवन्! संकल्प से बढ कर भी कुछ है? ऋषि ने उत्तर दिया, हां है। नारद ने कहा, तो भगवन्, आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ॥३॥

(संकल्पाश्रित) ही है, आपः च तेजः च—जल और तेज (अग्नि), तेषाम्—उन (सब द्युलोक आदि) की, संक्लृप्त्यै—संकल्प (प्रतिष्ठा-स्थिति) के आश्रय (निमित्त) से, वर्षम्—वर्षा, संकल्पते—समर्थ (सम्पन्न) होती है, वर्षस्य—वर्षा की, संक्लृप्त्यै—समर्थता पर, अन्नम् संकल्पते—अन्न सम्पन्न (समर्थ) होता है, अन्नस्य संक्लृप्त्यै—अन्न के सम्पन्न होने पर, प्राणाः संकल्पन्ते—प्राण सम्पन्न (शक्तिशाली) होते हैं, प्राणानाम्—प्राणों की, संक्लृप्त्यै—सशक्त होने पर, मन्त्राः—मन्त्र, वेदाध्ययन, संकल्पन्ते—सपन्न हो सकता है, मन्त्राणाम्—वेदाध्ययन की, संक्लृप्त्यै—सामर्थ्य होने पर, कर्माणि—कर्तव्य कर्म, संकल्पन्ते—सशक्त होते हैं, कर्मणाम्—कर्मों की, संक्लृप्त्यै—सम्पन्नता होने पर, लोकः—लोक, जनता, संकल्पते—संकल्पमय होती है, लोकस्य—लोक (जनता) के संक्लृप्त्यै—संकल्प (सामर्थ्य, सम्पन्नता) के आधार पर, सर्वम्—सब कुछ, सारा विश्व, संकल्पते—सम्पन्न हो रहा है, चल रहा है, सः एषः—वह ही यह, संकल्पः—विचार, विवेचन, सामर्थ्य (का रूप) है, संकल्पम् उपास्स्व—(हे नारद) तू संकल्प (विचार) की उपासना (सम्यक् प्रयोग) कर, इति—यह (कहा) ॥२॥

स यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते क्लृप्तान्वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति यावत्संकल्पस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः संकल्पाद्भूय इति संकल्पाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥३॥

सः यः संकल्पम् ब्रह्म इति उपास्ते—वह जो संकल्प (विचार, विवेचन) को ब्रह्म (सर्वश्रेष्ठ) जानकर उपासना (उपयोग) करता है, क्लृप्तान्—(अपने कर्मों के कारण पूर्व) निर्धारित या रचित, वै—ही, सः—वह (उपासक, संकल्पकर्ता), लोकान्—लोकों (योनियों-स्थितियों) को, ध्रुवान्—सुनिश्चित, ध्रुवः—स्वयं स्थिर-चित्त, प्रतिष्ठितान्—प्रतिष्ठा-प्राप्त (लोकों को), प्रतिष्ठितः—स्वयं भी स्थिर, अव्यथमानान्—व्यथा (पीडा) से रहित या

सप्तम प्रपाठक—(पांचवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'चित्त' (Feeling) संकल्प से बडा है। जब किसी विषय की 'चेतना' होती है, अनुभूति होती है, तभी संकल्प उठता है। सकल्प के बाद 'मन'-'वाणी'-'नाम'-'मन्त्र'-'कर्म' का चक्कर चल पड़ता है ॥१॥

सकल्प-मन-वाणी आदि सब का एकमात्र आधार चित्त है, अनुभूति है, चित्त ही इनका मानो आत्मा है, चित्त में ही इनका निवास है, इसीलिये भले ही कोई व्यक्ति 'बहुविद्' हो, पडित हो, अगर वह चित्त-रहित हो गया है, तो उसे ऐसे ही मानते हैं जैसे वह हो ही नहीं। यदि वह कुछ जानता था, या जानता है, तो क्या इस प्रकार अचित्त होता ? वह व्यक्ति जो कुछ नहीं जानता, न

पीडा न देनेवाले, अव्ययमान—स्वयं भी पीडा से रहित (स्वस्थ), अभिसिद्धयति—सिद्ध कर लेता है, प्राप्त कर लेता है, यावत् संकल्पस्य—जहांतक, जितना सकल्प का तत्रास्य बवीतु इति—अर्थ पूर्ववत् ॥३॥

चित्त वाव सकल्पाद्भूयो यदा वै चेतयतेऽथ सकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एक भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥१॥

चित्तम्—चेतना (समझदारी), वा व—तो, संकल्पाद्—सकल्प से; भूय—बढकर है, यदा वै—जब ही, चेतयते—चेतता है, होशियार होता है, अथ—तत्पश्चात्, सकल्पयते—सकल्प (दृढ निश्चय) करता है, अथ मनस्यति—तब मनन करता है, अथ—तब, वाचम् ईरयति—वाणी को प्रेरित करता है, ताम् उ—उस (वाणी) को भी, नाम्नि ईरयति—नाम (शब्द) मे प्रेरित करता है, नाम्नि मन्त्रा एकम् भवन्ति—नाम मे मन्त्र एक हो जाते (समा जाते) हैं, मन्त्रेषु कर्माणि—और मन्त्रों मे कर्म (समा जाते है) ॥१॥

तानि ह वा एतानि चित्तैकायनानि चित्तात्मानि चित्ते प्रतिष्ठितानि तस्माद्यद्यपि बहुविदचित्तो भवति नायमस्तीत्येवैनमाहुर्यदयं वेद यद्वा अय विद्वान्नेत्थमचित्त स्यादित्यथ यद्यल्पविच्चित्तवान्भवति तस्मा एवोत शुश्रूषन्ते। चित्तं ह्येवैषामेकायन चित्तमात्मा चित्त प्रतिष्ठा चित्तमुपास्स्वेति ॥२॥

तानि ह वै—निश्चय ही वे (सकल्प से नाम तक) सब, चित्तैकायनानि—चित्त पर आधार (आश्रय) वाले, चित्तात्मानि—चित्त रूप (चेतना-स्वरूप), चित्ते प्रतिष्ठितानि—चित्त में प्रतिष्ठित (स्थिति पानेवाले), तस्माद्—उस

होने के बराबर हैं। इसके विपरीत भले ही कोई व्यक्ति 'अल्पविद्' हो, थोडा जानता हो, अगर वह चित्त-वान् है, तो सब उसकी बात सुनते हैं। चित्त ही इनका एकमात्र आधार है, चित्त ही आत्मा है, चित्त ही प्रतिष्ठा है, हे नारद ! तू 'चित्त' की उपासना कर ॥२॥

जो चित्त को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह ध्रुव, प्रतिष्ठित तथा सताप-रहित होकर चित्त के ध्रुव, प्रतिष्ठित तथा सताप-रहित लोक को मानो सिद्धि प्राप्त कर लेता है, परन्तु चित्त की जहा तक गति है वही तक वह निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारद ने पूछा, तो क्या भगवन् ! चित्त से बढकर भी कुछ है ? ऋषि ने उत्तर दिया, हा है ! नारद ने कहा, तो भगवन् ! आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ॥३॥

कारण से, अतएव, यद्यपि—चाहे, बहुविद्—बहुत जानने वाला भी, अचित्त (यदि) चित्त-(चेतना) शून्य, भवति—होता है (तो), न अयम् अस्ति—नही यह (होश मे) है, इति+एव—इस प्रकार ही, एनम्—इसको, आहु—कहते है, यत्—कि, जो, अयम्—यह, वेद—जानता (होता), यद् वा—अथवा, विद्वान्—जाननेवाला है (तो), न—नही, इत्यम्—इस प्रकार, अचित्त—चित्त-(चेतना) शून्य, स्याद्—होता, इति—ऐसा (कहते है), अथ—और, यदि—अगर, अल्पविद्—थोडा जाननेवाला, चित्तवान्—चित्त (चेतना) वाला, भवति—होता है, तस्मै एव उत—उसकी ही, शुश्रूषन्ते—सुनना चाहते है, सेवा-परिचर्या करते है, चित्तम् हि एव—क्योकि चित्त ही, एषाम्—इन सब (नाम से सकल्प तक) का, एकायनम्—एकमात्र आधार है, चित्तम्—चेतना, आत्मा—स्वरूप है, चित्तम् प्रतिष्ठा—चित्त ही इनका आश्रय है, चित्तम् उपास्स्व (हे नारद) तू चित्त (चेतना) की उपासना कर (आश्रय ले), इति—यह (देवर्षि ने बताया) ॥२॥

स यश्चित्त ब्रह्मेत्युपास्ते चित्तान्वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुव प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिद्धयति । यावच्चित्तस्य गत तत्रास्य यथाकामचारो भवति यश्चित्त ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवश्चित्ताद्भूय इति चित्ताद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥३॥

स य—वह जो, चित्तम् ब्रह्म इति उपास्ते—चित्त ही ब्रह्म (सर्वश्रेष्ठ) है ऐसा जान कर उपासना करता है (चेतन रहता है), चित्तान्—चेतना वाले (चित्त से युक्त), वै स लोकान् ब्रवीतु इति—अर्थ पूर्ववत् जाने ॥३॥

सप्तम प्रपाठक—(छठा खंड)

ऋषि ने कहा 'ध्यान' (Concentration) चित्त से, अनुभूति मे बडा है। अनुभूतिया अनेक होती है, ध्यान एक होता है—एक अनुभूति का होना ध्यान है। यह पृथिवी मानो ध्यान में लीन है, अन्तरिक्ष-द्यौ-जल-पर्वत-देव-मनुष्य—सभी मानो ध्यान-मग्न है। संसार के नर-नारियो में जो महत्ता को प्राप्त करते है, वे ध्यान के थोडे-बहुत अंश से ही महत्त्व प्राप्त करते है। जो लोग 'अल्प' है, तुच्छ है, वे भी ध्यान के सहारे ही कलह करते है, चुगली करते है, एक-दूसरे की निन्दा करते है, जो लोग 'प्रभु' है, महान् है, वे भी ध्यान के थोड़े-बहुत अंश से ही प्रभुता प्राप्त करते है। हे नारद! तू 'ध्यान' की उपासना कर ॥१॥

ध्यान वाव चित्ताद्भूयो ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्ष ध्यायतीव द्यौर्ध्यायन्तीवापो ध्यायन्तीव पर्वता ध्यायन्तीव देव-मनुष्यास्तस्माद्य इह मनुष्याणा महत्ता प्राप्नुवन्ति ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्त्यथ येऽल्पा कलहिन पिशुना उपवादिनस्तेऽथ ये प्रभवो ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्ति ध्यानमुपास्स्वेति ॥१॥

ध्यानम्—चित्त की एकाग्रता, वा व—ही, चित्ताद् भूय—चित्त मे बढकर है, ध्यायति इव—मानो ध्यान कर रही है, पृथिवी—पृथिवी, ध्यायति इव—मानो ध्यान-मग्न है, अन्तरिक्षम्—अन्तरिक्ष, ध्यायति इव द्यौ—मानो द्युलोक ध्यान कर रहा है, ध्यायन्ति इव आप—मानो जल भी ध्यानमग्न है, ध्यायन्ति इव पर्वता—मानो पर्वत भी ध्यान-मग्न है, ध्यायन्ति इव देव-मनुष्या—देव और मनुष्य या देवो के समान (विद्वान्) मनुष्य मानो ध्यानमग्न है (क्योकि पृथिवी आदि सब एक-रस है, इनमे विक्षिप्तता नही है), तस्मात्—अतएव, ये—जो, इह—यहा, इस ससार मे, मनुष्याणाम्—मनुष्यो मे से (कोई), महत्ताम्—बडप्पन को, प्रतिष्ठा को, प्राप्नुवन्ति—प्राप्त करते है, ध्यान+आपाद+अशा—ध्यान-सपत्ति के कुछ अशवाले, कुछ-न-कुछ ध्यान (एकाग्रता) वाले, इव—के समान, एव—ही, ते—वे (महान् मनुष्य), भवन्ति—होते है, अथ—और, ये—जो (तो), अल्पा—तुच्छ, छोटे (होते है), कलहिन—झगडालू, पिशुना—परोक्ष मे निन्दा करनेवाले, उपवादिन—समीप मे (मुह पर, प्रत्यक्ष) निन्दा करनेवाले, ते—वे (होते है), अथ ये—और जो, प्रभव—समर्थ, शासक है, ध्यानापादाशा इव—ध्यान (एकाग्रता)

जो ध्यान को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है वह जहां तक ध्यान की गति है वहीं तक निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारद ने पूछा, तो क्या भगवन् ! ध्यान से बढ़कर भी कुछ है ? ऋषि ने उत्तर दिया, हां है ! नारद ने कहा, तो भगवन् ! आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ॥२॥

सप्तम प्रपाठक—(सातवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'विज्ञान' ध्यान से बड़ा है। अनेकों में एक अनुभूति को ध्यान कहते हैं, परन्तु वह अनुभूति अच्छी या बुरी दोनों प्रकार की हो सकती है। तभी षष्ठ खंड में कहा कि ध्यान से हम 'अल्प', अर्थात् छोटे और 'प्रभु', अर्थात् बड़े दोनों हो सकते हैं। विज्ञान की सहायता से, अल्प (छोटा) होने के स्थान में प्रभु (बड़ा)

के कुछ-न-कुछ अंश वालों के समान, एव—ही, ते—वे (प्रभु), भवन्ति—होते हैं, ध्यानम् उपास्स्व—(हे नारद) तू ध्यान की उपासना कर (चित्त-वृत्तियों को एकाग्र कर), इति—यह (देवर्षि ने उपदेश दिया) ॥१॥

स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्ध्यानस्य गतं तत्रास्य यथाकाम-
चारो भवति यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो ध्यानाद्भूय
इति ध्यानाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥२॥

स यः—वह जो, ध्यानम्—चित्त की एकाग्रता को, ब्रह्म—ब्रह्म (बड़ा, श्रेष्ठ), इति—ऐसा जान कर, उपास्ते—उपासना करता है, यावद् ध्यानस्य . ब्रवीतु इति—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

विज्ञानं वाव ध्यानाद्भूयो विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदं
सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं
पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां
भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं
च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवांश्च मनुष्यांश्च पशूंश्च
वयांसि च तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं धर्मं चाधर्मं
च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं चान्नं च
रसं चेमं च लोकममुं च विज्ञानेनैव विजानाति विज्ञानमुपास्स्वेति ॥१॥

विज्ञानम्—विज्ञान (विशिष्ट-गहराई से ज्ञान), वाव—तो, ध्यानाद् भूयः—ध्यान से बढ़कर है, विज्ञानेन—विज्ञान से, एव—ही, ऋग्वेदम् विजानाति—ऋग्वेद के मर्म को जान लेता है, यजुर्वेदम् अहृदयज्ञम् च—अर्थ पूर्ववत्, अन्नम् च—और अन्न को, रसम् च—रस (स्वाद, आनन्द) को, इमम्

होने के ध्यान को मनुष्य अपना लेता है। विज्ञानद्वारा ही ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेद-आथर्वण आदि, द्यु-पृथिवी-वायु-आकाश आदि, धर्म-अधर्म-सत्य-अनृत आदि का ज्ञान होता है, इसलिये हे नारद ! तू 'विज्ञान' की उपासना कर ॥१॥

जो विज्ञान को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह विज्ञान तथा ज्ञान दोनो लोको की मानो सिद्धि प्राप्त कर लेता है, परन्तु विज्ञान की जहा तक गति है वही तक वह निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारद ने पूछा, तो क्या भगवन् ! विज्ञान से बढकर भी कुछ है ? ऋषि ने उत्तर दिया, हा है ! नारद ने कहा, तो भगवन्, आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ॥२॥

सप्तम प्रपाठक—(आठवा खंड)

ऋषि ने कहा, 'बल' विज्ञान से बडा है। विज्ञान तो मानसिक है, बल शारीरिक-मानसिक-आत्मिक सभी प्रकार का है। एक बल-

---

लोकम्—इस पृथिवी लोक को या इस जन्म को, अमुम् च—और उस द्युलोक को या उस पर-जन्म को, विज्ञानेन एव विजानाति—विज्ञान से ही जानता है, विज्ञानम् उपास्स्व—तू विज्ञान की उपासना कर (विज्ञानी बन), इति—यह (देवर्षि ने उपदेश दिया) ॥१॥

स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो वै स लोकाञ्ज्ञानवतोऽभिसिध्यति यावद्विज्ञानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो विज्ञानाद्भूय इति विज्ञानाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥२॥

स. य. विज्ञानम् ब्रह्म इति उपास्ते—वह जो विज्ञान को ब्रह्म (बडा, श्रेष्ठ) जानकर उपासना (सपादन) करता है, विज्ञानवत—विज्ञान से युक्त, वैज्ञानिक, वै—ही, स—वह (विज्ञानी), लोकान्—लोको को या विद्वान्-जनो को, ज्ञानवत—(और) ज्ञानी (जनो) को, अभिसिध्यति—सिद्ध कर लेता है, वश में कर लेता है, प्रभावित करता है, यावद् विज्ञानस्य ब्रवीतु इति—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

बलं वाव विज्ञानाद्भूयोऽपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते स यदा बली भवत्यथोत्थाता भवत्युत्तिष्ठन्परिचरिता भवति परिचरन्नुपसत्ता भवत्युपसीदन्द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवति ॥१॥

वान् सौ विज्ञानवानों को कपा देता है। विज्ञानवान् जब बलवान् होता है, तब कुछ करने को उठ खड़ा होता है, जब उठ खड़ा होता है, तब किसी गुरु की सेवा में पहुंचता है, गुरु-सेवा से वह गुरु के निकट पहुंच जाता है, उसका प्रिय हो जाता है, फिर उसे गुरु-प्रसाद मिलता है जिससे वह तत्त्व-ज्ञान का 'द्रष्टा', 'श्रोता', 'मन्ता', 'बोद्धा', 'कर्त्ता', और 'विज्ञाता' हो जाता है ॥१॥

बल से ही पृथिवी ठहरी हुई है, बल से आकाश, बल से द्यु-लोक, बल से पर्वत, बल से देव और मनुष्य, बल से पशु-पक्षी-तृण-वनस्पति-श्वापद-कीट-पतंग-पिपीलिका ठहरे हुए हैं। भगवान् के नियम-रूपी बल से सब लोक अपनी मर्यादा में स्थित हैं। हे नारद! तू 'बल' की उपासना कर ॥२॥

बलम्—बल (शारीरिक-मानसिक-आत्मिक), शक्ति, **वा व**—तो, **विज्ञानात्**—विशिष्ट (गहरे) ज्ञान से, **भूय**—बढ़कर है, **अपि ह**—निश्चय से, **शतम्**—सौ, **विज्ञानवताम्**—विज्ञानियों के, (**शतम् विज्ञानवताम्**—सैंकड़ो विज्ञानियों को), **एक**—इकला, **बलवान्**—ताकतवर, **आकम्पयते**—कपा देता है, **स**—वह (मनुष्य), **यदा**—जब, **बली**—बलवान्, **भवति**—होता है, **अथ**—तो, **उत्थाता**—उठनेवाला, उन्नत होनेवाला, प्रगति करनेवाला, **भवति**—होता है, **उत्तिष्ठन्**—उठा (उन्नत) हुआ, **परिचरिता**—परिचर्या (गुरु की सेवा) करनेवाला, **भवति**—होता है, **परिचरन्**—(गुरु की) सेवा करनेवाला, **उपसत्ता**—(शिक्षा के लिए गुरु के) पास बैठनेवाला, उपनीत, विद्या-धिकारी, गुरु का स्नेह-पात्र, **भवति**—हो जाता है, **उपसीदन्**—पास बैठा हुआ, स्नेह-पात्र बना, **द्रष्टा**—ज्ञाता, **भवति**—हो जाता है, **श्रोता**—गुरु-उपदेश या शास्त्र का सुननेवाला, **भवति**—होता है, **मन्ता भवति**—मनन करनेवाला, विचारक होता है, **बोद्धा भवति**—ज्ञानी हो जाता है, **कर्ता भवति**—(ज्ञान पूर्वक) कर्म करनेवाला हो जाता है, **विज्ञाता भवति**—(अन्त में) विज्ञानी हो जाता है ॥१॥

बलेन वै पृथिवी तिष्ठति बलेनान्तरिक्ष बलेन द्यौर्बलेन पर्वता
बलेन देवमनुष्या बलेन पशवश्च वयाँसि च तृणवनस्पतय
श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं बलेन लोकस्तिष्ठति बलमुपास्स्वेति ॥२॥

बलेन वै—बल से ही, **पृथिवी तिष्ठति**—पृथ्वी स्थित है, **बलेन अन्तरिक्षम्**—बल से अन्तरिक्ष, **बलेन द्यौ**—बल से द्युलोक, **बलेन पर्वता**—बल

जो बल को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह बल की जहां तक गति है वहीं तक निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारद ने पूछा, तो क्या भगवन्! बल से बढ़कर भी कुछ है? ऋषि ने उत्तर दिया, हां है! नारद ने कहा, तो भगवन्, आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ॥३॥

सप्तम प्रपाठक—(नौवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'अन्न' बल से बड़ा है। इसीलिए अगर कोई दस रात तक कुछ न खावे, उसके बाद अगर जीता रहे, तो वह 'अद्रष्टा'-'अश्रोता'-'अमन्ता'-'अबोद्धा'-'अकर्ता'-'अविज्ञाता' हो जाता है—उसका मन काम करना छोड़ देता है, पर जब उसे अन्न प्राप्त हो जाता है, तब वह फिर से देखने, सुनने, मानने, जानने, काम करने और समझने वाला बन जाता है। हे नारद! तू 'अन्न' की उपासना कर ॥१॥

से पर्वत, बलेन देव-मनुष्या—बल से देवता और मनुष्य, बलेन—बल से, एतव च उपास्स्व इति—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्बलस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो बलं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो बलाद्भूय इति बलाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥३॥

स य बलम् . ब्रवीतु इति—अर्थ पूर्ववत् ॥३॥

अन्नं वाव बलाद् भूयस्तस्माद्यद्यपि दशरात्रीर्नाश्नीयाद्यद्यु ह जीवेदथवाऽद्रष्टाऽश्रोताऽमन्ताऽबोद्धाऽकर्ताऽविज्ञाता भवत्यथान्नस्याऽऽये द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवत्यन्नमुपास्स्वेति ॥१॥

अन्नम्—अन्न, वा व—तो ही, बलाद् भूय—बल से बढ़कर है, तस्माद्—अतएव, यद्यपि—अगर, दशरात्री—दस रात (दिन) तक, न—नहीं, अश्नीयात्—भोजन करे, यदि उ ह—तब भी अगर, जीवेत्—जीता रहे, अथवा—तो, या, अद्रष्टा—न देख सकनेवाला, अश्रोता—न सुननेवाला, अमन्ता—मनन करने में असमर्थ, अबोद्धा—न जान सकनेवाला, अकर्ता—कर्म करने में अशक्त, अविज्ञाता—अविज्ञानी, भवति—हो जाता है (अन्न के अभाव में सब इन्द्रियां क्षीण-दुर्बल हो जाती हैं), अथ—इसके बाद, अन्नस्य—अन्न के, आये—प्राप्त होने पर (भोजन कर लेने पर), द्रष्टा भवति उपास्स्व इति—अर्थ पूर्ववत् ॥१॥

जो अन्न को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह अन्न और पान के लोको की मानो सिद्धि प्राप्त कर लेता है, परन्तु अन्न की जहा तक गति है वही तक वह निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारद ने पूछा, तो क्या भगवन् ! अन्न से बढकर भी कुछ है ? ऋषि ने उत्तर दिया, हा है ! नारद ने कहा, तो भगवन्, आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ॥२॥

सप्तम प्रपाठक--(दसवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'जल' अन्न से बडे हैं। तभी जब वृष्टि अच्छी नही होती, तो प्राण यह सोचकर दुखी होते है कि इस बार अन्न थोड़ा होगा, और जब अच्छी वृष्टि होती है, तो प्राण यह सोचकर आनन्द मनाते हैं कि इस बार अन्न बहुत होगा। जल ही मानो मूर्त-

---

स योऽन्न ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स लोकान्पानवतोऽभिसिध्यति यावदन्नस्य गत तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽन्न ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽन्नाद्भूय इत्यन्नाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥२॥

स य अन्नम् ब्रह्म इति उपास्ते—वह जो अन्न को ब्रह्म (बडा) जानकर उपासना (अन्न-भोग) करता है, अन्नवत —अन्नवाले, अन्न से भरे-पूरे, वै—ही, स —वह (उपासक), लोकान्—लोको को, देश को, जन्म को, पानवत — (पीने के) पानीवाले, जल की प्रचुरता वाले (लोको को), अभिसिध्यति— सिद्ध कर लेता है, प्राप्त होता है, यावद् अन्नस्य ब्रवीतु इति—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

आपो वावान्नाद्भूयस्यस्तस्माद्यदा सुवृष्टिर्न भवति व्याधीयन्ते प्राणा अन्न कनीयो भविष्यतीत्यथ यदा सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिन प्राणा भवन्त्यन्न बहु भविष्यतीत्याप एवेमा मूर्ता येय पृथिवी यदन्तरिक्ष यद् द्यौर्यत्पर्वता यद्देवमनुष्या यत्पशवश्च वयाँसि च तृणवनस्पतय श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकमाप एवेमा मूर्ता अप उपास्स्वेति ॥१॥

आप —जल, वा व—तो, ही, अन्नाद् भूयस्य —अन्न से बढकर है, तस्मात्—अतएव, यदा—जब, सुवृष्टि —अच्छी (प्रचुर) वर्षा, न भवति— नही होती (तो), व्याधीयन्ते—दुख-ग्रस्त हो जाते ह, चिन्तित होते हैं, प्राणा —श्वास-प्रश्वास, इन्द्रिया, जीवन-शक्ति, अन्नम्—अन्न, कनीय —थोडा, भविष्यति—होगा, इति—यह (सोचकर), अथ—और, यदा सुवृष्टि भवति —जब अच्छी वर्षा हो जाती हे, आनन्दिन —आनन्द से युक्त, प्रसन्न, प्राणा-

रूप धारण करके हमारे सामने खडे हैं—ये पृथिवी, आकाश, द्यौ, ये पर्वत, ये देव और मनुष्य, ये पशु-पक्षी-तृण-वनस्पति-श्वापद-कीट-पतंग-पिपीलिका—ये सब मूर्त-रूप धारण किये मानो जल ही हैं। हे नारद! तू 'जल' की उपासना कर ॥१॥

जो जल को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह सब कामनाओं को पा जाता है, तृप्त हो जाता है, परन्तु जल की जहां तक गति है वहीं तक वह निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारद ने पूछा, तो क्या भगवन्! जल से बढकर भी कुछ है? ऋषि ने उत्तर दिया, हां है! नारद ने कहा, तो भगवन्, आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ॥२॥

सप्तम प्रपाठक—(ग्यारहवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'तेज' जल से बडा है। यह तेज ही जब वायु को साथ लेकर आकाश को तपाता है तब सब कह उठते हैं, सूखा पड़

भवन्ति—प्राण हो जाते हैं, अन्नम् बहु भविष्यति—अन्न बहुत होगा, इति—यह (सोचकर), आप एव—जल ही, इमा—ये, मूर्ता—मूर्तिधारी, प्रत्यक्ष, साक्षात्, या—जो, इयम्—यह, पृथिवी—पृथिवी, यद् अन्तरिक्षम् अपः उपास्स्व इति—अर्थ पूर्ववत् ॥१॥

स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त आप्नोति सर्वान्कामांस्तृप्तिमान्भवति यावदपां गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽपो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽद्भ्यो भूय इत्यद्भ्यो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥२॥

स यः—वह जो, अपः—जलों को, ब्रह्म इति उपास्ते—ब्रह्म (बडा, श्रेष्ठ) जानकर उपासना करता है (वह), आप्नोति—प्राप्त कर लेता है, सर्वान्—सारे, कामान्—कामनाओं को, भोगों को, तृप्तिमान्—सदा तृप्त, भवति—होता है, रहता है, यावद्—जहांतक, अपाम्—जलों की, गतम् तत्र ब्रवीतु इति—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

तेजो वावाद्भ्यो भूयस्तद्वा एतद्वायुमागृह्याकाशमभितपति तदाहुर्निशोचति नितपति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथाप सृजते तदेतदूर्ध्वाभिश्च तिरश्चीभिश्च विद्युद्भिराह्लादाश्चरन्ति। तस्मादाहुर्विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा इति। तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथाप सृजते तेज उपास्स्वेति ॥१॥

तेजः—तेज (अग्नि), वाव—तो ही, अद्भ्यः—जलों से, भूयः—

रहा है, तपिश बढ़ रही है, अवश्य बरसेगा। तेज पहले अपने करतब दिखलाकर जल की सृष्टि करता है। तेज ही ऊपर तिरछी बिजलियो के साथ गर्जनाए करता हुआ चलता है। यह देखकर लोग कह उठते हैं, चमक रहा है, गरज रहा है, अब बरसेगा—यह तेज ही अपना रूप प्रकट कर फिर जल की सृष्टि करता है। हे नारद ! तू 'तेज' की उपासना कर ॥१॥

जो तेज को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह स्वयं तेजस्वी हो जाता है, तेजवान्-प्रकाशवान्-अन्धकाररहित लोको की मानो वह सिद्धि प्राप्त कर लेता है, परन्तु तेज की जहा तक गति है वहीं तक वह निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारद ने पूछा, तो क्या

बढकर है, **तद् वै एतद्**—वह (तेज-अग्नि) ही, **वायुम्**—वायु को, **आगृह्य**—रोक कर, पकडकर, **आकाशम्**—आकाश को, **अभितपति**—तपाता है, **तद्**—तो, तब, **आहु**—(लोग) कहते हैं, **निशोचति**—गरमा रहा है, **नितपति**—खूब तप रहा है, **वर्षिष्यति**—वर्षा होगी, **वै**—निश्चय से, **इति**—ऐसा (कहते ह), **तेज एव**—तेज ही, **तत्**—उसको, **पूर्वम्**—पहले, **दर्शयित्वा**—दिखला कर, प्रगट कर, **अथ**—बाद मे, **अप**—जलो को, **सृजते**—उत्पन्न करता है, **तद् एतद्**—वह ही यह (तेज), **ऊर्ध्वाभि**—ऊपर होनेवाली, **च**—और, **तिरश्चीभि च**—और तिरछी (अगल-बगल मे होनेवाली), **विद्युद्भि**—बिजलियो से, **आह्लादा**—बिजली की कडक, **चरन्ति**—चलते हे, उत्पन्न होते है, **तस्मात्**—उस कारण से (उसे देखकर), **आहु**—(लोग) कहते हैं, **विद्योतते**—बिजली चमक रही हे, **स्तनयति**—बादल गरज रहा हे, **वर्षिष्यति**—वर्षा होगी, **वै**—निश्चय से, **इति**—ऐसे (कहते हे), **तेज एव**—तेज ही, **तत्**—उस (वर्षा-स्थिति) को, **दर्शयित्वा**—दिखला कर, प्रगट कर, **अथ अप सृजते**—बाद मे जलो को उत्पन्न करता हे, **तेज**—तेज को (की), **उपास्स्व**—(हे नारद) तू उपासना (उचित-उपयोग) कर, **इति**—यह (उपदेश देवर्षि सनत्कुमार ने दिया) ॥१॥

स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते तेजस्वी वै स तेजस्वतो लोकान्भास्वतोऽपहततमस्कानभिसिद्ध्यति यावत्तेजसो गत तत्रास्य यथाकामचारो भवति यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवस्तेजसो भूय इति तेजसो वाव भूयोऽस्तीति तन्म भगवान्ब्रवीत्विति ॥२॥

स. य—वह जो, **तेज ब्रह्म इति उपास्ते**—तेज को ब्रह्म (बडा) जानकर उपासना करता हे, **तेजस्वी**—तेज सम्पन्न, **वै**—निश्चय से, **स**—वह (हो

भगवन् ! तेज से बढकर भी कुछ है ? ऋषि ने उत्तर दिया, हां है ! नारद ने कहा, तो भगवन्, आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ॥२॥

सप्तम प्रपाठक—(बारहवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'आकाश' तेज से बडा है। आकाश तेज का आश्रय स्थान जो ठहरा। आकाश में ही सूर्य और चन्द्र ये दोनों हैं, आकाश में ही विद्युत्, नक्षत्र और अग्नि हैं। आकाश से पुकारा जाता है, आकाश से सुना जाता है, आकाश से उत्तर दिया जाता है, आकाश में रमण होता है या नहीं होता, आकाश में पैदा होते हैं, अंकुर आकाश की तरफ फूटते हैं। हे नारद ! तू 'आकाश' की उपासना कर ॥१॥

जाता है), तेजस्वत—तेज से संपन्न (तेज प्रधान), लोकान्—लोकों को, भास्वत—दीप्ति (प्रकाश) से युक्त, अपहततमस्कान्—अन्धकार से रहित (लोकों को), अभिसिद्धयति—सिद्ध (प्राप्त) कर लेता है, यावत् तेजस (तेज का) ब्रवीतु इति—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

आकाशो वाव तेजसो भूयानाकाशे वै सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राण्यग्निराकाशेनाह्वयत्याकाशेन शृणोत्याकाशेन प्रतिशृणोत्याकाशे रमत आकाशे न रमत आकाशे जायत आकाशमभिजायत आकाशमुपास्स्वेति ॥१॥

आकाश—आकाश, वा व—ही तो, तेजस—तेज से, भूयान्—बढ कर है, आकाशे वै—आकाश में ही, सूर्याचन्द्रमसौ—सूर्य और चन्द्र, उभौ—दोनों, विद्युत्—बिजली, नक्षत्राणि—नक्षत्र, अग्नि—अग्नि (तेज) हैं, आकाशेन—आकाश (के माध्यम) से, आह्वयति—बुलाता है, आकाशेन—आकाश (के माध्यम) से, शृणोति—सुनता है, आकाशेन—आकाश (के माध्यम) से, प्रतिशृणोति—प्रत्युत्तर सुनता है, आकाशे—आकाश में, रमते—रमण (क्रीडा-खेलकूद) करता है, या आकाशे रमते—आकाश में जी लगता है, आकाशे—(उत्पात से युक्त) आकाश में, न—नहीं, रमते—(मन) लगता है, आकाशे—आकाश (सावकाश-स्थान) में, जायते—(प्राणी) उत्पन्न होता है, आकाशम् अभि—आकाश की ओर, जायते—(अंकुर) उत्पन्न होता है, आकाशम्—आकाश को (की), उपास्स्व—(हे नारद) तू उपासना कर, इति—यह (सनत्कुमार ने बताया) ॥१॥

जो आकाश को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह प्रकाश वाले और आकाश वाले, खुले, बाधा-रहित, विशाल लोकों की मानो सिद्धि प्राप्त कर लेता है, परन्तु आकाश की जहां तक गति है वहीं तक वह निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारद ने पूछा, तो क्या भगवन् ! आकाश से बढ़कर भी कुछ है ? ऋषि ने उत्तर दिया, हां है। नारद ने कहा, तो भगवन्, आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ॥२॥

सप्तम प्रपाठक—(तेरहवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'स्मृति' आकाश से बड़ी है। आकाश में तो शब्द आता है और चला जाता है, स्मृति में तो शब्द स्थिर होकर बैठ जाता है। अगर किसी स्थान पर अनेक व्यक्ति आकर बैठ जाय, स्मरण-शक्ति किसी में न हो, तो पास-पास बैठे हुए भी वे एक-दूसरे

स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्त आकाशवतो वै स लोकान्प्रकाश-
वतोऽसंबाधानुरुगायवतोऽभिसिद्धयति। यावदाकाशस्य गतं
तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव
आकाशाद्भूय इत्याकाशाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥२॥

स य—वह जो, आकाशम्—आकाश को, ब्रह्म इति—ब्रह्म (बड़ा, श्रेष्ठ) जानकर, उपास्ते—उपासना करता है, आकाशवत—आकाश (अवकाश) वाले, वै—निश्चय से, स—वह (उपासक), लोकान्—लोकों को, प्रकाश-वत—प्रकाश (से युक्त) वाले, असंबाधान्—रुकावट (बाधा) से रहित, उरुगायवत—बहुत विस्तारवाले, बहुत अन्न-समूह वाले (लोकों को), अभि-सिद्धयति—सिद्ध (प्राप्त) कर लेता है, यावद् आकाशस्य ब्रवीतु इति—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

स्मरो वावाकाशाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि बहव आसीरन्नस्मरन्तो नैव ते कंचन शृणुयुर्न मन्वीरन्न विजानीरन्। यदा वाव ते स्मरेयुरथ शृणुयुरथ मन्वीरन्नथ विजानीरन् स्मरेण वै पुत्रान्विजानाति स्मरेण पशून् स्मरमुपास्स्वेति ॥१॥

स्मर—स्मृति (याददाश्त), वा व—ही तो, आकाशाद् भूय—आकाश से भी बढ़कर है, यद्यपि—चाहे, बहव—बहुत से मनुष्य, आसीरन्—बैठ हों, अस्मरन्त—न स्मरण करते हुए, याद न आने पर, न एव—नहीं ही, ते—वे (मनुष्य), कंचन—किसी (की बात) को, शृणुयु—सुन सकेंगे, न मन्वीरन्—न मनन करेंगे, न विजानीरन्—न जान पायेंगे, यदा वा व—जब

की बात न सुन सकेंगे, न जान सकेंगे, न समझ सकेंगे। हां, अगर उनकी स्मरण-शक्ति लौट आये, तो वे एक-दूसरे की बात सुन सकेंगे, जान सकेंगे, समझ सकेंगे। प्राणी स्मृति-शक्ति द्वारा ही पुत्रों को, पशुओं को पहचानता है। हे नारद! तू 'स्मृति' की उपासना कर ॥१॥

जो 'स्मृति' को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह स्मृति की जहां तक गति है वहीं तक निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारद ने पूछा, तो क्या भगवन्! स्मृति से बढ़कर भी कुछ है? ऋषि ने उत्तर दिया, हां है! नारद ने कहा, तो भगवन्, आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ॥२॥

सप्तम प्रपाठक—(चौदहवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'आशा' स्मृति से बड़ी है। स्मृति का 'भूत' से सम्बन्ध है, आशा स्मृति को साथ लेकर 'भविष्यत्' से सम्बन्ध जोड़ती है। आशा से प्रदीप्त होकर ही स्मृति मन्त्रों का स्मरण करती है, आशा से ही मनुष्य कर्म करता है, आशा से ही पुत्र-पशु, इस लोक

ही तो, ते—वे, स्मरेयु—याद करेंगे, अथ—तो, शृणुयु—(एक-दूसरे की बात को) सुनेंगे, अथ मन्वीरन्—और मनन (विचार) करेंगे, अथ विजानीरन्—और जानेंगे, स्मरेण वै—स्मृति से ही, पुत्रान्—पुत्रों को, विजानाति—जानना-पहचानता है, स्मरेण—स्मृति से, पशून्—पशुओं को (जानता है), स्मरम्—स्मृति-शक्ति को (की), उपास्स्व—तू उपासना कर, इति—यह (बताया) ॥१॥

स य स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते यावत्स्मरस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः स्मराद्भूय इति स्मराद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥२॥

स यः—वह जो, स्मरम्—स्मरण-शक्ति को, ब्रह्म इति—ब्रह्म (बड़ा, श्रेष्ठ) जानकर, उपास्ते—उपासना करता है (उसे क्षीण नहीं होने देता), यावत् स्मरस्य (स्मृति का) ब्रवीतु इति—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

आशा वाव स्मराद्भूयस्याशेद्धो वै स्मरो मन्त्रानधीते कर्माणि कुरुते पुत्रांश्च पशूंश्चेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छत आशामुपास्स्वेति ॥१॥

आशा—अप्राप्त वस्तु की भविष्य में प्राप्ति की चाहना (उम्मेद), वा व—तो, स्मराद्—स्मृति से भी, भूयसी—बढ़ कर, बड़ी है, आशा-इद्ध—आशा से प्रदीप्त, वै—निश्चय से, स्मर—स्मृति, मन्त्रान्—वेद-मन्त्रों को

उस लोक की इच्छा करता है। हे नारद ! तू 'आशा' की उपासना कर ॥१॥

जो 'आशा' को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, उसकी सब कामनाएं आशा से भी बढकर पूर्ण होती हैं, उसके सब आशीर्वाद अमोघ होते हैं, फलते हैं, परन्तु जहां तक आशा की गति है वहीं तक वह निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारद ने पूछा, तो क्या भगवन् ! आशा से बढकर भी कुछ है ? ऋषि ने उत्तर दिया, हां है ! नारद ने कहा, तो भगवन्, आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ॥२॥

सप्तम प्रपाठक—(पन्द्रहवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'प्राण' आशा से बडा है। आशा भी तो प्राण के लिये—जीवन के लिये—ही होती है। जिस प्रकार अरे चक्र की

(का), अधीते—अध्ययन करता है, कर्माणि कुरुते—कर्म करता है, पुत्रान् च—और पुत्रों को, पशून् च—और पशुओं को, इच्छते—आशा करता है, चाहना करता है, इमम् च लोकम्—इस (पृथिवी) लोक को, इस जन्म को, अमुम् च—और उस (द्युलोक) को, पर-जन्म को, इच्छते—चाहता है (आशा करता है), आशाम्—आशा को, उपास्स्व—तू उपासना कर (उसकी पूर्ति के लिए प्रयत्न कर), इति—यह बताया ॥१॥

स य आशां ब्रह्मेत्युपास्त आशयाऽस्य सर्वे कामाः समृद्धयन्त्यमोघा हास्याशिषो भवन्ति। यावदाशाया गतं तत्रास्य यथाकाम-चारो भवति य आशां ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आशाया भूय इत्याशाया वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥२॥

स यः—वह जो, आशाम्—आशा को, ब्रह्म इति—ब्रह्म (बडा) जान कर, उपास्ते—उपासना करता है, आशया—(इसी) आशा से, अस्य—इस (उपासक) के, सर्वे कामाः—सारी कामनाएं (अभिलाषाएं), समृद्धयन्ति—समृद्ध (पूर्ण) होती हैं, अमोघाः—सफल, ह—अवश्य, अस्य—इसके, आशिषः—आशीर्वाद, भवन्ति—होते हैं, यावद् आशाया (आशा का) ब्रवीतु इति—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

प्राणो वा आशाया भूयान्यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एव-मस्मिन् प्राणे सर्वं समर्पितं प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः ॥१॥

नाभि में अर्पित होते हैं, इसी प्रकार 'नाम' से लेकर 'आशा' तक सब अरे प्राण-रूपी चक्र में समर्पित हैं। सब-कुछ प्राण के सहारे चल रहा है, प्राण को लक्ष्य में रखकर चल रहा है, प्राण के लिये चल रहा है। प्राण ही पिता है, प्राण माता है, प्राण भ्राता है, प्राण भगिनी है, प्राण आचार्य है, प्राण ब्राह्मण है ॥१॥

अगर कोई जीवित पिता को, माता को, भाई को, बहिन को, आचार्य को, ब्राह्मण को—कुछ अनुचित-सा भी कह दे तो लोग कहते हैं, धिक्कार है तुझे! तू 'पितृहा' है, 'मातृहा', 'भ्रातृहा', 'स्वसृहा', 'आचार्यहा', 'ब्राह्मणहा' है ॥२॥

प्राण—प्राण, जीवन, स्वयं जीवात्मा, वै—निश्चय ही, आशाया—आशा से, भूयान्—बढ़कर है, यथा वै—जैसे, अरा—अरे, नाभौ—(पहिये की) नाभि में, समर्पिता—संलग्न, पिरोये हुए होते हैं, एवम्—इस प्रकार, अस्मिन्—इस, प्राणे—प्राण में, सर्वम्—सब (नाम से आशा तक), समर्पितम्—सम्बद्ध है, प्राण—श्वास-प्रश्वास, प्राणेन—प्राण (जीवात्मा) से, याति—गति करता है, प्राण—आत्मा, प्राणम्—श्वास-प्रश्वास को, ददाति देता है, प्राणाय—प्राण (स्वयं आत्मा) के लिए, ददाति—देता है, प्राण—प्राण, ह—निश्चय से, पिता—पिता है, प्राण माता—प्राण (के होने पर) ही माता, प्राण भ्राता—प्राण ही भाई, प्राण स्वसा—प्राण ही बहन, प्राण आचार्य—प्राण ही आचार्य, प्राण ब्राह्मण—प्राण (होने पर) ही ब्राह्मण होता है ॥१॥

स यदि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं वाचार्यं वा ब्राह्मणं वा किंचिद्भृशमिव प्रत्याह धिक्त्वाऽस्त्वित्येवैनमाहुः पितृहा वै त्वमसि मातृहा वै त्वमसि भ्रातृहा वै त्वमसि स्वसृहा वै त्वमस्याचार्यहा वै त्वमसि ब्राह्मणहा वै त्वमसीति ॥२॥

स—वह, यदि—अगर, पितरम् वा—(अपने) पिता को, मातरम् वा—या माता को, भ्रातरम् वा—या भाई को, स्वसारम् वा—या बहिन को, आचार्यम् वा—या (अपने) आचार्य को, ब्राह्मणम् वा—या (किसी) ब्राह्मण को, किंचिद्—कुछ, भृशम् इव—अधिक अनुचित, प्रत्याह (धृष्टता से) जवाब देता है (तो), धिक्—धिक्कार, त्वा—तुझ को, अस्तु+इति+एव+एनम्—हो, इस प्रकार ही इस (प्रतिकूल-भाषी) को, आहुः—(लोग) कहते हैं, पितृहा—पितृ-घाती, वै—निश्चयपूर्वक, त्वम् असि—तू है, मातृहा वै त्वम् असि—तू माता का हत्यारा है, भ्रातृहा वै त्वम् असि—निश्चय ही भाई

परन्तु अगर प्राण निकलने के बाद इन्हे शरीर-सहित कोई अग्नि मे भस्म कर दे, और शूल से उलट-पलट करे, तो कोई नही कहता कि तू 'पितृहा'-'मातृहा'-'भ्रातृहा'-'स्वसृहा'-'आचार्यहा'-'ब्राह्मणहा' है ॥३॥

प्राण ही तो यह सब-कुछ है। जो इस प्रकार देखता है, इस प्रकार मानता है, इस प्रकार जानता है—'नाम' से प्रारम्भ कर 'प्राण' तक पहुच जाता है, उसे 'अतिवादी' कहते है, वह आगे-ही-आगे बढ रहा है, कही अटकता नही, जहा पहुंचता है उससे आगे की बात करने लगता है। अगर ऐसे व्यक्ति को कोई कहे कि तू तो 'अतिवादी' है,

---

का घातक तू है, **स्वसृहा वै त्वम् असि**—तू भगिनी-घातक है, **आचार्यहा वै त्वम् असि**—तू निश्चय से (अपने) आचार्य का हत्यारा है, **ब्राह्मणहा वै त्वम् असि**—तू ब्राह्मणघाती है, **इति**—इस प्रकार (कहते है) ॥२॥

अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्तप्राणान् शूलेन समास व्यतिष दहेन्नैवैन
ब्रूयु पितृहाऽसीति न मातृहाऽसीति न भ्रातृहाऽसीति न
स्वसृहाऽसीति नाचार्यहाऽसीति न ब्राह्मणहाऽसीति ॥३॥

अथ—और, **यदि**—अगर, **अपि**—भी, **एनान्**—इन (पिता आदि) को, **उत्क्रान्त-प्राणान्**—जिनके प्राण निकल गये है, प्राण-शून्य, मृत, **शूलेन**—(गर्म) शूल (सूली, काण्टा) से, **समासम्**—इकट्ठा ही, **व्यतिषम्**—उलट-पुलट कर, थोडा-थोडा, **दहेत्**—जला देवे, **न एव एनम्**—नही ही इसको, **ब्रूयु**—कहगे, **पितृहा असि इति**—तू पितृ-घाती हे, **न मातृहा असि इति**—न ही तू माता का हत्यारा हे, **न भ्रातृहा असि इति**—न ही तू भ्रातृ-घाती है, **न स्वसृहा असि इति**—न ही तू भगिनीघातक है, **न आचार्यहा असि इति**—न ही तू आचार्य का हत्यारा है, **न ब्राह्मणहा असि**—न ही तू ब्राह्मण का हत्यारा है, **इति**—ऐसे (कहेगे) ॥३॥

प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति। स वा एष एव पश्यन्नेव मन्वान एव विजानन्नतिवादी भवति त चेद्ब्रूयुरतिवाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीत ॥४॥

प्राण—प्राण (के होने पर), **हि**—क्योकि, **एव**—ही, **एतानि**—ये, **सर्वाणि**—सब (पिता आदि रूप), **भवति**—होता है (प्राण के चलने या जीवात्मा के होने पर ही ये सब सम्बन्ध सभव होते है), **स वै एष**—वह यह, **एवम् पश्यन्**—इस प्रकार देखता हुआ, **एवम् मन्वान**—इस प्रकार मनन-चिन्तन करता हुआ, **एवम् विजानन्**—इस प्रकार विजाता, **अतिवादी**—पहुच से परे या आगे की बात करनेवाला, **भवति**—हो जाता है, **तम्**—उस (अतिवादी) को,

बहुत बातें करता है, बकवादी है, तो इसे यही उत्तर दे कि मैं आगे-ही-आगे बढ़ना चाहता हूं—इस दृष्टि से 'अतिवादी' हूं, इस बात को छिपाता नहीं हूं, हां, बकवादी होने के कारण 'अतिवादी' नहीं हूं ॥४॥

सप्तम प्रपाठक—(सोलहवां खंड)

ऋषि ने कहा, यथार्थ में 'अतिवादी' तो वह है जो आगे-ही-आगे बढ़ते हुए 'सत्य' का 'अतिवादी' बन जाय। नारद ने कहा, तो भगवन्! मुझे 'सत्य' से 'अतिवादी' बना दीजिये। ऋषि ने कहा, तुझे सत्य के ही जानने की इच्छा करनी चाहिये। नारद ने कहा, तो भगवन्! मुझे 'सत्य' का उपदेश दीजिये ॥१॥

सप्तम प्रपाठक—(सत्रहवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'सत्य' वही बोलता है जिसे 'ज्ञान' होता है जिसे 'ज्ञान' नहीं होता वह 'सत्य' नहीं बोलता, इसलिये तुझे 'सत्य के

चेद्—अगर, ब्रूयु—कहें (कि), अतिवादी—इनसे आगे की बात कहनेवाला असि—है, इति—ऐसे (तो), अतिवादी अस्मि—मैं अतिवादी (इनसे आगे की बात कहनेवाला) हूं, इति—यह, ब्रूयात्—कहे, स्वीकार कर ले, न—नहीं अपह्नुवीत—छिपावे, इनकार करे ॥४॥

एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति। सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानीति। सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति। सत्यं भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

एष तु—यह तो, वै—निश्चित ही, अतिवदति—परे की बात बताता है, यः—जो, सत्येन—सत्य (यथार्थ बात) द्वारा, अतिवदति—बढ़ कर बात कहता है, सः अहम्—वह मैं, भगवः—हे भगवन्!, सत्येन—सत्य के कारण अतिवदानि—इससे आगे की बात कहनेवाला होऊं, इति—यह (कहा), सत्यम् तु एव—सत्य को ही तो, विजिज्ञासितव्यम्—जानने की इच्छा करनी चाहिये, इति—ऐसे, सत्यम्—सत्य को, भगवः—हे भगवन्, विजिज्ञासे—मैं जानना चाहता हूं, इति—यह (नारद ने प्रार्थना की) ॥१॥

यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति। नाविजानन् सत्यं वदति। विजानन्नेव सत्यं वदति। विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति। विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

यदा वै—जब ही, विजानाति—सम्यक्तया जान लेता है अथ—तो, तब, सत्यम्—सत्य (यथार्थ) बात, वदति—बोलता है, न—नहीं अवि-

लिये 'ज्ञान' की, अर्थात् 'विज्ञान' के जानने की इच्छा करनी चाहिये। नारद ने कहा, तो भगवन्, मुझे 'विज्ञान' का उपदेश दीजिये ॥१॥

सप्तम प्रपाठक—(अठारहवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'विज्ञान' उसी को प्राप्त होता है जो 'मनन' करता है, जो 'मनन' नहीं करता वह समझता भी कुछ नही, मनन करने से ही समझता है, इसलिये तुझे 'मति' के जानने की इच्छा करनी चाहिये। नारद ने कहा, तो भगवन्, मुझे 'मति' का उपदेश दीजिये ॥१॥

सप्तम प्रपाठक—(उन्नीसवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'मति' उसी को प्राप्त होती है जो 'श्रद्धा' करता है, बिना 'श्रद्धा' के 'मनन' नही होता, 'श्रद्धा' वाला ही 'मनन' करता है, इसलिये तुझे 'श्रद्धा' के जानने की इच्छा करनी चाहिये। नारद ने कहा, तो भगवन्, मुझे 'श्रद्धा' का उपदेश दीजिये ॥१॥

जानन्—न जाननेवाला, बिना जाने, सत्यम् वदति—सत्य कह सकता है, विजानन् एव सत्यम् वदति—ज्ञाता ही सत्य बोलता है, विज्ञानम्—विशिष्ट (गभीर) ज्ञान, तु एव—ही तो, विजिज्ञासितव्यम्—जानना चाहिये, इति—ऐसे, विज्ञानम—विशिष्ट (सम्यग्) ज्ञान को, भगव विजिज्ञासे—हे भगवन्! मैं जानना चाहता हूं, इति—यह (नारद ने कहा) ॥१॥

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति। नामत्वा विजानाति। मत्वैव विजानाति।
मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति। मतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

यदा वै—जब ही, मनुते—मनन करता है, अथ—तब ही, विजानाति—सम्यक्तया जानता है, न—नही, अमत्वा—मनन न करके, बिना मनन-चिन्तन किये, विजानाति—जान सकता है, मत्वा एव—मनन करके ही, विजानाति—जान पाता है, मति—मनन-शक्ति, तर्क-शक्ति, तु एव—ही तो, विजिज्ञासितव्या—जाननी चाहिये, इति—यह (देवर्षि ने कहा), मतिम्—मति (मनन) को, भगव विजिज्ञासे—हे भगवन्! मैं जानना चाहता हूं, इति—यह (नारद ने कहा) ॥१॥

यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते। नाश्रद्दधन्मनुते। श्रद्दधदेव मनुते।
श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येति। श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

यदा वै—जब ही, श्रद्दधाति—श्रद्धा (कर्तव्य-कर्म या ज्ञेय विषय में आदर-भाव, सत्य पर विश्वास) करता है, अथ—तब, मनुते—मनन करता है, ऊहापोह (चिन्तन) करता है, न—नही, अश्रद्दधद्—बिना श्रद्धा रखता हुआ,

सप्तम प्रपाठक—(बीसवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'श्रद्धा' उसी को प्राप्त होती है जो 'निष्ठा' वाला होता है, बिना 'निष्ठा' के 'श्रद्धा' नहीं होती, 'निष्ठा' से ही 'श्रद्धा' उत्पन्न होती है, इसलिये तुझे 'निष्ठा' के जानने की इच्छा करनी चाहिये। नारद ने कहा, तो भगवन्, मुझे 'निष्ठा' का उपदेश दीजिये ॥१॥

सप्तम प्रपाठक—(इक्कीसवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'निष्ठा' उसी को प्राप्त होती है जो 'कर्मण्य' होता है, बिना 'कर्मण्यता' के 'निष्ठा' नहीं होती, 'कृति-भाव' से ही 'निष्ठा' प्राप्त होती है, इसलिये तुझे 'कृति' के जानने की इच्छा करनी चाहिये। नारद ने कहा, तो भगवन्, मुझे 'कृति' का उपदेश दीजिये ॥१॥

मनुते—मनन करता है, श्रद्दधत्—श्रद्धा करता हुआ, एव—ही, मनुते—मनन करता है, श्रद्धा तु एव—श्रद्धा ही तो, विजिज्ञासितव्या—जाननी चाहिये, इति—यह (कहा), श्रद्धाम् भगव विजिज्ञासे—श्रद्धा को हे भगवन्! मैं जानना चाहता हूं, इति—यह (नारद ने कहा) ॥१॥

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति। नानिस्तिष्ठञ्श्रद्दधाति। निस्तिष्ठन्नेव स श्रद्दधाति। निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति। निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

यदा वै—जब ही, निस्तिष्ठति—निष्ठा (तत्परता, तन्मयता, लगाव) करता है, अथ—तब, श्रद्दधाति—श्रद्धा करता है, न—नहीं, अनिस्तिष्ठन्—निष्ठा न रखनेवाला, श्रद्दधाति—श्रद्धा करता है, निस्तिष्ठन् एव—निष्ठा रखता हुआ ही, श्रद्दधाति—श्रद्धा करता है, निष्ठा—निष्ठा, तु एव—ही तो, विजिज्ञासितव्या—जाननी चाहिये, इति—यह (सनत्कुमार ने कहा), निष्ठाम् भगव विजिज्ञासे—निष्ठा को हे भगवन्! मैं जानना चाहता हूं, इति—यह (नारद ने प्रार्थना की) ॥१॥

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति। नाकृत्वा निस्तिष्ठति। कृत्वैव निस्तिष्ठति। कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति। कृतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

यदा वै—जब, करोति—कर्म करता है, अथ—तब, निस्तिष्ठति—निष्ठा से युक्त होता है, न—नहीं, अकृत्वा—न करके, बिना कर्म किये, निस्तिष्ठति—निष्ठा करता है, कृत्वा एव निस्तिष्ठति—कर्म करके ही निष्ठा करता है, कृति—कर्म, क्रिया, तु एव—ही तो, विजिज्ञासितव्या—जाननी

सप्तम प्रपाठक—(बाईसवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'कृति' अर्थात् 'कर्मण्यता' में भी तभी प्रेरणा मिलती है जब 'सुख' प्राप्त होता है, बिना 'सुख' के कोई कुछ नहीं करता, सुख मिलने से ही मनुष्य कर्म में प्रवृत्त होता है, इसलिये तुझे 'सुख' के जानने की इच्छा करनी चाहिये। नारद ने कहा, तो भगवन्, मुझे 'सुख' का उपदेश दीजिये ॥१॥

सप्तम प्रपाठक—(तेईसवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'यो वै भूमा तत्सुखम्'—जो 'भूमा' है, असीम है, निरतिशय है, महान् है, वही सुख है, 'न अल्पे सुखमस्ति'—जो 'अल्प' है, ससीम है, परिमित है, क्षुद्र है, उसमें सुख नहीं है। 'भूमा ही सुख है', इसलिये 'भूमा' को जानने की इच्छा करनी चाहिये। नारद ने कहा, तो भगवन्, मुझे 'भूमा' का उपदेश दीजिये ॥१॥

चाहिये, इति—यह (कहा), कृतिम् भगव विजिज्ञासे—कर्म (क्रिया) को हे भगवन्! मैं जानना चाहता हूं, इति—यह (प्रार्थना नारद ने की) ॥१॥

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति। नासुखं लब्ध्वा करोति। सुखमेव लब्ध्वा करोति। सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति। सुखं भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

यदा वै—जब ही, सुखम्—सुख को, लभते—पाता है, अथ—तब ही, करोति—कर्म करता है, न—नहीं, असुखम्—दुःख को, लब्ध्वा—पाकर (बिना सुख पाये), करोति—कर्म करता है, सुखम् एव लब्ध्वा करोति—सुख को ही पाकर (मनुष्य) कर्म करता है, सुखम् तु एव विजिज्ञासितव्यम्—सुख को ही तो जानना चाहिये, इति—यह (बताया), सुखम् भगव विजिज्ञासे—सुख को हे भगवन्! मैं जानना चाहता हूं, इति—यह (नारद ने निवेदन किया) ॥१॥

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति। भूमानं भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

यः वै—जो ही, भूमा—बड़ा, महान्, असीम, बहुत, तत्—वह ही, सुखम्—सुख, सुखप्रद है, न—नहीं, अल्पे—छोटे (थोड़े) में, सुखम् अस्ति—सुख है, भूमा—असीम, महान्, निरतिशय, एव—ही, सुखम्—सुख है, भूमा—असीम, महान् (को), तु एव—तो ही, विजिज्ञासितव्य—जानना चाहिये, इति—यह (कहा), भूमानम् भगव विजिज्ञासे—भूमा को हे भगवन्! मैं जानना चाहता हूं, इति—यह (नारद ने कहा) ॥१॥

सप्तम प्रपाठक---(चौबीसवां खंड)

ऋषि ने कहा, जिस परम-शुद्ध अवस्था में आत्मा अन्य वस्तु को न देखता है, न सुनता है, न जानता है, वही 'भूमा' है, जहां आत्मा अन्य वस्तु को देखता है, सुनता है, जानता है, वही 'अल्प' है। जो 'भूमा' है वह 'अमृत' है, जो 'अल्प' है वह 'मर्त्य' है---मरण-धर्मा है। नारद ने पूछा, भगवन्! यह 'भूमा' किसमें प्रतिष्ठित है? ऋषि ने उत्तर दिया, भूमा अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित है। या यह कहें कि वह महिमा में भी प्रतिष्ठित नहीं है? ॥१॥

इस लोक में गाय, घोड़े, हाथी, सोना, दास, पत्नी, भूमि और घर---इनको 'महिमा' कहा जाता है, परन्तु मैं इन्हें 'महिमा' नहीं कहता। ऋषि ने कहा, मैं तो कहता हूं, ये एक-दूसरे में प्रतिष्ठित

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्। यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यं स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति ॥१॥

यत्र---जहां, जिस अवस्था में, न---नहीं, अन्यत्---दूसरे को शृणोति---सुनता है, न अन्यद् विजानाति---नहीं अन्य को जानता है स भूमा---वह ही (स्थिति) भूमा (निरतिशय, असीम) है अथ---और, यत्र---जहां अन्यत् शृणोति---दूसरे को सुनता है, अन्यद् विजानाति---दूसरे को जानता है तद्---वह, अल्पम्---छोटा थोड़ा, तुच्छ है, य वै---जो ही, भूमा---निरतिशय बड़ा, महान् है, तद्---वह अमृतम्---अमर (अविनाशी) है, यद् अल्पम्---जो अल्प (तुच्छ) है, तत्---वह, मर्त्यम्---मरणशील, विनाशी है स---वह (भूमा), भगव---हे भगवन्, कस्मिन्---किसमें किस आधार पर, प्रतिष्ठित---स्थित है, इति---यह (पूछा), स्वे---अपनी, महिम्नि---महिमा (के आधार) पर, यदि वा---अथवा, वस्तुत, न---नहीं महिम्नि---अपने माहात्म्य में भी (क्योंकि उस भूमा को आधार या आश्रय की आवश्यकता ही नहीं), इति---यह (देवर्षि ने बताया) ॥१॥

गोअश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति। नाहमेवं ब्रवीमि। ब्रवीमीति होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति ॥२॥

गो+अश्वम्---गाय-घोड़े, इह---इस (जगत्) में, महिमा---बड़प्पन, इति---ऐसे, आचक्षते---कहते हैं, हस्ति-हिरण्यम्---हाथी और सोना, दासभार्यम्---नौकर-चाकर और पत्नी, क्षेत्राणि---कृषि के क्षेत्र, आयतनानि---घर, इति---

है—वह क्या 'महिमा' जो किसी दूसरे में प्रतिष्ठित हो, किसी दूसरे के सहारे खडी हो ॥२॥

सप्तम प्रपाठक—(पच्चीसवा खंड)

'भूमा' किसी में प्रतिष्ठित नही, वही नीचे है, वही ऊपर है, वह पीछे है, सामने है, दाए है, बाए है—'स एवेद सर्वम्'—वही यह सब कुछ है। भगवान् के इस 'भूमा' रूप के दर्शन करने के बाद भक्त अपने को भूमा-रूप में ही देखने लगता है—यही 'अहकारादेश' है। जैसे 'भूमा' को भक्त सब जगह देखने लगता है, वैसे 'अह' को—अपने को—भी नीचे, ऊपर, पीछे, सामने, दाए, बाए—सब जगह देखने लगता है, वह अनुभव करता है, 'अहमेवेद सर्वम्'—मै ही यह सब कुछ हू, मै स्वल्प नही हू, महान् हू ॥१॥

ऐसे (कहे जाते है), न अहम् एवम् ब्रवीमि—नही मै इस प्रकार (इस रूप मे आधाराऽऽधेय भाव) कहता हू (क्योंकि जिसे आधार की अपेक्षा हो वह आधार से बढकर 'भूमा' नही हो सकता, मै तो), ब्रवीमि—कहता हू, इति ह उवाच—ऐसा कह कर (सनत्कुमार ने) कहा, अन्य—एक, हि—ही, अन्यस्मिन्—दूसरे मे, (अन्य अन्यस्मिन्—परस्पर, आपस मे), प्रतिष्ठित—स्थितिवाला है (भूमा स्व-महिमा मे, स्व-महिमा भूमा मे स्थित है, भूमा और महिमा एक ही बात है, शब्द-भेद है, अर्थ-भेद नही, अत उनमे आधाराऽऽधेय भाव नही), इति—यह (बताया) ॥२॥

स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणत स उत्तरत
स एवेदँ सर्वमित्यथातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादह
पश्चादह पुरस्तादह दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदँ सर्वमिति ॥१॥

स—वह (भूमा), एव—ही, अधस्तात्—नीचे है, स—वह, उपरिष्टात्—ऊपर है, स पश्चात्—वह पश्चिम की ओर, स पुरस्तात्—वह ही सामने (आगे) पूर्व की ओर, स दक्षिणत—वह दाहिनी ओर, स उत्तरत—वह उत्तर की ओर, स एव—वह ही, इदम् सर्वम्—इस सब मे है, ये सब उस भूमा के ही रूप है, यह सब-कुछ है, अथ—अब, अत—इसके आगे, अहङ्कार+आदेश—स=वह के स्थान मे अहम्=मै के रूप मे आदेश (वर्णन-स्पष्टीकरण) है, अहम् एव अधस्तात्—मै ही नीचे हू, अहम् उपरिष्टात्—मैं ही ऊपर हू, अहम् पश्चात्—मै पश्चिम (पीछे) की ओर, अहम् पुरस्तात्—मै पूर्व (आगे) की ओर, अहम् दक्षिणत—मै दक्षिण की ओर,

इसके बाद 'आत्मा' में 'स' और 'अह' का—'वह' और 'मैं' का, 'उसका' और 'मेरा'—यह सब भेद मिट जाता है, यही 'आत्मा-देश' है। भक्त अनुभव करता है कि आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है, पीछे आत्मा है, आगे आत्मा है, दाए आत्मा है, बाए आत्मा है, 'आत्मैवेद सर्वम्'—आत्मा ही यह सब-कुछ है। हमारी दृष्टि शरीर पर पडती है, हम शरीर को सब-कुछ समझते है, उसकी दृष्टि आत्मा पर पडती है, वह आत्मा को सब-कुछ समझने लगता है। वह ऐसा देखकर, ऐसा मानकर, ऐसा जानकर आत्मा में रत हो जाता है, आत्मा में खेलने लगता है, आत्मा के साथ जुड जाता है, आत्मानन्द हो जाता है, वह 'स्वराट्' हो जाता है—अपने भीतर के प्रकाश से

अहम् उत्तरत —मैं उत्तर की ओर हू, अहम् एव—मैं ही, इदम् सर्वम्—इस सब मे हू, इति—यह (अहङ्कार-आदेश है) ॥१॥

अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति । स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्द स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति । अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥२॥

अथ—अब, अत —इसके आगे, आत्म+आदेश —'आत्मा' शब्द से आदेश (वर्णन-स्पष्टीकरण) एव—ही है, आत्मा एव अधस्तात्—आत्मा (ब्रह्म प्रकृति-पुरी मे और जीवात्मा शरीर-पुरी मे) ही नीचे की ओर, आत्मा—उपरिष्टात्—आत्मा ऊपर की ओर, आत्मा पश्चात्—आत्मा पश्चिम (पीछे) की ओर आत्मा पुरस्तात्—आत्मा पूर्व (आगे) की ओर, आत्मा दक्षिणत —आत्मा दक्षिण की ओर, आत्मा उत्तरत —आत्मा उत्तर की ओर, आत्मा एव—आत्मा (जीवात्मा एव परमात्मा) ही, इदम् सर्वम्—(क्रमश) इस (शरीर एव प्रकृति) सब मे है, स वै एष —वह ही यह (उपासक), एवम् पश्यन्—इस प्रकार देखता हुआ, एवम् मन्वान —इस प्रकार मनन-चिन्तन करनेवाला, एवम् विजानन्—इस प्रकार सम्यक्तया जाता, आत्मरति —अपने (स्वरूप) मे रति (अवस्थिति) वाला, आत्म-क्रीड —अपने (स्वरूप) मे क्रीडा करनेवाला, आत्ममिथुन —अपने स्वरूप में (आत्मा मे विद्यमान ब्रह्म के कारण) जोडे-वाला, आत्मानन्द —आत्मा मे (ब्रह्म के) आनन्द-रस का भोक्ता, स —वह (उपासक), स्व-राड्—अपने शासन वाला (प्रकृति के शासन से मुक्त) या स्वय-ज्योति, भवति—हो जाता है, तस्य—उसका, सर्वेषु लोकेषु—सब

चमक उठता है। उसकी सब लोको में निर्बाध गति हो जाती है, परन्तु जो इससे भिन्न मार्ग का अवलम्बन करते है, भगवान् के 'भूमा-रूप' के साथ 'अहं-रूप' का 'आत्म-रूप' में समन्वय नही करते, वे विनाश-शील लोको को जाते है, उनकी सब लोको में निर्बाध गति नहीं होती ॥२॥

सप्तम प्रपाठक--(छब्बीसवां खंड)

जो व्यक्ति 'भूमा'-रूप को अपने आत्मा में देख लेता है, मान लेता है, जान लेता है, उसे इस बात का प्रत्यक्ष हो जाता है कि आत्मा से ही 'प्राण' का विकास है, आत्मा से ही 'आशा' का जन्म है, आत्मा से ही 'स्मृति' का प्रकाश है, आत्मा से ही 'आकाश', आत्मा से ही 'तेज', आत्मा से ही 'जल', आत्मा से ही 'जन्म और मृत्यु', आत्मा से ही 'अन्न', आत्मा से ही 'बल', आत्मा से ही 'सकल्प', आत्मा से

लोको मे, कामचार—यथेच्छ गमन, निर्बाध पहुच, भवति—हो जाती है, अथ—और, ये—जो, अन्यथा—अन्य प्रकार से, अत—इससे, (अत अन्यथा—इस निर्दिष्ट रूप से भिन्न रूप मे), विदु—जानते है (मिथ्याज्ञानी होते है), अन्य-राजान—औरो (प्रकृति आदि) के राज्य वाले (पराधीन, बद्ध), ते—वे, क्षय्य-लोका—क्षीण होनेवाले लोको के निवासी, भवन्ति—होते है, तेषाम्—उनका, सर्वेषु लोकेषु—सब लोको मे, अकामचार—कुठित गति, भवति—होती है (वे सब लोको मे स्वेच्छा से नही जा सकते) ॥२॥

तस्य ह वा एतस्यैव पश्यत एव मन्वानस्यैव विजानत आत्मत प्राण आत्मत आशाऽऽत्मत स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मत सकल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामाऽऽत्मतो मन्त्रा आत्मत कर्माण्यात्मत एवेदं सर्वमिति ॥१॥

तस्य ह वै एतस्य—निश्चय ही उस इस, एवम् पश्यत—इस प्रकार (बाह्य इन्द्रियो से) देखने-जाननेवाले, एवम् मन्वानस्य—इस प्रकार (मन से) मनन-चिन्तन करनेवाले, एवम् विजानत—इस प्रकार (बुद्धि से) विज्ञान-बोध करनेवाले के, आत्मत—आत्मा से (के होने पर), प्राण—प्राण (जीवन, श्वास-प्रश्वास) होता है, आत्मत आशा—आत्मा से आशाये (भविष्य मे अप्राप्त की प्राप्ति की चाहना), आत्मत—आत्मा से, स्मर—स्मृति, आत्मत आकाश—आत्मा से आकाश (अवकाश), आत्मत तेज—आत्मा से तेज, आत्मत आप—आत्मा से जल, आत्मत—आत्मा के होने पर ही, आविर्भाव-तिरोभावौ

ही 'मन' और आत्मा से ही 'कर्म' का उदय है—आत्मा से ही सब कुछ उत्पन्न हुआ है ॥१॥

किसी ने कहा है—जो आत्मा के 'भूमा'-रूप को देख लेता है, वह मृत्यु को नहीं देखता, रोग को नहीं देखता, दुःख को नहीं देखता। 'भूमा' का साक्षात् करने वाला सब-कुछ देख लेता है, सब तरह से सब-कुछ पा लेता है, उसके लिये कुछ बच नहीं रहता। वह पहले एक रूप में होता है, फिर तीन रूपों में आ जाता है, फिर पांच, सात, नौ और ग्यारह रूपों में विकास के मार्ग पर चल पड़ता है। बढ़ता-बढ़ता एक-सौ दस, बीस हजार एक, और फिर अनन्त भेदों वाला हो जाता है। इस भेद-मार्ग में से निकलकर आत्म-रूप में आने के लिये पहले 'आहार-शुद्धि' आवश्यक है। इन्द्रियों के विषय ही आहार है। आहार-शुद्धि होने पर 'सत्त्व-शुद्धि' हो जाती है, अन्तःकरण की मलिनता दूर हो जाती है, अन्तःकरण की शुद्धि से 'ध्रुव-स्मृति' होती है, अपने ध्रुव—'भूमा'—रूप का स्मरण हो आता है, अपने ध्रुव-रूप का

—उत्पत्ति-प्रलय या जन्म-मरण, आत्मतः अन्नम्—आत्मा से अन्न, आत्मतः बलम्—आत्मा से बल (शक्ति), आत्मतः विज्ञानम्—आत्मा से विशिष्ट-ज्ञान, आत्मतः ध्यानम्—आत्मा से एकाग्रता, आत्मतः चित्तम्—आत्मा से ही चेतना, आत्मतः संकल्पः—आत्मा से संकल्प, आत्मतः मनः—आत्मा से मनन-शक्ति, आत्मतः वाग्—आत्मा से वाणी, आत्मतः मन्त्राः—आत्मा से वेद-पाठ, आत्मतः कर्माणि—आत्मा से कर्म, आत्मतः—आत्मा (की सत्ता) से, एव—ही, इदम् सर्वम्—यह सब (आत्मा से सम्बन्ध रखनेवाला जड-चेतन जगत्) होता है, विकास पाता है, इति—यह (देवर्षि सनत्कुमार ने उपदेश दिया) ॥१॥

तदेष श्लोको न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताँ सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः इति स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिराहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारस्तँ स्कन्द इत्याचक्षते तँ स्कन्द इत्याचक्षते ॥२॥

तद् एष श्लोकः—सो (इसके समर्थन में) यह प्राचीन श्लोक (सूक्ति) है, न—नहीं, पश्यः—द्रष्टा, तत्त्वज्ञानी, मृत्युम्—मरण को, पश्यति—देखता—अनुभव करता है (जन्म-मरण-चक्र से मुक्त हो जाता है), न रोगम्—

स्मरण हो आने पर सब गाठें खुल जाती हैं। इस प्रकार भगवान् सनत्कुमार ने नारद मुनि के मानसिक मल का मर्दन करके, अन्धकार-रूपी नदी के पार ले जाकर, उसे आत्मा के 'भूमा'-रूप का दर्शन करा दिया, इसलिये सनत्कुमार ऋषि को 'स्कन्द' भी कहते हैं, 'स्कन्द' भी कहते हैं ॥२॥

(वर्तमान-मनोवैज्ञानिक मन के तीन विभाग करते हैं, 'ज्ञान', 'इच्छा', 'कृति' जिन्हें अंग्रेजी में Knowing, Feeling, Willing कहते हैं। ऋषि ने इस उपाख्यान में 'मन'-'संकल्प'-'चित्त' शब्द का इन्हीं तीनों के लिये प्रयोग किया है। इस उपदेश में ऋषि एक शृंखला से चलते हुए पहले नारद को उच्चतम 'मानसिक'-स्तर' पर ले गये हैं, फिर वहा से 'भौतिक-स्तर' पर ले आये हैं, क्योंकि

न (शारीरिक) व्याधि को, न उत—न ही, दुःखताम्—(मानसिक) क्लेश को, सर्वम्—सब कुछ (ज्ञेय) को, ह—अवश्य, पश्यः पश्यति—तत्त्व-ज्ञानी जान लेता है, सर्वम्—सब कुछ, आप्नोति—प्राप्त कर लेता है, सर्वशः—सब प्रकार से, सब ओर से, इति—यह (श्लोक है), सः—वह (द्रष्टा या आत्मा), एकधा—एक रूप, भवति—होता है, त्रिधा भवति—तीन रूप में होता है, पञ्चधा—पाच प्रकार (रूप) का, सप्तधा—सात रूप का, नवधा—नौ रूप का, च एव—और, पुनः च—और फिर, एकादशः—ग्यारह रूप वाला, स्मृतः—कहा गया है, शतम् च दश च—एक सौ दस (रूप वाला), एकः च सहस्राणि च विंशतिः—बीस हजार एक (रूपवाला सृष्टि काल में हो जाता है), आहार-शुद्धौ—भोजन की पवित्रता होने पर, सत्त्व-शुद्धिः—अन्तःकरण में निर्मलता (आती है), सत्त्व-शुद्धौ—अन्तःकरण के निर्मल होने पर, ध्रुवा—स्थिर, निश्चल, स्मृतिः—(भूमा रूप का) स्मरण (होता है), स्मृति-लम्भे—(भूमा रूप के) स्थिर स्मरण प्राप्त होने पर, सर्व-ग्रन्थीनाम्—सब गाठों (बन्धनो) का, विप्रमोक्षः—खुल जाना, नष्ट होना (संभव हो जाता है), तस्मै—उस (नारद) को, मृदितकषायाय—कषाय (मानसिक मल) से शून्य, तमसः—अन्धकार से, पारम्—पार, (तमसः पारम्—अन्धकार से रहित, स्वयं-ज्योति आत्मा का रूप), दर्शयति—दिखलाता है, ज्ञान करा दिया, भगवान्—आदरणीय, सनत्कुमारः—सनत्कुमार ने, तम्—उस (देवर्षि सनत्कुमार) को, स्कन्दः—स्कन्द (अज्ञान का शोषण-विनाश करनेवाला), इति—इस (नाम से), आचक्षते—कहते हैं, तम् स्कन्दः इति आचक्षते—उसको स्कन्द नाम से भी कहते हैं (द्विरुक्ति अध्याय समाप्ति-द्योतनार्थ है) ॥२॥

मानसिक का आधार भौतिक ही तो है। फिर भौतिक से उठाकर वे नारद को 'आत्मिक-स्तर' पर ले गये हैं, जिसमें 'सत्य'-'विज्ञान'-'मति'-'श्रद्धा'-'निष्ठा'-'कृति'-'सुख'-'भूमा'-'अहंकारादेश'-'आत्मा-देश' का वर्णन है, और इस 'आत्मिक-स्तर' से फिर उसे 'भौतिक-स्तर' पर ले आये हैं, क्योंकि सत्त्व-शुद्धि आहार-शुद्धि के बिना नहीं होती। जो लोग भौतिक को मानसिक तथा आत्मिक से पृथक् करते हैं, उनके लिये ऋषि सनत्कुमार के उपाख्यान में विशेष शिक्षा भरी हुई है।)

अष्टम प्रपाठक—(पहला खंड)

('हृदयाकाश' में ब्रह्म को ढूंढो, १ से ६ खंड)

ब्रह्म 'भूमा'-रूप है, यह पहले कहा। परन्तु उसे कहां ढूंढें—इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ऋषि कहते हैं —

यह शरीर ब्रह्म की नगरी है—'ब्रह्म-पुर' है, इसमें एक 'दहर', अर्थात् छोटा-सा कमल के सदृश हृदय-रूपी मन्दिर है; इस छोटे-से हृदय-मन्दिर में छोटा-सा हृदयाकाश है, उस आकाश के भीतर जो छिपा है, उसे खोजना चाहिये, उसे जानना चाहिये ॥१॥

अगर कोई कहे कि इस छोटी-सी ब्रह्म-पुरी में कहां तो छोटा-सा कमल के सदृश हृदय-रूपी मन्दिर, कहां उस छोटे-से हृदय-रूपी-

---

ॐ अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश-स्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥१॥

ओम्—आदि गुरु ओम्पद-वाच्य ईश्वर का स्मरण कर, अथ—तो, यद्—जो, इदम्—यह, अस्मिन्—इस, ब्रह्मपुरे—ब्रह्म-नगरी (शरीर) में, दहरम्—छोटा, अणु-सा, पुण्डरीकम्—कमल-जैसा, वेश्म—घर-सा (हृदय) है, दहर—छोटा-सा, अस्मिन्—इस (हृदय रूप घर) में, अन्त—अन्दर, आकाश—आकाश (अवकाश) है, तस्मिन्—उस (हृदयाकाश) में, यद्—जो, अन्त—(उसके) अन्दर है, तद्—उसको (की), अन्वेष्टव्यम्—ढूंढना, खोजना चाहिये, तद् वा व—उसकी ही, विजिज्ञासितव्यम्—जानने की इच्छा करनी चाहिये, इति—यह (जिज्ञासा है) ॥१॥

तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति स ब्रूयात् ॥२॥

मन्दिर में छोटा-सा हृदयाकाश । उस आकाश में क्या पड़ा है जिसे तुम कहते हो, उसे खोजना चाहिये, उसे जानना चाहिये ॥२॥

तो, ऐसी शंका करने वाले को उपासक उत्तर दे—अरे, जितना बड़ा यह आकाश तुम्हें दीख रहा है उतना बड़ा यह हृदय-मन्दिर के भीतर का आकाश है, जैसे ये द्यु और पृथिवी आकाश के भीतर मानो किसी ने ठीक स्थान पर रख-से दिये हैं, वैसे ही ये हृदयाकाश में भी समाहित हैं। अग्नि और वायु, सूर्य और चन्द्र, विद्युत् और नक्षत्र, वर्तमान और भूत-भविष्यत्—ये सब जैसे ब्रह्माड में दिखाई दे रहा है, वैसे ही पिंड के हृदयाकाश में भी वर्तमान हैं ॥३॥

तम्—इस (जिज्ञासु) को, चेद्—अगर, ब्रूयु—कहे, यद् इदम्—जो यह, अस्मिन् ब्रह्मपुरे—इस ब्रह्म-नगरी (शरीर) में, दहरम् पुण्डरीकम् वेश्म—छोटा कमल-जैसा घर-जैसा है, (और) दहर अस्मिन् अन्त आकाश—सूक्ष्म इस (घर) के अन्दर आकाश है (तो), किम्—क्या, कौन-सा, तद्—वह (ज्ञेय पदार्थ), अत्र—इस (आकाश) में, विद्यते—विद्यमान है, यद् अन्वेष्टव्यम्—जिसको ढूंढना चाहिये, यद् वा व—(और) जिसको ही, विजिज्ञासितव्यम्—जानना चाहिये, इति—यह (कहे तो), स—वह (जिज्ञासु), ब्रूयात्—कहे (उत्तर दे) ॥२॥

यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावा-पृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति ॥३॥

यावान्—जितना या जैसा, वै—तो, अयम्—यह (बाह्य), आकाश—आकाश है, तावान्—उतना, वैसा, एष—यह, अन्त हृदये—हृदय के अन्दर, आकाश—आकाश है, उभे—दोनों, अस्मिन्—इस (हृदयाकाश) में, द्यावापृथिवी—द्यु-लोक और पृथिवी-लोक, अन्त एव—अन्दर ही, समाहिते—भली प्रकार रखे हुए (विद्यमान) हैं, उभौ—दोनों, अग्नि च वायु च—अग्नि और वायु, सूर्याचन्द्रमसौ—सूर्य और चन्द्रमा, उभौ—दोनों, विद्युत्—बिजली, नक्षत्राणि—नक्षत्र (तारे), यत्—जो, च—और, अस्य—इस (जीवात्मा) का, इह—इस लोक में, अस्ति—है, यत् च—और जो, न—नहीं, अस्ति (विद्यमान) है, (न+अस्ति—नष्ट हो चुका और भविष्यत् में होगा), सर्वम् तद्—वह सब कुछ, अस्मिन्—इस (हृदयाकाश) में, समाहितम्—(आशय-वासना रूप में) भली प्रकार सुरक्षित रखा है, इति—यह (उत्तर दे) ॥३॥

इस पर अगर कोई कह उठे कि यदि शरीर-रूपी इस ब्रह्म-पुरी में सब-कुछ समाया हुआ है, सब 'भूत', सब 'कामनाएं', तो जब यह शरीर-रूपी ब्रह्म-पुरी जरा-जीर्ण हो जाती है, या जब इसका ध्वस हो जाता है, तब इन 'भूतों', इन 'कामनाओं' का क्या बच रहता है ? ॥४॥

ऐसी शका करने वाले को उपासक उत्तर दे—अरे, इस शरीर के जरा-जीर्ण होने पर वह हृदयाकाश में रहने वाला जीर्ण नहीं होता, न शरीर के नाश से उसका नाश होता है। यह हृदयाकाश झूठा नहीं, सच्चा ब्रह्म-पुर है, इसमें पहुंचकर सब कामनाएं पूर्ण हो जाती हैं। इस हृदयाकाश में निवास करने वाला आत्मा पापों से अलग है, जरा और मृत्यु से छूटा हुआ है, भूख और प्यास से परे है, सत्य-काम—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन सत्य कामनाओं वाला और सत्य-सकल्प है। जैसे प्रजाएं राजा के शासन के अनुसार जब अपने-अपने काम में जुट जाती हैं, तब जिस-जिस प्रदेश, जनपद या क्षेत्र

त चेद्ब्रूयुरस्मिंश्चेदिद ब्रह्मपुरे सर्वं समाहितं सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैनज्जरा वाप्नोति प्रध्वंसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥४॥

तम् चेद् ब्रूयु—अगर उस (जिज्ञासु) को कहें, अस्मिन्—इस, चेद्—अगर, इदम्—यह, ब्रह्मपुरे—ब्रह्म-नगरी (शरीर) में, सर्वम्—सब कुछ, समाहितम्—सुरक्षित रखा है, सर्वाणि च—और सारे, भूतानि—भूत, सर्वे च कामा—और सारे काम्य-भोग, यदा—जब, एनत्—इस (ब्रह्म-नगरी शरीर) को, जरा वा—या तो बुढ़ापा, आप्नोति—आ पहुचता है, प्रध्वसते वा—या (यह) नष्ट हो जाता है, टूट-गिर जाता है, किम्—क्या, कुछ, तत—उसके बाद, अतिशिष्यते—रह जाता है, इति—यह (कहे) ॥४॥

स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत एतत्सत्य ब्रह्मपुरमस्मिन्कामा समाहिता एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपास सत्यकाम सत्यसकल्पो यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासन य यमन्त-मभिकामा भवन्ति य जनपद य क्षेत्रभाग त तमेवोपजीवन्ति ॥५॥

स—वह (जिज्ञासु), ब्रूयात्—(उत्तर में) कहे, न—नहीं, अस्य—इस (शरीर) के, जरया—बुढ़ापे से, एतत्—यह (हृदयाकाश में विद्यमान आत्मा), जीर्यति—बूढ़ा होता है, शिथिल होता है, न—नहीं, वधेन—वध

की कामना करती है, वह-वह उन्हें राजा के अनुग्रह से प्राप्त हो जाता है, ऐसे ही मनुष्य जब हृदयाकाश में बसने वाले आत्मा के आदेश के अनुसार अपने जीवन में जुट जाता है, तब आत्मा के अनुग्रह से उसकी कामनाएं पूर्ण हो जाती हैं ॥५॥

और, जैसे इस लोक में अपने कर्म से, अपनी भुजाओं से उपार्जित सम्पत्ति, भोग लेने के बाद क्षीण हो जाती है, अर्थात् कर्मों से जीता हुआ 'कर्मजित्-लोक' समाप्त हो जाता है, वैसे ही उस लोक में दानादि पुण्य-कर्मों से उपार्जित—'पुण्यजित्-लोक' भी, भोग लेने

(नाश) से, **अस्य**—इस (शरीर) के, **हन्यते**—(यह आत्मा) मरता है, **एतत्**—यह (आत्मा) तो, **सत्यम्**—सदा सत्तावाला, वास्तविक, **ब्रह्मपुरम्**—ब्रह्म की नगरी है (ब्रह्म इसमें निवास करता है), **अस्मिन्**—इस ब्रह्मपुर (आत्मा) में, **कामा**—कामनाएं, **समाहिता**—सुरक्षित रखी हैं, **एष**—यह, **आत्मा**—आत्मा, **अपहतपाप्मा**—पाप-कर्मों से दूर, **विजर**—बुढ़ापे से रहित, अजर, **विमृत्यु**—मृत्यु से रहित (अमर), **विशोक**—मानसिक क्लेशों से मुक्त, **वि-जिघत्स**—भूख के दु ख (अशनाया) से बरी, **अपिपास**—पिपासा से शून्य, **सत्यकाम**—सच्ची कामनाओं वाला, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष—ये कामनाएं हैं, **सत्य-सकल्प**—सच्चे (सफल) सकल्प (विचार) करनेवाला है, **यथा हि एव**—जैसे, **इह**—इस लोक में, **प्रजा**—प्रजाएं, **अनु+आविशन्ति**—अनुवर्तन (पालन, चेष्टा) करती है, **यथा+अनुशासनम्**—राजाज्ञा के अनुकूल, **यम् यम्**—जिस-जिस, **अन्तम्**—उद्देश्य वा सीमान्त को, **अभिकामा**—कामना-वाली, **भवन्ति**—होती हैं, **यम् जनपदम्**—जिस जनपद (देश-भाग) को, **यम् क्षेत्रभागम्**—जिस क्षेत्र के विभाग को, **तम् तम् एव**—उस-उस ही को, **उपजीवन्ति**—(पाकर) भोग करती हैं ॥५॥

तद्यथेह कर्मजितो लोक क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोक क्षीयते तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवत्यथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥६॥

तद् यथा—तो जैसे, **इह**—इस जगत् में, **कर्मजित**—कर्म से जीता (अर्जित), **लोक**—स्थिति, अवस्था, **क्षीयते**—(कर्म भोगने के बाद) क्षीण हो जाती है, पास नहीं रहती, **एवम् एव**—इस प्रकार ही, **अमुत्र**—उस लोक (जन्म) में, **पुण्यजित**—पुण्योपार्जित, **लोक**—लोक, स्थिति, **क्षीयते**—(पुण्य समाप्त होने पर) नष्ट हो जाती है, **तद् ये**—तो जो, **इह**—इस ससार (जन्म)

के बाद समाप्त हो जाता है। जो इस जन्म में 'आत्मा' को, और आत्मा की सच्ची कामनाओं को ढूंढे बिना परलोक को चल देते हैं, उनकी सब लोकों में निर्बाध गति नहीं होती, जो इस जन्म में 'आत्मा' को, और आत्मा की सच्ची कामनाओं को पाकर इस लोक से कूच करते हैं, उनकी सब लोकों में निर्बाध गति होती है ॥६॥

अष्टम प्रपाठक—(दूसरा खंड)

आत्मा को पा लेने वाले के लिये कहीं बाहर भटकने की आवश्यकता नहीं होती, वह सब कामनाओं को आत्मा में पा लेता है। अगर उसे 'पितृ-लोक' की कामना होती है, तो उसके संकल्प-मात्र से उसे चारों तरफ पितृ-रूप के दर्शन होने लगते हैं, और वह 'पितृ-लोक' से सम्पन्न होकर अपने को महिमाशाली अनुभव करता है ॥१॥

से, आत्मानम्—आत्मा को, ब्रह्म को, अननुविद्य—न जान कर, न पाकर, व्रजन्ति—चले जाते हैं, मर जाते हैं, एतान् च—और इन, सत्यान्—सत्य, वास्तविक, कामान्—(धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप) कामनाओं को, तेषाम्—उनका, सर्वेषु लोकेषु—सब लोकों में, अकामचार—प्रतिहत (कुण्ठित) गति, भवति—होती है (निर्बाध गति नहीं होती), अथ—और, ये—जो, आत्मानम्—आत्मा-परमात्मा को, अनुविद्य—जान कर, प्राप्त कर, खोज कर, व्रजन्ति—चले जाते हैं, मर जाते हैं, एतान् च सत्यान् कामान्—और इन वास्तविक कामनाओं को, तेषाम्—उनका, सर्वेषु लोकेषु—सब लोकों में, कामचार-यथेच्छ गमन, निर्बाध गति, भवति—होती है ॥६॥

स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः
समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन सपन्नो महीयते ॥१॥

स—वह, यदि—अगर, पितृलोक-काम—पिता (पूर्व पुरुषों) के लोक (सुख-साधन) की कामनावाला, भवति—होता है (तो), संकल्पात् एव—इच्छामात्र से ही, अस्य—इस (आत्म-ज्ञानी) के, पितरः—पिता (पूर्व-पुरुष), समुत्तिष्ठन्ति—उठ खड़े होते हैं, दीख पड़ते हैं, तेन—उस, पितृ-लोकेन—पितृ-लोक (सुख-साधन) से, सम्पन्न—युक्त, समृद्ध, महीयते—(स्वयम् को) महिमाशाली समझता है ॥१॥

यदि उसे 'मातृ-लोक' की कामना होती है, तो उसके सकल्पमात्र से उसे चारो तरफ माताए-ही-माताए दीख पड़ती है, और वह 'मातृ-लोक' से सम्पन्न होकर अपने को महिमाशाली अनुभव करता है ॥२॥

यदि उसे 'भ्रातृ-लोक' की कामना होती है, तो उसके संकल्प-मात्र मे उसे चारो तरफ भाई-ही-भाई नजर आने लगते है, और वह 'भ्रातृ-लोक' से सम्पन्न होकर अपने को महिमाशाली अनुभव करता है ॥३॥

यदि उसे 'स्वसृ-लोक' की कामना होती है, तो उसके सकल्प-मात्र से उसे चारो तरफ वहिन-ही-वहिन दिखाई देती है, और वह 'स्वसृ-लोक' से सम्पन्न होकर अपने को महिमाशाली अनुभव करता है ॥४॥

यदि उसे 'सखि-लोक' की कामना होती है, तो उसके सकल्प-मात्र से उसे सर्वत्र सखा-ही-सखा दिखाई देते है, और वह 'सखि-लोक' से सम्पन्न होकर अपने को महिमाशाली अनुभव करता है ॥५॥

अथ यदि मातृलोककामो भवति सकल्पादेवास्य मातर
समुत्तिष्ठन्ति तेन मातृलोकेन सपन्नो महीयते ॥२॥

अथ यदि—और अगर, मातृलोककाम—मातृ-लोक (सुख-साधन) की इच्छा वाला, भवति—होता है, सकल्पाद् महीयते—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति सकल्पादेवास्य भ्रातर
समुत्तिष्ठन्ति तेन भ्रातृलोकेन सपन्नो महीयते ॥३॥

अथ यदि—और अगर, भ्रातृ-लोककाम—भाइयो के स्थिति की कामनावाला, भवति महीयते—अर्थ पूर्ववत् ॥३॥

अथ यदि स्वसृलोककामो भवति सकल्पादेवास्य स्वसार
समुत्तिष्ठन्ति तेन स्वसृलोकेन सपन्नो महीयते ॥४॥

अथ यदि—और अगर, स्वसृ-लोककाम—वहिनो के लोक (सुख-साधन) की कामनावाला, भवति स्वसार (वहने) महीयते—अर्थ पूर्ववत् ॥४॥

अथ यदि सखिलोककामो भवति सकल्पादेवास्य सखाय
समुत्तिष्ठन्ति तेन सखिलोकेन सपन्नो महीयते ॥५॥

अथ यदि—और अगर, सखिलोककाम—मित्रो के लोक (सुख-साधन) की कामना वाला, भवति सखाय (मित्र) महीयते—अर्थ पूर्ववत् ॥५॥

यदि उसे 'गन्ध-माल्य-लोक' की कामना होती है, तो उसके संकल्प-मात्र से उसे सब जगह गन्ध और माला का ही अनुभव होता है, और वह 'गन्ध-माल्य-लोक' से सम्पन्न होकर महिमाशाली हो जाता है ॥६॥

यदि उसे 'अन्न-पान-लोक' की कामना होती है, खाने-पीने में ही मजा लेना चाहता है, तो उसके संकल्प-मात्र से खान-पान की वस्तुएं एकत्रित हो जाती हैं, और वह 'अन्न-पान-लोक' से सम्पन्न होकर गौरव अनुभव करता है ॥७॥

यदि उसे 'गीत-वादित्र-लोक' की कामना होती है, तो उसके संकल्प-मात्र से गाना-बजाना उठ पड़ता है, और वह 'गीत-वादित्र-लोक' से सम्पन्न होकर महिमा पा लेता है ॥८॥

यदि उसे 'स्त्री-लोक' की कामना होती है, तो उसके संकल्प-मात्र से स्त्रियां-ही-स्त्रियां प्रकट हो जाती हैं, और वह 'स्त्री-लोक' से सम्पन्न होकर अपने को गौरवशाली अनुभव करता है ॥९॥

अथ यदि गन्धमाल्यलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गन्धमाल्ये समुत्तिष्ठतस्तेन गन्धमाल्यलोकेन संपन्नो महीयते ॥६॥

अथ यदि—और अगर, गन्ध-माल्यलोक-काम —गन्ध-माल्य (सुगन्ध और माला) के लोक (सुख-साधन) की कामना वाला, भवति महीयते—अर्थ पूर्ववत् ॥६॥

अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति संकल्पादेवास्यान्नपाने समुत्तिष्ठतस्तेनान्नपानलोकेन संपन्नो महीयते ॥७॥

अथ यदि—और अगर, अन्न-पान-लोककाम —अन्न-पान (खाद्य और पेय) के लोक (सुख-साधन) की कामना वाला, भवति महीयते—अर्थ पूर्ववत् ॥७॥

अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गीतवादित्रे समुत्तिष्ठतस्तेन गीतवादित्रलोकेन संपन्नो महीयते ॥८॥

अथ यदि—और अगर, गीत-वादित्र-लोककाम —गीत-वादित्र (गाना-बजाना) के लोक (सुख-साधन) की कामनावाला, भवति महीयते—अर्थ पूर्ववत् ॥८॥

अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्त्रीलोकेन संपन्नो महीयते ॥९॥

संक्षेप में, जिस-जिस विषय को वह चाहता है, जिस-जिस विषय की कामना करता है, वह उसके संकल्प-मात्र से उठ खड़ा होता है, और वह उससे सम्पन्न होकर महिमा अनुभव करता है ॥१०॥

अष्टम प्रपाठक--(तीसरा खंड)

तो यह क्या है ? यह स्त्री की कामना, गन्ध-माल्य और गीत-वादित्र की कामना का उल्लेख क्यों किया ? मनुष्य की जो सत्य-कामनाएं, ऊंची कामनाएं हैं, वे अनृत से, नीची कामनाओं से ढकी रहती हैं--'सत्या कामा अनृतापिधाना' ('हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्'--ईशोपनिषद्, १५)। सो ये स्त्री-गन्ध-माल्यादि की अनृत-कामनाएं ब्रह्म-ज्ञान की सत्य-कामनाओं को ढके रहती हैं। जो यहां से मर कर चला गया उसे कोई फिर यहां कैसे देख सकता है ? उन्हें यहां देखने की इच्छा एक अनृत इच्छा है--मनुष्य की इस इच्छा में 'सत्य' को 'अनृत' ने ढका हुआ है ॥१॥

अथ यदि--और अगर, स्त्री-लोककाम--स्त्री (पत्नी) के लोक (सुख-साधन) की कामना वाला, भवति महीयते--अर्थ पूर्ववत् ॥९॥

यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य
संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन संपन्नो महीयते ॥१०॥

यम् यम्--जिस-जिस, अन्तम्--उद्देश्य को, प्रदेश को, अभिकाम--चाहनेवाला, भवति--होता है, यम्--जिस, कामम्--भोग को, कामयते--चाहता है, स--वह (भोग), अस्य--इसके, संकल्पाद् एव--संकल्प से ही, समुत्तिष्ठति--उठ खड़ा होता है, दीख पड़ता है, तेन सम्पन्न महीयते--उससे युक्त (समृद्ध) हुआ (स्वयं को) महिमाशाली समझता है ॥१०॥

त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानास्तेषां सत्यानां सता-
मनृतमपिधानं यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तमिह दर्शनाय लभते ॥१॥

ते--वे, इमे--ये, सत्या--सच्चे, वास्तविक, कामा--भोग, कामनाएं, अनृत+अपिधाना--अनृत (असत्य) से आवृत (ढकी हुई) हैं, तेषाम्--उन (कामनाओं) का, सत्यानाम्--सच्चे, वास्तविक, सताम्--सत्तावाले, अनृतम्--झूठ, अपिधानम्--आवरण, ढक्कन है, य य--जो-जो, हि--ही, अस्य--इस (मनुष्य) का, इत--यहां से (इस लोक से), प्रैति--मरकर चला जाता है, न--नहीं, तम्--उसको, इह--इस जगत् में, दर्शनाय--देखने के लिए, लभते--प्राप्त करता है, (दर्शनाय लभते--देख पाता है) ॥१॥

जो यहा इसके जीवित है, या जो मर चुके है, और जो-कुछ वह चाहता है परन्तु पा नहीं सकता—उस सबको हृदय-मन्दिर में वर्तमान ब्रह्म के पास पहुचकर यह पा लेता है। हृदय-मन्दिर में सत्य-कामनाएं मौजूद रहती है, परन्तु विषयो के प्रति तृष्णा का उन पर आवरण चढा रहता है—'सत्या कामा अनृतापिधाना.'। तृष्णाओ के इस अनृत-आवरण के कारण ही वह अपने सत्य-स्वरूप को नहीं पहचान पाता। जैसे पृथिवी में दबी हुई सुवर्ण की निधि को, उसके ऊपर चलते-फिरते भी नहीं जान पाते, ठीक ऐसे सब जीव-जन्तु सुषुप्ति-अवस्था में ब्रह्म-लोक में दिन-प्रतिदिन पहुचते हुए भी आत्मा की निधि को नहीं पा सकते क्योंकि तृष्णा-रूपी अनृत के आवरण से उनकी चेतना ढकी रहती है। आत्मा के यथार्थ-रूप को जो जान जाता है, वह अनृत-कामनाओ के आवरण को हटाकर सत्य-कामनाओ को अपनाता है ॥२॥

अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेता यच्चान्यदिच्छन्न लभते सर्वं तदत्र गत्वा विन्दतेऽत्र ह्यस्यैते सत्या कामा अनृतापिधानास्तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमा सर्वा प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एत ब्रह्मलोक न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढा ॥२॥

अथ—और, ये च—और जो, अस्य—इस (मनुष्य) के, इह—इस लोक मे, जीवा —जीवित, ये च—और जो, प्रेता —मृत, यत् च—और जिस, अन्यद्—अन्य को, दूसरे को, इच्छन्—चाहता हुआ, न लभते—नहीं पाता है, सर्वम् तद्—वह सब कुछ, अत्र—यहा, इस (ब्रह्मलोक) मे, गत्वा—जाकर, पहुच कर, विन्दते—पा लेता है, अत्र हि—यहा (इस लोक—इस जन्म मे) ही, अस्य—इसके, एते सत्या कामा —ये सच्चे वास्तविक भोग (कामनाए), अनृतापिधाना —असत्य से आवृत है, तद् यथा अपि—जो जैसे भी, हिरण्य-निधिम्—सुवर्ण-कोष को, निहितम्—(पृथिवी मे) रखे (गाडे) हुए, अक्षेत्रज्ञा — क्षेत्र (पृथिवी—खेत) को न जानने वाले, उपरि-उपरि—(खेत के) ऊपर-ऊपर, सचरन्त —चलते-फिरते, न—नहीं, विन्देयु —प्राप्त कर पाते है, एवम् एव— इस प्रकार ही, इमा —ये, सर्वा प्रजा —सारी प्रजाए, अह अह —प्रतिदिन, गच्छन्त्य —(सुषुप्ति-अवस्था मे) जाती हुई, एतम्—इस, ब्रह्मलोकम्—ब्रह्म के निवास स्थान हृदयाकाश को, न—नहीं, विन्दन्ति—प्राप्त करती है, अनृतेन— असत्य से, हि—क्योंकि, प्रत्यूढा —आवृत, आच्छादित है ॥२॥

वह आत्मा 'हृदय' में है। 'हृदय' को 'हृदय' कहते भी इसीलिये है क्योंकि 'हृदि+अयम्'—'वह हृदय में है'। जो इस रहस्य को दिन-प्रतिदिन जानता है वह, उसे बाहर ढूढने के स्थान में हृदय के भीतर ढूढता है, और वहीं मानो स्वर्ग को पा जाता है ॥३॥

जब यह जीव निर्मल होकर, इस शरीर से उठकर, अर्थात् इस शरीर में आत्म-भावना को त्यागकर, उस परम-ज्योति को प्राप्त होकर अपने शुद्ध-रूप में प्रकट होता है, तब उसी को 'आत्मा' कहा जाता है—यही 'अमृत' है, 'अभय' है, यही 'ब्रह्म' है—इसी ब्रह्म का नाम 'सत्य' है ॥४॥

स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृदय-
मिति तस्माद्धृदयमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ॥३॥

स वै एष—वह यह, आत्मा—जीवात्मा, हृदि—हृदय में (विद्यमान है), तस्य—उस (हृदय) का, एतद् एव—यह ही, निरुक्तम्—निर्वचन है, हृदि+अयम्—हृदय में यह है, इति—यह (निर्वचन है), तस्माद्—उस कारण से, हृदयम्—हृदय (हृदय का नाम) है, अहः अहः—प्रतिदिन, वै—ही, एववित्—इस प्रकार जाननेवाला, स्वर्गम् लोकम्—स्वर्ग (सुख-प्रधान) लोक (अवस्था) को, एति—जाता है, प्राप्त करता है ॥३॥

अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योति-
रुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाचैतद-
मृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति ॥४॥

अथ—और, य एष—जो यह, सम्प्रसाद—निर्मल, पाप से रहित (जीवात्मा), अस्मात्—इस, शरीरात्—शरीर (की आसक्ति) से, समुत्थाय—ऊपर उठकर, शरीर छोड़ कर, परम् ज्योति—परम प्रकाशमय (उत्तम ज्योति) ब्रह्म को, उपसपद्य—प्राप्त कर, स्वेन—अपने, रूपेण—(शुद्ध-निर्मल) रूप से, अभिनिष्पद्यते—युक्त हो जाता है (अपने वास्तविक रूप को पहिचान लेता है—माया-मोह से छूट जाता है), एष आत्मा—यह (स्वरूप को प्राप्त) ही आत्मा है, इति ह उवाच—यह भी कहा (कि), एतद् अमृतम्—यह अमर है, अभयम्—निर्भय है, एतद्—यह, ब्रह्म—ब्रह्म (बड़ा) है, इति—यह (कहा), तस्य—उस, ह वै—निश्चय से, एतस्य—इस, ब्रह्मण—ब्रह्म का, नाम—संज्ञा, नाम, सत्यम् इति—'सत्य' यह है ॥४॥

'सत्य' में 'स+ति+य'—ये तीन अक्षर हैं (बृहदा० ५, ५, १)। यह जो 'सत्' है, यह 'अमृत', अर्थात् ब्रह्म का द्योतक है; यह जो 'ति' है, यह 'मर्त्य', अर्थात् 'जगत्' का द्योतक है, जो 'यम्' है, यह दोनो को मिलाने का सूचक है—क्योंकि इससे 'अमृत' तथा 'मर्त्य' दोनो की प्राप्ति होती है, इसलिये 'यम्' दोनो का बन्धक है। जो व्यक्ति दिन-प्रतिदिन सत्य के इस रहस्य को जानता है, अमृत और मर्त्य का, ब्रह्म और जगत् का समन्वय करता रहता है, जगत् से ब्रह्म और ब्रह्म से जगत् के दर्शन करता रहता है, वह मानो स्वर्ग-लोक को पा जाता है ॥५॥

अष्टम प्रपाठक—(चौथा खंड)

'अमृत' और 'मर्त्य'-लोक (Spiritual and Material Worlds) आपस में एक-दूसरे से टूट न जायं, इस हेतु यह 'आत्मा' एक पुल के समान है, यह आत्मा इन दोनो लोको की विधृति है, दोनो को

तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सत्तियमिति तद्यत्सत्-
दमृतमथ यत्ति तन्मर्त्यमथ यद्य तेनोभे यच्छति यदने-
नोभे यच्छति तस्माद्यमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ॥५॥

तानि—वे, ह वै—निश्चय से, एतानि—ये, त्रीणि—तीन, अक्षराणि—अक्षर ('सत्य' पद मे) हैं, सत्+ति+यम् इति—'सत्', 'ति', 'यम्' इस रूप में, तद यद् 'सत्'—तो जो 'सत्' (अक्षर) है, तद् अमृतम्—वह (उसका अर्थ) अमर है, अथ यत्—और जो, ति—'ति' अक्षर है, तत् मर्त्यम्—वह (उसका भाव) मरणशील है, अथ यत्—और जो, यम्—'यम्' अक्षर है, तेन—उससे, उभे—दोनो (अमृत व मर्त्य, सत् और ति) को, यच्छति—नियमन करता है, यद्—जो, अनेन—इससे, उभे—दोनो को, यच्छति—नियम में रखता है, तस्माद्—अतएव, यम्—यह 'यम्' (कहलाता है), अह अह—प्रतिदिन, वै—ही, एवंवित्—इस प्रकार (रूप मे) जानने वाला, स्वर्गम् लोकम् एति—स्वर्गलोक (सुख-स्थिति) को प्राप्त होता है ॥५॥

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय। नैतं
सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतं
सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः ॥१॥

अथ—और, य आत्मा—जो आत्मा है, स—वह, सेतु—पुल, दो छोरों को मिलानेवाला, विधृति—धारण करनेवाला, एषाम्—इन,

धारण करने वाला है। दिन-रात, जरा-मृत्यु-शोक, सुकृत-दुष्कृत—इस पुल के इधर-इधर इस मर्त्य-लोक में ही रह जाते हैं, उस पार अमृत-लोक, अर्थात् ब्रह्म-लोक में नही जा सकते ॥१॥

(इस स्थल पर उपनिषत्कार ने भौतिक तथा आध्यात्मिक—इन दोनो मे जो खाई और परस्पर-विरोध दिखाई देता है उसे पाटने का प्रयत्न किया है। उसका कहना है कि इन दोनो को अलग-अलग समझना गलती है, दोनो मे अपना विकास करना ही वास्तविक विकास है। इन दोनो को मिलाने वाला आत्मा है।)

इस पुल के इस पार से ही सब पाप लौट आते हैं—जब तक 'जीव' अपने शुद्ध 'आत्मा' के रूप में आकर ब्रह्म-लोक के साथ ऐसे नही जुड जाता जैसे पुल नदी के दो पाटो को मिला देता है, तभी तक उसके साथ पाप का सम्पर्क है, उसके बाद, उस पार का लोक पाप से पृथक् है, वह ब्रह्म-लोक है। इसलिये इस पुल को पार करके

लोकानाम्—लोको के, **असभेदाय**—नष्ट-भ्रष्ट, तहस-नहस न होने देने के लिए, **न एतम्**—नही इस, **सेतुम्**—सेतु-रूप (आत्मा) को, **अहोरात्रे**—दिन-रात (काल), **तरत**—पार करते हैं, रौदते-नष्ट करते है (काल की पहुच से बाहर—त्रिकालातीत है), **न जरा**—न बुढापा (अजर है), **न मृत्यु**—न मृत्यु (अमर है), **न शोक**—न शोक (आनन्दस्वरूप है), **न सुकृतम् न दुष्कृतम्**—न पुण्य-कर्म और न पाप-कर्म (कर्मबन्धन से रहित है), **सर्वे**—सारे, **पाप्मान**—पाप, **अत**—इस (आत्मा) से, **निवर्तन्ते**—(पास जाकर) लौट जाते है (अपापविद्ध—निष्पाप-निष्कलक है), **अपहतपाप्मा**—पाप से मुक्त, **हि**—ही, **एष**—यह, **ब्रह्मलोक**—ब्रह्म का निवास-स्थान (आत्मा) है (जिसमे रहते ब्रह्म का ज्ञान होता है) ॥१॥

तस्माद्वा एतँ सेतु तीर्त्वाऽन्ध सन्ननन्धो भवति विद्ध सन्नविद्धो भवत्युपतापी सन्ननुपतापी भवति तस्माद्वा एतँ सेतु तीर्त्वापि नक्तमहरेवाभिनिष्पद्यते सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोक ॥२॥

तस्माद् वै—इस कारण से ही, **एतम्**—इस, **सेतुम्**—सेतु (आत्मा) को, **तीर्त्वा**—पार कर, प्राप्त कर (जानकर), **अन्ध सन्**—अन्धा (ज्ञान-शून्य) होता हुआ, **अनन्ध**—समाखा, आखोवाला (ज्ञानी), **भवति**—हो जाता है, **विद्ध सन्**—(पाप से) बिंधा हुआ, **अविद्ध**—न बिंधा हुआ (अपापविद्ध), **भवति**—हो जाता है **उपतापी**—ज्वर-ग्रस्त (मानसिक तापवाला), **सन्**—

अन्धा सुजाखा हो जाता है, विद्ध अविद्ध हो जाता है, रोगी नीरोग हो जाता है, इसीलिये इस पुल को पार करने पर रात भी दिन के समान हो जाती है, सब अन्धकार दूर हो जाता है, इस ब्रह्म-लोक में सदा प्रकाश-ही-प्रकाश रहता है ॥२॥

जो इस ब्रह्म-लोक को 'ब्रह्मचर्य' से ढूंढते हैं, उन्हीं को ब्रह्म-लोक प्राप्त होता है, उनकी सब लोको में निर्बाध गति होती है ॥३॥

अष्टम प्रपाठक—(पांचवां खंड)

जिसे कर्म-काडी लोग 'यज्ञ' कहते हैं, यह 'ब्रह्मचर्य' ही है। 'यज्ञ' शब्द 'यत्+ज्ञ' से बना है, इसका अर्थ है, जिससे ब्रह्म जाना जाय। 'ब्रह्मचर्य' से ही उस 'ज्ञाता'—'ब्रह्म'—को जाना जाता है। जिसे

होता हुआ, अनुपतापी—ज्वर-मुक्त, स्वस्थ (पश्चात्ताप से मुक्त—स्व-स्थ), तस्माद् वै—इस कारण से ही, एतम्—इस, सेतुम्—सेतु-रूप (आत्मा को), तीर्त्वा—तर कर, पार कर (जानकर), अपि—भी, नक्तम्—अन्धकारमयी रात्रि, (नक्तम् अपि—रात्रि भी), अह एव—(प्रकाशमान) दिन ही, अभिनिष्पद्यते—सम्पूर्णतया निष्पन्न हो जाता है (अविद्यान्धकार नष्ट हो कर विद्या-सूर्य उदित हो जाता है), सकृद्—निरन्तर, विभात—प्रकाशमय, ज्योतिर्मय, हि एव—ही, एष—यह (आत्मा), ब्रह्म-लोक—ब्रह्म का निवास-स्थान है ॥२॥

तद्य एवैत ब्रह्मलोक ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष
ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥३॥

तद्—तो, ये—जो (मुमुक्षु), एव—ही, एतम् ब्रह्मलोकम्—इस ब्रह्म के अधिष्ठान (आत्मा) को, ब्रह्मचर्येण—वेदानुशीलन, अखण्ड इन्द्रिय-निग्रह (ब्रह्मचर्य), ब्रह्म-जिज्ञासा से, अनुविन्दन्ति—खोजते, प्राप्त करते, साक्षात् करते हैं, तेषाम् एव—उनका ही (उनको ही प्राप्त), एष ब्रह्मलोक—यह ब्रह्म-लोक (स्वरूप मे अवस्थान) है, तेषाम्—उन (आत्म-ब्रह्मज्ञानियो) का, सर्वेषु लोकेषु कामचार भवति—सब लोको मे अबाध गति (पहुंच) होती है (वे सब को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष करते हैं) ॥३॥

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता त विन्दतेऽथ
यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वात्मानमनुविन्दते ॥१॥

अथ यद्—और जो कोई (ब्रह्मज्ञान का साधन), यज्ञ—यज्ञ है, इति—ऐसे, आचक्षते—कहते है, (वास्तव मे) ब्रह्मचर्यम् एव—ब्रह्मचर्य

कर्म-काण्डी लोग 'इष्ट' कहते हैं, यह भी 'ब्रह्मचर्य' ही है, 'ब्रह्मचर्य' के द्वारा ही उपासक उसकी तीव्र इच्छा मन में जगाकर 'आत्मा' को प्राप्त करता है ॥१॥

जिसे कर्म-काण्डी लोग 'सत्रायण-यज्ञ' कहते हैं, यह भी 'ब्रह्मचर्य' ही है, क्योंकि 'ब्रह्मचर्य' से ही 'सत्'-रूप 'आत्मा' का त्राण होता है, जिसे कर्म-काण्डी 'मौन' कहते हैं, यह भी 'ब्रह्मचर्य' ही है, क्योंकि 'मौन' 'मन' से बना है, और 'ब्रह्मचर्य' से ही 'आत्मा' प्राप्त होता तथा उसका 'मनन' होता है ॥२॥

(का रूप) ही है, तद्—वह (यज्ञ), ब्रह्मचर्येण हि एव—क्योंकि ब्रह्मचर्य से ही, यः—जो, ज्ञाता—(आत्मा) ज्ञानी है, तम्—उस (यज्ञ-यजनीय) को, विन्दते—पा जाता है, अथ यद्—और जो कोई (ब्रह्म-ज्ञान का साधन), इष्टम्—इष्ट (इष्टि-कर्म) है, इति—ऐसे, आचक्षते—कहते है, (वस्तुतः) ब्रह्मचर्यम् एव तद्—वह (इष्टि भी) ब्रह्मचर्य (का रूप) ही है, ब्रह्मचर्येण हि एव—क्योंकि ब्रह्मचर्य से ही, इष्ट्वा—देव-पूजा, संगति (मेल) कर, आत्मानम्—आत्मा (स्व-स्वरूप) को, अनुविन्दते—ढूंढ लेता है, प्राप्त कर लेना है ॥१॥

अथ यत्सत्त्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण
ह्येव सत आत्मनस्त्राणं विन्दतेऽथ यन्मौनमित्याचक्षते
ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येवात्मानमनुविद्य मनुते ॥२॥

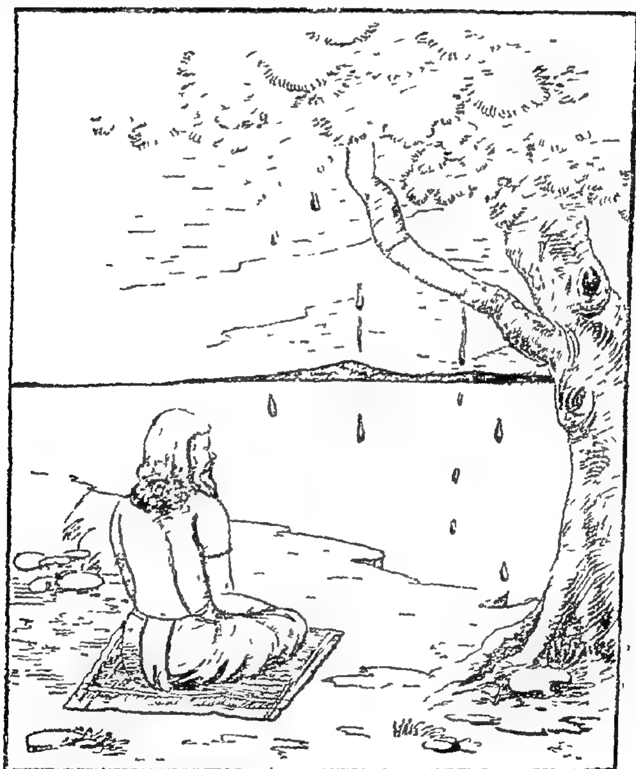
अथ यत्—और जो (आत्म-ज्ञान का साधन), सत्त्रायणम्—सत्रायण (नामक) याग-विशेष है, इति आचक्षते—ऐसे कहते हैं, ब्रह्मचर्यम् एव तत्—ब्रह्मचर्य (का नाम) ही वह (सत्रायण) है, ब्रह्मचर्येण हि एव—क्योंकि ब्रह्मचर्य से ही, सतः—(सदा) सत्तावाले (अविनाशी), आत्मनः—आत्मा की, स्वयं की, त्राणम्—रक्षा, विन्दते—प्राप्त करता है, अथ यत्—और जो, मौनम्—मुनि-भाव (मनन-शीलता) को (ब्रह्म-ज्ञान का साधन है), इति—इस प्रकार, आचक्षते—कहते हैं, ब्रह्मचर्यम् एव तद्—(वस्तुतः) ब्रह्मचर्य (का रूप) ही वह (मौन) है, ब्रह्मचर्येण हि एव—क्योंकि ब्रह्मचर्य से ही, आत्मानम्—आत्म-स्वरूप को, अनुविद्य—खोजकर, प्राप्त कर, जानकर, मनुते—मनन करता है (वास्तविक मनन तब ही होता है) ॥२॥

जिसे कर्म-काडी 'अनाशकायन-यज्ञ' कहते है, यह भी 'ब्रह्मचर्य' ही है, 'अनाश' का अर्थ है, जो नष्ट नही होता, 'ब्रह्मचर्य' से जिस आत्म-रूप को उपासक प्राप्त करता है, वह 'आत्मा' नष्ट नहीं होता। जिसे कर्म-काडी 'अरण्यायन', अर्थात् ब्रह्म को ढूढने के लिये जगल में चले जाना कहते है, यह भी 'ब्रह्मचर्य' है। 'अरण्यायन' में दो शब्द है, 'अर' और 'ण्य'। यहा से तीसरा जो द्यु-लोक है, वहा 'अर' और 'ण्य' नामक दो समुद्र है और 'ऐरमदीय'-नामक एक सरोवर है। वहा एक 'अश्वत्थ'-नामक वृक्ष है, जिसमें से सोम-रस सदा टपका करता है। प्रभु की बनाई हुई सोने की वहां एक अपराजिता ब्रह्म-पुरी है (ब्रह्म को जिसने पा लिया, वह मानो ब्रह्म-पुरी मे रहने लगा। उसका भोजन सोम-रस है, जो अश्वत्थ नामक वृक्ष से टपकता है। अश्वत्थ का अर्थ है अ+श्व+स्थ—अर्थात् जो आज है, कल नही रहेगा। ब्रह्म का ज्ञान इसी से तो होता है, यह जानने से कि ससार आज है, कल नही है, क्षण-भगुर है। कर्म-काडी जिसे अरण्यायन कहते है, उसे उपनिषत्कार ने यहा ज्ञान-पक्ष मे घटाने का प्रयत्न किया है। अरण्यायन का अर्थ बतलाते हुए उपनिषत्कार ने कहा है कि यह शब्द 'अर' तथा 'ण्य' से बना है, अर तथा ण्य—ये दो समुद्र हैं। उपनिषद् का आध्यात्मिक अर्थ करने वालो का कहना है कि ब्रह्म-रध्र मे सहस्रार-कमल है जिसमे दो

अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदेष ह्यात्मा न नश्यति
य ब्रह्मचर्येणानुविन्दतेऽथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्।
अरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके। तृतीयस्यामितो दिवि तदैरमदीयँ
सरस्तदश्वत्थ सोमसवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मण प्रभुविमितँ हिरण्मयम्॥३॥

अथ यत्—और जो, अनाशकायनम्—अनाशकायन (अनश्वरता) यज्ञ-विधि (ब्रह्म-ज्ञान का साधन है), इति आचक्षते—ऐसे कहते है, ब्रह्मचर्यम् एव तद्—ब्रह्मचर्य ही वह (अनाशकायन) है, एष हि—क्योकि यह, आत्मा—आत्मा, न—नही, नश्यति—नष्ट होता है (अविनाशी-अक्षर है), यम्—जिस (आत्मा) को, ब्रह्मचर्येण अनुविन्दते—ब्रह्मचर्य से प्राप्त (ज्ञान) करता है, अथ यत्—और जो, अरण्यायनम्—अरण्यायन (आत्म-ज्ञान का साधन है), इति आचक्षते—इस प्रकार कहते है, (वस्तुत) ब्रह्मचर्यम् एव तद्—ब्रह्मचर्य (का रूप) ही वह (अरण्यायन—अरण्य मे निवास—वानप्रस्थाश्रम) है, तद्—

केन्द्र है जो शक्ति के भडार है। इन्ही दो केन्द्रो को अर तथा ण्य कहा गया है। 'अरण्ये उपवसन्ति' (मुडक, १-२-११) का अर्थ जगल मे जा बसना नही, अपितु मस्तिष्क के सहस्रार-चक्र के दो शक्ति-केन्द्रो मे ध्यान लगाना है, ये दोनो केन्द्र शक्ति के समुद्र है।) ॥३॥



अश्वत्थ-वृक्ष (क्षण-भगुरता) में से सदा सोम-रस (ज्ञान) टपकता है

तो, उसमे, अर च—'अर' (नामक), ज्ञान, ह वै—निश्चय से, ण्य च—और 'ण्य'-नामक, कर्म, अर्णवौ—दो समुद्र-(समान सरोवर), ब्रह्मलोके—ब्रह्म-लोक मे है, तृतीयस्याम्—तीसरे, इत.—इस (पृथिवी-लोक) से, दिवि—द्यु-लोक मे, तद्—वहा, उसमे, ऐरम्मदीयम्—(इरा—अन्न, जल, प्रकृति)

जो 'ब्रह्मचर्य' से 'ब्रह्म-लोक' में 'अर' और 'ण्य' इन दो समुद्रों को पा जाते हैं, उन्हीं का 'ब्रह्म-लोक' हो जाता है, उनकी सब लोकों में निर्बाध गति हो जाती है ॥४॥

(उपनिषदों के रहस्य को समझने के लिये यह समझना आवश्यक है कि ऋषि लोग सदा 'पिंड' तथा 'ब्रह्मांड' की एकता का प्रतिपादन किया करते थे। जो 'ब्रह्मांड' में है, वह 'पिंड' में है, जो 'पिंड' में है, वह 'ब्रह्मांड' में है। किसी वस्तु को बाहर भी देख सकते हैं, भीतर भी, बाहर स्थूल-जगत् है, भीतर संकल्पमय सूक्ष्म-जगत् है। तभी इस प्रपाठक के द्वितीय खंड में कहा है कि हृदयाकाश में आत्मा के दर्शन करने वाले के संकल्प से ही सब-कुछ उठ खड़ा होता है। इसी विचार-क्रम को पंचम खंड में दर्शाया है। ब्रह्मांड में दो समुद्र हैं—आसमान का, तथा पृथिवी का। पिंड में भी 'अर' और 'ण्य'—'कर्म' तथा 'ज्ञान'—ये दो समुद्र हैं। ब्रह्मांड में पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यु—ये तीन लोक हैं, पिंड में शरीर पृथिवी-लोक है, मन अन्तरिक्ष-लोक है, आत्मा द्यु-लोक है। कई लोग 'शरीर' में ही विचरण करते हैं, कई 'मन' के लोक में, कई 'आत्मा' के लोक में। आत्मिक-लोक तीसरा लोक है, यह पिंड का द्यु-लोक है। ब्रह्मांड में निर्मल निर्झर होते हैं, पिंड के द्यु-लोक में

मेघज्योति में युक्त, अन्न आदि में आनन्द देनेवाला, सर—सरोवर है, तद्—उसमें, अश्वत्थ—(कल न रहनेवाला) पीपल का वृक्ष है (जो), सोम-सवन—अमृत को चुआनेवाला (जिसमें अमृत झरता रहता है), तद्—उसमें, अपराजिता—अपराजिता (जिसे अब्रह्मचारी एवं साधनविहीन नहीं पा सके)—नामक, पू—नगरी है, ब्रह्मण—ब्रह्म की, (और) प्रभुविमितम्—प्रभु (भगवान् ने) नापा हुआ (जिसके परिमाण को प्रभु ही जानता है), हिरण्मयम्—सुवर्ण-कोष है ॥३॥

तद्य एवैतावरं च ण्यं चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति
तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥४॥

तद्—तो, ये—जो (मुमुक्षु—उपासक), एतौ—इन दोनों, अरम् च ण्यम् च—'अर'-नामक ज्ञान और 'ण्य'-नामक कर्म, अर्णवौ—समुद्रों को, ब्रह्म-लोके—ब्रह्म-पुरी में, ब्रह्मचर्येण अनुविन्दन्ति—ब्रह्मचर्य से प्राप्त (ज्ञात) करते हैं, तेषाम् एव भवति—अर्थ पूर्ववत् ॥४॥

'ऐरमदीय' सरोवर है—आनन्द का सोता है। ब्रह्माड मे सोम-रस है, पिड मे 'अश्वत्थ' से अमृत का झरना बहा करता है। 'अ+श्व+स्थ' का अर्थ है, जो कल नही रहेगा। पिड के ब्रह्म-लोक मे प्रवेश करके ही तो यह ज्ञान होता है कि यह सब-कुछ क्षणिक है, यह कल नही रहेगा। ससार की क्षण-भगुरता की भावना ही अश्वत्थ-वृक्ष है, जिससे अमरता का सोम-रस झरता है। इस सारे प्रकरण का अर्थ यह है कि हृदयाकाश मे ब्रह्म की एक सुवर्ण-मय नगरी है, इस नगरी के पास 'कर्म' और 'ज्ञान' के समुद्र है, पास ही 'आनन्द' का झरना बह रहा है, इधर-उधर 'अमरता' का रस टपकाने वाले, ससार की निस्सारता का ज्ञान कराने वाले पौधे लहलहा रहे है। उपासक को ऋषि कहता है कि 'ब्रह्माड' से मुह फेरकर, अन्दर की, 'पिड' की नगरी की सैर कर, तू जिस आनन्द को बाहर ढूढता फिरता है, वह तुझे अन्दर मिल जायगा।)

अष्टम प्रपाठक—(छठा खंड)

'ब्रह्म-लोक' को 'ब्रह्मचर्य' से प्राप्त किया जाता है, परन्तु जो 'ब्रह्म-लोक' को जाता है, उसके प्राण आंख-कान आदि इन्द्रियो से न निकलकर ब्रह्म-रध्र से निकलते है। आंख के विषयो मे जीवन-भर लीन रहने वाले के प्राण आखो से, श्रोत्र के विषयो मे लीन रहने वाले के प्राण श्रोत्रो से, और ब्रह्म में लीन रहने वाले के प्राण मूर्धा में जो नाडी जाती है, उससे निकलते है, वह वहा से 'ब्रह्म-लोक' को पहुंचता है। इस विचार को विशद करते हुए ऋषि कहते है—

पिड में हृदय मानो सूर्य है। उससे पिगल, शुक्ल, नील, पीत, लोहित वर्ण की नाडिया सूक्ष्म रस से भरी हुई किरणो की तरह

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ता पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति
शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्य
पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहित ॥१॥

अथ—और, या एता—जो ये, हृदयस्य—हृदय की, नाड्य—नाडिया, ता—वे, पिगलस्य—पिगल (तनिक पीले) वर्ण का, अणिम्न—सूक्ष्मातिसूक्ष्म, तिष्ठन्ति—विद्यमान ह, शुक्लस्य—सफेद, नीलस्य—नीले, पीतस्य—पीले, लोहितस्य—लाल, इति—ऐसे, असौ वै आदित्य—यह

चारो तरफ फैल रही है। ब्रह्माड में सूर्य मानो जगत् का हृदय है। उससे पिंगल, शुक्ल, नील, पीत, लोहित वर्ण की किरणें रस से भरी हुई नाड़ियो की तरह चारो तरफ फैल रही है ॥१॥

जैसे एक 'महापथ'—लम्बा-चौड़ा रास्ता—निकट के तथा दूर के दोनो ग्रामो को पहुंच जाता है, इसी प्रकार आदित्य की किरणें पिड तथा ब्रह्माड दोनो लोको को पहुचती है। वे आदित्य से चलकर इन नाड़ियो में चली आती है, और इन नाडियो से चलकर आदित्य में पहुंच जाती है। पिंड तथा ब्रह्मांड का यह आदान-प्रदान होता रहता है ॥२॥

जब यह सोता है, स्वप्न भी नहीं ले रहा होता, उस समय 'सुषुप्ति-स्थान' में यह बिखरा नहीं रहता, 'समस्त' हो जाता है, 'प्रसन्न'

सूर्य ही, पिंगल—तनिक-सा पीला है, एष शुक्ल—यह ही सफेद है, एष नील—यह ही नीला है, एष पीत—यह ही पीला है, एष लोहित—यह (सूर्य ही) लाल है ॥१॥

तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामुं चैवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं चामुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते। ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्य प्रतायन्ते। तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ता ॥२॥

तद् यथा—सो जैसे, महापथ—बडा (चौडा) मार्ग, आतत—विस्तृत (फैला हुआ), उभौ ग्रामौ—दोनो ग्रामो को, गच्छति—जाता, पहुचता है, इमम् च—इस (ग्राम) को, अमुम् च—उस (दूसरे) गाम को, एवम् एव—इस ही प्रकार, एता—ये, आदित्यस्य—सूर्य की, रश्मय—किरणे, उभौ लोकौ—दोनो लोको को, गच्छन्ति—जाती है, इमम् च—इस (पृथ्वी) लोक को (मनुष्य-देह को); अमुम् च—उस (अन्तरिक्ष) लोक को, अमुष्माद्—इस, आदित्यात्—आदित्य (सूर्य) से, प्रतायन्ते—फैलती है, ता—वे (रश्मिया), आसु—इन, नाडीषु—नाडियो मे, सृप्ता—पहुची हुई, सरकती हुई है, आभ्य—इन, नाडीभ्य—नाडियो से, प्रतायन्ते—फैलती हैं, ते—वे, अमुष्मिन्—इस, आदित्ये—सूर्य मे, सृप्ता—पहुची है ॥२॥

तद्यत्रैतत्सुप्त समस्त सप्रसन्न स्वप्न न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति। त न कश्चन पाप्मा स्पृशति तेजसा हि तदा सपन्नो भवति ॥३॥

तद्—सो, यत्र—जहा (जिस अवस्था मे), एतत्-सुप्त—यह सोया हुआ (मनुष्य), समस्त—समाहित, सब विषयो से उपरत (शून्य), सप्रसन्न—

हो जाता है। उस समय हृदय की इन्ही नाड़ियो में पहुचा होता है, उस समय उसे कोई पाप छू तक नही जाता, उस समय सूर्य की रश्मियो से नाडियो में आये तेज के साथ इसका सम्पर्क हो रहा होता है ॥३॥

जब यह निर्बल हो जाता है, तब इसके चारो तरफ बैठे बन्धु-बान्धव पूछते है, क्या मुझे पहचानते हो, क्या मुझे पहचानते हो, और जब तक यह शरीर से निकल नही जाता तब तक पहचानता है ॥४॥

परन्तु जब शरीर से निकलता है, तब साधारण पुरुष का आत्मा तो इन्ही हृदय की रश्मि-रूप नाडियो से किसी एक में से निकल जाता है। ये नाडिया आख, कान, नाक आदि सभी इन्द्रियो को गई है। जिस विषय में जीवन-भर रमा रहा होता है, उसी विषय की नाड़ी

अत्यधिक प्रसन्न, मलो से रहित, स्वप्नम्—स्वप्न को, न विजानाति—नही जानता है, नही अनुभव करता है, आसु—इन, तदा—तब, नाडीषु—नाडियो मे, सृप्त—पहुचा हुआ, भवति—होता है (लीन होता है), तम्—उस आत्मा को (उस समय), न—नही, कश्चन—कोई भी, पाप्मा—पाप, बुराई, स्पृशति—छूता है, तेजसा—तेज से, हि—ही, तदा—तब, सपन्न—युक्त, भवति—होता है ॥३॥

अथ यत्रैतदबलिमान नीतो भवति तमभित आसीना आहुर्जानासि मा जानासि मामिति। स यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति ॥४॥

अथ—और, यत्र—जहा, एतद्—यह, अवलिमानम्—निर्बलता को, नीत—प्राप्त, भवति—होता है (जब यह निर्बल हो जाता है), तम्—उस (मनुष्य) को, अभित—चारो ओर, आसीना—बैठे हुए, आहु—कहते है, जानासि—(क्या) तू जानता है, माम्—मुझको, जानासि माम्—क्या मुझको जानता-पहचानता है, इति—ऐसे (कहते है), स—वह (आत्मा), यावत्—जबतक, अस्मात्—इस, शरीरात्—शरीर से, अनुत्क्रान्त भवति—नही निकलता (इस शरीर को नही छोडता) है, तावत्—तबतक, जानाति—जानता-पहचानता है ॥४॥

अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते। स ओमिति वा होद्वा मीयते। स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्य गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वार विदुषा प्रपदन निरोधोऽविदुषाम् ॥५॥

अथ—और, यत्र—जिस समय मे, एतद्—यह (आत्मा), अस्मात् शरीरात्—इस शरीर से, उत्क्रामति—निकलता है, अथ—तो, एतै एव—इन

से, उसी इन्द्रिय-द्वार से निकल जाता है। ब्रह्म का उपासक 'ओ३म्' का उच्चारण करता हुआ ऊपर को प्रयाण करता है। इधर इसका मनस्तत्त्व (Etherial body) क्षीण होता है, और वह आदित्य-लोक को पहुच जाता है, सौरी-दशा को प्राप्त हो जाता है। यह सौरी-दशा 'ब्रह्म-लोक' का द्वार है—ब्रह्म-ज्ञानी इस द्वार में से निकलकर 'ब्रह्म-लोक' में पहुच जाते हैं, दूसरे यहा रुक जाते है (छा० ४-१५, ५-१०, मुडक १-२) ॥५॥

इस पर किसी की उक्ति (कठ ६-१६, प्रश्न ३-६,७, बृहदा० ४-२-३) है—हृदय की एक-सौ-एक नाडिया है, उनमें से एक (Carotid Artery) मूर्धा की ओर निकलती है, उस नाडी से ऊपर की ओर चढता हुआ ब्रह्मविद् अमृतत्व को प्राप्त करता है, दूसरी नाडियो से निकलने में भिन्न-भिन्न गति होती है, हा, निकलने में भिन्न-भिन्न गति होती है ॥६॥

ही, रश्मिभि—किरणो मे (के द्वारा), नाडियो मे, ऊर्ध्वम्—ऊपर की ओर, आक्रमते—चढता है (निकलता है), स—वह (ज्ञानी), ओम् इति—'ओम्' यह (ध्यान करता हुआ), वा ह—निश्चय पूर्वक, उद् वा—ऊपर की ओर (सुषुम्णा नाडी द्वारा), मीयते—प्राण-त्याग करता हे, स—वह (ज्ञानी), यावत्—जितना, क्षिप्येत्—चलता है, मन—मन, (यावद् क्षिप्येत् मन.—जितनी देर मे मन जाता है अर्थात् एकदम या ज्यो ही मन—अन्त करण—क्षीण होता है), तावत्—त्यो ही, उतने समय मे, आदित्यम्—आदित्य लोक को, सौरी (सूर्य सम्बन्धी) दशा को, गच्छति—पहुच जाता है, एतद् वै खलु—यह आदित्य लोक (सौरी-दशा) ही, लोकद्वारम्—ब्रह्मलोक का द्वार हे (जो), विदुषाम्—ज्ञानियो को (तो), प्रपदनम्—अन्दर प्रवेश का साधन (पहुचाने वाला) है, निरोध—(यह द्वार) रोकने वाला हे, अविदुषाम्—अज्ञानियो को (अज्ञानी ब्रह्मलोक को प्राप्त नही हो सकते) ॥५॥

तदेष श्लोक । शत चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासा मूर्धानमभि नि सृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति ॥६॥

तद् एष. श्लोक.—तो इसकी पुष्टि मे यह श्लोक (कथन) भी है, शतम् च एका च—एक सौ एक, हृदयस्य—हृदय की, नाड्य—नाडिया है, तासाम्—उनमे की, मूर्धानम्—मस्तक को (की), अभि—ओर, नि सृता—निकली-जाती है, एका—एक, तया—उस (नाडी) से, ऊर्ध्वम्—ऊपर की

अष्टम प्रपाठक---(सातवां खंड)

(प्रजापति, इन्द्र तथा विरोचन की कथा, ७ से १५ खड)

(इस प्रकरण को समझने के लिये माण्डूक्योपनिषद् की जागृत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं को समझना चाहिये।)

'प्रजापति' ने घोषणा की कि हृदयाकाश मे जिस आत्मा का निवास है वह पापो से अलग है, जरा और मृत्यु से छूटा हुआ है, भूख और प्यास से परे है, सत्य-काम और सत्य-सकल्प है---उसी की खोज करनी चाहिये, उसी को जानना चाहिये। जो उस 'आत्मा' को ढूढकर जान लेता है, वह सब लोको को और सब कामनाओ को पा लेता है ॥१॥

और, **आयन्**---(मरते समय) आता हुआ, **अमृतत्वम् एति**---अमर हो जाता है, **विष्वङ**---बिखरी हुई, भिन्न-भिन्न गति देनेवाली, **अन्या**---अन्य (दूसरी नाडिया), **उत्क्रमणे**---प्राण निकलने पर, शरीर छोडने पर, **भवन्ति**---होती है, **उत्क्रमणे भवन्ति**---शरीर छोडने पर (अन्य नाडियो मे निकलनेवाला आत्मा भिन्न-भिन्न योनियों को प्राप्त होता है) ॥६॥

य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपास सत्यकाम सत्यसकल्प सोऽन्वेष्टव्य स विजिज्ञासितव्य । स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच ॥१॥

य आत्मा---जो आत्मा, **अपहतपाप्मा**---निष्पाप, निष्कलुष, **विजर**---अजर, **विमृत्यु**---अमर, **विशोक**---शोकरहित, **वि-जिघत्स**---भूख के कष्ट से मुक्त, **अपिपास**---जल-पान की इच्छा मे मुक्त, **सत्यकाम**---सच्ची (सफल) कामनावाला, पूर्णकाम, **सत्यसकल्प**---सच्चे (उचित) सकल्पवाला (है), **स अन्वेष्टव्य**---उसका अन्वेषण (खोज, ज्ञान) करना चाहिये, **स विजिज्ञासितव्य**---उसको जानना चाहिये, **स**---वह (ज्ञानी), **सर्वान् च लोकान् आप्नोति**---सब लोको को प्राप्त करता हे, **सर्वान् च कामान्**---और सब कामनाओ को, **य**---जो, **तम् आत्मानम्**---उस आत्मा को, **अनुविद्य**---खोज कर, **विजानाति**---जान लेता है, **इति**---यह (वचन), **ह**---पुराकाल मे, **प्रजापतिः**---प्रजापति ने, **उवाच**---कहा था ॥१॥

प्रजापति की यह घोषणा देव तथा असुर दोनो के कानों में जा पड़ी। उन्होंने मन-ही-मन कहा, चलो, उस आत्मा का पता चलायें, जिसे पा जाने से सब लोको और सब कामनाओं की प्राप्ति हो जाती है। देवो में से 'इन्द्र' और असुरो में से 'विरोचन' इसी गवेषणा में निकल पड़े। वे दोनो हाथ में समिधा लेकर, एक-दूसरे के बिना जाने, प्रजापति के पास आ पहुचे ॥२॥

उन्होंने प्रजापति के आश्रम में आकर ३२ वर्ष तक ब्रह्मचर्य-पूर्वक निवास किया। 'आत्मा' का नाममात्र सुनकर तो चले नहीं जाना था, उसका साक्षात्कार करना था। साक्षात्कार के लिये, अर्थात् जीवन में आत्म-तत्त्व को ढाल लेने के लिये ३२ साल का समय कोई

तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे। ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामानिति। इन्द्रो हैव देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणाम्। तौ हासंविदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतु ॥२॥

तद् ह—उस (कथन) को, उभये—दोनों, देव+असुरा—देवता और असुरो ने, अनु—कर्ण-परम्परा से या बाद में, बुबुधिरे—जाना, ते ह—और उन्होंने, ऊचु—कहा, हन्त—अरे, तम् आत्मानम्—उस आत्मा को, अनु+इच्छाम—अन्वेषण करें, यम् आत्मानम्—जिस आत्मा को, अन्विष्य—खोज करके, ढूढ कर, सर्वान् च लोकान् आप्नोति सर्वान् च कामान्—सब लोको और सब कामनाओं को (ज्ञानी) प्राप्त कर लेता है, इति—यह (कहा-मन्त्रणा की), इन्द्र—इन्द्र, ह एव—ही, देवानाम्—देवताओं में से, अभिप्रवव्राज—(प्रजापति की) ओर चल पड़ा, विरोचन—विरोचन, असुराणाम्—असुरों में से, तौ ह—और वे दोनो, असंविदानौ—एक-दूसरे को न जानते-पहिचानते हुए, एव—ही, समित्पाणी—समिधाएं हाथ में लेकर, प्रजापति-सकाशम्—प्रजापति के पास, आजग्मतु—आये ॥२॥

तौ ह द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुस्तौ ह प्रजापतिरुवाच किमिच्छन्ताववास्तमिति तौ होचतुर्य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपास सत्यकाम सत्यसंकल्प सोऽन्वेष्टव्य स विजिज्ञासितव्य स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति भगवतो वचो वेदयन्ते तमिच्छन्ताववास्तमिति ॥३॥

तौ ह—और उन दोनो ने, द्वात्रिंशतम्—बत्तीस, वर्षाणि—वर्ष तक, ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्मचर्य-व्रत (पूर्वक), ऊषतु—निवास किया, तौ ह—उन दोनो

बहुत भी नहीं था। इसके अनन्तर प्रजापति ने उनसे पूछा, किस इच्छा से तुम आश्रम में आसन जमाये हो? उन्होंने कहा, भगवन्! आपकी घोषणा चारों तरफ गूंज रही थी कि 'आत्मा' पापों से अलग है, जरा और मृत्यु से छूटा हुआ है, भूख और प्यास से परे है, सत्य-काम और सत्य-संकल्प है—उसी को खोजना चाहिये, उसी को जानना चाहिये, जो उस 'आत्मा' को ढूंढकर जान लेता है वह सब लोकों को और सब कामनाओं को पा लेता है—बस, हम उसी 'आत्मा' की खोज में आपके आश्रम में आकर आसन जमाये बैठे हैं ॥३॥

प्रजापति ने उन दोनों से कहा, यह जो आंख में पुरुष दीखता है, यह 'आत्मा' है; फिर कहा, यही 'अमृत' है, 'अभय' है, यही 'ब्रह्म' है। उन दोनों ने पूछा, भगवन्! यह जो जल में दीखता है, जो दर्पण में दीखता है—यह कौन-सा आत्मा है? प्रजापति ने उत्तर दिया, इनमें भी वही आत्मा दीख पड़ता है, जो आंख में दिखाई देता है ॥४॥

को, **प्रजापति उवाच**—प्रजापति ने कहा, **किम्**—क्या, **इच्छन्तौ**—चाहते हुए, किस कामना से, **अवास्तम्**—रह रहे हो, **इति**—यह (पूछा), **तौ ह**—उन दोनों ने, **ऊचतु**—कहा, **य आत्मा विजानाति**—अर्थ पूर्ववत्, **इति**—इस, **भगवत**—आपके, **वच**—कथन को, **वेदयन्ते**—(हमें अन्य) बताते हैं, **तम् इच्छन्तौ**—उस (आत्मा) के (ज्ञान की) इच्छा से, **अवास्तम्**—रह रहे हैं, **इति**—यह (उत्तर दिया) ॥३॥

तौ ह प्रजापतिरुवाच य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचै-तदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेत्यथ योऽयं भगवोऽप्सु परिख्यायते यश्चाय-मादर्शे कतम एष इत्येष उ एवैषु सर्वेष्वेतेषु परिख्यायत इति होवाच ॥४॥

तौ ह—उन दोनों को, **प्रजापति उवाच**—प्रजापति ने कहा, **य एष**—जो यह, **अक्षिणि**—आंख में, **पुरुष**—पुरुष (का प्रतिबिम्ब), **दृश्यते**—दिखलाई पड़ता है, **एष आत्मा**—यह ही आत्मा है, **इति ह उवाच**—और यह भी कहा, **एतद्**—यह, **अमृतम् अभयम्**—अमर और भय-रहित है, **एतद् ब्रह्म**—यह ही ब्रह्म है, **इति**—यह (बताया), **अथ**—इसके बाद (दोनों ने पूछा), **य अयम्**—जो यह, **भगव**—हे भगवन्, **अप्सु**—जल में, **परिख्यायते**—भली प्रकार जाना जाता—दीखता है, **य च अयम्**—और जो यह, **आदर्शे**—दर्पण में, **कतम**—कौन-सा, **एष**—यह (आत्मा) है, **इति**—यह (पूछा),

अष्टम प्रपाठक—(आठवां खंड)

फिर प्रजापति ने उन दोनो से कहा, पानी के वर्तन में तुम दोनो अपने को देखो, और फिर 'आत्मा' के विषय में जो-कुछ समझ न पड़े, वह मुझ से पूछो। उन्होंने पानी के वर्तन में देखा। प्रजापति ने पूछा, क्या दीखता है? उन्होंने कहा, भगवन्! हमें अपना पूर्ण रूप दीख रहा है, लोम से नख तक, अपना प्रतिरूप, अपनी छाया ॥१॥

प्रजापति ने उन दोनो से फिर कहा, सुन्दर अलंकार और वस्त्र धारण करके, साफ-सुथरे होकर, पानी के वर्तन में देखो। उन दोनो ने सुन्दर अलंकार और सुन्दर वस्त्र धारण किये, अपने को साफ-

---

एव उ एव—यह (आत्मा) ही, एषु—इन में, सर्वेषु एतेषु—इन सब में, परिख्यायते—दीख (जान) पड़ता है, इति ह—यह, उवाच—(प्रजापति ने) कहा ॥४॥

उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीयस्तन्मे प्रब्रूतमिति तौ होदशरावेऽवेक्षाचक्राते तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति तौ होचतुः सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आ लोमभ्य आ नखेभ्य प्रतिरूपमिति ॥१॥

उद-शरावे—पानी के वर्तन में, आत्मानम्—अपने आप को, अवेक्ष्य—भली प्रकार देखकर, यद्—जो, आत्मन—आत्मा के (विषय में), न—नहीं, विजानीय—जान सको, तत्—वह, मे—मुझे, प्रब्रूतम्—कहो, बताओ, इति—यह (आज्ञा दी), तौ ह—उन दोनों ने, उदशरावे—जल-पात्र में, अवेक्षाचक्राते—(अपने को) देखा, तौ ह—उन दोनों को, प्रजापति उवाच—प्रजापति ने कहा, किम् पश्यथ—क्या-कुछ देखते हो, इति—यह (पूछा), तौ ह ऊचतु—उन दोनों ने कहा, सर्वम् एव इदम्—सब ही यह (पूर्णतया), आवाम्—हम दोनों, भगव—हे भगवन्!, आत्मानम्—अपने आप (स्वरूप) को, पश्याव—देखते हैं, आ लोमभ्य—रोए-रोए तक, आ नखेभ्य—नख तक, प्रतिरूपम्—हूबहू अपना प्रतिबिम्ब, इति—यह (कहा) ॥१॥

तौ ह प्रजापतिरुवाच साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथामिति तौ ह साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षाचक्राते तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति ॥२॥

तौ ह प्रजापति उवाच—उन दोनों को प्रजापति ने कहा, साधु+अलंकृतौ—भली प्रकार आभूषित, सुवसनौ—सुन्दर वस्त्र वाले, परिष्कृतौ—साफ-सुथरे, भूत्वा—होकर, उदशरावे—जल-पात्र में, अवेक्षेयाम्—(अपने आपको) देखो, इति—यह (आज्ञा दी), तौ ह इति—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

सुथरा किया, और पानी के बर्तन में देखने लगे। प्रजापति ने उनसे पूछा, क्या दीखता है ? ॥२॥

उन्होंने कहा, भगवन् ! जैसे हम सुन्दर अलंकार, सुन्दर वस्त्र धारण किये हुए हैं, साफ-सुथरे हैं, इसी प्रकार हम दोनों के प्रति-



प्रजापति इन्द्र तथा विरोचन को आत्मा का उपदेश दे रहे हैं

तौ होचतुर्यथैवेदमावां भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ
स्व एवमेवेमौ भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृताविति एष आत्मेति
होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तौ ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः ॥३॥

तौ ह ऊचतु —उन दोनों ने कहा, यथा एव—जैसे ही, इदम्—यह,

बिम्ब भी सुन्दर अलङ्कार वाले, सुन्दर वस्त्र धारण किये हुए और साफ-सुथरे है। प्रजापति ने कहा, 'जागृतावस्था' मे जिसे तुम देखते हो, यह 'आत्मा' है, यह 'अमृत' है, 'अभय' है, यह 'ब्रह्म' है। वे दोनो यह सुनकर शान्त-हृदय होकर चल दिये ॥३॥

उन्हे इस प्रकार जाते देखकर प्रजापति ने अपने हृदय में कहा, ये दोनो 'आत्मा' को बिना उपलब्ध किये, बिना जाने जा रहे हैं। इन दोनो मे से जो कोई 'देह ही आत्मा है'—इस उपनिषद् के अनुयायी बनेगे, वे पराजित हो जायेगे। विरोचन तो शान्त-हृदय हो गया, और असुरो के पास पहुचा। वह तो 'विरोचन' था, शरीर को रोचमान रखने मे, सजाने-बजाने में ही उसका चित्त था। उसने असुरो को 'देह ही आत्मा है'—इस उपनिषद् का उपदेश दिया। उसने कहा, देह ही आत्मा है, इसी देह-रूप आत्मा की पूजा करनी चाहिये, सेवा करनी चाहिये—इसी की पूजा से, इसी की सेवा से मनुष्य दोनो लोको को प्राप्त कर लेता है, इस लोक को, और उस लोक को ॥४॥

आवाम्—हम दोनो, भगव—हे भगवन्, साधु+अलङ्कृतौ—अच्छे आभूषण वाले, सुवसनौ—सुन्दर वस्त्र वाले, परिष्कृतौ च—और साफ-सुथरे ह, एवम् एव—इस ही प्रकार, [इमौ—ये दोनो (प्रतिबिम्ब), भगव ब्रह्म इति—अर्थ पूर्ववत्, तौ ह—और वे दोनो, शान्त-हृदयौ—शान्त (शका-शून्य) हृदय (अन्त करण) वाले, प्रवव्रजतु—चल दिये ॥३॥

तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाचानुपलभ्यात्मानमननुविद्य व्रजतो यतर एतदुपनिषदो भविष्यन्ति देवा वाऽसुरा वा ते पराभविष्यन्तीति स ह शान्तहृदय एव विरोचनोऽसुराञ्जगाम तेभ्यो हैतामुपनिषद प्रोवाचात्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मान परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीम चामु चेति ॥४॥

तौ ह—उन दोनो को, अनु+ईक्ष्य—बाद मे देखकर (सोचकर), प्रजापति उवाच—प्रजापति ने (मन मे) कहा, अनुपलभ्य—न प्राप्त कर, आत्मानम्—आत्मा को, अननुविद्य—न जान (खोज) कर, व्रजत—जाते है, यतरे—(देव-असुरो मे) से जौन-से, एतद्+उपनिषद—इस उपनिषद् (आत्म-ज्ञान) वाले, भविष्यन्ति—होगे, (आत्मा के इस देह-रूप को आत्मा करके जानेगे), देवा वा—चाहे देव, असुरा वा—या असुर, ते—वे, परा-

इसलिये आज दिन तक जो 'दान' नही देता, किसी वस्तु मे 'श्रद्धा' नही रखता, 'यज्ञ' नही करता, उसे कहते है—यह 'असुर' है। देह को आत्मा कहना 'आसुरोपनिषद्' है। असुर लोग शरीर को गन्धमाला से सजाते है, और समझते है कि इस लोक को जीत लिया, और मरने पर शरीर का वस्त्र-अलकार आदि से सस्कार करते है, समझते है कि इस प्रकार उस लोक को जीत लिया ॥५॥

भविष्यन्ति—पराभूत होगे, पीछे रह जायेगे, हारेगे, **इति**—यह (सोचा), **स ह**—वह, **शान्त-हृदय**—शान्त हृदय वाला, **एव**—ही, **विरोचन**—विरोचन (विविध भोगो मे रुचिवाला), **असुरान्**—असुरो के पास, **जगाम**—गया, पहुचा, **तेभ्य ह**—और उनको, **एताम्**—इस, **उपनिषदम्**—आत्म-ज्ञान को, **प्रोवाच**—कहा, बताया, **आत्मा**—देह, शरीर, **एव**—ही, **इह**—इस जगत् मे, **महय्य**—पूजनीय है, महत्त्व देना चाहिये, **आत्मा**—शरीर (की), **परिचर्य**—सेवा करनी चाहिये, देख-भाल रखनी चाहिये, **आत्मानम् एव**—शरीर को ही, **इह**—इस जन्म मे, इस जगत् मे, **महयन्**—महत्त्व देता हुआ, **आत्मानम् परिचरन्**—आत्मा की देख-भाल (सेवा) करता हुआ, **उभौ लोकौ**—दोनो लोको को, **अवाप्नोति**—प्राप्त कर लेता है, **इमम् च**—इस लोक को, **अमुम् च**—उस (परलोक) को, **इति**—यह (असुरो को बताया) ॥४॥

तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरासुरो बतेत्य-
सुराणाँ ह्येषोपनिषत्प्रेतस्य शरीर भिक्षया वसनेना-
लकारेणेति सँस्कुर्वन्त्येतेन ह्यमु लोक जेष्यन्तो मन्यन्ते ॥५॥

तस्माद्—इस कारण से, **अपि**—भी, **अद्य**—आज, **इह**—यहा, **अददानम्**—दान न करनेवाले, **अश्रद्दधानम्**—श्रद्धा न रखनेवाले, **अयजमानम्**—यज्ञ न करने वाले (मनुष्य) को, **आहु**—(लोग) कहते है (कि), **आसुर**—असुरो की प्रकृति (स्वभाव-वर्ताव) वाला, **बत**—निश्चय से (यह है), **इति**—यह (कहते है), **असुराणाम्**—(स्वार्थपरायण) असुरो का, **हि**—ही, **एषा**—यह, **उपनिषद्**—विचार-शैली, देहात्म-वाद है, **प्रेतस्य**—मृत (व्यक्ति) के, **शरीरम्**—शरीर को, **भिक्षया**—अन्न (खाद्य-वस्तु) से, **वसनेन**—वस्त्र से, **अलकारेण**—आभूषण से, **इति**—इन वस्तुओ से, **सस्कुर्वन्ति**—सस्कार करते (सजाते) है, **एतेन हि**—इस (सस्कार) से ही, **अमुम् लोकम्**—उस पर-लोक को, **जेष्यन्त**—जीतनेवाले, प्राप्त करनेवाले, **मन्यन्ते**—(अपने आप को) समझते है ॥५॥

अष्टम प्रपाठक--(नौवां खंड)

इन्द्र देवों के पास नहीं पहुंचा। उसे यह भय उत्पन्न हो गया कि प्रजापति के उपदेश से वह आत्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझा। वह सोचने लगा, जैसे जल में दीखने वाली छाया शरीर के अलंकृत होने पर अलंकृत हो जाती है, सुवस्त्र से सुवस्त्र हो जाती है, परिष्कृत होने पर परिष्कृत हो जाती है, इसी प्रकार शरीर के अन्धे होने पर, काणे होने पर, लूले-लंगडे होने पर यह छाया भी तो अन्धी, काणी और लूली-लंगडी दीखने लगती है, शरीर का नाश हो जाय, तो यह भी नष्ट हो जाती है। सो यह जल में छाया के रूप में दीखने वाला प्रतिबिम्ब आत्मा कैसे हो सकता है? मुझे इस सिद्धान्त में कोई भलाई नहीं दीख पडती ॥१॥

अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श यथैव खल्वयमस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥१॥

अथ ह—और, इन्द्र—इन्द्र (पूर्णकाम, सर्वैश्वर्य सम्पन्न) ने तो, अप्राप्य—न पहुंच कर, एव—ही, देवान्—देवताओं को (के पास), एतद्—इस, भयम्—भय को, ददर्श—देखा, विचारा, यथा+एव—जैसे ही, खलु—तो, अयम्—यह (देह-रूप आत्मा), अस्मिन् शरीरे—इस शरीर में (के), साधु+अलंकृते—भली प्रकार सजाने पर, साध्वलंकृत—सजावट वाला, भवति—होता है, सुवसने—अच्छे कपडे पहिनने पर, सुवसन—सुन्दर वस्त्र वाला, परिष्कृते—साफ-सुथरा होने पर, परिष्कृत—साफ-सुथरा (होता है), एवम्—इस प्रकार, एव—ही, अयम्—यह (देहाभिमानी आत्मा), अस्मिन्—इस (शरीर के), अन्धे—अन्धा होने पर, अन्ध—अन्धा, भवति—होता है, स्रामे—काणा होने पर, स्राम—काणा, परिवृक्णे—कटा-फटा (लूला-लंगडा) होने पर, परिवृक्ण—लूला-लंगडा (हो जाता है), (और) अस्य एव शरीरस्य—इस ही शरीर के, नाशम् अनु—नाश के पीछे, एष—यह (प्रतिबिम्ब रूप आत्मा), नश्यति—नष्ट हो जाता है, न+अहम्—नहीं मैं, अत्र—इस (विचार) में, भोग्यम्—औचित्य, भलाई, फल, पश्यामि—देखता-समझता हूं, इति—यह (विचार किया) ॥१॥

वह हाथ में समिधा लेकर फिर लौट आया। उसे प्रजापति ने कहा, हे इन्द्र! तुम तो विरोचन के साथ शान्त-हृदय होकर चले गये थे, अब फिर किस चाहना से वापस लौट आये हो? उसने कहा, भगवन्! जल में दीखने वाली यह छाया जैसे शरीर के अलकृत होने पर अलकृत, सुवस्त्र होने पर सुवस्त्रित और परिष्कृत होने पर परिष्कृत हो जाती है, वैसे शरीर के अन्धे होने पर अन्धी, काणे होने पर काणी, लूले-लगडे होने पर लूली-लगडी और शरीर के नाश होने पर नष्ट भी तो हो जाती है। मुझे शरीर को ही आत्मा मानने का यह सिद्धान्त कुछ ठीक नही जचा ॥२॥

प्रजापति ने उत्तर दिया, हे इन्द्र! तूने ठीक समझा, मै तुझे आत्मा का स्वरूप समझाने के लिये और उपदेश दूगा। तुम ३२ वर्ष और मेरे पास ब्रह्मचर्य-पूर्वक वास करो। उसने प्रजापति के निकट और ३२ वर्ष वास किया, तब प्रजापति ने उसे कहा ॥३॥

स समित्पाणि पुनरेयाय तँ ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्त-हृदय प्राव्राजी सार्धं विरोचनेन किमिच्छन् पुनरागम इति स होवाच यथैव खल्वय भगवोऽस्मिञ्छरीरे साध्वलकृते साध्व-लकृतो भवति सुवसने सुवसन परिष्कृते परिष्कृत एवमेवाय-मस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्राम परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्य पश्यामीति ॥२॥

स—वह इन्द्र, समित्पाणि—समिधा हाथ मे लेकर, पुन—फिर, एयाय—(प्रजापति के पास) आया, तम् ह प्रजापति उवाच—उसको प्रजापति ने कहा (पूछा), मघवन्—हे इन्द्र!, यत्—जो, शान्त-हृदय—शान्त (शका-शून्य) हृदयवाला, प्राव्राजी—चला गया था, सार्धम्—साथ, विरोचनेन—विरोचन के, किम् इच्छन्—क्या चाहता हुआ, पुन—फिर, आगम—तू आया है, इति—यह (पूछा), स ह—उस (इन्द्र) ने, उवाच—कहा (उत्तर दिया), यथा एव पश्यामि इति—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैत त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिँशत वर्षाणीति स हापराणि द्वात्रिँशत वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥३॥

एवम् एव—इस प्रकार का ही, एष—यह (छाया-रूप आत्मा) है, मघवन्—हे इन्द्र!, इति ह उवाच—और यह कहा, एतम्—इस (आत्मा) को, तु—तो, एव—ही, ते—तेरे प्रति, तुझे, भूय—फिर, और अधिक,

अष्टम प्रपाठक—(दसवां खंड)

जो यह 'स्वप्नावस्था' में महिमाशाली होकर विचरता है, यही 'आत्मा' है, यह 'अमृत' है, 'अभय' है, यही 'ब्रह्म' है। यह सुनकर इन्द्र शान्त-हृदय होकर चल दिया, परन्तु देवों के पास पहुंचने से पहले ही उसे यह भय दीखने लगा कि यद्यपि यह ठीक है कि शरीर अन्धा हो जाय, तो स्वप्नावस्था में विचरने वाला अन्धा नहीं होता, शरीर काणा हो जाय, तो वह काणा नहीं होता, शरीर के दोष से वह दूषित नहीं होता ॥१॥

न शरीर के वध से वह मरता है, न इसके काणा होने से वह

अनुव्याख्यास्यामि—व्याख्या (स्पष्ट) करूंगा, वस—रह, अपराणि—दूसरे, द्वात्रिंशतम्—बत्तीस, वर्षाणि—वर्ष तक, इति—यह (कहा), स ह—वह इन्द्र, अपराणि द्वात्रिंशतम् वर्षाणि—दूसरे (दोबारा) बत्तीस वर्ष तक, उवास निवास किया, वहां रहा, तस्मै ह उवाच—उस (इन्द्र) को (प्रजापति ने) कहा (उपदेश दिया) ॥३॥

य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज स हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श तद्यद्यपीदं शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥१॥

य एष—जो यह, स्वप्ने—स्वप्न में (स्वप्नमय निद्रा में), महीयमानः—महिमा अनुभव करनेवाला, चरति—विचरता है (इधर-उधर भटकता है), एष—यह (स्वप्नचारी) ही, आत्मा—आत्मा है, इति ह उवाच—यह कहा, एतद् अमृतम् अभयम्—यह अमर और अभय है, एतद् ब्रह्म—यह ही ब्रह्म है, इति—यह (कहा), स ह—वह (इन्द्र), शान्त-हृदय—शान्त (शकाशून्य) हृदयवाला, प्रवव्राज—चल पड़ा, स ह—उसने, अप्राप्य एव देवान्—देवताओं के पास न पहुंच कर ही, एतद् भयम् ददर्श—यह भय देखा (विचारा), तद्—तो, वह, यद्यपि—यद्यपि, इदम् शरीरम्—यह शरीर, अन्धम्—अन्धा, भवति—होता है, (परन्तु) अनन्धः—न अन्धा (सुजाखा), स—वह (स्वप्नचारी आत्मा), भवति—होता है, यदि—अगर, स्रामम्—(शरीर) काणा, अस्रामः—(यह आत्मा) न काणा, न एव—नहीं ही, एष—यह (स्वप्नदर्शी आत्मा), अस्य—इस (शरीर) के, दोषेण—दोष (कमी) से, दुष्यति—कमी वाला होता है ॥१॥

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥२॥

काणा होता है, परन्तु स्वप्न में ऐसा तो प्रतीत होता है कि कोई इसे मार रहा है, इसका पीछा कर रहा है, स्वप्न में इसे अप्रिय अनुभव होते है, कभी-कभी रोने भी लगता है। मुझे स्वप्न के द्रष्टा को आत्मा मानने के सिद्धान्त में भी कोई भलाई नही दीखती ॥२॥

वह हाथ में समिधा लेकर फिर लौट आया। उसे प्रजापति ने कहा, हे इन्द्र! तुम तो शान्त-हृदय होकर चले गये थे, अब फिर किस चाहना से वापस लौट आये हो? उसने कहा, भगवन्! यद्यपि यह ठीक है कि शरीर अन्धा हो जाय तो वह अन्धा नही होता, काणा हो जाय तो वह काणा नहीं होता, शरीर के दोष से वह दूषित नही होता ॥३॥

न शरीर के वध से वह मरता है, न काणा होने से काणा होता है, परन्तु फिर भी ऐसा तो अनुभव होता है जैसे कोई इसे मार रहा है, इसका पीछा कर रहा है, स्वप्न में इसे अप्रिय अनुभव होता है, कभी-कभी यह रोने भी लगता है। मुझे यह सिद्धान्त कुछ ठीक नही जचा। प्रजापति ने उत्तर दिया, हे इन्द्र! तूने ठीक समझा, मैं तुझे

न—नहीं, वधेन—घात से, अस्य—इस (शरीर) के, हन्यते—मरता है, न अस्य—न इसके, स्राम्येण—काणेपन से, स्राम—काणा, घ्नन्ति—मारते हैं, तु—तो, एव—(ही) मानो, एनम्—इस (स्वप्नात्मा) को, विच्छादयन्ति इव—मानो इसका पीछा कर भगा रहे है, अप्रियवेत्ता—अप्रिय (अनिष्ट) का जानने-समझनेवाला, इव—के समान, भवति—होता है, अपि रोदिति इव—कभी-कभी तो रोता है, न अहम् अत्र भोग्यम् पश्यामि—मैं इसमें कोई भलाई (फल) नहीं समझ पा रहा हूं, इति—यह (सोचा) ॥२॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय तँ ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन् पुनरागम इति स होवाच तद्यद्यपीदं भगवः शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥३॥

स समित्पाणि ... दुष्यति—अर्थ पूर्ववत् ॥३॥

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीत्येवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिँशतं वर्षाणीति स हाऽपराणि द्वात्रिँशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥४॥

न वधेन ... ह उवाच—अर्थ पूर्ववत् ॥४॥

आत्मा का स्वरूप समझाने के लिये और उपदेश दूंगा। तुम ३२ वर्ष और मेरे पास ब्रह्मचर्य-पूर्वक वास करो। उसने प्रजापति के निकट और ३२ वर्ष वास किया, तब प्रजापति ने उसे कहा ॥४॥

अष्टम प्रपाठक––(ग्यारहवां खंड)

सोने के बाद जहां पहुंच कर यह 'समस्त' हो जाता है, बिखरा न रहकर सिमिट-सा जाता है, 'प्रसन्न' हो जाता है––स्वप्न को भी नहीं जानता––ऐसी 'सुषुप्तावस्था' में जिसके स्वरूप की कुछ-कुछ झांकी दीखती है, वही 'आत्मा' है, वह 'अमृत' है, 'अभय' है, वही 'ब्रह्म' है। यह सुनकर इन्द्र शान्त-हृदय होकर चल दिया, परन्तु देवों के पास पहुंचने से पहले ही उसे यह भय दीखने लगा कि सुषुप्तावस्था में तो यह अपने को भी नहीं जानता। 'मैं यह हूं'––ऐसा अनुभव उसे नहीं होता, और न ही इन भूतों के विषय में उसे कुछ भी ज्ञान रहता है, मानो उस अवस्था में वह नाश में ही लीन हो जाता है। सुषुप्तावस्था में पहुंच जाने वाली सत्ता को आत्मा मानने के सिद्धान्त में मुझे कोई भलाई नहीं दीखती ॥१॥

तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति होवाचै-तदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज स हाप्राप्यैव देवानेतद् भयं ददर्श नाह खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥१॥

तद्––तो, यत्र––जिस (अवस्था) में, एतत्+सुप्तः––यह सोया हुआ (निद्रामग्न), समस्तः––समाहित, अन्तःकरण की वृत्तियों में अलिप्त, सम्प्रसन्नः––निर्मल (राग-द्वेष आदि मलों से मुक्त), खूब खुश, स्वप्नम्––किसी भी स्वप्न को, न विजानाति––नहीं जानता (अनुभव करता) है, एषः––यह ही, आत्मा––आत्मा है, इति ह उवाच––और यह भी (प्रजापति ने) बताया, एतद् अमृतम् भयम् ददर्श––अर्थ पूर्ववत्, न+अह––न ही तो, खलु––निश्चय से, अयम्––यह (गहरी निद्रा में सोया हुआ, सुषुप्त आत्मा), एवम्––इस प्रकार, इस रूप में, सम्प्रति––अब, अच्छी तरह से (सम्यग्), आत्मानम्––अपने आपको, जानाति––जानता है, अयम्––यह, अहम्––मैं (स्वयं भी), अस्मि––हूं, सत्तावान् हूं, इति––ऐसे, नो––नहीं, एव––ही, इमानि भूतानि––इन भूतों (जड़-चेतन) को, विनाशम् एव––नाश को ही, अपि+इतः––प्राप्त

वह हाथ में समिधा लेकर फिर लौट आया। उसे प्रजापति ने कहा, हे इन्द्र! तुम तो शान्त-हृदय होकर चले गये थे, अब फिर किस चाहना से वापस लौट आये हो? उसने कहा, भगवन्! सुषुप्तावस्था में पहुच कर इसे यह भी तो ज्ञान नही रहता कि मैं यह हू, न उस समय यह इन भूतो को ही जान पाता है, मानो नष्ट हुआ-सा होता है। मुझे यह सिद्धान्त कुछ ठीक नही जचा ॥२॥

प्रजापति ने उत्तर दिया, हे इन्द्र! तूने ठीक समझा, मैं तुझे आत्मा का स्वरूप समझाने के लिये और उपदेश दूगा। सुषुप्तावस्था मे आत्मा की जो झलक दीख पड़ती है, वही आत्मा है, उससे अतिरिक्त वह और कुछ नही है। तुम और ५ वर्ष आश्रम मे वास करो। उसने प्रजापति के निकट और ५ वर्ष वास किया। इस प्रकार इन्द्र ने प्रजापति के निकट १०१ वर्ष तक तपस्या की। इसीलिये यह कथानक प्रसिद्ध है कि इन्द्र ने १०१ वर्ष तक प्रजापति के निकट ब्रह्मचर्य-वास किया था। पाच वर्ष बीत जाने पर प्रजापति ने इन्द्र को समझाना शुरू किया—॥३॥

(नष्टप्राय), भवति—हो जाता है, न अहम् अत्र भोग्यम् पश्यामि—नही मैं इसमे कुछ सार्थकता (यथार्थता) समझ पाता हू, इति—यह (भय देखा) ॥१॥

स समित्पाणि पुनरेयाय तँ ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदय प्राव्राजी किमिच्छन्पुनरागम इति स होवाच नाह खल्वय भगव एवँ सम्प्रत्यात्मान जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्य पश्यामीति ॥२॥

स समित्पाणि पश्यामि इति—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैत त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्माद्वसापराणि पञ्च वर्षाणीति स हापराणि पञ्च वर्षाण्युवास तान्येकशतँ सपेदुरेतत्तद्यदाहुरेकशतँ ह वै वर्षाणि मघवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास तस्मै होवाच ॥३॥

एवम् एव—इस प्रकार ही, एष—यह (सुषुप्ति-गत आत्मा) है, मघवन् हे इन्द्र, इति ह उवाच—यह कहा, एतम्—इस (जिज्ञास्य आत्मा) को, तु एव—तो ही, ते—तुझे, भूय—फिर, और अधिक, अनुव्याख्यास्यामि—उपदेश करुगा, नो—नही, एव—ही, अन्यत्र—भिन्न, अतिरिक्त, एतस्माद्—इस (सुषुप्त) आत्मा से, वस—रह, निवास कर, अपराणि—और, पञ्च—पाच,

अष्टम प्रपाठक—(बारहवां खंड)

हे इन्द्र ! यह शरीर तो मरण-धर्मा है, मृत्यु से ग्रसा हुआ है। यह मरण-धर्मा शरीर उस अमृत-रूप अशरीर आत्मा का अधिष्ठान है, उसके रहने का स्थान है। आत्मा स्वभाव से अशरीर है, परन्तु जब तक इस शरीर के साथ अपने को एक समझ कर रहता है, तब तक उसे भी सुख-दुःख लगा ही रहता है क्योंकि सुख-दुःख तो शरीर का धर्म ही है। जब तक शरीर के साथ यह अपनी एकता बनाये रक्खेगा सुख-दुःख से नहीं छूट सकेगा, अपने अशरीर-रूप में आने पर इसे सुख-दुःख छू नहीं सकेंगे ॥१॥

वर्षाणि—वर्षा तक, इति—यह (कहा), स ह—वह (इन्द्र), अपराणि—दूसरे, और, पञ्च वर्षाणि उवास—पांच वर्षों तक वहां रहा, तानि—वे (वर्ष), एकशतम्—एक-सौ-एक, सपेदुः—(मिल कर) हो गये, एतद् तद्—यह ही वह (उक्ति) है, यद् आहुः—जो कहते हैं (कि), एकशतम् ह वै वर्षाणि—एक-सौ-एक वर्षों तक, मघवान्—इन्द्र, प्रजापतौ—प्रजापति के पास में; ब्रह्मचर्यम् उवास—ब्रह्मचर्यपूर्वक रहा था, तस्मै—उस (इन्द्र) को, ह उवाच—(प्रजापति ने) उपदेश दिया ॥३॥

मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनो-
ऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः
प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥१॥

मघवन्—हे इन्द्र !, मर्त्यम्—मरण-धर्मा, वै—ही, इदम्—यह; शरीरम्—शरीर है, आत्तम्—गृहीत, ग्रस्त, मृत्युना—मृत्यु ने, तद्—वह (शरीर), अस्य—इस, अमृतस्य—अमर, अशरीरस्य—शरीर से रहित (भिन्न), आत्मनः—आत्मा का, अधिष्ठानम्—रहने का स्थान (है), आत्तः—गृहीत, ग्रस्त, वै—ही, सशरीरः—(अपने अधिष्ठान) शरीर के साथ (यह आत्मा भी), प्रिय+अप्रियाभ्याम्—प्रिय (सुख) और अप्रिय (दुःख) से, न वै—नहीं तो, सशरीरस्य—शरीर से युक्त (शरीर के रहते), सतः—विद्यमान, होते हुए, प्रिय+अप्रिययोः—प्रिय (सुख) और (अप्रिय) दुःख की, अपहतिः—निवृत्ति, नाश, अस्ति—संभव है, अशरीरम्—शरीर (के बन्धन) से मुक्त, वाव—तो, सन्तम्—होते हुए (होने पर) आत्मा को, न—नहीं, प्रिय-अप्रिये—सुख-दुःख, स्पृशतः—छूते हैं (व्यापते हैं) ॥१॥

वायु, अभ्र, विद्युत्, गर्जना—ये भी तो अशरीर ही हैं, कहां है इनका शरीर? जिस प्रकार ये 'आकाश' में रहते हैं, पर शरीर न होने के कारण दीखते नहीं, हां, अपने दृश्य-रूप में तब प्रकट होते हैं जब परम-ज्योति 'सूर्य' से इनका सम्पर्क होता है, सूर्य की गर्मी पाकर वायु अपने असली रूप को धारण कर बहने लगता है, सूर्य की गर्मी से ही अभ्र प्रकट होते हैं, विद्युत् चमकती है, गर्जना प्रकट होती है ॥२॥

इसी प्रकार आत्मा भी अशरीर है, वह 'शरीर' में रहता है, परन्तु जब उसका भी परम-ज्योति 'ब्रह्म' के साथ सम्पर्क हो जाता है, तब वह भी अपने असली रूप को धारण कर लेता है। जैसे वायु आकाश में रहता हुआ भी दीखता नहीं था, परन्तु सूर्य के सम्पर्क से जब वायु बहने लगता है तब मानो दीखने लगता है, ऐसे ही शरीर में रहता हुआ भी आत्मा दीखता नहीं परन्तु जब परम-ज्योति ब्रह्म का सम्पर्क हो जाता है, तब वह भी मानो दीखने लगता है, वह अपने शुद्ध-रूप में प्रकट हो जाता है। इस अवस्था में जो पहुंच जाता है,

अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत्स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मा-
दाकाशात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसपद्य स्वेन रूपेणाभि निष्पद्यन्ते ॥२॥

अशरीर—शरीर से मुक्त (बिना शरीर का), वायु—वायु है, अभ्रम्—बादल, विद्युत्—बिजली, स्तनयित्नु—बादल की गरज, अशरीराणि—बिना शरीर के, एतानि—ये (वायु आदि) हैं, तद् यथा—तो जैसे, एतानि—ये सब, अमुष्मात्—इस, आकाशात्—आकाश से, समुत्थाय—उठकर, परम् ज्योति—श्रेष्ठ ज्योति (सूर्य) को, उपसपद्य—पास जाकर, सम्पर्क में आकर, स्वेन रूपेण—अपने रूप (सत्ता) में, अभिनिष्पद्यन्ते—सम्पन्न (प्रगट) होते हैं ॥२॥

एवमेवैष सप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसपद्य स्वेन
रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमपुरुषः स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडन् रममाणः
स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं स यथा
प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः ॥३॥

एवम् एव—इस प्रकार ही, एष—यह (आत्मा), सप्रसाद—निर्मल (सुख-दुःख, राग-द्वेष से मुक्त), अति प्रसन्न, अस्मात्—इस, शरीरात्—शरीर से, समुत्थाय—उठकर (इसे छोड कर), परम् ज्योति—ज्योति स्वरूप (ब्रह्म) को, उपसपद्य—प्राप्त कर, पास पहुंच कर, जान कर, स्वेन रूपेण—अपने (असली)

उसी को 'उत्तम-पुरुष' कहते हैं। जब मनुष्य इस अवस्था में पहुँच जाता है—शरीर में रहता हुआ भी अपने को अशरीरी अनुभव करने लगता है—तब वह खाता हुआ, खेलता हुआ, स्त्रियों के साथ आनन्द मनाता हुआ, सैर करता हुआ, इस प्रकार विचरता है जैसे यह शरीर, ये बन्धु-बान्धव, ये आस-पास के लोग उसे कुछ याद ही नहीं। वह संसार के जो काम करता है, ऐसे करता है जैसे शरीर के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं, परम-ज्योति के सम्पर्क में आने के कारण वह अपने को शरीर से अलग देख लेता है। वह ऐसा स्पष्ट देख लेता है कि जैसे रथ के साथ घोड़ा जुता होता है वैसे ही उसका प्राण, उसका आत्मा इस शरीर-रूपी रथ के साथ जुता हुआ है, वह स्वयं शरीर नहीं है, न शरीर तथा आत्मा का कोई मूल-गत सम्बन्ध है ॥३॥

आकाश में जहाँ भी आँख जड़ी-हुई है, वहाँ 'चाक्षुष-पुरुष', वह आत्मा बैठा है, और इस विशाल जगत् को मानो झरोखों में बैठा

रूप से, अभिनिष्पद्यते—युक्त हो जाता है (अपने को पहचान लेता है), स—वह (आत्मन्), उत्तमपुरुष—उत्कृष्ट (प्रकृति एवं अविद्या से ऊपर उठा) पुरुष (आत्मा) है, स—वह, तत्र—वहाँ (उस अवस्था में), पर्येति—पहुँच जाता है, जक्षत्—खाता हुआ, क्रीडन्—क्रीड़ा करता हुआ, रममाण—आनन्द लेता हुआ (रति में लीन हुआ), स्त्रीभि वा—या तो स्त्रियों के साथ, यानै वा—या सवारियों द्वारा, ज्ञातिभि वा—या बन्धु-बान्धवों से, न—नहीं, उपजनम्—समीपवर्ती वस्तु या उपकरण, स्मरन्—याद करता हुआ, इदम्—इस, शरीरम्—शरीर को, स—वह, यथा—जैसे, प्रयोग्य—जोड़ने योग्य, प्रयोग करने लायक (घोड़ा आदि) साधन, आचरणे—सवारी (रथ आदि) में, युक्त—जुता हुआ, एवम् एव—इस ही प्रकार, अस्मिन् शरीरे—इस शरीर में, प्राण—श्वास-प्रश्वास, इन्द्रिया या स्वयं आत्मा, युक्त—(इस शरीर साधन में) युक्त है (स्वयं शरीर नहीं, अपितु उससे भिन्न है) ॥३॥

अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्ण चक्षु स चाक्षुष पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेद जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणमथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्माऽभिव्याहाराय वागथ यो वेदेद शृणवानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम् ॥४॥

अथ—और, यत्र—जहाँ, आकाशम्—आकाश में, अनुविषण्णम्—अनुषक्त, संलग्न, संबद्ध, चक्षु—आँख, स—वह, चाक्षुष—आँख से सम्बद्ध,

झाक रहा है। आंख क्या है? यह कोई स्वतन्त्र-वस्तु नहीं है, उसी के देखने का साधन है—जो देख रहा है, वही 'आत्मा' है। नासिका गन्ध ग्रहण करने के लिये है, यह साधन है, जो गन्ध ग्रहण करता है, वही 'आत्मा' है। वाणी व्यवहार करने के लिये है, यह साधन है, जो व्यवहार करता है, वही 'आत्मा' है। श्रोत्र सुनने के लिये है, यह साधन है, जो सुनता है, वही 'आत्मा' है ॥४॥

मन आत्मा का दैव-चक्षु है, दिव्य-नेत्र है, इससे यह आगे-पीछे, भूत-भविष्यत् सब देखता है, इसी दिव्य-चक्षु द्वारा मन में ही, कल्पना में ही मनुष्य रमण करता है, परन्तु यह भी आत्मा का साधन है, जो मन के द्वारा मनन करता है, वही 'आत्मा' है ॥५॥

(इन्द्र ने जो यह समझा था कि सुपुप्त होने पर आत्मा जड़ अवस्था में चला जाता है, उसका समाधान दे दिया। सुपुप्त होने

आंख (साधन) से उपयोग लेनेवाला, **पुरुष**—पुरुष (जीवात्मा) है, **दर्शनाय**—देखने के लिये, **चक्षु**—आंख (उसका साधन) है, **अथ य**—और जो (आत्मा), **वेद**—जानता (विचारता) है, **इदम्**—इस (अमुक वस्तु) को, **जिघ्राणि**—सूंघू, **इति**—ऐसे, **स आत्मा**—वह (सोचने वाला) ही आत्मा है, **गन्धाय**—गन्ध-ज्ञान के लिए, **घ्राणम्**—घ्राण इन्द्रिय है, **अथ य वेद इदम्**—और जो जानता (सोचता) है कि इसको, **अभिव्याहराणि**—वाणी द्वारा कहूं (प्रकट करूं), **इति**—ऐसे (सोचने वाला ही), **स आत्मा**—वह आत्मा है, **अभिव्याहाराय**—कहने (बोलने) के लिए, **वाग्**—वाणी (साधन) है, **अथ य वेद**—और जो यह जानता-सोचता है (कि), **इदम्**—इसको, **शृणवानि**—सुनूं, **इति**—ऐसे, **स**—वह (श्रोता ही), **आत्मा**—आत्मा है, **श्रवणाय**—सुनने के लिए, **श्रोत्रम्**—कान (साधन) है ॥४॥

अथ यो वेदेद मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा
एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ॥५॥

अथ य वेद—और जो यह जानता (सोचता) है (कि), **इदम्**—इस पर, **मन्वानि**—मनन-चिन्तन करूं, **इति**—ऐसे (जाननेवाला), **स**—वह ही, **आत्मा**—आत्मा है, **मन**—मन तो, **अस्य**—इस (जीवात्मा) का, **दैवम्**—दिव्य (अन्तःकरण), **चक्षु**—आंख (ज्ञान-साधन) है, **स वै एष**—वह ही (मन्ता) यह (आत्मा), **एतेन दैवेन चक्षुषा**—इस दिव्य नेत्र, **मनसा**—मन से, **एतान्**—इन, **कामान्**—काम्य (भोगों) को, **पश्यन्**—देखता (मनन करता) हुआ, **रमते**—आनन्द भोगता (अनुभव करता) है ॥५॥

पर शरीर की सुषुप्ति-अवस्था होती है, और आत्मा का सुषुप्त-स्थान होता है। जिसकी सुषुप्ति-अवस्था होती है, वह शरीर तो जड समान हो जाता है, परन्तु जिसका सुषुप्त-स्थान होता है, वह आत्मा तो अपने स्वरूप मे पहुच जाता है। उसका अपना स्वरूप चैतन्य है, आनन्द है—इसीलिये तो सुषुप्त होकर उठने पर उस अवस्था को स्मरण करके कहता है कि बडा आनन्द पाया। आत्मा जब तक शरीर से रला-मिला रहता है, तब तक अपने शुद्ध रूप मे तो आता ही नही, सुषुप्त होकर ही इसका शरीर से थोडी देर के लिये सम्बन्ध छूटता है। यह तभी छूटता है जब आत्मा जाग्रत् तथा स्वप्न-स्थानो को छोडकर सुषुप्त-स्थान मे चला जाता है। जैसे मरने पर आत्मा शरीर को छोड देता है, शरीर से अलग हो जाता है, वैसे सुषुप्त-स्थान मे जाकर भी आत्मा कुछ देर के लिये शरीर से अलग-सा हो जाता है। मरकर तो कोई उसी शरीर मे लौटकर आता नही, अत वह नही जान सकता कि शरीर से अलग होकर वह किस अवस्था मे पहुच गया था, परन्तु सुषुप्त होकर हर-एक व्यक्ति जाग उठता है—तब जो सुषुप्त-समय के आनन्द को स्मरण करता है, वह आनन्द अपने शुद्ध-स्वरूप मे जाने पर जो उसे हुआ था, उसी को स्मरण करता है। हे इन्द्र ! सुषुप्त-समय मे आत्मा नही सोता, शरीर सोता है, आत्मा जडवत् नही होता, शरीर जडवत् होता है। उस समय की अवस्था को जानकर ही तो तू आत्मा के स्वरूप को जान सकता है। यही विचार माण्डूक्योपनिषद् तथा बृहदा० मे क्रमश २-१ तथा ४-२,३ मे कहे गये है।)

जो देव-गण इस ससार के साथ अधिक सम्पर्क न रखकर ब्रह्म-लोक में विचरण करते हैं, ब्रह्म-ध्यान में लीन रहते हैं, वे इसी 'आत्मा' की उपासना किया करते हैं, इसीलिये सब लोक और सब

य एते ब्रह्मलोके त वा एत देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषा सर्वे च लोका आत्ता सर्वे च कामा स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥६॥

ये—जो, एते—ये, ब्रह्मलोके—ब्रह्म के लोक (निवास-स्थान आत्मा) मे (लीन है), तम् वै—उस, एतम्—इस, देवा—ज्ञानी (आत्म-लीन), आत्मानम्

कामनाएं उनके वश में रहती हैं। जो उस आत्मा को ढूंढकर जान लेता है वह सब लोकों और सब कामनाओं को प्राप्त कर लेता है—ऐसा प्रजापति ने इन्द्र से कहा, प्रजापति ने कहा ॥६॥

अष्टम प्रपाठक—(तेरहवां खंड)

मैं आत्मा के 'श्याम'-रूप से, उस रूप से जो श्याममय अर्थात् अन्धकारमय है, जिसे मैं कुछ नहीं जानता, उसके 'शवल'-रूप को, चितकबरे रूप को, उस रूप को जिसमें कुछ-कुछ स्पष्टता का आभास होता है, प्राप्त करूं, 'शवल'-रूप को देखकर यह समझ जाऊं कि यह वही 'श्याम'-रूप है, जो कुछ दीख नहीं पड़ता था। जैसे घोड़ा बालों को झाड़ कर गर्दन झाड़ देता है, जैसे चन्द्र राहु के ग्रास से छूट जाता है, इसी प्रकार आत्मा के यथार्थ रूप को जानकर मैं पापों को झाड़ दूं, शरीर को फेंक दूं, संसार के सब कृत्यों से निवृत्त होकर अकृत ब्रह्म-लोक में जा पहुंचूं, जा पहुंचूं ॥१॥

—आत्मा को, उपासते—उपासना करते हैं (मग्न रहते हैं), तस्मात्—उस कारण से, तेषाम्—उन देवों (आत्मनों) को सर्वे च लोका—सारे लोक, आत्ता—प्राप्त होते हैं, सर्वे च कामा—सारी भोग्य कामनाएं स—वह, सर्वान् च लोकान् आप्नोति—सब लोकों को प्राप्त होता है, सर्वान् च कामान्—सब कामनाओं को, य—जो, तम् आत्मानम्—उस आत्मा (जीवात्मा और परमात्मा) को, अनुविद्य—खोज कर, विजानाति—जान लेता है, इति ह—यह (वचन), प्रजापति उवाच—प्रजापति ने कहा, प्रजापति उवाच—प्रजापति ने (इन्द्र को) कहा ॥६॥

श्यामाच्छवलं प्रपद्ये शवलाच्छ्यामं प्रपद्येऽश्व इव रोमाणि
विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं
कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामीत्यभिसंभवामीति ॥१॥

श्यामात्—काले रंग से, तमोगुण की प्रधानता से, भोग-योनि से, शवलम्—बहुरंगी, चितकबरा, रजोगुण की प्रधानता को, कर्म-योनि को, प्रपद्ये—प्राप्त होऊं, पहुंचूं, शवलात् श्यामं प्रपद्ये—इस रजोगुण की प्रधानता से अपने काले (तम प्रधानता) को पहचानूं, अश्व इव—घोड़े की तरह, रोमाणि—बालों को, विधूय—झाड़कर, दूर कर पापम्—पाप को, चन्द्र इव—चन्द्रमा की तरह, राहो—राहु के, पृथिवी की छाया के, मुखात्—मुख से, मध्य से, प्रमुच्य—छूट कर, धूत्वा—छोड़कर, अलग कर, शरीरम्—शरीर

(आत्मा के 'श्याम' से 'शबल' रूप को ही जान सकते हैं, बिल्कुल 'स्पष्ट', प्रत्यक्ष रूप को नहीं, क्योंकि वह इन्द्रियों का विषय नहीं।)

अष्टम प्रपाठक—(चौदहवां खंड)

संसार 'नाम' (Name) तथा 'रूप' (Form) का ही समुदाय है। ये नाम-रूप आकाश में—जो खाली स्थान दीख रहा है—उसमें हैं। संसार क्या है? 'नाम', 'रूप' और 'आकाश'! इन तीनों के बीच में जो है, वह 'ब्रह्म' है, वह 'अमृत' है, वह 'आत्मा' है। प्रजापति ने आत्मा के सम्बन्ध में उपदेश दिया है इसलिये मैं प्रजापति की सभा में रहूं, उसके घर पर रहूं, ब्राह्मणों में, क्षत्रियों में और वैश्यों में यश प्राप्त करूं, मैंने यश को पा लिया, यशो-के-यश को पा लिया—

को, अकृतम्—न किये हुए, कर्म-बन्धन से रहित, कृतात्मा—सफल-काम, आत्मा (स्वयं को) को जाननेवाला, ब्रह्मलोकम्—ब्रह्म-पद (मोक्ष) को, अभिसंभवामि—प्राप्त करूं, इति—यह (ही प्रार्थना है), अभिसंभवामि इति—अवश्य प्राप्त होऊं ॥१॥

आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म तदमृतँ स आत्मा प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि स हाहं यशसां यशः श्येतमदत्कमदत्कँ श्येतं लिन्दु माऽभिगां लिन्दु माऽभिगाम् ॥१॥

आकाश वै—आकाश (आत्मा) ही, नामरूपयो—नाम (संज्ञा), रूप (संज्ञी-वस्तु) का, निर्वहिता—निर्वाह (स्पष्टीकरण) करनेवाला (ज्ञाता) है, ते—वे दोनों (नाम और रूप), यद्+अन्तरा—जिसके मध्य में (विद्यमान) हैं, अथवा (ते यद्+अन्तरा—उनके भी अन्दर जो अन्तर्यामी विद्यमान है), तद् ब्रह्म—वह ही ब्रह्म है, तद् अमृतम्—वह ही अमर है, स आत्मा—वह ही सब में प्राप्त (व्याप्त) है, (मैं उपासक-जिज्ञासु) प्रजापते—प्रजापति (गुरु) की, सभाम्—सभा, मण्डली को, वेश्म—घर को (गुरु-कुल) को, प्रपद्ये—प्राप्त होऊं (अविकारी बनूं), यश—यशस्वी, अहम् भवामि—मैं होऊं, ब्राह्मणानाम्—ब्राह्मणों (ज्ञानियों) के, यश—यश को, राज्ञाम्—राजाओं (नियन्ताओं) के, यश—यश को, विशाम्—वैश्यों (सामान्य-जनता) के, यश—यश को, अहम्—मैं, अनुप्रापत्सि—प्राप्त करूं, स ह अहम्—वह मैं (जीवात्मा), यशसाम् यश—यशस्वियों में भी यशस्वी, श्येतम्—पीले-सा, सफेद, अदत्कम् (अ+दत्कम्) स्वयं दांतों (भोग-साधनों) से शून्य (होकर भी), अदत्कम्

शरीर से पृथक् आत्मा का दर्शन कर लिया। मैं अब योनि में शयन न करू, जन्म-मरण के बंधन से छूट जाऊ क्योंकि यह योनि दांतो वाली तो नहीं है—'अ-दत्क' है—परन्तु फिर भी विना दांतो के ही खा जाती है—'अदत्-क' है ॥१॥

अष्टम प्रपाठक—(पन्द्रहवां खंड)

यह 'आत्म-ज्ञान' ब्रह्मा ने प्रजापति को सुनाया, प्रजापति ने मनु को, मनु ने इसका सब प्रजाओ को उपदेश दिया। उपासक को चाहिये कि आचार्य-कुल में जाकर गुरु की सेवा करे, उसके वाद जो समय बचे उसमें यथाविधि वेदो का अध्ययन करे। तदनन्तर समावर्तन सस्कार होने पर शुद्ध प्रदेश में कुटुम्ब के साथ स्वाध्याय करता हुआ, धार्मिक कार्यों को करता हुआ, सब इन्द्रियो का आत्मा में निग्रह करता हुआ, तीर्थ-स्थानो में ही नहीं उनके अतिरिक्त भी सर्वत्र सब भूतों

(अदत्+कम्) खा जानेवाली (जन्म-मरण के चक्र मे फसानेवाली), श्येतम्—पीताभ, लिन्दु—स्त्री-योनि को (पुन जन्म) को, मा—मत, नही, अभिगाम्—प्राप्त होऊ, लिन्दु मा अभिगाम्—योनि को प्राप्त होऊ ॥१॥

तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनु प्रजाभ्य आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधान गुरो कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सप्रतिष्ठाप्याहिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्य स खल्वेव वर्तयन्यावदायुष ब्रह्मलोकमभिसपद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ॥१॥

तद् ह एतद्—उस (पूर्व-व्याख्यात) इस (ज्ञान) को, ब्रह्मा—ब्रह्मा ने, प्रजापतये—प्रजापति को, उवाच—उपदेश दिया था, प्रजापति—प्रजापति ने, मनवे—मनु (राजर्षि) को, मनु—मनु ने, प्रजाभ्य—प्रजाओ को, आचार्यकुलात्—आचार्य-कुल (गुरु-कुल) से, वेदम्—वेदो को, अधीत्य—अध्ययन (अर्थ सहित ज्ञान) कर, यथाविधानम्—विधि (नियम) पूर्वक, गुरो—गुरु के, कर्म—कार्य (गुरु-दक्षिणा या सेवा-शुश्रूषा आदि), अतिशेषेण—पूर्णता से (समाप्त कर), अभिसमावृत्य—लौट कर (समावर्तन विधि करा कर पुन आकर), कुटुम्बे—कुटुम्ब (पितृ-गृह) मे, शुचौ—पवित्र, निर्मल, देशे—स्थान मे, स्वाध्यायम्—वेद के मनन-चिन्तन को, अधीयान—अध्ययन करता हुआ, (स्वाध्यायम् अधीयान—प्रणव तथा गायत्री का जप करता हुआ, स्वय वेदाध्ययन करता हुआ), धार्मिकान्—(अन्यो को) धार्मिक (धर्म-तत्पर),

के प्रति अहिंसा का व्यवहार करता हुआ विचरे। जो इस प्रकार विचरता है, वह इस जन्म मे ही आयु-पर्यन्त 'ब्रह्म-लोक' में ही विचरण करता है, और शरीर त्यागने पर फिर लौटकर नही आता, फिर लौटकर नही आता ॥१॥

विदधत्—करता हुआ, बनाता हुआ, **आत्मनि**—आत्मा मे, **सर्वेन्द्रियाणि**—सब इन्द्रियो को, **सम्प्रतिष्ठाप्य**—स्थापित कर (निग्रह कर), **अहिंसन्**—न हिंसा करता हुआ, **सर्वभूतानि**—सब प्राणियो को, **अन्यत्र**—भिन्न, सिवाय, **तीर्थेभ्य**—तीर्थों (वेदाज्ञा) मे (वेद-विहित दस्यु-हनन आदि के अतिरिक्त अहिंसा-व्रत का पालन करता हुआ), **स खलु**—वह (यथाविधि स्नातक-जिज्ञासु), **एवम् वर्तयन्**—इस प्रकार वर्ताव (व्यवहार) करता हुआ, **यावद्+आयुषम्**—जीवन पर्यन्त, **ब्रह्मलोकम् अभिसपद्यते**—ब्रह्म-लोक (ब्रह्म-ज्ञान एव आत्म-ज्ञान) को प्राप्त कर लेता हे, **न च**—और नही, **पुन**—फिर, **आवर्तते**—ब्रह्म-लोक से लौटता है (च्युत होता हे), **न च पुन आवर्त्तते**—फिर दोबारा जन्म-मरण के चक्र मे नही पडता है ॥१॥